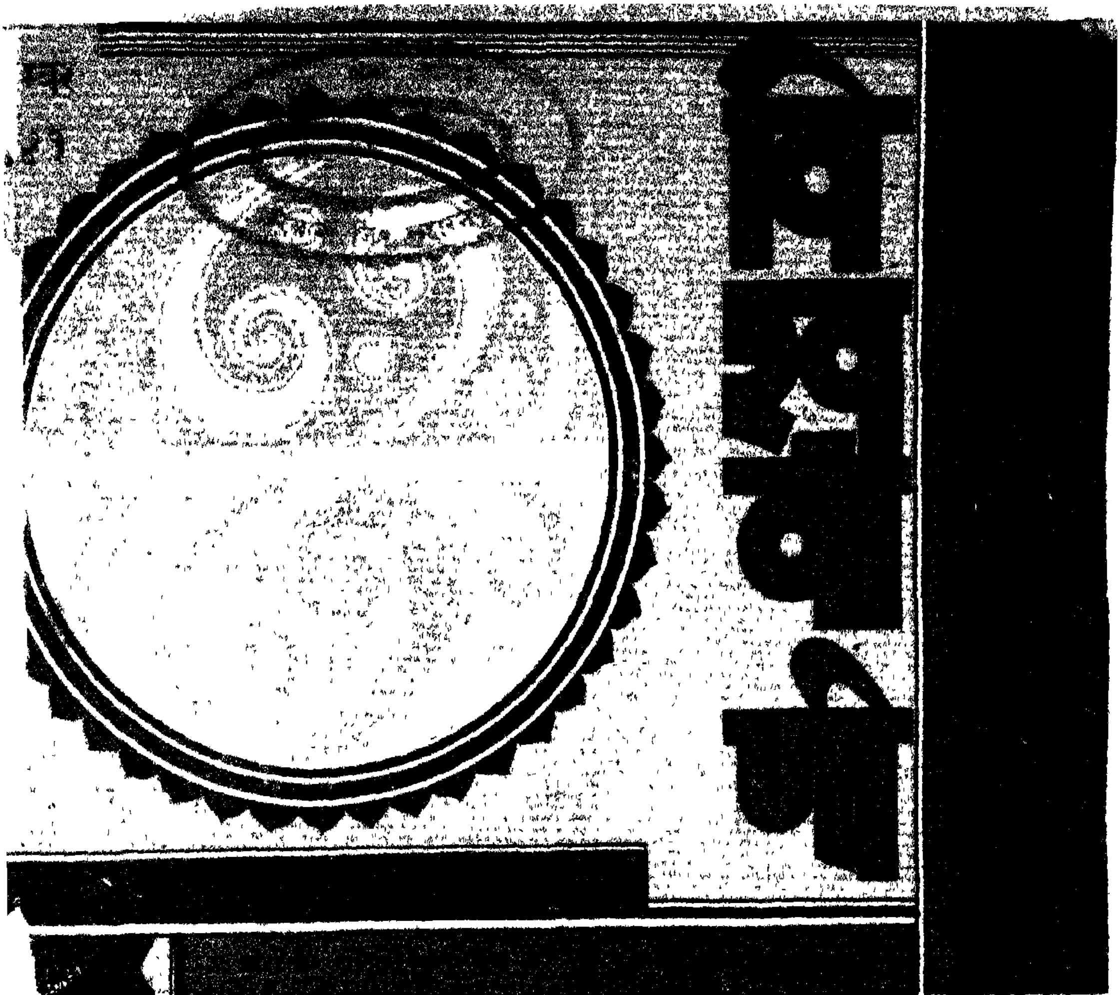




इस अङ्क के प्रमुख लेख

इसके अतिरिक्त श्री भगवतीचरण वर्मा, श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', श्री मोहनलाल द्विवेदी आदि की कविताएं, डाक्टर [illegible], किशोर साहु की कहानियां और अन्य महत्वपूर्ण लेख

मैनेजर, विश्ववाणी कार्यालय, इलाहाबाद

वार्षिक मूल्य छै रुपया   Sample Copy As -/10   एक अङ्क के दस आने

इस अङ्क के प्रमुख लेख

[illegible] शर्मा [illegible] शर्मा [illegible] द्विवेदी

आदि [illegible] लेख [illegible]

मैनेजर, विश्ववाणी कार्यालय, इलाहाबाद

वार्षिक मूल्य [illegible] रुपया [illegible] एक अङ्क के दस आने

OFFICE OF THE DIRECTOR OF PUBLIC INSTRUCTION, U. P.

Dated July 28, 1941

No B-419-XVIII—7 (3)-41-42.

Vishwa-Vani (Hindi Monthly Magazine) Edited by Bishambhar Nath, 142, South Malaka, Allahabad, Published by the editor, Annual Subscription Rupees Six is approved for—

I Libraries and Teachers' use in

(a) English High Schools

(b) English Intermediate Colleges

(c) Normal Schools and Training Classes

II For teachers' use only in—English Middle Schools

(Sd) Parmanand

2842 Personal Assistant to the Director of Public Instruction, U P.

LEADRE,

Monday, August 18 1941

The 'Vishwavani', a Hindi monthly periodical, ably edited by Mr. Vishwambhar Nath and printed at the Vishwavani Press, South Malaka, Allahabad, has, within the short period of six months, attained an enviable position in the field of Hindi journalism Mainly devoted to the cause of the communal unity, each issue of the periodical contains, besides other contributions, articles and stories by eminent writers throwing search-light on the various aspects of the Hindu-Muslim question The impartiality and boldness with which the communal problem is presented threadbare have enraged some fanatics, both Hindu and Muslim, which fact is a valuable testimony to the merits of the Journal

विषय-सूची

सितम्बर १९४१

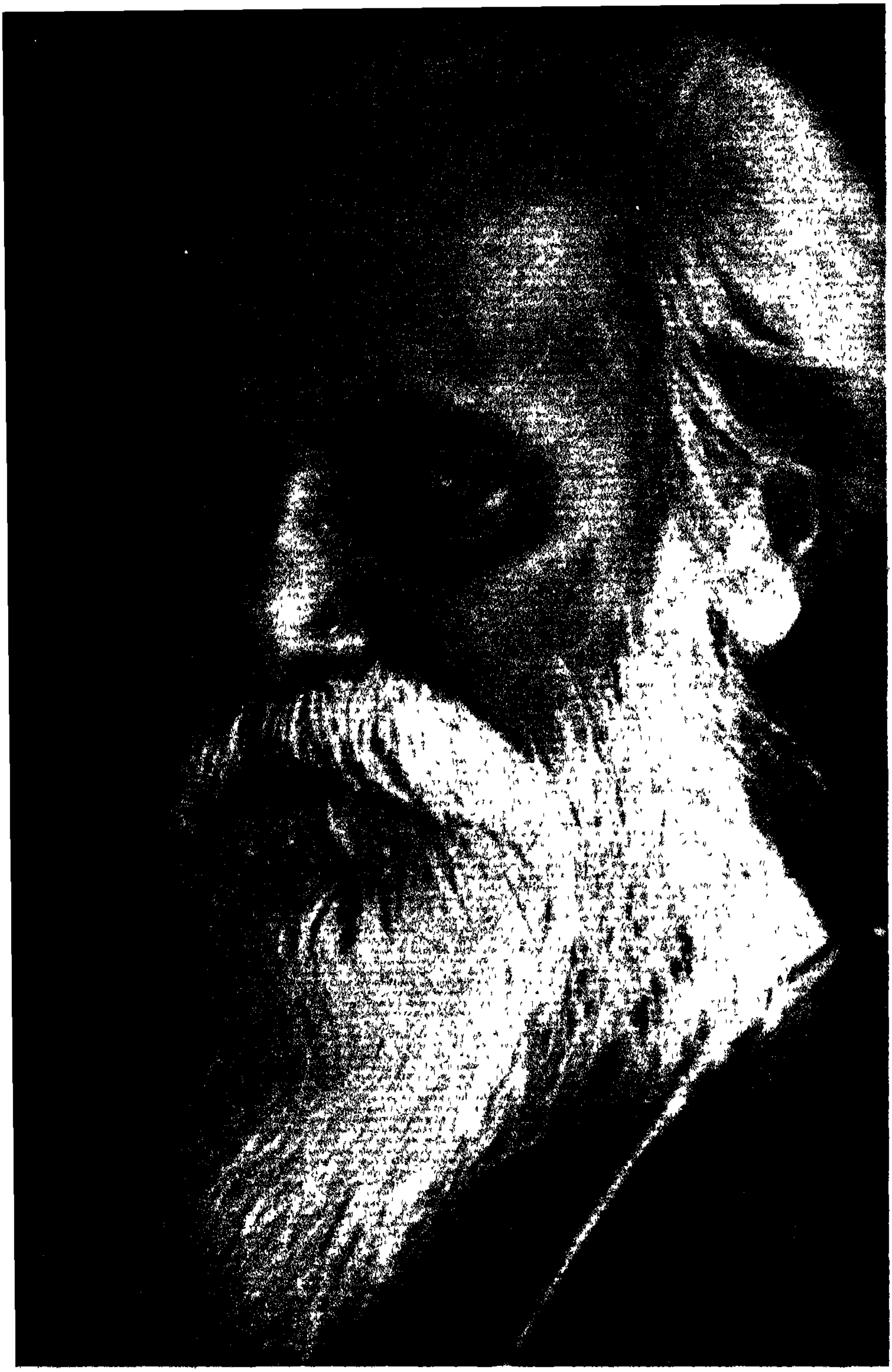
चित्र सूची

पाठकों से निवेदन

विश्ववाणी के अंक हर महीने की ठीक पहली तारीख को कार्यालय से दो-तीन बार जांच कर ही नियमित रूप से भेजे जाते हैं। जिन्हें उसी महीने की दस तारीख तक भी अंक न मिले, वे यदि अपने यहां के डाक-घर में तहकीकात करें और पोस्ट-मास्टर के जवाब के साथ कार्यालय को तुरन्त शिकायत लिख भेजें, तो उनकी शिकायत पर ध्यान देने में सुविधा होगी।

पत्र-व्यवहार करते समय अपनी ग्राहक-संख्या लिखना आवश्यक है। बिना ग्राहक-संख्या के पत्रों का जवाब देने मे हम असमर्थ हैं। ग्राहक-संख्या रैपर पर लिखी हुई होती है।

—मैनेजर



गुरुदेव

['कलकत्ता म्युनिसिपल गज़ट' के सौजन्य से]

विश्ववाणी

युक्तप्रान्त, बम्बई, मद्रास, होल्कर राज्य, मैसूर और काश्मीर के शिक्षा विभागों द्वारा स्कूल
और कालेज लाइब्रेरियों के लिए स्वीकृत

संरक्षक — पण्डित सुन्दरलाल

सम्पादक — विश्वम्भरनाथ

वर्ष ४, भाग २ | सितम्बर, १९४२ | अङ्क ३, पूरे अङ्क ९

कुरुक्षेत्र

योगी श्रीअरविन्द

गीता के उपदेशक गुरू के विशाल सोपान-क्रम के पीछे-पीछे चलते हुए हम लोग आगे बढ़ें और मनुष्य के त्रिविध मार्ग का उन्होंने जिस प्रकार अंकन किया है उसका निरीक्षण करें। यह मार्ग वही मार्ग है जिस पर चलने वाले मनुष्य के मन, हृदय और बुद्धि उन्नत होकर उनकी सत्ता मे संन्निविष्ट होते हैं जो समस्त कर्म, भक्ति और ज्ञान के परम ध्येय हैं। परन्तु इसके पूर्व फिर एक बार उस परिस्थिति पर विचार करना होगा जिसके कारण गीता का प्रादुर्भाव हुआ है और इस बार इसे इसके अत्यन्त व्यापक रूप में अर्थात् इसे मनुष्य-जीवन का और समस्त संसार का भी प्रतीक मानकर देखना होगा। यद्यपि अर्जुन को केवल अपनी ही परिस्थिति, अपने ही आतरिक संघर्ष और अपने ही कर्म-विधान से सम्बन्ध था, तथापि जैसा कि हम लोग देख चुके हैं, जो खास प्रश्न अर्जुन ने उठाया है और जिस ढग से उठाया है, उससे वास्तव में मनुष्य-जीवन और कर्म का ही सारा सवाल उपस्थित होता है कि यह संसार क्या है और क्यों है और यह जैसा कुछ है इसमें कैसे यहा के इस सांसारिक जीवन का आत्म जीवन के साथ मेल बैठे ? और इस गहरे और कठिन विषय को श्री गुरू हल करके दिखाया चाहते हैं, क्योंकि उसी की बुनियाद पर वे उस कर्म को करने का आदेश देते हैं जिसे सत्ता की एक नवीन समतुल्य अवस्था से और मोक्षप्रद ज्ञान के प्रकाश में करना होगा।

तब फिर वह कौनसी चीज़ है जो उस मनुष्य के लिये कठिनाई उत्पन्न करती है। जिसे इस संसार

को, जैसा कि यह है, स्वीकार करना है और इसमें कर्म करना है और फिर भी रहना है अपने अन्दर की सत्ता में *यानी आध्यात्मिक जीवन में ? संसार का वह* कौनसा पहलू है जो उसके जाग्रत मन को व्याकुल कर देता है और उसकी ऐसी अवस्था हो जाती है जिसके कारण गीता के प्रथम अध्याय का नाम बड़े ही अर्थ-गम्भीर शब्दों में "अर्जुन-विषाद-योग" पड़ा ! वह विषाद और निरुत्साह मानव-जीव को तब अनुभूत होता है जब यह संसार जैसा है ठीक वैसा ही अपने असली रूप में उसके सामने आता है और उसे उसका *सामना करना पड़ता है, जब न्याय,* नीति और नेकी के भ्रम का परदा उसकी आंखों के सामने से, उसका और किसी बड़ी चीज़ के साथ योग होने से पहले ही, हट जाता है। यह वही पहलू है जिसने वास्तवतः कुरुक्षेत्र के नरसंहार और रक्तपात के रूप में आकार ग्रहण किया है स्वामी के काल रूप दर्शन में, जो अपने सृष्ट प्राणियों को निगलने, चबा जाने और नष्ट करने के लिये प्रकट हुए हैं। यह दर्शन अखिल विश्व के उन प्रभु का दर्शन है जो विश्व के स्रष्टा हैं पर साथ ही विश्व के संहारकर्त्ता भी, जिनका वर्णन प्राचीन शास्त्रकारों ने बड़ी ही निर्दय प्रतिमा के रूप में यों किया है कि "ऋषि-मुनी और रथी-महारथी इनके भोज्य हैं और मृत्यु इनके जेवनार के लिये दी जाने वाली बघार है।" एक ही सत्य के ये दोनों रूप हैं, वही सत्य पहले जीवन के तथ्यों में अप्रत्यक्ष और अस्पष्ट रूप से देखा गया जो तत्त्व अपने-आपको जीवन में व्यक्त किया करता है। इसके बाह्य पहलू जगत्-जीवन और मानव-जीवन हैं जो लड़ते-भिड़ते और मारते-काटते हुए आगे बढ़ते हैं; अंतरंग पहलू है विराट पुरुष जो विराट् सर्जन और विराट् संहार के द्वारा अपने आपको चरितार्थ करते हैं। जीवन एक युद्ध है, संहार क्षेत्र है, यही कुरुक्षेत्र है, ये भगवान् महारुद्र हैं यही दर्शन अर्जुन को उस समर-भूमि में हुआ था।

हेराक्लिटस का कहना है कि, युद्ध सब वस्तुओं का जनक है, युद्ध सब का राजा है। *इस यूनानी तत्ववेत्ता* के अन्य सूत्र-वचनों के समान यह सूत्र-वचन भी एक बड़े गंभीर सत्य का सूचक है। जड़, प्राकृतिक या *अन्य शक्तियों के संघर्ष के द्वारा ही इस जगत् की* प्रत्येक वस्तु जनमती हुई मालूम पड़ती है; शक्तियों, प्रवृत्तियों, सिद्धान्तों और प्राणियों के परस्पर संघर्ष से यह जगत् आगे बढ़ता दीखता है। सदा नये पदार्थ उत्पन्न करते हुये और पुराने नष्ट करते हुये यह आगे बढ़ा चला जा रहा है—किधर जा रहा है, किसी को ठीक पता नहीं। कोई कहता है, यह अपने संपूर्ण नाश की ओर जा रहा है; और कोई कहता है व्यर्थ के चक्कर काट रहा है और इन चक्करों का कोई अन्त नहीं; आशावादिता का सबसे बड़ा सिद्धांत यह है कि ये चक्कर प्रगतिशील हैं और हर चक्कर के साथ जगत् अधिकाधिक उन्नति को प्राप्त होता है। रास्ते में चाहे जो कष्ट और गड़बड़ सी दीख पड़े, पर यह जगत् जा रहा है बराबर किसी दिव्य अभीष्ट-सिद्धि के अधिकाधिक समीप ही। यह जो कुछ हो, इसमें कुछ सन्देह नहीं कि यहां संहार के बिना कोई निर्माण कार्य नहीं होता। यथार्थ और सम्भावित बेसुरेपन को जीतकर परस्पर विरोधी शक्तियों का संतुलन किये बिना कोई सामंजस्य नहीं होता। केवल इतना ही नहीं, बल्कि जब तक हम निरन्तर अपने-आपको ही न खाते रहें और दूसरों के जीवन को न निगलते रहें तब तक इस जीवन का अस्तित्व भी नहीं रहता। हमारा शारीरिक जीवन भी ऐसा ही है जिससे हमें बराबर मरना और मर कर जीना पड़ता है। स्वयं हमारा शरीर भी फ़ौजों से घिरा हुआ एक नगर जैसा है। आक्रमक फौजें इस पर आक्रमण करती हैं और संरक्षक फ़ौजें इसका संरक्षण करती हैं और इन फ़ौजों का काम एक दूसरे को खा जाना है—और यह तो हमारे सारे जीवन का केवल एक नमूना ही है। सृष्टि के आरम्भ से ही मानों यह आदेश चला आता है कि, "तू तब तक विजयी नहीं हो सकता जब तक अपने साथियों से और अपनी परि-स्थिति से युद्ध न करेगा। बिना युद्ध किये, बिना संघर्ष किये और बिना दूसरों को अपने अन्दर हज़म किये

['कलकत्ता म्युनिसिपल गज़ट' के सौजन्य से]

तू जी भी नहीं सकता। इस जगत् का पहला नियम जो मैंने बनाया वह संहार द्वारा ही सर्जन और संरक्षण का नियम है।"

प्राचीन शास्त्रकारों ने जगत् का सूक्ष्म निरीक्षण करके जो कुछ देखा उसके फलस्वरूप उन्होंने इस आरम्भिक विचार को स्वीकार किया। अति प्राचीन उपनिषदों ने इस बात को बहुत ही स्पष्ट रूप से देखा और इसका एक दम साफ़ और निर्भल शब्दों में वर्णन किया। ये उपनिषद सत्य के सम्बन्ध में किसी चिकनी-चुपड़ी बात को या किसी आशावादी मतमतान्तर को सुनना भी नहीं पसन्द करते। भूख जो मृत्यु है, ये उपनिषद् कहते हैं कि, वही इस जगत् की स्रष्टा और स्वामी है और उन्होंने प्राणमय जीवन को यज्ञ के अश्व का रूपक दिया है। जड़ तत्त्व को उन्होंने अन्न कहा है। उनका कहना है कि हम इसे अन्न इसलिये कहते हैं कि यह खाया जाता है और प्राणियों को यह खा जाता है। भक्षक भक्षण कर भक्ष्य होता है, यही इस जड़ प्राकृतिक जगत् का मूलसूत्र है, और इसी बात का डारविन मतवादियों ने फिर से आविष्कार किया है जबकि उन्होंने यह कहा कि जीवन-संग्राम विकसनशील सृष्टि का विधान है। आधुनिक सायंस ने उन्हीं सत्यों को केवल नवीन शब्दों में ढाल कर प्रकट किया है जो सत्य उपनिषदों के वर्णित रूपकों में या हेराक्लिटस के वचनों में बहुत अधिक ज़ोरदार, व्यापक और ठीक-ठीक अर्थ देने वाले सूत्रों में बहुत पहले ही उक्त हो चुके थे।

नीतशे का आग्रह पूर्वक यह कहना है कि युद्ध जीवन का एक पहलू है और आदर्श मनुष्य वही है जो योद्धा है—आरम्भ में वह ऊंट प्रकृति वाला हो सकता है और उसके बाद शिशु प्रकृति वाला, पर यदि उसे पूर्णत्व प्राप्त करना है तो मध्य में उसे सिंह प्रकृति वाला मनुष्य होना पड़ेगा। नीतशे ने अपने इन मतों से लोकाचार और व्यवहार के लिये जो सिद्धांत निकाले उनसे हमारा चाहे जितना मतभेद क्यों न हो, पर उसके इन लोकनिंदित मतों में कुछ ऐसा तथ्य भी है जो अस्वीकार नहीं किया जा सकता, बल्कि उससे एक ऐसे सत्य का स्मरण होता है जिसे हम लोग सामान्यतः अपनी दृष्टि की ओट रखना पसन्द करते हैं। यह अच्छा है कि हम लोगों को उस सत्य की याद दिलायी जाय; क्योंकि—एक तो, प्रत्येक बलवान् आत्मा पर इस सत्य को देख लेने का बड़ा ही बलवर्द्धक परिणाम होता है और खूब मीठी मीठी दार्शनिक, धार्मिक या नैतिक भावुकताओं के कारण जो सुस्ती छा जाती है उससे हम बच जाते हैं; इस प्रकार की भावुकता का यह परिणाम होता है कि लोग प्रकृति को प्रेम, सौंदर्य और कल्याण स्वरूप ही देखना पसन्द करते हैं और उसके कराल काल रूप से भागते हैं, ईश्वर को शिव रूप से तो पूजते हैं, पर उसके रुद्र रूप की पूजा करने से इनकार करते हैं; दूसरे यह कि जीवन जैसा कुछ है उसको वैसा ही यथावत् देखने की सचाई और साहस यदि हममें न होगा तो इसमें जो विविध द्वन्द्व और परस्पर विरोध है उनका समाधान करने वाला कोई अमोघ उपाय हमें कभी प्राप्त नहीं हो सकता। पहले हमें यह देखना होगा कि यह जीवन क्या है और यह जगत क्या है; तब इस बात को ढूंढ़ना अधिक अच्छा होगा कि इस जीवन और जगत् को, जैसे ये होने चाहिये उस रूप में रूपांतरित करने का ठीक रास्ता कौनसा है। यदि संसार के इस अप्रिय लगने वाले पहलू में कोई ऐसा रहस्य हो जो इसके अन्तिम सामंजस्य को ले आने वाला हो, तो इसकी उपेक्षा या अवहेलना करने से हम उस रहस्य को नहीं पा सकेंगे और इस प्रश्न को हल करने के हमारे सारे प्रयास, प्रश्न के वास्तविक तत्त्वों की मनमानी उपेक्षा करने के कारण विफल हो जायंगे। दूसरी ओर, यदि वह शत्रु ही हो और उसे मारने, कुचल डालने, जड़ से उखाड़ फेंकने या नष्ट करने का ही काम हो तो भी जीवन पर इसका जो प्रभाव या दख़ल जमा हुआ है उसे एक मामूली सी बात समझना अथवा पुरअसर भूतकाल में तथा जीवन के जो यथार्थतः कार्यकारी सिद्धांत हैं उनमें इसकी जड़ कितनी मज़बूती के साथ जमी हुई है इस

बात को देखने से इनकार करना, इससे अपना कुछ भी लाभ नहीं है।

युद्ध और संहार का विश्वव्यापी सिद्धांत हमारे इस ऐहिक जीवन के निरे स्थूल पहलू से संपर्क रखता हो यही नहीं, बल्कि यह हमारे मानसिक और नैतिक जीवन से भी संपर्क रखता है। यह तो स्वतः सिद्ध ही है कि मनुष्य का जो वास्तविक जीवन है फिर चाहे वह बौद्धिक हो या सामाजिक, राजनीतिक हो या नैतिक, उसमें हम बिना संघर्ष के—अर्थात् जो कुछ है और जो कुछ होना चाहता है इन दोनों के बीच में तथा इन दोनों के पीछे जो कुछ है उसमें जब तक परस्पर युद्ध न हो ले तब तक हम एक क़दम भी आगे नहीं बढ़ सकते। मनुष्य और संसार की अवस्था इस समय जैसी है, कम-से-कम तब तक के लिये तो आगे बढ़ना, उन्नत होना और पूर्णावस्था को प्राप्त करना तथा फिर भी, हमारे सामने अहिंसा के जिन सिद्धांतों को मनुष्य का उच्चतम और सर्वोत्तम धर्म कहकर उपस्थित किया जाता है, उसका यथार्थतः और नितांततः पालन करना, असम्भव ही है। केवल आत्मबल का प्रयोग करेंगे और युद्ध करके या भौतिक बल प्रयोग से अपनी रक्षा का उपाय करके हम किसी का नाश नहीं करेंगे? अच्छी बात है, और जब तक आत्मबल अमोघ न हो उठे तब तक चाहे मनुष्यों और राष्ट्रों में जो आसुरी बल है वह हमें रौंदता रहे, हमारे टुकड़े टुकड़े करता रहे, हमें अवह करता रहे, हमें जलाता रहे, भ्रष्ट करता रहे, जैसा करते हुए आज हम उसको देख रहे हैं, और तब यही होगा कि इस काम को वह अपनी मौज से और बिना किसी बाधा विघ्न के करेगा और आपने अपने अप्रतिकार के द्वारा उतनी ही जानें गंवाईं होंगी जितनी कि दूसरे हिंसा का सहारा लेकर गंवाते हैं; फिर भी आपने एक ऐसा आदर्श तो रखा ही जो कभी अच्छी दशा लावे या कम-से-कम जिसको अच्छी दशा लानी चाहिये। परन्तु आत्मबल भी जब वह प्रयोग्य हो उठता है तब, नाश करता है। वे ही लोग इस बात को जानते हैं जिन्होंने आंखें खोल कर इसका प्रयोग किया है, तलवार और तोप-बन्दूक से भी आत्मबल कितना अधिक भयङ्कर और नाशकारी होता है; और जो लोग अपनी दृष्टि को विशिष्ट कर्म और उसके सद्यः फल में ही आबद्ध नहीं रखते वे ही यह भी देख सकते हैं कि आत्मबल के प्रयोग के बाद उसके जो परिणाम होते हैं वे कितने प्रचण्ड होते हैं, उनसे कितना नाश होता है और उतने नाश से ही वह जीवन कितना बरबाद होता है जोकि उसी पर निर्भर करता और उसी से पलता था। बुराई अकेली नहीं मारी जाती, उसके साथ वे सब चीज़ें भी विनाश को प्राप्त होती हैं जो उससे पलती हैं; हम स्वयं हिंसा के सनसनी पैदा करने वाले कर्म की पीड़ा से भले ही बचें, पर इससे नाश का परिणाम कुछ कम नहीं होता।

फिर यह भी बात है कि जब जब हम आत्मबल का प्रयोग करते हैं तब तब हम अपने शत्रु के विरुद्ध एक बहुत ही प्रचण्ड कर्म शक्ति खड़ी कर देते हैं किन्तु बाद में इस शक्ति की क्रियाओं को अपने वश में रखना हमारे सामर्थ्य के बाहर होता है। विश्वामित्र के क्षात्र बल के मुक़ाबले वशिष्ट आत्मबल का प्रयोग करते हैं और परिणाम यह होता है हूण, शक और पल्लव सेनाएं विश्वामित्र पर घहराकर टूट पड़ती हैं। आक्रमण और हिंसा की अवस्था में आध्यात्मिक पुरुष का शांत और निष्क्रिय रहना, संसार की प्रचण्ड शक्तियों को बदला लेने के लिये जगा देता है; और इसलिये जो दुष्ट हैं उनको यों ही जगत् पद् दलित करने के लिये न छोड़कर, बल प्रयोग करके भी, उन्हें रोकना उनकी हानि करने की अपेक्षा उन पर दया करना ही है,—क्योंकि छोड़ देने से उनके ऊपर एक ऐसा क़हर गुजरेगा जिसकी हम कभी इच्छा भी नहीं कर सकते। हमारे अपने हाथ पाक और साफ़ रहें, हमारी आत्मा में कोई दाग़ न लगे, इतने से ही संघर्ष और विनाश का जो विधान है वह संसार से मिट नहीं जाता; इसकी जो

जड़ है वही मानव जाति में से पहले उखड़ जानी चाहिये। केवल हाथ पर हाथ धर के बैठ रहने से या जड़त्ववश बुराई का कोई प्रतिकार करने की अनिच्छा या अक्षमता से यह विधान नष्ट नहीं होगा; वास्तव में संघर्ष करने की राजसिक वृत्ति से उतनी हानि नहीं होती जितनी कि जड़ता और तमस् से होती है, कारण राजसिक संघर्ष जितना नाश नहीं करता उससे अधिक सर्जन करता है। इसलिये वैयक्तिक कर्म की मीमांसा का जहां तक सम्बन्ध है वहां तक यह बात है कि संघर्ष-संग्राम से तथा उसके फल स्वरूप होने वाले नाश से स्थूल और भौतिक रूप में बचने से उसके अपने नैतिक भाव की सहायता हो सकती है, पर इस काम से प्राणियों का संहार कर्ता तो ज्यों-का-त्यों बना रह जाता है।

इस विषय पर और अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। यह संहार-तत्त्व जगत् के अन्दर जिस निर्मम प्राण शक्ति के साथ लगातार अस्तित्व रखता आया है, इस बात का साक्षी सारा-का-सारा मानव जाति का इतिहास है। हम इसकी उग्रता को ढाकने और दूसरे-दूसरे पहलुओं पर अधिक ज़ोर देने का प्रयास करते हैं, यह हम लोगों के लिये स्वाभाविक ही है। युद्ध और विनाश ही सब कुछ नहीं हैं; यहां जैसी कि विच्छेद और परस्पर-संघर्ष की संहारक-शक्ति है वैसी ही परस्पर संघ और साहाय्य की संरक्षक शक्ति भी है; अपनी ही धाक जमाने वाली अहंकार से भरी हुई जैसी एक शक्ति है वैसी ही प्रेम की भी एक शक्ति है; अपने लिये दूसरों को बलि चढ़ाने का जैसा एक आवेग होता है वैसा ही दूसरों के लिये अपना बलिदान करने का भी एक आवेग होता है। पर जब यह देखेंगे कि इन सबों के द्वारा कैसे क्या काम संसार में हुआ है तब इनके जो परस्पर विरोधी तत्त्व हैं उनकी ताक़त पर मुलम्मा चढ़ाने या उनकी उपेक्षा करने का लोभ हमें न होगा। संघ शक्ति का उपयोग केवल पारस्परिक सहायता के लिये ही नहीं हुआ है बल्कि उसके साथ साथ स्वसंरक्षण और पराक्रम के लिये भी। इस जीवन संग्राम में जो कोई हमारे ऊपर आक्रमण करता या हमारा प्रतिरोध करता है उसके विरुद्ध अपने आपको बलवान् बनाने में भी इसका उपयोग हुआ है। संघ शक्ति से काम लिया गया है युद्ध के सहायक सेवक का, अहंकार के दास का और एक प्राणी का दूसरे प्राणी पर स्वत्त्व स्थापित करने वाले चाकर का। प्रेम स्वयं भी बारम्बार मृत्यु की एक शक्ति बनकर काम करता रहा है। विशेषतः शुभ के प्रेम को और भगवान् के प्रेम को मानव अहंकार ने जिस रूप में गले लगाया उसके कारण बहुत सी लड़ाई-भिड़ाई, मार-काट और तबाही बरबादी हुई है। आत्म-बलिदान का भी यही अर्थ होता है कि हम मृत्यु के द्वारा जीवन के सिद्धान्त को ही सकारते हैं और इस भेंट को हम उस शक्ति की वेदी पर बलि चढ़ाते हैं जो बलि चाहती है इसलिये कि इष्ट कार्य सिद्ध हो। चिड़िया अपने बच्चों की रक्षा के लिये घातक पशु का सामना करती है, देश भक्त अपने देश की स्वतन्त्रता के लिये अपने शरीर की आहुति देता है, धर्मात्मा धर्म पर न्योछावर होता है और भावुक अपनी भावना पर,—ये सब प्राणि-जीवन की कनिष्ठ से लेकर श्रेष्ठ कोटियों तक में, आत्म-बलिदान के सर्वोत्कृष्ट दृष्टान्त हैं, और यह स्पष्ट है कि ये किस बात की गवाही देते हैं।

परन्तु यदि हम इन सबके पश्चात्कालीन परिणामों पर ध्यान दें तो सुलभ सी हमारी आशावादिता और भी अधिक दुर्लभ हो जाती है। देखिये; एक देश भक्त है, उसने अपने प्राण त्याग दिये इसलिये कि उसका देश स्वतन्त्र हो: वह देश स्वतन्त्र हुआ, इसके लिये उस देशभक्त ने जो रक्त दान किया और जो दुःख उठाया उसकी क़ीमत कर्म के ईश्वर ने उसे चुका दी: अब इसके ४०-५० वर्ष बाद उस देश को निहारिये, अब आप क्या देखते हैं—अब उसी देश की बारी आयी है और वह अत्याचारी, लुटेरा और उपनिवेशी और मातहत देशों का विजेता बन बैठा है और दूसरों को इसलिये खाये जा रहा है कि वह जीता रहे और जीवन में पराक्रमण के द्वारा आगे बढ़ता रहे। ईसाई-शहीद

साम्राज्य शक्ति के मुक़ाबले आत्म शक्ति को लगाकर हज़ारों की संख्या में मर मिटे, इसलिये कि ईसा की जय हो, ईसाई धर्म की धाक जमे। *आत्मबल विजयी* हुआ, ईसाई धर्म की धाक जमी, पर ईसा की नहीं; विजयी धर्म लड़ाकू और हुकूमत करने वाला सम्प्रदाय बन गया, जिस मत और साम्राज्य को हटा कर इसने अपना प्रभुत्व जमाया, उससे भी अधिक आततायी और अत्याचारी यह बन बैठा। धर्म भी पारस्परिक संघर्ष-शक्तियों में सङ्गठित हो जाते हैं और संसार में रहने, बढ़ने और उस पर अपनी धाक *जमाने के लिये परस्पर भीषण सग्राम करते हैं।*

इन सब बातों से यही प्रकट होता है कि इस जगत् के जीवन में कोई ऐसा तत्त्व है, कदाचित् वह आदि तत्त्व ही हो, जिस पर कैसे विजय प्राप्त होती है यह हम नहीं जानते और इसका कारण या तो यह है कि यह जीता ही नहीं जा सकता अथवा यह कि हमने इसको ऐसी बलवान और पक्षपात रहित दृष्टि से देखा ही नहीं कि हम इसको स्थिरता और निष्पक्षता के साथ पहचान सकें और यह जान लें कि यह क्या चीज़ है। यह जीवन जैसा है इसका हमें मुक़ाबला करना होगा, यदि हमारा उद्देश्य प्रश्न का वास्तविक समाधान करना है, फिर वह समाधान चाहे कुछ भी हो। और जीवन का मुक़ाबला करने का अर्थ है ईश्वर के हर पहलू को देख सकना; कारण ईश्वर और जीवन एक दूसरे से पृथक नहीं किये जा सकते और न जगत्-जीवन सम्बन्धी विधानों का उत्तरदायित्व उन भगवान् से हटाया जा सकता है जिन्होंने कि इसे बनाया या उससे अलग किया जा सकता है जो इसमें व्याप्त है। इस सम्बन्ध में भी हम लोग वास्तविकता को मृदु, मधुर और भ्रामक रूप देकर दिखाना पसन्द करते हैं। हम लोग एक ऐसे ईश्वर को गढ़ लेते हैं जो प्रेम स्वरूप हैं, दयामय हैं, एक ऐसे ईश्वर को जो न्याय, सद्गुण, और सदाचार सम्बन्धी हमारी नैतिक धारणाओं के अनुसार न्यायकर्ता, सद्गुणी और सदाचारी हैं और बाक़ी जो कुछ है उसके सम्बन्ध में हम यह कहते हैं कि वह ईश्वर नहीं है, न ईश्वर का उससे कुछ वास्ता है, वह *किसी शैतान की सृष्टि है जिसे किसी कारण* वश ईश्वर ने उसकी दुष्ट इच्छा पूरी करने दी, अथवा वह अंधकार के स्वामी अहिर्मन्यु की सृष्टि है जो शिवस्वरूप अहुर्मज़्द की मङ्गलमय कृति को धूल में मिलाना चाहता है, अथवा यह स्वार्थी और पापी मनुष्य का काम है जो उसने ईश्वर की मूल निर्दोष सृष्टि को बिगाड़ डाला। मानो प्राणि-जगत् में मृत्यु और ग्रसन का जो विधान है और यहां जो भीषण *प्रक्रिया कार्य कर रही है जिसके द्वारा प्रकृति ही* वास्तव में सृष्टि करती है, उसकी स्थिति भी रखती है, पर उन्हीं हाथों और अपने उसी गहन कर्म से संहार भी करती है,—यह सब मनुष्य का ही रचा हुआ है। संसार में कुछ ही धर्म ऐसे हैं जिन्होंने भारत के इस आर्य धर्म के समान निःसंकोच यह कहने का साहस किया हो कि यह जो रहस्यमय विश्व-शक्ति है वह एक ही भगवत्तत्त्व है, एक ही त्रिमूर्त्ति है; यही धर्म यह कह सकता है कि जो शक्ति इस जगत् कर्म में व्याप्त है वह केवल दुर्गतिहारिणी सर्वोपकारिणी दुर्गा ही नहीं बल्कि रणरङ्गिनी संहारनृत्तनर्त्तकी कराल वदना काली भी हैं और "यह भी माता हैं", इन्हें भी परमेश्वरी जानो और साहस हो तो इनका भी पूजन करो। यह बात बड़े मार्के की है कि जिस धर्म में ऐसी अचल सत्यनिष्ठा और ऐसा प्रचंड साहस रहा, उसी में यह भी सामर्थ्य हुआ कि उसने ऐसी गम्भीर और व्यापक आध्यात्मिकता का निर्माण किया कि जैसा और किसी से भी नहीं बन पड़ा। कारण सत्य ही वास्तविक आध्यात्मिकता का आधार है और साहस उसका प्राण। "तस्यै सत्यं आयतनम्।"

इन सब बातों का यह अभिप्राय नहीं है कि संग्राम और विनाश ही जीवन का अथ और इति हैं या यह कि सामंजस्य संग्राम से बड़ी चीज़ नहीं है, प्रेम मृत्यु की अपेक्षा भगवान का अधिक प्रकट रूप नहीं है या यह कि हम लोगों को भौतिक बल का

स्थान आत्म बल को, युद्ध का स्थान शांति को, फूट का स्थान एकत्व को, ग्रसन का स्थान प्रेम को, अहंभाव का स्थान विश्व भाव को, मृत्यु का स्थान अमर जीवन को न देना चाहिये। भगवान् केवल संहार कर्त्ता ही नहीं हैं बल्कि सब प्राणियों के सुहृद हैं; केवल विश्व के त्रिदेव ही नहीं हैं बल्कि परात्पर पुरुष हैं, कराल वदना काली स्नेहमयी सर्वमङ्गला माता भी हैं; कुरुक्षेत्र में स्वामी दिव्य सखा और सारथी हैं, सब प्राणियों के मनमोहन हैं, अवतार श्री कृष्ण हैं। वे इस संग्राम और संघात और विशृङ्खला में से होकर हमे चाहे जिधर ले जा रहे हों, चाहे जिस लक्ष्य या देव स्वरूप की ओर हमें खींच रहे हों इसमें सन्देह नहीं कि वे हमें इन सब पहलुओं के परे ले जा रहे हैं जिन पर हम दृढ होकर बहुत अधिक आग्रह कर रहे थे। पर कहा, कैसे, किस प्रकार की पारङ्गतता से, किन साधनों से—यह हमें चाहे जिधर ले जा रहे हो, चाहे जिस लक्ष्य या देव स्वरूप की ओर हमें खीच रहे हों इसमें सन्देह नहीं कि वे हमे इन सब पहलुओं के परे ले जा रहे हैं जिन पर हम दृढ होकर बहुत अधिक आग्रह कर रहे थे। पर कहा, कैसे, किस प्रकार की पारङ्गतता से, किन साधनों से—यह हमें ढूढ़ना होगा, और इसे ढूढ़ने के लिये पहली आवश्यक बात यह है कि हम इस जगत् को जैसा कि यह है वैसा देखें, और उनकी क्रिया आरम्भ में और अब जैसे जैसे दिखायी देती जांय वैसे वैसे उसको देखते जायं और उसका ठीक ठीक मूल्य आकते जाय, इसके बाद उनका मार्ग और लक्ष्य स्वयं प्रत्यक्ष हो जायगे। हमें कुरुक्षेत्र को मानना होगा; मृत्यु के द्वारा जीवन का जो विधान है उसे स्वीकार करना होगा, तभी हम अमर जीवन के पथ का अनुसन्धान कर सकते हैं; हमे अपनी आखे खोलकर—अर्जुन की से कम व्यथित दृष्टि से—ईश्वर के काल रूप का दर्शन करना होगा और इस विश्व संहार को अस्वीकार करने, उससे नफ़रत करने या उससे भय खाकर भागने की वृत्ति को छोड़ देना होगा।

[अनुवादक—श्री लक्ष्मण नारायण गर्दे]



गीत

श्री महादेवी वर्मा

आँसुओं के देश में!

जो कहा रुक रुक पवन ने,
जो सुना झुक झुक गगन ने,
साँझ जो लिखती अधूरा,
प्रात रँग पाता न पूरा,
आँक डाला वह दृगों ने एक सजल निमेष में!

अतल सागर में जली जो,
मुक्त झञ्झा पर चली जो,
जो गरजती मेघ-स्वर में,
जो झलकती तड़ित्-उर में,
प्यास वह पानी हुई इस पुलक के उन्मेष में!

दिश नहीं प्राचीर जिसको,
पथ नहीं जर्जर जिसको,
द्वार हर क्षण को बनाता,
सिहर आता बिखर जाता,
स्वप्न वह हठ कर बसा इस सास के परदेश मे !

मरण का उत्सव अजर है,
गीत जीवन का अमर है,
मुखर कण का सङ्ग मेला,
पर चला पन्थी अकेला,
मिल गया गन्तव्य, पग को कण्टको के वेश मे !

वह बताया झर सुमन ने,
वह सुनाया मूक तृण ने,
वह कहा व्याकुल पिकी ने,
चिर पिपासित चातकी ने,
सत्य जो दिव कह न पाया था अमिट सन्देश मे !

खोज ही चिर प्राप्ति का वर,
साधना ही सिद्धि सुन्दर,
रुदन मे सुख की कथा है,
विरह मिलने की प्रथा है,
शलभ जल कर दीप बन जाता निशा के शेष में !
आँसुओं के देश मे !

गीता का यही सार है

पण्डित सुन्दरलाल

(३)

दसवां अध्याय

दसवें और ग्यारहवें अध्यायों मे उस परमेश्वर की जो सत्य है और जिसकी हक़ीक़त के सामने बाक़ी सब मिथ्या है, जो हर तरह के व्यक्तित्व यानी शख्सियत, अलहदगी या दुई से ऊपर है, जिस तक ख़याल की पहुँच नहीं, उस व्यापक परमेश्वर की अनन्त विभूतियों यानी ज़हूरों और उसके विश्वरूप को समझाने की कोशिश की गई है। लिखा है—

वह न कभी पैदा हुआ, न उसका कोई शुरू है, वह सब दुनियाओं का मालिक है (लोकमहेश्वरम्)। सब देवताओं और महर्षियों की पैदायश उसी से हुई है। इन्सानी क़ौम के जितने पूर्वज यानी मूरिस हुए हैं, जिनकी नसल से दुनिया के तमाम लोग पैदा हुए हैं (येषा लोक इमाः प्रजाः) वे सब उस एक परमेश्वर ही के मानस पुत्र थे। आदमियों के जितने तरह तरह के भाव और भावनाएं हैं, सब उसी से पैदा होती हैं। वही सारे संसार का पैदा करने वाला है। वे लोग बुद्धिमान हैं जो उस परमेश्वर की तरफ दिल को लगाये हुए एक दूसरे से सदा उसका ज़िक्र करते हैं, आपस मे समझते समझाते हैं और इस तरह एक दूसरे के साथ मिलकर सन्तोष और आनन्द पाते हैं।

मच्चित्ता मद्गत प्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।

ऐसे लोग ही सच्चे ज्ञान को हासिल करते हैं। वे ही परमेश्वर को पा सकते हैं।

वह पुरुषोत्तम अपने को अपने ही से जानता है। आदमी उसका 'चिंतन' या ख़याल सिर्फ उसकी विभूतियों (मज़हर) के ज़रिये ही कर सकता है। ये दिव्य विभूतिया अनन्त हैं। मिसाल के तौर पर उसकी थोड़ी सी विभूतिया ये हैं—

सब प्राणियों मे वह आत्मा है। वही सब का शुरू, बीच और आख़ीर है। आदित्यों मे, (अलग अलग ब्रह्माडों के सूर्यों मे) वह विष्णु है, चमकती हुई चीज़ों में वह सूरज है,…… नक्षत्रों मे वह चांद है, वेदों में सामवेद है, देवताओं में इन्द्र है, इन्द्रियों मे मन है, ……रुद्रों मे शकर, अनार्य लोगों में यानी यक्ष और राक्षसों में कुबेर, वसुओं में अग्नि, पर्वतों में मेरु,…… जलाशयों में सागर, महर्षियों मे भृगु……स्थावरों में हिमालय, दरख्तों में पीपल, देवर्षियों में नारद …… घोड़ों मे उच्चैःश्रवस……हाथियो में ऐरावत, आदमियों में राजा, हथियारो मे वज्र……पैदा करने वालों में कामदेव, सांपों में वासुकी, नागों में शेषनाग,…… शासकों में यम, ग्रसने वालों में काल, जानवरों में शेर, परिन्दों में गरुड़, हथियारबन्दों मे राम,……जलचरों में मगर, नदियों में गगा,……विद्याओं में अध्यात्म विद्या,……अक्षरों में अकार (अलिफ),…सब तरफ़ उसके मुह है…… वही सबका ख़ात्मा करने वाली मौत है, वही सबको पैदा करने वाला जन्म है, वही कीर्ति है……वही मेधा है……छन्दों में गायत्री छन्द,……महीनों में अगहन, मौसमों में बसन्त, छलियों मे जुआ, तेजस्वियों का तेज, जय, व्यवसाय, सत्व, यादवों में वासुदेव, पाडवों में अर्जुन, मुनियों में व्यास, कवियों मे उशना (शुक्राचार्य) कवि, दण्ड में…… नीति……मौन ……ज्ञानियों का ज्ञान, सब प्राणियों का बीज वही है चराचर में कोई पदार्थ नहीं है जो बिना उसके हो, उसकी विभूतिओं का कोई अन्त नहीं है……

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽश सम्भवम् ।।४१।

अर्थात् दुनिया में जो चीज़ भी ऐश्वर्य वाली, शोभा वाली या तेज़ वाली है, वह उसी के तेज़ के एक अंश से पैदा हुई है।

इस निगाह से सब देशों, सब क़ौमों और सब धर्मों के महापुरुष (अवतार, पैग़म्बर, तीर्थंकर वग़ैरह) और सबके इष्ट देव उसी परमेश्वर के अंश हैं।

वह अपने केवल एक अंश से इस सारे जगत को संभाले हुए है। (१० १९ से ४२)।

इस सब का मतलब यह है कि परमेश्वर अचिन्त्य यानी ख़याल की पहुँच से परे और अव्यक्त यानी अनदिखी, लेकिन सबमें रमा हुआ है, और सबके साथ अपनी एकता को महसूस करके ही आदमी सब के अन्दर परमेश्वर के दर्शन कर सकता है।

इसी को ग्यारहवें अध्याय के शुरू में 'अध्यात्म' यानी रूहानियत कहा गया है (११ १)।

ग्यारहवां अध्याय

इसके बाद अर्जुन ने "योगेश्वर" श्रीकृष्ण की कृपा से अपनी 'दिव्य चक्षु' यानी ज्ञान की आंखों से परमेश्वर के "विश्वरूप" को देखा। उसने देखा कि परमेश्वर के सैकड़ों और हज़ारों तरह तरह के रूप हैं। सारा चराचर जगत उसी के अन्दर है। उसके सब तरफ मुंह है। हज़ारों सूरजों की एक साथ रोशनी से बढ़कर उसकी ज्योति है। अर्जुन ने देखा कि सब आर्य जाति के सब ऋषि और अनार्य जाति के सब दिव्य लोग (उरगाश्चदिव्यान्) सब एक समान उसी परमेश्वर के अन्दर हैं। सब देवता और सब प्राणी उसी के अन्दर हैं। उसके अनेक भुजाएं, अनेक पेट, अनेक मुंह, अनेक आंखें और अनेक रूप हैं। सब रूप उसी के रूप हैं। सब तरफ वही वह है। उसका न शुरू है, न बीच, न आख़ीर। वह विश्वरूप है और विश्व का मालिक। उसका प्रकाश यानी नूर चारों तरफ़ फैला हुआ है। वह अनन्त बाहु है। सूरज और चांद उसकी आंखें हैं। उसकी शक्ति अनन्त है। वह आसमान और ज़मीन को और दसों दिशाओं को पार किए हुए है। सब डरने वाले उसी से डरते हैं। सब स्तुति करने वाले उसी की स्तुति करते हैं। सब धर्मों जातियों और देशों के लोग उसी की तरफ़ टकटकी लगाये हैं। वही नित्य है, वही धर्म का सनातन रक्षक है। जिस तरह सारी नदियां समुद्र में जा गिरती हैं, उसी तरह सारी दुनिया और सब प्राणी आख़ीर में परमेश्वर में ही जा मिलते हैं। वह देश और काल से परे है। वही काल है। बाक़ी सब निमित्त मात्र यानी केवल एक बहाना हैं। वही अक्षर है। वही व्यक्त है। वही अव्यक्त है। वही दोनों से परे है। वही आदि देव है। वही जानने वाला और वही जानने की चीज़ है। वही अनन्त रूप से सारे विश्व में रमा हुआ है। वही वायु है। वही यम है। वही अग्नि है। वही वरुण है। वही चन्द्रमा है। वही प्रजापति है। वही सबका प्रपितामह है। उसे हज़ार बार नमस्कार! फिर फिर नमस्कार! सामने से और पीछे से सब तरफ से नमस्कार! वह अनन्त-वीर्य है। वह अनन्त पराक्रम वाला है। वह सबको अपने अन्दर समाकर फिर भी सब का सब बाक़ी है। सबका पिता, सबका पूज्य और सबसे बड़ा है। उसकी कोई दूसरी मिसाल या उसका सानी कोई नहीं। वह अकेला आप है। वह मनुष्य रूप से सबका सखा है। वह सबका प्यारा है। (११ ८ से ४३ सार)।

वह न वेदों के ज़रिये जाना जा सकता है न यज्ञों से, न पूजा पाठ से, न दान और तरह तरह के कर्म काण्डों से, न उग्र तपों से। आदमी उसे केवल "आत्मयोग" के ज़रिये यानी अपने नफ़्स को क़ाबू में करके और "अनन्य" भक्ति के ज़रिये ही यानी उस भक्ति के, जिसमें किसी दूसरे को उसका शरीक न किया गया हो, उसे जान सकता है, ठीक ठीक देख सकता है और उसी में प्रवेश कर सकता है उसी में समा सकता है (११ ४८, ५३,५४)।

उसका सबसे सौम्य रूप, सबसे प्यारा रूप, जिससे आदमी को तसल्ली और शांति मिल सकती है "मनुष्य रूप" है (११ ५१)। वह सब रूपों में है।

यह उसका "विश्वरूप" है। इसलिये आदमी को चाहिये कि उसी के लिये सब काम करे, उसी को अपना मक़सद समझे, एक उसी की भक्ति करे, दुनियां में निजी स्वार्थ यानी ख़ुदी और मोह से अलग रहे, और "सब प्राणियों के साथ दोस्ती का भाव रखे (निर्वैरः सर्व भूतेषु)"। ऐसा आदमी ही ईश्वर को पा सकता है। (११ ५५)।

बारहवां अध्याय

बारहवें अध्याय में, जिसका नाम भक्तियोग है, अर्जुन ने फिर यह सवाल उठाया कि परमेश्वर की सगुण रूप में यानी उसके सिफ़तों का ख़याल करते हुये, पूजा करने वाले और निर्गुण अचिन्त्य रूप में यानी ख़ालिस लामकान का ध्यान करने वाले इन दोनों में से कौन ज़्यादह ठीक है? गीता का जवाब है कि—

जो लोग पूरी श्रद्धा के साथ भगवान के सगुण रूप की उपासना करते हैं वे भगवान की नज़र में ज़्यादह ठीक हैं। लेकिन जो लोग भगवान के उस परब्रह्म रूप की उपासना करते हैं जो "अक्षर" यानी नित्य एकरस है, "अनिर्देश्य" है, यानी जिसकी बाबत कुछ कहा ही नहीं जा सकता, जो अव्यक्त है, जो सब जगह रमा हुआ और अचिन्त्य यानी ख़याल से परे है, जो कूटस्थ, अचल और ध्रुव है, वे भी उसी परमेश्वर को पहुँचते हैं, बशर्ते कि उन्होंने अपनी तमाम इन्द्रियों पर क़ाबू हासिल कर लिया हो, वे सबको एक निगाह से देखते हों और सदा "सर्वभूत हितेरताः" यानी सब प्राणियों की भलाई के कामों में लगे रहते हों। (१२ २, ३, ४)।

लेकिन अव्यक्त की उपासना का रास्ता ज़्यादह मुश्किल है (१२ ५)।

इसलिये सब कामों का फल ईश्वर पर छोड़कर और उसी का ध्यान करते हुए, अपने कर्त्तव्य पालन में लगे रहना चाहिये (१२.६)।

जो किसी से वैर नहीं करता, जो सबका दोस्त है, जो सब पर दया करता है, जिसमें 'मेरे तेरे' का भाव नहीं, जिसमें अहंकार यानी ख़ुदी नहीं, जो सुख दुःख में एक समान और सबको माफ़ कर देने वाला है, जो सदा सन्तुष्ट है, जिसने अपने को जीत लिया है, जिसका इरादा पक्का है और जिसने अपने मन और बुद्धि को ईश्वर में लगा रखा है, ऐसा ईश्वर का भक्त ईश्वर को प्यारा है (१२ १३, १४)।

जिससे दुनिया के किसी आदमी को किसी तरह का डर नहीं और न जिसे किसी से किसी तरह का डर है, जो ख़ुशी, रंज और डर से ऊपर उठ गया है, वह ईश्वर को प्यारा है (१२ १५)।

जो हर हाल में संतुष्ट, पाक, बिना आलस्य, पक्षपात से ऊपर और दुःख से परे है, जो फल की फ़िक्र छोड़कर सदा अपने फ़र्ज़ के पूरा करने में लगा रहता है, वही भक्त ईश्वर को प्यारा है (१२ १६)।

जो न आनन्द से फूलता है और न दुःखों से दुःखी होता है, जिसे न किसी चीज़ के जाने का रंज और न पाने की ख़्वाहिश, जिसने अपने लिये शुभ और अशुभ दोनों तरह के फलों का त्याग कर दिया है, वह भक्त ईश्वर को प्यारा है (१२ १७)। जो आदमी दोस्त और दुश्मन दोनों को एक निगाह से देखता है, जो मान और अपमान दोनों में एक समान रहता है, जो सरदी, गरमी, सुख, दुःख में एक समान और मोह रहित है, जिसके लिये बदनामी और नेकनामी बराबर है, जो फ़ज़ूल नहीं बोलता, जो हर हाल में सन्तुष्ट यानी राज़ी रहता है, जो किसी घर को अपना घर नहीं मानता, जिसका दिल क़ायम है, वह भक्त ईश्वर का प्यारा है (१२ १९)।

जो लोग इस "धर्म्मामृत" का श्रद्धा के साथ पालन करते हैं और जो ईश्वर में लौ लगाए हैं, वे भक्त ईश्वर को बहुत ही प्यारे हैं। (१२ २०)।

तेरहवां अध्याय

तेरहवां अध्याय गीता का सबसे ज़्यादह दार्शनिक (मैटाफ़िज़िकल) अध्याय है। वेदान्त शास्त्र (ब्रह्मसूत्रों) का गीता में सिर्फ़ एक बार नाम आया है और वह इस अध्याय में। आत्मा से अलग जानने की जो कुछ

चीज़ें यानी ज्ञान का जो कुछ मैदान है उसे "क्षेत्र" और आत्मा को जो इस सबको जानता है "क्षेत्रज्ञ" कहा गया है। सच्चे ज्ञान को पाने का क्या रास्ता है, असली जानने की चीज़ क्या है और सच्चा ज्ञान या सच्ची दृष्टि किसे कहते हैं, यह सब इस अध्याय में बताया गया है।

मोटे तौर पर शरीर क्षेत्र है और आत्मा क्षेत्रज्ञ। लेकिन शरीर में सिर्फ यह जड़ शरीर ही नहीं है। पाँच महाभूत (मिट्टी, पानी, हवा, आग और आकाश), अहंकार, बुद्धि, प्रकृति, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन और पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के अलग अलग विषय, ऐसे ही इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतना, धीरज,—यह सब "क्षेत्र" हैं। इन सबमें विकार होते रहते हैं। और जो शुद्ध पुरुष इन सब में रमा हुआ है वह "क्षेत्रज्ञ" है। वही इस देह का मालिक, वही परमात्मा और परम पुरुष है। वह नित्य और निर्विकार है। (१३ १,२,५,६,२२)। इन दोनों क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के मेल से ही सारी दुनिया बनी है (१३ २६)।

सच्चे ज्ञान के हासिल करने का यह रास्ता बताया गया है—

घमंड न करना; दंभ यानी छल न करना; अहिंसा; सहनशीलता यानी बरदाश्त, ईमानदारी; गुरु के पास बैठना; पाक रहना; स्थिरता यानी सकून; अपने ऊपर काबू; इन्द्रिय विषयों से वैराग्य; अहङ्कार या खुदी का न होना; जन्म, मौत, बुढ़ापा, बीमारी और दुःख, इनकी बुराई को समझना; किसी से मोह न होना; स्त्री, बच्चों, घर वग़ैरह में अपने को भूल न जाना; चाहे कोई बात अपने मन चाहती हो या इसके ख़िलाफ़ हो हर हालत में अपने दिल को एक सा रखना; ईश्वर में भक्ति; कभी कभी एकान्त में रहने की आदत; भीड़ से बचने की ख़्वाहिश; अध्यात्म यानी रूहानियत की तरफ़ लगन; असलियत को जानने की इच्छा;—यह सब सच्चे ज्ञान को पाने का रास्ता है। यही ज्ञान है। इससे उल्टा सब अज्ञान है (१३ ७ से ११)।

अब सबसे बढ़कर जानने की चीज़ क्या है? वह परब्रह्म जिसका कोई शुरू नहीं, जिसके बारे में न "है" कहा जा सकता है, न "नहीं है"। जिसके सब तरफ़ हाथ, पैर, आँख, कान, सिर और मुँह हैं, जो सब में रमा हुआ और सबसे परे है। जिसमें सब इन्द्रियों के गुण होने का भास होता है, पर जिसके कोई इन्द्रिय नहीं है। जिसे किसी से मोह नहीं, पर जो सब का सहारा है।

जो निर्गुण यानी बेसिफ़ात है, लेकिन सब गुणों का भोगने वाला है। जो सब प्राणियों के अन्दर और सबके बाहर है। जो चर भी है और अचर भी। जो इतना सूक्ष्म है कि जाना नहीं जा सकता। जो दूर से दूर और पास से पास है। जो सब प्राणियों में एक अभेद रूप से भी मौजूद है और अलग अलग भी है। सब का पालने वाला। सबका नाश करने वाला और फिर उनके रूप में खुद पैदा होने वाला। अन्धेरे से दूर, सब ज्योतियों की ज्योति। नूर का भी नूर। सबके दिलों में रहने वाला, वही ज्ञान है और वही ज्ञेय यानी जानने की चीज़ (१३ १२ से १७)। ध्यान ज्ञान और कर्म तीनों उसे जानने के रास्ते हैं (१३ २४)।

उस आदमी की निगाह सच्ची निगाह है जो सब प्राणियों में एक समान विराजमान एक परमेश्वर को देखता है। जो परमेश्वर को सब जगह रमा हुआ देखकर किसी दूसरे की हिंसा करके अपने हाथ से अपनी हिंसा नहीं करता वही परम गति को पाता है। जब आदमी अलग अलग प्राणियों के अन्दर एक ही परमेश्वर को देखने लगता है, तब वह उस पूर्ण ब्रह्म को, उस परमात्मा को पहचानता है, जो नित्य, निर्गुण और निर्विकार है। जिस तरह आकाश सब जगह रहते हुये भी बे दाग़ रहता है उसी तरह आत्मा सब शरीरों में रहते हुये भी बे दाग़ रहती है। जिस तरह एक सूरज सारी दुनिया को रोशनी देता है, इसी तरह एक आत्मा इस सारे क्षेत्र को रोशन करती है (१३ २७ से ३३)।

चौदहवां अध्याय

इस अध्याय में सत्व, रजस और तमस इन तीनों गुणों को बयान किया गया है।

सत्व, रजस और तमस यह तीनों गुण प्रकृति (माद्दे) से पैदा होते हैं। यह तीनों ही जीव को शरीर में बांधकर रखते हैं (गुण शब्द का एक अर्थ रस्सी भी है)। इनमें सत्व निर्मल और प्रकाश रूप है। वह जीव को सुख और ज्ञान के साथ बांधता है। रज मोह रूप है। वह लोभ और तृष्णा से पैदा होता है और जीव को इच्छा और कर्म में बांधे रखता है। तम अज्ञान और अन्धकार से पैदा होता है। वह इसे ग़ाफ़िली, सुस्ती, आलस्य और नींद में फसाए रखता है। इन तीनों में बराबर खींचा तानी होती रहती है। मरते वक्त जिस गुण का आदमी में ज़ोर होता है वैसा ही उसे आगे को फल मिलता है। आत्मा या परमात्मा इन तीनों गुणों से ऊपर है। इसलिये जो आदमी तीनों गुणों से ऊपर यानी 'गुणातीत' हो जाता है वही इस दुनिया से निजात पाता है (१४.५ से २०)।

तीनों गुणों से ऊपर यानी गुणातीत उसे समझना चाहिये जो न प्रकाश की ख़्वाहिश करता है न कामों में फंसे रहने की, और न सुस्ती या आलस्य में फसता है, और न इन तीनों हालतों में से किसी से भी घबराता है। उदासीन की तरह जो सुख दुःख को एकसा मानता है और इन हालतों के बदलने से अपने भीतर बिल्कुल डांवाडोल नहीं होता। सुख दुःख, मिट्टी, पत्थर और सोना, प्रिय, अप्रिय, नेकनामी और बदनामी सबमें जो एक समान धीर और क़ायम रहता है। जो मान अपमान, दोस्त और दुश्मन इन सब में एक समान रहता है, जो सब ख़्वाहिशों से ऊपर है, वही 'गुणातीत' है। जो परमेश्वर से सच्ची लौ लगाता है वह इन गुणों से ऊपर उठकर परमेश्वर के "साधर्म्य" यानी ख़ुद उस जैसा होकर उसी में लीन (फ़ना) हो जाता है (ब्रह्म भूयाय कल्पते)। क्योंकि वह परमेश्वर ही आत्मा का, अनन्त अमृत का और अखंड सुख का भण्डार है (१४.२, २२ से २७)।

पन्द्रहवां अध्याय

इस अध्याय में इस दुनिया के अस्तित्व की तुलना एक ऐसे बड़े पीपल के दरख़्त से की गई है जिसकी जड़ें ऊपर हैं और शाख़ें नीचे। यह दरख़्त ही सबसे बड़ा रहस्य यानी राज़ है। "अश्वत्थ" (पीपल) के माइने 'कल न रहने वाला' यानी फ़ानी भी है। वेद (ज्ञान) उसकी पत्तियां हैं। सत्व, रज, तम उसकी नसें हैं। विषय वासनाएं उसकी डालियां हैं। उसकी कुछ जड़ें नीचे की तरफ़ भी निकली हुई हैं। ये वे ख़्वाहिशें हैं जो आदमी को हवा और हविस में बांधे रखती हैं। इस भयंकर दरख़्त को सिर्फ़ एक हथियार ही काट सकता है और वही इसके रहस्य को हल कर सकता है। वह हथियार "असंग" शस्त्र है, यानी किसी चीज़ के साथ 'संग' या मोह न रखना। उसी से इसे काटकर आदमी शान्ति और परमपद पा सकता है और परम पुरुष में मिल सकता है। (१५.१ से ४)।

वे ज्ञानी ही, जिनमें न अहंकार यानी ख़ुदी है और न मोह, जिनमें दुनिया से आसक्ति नहीं रही, जो अध्यात्म (रूहानियत) में लगे रहते हैं, जिनकी ख़्वाहिशें दूर हो चुकीं, जो दुई से ऊपर उठ गये, जिन पर सुख दुःख असर नहीं करता, वे ही उस परम पद को पाते हैं जहां न सूरज चमकता है, न चांद, न आग और जहां से पहुँच कर फिर वापस नहीं आया जाता (१५.५-६)।

जीव ईश्वर का ही "अंश है। मन और इन्द्रियों के काबू में आकर वह संसार के चक्कर में पड़ा हुआ है। इच्छा ने उसे यहां बांध रखा है (१५.७)।

इस सारे रहस्य की असलियत वही ईश्वर है। सूरज में, चांद में और आग में सब तेज उसी का तेज है। वही ज़मीन के अन्दर घुस कर सब प्राणियों को सम्भाले हुए है। वह चांद के ज़रिये जड़ी बूटियों में रस पहुंचाता है। जानदारों में वह जठराग्नि (हरारते

शरीरी) है। वही अन्न पचाता है। वही सबके दिलों के अन्दर बैठा हुआ है (सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो)। उसी से इल्म, याददाश्त, वग़ैरह पैदा होते हैं। योगी उसे अपने अन्दर धंस कर देखते हैं। वही पुरुषोत्तम है। वही सर्वज्ञ यानी सब कुछ जानने वाले हैं, और जो उसे जान जाय वह भी सर्वज्ञ। (१५.११ से १५,१८.१९)।

सोलहवां अध्याय

इस अध्याय मे कहा गया है कि--

इस दुनिया में दो तरह की तबियतों के आदमी होते हैं। एक दैवी सम्पद वाले (अल्लाह वाले), और दूसरे आसुरी सम्पद वाले (शैतान वाले)। दैवी सम्पद आदमी को आज़ादी या मुक्ति की तरफ़ ले जाती है और आसुरी सम्पद उसे बन्धनों में जकड़े रखती है (१६.५)।

दैवी सम्पद मे ये बातें शामिल हैं—(१) निडर होना, (२) दिल की सफ़ाई, (३) ज्ञान हासिल करने की कोशिश, (४) दान देने की आदत, (५) नफ़्स पर क़ाबू, (६) दूसरों का उपकार करना, (७) अच्छी चीज़ें पढ़ना, (८) तप, (९) कपट न करना, (१०) अहिंसा, (११) सच्चाई, (१२) गुस्सा न करना, (१३) त्याग, (१४) शांति, (१५) किसी की चुगली न करना, (१६) सब पर दया करना, (१७) लोभ न करना, (१८) दीनता, (१९) शराफ़त, (२०) गम्भीरता, (२१) तेज, (२२) क्षमा, (२३) धीरज, (२४) पवित्रता, (२५) किसी से दुश्मनी न करना और (२६) घमंड न करना (१६.१ से ३)।

आसुरी सम्पद वाले के स्वभाव में इस तरह की बातें होती हैं—(१) ढोंग, (२) ग़रूर, (३) अपने को बड़ा मानना, (४) गुस्सा, (५) सख़्ती, और (६) जहालत (१६.४)।

इसके बाद १३ श्लोकों में आसुरी सम्पद वाले के रहन सहन और ढंग को बयान किया गया है। आजकल के कुछ लोगों, ख़ासकर इस ज़माने के पच्छिमी क़ौमों के नेताओं का यह इतना अच्छा चित्र है कि इन तेरह श्लोकों का ठीक ठीक तरजुमा नीचे दिया जाता है—

यह लोग नहीं जानते कि किस तरह के कामों में आदमी को लगना चाहिये और किस तरह के कामों में नहीं। उनमें न पवित्रता होती है न सदाचार और न सच्चाई। वे कहते हैं कि इस दुनिया का कोई ईश्वर नहीं, न इसमें कहीं सच्चाई है और न इसका कोई आधार। जड़ परमाणुओं यानी ज़र्रों के मिलने से ही यह दुनिया पैदा हुई है। चेतन्य या आत्मा से इसका कोई सम्बन्ध नहीं। मर्द और औरत के बीच की कामवासना मे ही यह सारा संसार पैदा हुआ है, और कोई इसका पैदा करने वाला नहीं है। दुनियां का बुरा करने वाले यह लोग जिनकी आत्माएं नष्ट हो गई हैं जिनकी बुद्धि बहुत छोटी है, और जिनके काम बहुत उग्र यानी तेज़ होते हैं, दुनिया के नाश के लिये ही इन ख़यालों को लेकर पैदा होते हैं। ख़ुदी (अहंकार), ढोंग (दम्भ) और ग़रूर (मद) मे भरे हुए यह लोग इस तरह की ख़्वाहिशों के पीछे लगे हुए जो कभी पूरी नहीं हो सकतीं, मोह में फंसे हुए नापाक इरादे करके, और ग़लत ज़िदों में न पड़कर अपनी कोशिशों में लग जाते हैं। वह इस तरह की लम्बी फ़िकरों में पड़ जाते हैं जो मौत तक उन्हे घेरे रहती हैं। उन्हें इस बात का यक़ीन हो जाता है कि कामोपभोग यानी ऐशपरस्ती से बढ़कर और कोई चीज़ दुनिया में नहीं है। सैकड़ों आशाओं के जाल में फंसे हुए, नफ़सानियत और गुस्से मे लीन, वे अपने ऐश के लिये अन्याय से भी धन इकट्ठा करने में लग जाते हैं। वे यही सोचा करते हैं कि आज मैंने अपना यह मनोरथ पूरा कर लिया, कल वह पूरा करूंगा, यह धन भी मेरा हो जायगा, उस दुश्मन को मैंने मार डाला, और दुश्मनों को भी मैं मार डालूंगा, मैं मालिक हूं, मैं भोगने वाला हूं, मैं कामयाब हूं, मैं ताक़तवर हूं, मै सुखी हूं, मैं धनी हूं, मैं ऊंची नसल का हूं, मेरे बराबर और दूसरा कौन है, मैं दुनिया का भला करूंगा, मै जिसे चाहूंगा दूंगा, मैं आनन्द मनाऊंगा,—अज्ञान से अंधे हुए वे इसी तरह

की बातें सोचा करते हैं। उनका मन तरह तरह की ख़्वाहिशों में बहकता रहता है, वे मोह जाल से घिरे रहते हैं और अपनी ऐशपरस्ती में लगे हुए आख़िर को गन्दे नरक में पड़ते हैं। अपने को वे बहुत बड़ा समझते हैं, धन और बड़प्पन के ग़ुरूर में चूर; अपनी ऐंठ में, वे दिखावे और ढोंग के लिये झूठे कर्मकाण्ड, यज्ञ भी करते हैं। अहंकार, घमंड, बल, काम और क्रोध के कारण दूसरों के साथ वैर रखते हुए वे सबके शरीरों मे एक समान रहने वाले परमेश्वर के साथ द्वेष करते हैं। ये ज़ालिम लोग दुनिया के लोगों मे अधम होते हैं (१६ ७ से १९)।

उनका अन्त बहुत ख़राब होता है। वे सच्चाई या हक़ से दूर रहकर नीचे ही नीचे गिरते जाते हैं (१६ २०)।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्।(२१)

यानी आत्मा के नाश करने वाले नरक के ये तीन दरवाज़े हैं—काम, क्रोध और लोभ। इसलिये इन तीनों को छोड़ देना चाहिये।

हे अर्जुन! जो आदमी अन्धकार के इन तीनों दरवाज़ों से बच जाता है वही अपना भला करता है और वही आख़ीर में परागति यानी मोक्ष पाता है (१६ २२)।

इसलिये आदमी को चाहिये कि नीति शास्त्र यानी सदाचार शास्त्र (ethics) को ही अपना मार्ग दर्शक बनावे, उसी के अनुसार चले, ख़ुद अपनी ख़्वाहिशों के पीछे न पड़े (१६ २३, २४)।

सतरहवां अध्याय

इस अध्याय में अर्जुन ने सवाल किया है कि—

जो लोग आपके इन सदाचारों के उसूलों का ख़याल न करते हुए ख़ुद अपनी श्रद्धा या अपने यक़ीन के मुताबिक़ दुनियां में अपना फ़र्ज़ पूरा करते हैं और उसके लिये तकलीफ़ें उठाते हैं और त्याग करते हैं, उन्हें आप कैसा समझते हैं? (१७ १)।

श्री कृष्ण ने जवाब दिया—आदमी की श्रद्धा (यक़ीन) उसके स्वभाव के मुताबिक़ तीन तरह की होती है—सात्विकी, राजसी और तामसी (१७ २)। जैसी जिसकी तबियत वैसी ही उसकी श्रद्धा होती है। आदमी श्रद्धामय है। जिसकी जैसी श्रद्धा है वैसा ही वह आदमी है (१७ ३)।

जो लोग दम्भ (ढोंग) और अहंकार (ख़ुदी) के साथ, अपनी ख़्वाहिशों और मोह के ज़ोर मे, बिना समझे घोर तप भी करते हैं, तकलीफ़ें उठाते हैं और अपने शरीर को कष्ट पहुँचाते हैं, उनके ये तप और कष्ट भी शैतानी (आसुरी) हैं। सब शरीरों के अन्दर रहने वाला परमेश्वर उनके इन तपों से ख़ुश नहीं होता (१७ ५, ६)।

आदमी का खाना, पीना, उसका त्याग, उसका तप और दान सब तीन तरह के हैं—सात्विक, राजस और तामस (१७ ७)।

जो काम सिर्फ़ फ़र्ज़ समझ कर किए जाते हैं, जिनसे फल की इच्छा बिल्कुल न हो, जो पक्षपात मे न किए गये हों, जो सोच समझकर पूरे दिल और श्रद्धा से किए जावें, जिनमें कामयाबी या नाकामयाबी से करने वाले के दिल पर कोई असर न हो, और जिनके बदलने में किसी से अपने लिये उपकार की इच्छा न हो, वे ही काम सात्विक हैं (१७ ११, १७, २०; १८ २३, २६)।

जो काम फल की इच्छा से, लोभ से, दम्भ से या अहंकार से या अपने नाम के लिए, या सत्कार, मान, पूजा पाने के लिए या उपकार के बदले में, अपने लिये उपकार की आशा से मेहनत के साथ किए जाते हैं, वे राजस हैं (१७ १२, १८, २१; १८ २४, २७)।

और जो काम आलस्य से, बिना श्रद्धा के, बिना नतीजा सोचे, बेतरीक़े, दूसरे के फ़ायदे नुक़सान को न देखते हुए, या मूर्खता की हठ से, दूसरे को बरबाद करने की गरज़ से, या उचित अनुचित, देशकाल या पात्र, अपात्र का विचार न करते हुए, हिंसा से या

दूसरे की मान मर्यादा का ख़्याल न करके किया जाय वह तामस है (१७.१३, १९, २२; १८ २५, २८)।

अपने से बड़ों की इज़्ज़त, शरीर की सफाई, सादगी, ब्रह्मचर्य और अहिंसा ये पाच शरीर के तप हैं। अपनी बात से किसी का दिल न दुखाना, सच बोलना, जो दूसरे के लिए प्यारी और फ़ायदेमन्द हो वह बात कहना और अच्छी चीज़ पढने की आदत, ये पाच ज़बान, के तप हैं। खुश दिली, शान्ति, मौन यानी ख़ामोशी इन्द्रियों को क़ाबू मे रखना और दिल की सफाई ये पाच मन के तप हैं (१७ १४ से १६)।

हे अर्जुन ! जो काम बिना श्रद्धा के किया जावे वह न इस दुनिया में किसी काम का है, न दूसरी दुनिया मे (१७ २८)।

गीता के इस छोटे से अध्याय मे आदमी के तमाम कामो और उसकी नीयत की बड़ी सुन्दर कसौटी बता दी गई है।

अठारहवां अध्याय

आख़िरी अध्याय मे 'सन्यास' की रूढ़ि का खण्डन करते हुए कहा गया है—

अपने सब कामों के अन्दर मे खुदग़रज़ी के निकाल देने को ही समझदार आदमी असली "सन्यास" कहते हैं, और सब कामो के फल का त्याग यानी अच्छे बुरे नतीजे की परवाह न करना ही सच्चा "त्याग" है (१८ २)।

गीता मे जहा जहा 'फल के त्याग' या अच्छे बुरे नतीजे की परवाह न करने' का ज़िक्र है वहां मतलब सिर्फ यह है कि अपने 'फ़र्ज़' के पूरा करने मे करने वाले को चाहे सुख हो चाहे दुःख, नेकनामी हो, चाहे बदनामी, उसे इसकी बिल्कुल परवाह नहीं करनी चाहिये, उसके दिल पर भी इसका कोई असर नहीं होना चाहिए। यह मतलब नहीं है कि कोई काम बिना नतीजा सोचे किया जावे। जो काम "बिना नतीजा सोचे…उचित अनुचित का विचार न करते हुए" किया जाय उसे पिछले ही अध्याय में "तामस" यानी सबसे बुरा काम कहा गया है। 'फल त्याग' का मतलब केवल पूरी निस्वार्थता और 'सबके भले की इच्छा रखते हुए' (चिकीर्षुर्लोक सग्रहम् ३ २५) काम करना है। इसी को इस अध्याय मे "सन्यास" या "त्याग" बताया गया है।

दूसरों की सेवा, दान और तप जैसे काम करने ही चाहिएं। इनमे आदमियों की आत्माएं पाक होती हैं। लेकिन इन्हें भी आसक्ति यानी मोह को छोड़कर फल की परवाह न करते हुए महज 'फ़र्ज़' (कर्तव्य) समझकर करना चाहिये (१८ ५, ६)। यही असली "सात्विक" त्याग है (१८ ९, ११)। मोह में आकर अपने फ़र्ज़ को छोड़ देना या शरीर की तकलीफ के डर से 'फ़र्ज़' मे हट जाना दोनों बुरे हैं (१८ ७, ८)।

ज्ञान भी तीन तरह का है। सब प्राणियों में एक ही अव्यय यानी लाजवाल और अव्यक्त अलखफी आत्मा को देखना, यह सात्विक ज्ञान है। सबमें अलग अलग आत्माओं को देखना यह राजस ज्ञान है, वह तुच्छ ज्ञान जिससे आदमी बिना पूरे मतलब या असलियत को समझे एक ही काम में लिपटा रहता है और उसे ही सब कुछ समझ लेता है तामस ज्ञान है (१८ २० से २२)।

ठीक इसी तरह सब धर्मों और सब जातियों को एक समझना सात्विक, सबको अलग अलग समझना राजस और अपने ही धर्म या जाति को ठीक और दूसरों को ग़लत समझ बैठना तामस है।

सुख भी तीन तरह का हो सकता है। जो सुख शुरू में ज़हर की तरह और आख़ीर में अमृत की तरह है, जिससे आत्मा और बुद्धि को शान्ति मिलती है वह सुख सात्विक है। विषयेन्द्रियों का सुख जो शुरू में अमृत की तरह और आख़ीर में ज़हर की तरह है राजस सुख है। जो सुख शुरू में और आख़ीर में आत्मा को सिर्फ मोह, नींद, आलस्य और सुस्ती में डाले रखता है वह सुख तामस है (१८ ३७, ३८, ३९)।

इसी तरह कर्त्ता, कर्म, बुद्धि और धीरज सब तीन तीन तरह के हैं।

सब धर्मों की एकता, सदाचार और सब में एक ही आत्मा को देखने पर ज़ोर देते हुए गीता अलग

अलग आदमियों के लिए अलग अलग 'धर्म' भी बताती है। अलग अलग आदमियों में, गीता सिर्फ़ एक ही फ़र्क मानती है, और वह अलग अलग "स्वभाव का" फ़र्क है। जन्म, जाति, देश, पन्थ, सम्प्रदाय वग़ैरह के कोई भी फ़रक़ गीता नहीं मानती—

जिस आदमी में अपने स्वभाव के मुताबिक़ (स्वभाव प्रभवैर्गुणैः) शम (शान्ति), दम (नफ़्स) पर क़ाबू , तप, शौच (पाकीज़गी), क्षान्ति (माफ़ी), आर्जव (कपट न होना), ज्ञान विज्ञान और आस्तिक्य (ईश्वर में विश्वास) की तरफ़ झुकाव हो वह इन कामों में लगे। जिसमें बहादुरी, तेज, धीरज, होशयारी, लड़ाई में स्थिरता, दान और प्रभुता इनकी तरफ़ झुकाव हो वह इस तरह के कामों में लगे। जो अपने "स्वभाव" से खेती, जानवर पालना और तिजारत इनके ज्यादह क़ाबिल हो वह इन्हें करे। और जो "स्वभाव" से दूसरों की सेवा, सुश्रुषा करने के ज़्यादह क़ाबिल हो वह इसमें लगे। चारों में अलग अलग गीता ने "स्वभाव" पर ज़ोर दिया है। यही गीता की वर्ण व्यवस्था का मतलब है (१८.४१ से ४४)।

इसमें छोटे बड़े या जन्म जाति का कोई सवाल नहीं। क्योंकि—

हर आदमी इस तरह अपने अपने काम में लगा हुआ ही सिद्धि हासिल कर सकता है, बशर्ते कि वह अपने सब काम उसी परमेश्वर के लिए करे जिसने सब प्राणियों को पैदा किया है और जो इन सबके अन्दर रमा हुआ है (१८.४५,४६)।

इस तरह हर आदमी का जो "स्वभाव नियत" फ़र्ज़ है वही उसका "स्वधर्म" है। उसके ख़िलाफ़ उसे किसी दूसरे काम या धर्म की तरफ़ नहीं जाना चाहिए (१८.४७)।

यहां हर आदमी के स्वभाव, उसकी तबीयत और उसकी क़ाबलियत के मुताबिक़ दुनिया की तरफ़ उसके फ़र्ज़ का ज़िक्र है, किसी तरह की रूढ़ियों या कर्म काण्डों का नहीं।

आदमी परमेश्वर को कैसे जान सकता है, इसका ज़िक्र करते हुए फिर कहा गया है कि—

जिसकी बुद्धि हर तरह बेलौस (निर्मोह) है, जिसने अपने को जीत लिया है, जिसमें कोई ख़्वाहिश नहीं रह गई है, वह उस निर्मल बुद्धि के साथ और धीरज से अपने को संभाले हुए, विषयों से अलग रह कर, न किसी से राग न किसी से द्वेष, एकान्त में रहकर, थोड़ा भोजन करके, अपने मन, वचन और शरीर को क़ाबू में रखकर सच्चे वैराग्य के साथ, अपनी आत्मा में ध्यान लगाकर ख़ुदी, ज़ोर, घमण्ड, नफ़्सानियत ग़ुस्सा, माल जमा करना और मेरा तेरा, इस सबको छोड़ कर शान्त होकर ख़ुद ब्रह्मरूप हो जाता है। फिर वह न किसी चीज़ का ज़िक्र करता है, न ख़्वाहिश, उसका दिल फूल की तरह खिल जाता है, वह सब प्राणियों को एक निगाह से देखता है (समः सर्वेषु भूतेषु) और परमेश्वर को ठीक ठीक जानकर उसी में लीन हो जाता है (विशते तदनन्तरम्)। (१८.४९ से ५५)।

गीता के बनाए हुए इस रास्ते में, जो रुढ़ियों और कर्म काण्ड की जगह केवल नेकी, नफ़्स पर क़ाबू और समदृष्टि का रास्ता है, दुनिया की तरफ़ अपने सब फ़र्ज़ों को पूरा करना (सर्व कर्माण्यपि सदा कुर्वाणो) सबसे से ज़रूरी है (१८.५६)।

सब काम 'ईश्वरार्पण' यानी ईश्वर के लिए करने पर बार बार ज़ोर दिया गया है (१८.५७)। परमेश्वर सब प्राणियों के दिल के अन्दर है, "ईश्वरः सर्व भूतानाम् हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति (१८.६१) यह वाक्य गीता में बार बार ही आता है।

आख़ीर में जिस बात को गीता में सबसे ज़्यादह रहस्य की बात, "सर्वगुह्यतमं" कहा है वह यह है कि—

केवल एक परमेश्वर में मन को लगाओ उसी की भक्ति करो, उसी के निमित्त सब काम करो, उसी के सामने सर को झुकाओ, और—"सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" और सब "धर्मों" को छोड़कर सिर्फ़ एक परमेश्वर का सहारा लो। यही उसे पाने का तरीक़ा है। (१८.६४,६५, ६६)

जग में महा मृत्यु की फांसी

पं० बालकृष्ण शर्मा, 'नवीन'

जग में महा मृत्यु की फासी !
मरण खड़ा है चिर जीवन के डाले गल बहियासी
गहरी महा मृत्यु की फासी।

(१)

नाम रूप के भेद भरम ने जग मोहित कर डाला;
लय-भव की अस्थिर महिमा ने हिय में भय भर डाला;
किन्तु मानवोपरिमानव ने दिया सँदेस निराला;
कि यह मरण तो है जीवन की अपनी कुछ महिमा-सी
कैसी महा मृत्यु की फासी

(२)

गति मे अगति निहित है : गति से अगति नही है भिन्ना,
तब क्यो हो जीवन की गति से मृत्यु-अगति विच्छिन्ना ?
जीवन गति मे लख मरणागति, मतिगति हो क्यों खिन्ना ?
मर कर अमर सँदेसा दे गये वे जीवन सन्यासी;
कैसी महा मृत्यु की फासी ?

(३)

जीवन और विपद् होने को पद-पद पर मरता है;
मर मिटते हैं बीज; तभी तो क्षेत्र हरित भरता है;
पुनः और बढने को पौधा पक कर, मर, झरता है;
तब हम क्यो न कहे कि मृत्यु है चिर जीवन गरिमा-सी ?
कैसी महा मृत्यु की फासी ?

(४)

जीवन कैसे रख सकता है अपनी प्रगति अबाधा ?
किस विधि जड़ता मे चेतन ने बोलो निज को बाधा ?
प्रगति, विकास, उत्क्रमण के बल उसने निज को साधा;
जीवन : शभु महा कालेश्वर; मृत्यु प्रचण्ड उमा-सी;
शोभित डाले गलबहियां-सी;

(५)

जीवन की गोदी में जब तक मृत्यु प्रिया न विराजे,
तब तक कैसे सृजन लास्य हो ? कैसे डमरू बाजे ?
कैसे नव-चेतन शंख-ध्वनि तब तक गूंजे गाजे ?
जब तक चेतन की ग्रीवा में हो न मरण की गासी,
ऐसी महा मृत्यु की फासी !

मौत का फन्दा

डाक्टर, न० वर्धन, एम० ए०, पी-एच० डी०, बार-एट-ला

तुम्हें पिछला ख़त लिखे हुए एक युग बीत गया। जर्मन भेड़िये रूस में यूक्रेन की सीमा पर पहुंच गये हैं और प्रवास का भयङ्कर नशा मुझे यहां तोब्रुक के अभागे शहर के भीतर खींच लाया है। सुबह इठलाती हुई दिनकर-रश्मियां भूमध्य सागर की लहरों को गुदगुदाकर उनके प्रियतम के प्यार की बात पूछती हैं। लहरें पहले कुछ शरमातीं फिर कुपित होकर प्रभा के रश्मि परिधान का पल्ला खींच-कर उसे दूर किनारे पर फेंक देना चाहती हैं। लहरें सागर की परिणीता सदा सदा से उस पर न्योछावर होती आई हैं। पर मनचले सागर का जी अपनी सतियों से नहीं भरता। वह कभी ज्योत्सना और कभी उषा, कभी प्रभा और कभी सन्ध्या के प्रेम में व्याकुल और त्रस्त दिखाई देता है। पवन वीणा पर उङ्गलियां फेरता है, प्रकृति तबले पर थाप देती है और सागर का हृदय विचलित हो जाता है। सागर की ये रूप-यौवन-सम्पन्न प्रेमिकाएं चार क्षण तीखे कटाक्ष फेंक कर मुसकाती हुई ओझल हो जाती हैं। वियोग में जब सागर निश्वास भरता है, तो उसकी एक सौ एक विवाहिता लहरें अपना सर धुनती हैं। सन्ध्या के घनीभूत होते अन्धकार मे अंगरेज़ी जहाज़ ख़्वाजा सरा की तरह सागर के महलों की इस ग्रह कलह को गुमशुम निहारा करते हैं।

× × ×

मैंने पिछली बार तुम्हें ताज महल की शहज़ादी और नरगिस के फूलों वाली घटना लिखी थी। नरगिस के फूलों को सदा खिला हुआ देखकर मेरे हृदय में यह विश्वास सा जमता जाता था कि उस अपूर्व लावण्यमयी सुन्दरी ने ये फूल जन्नत के ही किसी बाग़ से तोड़े होंगे। जहां वह बाग़ होगा वहां काल और मृत्यु का कोई प्रभाव न होगा अन्यथा यह फूल सदा-सुवासित कैसे रहते?

श्रीमती जी को छोड़कर मैंने किसी से इस बात की चर्चा न की थी। मेरे लिये वे फूल अमूल्य निधि थे। शायद श्रीकृष्ण को कौस्तुभ मणि भी इतनी प्यारी न होगी। उनके खिले हुए पाटल देखकर मेरा हृदय भी सदा खिला रहता। किसी दिन वे फूल मुरझा जायगे, इस आशंका मात्र से ही मुझे मार्मिक पीड़ा होती। तुम कहोगे मेरा दिमाग़ फिर गया है और शायद तुम्हारा ही दृष्टिकोण ठीक हो। किन्तु यदि तुमने पूर्णिमा की धवल ज्योत्सना में, ताज महल की पृष्ठ भूमि में वह अद्भुत दृश्य देखा होता, तब तुम इन फूलों का वास्तविक मूल्य आंक सकते। यदि तुमने वह निर्दोष स्वर्ग संगीत सुना होता, नूपुरों की झङ्कार पर पद-चाप दिये होते, यमुना के उस पार दूसरा ताज महल देखा होता, तो मुझे निश्चय है तुम्हारा दिमाग़ भी १०० फ़ी सदी फिर गया होता। तब ये नरगिस के फूल यदि अधिक नहीं तो तुम्हें इतना ही प्रभावित अवश्य करते।

मुझे वे फूल जी जान से प्यारे थे। इतने दिन बीत चुके थे और ज़रा भी उनके अन्दर मुझे मुरझाने के लक्षण न दिखाई दिये। यह सही है मैं सदा उन्हें ताज़े पानी में रखता। किन्तु यदि वे वास्तव में नन्दन वन के प्रसून थे तब यह फ़िक्र व्यर्थ थी। वे बिना पानी दिये ही ताज़े रहते। किन्तु हम मर्त्य लोक के प्राणी आशंका और भय की भित्ति पर जीवन का महल उठाते हैं। फूल न मुरझाएंगे ऐसी मुझे आशा थी, विश्वास न था।

फिर यकायक मुझे आगरा छोड़कर राजपूताना जाना पड़ा। जिस दिन मैं उदयपुर में था उस दिन

भी पूर्णिमा थी। ताज महल की उस पूर्णिमा वाली रात के बाद, कि जैसी रात शायद लाख लाख बरस में सिर्फ़ एक बार आती है, आज ठीक एक महीना बीत चुका था। मैं चित्तौड़ के विजय स्तम्भ के सामने खड़ा था। कितनी ही सदियों से स्वतन्त्रता का यह अनुपम स्मारक इस पहाड़ी की चोटी पर गर्वोन्नत खड़ा है। शिशोदिया कुल को उज्वल करने वाले कितने ही राणाओं को उसने देखा है और कितनों ही की कीर्ति कथा सुनी है। उसके पाषाण-वक्ष में ऐसी ऐसी रूप लावण्यमयी अनेक राजपूत सुन्दरियों की प्रेम-गाथा अङ्कित है, जिन्होंने सोहाग-रात्रि के उपःकाल में ही सद्यः प्रेम की छाती पर पैर रखकर अपने माते प्रियतम का भाल अक्षत से भर कर रण क्षेत्र के लिये विदा किया था। लाखों लाखों कण्ठों की जय-ध्वनि में उसने मारू गीत सुने हैं। लाखों लाखों सेनानियों ने उसके सामने नत मस्तक होकर शपथ खाई है, कभी न लौटने की उस रण क्षेत्र से जहां मेवाड़ का प्रखर सूर्य बादलों की ओट हुआ था। चम्पक सी, हीरक सी, कोमल, सुकुमार पुर-वधुओं को उसने जौहर की ज्वाला में जलते हुए देखा है। फिर युग बदला, दिन बदले, रंग बदला और उसी विजय स्तम्भ ने श्रेष्ठ राणाओं की श्री को फिरंगियों के सबूट चरणों पर नम्रता और श्रद्धा से नत मस्तक देखा है। मैं आश्चर्य और ग्लानि से भरा हुआ जाने कितनी देर तक अपने मन के दुकूलों पर डूबता उतराता रहा। और धीरे धीरे चांदनी फीकी पड़ती गई।

तुम मेरे विस्तार वर्णन से शायद ऊब गये होगे और तुम्हारे धैर्य की भी एक सीमा है। किन्तु मैं तुम्हारे सामने ऐसे दृश्य खींच रहा हूं जिन पर वास्तविकता का रङ्ग है। रस्किन ने ही तो कहा है—"मानव आत्मा इस दुनिया में जो सब में बड़ा काम करती है वह है किसी वस्तु को देखना, फिर उसका इस तरह वर्णन करना जिसमें दूसरे भी उसे समझ सकें। एक व्यक्ति सोचता है और सैकड़ों व्यक्ति उसके विचार को दोहराते हैं। एक व्यक्ति ठीक दृष्टिकोण से किसी वस्तु को देखता है और हज़ारों व्यक्ति उस पर विचार करते हैं।" रस्किन इससे भी आगे कह सकता था कि हज़ारों व्यक्ति देखते हैं किन्तु बिरला ही अपनी देखी हुई वस्तु को उचित शब्दों में प्रकट कर सकता है। रस्किन ने कहा है—"साफ़ साफ़ देख कर उसे स्पष्ट शब्दों में व्यक्त कर सकना ही कविता, भविष्यवाणी और धर्म है।" करोड़ों व्यक्तियों के लिये अपनी आंखों का वही मूल्य है, जो किसी पशु की आंखों का होता है; संज्ञाहीन, केवल भूख बुझाने में मदद देने वाली! इनके अतिरिक्त हज़ारों व्यक्ति ऐसे हैं जो देखते हैं और देखी हुई वस्तु को समझते भी हैं, किन्तु उसे शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकते, अपने ही भावों को लिपि का जामा नहीं पहना सकते और जीवन में नई नई वस्तुओं को देखने का उन्हें जो अवसर मिलता है, उसकी ख़ुशी वे किसी के साथ नहीं बंटा सकते। मैंने बहुधा इस बात पर आश्चर्य किया है कि ऐसे व्यक्ति जिन्होंने दुनिया के बेहद दिलचस्प नज़ारे देखे हैं, अनेक ऐतिहासिक समारोहों पर उपस्थित रहे हैं और अपने समय के बड़े से बड़े व्यक्तियों से मिले हैं अपनी बातचीत में इस अनुभव से कोई लाभ नहीं उठाते। यदि उनसे उनके व्यक्तिगत अनुभवों पर प्रश्न कीजिये तो उनके उत्तर निहायत फीके और नीरस होते हैं। केवल थोड़े से व्यक्ति ऐसे होते हैं जो ख़ुद देखते हैं और अपनी ही आंखों से दूसरों को भी देखने का अवसर देते हैं। रस्किन इसी कोटि का था।

चित्तौड़ से उदयपुर लौटते हुए रास्ते भर मैं इसी बात पर ग़ौर करता रहा। जब अपने निवास स्थान पर पहुँचा, उषा कुंकुम थाल बिखेर रही थी। झील के पास इक्का दुक्का बगुले ध्यान मग्न बैठे थे। कलियां चांदनी के आंसुओं पर टीका टिप्पणी कर रही थीं। प्रभा का भृङ्गार अभी पूरा न हुआ था और कोई मेहतरानी कमर कसे, प्रभाती गाते हुए, मनुष्य के सम्पर्क में आई

हुई सड़कों का कलुष बटोर रही थी। मैंने जम्हाई लेते हुए कमरे का द्वार थपथपाया। श्रीमती जी ने अंगड़ाई लेते हुए इस तरह द्वार खोला मानों शरणागत शत्रु को आत्मसमर्पण करते देखकर विजेता योधा सन्तोष के साथ धनुष की प्रत्यंचा उतार रहा हो।

कमरे में घुसते हुए जिस चीज़ पर सब से पहले मेरी निगाह पड़ी वह ख़ाली गुलदान था। मेरे साथ साथ श्रीमती जी भी चौंकीं—"हैं नरगिस के फूल कहां गये ?" गुलदान में केवल पानी बच रहा था। कमरे का कोना कोना छान मारा। रात को जब श्रीमती दरवाज़ा बन्द करके सोई थीं अन्तिम बार उन फूलों की ख़ुशबू लेकर सोई थीं। जंगले और खिड़कियां सब बन्द थीं। कमरे की और चीज़ें ज्यों की त्यों व्यवस्थित रखी थीं। श्रीमती जी के पर्स में हीरे और पुखराज की तीन अंगूठियां और सौ सौ के सात नोट ज्यों के त्यों रखे थे। मैंने सब नौकर चाकरों को बुला कर पूछा। हर एक से सवाल किये और जिरह की। सब ने फूलों को देखा था, किन्तु किसी ने उन्हें छुआ न था। कल्पना से किसी भी परिणाम पर पहुंचने के लिये मैं स्वाधीन था। किन्तु मैं किसी परिणाम पर नहीं पहुंचा। घटना का कोई सिलसिला होता तब न मैं किसी परिणाम पर पहुँचता ? किन्तु इसके बाद जो घटना घटी उसके साथ इसका इतना अधिक सादृश्य है कि उसे भी तुम्हें सुनाने को जी करता है। शायद उसे सुन कर तुम भी किसी परिणाम पर पहुंच सको।

तुम जानते हो मैं प्रवास के बीच में ही पला हूं। मां-बाप दर्जनों बार मलाया से अमरीका और यूरोप के लिये रवाना हुए थे। उन्हीं यात्राओं के बीच मेरा शैशव और कौमार्य बीता है। राजपूताने से बम्बई पहुँच कर लगभग महीने भर हमें जहाज़ के लिये प्रतीक्षा करनी पड़ी। अब की बार अपनी श्रीमती को मैं नील नदी की पृष्ठ भूमि में मिस्र के महान पेरोओं के 'पिरेमि' (Piramid) दिखाना चाहता था। २२ फ़रवरी को हम लोग काहिरा (कैरो) पहुंचे। प्राचीन मिस्र की महान सभ्यता को उसी भव्यता के साथ खड़े पाया।

मिस्र के प्रथम ऐतिहासिक पेरोए मेनी के ज़माने में, अर्थात् हज़रत ईसा से ३४०० वर्ष पहले और आजकल से ५३ सदी पहले, हमें नील नदी के आस पास हज़ारों बरस पहले के स्थापित किये हुए बड़े बड़े शहर मिलते हैं। किन्तु मेनी से भी हज़ारों साल पहले के अति प्राचीन राजे जिस सल्तनत पर राज करते थे उसकी व्यवस्था बहुत ही उच्च कोटि की थी। उनके राज्य में बहुत से बड़े बड़े नगर और अनगिनत गांव थे। नील की समस्त उपत्यका सर सब्ज़ खेतों से भरी हुई थी। समुद्र से सौ मील ऊपर उस समय नील सात बड़ी बड़ी धाराओं में बटकर बहती थी। इन सातों धाराओं में किश्तियों पर यात्रियों और व्यापारियों की भीड़ लगी रहती थी। दोनों ओर के समुद्री किनारे एशिया के साथ व्यापार करने वाले जहाज़ों से भरे रहते थे।

मेनी के समय से मिस्र के सम्राट अपने को पेरोए कहने लगे। मेनी पहला पेरोए था। पेरोए का अर्थ 'सूर्यवंशी' है। यह शब्द 'प्राह' से निकला है, जो सूर्य का एक नाम है। इसी से बिगड़ कर बाद में 'फ़रा ओह' और 'फ़िरआन' शब्द बने।

काहिरा पहुँचकर लगभग एक सप्ताह हम लोगों ने पिरेमि (Piramid) देखने में लगाये। ये पिरेमि सूर्य देवता 'रे' (रवि) का एक चिह्न समझी जाती थीं और हर पिरेमि के सबसे ऊपर सूर्य का चिह्न बना होता था।

श्रीमती जी ने जब से गाइड बुक पढ़ी, उन्हें सम्राज्ञी हेत-शेप सूत की समाधि देखने की ही धुन थी। मिस्र की यह प्रसिद्ध सम्राज्ञी हज़रत ईसा से १४९३ वर्ष पूर्व मिस्र के सिंहासन पर बैठी। पेरोए प्रथम थुतमोस की यह बेटी थी। मिस्र के बड़े से बड़े सम्राटों में उसकी गिनती है। धन, दौलत, ज्ञान, विज्ञान, दस्तकारी, कला, कौशल व्यापार और अमन आमान, संस्कृति और ऐश्वर्य सबकी दृष्टि से उसका

समय मिस्र के इतिहास में महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। २१ वर्ष तक उसने राज किया। वह मरदाने लिबास में रहती थी और बजाय 'सम्राज्ञी' के 'सम्राट' कहलाती थी। सब सरकारी काग़जों और ऐलानों में उसके लिये पुल्लिङ्ग सर्वनाम ही इस्तेमाल किये जाते थे।

मिस्रियों में दन्तकथा थी कि हेत-शेप-सूत के जन्म के पहले देवताओं की एक सभा हुई। 'आमन' अर्थात् सूर्य देवता उसके सभापति थे। सभा में सत्य के देवता 'थोथ' (Thoth) ने आमन को परामर्श दिया कि मानव-कल्याण के लिये आप मिस्र के पेरोए थुथमोमे पहले का रूप धारण करके थुथमोमे की महारानी के पास जावें और उससे एक सुन्दर कन्या को जन्म दें। इस तरह सूर्य भगवान और थुथमोमे की महारानी के संयोग से हेत-शेप-सूत पैदा हुई। 'हेत' का अर्थ 'श्रेष्ठ' है और 'शेपसूत' का अर्थ 'प्रतिष्ठित वर्ग में श्रेष्ठ।'

कहते हैं मिस्र के इतिहास में इससे पहले किसी पेरोए के दरबार की वह शान शौकत न थी, जो हेत-शेप-सूत के दरबार की। सन् १४७२ ई० पू० में ५८ वर्ष की उम्र में हेत-शेप-सूत की मृत्यु हुई। मिस्र की प्रजा उसे बेहद प्यार करती थी। मरने के उपरान्त सूर्य देवी के नाम से उसकी पूजा होने लगी।

× × ×

उस दिन वासन्ती पूर्णिमा थी। प्रकृति नील देवी की साड़ी में गोटा टाकने में व्यस्त थी। मरु थल का कण कण ज्योत्स्ना के स्निग्ध स्नेह से निखर उठा था। इथियोपिया के लोभान के जंगलों से दक्षिणी पवन मिस्र को छूते हुए लीबिया के रेगिस्तान की ओर बह रहा था। हमारी मोटर मरुस्थल की छाती चीरते हुई सम्राज्ञी हेत-शेप-सूत की समाधि की ओर दौड़ रही थी। लगभग दस बजे रात को हम लोग समाधि के सामने आकर खड़े हुए। दिन की प्रखर मिस्री गर्मी श्रीमती जी के लिये असह्य होती, इसीलिये तेज़ टार्च की रोशनी में ही समाधि देखने की स्कीम बनी।

हमने समाधि देखी, उसका वर्णन कर सकना असम्भव है। अगर यूनानियों की बनाई हुई समस्त इमारतों को एक जगह एकत्रित कर दिया जावे, तो भी वे इस समाधि की बराबरी नहीं कर सकतीं। यह समाधि क्या है पूरा एक तिलस्म है। इसमें संगमरमर जड़े हुए १२ बड़े बड़े चौक हैं। इनमें छै चौक उत्तर की ओर खुलते हैं और छै दक्षिण की तरफ। ठीक एक दूसरे के सामने विशाल काय द्वार हैं। पूरी इमारत चारों ओर से एक बड़ी प्राचीर से घिरी हुई है। आधी इमारत ज़मीन के भीतर है और आधी ज़मीन के ऊपर है। कुल कमरों की संख्या तीन हज़ार है। इनमें १५०० ज़मीन के नीचे हैं और १५०० उनके ऊपर।

मैं और मेरी श्रीमती उस भीमकाय, निस्तब्ध और सुनसान समाधि में अपने टार्चों की रोशनी फैलाते हुए घुमे। हम लोग चौकों से निकलकर कमरों में गये और कमरों से निकल कर पटे हुए पक्के रास्तों से होकर सतूनों पर खड़ी हुई छतों पर, फिर नये नये कमरों में, और फिर उनमें निकल कर नये नये चौकों में। छतें और दीवारें सब पत्थर की थीं। दीवारों का कोना कोना सुन्दर चित्रकारी से भरा हुआ था। हर चौक के चारों ओर संगमरमर की बनी हुई गैलरी थी जिनमें बहुत बारीक नक़्क़ाशी का काम था।

सबसे अधिक अचम्भे की बात यह दिखाई दी कि इन समस्त कमरों और चौकों की छतें एक एक साबित पत्थर की ही काट कर बनाई गई थीं। बीच में कहीं कोई कड़ी या शहतीर नहीं थी। यह इतनी बड़ी और भारी इमारत इतनी ठोस बनाई गई थी कि युगों के बीत जाने के बाद भी काल उन पर किंचित कोई प्रभाव नहीं डाल सका। कमरों के दरवाज़े इतने आश्चर्य जनक ढङ्ग से बनाये गये थे कि खोलते ही बादल की गरज के समान एक ज़ोरदार आवाज़ अन्दर गूंजने लगती है। इमारत में पत्थर के

पचासों ज़ीने बने हुए हैं। नीचे के कमरों में पहुँच कर बिलकुल यह मालूम होता था कि अब आगे कोई रास्ता नहीं है। तीन चार घण्टे समाधि में घूमने फिरने के बाद श्रीमती जी नीचे की मञ्ज़िल में एक दीवार के सहारे बैठ गईं। उसके बाद जो घटना हुई उससे हमारे आश्चर्य का ठिकाना न रहा।

जिस दीवार के सहारे वे बैठीं वह ठोस पत्थर की थी और क़रीब १५०० मन भारी होगी। श्रीमती जी को उसके सहारे बैठे अभी दो मिनट भी न हुआ होगा कि वह पूरी की पूरी दीवार उन्हें सरकती हुई मालूम हुई। वे चीख़ मार कर कूद कर अलग जा खड़ी हुईं। मुझे भी पहले भय और बाद में कौतूहल हुआ। उस दीवार पर मैंने अपना पूरा वजन फेंका। ऐसा लगा वह किसी कील पर रखी हुई थी। दीवार का एक पल्ला पीछे सरकने लगा और साफ उतरती हुई सीढ़ियों का एक सिलसिला नज़र आया। हमें ऐसा लगा मानों सदियों के छिपे हुए भेद का द्वार हमारे लिये खुल गया। समाधि की गाइड बुक में नीचे की मंज़िल के किसी कमरे से कहीं रास्ता जाता है, इसका हमने कोई ज़िक्र नहीं पढ़ा था। मेरे हृदय में एक आश्चर्यजनक कौतूहल उठा कि बीसों बरस से संसार के पुरातत्ववेत्ता सम्राज्ञी की जिस असली क़ब्र का पता लगा रहे थे—क्या यही उसका द्वार है? मेरी श्रीमती सहमी हुई खड़ी थी। टार्च के प्रकाश में मैंने देखा उनके कपोलों पर पसीने की बूंदें उभर आई थीं। मैंने प्यार से झुककर उन्हें अपने ओटों से मिटा डाला।

टार्च की रोशनी को आगे करके हम दोनों सहमे और शंकित सीढ़ियों से नीचे उतरे। चक्करदार सीढ़ियों का कहीं अन्त ही न दिखाई देता था। लगभग ४०० सीढ़ियां तय करने के बाद हम लोग सम्राज्ञी की असली समाधि के पास पहुँचे। समाधि का कमरा २२ फुट लम्बा और ८ फुट चौड़ा एक क़ीमती सुन्दर पीले रङ्ग के पत्थर को अन्दर से खोखला करके बनाया गया था। उसकी दीवारें दो फुट मोटी थीं और पूरे पत्थर का वज़न ११० टन यानी क़रीब तीन हज़ार मन होगा। छत उसी तरह के तीन पत्थर के टुकड़ों की बनी हुई थी। इसी समाधि के ऊपर इस तिलस्म की पूरी इमारत खड़ी हुई थी।

इस पीले कमरे के बीचों बीच में सम्राज्ञी का शव रखा था। सारा शरीर पट्टियों से कसा हुआ था, केवल मुंह खुला हुआ था। लगभग ३५०० वर्ष से सूर्य भगवान की यह दुहिता इस अन्धकार मय समाधि में पड़ी हुई थी। ५८ वर्ष की उम्र में सम्राज्ञी ने प्राण त्यागे थे, किन्तु चेहरे को देखकर ऐसा भान होता था कि वे ३० से अधिक की नहीं हैं। पूरे ५ फुट का क़द, छरहरा बदन, बड़ी बड़ी आंखें, गोल चेहरा; उभरी हुई ठोडी, उठी हुई गाल की हड्डी, नीचे का अधर गोल और ज़रा मोटा, नाक पतली और लम्बी,-मालूम होता था सम्राज्ञी अभी अभी सोई थीं। धन्य थे मिस्र के वे ममी बनाने वाले कि चेहरे पर इन ३५०० वर्षों ने ज़रा सी शिकन तक नहीं पैदा की। हमारा मस्तक आदर और श्रद्धा से सम्राज्ञी के चरणों पर झुक गया।

सारा कमरा ज़ेवरों और जवाहरात से लक़दक़ हो रहा था। सोना, सूर्यकान्त, अक़ीक़, नीलम, फीरोज़ा, लाजवर्द जैसे जवाहरातों की बहुत सी मालाएं सम्राज्ञी के शव पर पड़ी थीं। सोने का एक तोड़ा रखा था, जिसमें सोने ही के बने पौधे और तारे लटके हुए थे। तितली की शक्ल का बनत या ज़रदोज़ी के काम का सोने का एक लटकन था। सोने के कड़े थे, जिनमें सरकने वाले कब्ज़े या काटे लगे थे। फूल पत्तियों समेत टहनियों का एक गुच्छा था, जिसमें पत्ते सोने के थे और फूल और कलियां जवाहरों की थीं। सोने के बारीक तारों का बुना हुआ एक बहुत सुन्दर जालीदार मुकुट था, जिसके बीच बीच में छोटे छोटे फूल थे। हर फूल के बीच में लाल था और उसकी पंखुड़ियां नीलम की थीं। एक और बारीक काम का मुकुट रखा था जो सोना, लाजवर्द, सूर्यकान्त और नीलम का बना हुआ था और जिसमें बड़ी सुन्दर फूल पत्तियां कढ़ी हुई थीं। कांसे का एक ख़ञ्जर पड़ा था,

जिसमें जवाहरात जड़ी सोने की मूठ थी। आश्चर्य में डूबे हुए हम लोग बड़ी देर तक उस कमरे की बहु मूल्य वस्तुओं का निरीक्षण करते रहे।

टार्च की बैटरी फीकी पड़ने लगी, तो यकायक हमें ख़याल हुआ कि रात बहुत बीत चुकी होगी। हम दोनों ने एक दूसरे को देखा, कमरे को देखा और फिर सम्राज्ञी की ओर देखा। जी भर कर फिर एक बार हमने कमरे की सारी चीज़ों को निहारा। गर्व से हमारी छाती फूल रही थी कि ससार के लिये हमने कितनी महान खोज की है! चलने के पूर्व मैंने सूर्यकान्त के छोटे दानों का एक अत्यन्त सुन्दर हार उठाकर श्रीमती जी के गले में डाल दिया। उनके ओठों पर एक हलकी मुसकान की रेखा दौड़ गई।

× × ×

काहिरा पहुँच कर मैंने शाह फारूक़ को अपने इस अन्वेषण के सम्बन्ध में सूचना दी। मिस्री सरकार के पुरातत्व विभाग के अध्यक्ष मुझसे मिलने आये। तमाम मिस्री समाचार पत्रों में मेरी इस खोज की धूम मच गई। किन्तु यह सारी ख़ुशी स्थायी न रह सकी। मेरी पत्नी यकायक सख़्त बीमार पड़ गई। उनकी बीमारी आश्चर्य जनक ढङ्ग की थी, एक दिन रात को उन्होंने एक भयङ्कर स्वप्न देखा। एक काली सी छाया, अपने सूखे हुए दो निर्मम हाथ उनकी गर्दन मसोसने के लिये बढ़ा रही है। मालूम होता था, उस छाया-मूर्ति के मात्र दो हाथ थे। यह स्वप्न उनका रोज़ का क्रम बन गया। हर रात वह छाया-मूर्ति आती और मेरी पत्नी का गला मसोसने की कोशिश करती। वे चीख़ कर बेहोश हो जातीं। पहले रात में एक ही बार यह स्वप्न आता था, फिर एक एक रात में कई कई बार वह छाया मूर्ति आने लगी। फिर धीरे धीरे वह कुछ स्पष्ट-सी होने लगी। उसकी फीकी मुखाकृति से मालूम होता था कि वह दयनीय भाव से हाथ पसारे हुए कुछ मिन्नत कर रही है। लेकिन शनैः शनैः उसकी मुखमुद्रा बदलने लगी। उसके चेहरे पर रोष और फिर बाद में प्रतिहिंसा के भाव जागने लगे।

महीना भर हम काहिरा में पड़े रहे। अच्छे से अच्छे डाक्टर और हकीम का इलाज कराया गया; लेकिन सब बेकार। भूत प्रेत और जिन्नात उतारने वाले आये, मगर कोई लाभ न हुआ। मर्ज़ बढ़ता ही गया ज्यों ज्यों दवा की। मैं परेशान होकर रोज़ अपनी पत्नी के पीले पड़ते हुए मुख मण्डल को चिन्ता से देखा करता। मेरे दिल की कैफियत अजीब थी। मेरे छोटे से जीवन के सारे सुख-दुखों में उन्होंने हिस्सा बंटाया; किन्तु अपना यह दुख वे अकेले झेल रही थीं। डाक्टरों की सलाह से काहिरा छोड़कर हम सिकन्दरिया आये। किन्तु सिकन्दरिया में तो उनका कष्ट और भी अधिक बढ़ गया। अब उन्हें वह छाया-मूर्ति दिन में भी सताती। कमरे में हम सब बैठे होते मगर वह हमारी नज़रों से अदृश्य रहती। केवल वे ही उसे देख पातीं और चीख़ मार कर मेरी गोद में अपना सर छुपाकर व्याकुल होकर रोने लगतीं। सिकन्दरिया में भी जी न लगा। वहा से हम इस अभागे शहर तोबरुक में आये।

समुद्र के किनारे के एक होटल में हमने कमरा लिया। चारों ओर शान्त निस्तब्धता छाई हुई थी। केवल लहरों की छप छप कभी कभी ध्यान भङ्ग कर देती थी। कई दिनों से पत्नी की पलक तक न झपकी थी। उन्हें अपने जीवन से अब कोई आशा न रही थी। हवा में गरमी और भारीपन था। अस्त होता हुआ सूर्य लहरों से टकरा कर कमरे भर में स्वर्ण-रज बिखेर रहा था। वे बेहद थकी हुई थीं; मैंने देखा नींद ने उनकी उनींदी पलकों में अपनी एक मादक पुट भर दी है। धीरे धीरे अन्धकार गहरा होता गया।

थोड़ी देर तक उन्हें अवश्य गहरी नींद आई होगी। फिर स्वप्न की परियें उन्हें अपने देश में उड़ा ले गईं। लेकिन सपने में उन्हें फिर आती वही चिर

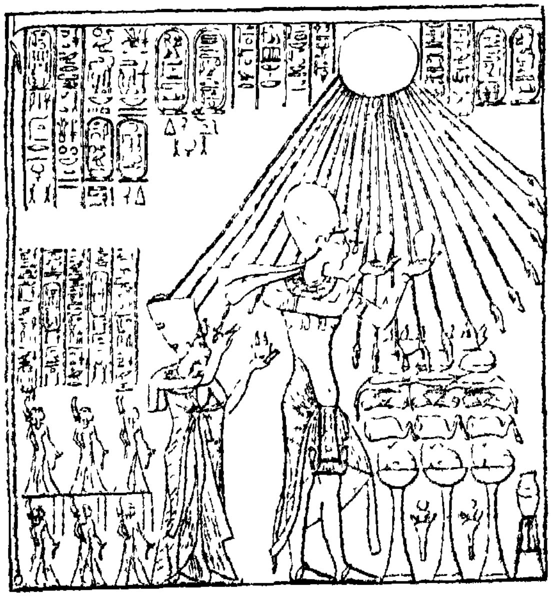
परिचित छाया-मूर्ति दिखाई दी। उसकी आंखों मे विनय की भीख थी। बड़े ही दयनीय भाव से वह किसी वस्तु की याचना कर रही थी। फिर यकायक वह फूट फूट कर रोने लगी। श्रीमती जी उसके कष्ट को समझ रही थीं; किन्तु वे यह किसी तरह न समझ सकीं कि आखिर वह क्या चाहती है। फिर यकायक उस छाया-मूर्ति ने अपने आंसू पोंछ डाले। प्रतिहिंसा में भरी हुई वह श्रीमती जी पर टूट पड़ी। उसने अपनी भूरे रंग की सूखी पतली उङ्गलिया उनके गले में कस दीं। खूनी भाव से वह अपने पजों का फन्दा सख्त करती गई। श्रीमती जी का दम घुटने लगा और वे चीखकर उठ बैठीं। उनका सारा शरीर पसीने से तर था। वे ज़ोर से काप रही थीं।

उन्होंने अपने हाथों से अपना गला टटोला और वे समझीं कि वे सपना देख रही थीं। फिर वे यकायक चौंक पड़ीं। सम्राज्ञी हेत शेप सूत की समाधि का वह सूर्यकान्त का हार गले मे न था। उस हार को उन्होंने उस दिन से एक क्षण के लिये भी गले से न उतारा था, जब मैंने उसे पहली बार उनके गले में डाला था। अभी घण्टे भर पहले तक उनके गले में वह हार पड़ा हुआ था।

श्रीमती जी के गले से जिस दिन हार ग़ायब हुआ, उसी दिन से वह छाया-मूर्ति भी ग़ायब होगई और फिर श्रीमती जी ने उसे आज तक नहीं देखा। थोड़े ही दिनों में तोबरुक की समुद्री हवा ने उन्हें पूरी तरह स्वस्थ और प्रसन्न कर दिया।

× × ×

अभी इस घटना को हफ़्ता भर ही हुआ था कि परसों मुझे मिस्र के प्रधान मन्त्री सिर्री पाशा का एक पत्र मिला। मैंने काहिरा में सम्राज्ञी हेत शेप सूत की असली समाधि तक पहुँचने का उन्हें रास्ता बताया था। मिस्र का पुरातत्व विभाग वहा जाने की तय्यारी ही कर रहा था कि उसे ख़बर मिली कि रेत के एक भयंकर तूफ़ान मे वह विशालकाय इमारत इतनी बुरी तरह दफ़न हो गई है कि इञ्जीनियरों का कहना है कि उसे अब बीस हज़ार मज़दूर तीन बरस में साफ़ कर सकेंगे।



एक बूंद की आत्मकथा

श्री सोहनलाल द्विवेदी

एक बार, ऐसा दुर्भिक्ष पड़ा देश में,
सभी बड़े क्लेश में,
क्षुधा-विकल, सकल-लोक, शोक-मग्न बना,
रह कर निरन्न,

दीन हीन यहीं कृषक विपण्ण,
पशुओं को न मिलता तृण,
अन्न का कण भला कहां उगता खेत में !

शिशु बिना पाये दूध,
सूखे उस दुग्ध दल से,
जिसके आल बाल को अकाल में ही अंधड़ ने
निष्ठुर झकझोर दिया,
दिया नहीं नीर, पीर ग्रीष्म की तपन दिया ;
अरुण कपोल हुए पीत वर्ण,
मुख विवर्ण,

जननी भर हृदय आह, दुसह दाह,
चाह लिये मूक, उठती अवश कराह !
मिला नहीं अन्न,

कैसे होता संपन्न सुरस !
विरस तन,
नयन में भी न आते जलकन !

देख सूखी आंखों से,
छिन्न हुई पांखों से,
नीरव निरभ्र नभ,
करती नत आनन मन,

भरती निश्वास, धरती हाथ निज माथ पर,
ठोंकती कपाल—'आह क्या होनहार है!'
कृषक म्लान,

देख देख खेत और खलिहान,

मरुथल सा मैदान,
जो था नित सुनसान,
जैसे यह हो स्मशान,

जहां अभी अभी दिये गए हों कृषक फक

कण्ठ मूक,
छाती हो गई थी विदीर्ण आतप से वसुधा की,
बहती हवा सनसन,
बनी हुई अग्निकन !

धूल उड़ रही थी चारों ओर उष्णरेत सी
झुलस रहे थे रहे सहे हरे पादप भी,

होता था ऐसा भान,
उगा भानु
अंतिम क्षण प्रलय का
इसी समय—

भाग्य परिवर्तन - सा
पूर्वजों के धन-सा,
साधुओं के मन - सा,
श्याम घन, घन - सा,

आया एक जलद खण्ड छाया नील अम्बर में
बूंदें कुछ नीर की थीं कर रहीं वहीं किलोल,
जैसे हों कन्यायें किसी गन्धर्व की,
हीरक-सी, मुक्ता-सी बूंदें देखती थीं धरा
जराने जिसे जैसे किया हो विकीर्ण शीर्ण

फटा हृदय

शुष्क नदी, शुष्क सरित, शुष्क कूप
कहीं भी हरीतिमा न देती दिखलाई थी,

एक बूंद बोली ,

बहन !

देखो धरा दीना है ,
आज अन्न हीना है ,

तड़प रहे हैं पशु पक्षी, चर अचर सभी,
तड़प रहे हैं कृषक श्रमिक बिना नीर के,
तड़प रही हैं हमसी कन्यायें माता की,

पशुओं के दूध नहीं स्तन में,
खायें क्या, तृण नहीं बन में !
चलो बरसा दो, आज सरस धार,

आवे जीवन अपार

जी उठे मिट्टी, उगें अंकुर कुछ हरे भरे,
पशु तृण खायें, लायें दूध निज स्तन में
शिशुओं को खिलायें माताएं आज दूध-भात,

शाली हो,
बन बन हरियाली हो,
फूलों मे लाली हो,

माली हो प्रसन्न आज देख विश्व उपवन !

उगे अन्न, मिट्टी तोड़
कृषक, खेत हों प्रसन्न,

मरुस्थल मे लहलहा उठे आज नन्दन बन,
स्वर्ग सदन !

बोलीं और बूंदें, 'बहन, आंख मूंदे,
मत कूदें' इस अर्थ में,

हम हैं समर्थ कहां ! व्यर्थ भावना है सभी,
कभी कामना न यह होगी सजल सफल !

और सजल जलद आयें
आकर जल बरसायें,
घेर दिशा दायें बाएं,
बोरें जब दिशा छोर,
वर्षा का उठे रोर,

तब कहीं, पगली, नादान, अरी,
वसुधा हो नीर भरी,

हरी भरी,

उगे अन्न, उगे खेत, हटे दुर्भिक्ष घोर,

मानव पा अन्न दान,
पावे वह पुनः प्राण !

बोली वह अकेली बूंद, मानती सहेली नहीं !

मुझसे न जाती झेली
व्यथा यह वसुधा की,
मानव के क्षुधा की !

माना, मैं जलद नहीं चाहूं जो फलद नहीं

बिंदु हूं मैं, सिन्धु नहीं,

किन्तु, सखी जाती है, वेदना मुझसे न लखी,

जाती हूं पृथ्वी मे
हरने को व्यथा भार
नर की क्षुधा अपार,

इतना कह,
चुपसी रह,

बद वह टूट पड़ी,
अंबर में छूट पड़ी

पड़ी एक सतप्त कृषक के कपोलपर,
खिल-सी गई कली मुरझी ग़रीब की,

खिल-सी गई अधरों में एक विरल मुसकान,
आशाभरी आंखों से ऊपर निहारा जहां,

एक जलद खंड रुका
लहरा रहा था वहां !
अन्य बूंदे विकल हुईं
सोचा, यह ठीक नहीं

गई वह बिचारी व्यथा लिये मन में,

पहुंचेंगी हम जो नहीं
अभी अभी सभी वहीं,

जायेगी झुलस कहीं होगी भू में विलीन !

सकल बूंदें बनी विकल,
लगीं झरने सी झरझर

जलद - खण्ड फूट पड़ा वर्षा के मेघ-सा,

और जलद नील श्याम,
सुना वृत्त, हृदय थाम,
आये फिर फिर प्रकाम,

चले सभी ढूंढ़ने को खोई हुई एक बूंद

आंख मूंद
टूट पड़े, छूट पड़े
झर झर झर झर

वसुधा पर, सागर पर, पर्वत पर,
निर्झर पर, सरिता पर, सर पर

कण कण पर
तृण तृण पर,

ढूंढ़ने को एक बूंद अपने कुल जाति की

समाज की,
स्वदेश की,

झर झर झर झरा नीर
पावस आया गम्भीर

हरे हुए खेत खलिहान, उगे वहां अन्न धान,

पशुओं ने तृण पाया,
निर्धन ने धन पाया,

शिशुओं ने दूध पाया, जननी ने वत्स पाया,

कृषकों के सदन भरे
तरु तृण सब हुए हरे !

बूंद जो अकेली चली,
जीती थी अभी भली,

आई जब बूंद और जलद और,
बनी वह न मृत्यु कौर,

सिर-मौर बनी, अपने विक्रम से बल से,

एक भावना से

जो न देख सकती कहीं दुख,

चाहे उसे देखना पड़े ही क्यों न मृत्यु-मुख,
बूंदे उसे ले गई गोद में सम्हाल कर,

इन्द्र-धनुष - आसन पर
स्वर्ग - सिंहासन पर,

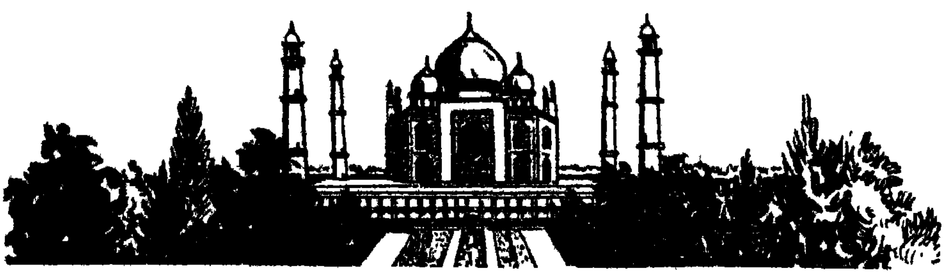
उसका किया वंदन, अभिनन्दन औ चन्दन

चढ़ाया अपने उर-मधुका,
प्रेम के पराग का,
हर्ष अनुराग का,

वर्षा खड़ी देखती प्रसन्न अति मन ही मन,

बोली,

'धन्य एक बूंद
तुमसे धन्य मेरा जीवन !'



'ब्लैक आउट !'

श्री जैनेन्द्र कुमार

'ब्लैक आउट' का नाम सुना था, देखा अब। सात बजे से बाज़ार सुनसान होने लगा। रोशनियां न जगीं। कहीं बत्ती थी तो उसे अपनी लाज ढकनी होती थी। गर्मी में और दिन इस वक्त मामूली तौर पर लोग दिन के ताप से छूटकर बगीचों-मैदानों में खिले खुले घूमते थे, अब वे घरों में बन्द नहीं हैं तो दुबके और सहमे घूम रहे हैं।

क्योंकि 'ब्लैक आउट' है। क्योंकि दिन टेढ़े हैं और आसमान से गोले बरस सकते हैं। क्योंकि कोई है जो ख़ूंख़्वार है और सबका दुश्मन है, और कभी भी आसमान पर छा आ सकता है। इससे ऐ नगर के वासियों, अन्धेरे में रहना सीखो। मत पता लगने दो कि नीचे जान है। अंधेरी रात में सन्नाटा भरे मुर्दे की तरह रह सकोगे तो खैरियत है, नहीं तो तुम्हारा भगवान मालिक है!

दुश्मन सिर पर हवाई जहाज़ लेकर आ ही जाय, तब नीचे का ब्लैक आउट उसकी या हमारी कितनी मदद करेगा, इसका हमें ठीक पता नहीं है। लन्दन सीखा-पढ़ा है, फिर भी बमों की मार खा रहा है। इससे ब्लैक आउट के ज़ोर से दुश्मन के परास्त और हमारे सुरक्षित होने की सम्भावना कितनी बढ़ जाती है, यह तो हम नहीं जानते। पर है यह एक नया अनुभव। मन पर उसका असर पड़ता है, मन मानता है कि ऐन सिर पर नहीं तो देहली पर तो कोई भूत आ ही गया होगा।

लड़ाई के दिनों में सबसे क़ीमती चीज़ है दिलेरी। दिलेरी डर में से पैदा होती है। (यह मैं मारने वाली दिलेरी की बात कहता हूं) डर हो तभी तो डराने वाले दुश्मन को मारने का उत्साह हो। इससे जिसमें से उत्साह वसूल करना है, उसमें पहले डर डालना चाहिये। चाहा जाता है कि आदमी कमर बांध कर खड़ा हो और चल पड़े लड़ने के लिये, तो ये हो ऐसे ही सकता है कि हम एक से दूसरे का डर भरें।

डर न होने से एक बड़ा भारी ख़तरा है। वह यह कि जिसको चाहा जाता है कि आप मारें उसे दुश्मन तो नहीं बल्कि आदमी के रूप में आप देखने लग जांय। असल में डर ही हो सकता है, जो आपके लिए किसी को दुश्मन बना दे। उस डर में से यह शक्ति आती है कि आप उस दुश्मन को मारें। कहीं यदि आप निडर हुये तो खटका है कि शत्रु शत्रु ही न रह जाय। वह आदमी दीख जाय। तब उसको मारने लायक जोश भी आप में कहां रह जायगा। बस यही नामर्दी समझी जायगी!

इसलिये युद्ध काल में सबसे आवश्यक तत्व है भय। भय के लिये धरती चाहिये द्वेष और घृणा की। इस सबके संयोग बिना शत्रु के लड़ाई न होगी। भला ऐसे कैसे काम चलेगा?

इस तरह युद्ध नाम के उद्यम को आरम्भ करने से पहले इस प्रकार की तैयारियां काफी की जाती हैं। हवा में और मन में अविश्वास और घृणा और भय काफी मात्रा में भरा जाता है। आदमी का मन ठहरा ही कच्चा, उसमें अविश्वास उभारने के लिये बहुत चतुराई की ज़रूरत नहीं है। स्वार्थ के आधार पर वह चलता ही रहा है। मकान बनाया, परिवार बनाया, सम्पत्ति बनाई। सदा चौकन्ना रहा कि उस मकान और परिवार और सम्पत्ति पर आंच न आये। किसी ने उस पर आंख की तो वह आंख ही निकाल लेगा। बस इस भांति उस आदमी के मन में भय भरने का सरल उपाय हो जाता है—उसके जान-माल को ख़तरे में दिखला देना। ऐसे ही उसमें दिलेरी पैदा होती है।

कहीं अगर उसके मन में यह लालसा भी लहकाई जा सके कि दूसरों का माल हड़प करने का मौक़ा है, तब इस दिलेरी में और धार आ जायगी।

लड़ाई लड़ने वालों में यही दो पक्ष हैं, एक स्वार्थ-रक्षा में लड़ते और दूसरे स्वार्थ विस्तार में लड़ते हैं। इन वृत्तियों को जगत में तरह तरह के नाम प्राप्त हैं। न्याय, कर्तव्य, धर्म इत्यादि। स्पष्ट है कि जो अपनी तरफ़ न्याय और धर्म को मानता है, वह सबका सब अन्याय और अधर्म दूसरे के माथे पटकता है... स्वयं सभ्यता और संस्कृति का उद्धारक या प्रादुर्भावक वह होता है, दूसरे को उसमें विघ्न रूप राक्षस मानता है। ऐसे परस्पर का अविश्वास क्लेश और घृणा तीव्रतर और लड़ाई अधिकाधिक अनिवार्य होती जाती है।

यह बिलकुल ज़रूरी है कि दुनिया लड़ रही है तो हम भी चुप न बैठें। बेशक आग के ऊपर आसन लगाकर बैठने और लपटों को उपदेश देने से लाभ नहीं है। आग से अप्रभावित रहने की बात में कुछ मतलब ही नहीं है। उसका अर्थ यही हो सकता है कि आग की झुलस ने अभी आपको छुआ नहीं। यह कोई श्रेय की बात नहीं। दुनिया के आप अंग हैं। यह कहकर कि धोती में आग लगी है कुर्ता निश्चित नहीं हो सकता। दुनिया एक है, तो उसके कई और अनेक देश भी परस्पर अनुबद्ध हैं। इसमें कोई तुक नहीं कि योद्धाओं के बीच आप कोई उपदेशक बनें। यह तो दम्भ होगा। योद्धा पहचानता है तो योद्धा को। उपदेशक उसके लिये निकम्मा है। शत्रु पक्ष का ही चाहे हो, सच्चे योद्धा के लिये हर योद्धा में प्रशंसा होगी। युद्ध की भाषा ही उसे प्राप्त है। वही उसका साध्य, वही साधन, वही एक उसका तर्क। इससे युद्ध मे शान्ति का उपदेशक सिवाय युद्ध की बर्बरता को भड़काने के और कोई सेवा नहीं कर सकता है। वह अपने लिये योद्धा का तिरस्कार ही प्राप्त कर सकता है।

किन्तु शान्ति यानी निर्वैर का उपदेशक कहीं योद्धा भी बना जा सकता है। असल में आज वही योद्धा चाहिये। योद्धा वह जो अपनी जान को हथेली पर लेकर बढ़े। और शान्ति पक्ष का योद्धा वह जो अपनी जान को तो हथेली पर ले ही पर दूसरे की जान को अभय देता हुआ आगे बढ़े।

पहले ही कहा कि शत्रु भय में से बनता है। जो निर्भय है वह अजातशत्रु है, उसे जाकर किस को मारना है? पर जो भयभीत होकर उसे ही मारने के लिये आना चाहता है, उसको तो उसके भय से छुटकारा दिलाना है, इसलिये उसे शत्रु मानकर नहीं, बल्कि अपना भूला हुआ मित्र मानकर, सच्चे योद्धा में उससे भेंट करने की तैयारी चाहिये। तब स्वयं मर कर शायद वह शत्रु की शत्रुता को भी मार दे। ऐसे ही शत्रु मित्र बनेगा।

भय-जात साहस भय-जात कायरता से तो अच्छा ही है। पर चूंकि दोनों भय-जात हैं इससे उनमें बहुत कुछ समता भी है। हिंसक लड़ाई में दीखने वाला साहस एक प्रकार की कायरता ही है, और जब लड़ाई चल रही हो तो कायरता से बड़ा जुर्म कोई नहीं।

ब्लैक आउट जन-हित में ही किया जाता होगा। पर उसमें सचमुच हित होता है यह सन्दिग्ध है। हिसाब लगाकर देखना चाहिये कि उससे कितनी जानें बचीं। बचने वाली जानें कुछ हों भी, पर यह सच है कि उससे सब लोगों में एक दहल पैदा होती है। उस दहल के नीचे सामरिक कर्मण्यता की स्फूर्ति भी पैदा होती होगी। इससे तबियत में हौल और शायद उस कारण वस्तुस्थिति की भयंकरता का आतंक भी बढ़ सकता है। ये कि चारों और आशंका के बादल और शत्रु के षड़यन्त्र हैं, कुछ ऐसी प्रतीति लोगों के मनों में हठात् घर कर जाती है। सामरिक मनोवृत्ति को फैलाने और मज़बूत करने के काम में यह भारी मददगार क़दम है और उस दृष्टि से अवश्य उपयोगी है।

कहा जायगा कि 'मूर्ख के स्वर्ग, में आप रहिये। हम तो यथार्थता में रहते हैं। सच ये है कि दुश्मन है। हज़ारों जानें रोज जा रही हैं। और आप कहना चाहते हैं कि दुश्मनी भ्रम है! दुश्मनी अच्छी बात

नहीं ये हम भी जानते हैं, पर कहने भर से वह मिट जाती तो बात ही क्या थी। इसलिये उसे हम स्वीकार करके ही चल सकते हैं। आप अधे हठ में मानते रहिये उसे अपना मित्र, पर वह आयेगा और आपको और आपकी मित्रता को पल भर में स्वाहा कर देगा। नहीं, हम यह मूर्खता नहीं कर सकते। शत्रु आना है तो हम कहेंगे कि आओ, यहां तुम्हारा महा-शत्रु बैठा है। यथार्थता से आंख मींचकर मरा जा सकता है, ज़िन्दा नहीं रहा जा सकता। हम लोग ज़िन्दा रहने वालों में से हैं, इसलिये यथार्थता को पहचान कर हम उसके सामने की तैयारी में सावधान होने से विमुख नहीं हो सकते। शत्रु ने फ़ौज खड़ी की है, हम सवा फ़ौज बनायेंगे। हमारा बाहरी बेड़ा और हवाई सेना और बम बारूद और तोप-टैंक सब उनसे बढ़कर होंगे। हम शान्ति चाहते हैं और सभ्य नागरिक हैं। पर शत्रु सभ्यता का दुश्मन है। वह बर्बर होकर हम पर चढ़ने आता है। हम बता देंगे कि उसकी मनचीती होने वाली नहीं है। और ऐ लोगो, तुम भी मानवता की रक्षा के लिये कटिबद्ध खड़े हो जाओ। छोड़ दो उन दो चार को जो सपने लेते पड़े रहना चाहते हैं। हमारी दया है कि हम उन सनकियों (Cranks) से नहीं बोलते। वैसे तो लड़ाई के वक्त बचने वालों की सजा मौत ही होनी चाहिये थी। पर वे भोले हैं और मूर्ख हैं, आंख खोले वे अंधे हैं। अपने में मुंह गाड़कर आदर्श की बात करते हैं और यथार्थ को पहचानते नहीं। मत उनकी सुनो, दुश्मन बढ़ रहा है और हम दुश्मन को जीतेंगे। पर ऐ लोगो, तुम सबको तत्पर रहना चाहिये। दुश्मन तुम्हारे घर बार को, इज़्ज़त को सबको उजाड़ देना चाहता है, वह सब हड़प कर जाना चाहता है। लेकिन तुम वीर हो—आन पर मर मिटोगे। पर भाइयो, सोचो, दुश्मन की तदबीरों को हम पहले से क्यों न हरा दें? इसलिये ब्लैक आउट होगा। इसलिये गैस मास्क का इस्तेमाल सीखो और फौज में भर्ती होओ और रुपया जमा करो और अपनी कोरें भेजो और ...'

यथार्थता ठीक है। उसको पहचानना होगा। पर वह यथार्थ होने में आई कैसे? आज का दुश्मन दुश्मन कैसे बना? यह लड़ाई है सही; पर कल क्या बोया था कि आज लड़ाई का फल मिल रहा है, यह समझना भी क्या ज़रूरी नहीं है? दुश्मन आज का आज हम पर से नहीं टपका, वह हमारे कल में से बना है। इसलिये यह कहकर कि आज का यथार्थ ये है, हम उसकी परम्परा को ज्यों का त्यों कैसे चलने दे सकते हैं? कल का फल आज भुगतना होगा, पर जो फल आने वाले कल के लिये चाहते हैं, उसका बीज क्या आज बो चलना जरूरी नहीं है? इसलिये यथार्थ का तर्क ही सम्पूर्ण तर्क नहीं हो सकता। यथार्थ की यथार्थता के भीतर जायेंगे, तो देखेंगे कि विषफल की बेल को एक रोज़ तो समाप्त करना ही है। इस लिये यथार्थ से झुकना नहीं, बल्कि, उसे संभालना है। नहीं तो शत्रुता के चक्कर से छुटकारा कैसे मिलेगा? शत्रु के मद में से शत्रुता की बेल हरी होती है। दनुजों की कथा में सुनते हैं कि एक मरता है, तो उसकी जगह सौ हो जाते हैं। इसलिये यदि कभी जाकर शत्रुता को इस धरती पर से मिटना है, तो उसे मिटाने का आरम्भ आज ही कर देना होगा। यदि नहीं आज तो उसका आरम्भ कभी भी न हो सकेगा, क्योंकि यथार्थता का तर्क ज्यों का त्यों सिर पर लटका रहेगा।

मतलब यह नहीं कि 'शत्रु मित्र वदाचरेत्' कह कर हम उसकी खोटी लालसाओं को बढ़ावा दें। नहीं, हम प्रतिरोध करेंगे। अपनी आत्मा को बेच कर उसके भीतर के दानव को हम भोज्य नहीं देंगे। अपनी आत्मा को सुरक्षित रखकर उसकी आत्मा को भी सुरक्षित करने का साधन करेंगे। वह अपने को भूल रहा है। वह फाड़ खाने को आता जो दीखता है, सो तो पागलपन है। शायद वह सताया हुआ है। ज़रूर किसी त्रास ने उसे ऐसा बना दिया है। वह उसकी असली प्रकृति नहीं, विकार है। अगर ईश्वर है तो उसमें भी है। पर हम अपनी ईश्वरता को उसके समक्ष करके ही उसकी असलीयत यानी उसकी आत्मा को छू सकेंगे। उसके थप्पड़ के आगे अपना मुक्का करके वह काम नहीं किया जा सकता।

हाँ, थप्पड़ के आगे मुख किया जा सकता है। यह लाचारी के सबब नहीं, बल्कि ख़ुशी के साथ किया जाता है, तो सन्देह नहीं कि उस थप्पड़ में मारने वाले का गर्व कम हो जायगा।

ऊपर कहा गया है कि युद्ध के समय उपदेश बेतुका है। उस समय कर्म की उत्कटता चाहिये। अर्थात् यदि चाहिये तो शान्ति का उपदेश नहीं, शान्ति का कर्म चाहिये। और अहिंसा की माला नहीं, अहिंसा का युद्ध चाहिये।

जो मरने से डरता है, उसे कोई क्यों पूछे? पर जो नहीं डरता उसे तो पूछना ही होगा। किन्तु निडरता कोई कर्महीन स्थिति नहीं है। वह कर्मठता के साथ ही टिक सकती है। हम निडर हैं, ये हमारे मानने का विषय नहीं। निडर हम तभी हैं जब दुनिया कहे कि हम निडर हैं। अर्थात् निडरता कोई अव्यक्त तत्व नहीं है, बल्कि व्यक्त है, किन्तु कोई कर्महीन स्थिति नहीं है। वह कर्मण्यता के साथ ही टिक सकती है। हम निडर हैं, यह हम नहीं मान सकते। निडर हम तभी हो सकते हैं, जब दुनिया कहे कि हम निडर हैं। अर्थात् निडरता कोई अव्यक्त तत्व नहीं है बल्कि व्यक्त प्रभाव है। व्यक्त नहीं तो उसका कुछ अर्थ नहीं। व्यवहार में निडरता ही सच्चे योद्धा का लक्षण है। हिंसक योद्धा उद्दण्ड हो सकता है। बल्कि किंचित उद्दण्ड होना उसके लिए अनिवार्य है। क्योंकि मूलतः हिंसक युद्ध की प्रेरणा एक गहरे हीन भाव Sense of inferiority में से आती है। दूसरे शब्दों में उसके जड़ में आतंक या भय होता है। इसी से उसके फल में शेख़ी और उद्दण्डता देखने में आती है। अहिंसक योद्धा में वैसी संभावना ही नहीं। वह समभावी है। इससे वह ऐसा योद्धा है कि कभी किसी परिस्थिति में किसी के प्रति उद्दण्ड नहीं हो सकता। वह सदा सविनय है। पर इस्पात की तरह दृढ़ भी है। मौत तक उसको नहीं तोड़ सकती यों सब के आगे वह झुका हुआ है।

मेरी कल्पना है कि वीरता का आदर्श ऊंचा उठता जायगा, तो इसी जगह पहुंचेगा। वीर यदि क्रूर नहीं है, तो इसीलिए कि उसमें विवेक मार्दव है, और इस जगत में सच्चा वीर वही हो सकता है, जिसे इस जगत के यश और वैभव में कोई आसक्ति नहीं, जो यदि योद्धा है तो असत्य के ख़िलाफ़ और यदि उसे आसक्ति है, तो उस सत्य की जो प्राणि-मात्र की गहराई में स्थित है।

अख़बारों के प्रचार से और 'ब्लैक आउट' के अभ्यास से और और तरह की तैयारियों से, जो तात्कालिक फल होता है, वह यही कि हममें मौत का डर और सुरक्षा की चिन्ता समा जाती है। स्पष्ट है कि इस वृत्ति में से जो साहस उठेगा वह कृत्रिम साहस होगा। वह अपने विश्वास पर नहीं, बल्कि किसी के विरोध पर, यानी शत्रु की शत्रुता पर स्थापित होगा। इससे शत्रु के प्रबलतर साबित होने पर वह साहस टूट कर कातर भय को जगह दे रहेगा। और ऐसा ही देखने मे भी आता है। हिंसक लड़ाई में एक हद तक ही सिपाही लड़ते हैं, फिर भाग रहते हैं, या हथियार डाल रहते हैं। ऐसा इसलिए होता है कि शत्रु को सामने रखकर ही वह साहस उपजाया जाता है। वह सीधा शत्रु के डर में से ही आता है। इससे शत्रु के हावी होने पर वह उड़ जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में निःशस्त्रीकरण की बातें होती रहीं। पर अविश्वास से घिर कर निःशस्त्रता में हरेक को अपनी निर्बलता मालूम होती है। अपने को कोई निर्बल नहीं चाहता। भयभीत के लिए तो पलायन अथवा युद्ध ही उपाय है। सक्रिय विश्वास और प्रीति विस्तार में से ही निःशस्त्रता का साहस आ सकता है। तब निशस्त्र होकर राष्ट्र निर्बल नहीं, बल्कि सच्चे अर्थों में बलशाली अनुभव करेगा।

बीच में कांटेदार तार दो पड़ोसियों के प्रेम को महफ़ूज़ नहीं बना सकता। यह बहस कि कांटे कितने पैने हों या कितने घने हों, व्यर्थ है। शस्त्रों की

समगणना के आधार पर निशस्त्रता नहीं आ सकी। न कभी आ सकेगी। और शस्त्र की व्यर्थता तो देख ही ली गयी है। शस्त्र की दौड़ की कोई हद नहीं। बीच में अविश्वास है तो अधिक से अधिक शस्त्रास्त्र भी थोड़े मालूम होंगे। बराबर ख़याल रहेगा कि अभी कुछ और चाहिए और निगाह रहेगी कि दुश्मन ने कितने बनाये हैं।

साफ़ है कि ऐसी हालत में एक देश या राष्ट्र दूसरी ज़रूरी बातों के लिए, ज्ञान-विज्ञान और कला-संस्कृति के संवर्धन की चिन्ता के लिए, खाली नहीं रह सकता। जो पड़ोसियों से अनबन मोल ले बैठा है, उसमे नागरिकता के विकास में क्या मदद मिल सकती है? ऐसे ही जो चारों ओर शत्रुताओं से घिरा है, मनुष्यता के विकास मे वह क्या सहायता पहुँचा सकता है?

किन्तु इतिहास हमसे क्या चाहता है? हम जी किस लिये रहे हैं? मनुष्य जाति किस ओर बढ़ती आई है? और किस दिशा में उसे बढ़ने जाना है? क्या वह दिशा परस्पर का बढ़ता हुआ ऐक्य ही नहीं है?

यदि वह ऐक्य है, तो हिंसा से उस ओर गति न होगी। हिंसा अपने फल में हिंसा ही दे सकती है। और जब तक हिंसा के द्वारा राष्ट्र और राष्ट्र के बीच के सवालों का निपटारा देखा जायगा, तब तक मानना चाहिये कि वह सवाल कभी हल भी न होगा। और तो और घर में हम अपने तीन बरस के बालक से ज़ोर ज़बरदस्ती के आधार पर हार्दिक सम्बन्ध नहीं बना पाते। जब जब हमने थप्पड़ का उपाय हाथ मे लिया है, समस्या कसती ही गई है। तत्काल तो मालूम होता है कि मामला कुछ हल्का पड़ गया है, पर असल में गाठ उससे सदा कुछ गठीली होते देखी गयी है। बच्चे में अहम पैदा होने पर जब उसको ज़ोर-ज़ब्र से रास्ते पर नहीं लाया जा सकता, तो राष्ट्र का 'अहम' तो और भी व्यापक और ठोस वस्तु है। उसका उपचार फिर शस्त्रास्त्र के बल पर ठीक कैसे हो सकता है?

कहा जायगा कि यह बातें तो ठीक हैं। पर ठंडक की हैं। अभी तो आग लगी है। ऐसे वक्त उनका कहना और सुनना जुर्म है। आग बुझनी चाहिये, तब दूसरी कोई बात होगी।

पर आग बुझनी चाहिए कि लहकनी चाहिए? अगर उसे बुझना है तो ऊपर की बात न सिर्फ़ असंगत नहीं है, बल्कि वही एक संगत बात है। आग से अपनी जान बचाने तक का ही हमारा कर्त्तव्य नहीं है, क्योंकि भाग कर जान बचाने का कोई रास्ता ही नहीं है। ब्लैक-आउट इत्यादि से जान बच सकती है और बचायी जानी चाहिए—इस तरह का भ्रम पैदा करने वाले प्रयोग हैं। वे एक तरह शत्रु की शक्ति की पुनः सूचना और उसके पूर्व निमंत्रण का रूप हैं। माना जा सकता है कि नगर में बसने वाले निर्दोष स्त्री-पुरुषों और बाल बच्चों की रक्षा का किंचित उपाय इस प्रकार होगा। पर सोचने की बात है कि उन निर्दोष स्त्री-पुरुषों पर आस्मान से हमला हो, यह स्थिति ही बनने में कैसे आयी?

हम सरकार को धन्यवाद दे सकते हैं कि उसे हमारे जान माल की रक्षा की चिन्ता है। वह शत्रु के हाथों हमें लुटवाना नहीं चाहती। उसकी फौज सरहद पर है और सब नाकों पर है और उसका सरकारी इन्तज़ाम सब जगह फैला हुआ है। सरकार हमारे देश की रक्षा करेगी। हम उसकी सुनें और उसके आदेश का पालन करें। ऐसे सकट के समय सचमुच हमें कृतज्ञ होना चाहिए कि सरकार की दृढ़ भुजाएं हमारी रक्षा को उद्यत हैं। हाय! सरकार न होती तो हम कहां होते? ऊपर के शत्रु के लिए तो खुले शिकार होते ही, भीतरी गुण्डे भी हमें क्षत-विक्षत किए रहते। दुहाई है कि सरकार है और हमें उसकी सुरक्षा मे ब्लैक-आउट के प्रयोग की शिक्षा मिल रही है!

सिर पर आ गई स्थिति को देखते सरकार की छत्र-छाया निश्चय ही हमारे लिए परम सन्तोष का विषय हो सकती है। पर हमने क्या किया है कि पश्चिम का कोई देश हमारा दुश्मन बने?

पश्चिम की लड़ाई पूर्व में क्यों आ गयी है? यह तो ठीक है कि पश्चिम और पूर्व दो नहीं हैं। पर पूर्व का यह भारत क्यों आज अपने ही निर्णय से लड़ाई में कुछ मदद करने में असमर्थ है? संकट इस पर इसी से तो है कि वह एक पश्चिम के मुल्क के साथ नत्थी है और उसकी शत्रुता-मित्रता को ओढ़ने के लिए लाचार है। स्थिति विषम है, पर क्यों वह हिन्दुस्तान के बावजूद हिन्दुस्तान के लिए भी विषय है? ठीक है कि हिन्दुस्तान के व्यवस्थापक आज उसकी चिन्ता से चौकन्ने हैं। पर क्या यह भी उन व्यवस्थापकों की ही करनी नहीं है कि वह आज आत्म-निर्णय में असमर्थ है और कि वह अन्तर्राष्ट्रीय गीधों की निगाह में सिर्फ सस्ता शिकार बन गया है? आज यदि यह स्थिति है तो उसका कारण ढूढ़ना होगा। उस कारण के लिए हम अपने व्यवस्थापकों से बाहर कहां जाय? ब्लैक-आउट और इस प्रकार के दूसरे हितोपायों के लिए जिस सरकार के हम कृतज्ञ हैं, उसी सरकार के पास हम आज की स्थिति का यह अभियोग भी ला सकते हैं।

कौन जानता है कि हिन्दुस्तान की मिल्कियत ने इङ्गलैंड को पश्चिम की दूसरी सशक्त राष्ट्र-सत्ताओं के लिए और लोभनीय ही नहीं बनाया? इङ्गलैंड को मौक़ा था कि हिन्दुस्तान को वह अपनी सम्पत्ति न मानकर अपना साथी बनाता। मित्र हिन्दुस्तान इङ्गलैंड के बल को मज़बूत करता। पर हिन्दुस्तान इङ्गलैंड के लिए परिग्रह रहा। इङ्गलिस्तान का वह भोग्य रहा। उससे इङ्गलिस्तान के चरित्र पर धब्बा लगा और हीनता आयी। उसमें साम्राज्य लिप्सा पैदा हुई। इसी से दूसरे मुल्कों की आंखों में वह कांटा बना। हिन्दुस्तान उसकी इस वृत्ति से शक्ति और पौरुष से हीन बना। क्या अचरज कि वह और सत्ताओं के मुंह में पानी आने का कारण बना।

ऐसे आज यह हालत बनने में आयी है कि सरकार को कहने का मौक़ा मिलता है कि हिन्दुस्तान ख़तरे में है, और हिन्दुस्तान भी महसूस करता है कि वह ख़तरे में है, कि जब ब्लैक-आउट होते हैं और लोग सोचते हैं कि उनका होना कल्याणकारी है। लोग अपने को असहाय पाते हैं और इस तरह सरकार की थोड़ी-बहुत जितनी है उतनी ही भी शस्त्र-शक्ति की दुहाई देते हैं। सरकार को इस तरह अपना समर्थन प्राप्त होता है। पर हम चाहते हैं कि उस समर्थन के भीतर ही जो एक निश्चित अभियोग है। वह भी सरकार को प्राप्त हो और सरकार जान ले कि जिस संकट से रक्षा देने का काम वह अपना बतलाती है, उस संकट को सिर पर लादने का ज़िम्मा भी उसी का है।

हिन्दुस्तान को इस्तेमाल करने की इङ्गलैंड की बुद्धि आज संकट के समय कुछ शुद्ध हो सकती थी। वह हिन्दुस्तान के हृदय को पाने की जरूरत इस समय महसूस कर सकती थी। पर उसने मन नहीं चाहा, धन चाहा। मैत्री नहीं चाही, सिर्फ लाभ चाहा। आत्मा नहीं मांगी, उसके शरीर पर ही आंख रखी। इससे इङ्गलैंड का नैतिक पतन हुआ और हिन्दुस्तान का भी। इससे साम्राज्य नाम का एक दम्भ खड़ा हुआ। कॉमनवैल्थ शब्द के नीचे उस दंभ के ढकोसले को छिपाया नहीं जा सकता। सफेद जाति का वह दंभ उसके लिए भारी पड़ रहा और पड़ेगा। यह विधान शासित और शासक दोनों जातियों को अमनुष्य बनाता है। दोनों उससे गुलाम बनते हैं। शासक इन्द्रियों का गुलाम और शासित उस गुलाम का गुलाम बनता है।

भारत वर्ष के शासक भारत को भारतीय बनाये होते, तो आज शायद उन पर और भारत पर संकट का दिन भी न आता। भारत स्वाधीन होता और सशक्त होता। और मनुष्यता की राह पर तब वे दोनों एक दूसरे को और शेष दुनियां को चलाने में सहयोगी होते। ऐसा होता तो इङ्गलिस्तान की नैतिक साख असंदिग्ध होती। भारत का संस्कृति-बल और धन-जन बल मिलकर विलायत बड़ी से बड़ी पशु-शक्ति के निकट अविजेय होता। तब क्या आज की लड़ाई होती? या होती भी तो क्या टिक सकती?

पर यह होना न था। दुनिया को बुरे दिन देखने थे। और आदमी में अभी तृष्णा का राज था। शायद साम्राज्य बनाने और बढ़ाने वाले अंग्रेज़ ने बहुत आगे नहीं देखा। उसने शायद समझा कि वह अपनी जाति का यश विस्तार कर रहा है। ऐति-हासिकों ने उसे इस भ्रम में मदद पहुंचायी। साहित्य ने बढ़ावा दिया। 'साम्राज्य' पर विलायत को और विलायती को गर्व हुआ। उसने न जाना कि ईश्वर के इस जगत में आदमी का गर्व खर्व होना है। वह मोह में धर्म को भूल गया। और विधाता की लीला को कौन जानता है? कौन जानता है कि सफ़ेद और काले आदमियों के संचित पापों का ही यह प्रतिफल नहीं है?

किन्तु फल सामने फूटा है, तो वहीं से हम अपने तर्क का आरम्भ न करें। बम ऊपर से गिरेगा तो हम किस तहखाने में डुबकी मारकर बचेंगे—हमारे सोच विचार के लिए कोई यही विषय नहीं। आदमी की बुद्धि को आसन्न खतरे में घेर कर मूल प्रश्न पर विचार करने के लिए असमर्थ ही बना दिया जाता है। ब्लैक-आउट इत्यादि लोक-मानस पर ऐसा ही आतंक मय असर डालते हैं। जैसे अपनी जान बचाने से बड़ा कोई तत्काल धर्म हमारे लिए है ही नहीं। आज लोक-मानस कुछ उसी वृत्ति से ग्रस्त है। घर घाट और हाट-बाट की चर्चा सुनिए, सब कहीं वही एक प्रश्न है कि कौन कैसे बचे? हवा ऐसी सकामक है कि विरला उससे अछूता बचता है। मन खोखले हुए जा रहे हैं। और चारों तरफ अविश्वास बढ़ता जा रहा है। वैश्य सकट में अपने बचाव की सोच रहा है, तो गुण्डा अपने मौके की सोच रहा है। साम्प्रदायिक और राष्ट्रीय और श्रेणी गत अविश्वास तीखा पड़ रहा है और जान पड़ता है कि ऊपर से सरकारी शक्ति का ढंकना ढीला हो कि भीतर से वह अपना गुल खिला आये।

ऐसे समय सही बुद्धि और अहिंसक कर्म की बहुत आवश्यकता है। अहिंसक कर्म धनका और सत्ता का विकीरण करता है। उनके केन्द्री करण पर बसे हुए बड़े बड़े शहर जो दुश्मन के लिए प्रलोभन होते हैं—अहिंसक कर्म में वे बिखरेंगे। वैसे कर्म से गांव बसेंगे और उनकी खुशहाली बढ़ेगी। लाखों खुशहाल और स्वाधीन गांवों वाले हिन्दुस्तान को किसी दुश्मन से किसी डर की ज़रूरत न रहेगी। गांवों पर बम डालना पैसे के लिए अशर्फ़ी बर्बाद करना होगा। और कोई मूर्ख नहीं जो करेगा। तब सोशल इकॉनामी (Social Economy) का ढांचा ही दूसरा होगा। तब सत्ता का इस मुट्ठी से उस मुट्ठी में आ रहने का सवाल ही न रहेगा। क्योंकि तब वहां किसी की बंधी मुट्ठी हो ही न सकेगी। दुश्मन तब कोई होगा भी, तो वह उस सोशल इकॉनामी में ज़ब्त हो जायगा; क्योंकि उसके पास कोई साधन न होगा कि वह उसको तितर-बितर कर सके। वह पहिले ही ऐसी छितरी हुई होगी कि उसका केन्द्र हर जगह होने के कारण कहीं नहीं होगा।

कहना कठिन है कि ऊपर जो बादल आये हैं, बरस कर वह क्या क़हर बरपा करेंगे। पर यह निश्चय है कि कभी मानव जाति को अगर संगठित शक्ति के त्रास से छुटकारा मिलेगा, तो तभी जब प्रत्येक व्यक्ति प्रर्याप्त शारीरिक परिश्रम करने वाला होगा। जब कि उपज और खपत, और श्रम और पूंजी के बीच इतना फासला न होगा कि बीच में बटाव के लिए किसी तीसरी बुद्धि या शक्ति की ज़रूरत हो। जब आर्थिक समस्या न्यूनतम हो जायगी और मनुष्य की समस्या नैतिक और आध्यात्मिक ही हुआ करेगी। जब आर्थिक अभाव नहीं, बल्कि हार्दिक सद्भाव मनुष्य को चलाया करेगा।

नश्वर !

श्री प्रयाग नारायण त्रिपाठी

(१)

फूटा प्रभात, भर गया पूर्व में
नीला, पीला, लाल रंग
फूटा प्रभात, फूटी कलियों के
चिड़ियों के दिल की उमंग
फैला प्रकाश, डोली समीर,
शीतल, सुगंधिमय, मंद मंद,
फूटा प्रभात, फूटे कवि के
उर मे निर्झर-से मधुर छंद
पर बीत गई निशि-सपनो सी
मंजुल प्रभात सुषमा मनहर
सुषमा नश्वर !

(२)

बिखरा दिन, बिखरी सोने-सी
चांदी-सी उज्वल, नरम धूप
बिखरा दिन, जागा जगत, जगीं
चिड़ियां चंचल, कलियां अनूप
सब जग हिल-मिल प्रमुदित-प्रसन्न
सब मोद-मग्न, उल्लास-मग्न
बिखरा दिन, बिखरी वसुधा पर
उत्साह-चाह की नई लग्न
पर बीती प्रातः-सुषमा-सी
उत्साह-चाह की लग्न मधुर
प्रातः नश्वर !

(३)

आई संध्या, पश्चिमी क्षितिज पर
डूब चला, लो मार्तण्ड
आई संध्या, बिखरे नभ में
सतरंगी सुन्दर अभ्र-खंड

चिड़ियाँ नीड़ों की ओर चलीं
कलियों ने दृग कर लिए बंद
आई सन्ध्या, छा गई शांति
हो गई दिवस की ज्योति मंद
पर बीत गई दिन के प्रकाश-सी
संध्या की भी शांति प्रखर
सन्ध्या नश्वर !

(४)

खिल उठी रात, खिल उठे गगन मे
ज्योतिमान तारक अमंद
खिल उठी रात, मुँद गए पलक,
खुल गए स्वप्न के द्वार बंद
सब दिन का श्रम, जीवन का श्रम
सब दिन की, जीवन की अशांति
खिल उठी रात, हो गई दूर
तन-मन की बोझिल, विकल क्लान्ति
पर प्रखर साँझ की शांति-सदृश
आया निशि का भी अंत-प्रहर
रजनी नश्वर !

(५)

जीवन में आते सुबह-शाम
भरने मानस मे मुग्ध भाव
जीवन मे आतीं दिन-रातें
भरने अभाव के अरुण घाव
प्रातः-सुषमा, औ सान्ध्य-शांति
दिन का प्रकाश, निशि के सपने
कवि को बहलाने को आते
ले स्नेह-प्यार अपने अपने
पर कवि तो चिर विह्वल, अधीर
पाकर यह स्नेह, प्यार क्षणभर
पाकर यह सब कुछ ही नश्वर !
सब कुछ नश्वर !!

मातृवाणी

मातुः श्री (पांडी चेरी)

५

पुनर्जन्म माता पिता, परिस्थिति और अवस्था से बने हुए बाह्य पुरुष का, अर्थात् मन, प्राण और शरीर का नहीं होता। केवल हृत्पुरुष ही एक देह से दूसरी देह में जाता रहता है। तब, न्यायतः न तो मनोमय पुरुष और न प्राणमय पुरुष ही पूर्व जन्मों को स्मरण रख सकता है, अथवा इस या उस व्यक्ति के शील या स्वभाव में अपने को पहचान सकता है। पूर्व जन्मों की स्मृति केवल हृत्पुरुष को ही हो सकती है और ज्यों ही हम अपने हृत्पुरुष का सचेतन ज्ञान प्राप्त करेंगे, त्योंही हमें अपने पूर्व जीवनों की ठीक-ठीक धारणा हो सकेगी।

परंतु हम भूत काल में क्या थे, इस ओर अपने ध्यान को रखने की अपेक्षा हमारे लिये कहीं अधिक महत्वपूर्ण होगा यदि हम अपने ध्यान को जो कुछ हम भविष्य में होना चाहते हैं, उस ओर रखें।

६

जिस किसी ने अपने-आपको भगवान् को दे दिया है, उसके लिए अब इसके अतिरिक्त और कोई कर्तव्य नहीं रह जाता कि वह अपने इस समर्पण को अधिकाधिक सर्वाङ्ग संपूर्ण बनाता जाय। इस संसार ने और इसमें रहने वाले लोगों ने सदा मानव—सामाजिक और पारिवारिक—को, भगवान के प्रति उनका जो कर्तव्य है जिसे वे अहंभाव के नाम से दूषित करते हैं, उससे भी अधिक प्रमुख स्थान देना चाहा है। और सचमुच उनका फैसला इसके सिवाय और कुछ हो भी क्या सकता था, उनका जिन्हें भगवान् की वास्तविकता का कोई अनुभव नहीं है? परंतु भगवान् की दृष्टि में उनकी सम्मति का कोई मूल्य नहीं, उनकी इच्छा में कोई बल नहीं। ये केवल अज्ञान की गतियां हैं, इससे अधिक कुछ नहीं। इन लोगों के भ्रम को दूर करने का तुम्हें कोई प्रयास नहीं करना चाहिये; और सबसे बढ़कर यह है कि इनकी बातों से तुम्हें प्रभावित या विचलित नहीं होना चाहिये। तुम्हें अपने-आपको अपने समर्पण के धवल दुर्ग के भीतर सावधानी के साथ बन्द कर लेना चाहिये और अपने साहाय्य, संरक्षण, परिचालन और समर्थन के लिये एक मात्र भगवान् को जोहना चाहिये। जिसको यह मालूम है कि उसे भगवान् का समर्थन और साहाय्य प्राप्त है, उसको यदि सारे संसार ने त्याग दिया हो, तो वह इसकी क्या परवाह करता है।

इसके अतिरिक्त, मानव जाति ने जिस ढङ्ग से अपना संगठन किया है, उसमें उसकी नितांत अपात्रता क्या साबित नहीं हो चुकी है? एक शासन तंत्र नष्ट होता है, दूसरा शासन तंत्र बनता है, एक हुकूमत खतम होती है, दूसरी हुकूमत क़ायम होती है, शताब्दियों पर शताब्दियां बीतती जाती हैं, पर मनुष्य की दुर्दशा ज्यों की त्यों बनी हुई है। जब तक मनुष्य इसी तरह रहेगा जैसा कि वह है, अंधा और अज्ञानी, समस्त आध्यात्मिक वास्तविकता की ओर से अपने आपको बन्द किये हुए, तब तक यह अवस्था बनी ही रहेगी। मानव जाति की अवस्था का वास्तविक सुधार एक ही बात से हो सकता है और वह है मानव चेतना को रूपांतरित करना, उसे प्रकाशमान कर देना। सो, मानव जीवन के दृष्टिकोण से भी न्यायतः यही परिणाम निकलता है कि मनुष्य का सब से पहला काम यह है कि वह भागवत चेतना को ढूंढ़े और उसे प्राप्त करे।

—अ० श्री मदन गोपाल गाड़ोदिया।

'तोमारई प्रतिमा गडि मन्दिरे मन्दिरे' !

श्री रामनाथ 'सुमन'

Stone by stone to raise a sacred fane.
A temple, neither Pagod, mosque nor church
But loftier, simpler, always open door'd
To every breath from Heaven

[१]

एक ओर जब बम्बई, ढाका और अहमदाबाद में दंगे हो रहे थे, तभी मुझे एक मित्र को काशी का भारत-माता मन्दिर दिखाने जाना पड़ा। मुझे १९३६ का वह दिन याद आया, जब इस धर्म नगरी में युग-पुरुष गांधी के हाथों इस मन्दिर का उद्घाटन हुआ था। उस समय २५ हज़ार आदमी उपस्थित थे, और उनमें हिन्दू, मुसलमान, सिख, पारसी, जैन, बौद्ध, चीनी और हरिजन सभी थे। मन्दिर के उद्घाटन के समय पंडितों ने वेद मंत्रों का पाठ किया था, ख़ाँ साहब अब्दुल गफ्फार ख़ाँ ने कुरान की आयतें पढ़ी थीं और बौद्ध भिक्षुओं तथा पारसियों ने अपनी अपनी गाथाएं और प्रार्थनाएं सुनाई थीं; तथा महात्मा जी ने कहा था—"मुझे उम्मीद है कि यह मन्दिर, जो मज़हब, फिरक़े, जाति गत भेदों से ऊपर उठकर संसार के समस्त प्राणियों के लिए खुला रहेगा; देश में धार्मिक एकता, शान्ति और प्रेम के प्रसार में बहुत उपयोगी सिद्ध होगा।"

हमारे मित्र इस मन्दिर की सूझ और निर्माण-कौशल पर मुग्ध हो गये। चीज़ भी यह ऐसी ही है। सात वर्ष के सतत परिश्रम के बाद, बहुत अधिक धन व्यय करके यह मन्दिर तैयार हुआ है। भारत माता का यह सुन्दर उभरा हुआ (Relief) भू-चित्र संगमर्मर का बना है। इसकी लम्बाई चौड़ाई क्रमशः ३१ फुट २ इंच और ३० फुट २ इंच है। इसे बनाने में ११-११ इंच के सात सौ बासठ टुकड़े, तथा कुछ छोटे-मोटे टुकड़े और भी, काम में लाये गये हैं। भारत भूमि की प्राकृतिक ऊंचाई और निचाई पर ध्यान रखते हुये ये टुकड़े बड़ी सावधानी और शुद्धता से काट-छांट कर प्रस्तुत किये गये हैं। इस मानचित्र में उत्तर में पामीर के शिखरों से लेकर, दक्षिण में सिंहल द्वीप के दक्षिणी छोर 'डुबुण्डर तुडुव' (डूंड्रा) तक और पूर्व में मौलमीन तथा चीन की प्रसिद्ध दीवार कलकहा से लेकर पश्चिम में हेरात तक का समस्त भू भाग दिखाया गया है। धरातल भूमि एक इंच में ६.४ मील दिखाई गई है, जिसका यह अर्थ होता है कि मानचित्र की एक इंच की लम्बाई प्रकृत भूमि की ६ मील ७०४ गज़ के बराबर समझनी चाहिए। भिन्न-भिन्न स्थलों की ऊंचाई दिखाने के लिए यह मान लगभग सत्रह गुना बढ़ाकर लिया गया है अर्थात् पहाड़ आदि की ऊंचाई एक इंच में दो हज़ार फुट दिखाई गई है। हिमालय का सर्वोच्च शिखर गौरी शंकर (एवरेस्ट) संगमर्मर के एक ही टुकड़े को काटकर पौने पन्द्रह इंच ऊंचा बनाया गया है। इस मान चित्र के वर्ग से हमारी मातृ भूमि वस्तुतः चार लाख पांच हज़ार गुनी बड़ी है। इतने विस्तृत और वैचित्र्य पूर्ण भू-भाग का अत्यन्त शुद्ध मान चित्र बनाना कितना कठिन और श्रमसाध्य है; इसका अनुमान प्रत्येक विद्वान और कलाविद् दर्शक कर सकता है। फिर भी प्रत्येक चीज़ की ठीक एवं वैज्ञानिक ऊंचाई प्रदर्शित करने की चेष्टा की गई है, और दर्शकों की सुविधा के लिए समुद्र-पृष्ठ से पांच सौ, एक हज़ार, दो हज़ार, तीन हज़ार, छः हज़ार, दस हज़ार, पन्द्रह हज़ार, बीस

हज़ार, पचीस हज़ार और उनतीस हज़ार पांच सौ फुट की ऊंचाइयां शीघ्र ध्यान आकृष्ट करने वाली रेखाओं द्वारा स्पष्ट कर दी गई हैं और इनकी सहायता से किसी स्थान की समुद्र-पृष्ठ से ऊंचाई का अनुमान करना सहज हो गया है।

इस मानचित्र में समस्त गिरि-पर्वत उनके विचित्र प्रकार के ऊंचे शिखरों के साथ दिखाये गये हैं। पहाड़ी दर्रे एवं घाटियां भी इस मानचित्र में अपनी सच्ची गहराई दिखा रही हैं। हिमालय के चार सौ से अधिक शिखर उनके ठीक स्थानों पर इस तरह दिखाये गये हैं कि देखते ही उनकी ऊंचाई का भी ज्ञान हो जाता है। प्राचीन और अर्वाचीन भारतीय आख्यायिकाओं में सुप्रसिद्ध कैलास पर्वत, जो प्रायः तीन सौ मील लम्बी और डेढ़ सौ मील चौड़ी, सदा बर्फ से ढकी, संसार की सबसे बड़ी पर्वत-श्रेणी है, अपने भव्य शिखरों और हिमानियों (ग्लेशियरों) के साथ इस मान चित्र में अत्यन्त स्पष्टता पूर्वक प्रदर्शित है। भू-खंडों की ऊंचाई की तरह भारतवर्ष की सब प्रधान और सहायक नदियों के टेढ़े-मेढ़े सर्प गति-सम मार्गों को भी बड़ी सावधानी से, यथा संभव ठीक-ठीक दिखाने का पूर्ण यत्न किया गया है। केवल मार्ग ही नहीं, बल्कि नदियों की चौड़ाई और गहराई भी दर्शकों पर अनायास प्रकट करने में कोई बात उठा नहीं रखी गई है। इसे देखने से समस्त प्रधान नदियों के उद्गम स्थलों और स्रोतों का ज्ञान भी सहज हो जाता है। झीलों का प्रदर्शन भी उनके ठीक-ठीक स्थानों पर किया गया है और ऐसा करते समय उनके आकार और गहराई का भी पूरा ध्यान रखा गया है। कारीगरों ने जो कुशलता गिरि—पर्वतों का आरोह दिखाने में दिखाई है, वही नद-नदियों और झील-सरोवरों की गति, गंभीरता और चौड़ाई प्रकट करने में भी दिखाई है। इसी प्रकार इस प्रस्तर-निर्मित भव्य भू-चित्र में प्रख्यात नगरों, ऐतिहासिक स्थानों, तीर्थों, नदियों, पर्वतों और गिरिश्रृंगों के नाम, उनकी लम्बाई, चौड़ाई, ऊंचाई, गहराई आदि अभिव्यक्त करते हुए खोदे गये हैं।

माता के भौतिक रूप का यह उभारदार मान चित्र संसार में अपने ढङ्ग का अकेला है और सुप्रसिद्ध राष्ट्र-भक्त बा० शिवप्रसाद गुप्त की मातृ-भक्ति और उदारता का एक नमूना है। यह निश्चय ही भावना-मूलक प्राणियों को जहां अनुप्राणित करेगा, वहां संस्थापक की आशा के अनुरूप लोक-शिक्षण की दृष्टि से भी उपयोगी सिद्ध होगा। इसकी सहायता से भूगोल, भूतल निर्माण, भूगर्भ शास्त्र तथा अन्य अनेक विषयों को सर्व साधारण के लिए सुबोध एवं रुचिकर बनाया जा सकेगा। इसी प्रकार भारत के वायु विज्ञान और अन्तरिक्ष-विज्ञान एवं भारतीय संस्कृति के विकास-क्रम के अध्ययन में भी इससे सहायता मिल सकेगी। माता की भौतिक शरीर संपत्ति के इस मान-चित्र से हमारे अन्दर मातृमूर्ति की गरिमा का प्रकाश जाग्रत हो, इसी आशा और विश्वास से यह मन्दिर बनाया गया है।

[२]

'खाके वतन का हमको हर ज़र्रा देवता है'

इस मन्दिर को स्थापित हुए लगभग पांच वर्ष हो रहे हैं, पर जो आशा गांधी जी ने, अथवा इस मन्दिर के प्रतिष्ठापक ने की थी, वह पूरी नहीं हुई; न पूरी होने का कोई चिन्ह ही कहीं दिखाई पड़ता है। दंगे होते रहे हैं, आज भी हो रहे हैं। क्षितिज दूर तक अन्धकार से पूर्ण है; हृदय निराशा और खीझ से भरे हुए हैं। भय और आशंका से भरे पथिक की भांति, जो समझ नहीं पाता कि कौन सा रास्ता मंज़िल पर पहुंचा देगा, हम भ्रमित और दिग्मूढ़ हैं।

बात यह है कि माता के भौतिक रूप के दर्शन में सीमित रह कर वह न होगा, जो हम चाहते हैं। जो कुछ हुआ है, वह पर्याप्त नहीं है। हमें उससे सन्तोष नहीं। हम तो चाहते हैं कि माता का शरीर हमारी आंखों से लुप्त हो जाय और हमारे दिल उसकी ममता, उसके सामान्य वात्सल्य का अनुभव करें।

हम चाहते हैं कि हम देश-माता के स्पर्श का अपने कलेजों में अनुभव करें; हम अनुभव करें कि हमारी माता पहाड़ों, नदियों, तथा विस्तृत भूखण्डों का एक संग्रह मात्र नहीं है, बल्कि उसमें हमारा इतिहास पुकारता है; उसकी धमनियों में नदियां नहीं दौड़तीं, ख़ून दौड़ता है; उसमें मांस है; उसमें जीवन है; उसमें गति एवं प्राण है। अगणित सन्तानों को उत्पन्न और धारण करने वाली उस विराट मातृ मूर्ति को हम देखें; हम उसकी पुकार का अनुभव करें, हम उसमें अपने समष्टिगत व्यक्तित्व को अनुप्राणित और ऊर्जस्वित होता हुआ पायें।

ये दंगे क्यों होते हैं? ये दल बन्दियां किस लिए हमारे बीच उठती हैं? ये मज़हबी तराने हमारे कानों में क्यों पहुंच पाते हैं? यह उच्च वर्णाभिमान आज दीन-दुर्बल भाइयों पर तलवार से क्या झपटने को उतावला है? यह नारी आज रमणी क्यों बन रही है और आज का पुरुष उसे अपने मन बहलाव की सामग्री क्यों बनाता जा रहा है?

यह दुःखद प्रश्न है! पर यही एक प्रश्न है। यदि हम इसका उत्तर दे सकें, तो हमारी बेड़ियां कट जायं, हमारा भय भाग जाय, हमारी निर्बलता टुकड़े-टुकड़े हो जाय और हम भी मनुष्य हो सकें, माता की सन्तान बन सकें।

और इस एक प्रश्न का एक ही उत्तर है—कि अभी तक हमने माता को देखा नहीं, माता को जाना नहीं, माता की पुकार नहीं सुनी और अपने प्राणों पर उसके सुखद स्पर्श का अनुभव नहीं किया।

उस सन्तति से जो पाश्चात्य शिक्षण की भौतिकता में आकण्ठ डूबी हुई है और जिसे हाड़-मास मयी, हँसने वाली, बोलने वाली, पुकारने और प्यार करने वाली, हमारे अणु-अणु में समाई हुई माता की जगह एक विस्तृत भूखण्ड मात्र दिखाई देता है, हम ज़ोर देकर यह कहना चाहते हैं कि हमारी माता कोई कल्पित माता नहीं है, काव्य का कोई रूपक नहीं है। यह सतत-जाग्रत, सतत-जीवित, हाड़ मास और रक्त से पूर्ण एक सच्ची माता है। आज वही सच्ची माता हमारी आखों से ओझल है, क्योंकि हमने उनका बदला पहाड़ों और झीलों से कर लिया है—क्योंकि मज़हबी जोश की दीवार हमारी आंखों के आगे आ गई है और उसने माता को इसकी ओट कर दिया है।

माता तो सच्ची है—वह कल्पना नहीं है; पर उसका दर्शन कैसे हो सकता है? एक ओर जो हिन्दू राष्ट्रीयता का स्वप्न देखता है और दूसरी ओर अपने अधिकार पर खड़ा होने को उत्सुक, अपनी विस्मृत आत्मा को पाने के लिए उत्कण्ठित 'अछूत' को क्रोध से, उपेक्षा से देखता और दुर दुराता है, उसे माता क्यों दिखाई देगी? जो राष्ट्रीयता ऐसी अवस्था चलने देती है और उसमें हस्तक्षेप नहीं करती, बालू की भीत है। यह मातृ-भक्ति नहीं, माता का तिरस्कार है। वह धर्म या समाज, जो नारी को पर्दे में बन्द करने के शास्त्रीय प्रमाण ढूंढता है और इस प्रकार राष्ट्र के मातृत्व के प्रवाह को क़ैद करके उसकी निर्मल जीवन-प्रद शक्ति को गँदला और कुण्ठित करता है, राष्ट्रीयता का शत्रु है। वह माता की विराट पूजा में बाधक है। वह हमारी गुलामी को दृढ़ करता, हमारी बाढ़ को रोकता और हमारी आंखों से मातृ दर्शन की शक्ति हर लेता है।

माता का दर्शन और माता की सच्ची पूजा तब तक नहीं हो सकती, जब तक शुद्ध, सर्वग्राही राष्ट्रीयता में हम अपने को निमग्न कर देने को तैयार न हों। किसी देश में क्रान्ति की लहर तब आती है, जब दृष्टिकोण एवं मानसिक गठन में एकदम परिवर्तन हो जाता है। यह बदला हुआ दृष्टिकोण प्रत्येक वस्तु का नया मूल्य आंकना चाहता है। इसमें पुरानी विधियां, पुरानी व्यवस्थाएँ बहुधा चूर-चूर हो जाती हैं। यह प्रत्येक चीज़ को देखकर प्रश्न करता है—'ऐसा क्यों, वैसा क्यों नहीं?' और प्रश्न करके ही नहीं रह जाता, उसका उत्तर भी चाहता है। इस लिए जब राष्ट्र में चेतना आती है, जब वह जागता है तो उस जागरण में जो कुछ जीर्ण-शीर्ण या न टिकने-जैसा होता है, धूल में मिल जाता है और इस

मिट्टी से नूतन का निर्माण होता है। नई आंख, नई दृष्टि मिलती है।

जब तक वह नई दृष्टि नहीं मिलती, माता का दर्शन कैसे होगा? माता तो प्रत्येक गृह में, प्रत्येक प्राणी में, प्रत्येक ज़र्रे में मौजूद हैं। वह तो हमारे आगे-पीछे, दायें-बायें, ऊपर, नीचे सर्वत्र व्याप्त हैं। पर देखना हमें कहां आया? हमारे सामने अज्ञान का परदा है। हम माता की सच्ची मूर्ति देख नहीं पाते हैं। हमारे दिल इतने छोटे हो गये हैं कि माता के विराट रूप की कल्पना में भी हम भीत हो जाते हैं। हम अपने छोटे, कच्चे, कल्पित और निस्सार घरौंदों में ख़ुश हैं और उन्हें तोड़ने में हम डरते हैं। हमारा जीवन मोह से भर गया है; प्राण भोग की भावनाओं में डूबे हुए हैं। हमारी दृष्टि रूपज वासनाओं से सिक्त है; हमारे जीवन पतनशील प्रवृत्तियों में लिपटे हुए, शराबी की ख़ुशी से प्रमत्त एवं विस्मृत हैं। तब माता का दर्शन करने की हौंस केवल अपने को धोका देना है।

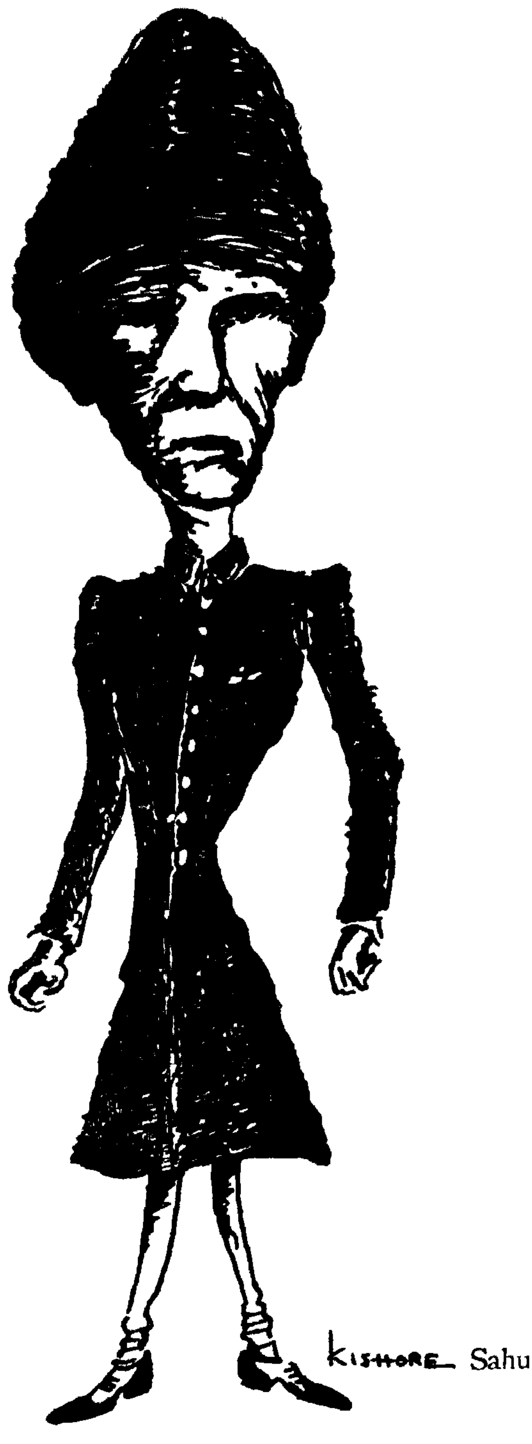
जिस दिन प्रत्येक माता में हम भारत माता को देख लेंगे; जिस दिन धूलि कण में मातृमूर्ति दिखाई पड़ेगी; जिस क्षण हम अपने क्षुद्र और अस्वास्थ्य कर बधनों को भूल जायंगे और यह समझेंगे कि हमारी मां एक है; हमारा ख़ून एक है; हमारे शरीर और प्राणों में एक ही माता की छाती के दूध का प्रवाह और स्पन्दन है, उसी क्षण हमारे बंधन टूट जायंगे और हमारे अन्दर शक्ति के उस स्रोत का प्रादुर्भाव होगा जो विघ्न-बाधाओं की चट्टानों को तोड़ता हमारे जीवन के शुष्क क्षेत्रों को हरा कर देगा।

और यह माता तो भूगोलों के पृष्ठों में न मिलेगी; यह तुम्हारे दिलों के भीतर बैठी है। आज आवश्यकता यह है कि हमने माता के नाम पर जो झूठी मूर्तियां खड़ी की हैं, उन्हें विस्मृत कर दें। वह कवि जो एक दिन पाचाल की पवित्र भूमि पर ऋषि की भांति उठा था और जो बाद में आत्म-विस्मृति में मरा हुआ-सा जीता रहा और अन्त में मर गया, एक बार बोला था। एक बार उसकी वाणी ने बिजली की तरह कड़क कर कहा था—

सच कह दूं ऐ बिरहमन,
गर तू बुरा न माने।
तेरे सनमकदों के बुत,
हो गये पुराने।
पत्थर की मूरती में,
समझा है तू ख़ुदा है।
ख़ाके वतन का मुझको,
हर ज़र्रा देवता है।

क्या अच्छा होता, आज उस वाणी की प्रतिध्वनि हमारे दिलों में होती। क्या अच्छा होता कि हम आज अपने से ऊपर उठने के लिए ज़रा पागल होते; अपने मोह को लात मार कर चूर कर देते और प्रति क्षण सर्द होती हुई ज़िन्दगी को ज़रा गरम बनाकर, अग्नि की लपटों की तरह, ऊपर उठने देते।

माता तो दिखाई देंगी पर तब जब हर दिल में, हर घर में उनके मन्दिर होंगे; जब हमारे अन्दर उनको पाने के लिए वैसी बेचैनी होगी जैसी दाहक फोड़े से पीड़ित व्यक्ति की निरोग होने के लिए होती है। इसके लिए हमें अपने को भूलना होगा, अपने स्वार्थों को भूलना होगा, अपने आराम-आसाइश को भूलना होगा। अपनी भूख और प्यास को भूलना होगा। माता की मूर्ति तो तपस्या के त्याग के शतदल में खिलती है, और कठिनाई के गिरि-शृङ्गों से बोलती है। जिस दिन हम इसे समझ लेंगे, हर मंज़िल पर माता के दर्शन होंगे और हर दिल में उनका मन्दिर होगा



वह दिन आयेगा और अवश्य आयेगा जब
कायदे-आजम भी कहेंगे—'अखण्ड हिन्द-ज़िन्दाबाद'

झोपड़ी

श्री रामावतार 'शक्र'

कुछ खर-पातों की राशि नाम अपना झोपड़ी विचार रही,
कितनी चाहों कितनी आहों से अपना वेश सवार रही।
जाते राही उस पथ से तो कुछ देर दृष्टि रुक जाती है,
चलती पछुवैया अगर, झोपड़ी की टट्टी झुक जाती है!

उड़ जाय न छप्पर झोंके से, ऊपर से दाबे है ढेले!
आवे सर्दी, गर्मी आवे, पावस भी आकर के खेले!
उसमें थोड़ी सी जगह, उसी मे रहते है कंकाल चार!
चाहे उसमें आराम न हो, चाहे जीवन हो असह्य भार!

दिन रात खटे, पर भूख-भूख का रहता हाहाकार जहां!
दिन रात खटे, पर अर्ध-नग्न रहना ही है व्यापार जहां!
ऐसी वह है झोपड़ी, सदा भूखे रहने का पर्व जिसे!
ऐसी वह है झोपड़ी, और नित ही अभाव मे गर्व जिसे!

निशि में रहती वह अंधेरी, दिन मे रवि उसे जला जाता!
सावन-भादों नित आंखो में, फिर भी छत से पावस आता!
ठुकराया जाना कर्म वहां, अपमानित होना धर्म वहां!
'दीनों को चुप रहना अच्छा'—बस एक यही है मर्म वहां!

उस ओर महल देखना खड़ा जगमग विद्युत के दीप जला!
ऐसी वह है झोपड़ी विवश होकर सहना ही जिसे भला!
सब ओर क्रान्ति की आग लगी, सब ओर एक तूफ़ान उठा!
'हम दलित नही रह सकते है'—सब ओर आज यह गान उठा!

कोई कहता—'रुक जाओ भी, रोकने तुम्हें दुश्मन आए'!
कोई कहता—'रुक जाओ भी, अस्तित्व न यह भी मिट जाए'!
सोचती झोपड़ी—'जीवन में जब नित नवीन विपदा आती';
जिनके हित मे दिन-रात मरूं, उनकी ठोकरें सदा खाती!

दुख देख-देख वह हसें और फ़रियाद न मैं करने पाऊं,
स्वीकार न अब भूखों मरना, कितना मैं तड़पूं, अकुलाऊं!'
जागी अब है झोपड़ी, जाग, उठ, तू भी ऐ सोने वाले!
सुन उधर क्रान्ति का नाद ज़रा, ओ दुख का अघ ढोने वाले!

अजेय सोवियत् रूस

श्री महादेव प्रसाद साहा

पिछले पौने दो वर्षों से जो लड़ाई चल रही थी, सोवियत्-जर्मन संघर्ष ने उसकी प्रकृति में मौलिक परिवर्तन ला दिया है। इतने दिनों तक लड़ाई दो विशाल-प्रतिद्वन्द्वी साम्राज्यवादों में हो रही थी। उनमें से एक बहुत दिनों से दुनिया के बड़े हिस्से का मालिक बना बैठा था, और दूसरा उस मालिकाने से उसे हटाकर खुद उस पर कब्जा करना चाहता था। उनमें से एक का बाहरी राष्ट्रीय ढाचा गणतान्त्रिक है, क्योंकि विश्वव्यापी विशाल सम्पदा का मालिक होने के कारण घर और बाहर दोनों तरफ से वह कुछ निश्चिन्त था, खुल्लमखुल्ला जबरदस्ती की उसे जरूरत नहीं थी। दूसरे का राष्ट्रीय ढाचा डिक्टेटरी है; क्योंकि भीतरी और बाहरी प्रतिरोध को दमन करने के लिए वहां के पूंजीपति वर्ग ने खुले आम नादिरशाही क़ायम की है। दोनों की शासन प्रणाली किसी भी तरह की क्यों न हो, उनका संघर्ष साम्राज्य के लिए, बाधाहीन अर्थनैतिक आधिपत्य के लिए और ससागरा पृथ्वी की सम्पदा के लिए चल रहा था।

इस युद्ध में सोवियत् सम्पूर्ण निरपेक्ष था। इनसे उसका फर्क बुनियादी है; विचार, चरित्र, आदर्श, आचरण आदि में वह इनसे बिल्कुल भिन्न है। सोवियत् यूनियन मज़दूर-किसानों का राष्ट्र है, वहां जो मेहनत करता है उसी को खाने का भी हक़ है, दूसरों से मेहनत करवा कर किसी को मालदार बनने का अधिकार नहीं है। शिक्षा-संस्कृति, ज्ञान-विज्ञान, खाने पीने, विश्राम, खेल-कूद, दवादारू, मनुष्य जीवन के लिए सभी ज़रूरी वस्तुओं पर सभी को बराबर अधिकार प्राप्त हैं। अतएव साम्राज्य-विस्तार या साम्राज्य रक्षा के लिए होने वाली लड़ाई से उसका ताल्लुक़ नहीं था, रह भी नहीं सकता था। इसलिए इस युद्ध में सोवियत् का रास्ता शान्ति का रास्ता था। उसे ध्वंस करने के लिए पूंजीवादी दुनिया से चेष्टायें होंगी, इसे वह भलीभांति जानता था। १९१७ की अक्तूबर क्रान्ति के बाद १९१८ के प्रारम्भ में दस पूंजीवादी राष्ट्रों की सेनाओं ने बोलशेविज्म के इस नवजात शिशु को ध्वंस करने के लिए तीन दिशाओं से उस पर आक्रमण कर दिया और प्रतिक्रिया वादी रूसी सेना पतियों ने उन्हें मदद दी। १९१८-२१ का यह युद्ध और घेरा जारी रहा। लेकिन लाल सेना तथा अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संगठन, विशेषत: इङ्गलैण्ड, फ्रांस के मजदूर आन्दोलन तथा बैवेरिया और हंगरी की सफल लाल क्रान्ति ने आक्रमणकारी शक्तियों को रूस खाली कर देने के लिए मजबूर कर दिया। बक़ौल लायड जार्ज के सिर्फ ब्रिटेन ने ही इस युद्ध में १५० करोड़ रुपये खर्च किए।

रूस पर जर्मनी का यह मौजूदा हमला २२ जून को शुरू हुआ है। इस हमले से महायुद्ध की प्रकृति बदल गई है। अब यह युद्ध दो साम्राज्य-वादों में नहीं, बल्कि दो दुनियाओं, नाज़ी और साम्यवादी जगत, के बीच है। इस युद्ध के नतीजे पर दुनिया के आम लोगों का भाग्य निर्भर होगा।

पिछले युद्ध के दौरान में ही सोवियत् यूनियन की पैदाइश हुई थी। आज एक दूसरी लड़ाई में उसकी तक़दीर का निपटारा हो रहा है। पूंजीवादी राष्ट्रों ने नाज़ियों को रियायतें दीं, रूस को नेस्तानाबूद करने के लिये पूर्व की तरफ बढ़ने को उसे उत्साहित किया (Drang nachosten Policy)। आज पूंजीवादी जगत के इन्हीं पापों का प्रायश्चित्त सोवियत् को करना पड़ रहा है।

इस संग्राम की अनिवार्यता सोवियत् नीति की पहली बात है। इसके लिए तैयारी की योग्यता ही उसका सबूत है। इस तैयारी का मतलब है सोवियत् की समुचित सामरिक शक्ति (Military strength) का सगठन, सोवियत् की युद्ध नीति (Strategy) का निर्माण; सोवियत् की कूटनैतिक (Diplomatic) तत्परता, और युद्धकाल का रणकौशल (Tactics)। इनमें में से एक की भी अवहेलना करने पर हमे समझना चाहिए की सोवियत् की राष्ट्रनीति वास्तव में वास्तविक राजनीति नहीं है; उसने साम्यवाद के मौलिक सिद्धान्त को ही नहीं समझा है; वास्तविक परिस्थिति (objective conditions) की उसने अवहेलना की है। उपर्युक्त बातों में अगर सोवियत् नही चूका है, तो उसके क्रान्तिकारी सघर्ष शील जीवन की सार्थकता के सम्बन्ध में किसी को रंच मात्र भी सन्देह नहीं होना चाहिए। उत्थान-पतनशील पृथ्वी की गति मे कुछ जगहो के सघर्षों मे क्षणिक दुर्घटना हो भी जाय, तो भी उसकी जीत अनिवार्य है।

प्रसिद्ध जर्मन युद्ध शास्त्र के विद्वान् क्लौसेविजा ने लिखा है—राजनीति युद्ध नीति की भूमिका मात्र है।

लेनिन ने १९२२ के नवम्बर मे कम्युनिस्ट इण्टर नैशनल के चौथे अधिवेशन मे कहा था—

"पहली बार हमें कुछ सीखने की सम्भावना दिखाई देती है। मुझे नहीं मालूम कि यह सम्भावना कब तक रहेगी। मैं नहीं जानता कि साम्राज्यवादी शक्तिया शान्ति और अमन के साथ कुछ सीखने की सुविधा देती रहेंगी? लेकिन जब तक हम युद्ध मे नहीं फसते तब तक एक एक क्षण हमें किसी न किसी बात को सीखने की ओर लगाना चाहिये। हमें शुरू से ही सारी बातें सीखनी हैं।"

कार्ल मार्क्स ने १८५१ में लिखा था—

"हमे मज़दूरों से कहना चाहिए—'तुम्हें १५ वर्ष, २० वर्ष, ५० वर्ष तक गृह-युद्ध और अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों के बीच से निकलना होगा, इसलिए नहीं कि तुम्हें वर्तमान परिस्थिति बदलनी है, बल्कि इसलिए कि तुम्हें अपने आपको बदलना है। राजनैतिक सत्ता के इस्तेमाल के लिए अपने को योग्य बनाना है।" (Revelations of the Communist trial at Cologne)

अगस्त १९२१ में लेनिन ने कहा था—

"इस समय सारे संसार में एक कम्युनिस्ट सेना मौजूद है। हालाकि यह सेना अभी न तो पूरी तरह संगठित है और न इसके पास अच्छे हथियार ही हैं। इस बात को नज़र अन्दाज़ करने या छुपाने में हमारे उद्देश्य को खतरा है। हमारा कर्तव्य है कि हम इस सेना को मज़बूत बनावे; इसका संगठन करें; इसको हर तरह के अन्दोलनो और युद्धों की तालीम दे; इसको हमला करना और पीछे हटना सिखावें। और अपने अनुभवो से दिन ब दिन इसको अधिक से अधिक सुसन्नद्ध बनाए। और बग़ैर मुश्किल और तकलीफदेह सबक़ सीखे हुए हमारी विजय नहीं हो सकती।" (Letter to the German Communist Party, Oct 1921)

सोवियत् राजनीति का इतिहास यहां लिखना फ़िज़ूल है। सिर्फ इतना ही याद रखना काफी होगा कि सोवियत् जानता है कि दुनिया की पजीवादी शक्तिया उसकी चिर शत्रु हैं। अपने जन्म काल से ही उसे प्रतिदिन इसका अनुभव करना पड़ा है। १९१८-२१ के गृह-युद्ध तथा विदेशी आक्रमण के अलावा, सोवियत् को ध्वंस करने की मंशा पजीवादी जगत की राजनीति को नियंत्रण करने वाली सबसे बड़ी चीज़ थी। १९३० के बाद पोप ने भी दुनियां के ईसाई तथा अन्य शक्तियों को मिलाकर इस नास्तिक राष्ट्र को ध्वस करने के पुण्यकार्य के लिए संगठित होने की अपील की थी। सितम्बर १९३८ में म्युनिख में दुनिया की शक्तियां रूस को छांट कर एकत्रित हुई थीं—ऐसा प्रतीत हुआ कि अब उसके विरुद्ध 'धर्म युद्ध' होने ही वाला है। सोवियत् कूटनीति की सफलता का यह सबसे बड़ा प्रमाण है कि म्युनिख की शक्तियां आज विभाजित हैं। सोवियत् जर्मन समझौते की इस विशेषता को

भूलने से काम नहीं चलेगा—पूंजीवादी राष्ट्र सोवियत् को ध्वंस करने के लिए एक नहीं हो सके। उनके भीतरी विरोध को इस तरह से बढ़ा देना सोवियत् राजनीति की प्रधान सफलता है, उसके वास्तव-बोध का प्रमाण है।

इस तरफ़ उसकी दूसरी सफलता है २२ महीने के दर्मियान में अपने सैनिक क्षेत्र को पश्चिम की ओर और भी बढ़ा लेना। पोलैण्ड अधिकृत सफेद रूस और यूक्रेनिया, रूमानिया द्वारा अधिकृत यूक्रेन, बेसारेबिया और बुकोविना, फिनलैण्ड का पूर्वी हिस्सा तथा तीनों बाल्टिक राष्ट्रों तक सोवियत् की सीमा पहुँच गई। लेकिन १९३९ में तुर्की की कमज़ोरी के कारण बलकान में सोवियत् राजनीति को बाधा मिली। दूसरी बाधा मिली फ़िनलैण्ड में। फिनलैण्ड को मैनरहिम के चगुल से मुक्त कर लेने मे ही सोवियत् की अधिक बुद्धिमानी साबित होती। पर ऐसा नहीं हुआ।

सोवियत् राजनीति की तीसरी सफलता यह है कि आज जर्मन अधिकृत यूरोप की शक्तियों का बहुत सा हिस्सा हिटलर की मुट्ठी में होते हुए भी दूसरी ओर नाज़ी शक्ति पिछले दो वर्षों में कुछ दूर तक क्षति-ग्रस्त भी हो चुकी है। वह एक जगह सगठित होने के बजाय अनेकों स्थानों में फैली हुई है। ज़रूरत पड़ने पर भी उन्हें वहा से हटाना नाज़ियो के लिए ख़तरे से ख़ाली नहीं है। इसके अलावा दो वर्षों की लड़ाई के तजुर्बे से फ़ायदा उठाकर सोवियत् ने अपनी सामरिक शक्ति और रणनीति में ज़रूरी सुधार तथा सगठन कर लिया है।

इससे सिद्ध है कि सोवियत् राजनीति की हार नहीं हुई है। बल्कि सोवियत् समर-शक्ति की परीक्षा शुरू हुई है।

आज की सामरिक शक्ति राष्ट्र के पूरे सामर्थ्य पर निर्भर करती है। आज की लड़ाई इस पार या उस पार की लड़ाई (Total war) है। इसीलिए युद्ध क्षेत्र आज घर से आंगन तक फैला हुआ है। युद्ध-सामर्थ्य का (Potantiality) उपादान प्रधानतः तीन प्रकार का होता है—(१) जनशक्ति; (२) धनशक्ति—सिर्फ सोना चादी ही नहीं, आधुनिक कल कारख़ाने तथा उनके उपकरण कच्चे माल, (३) युद्ध के लिए तैयारी, समग्र देश को युद्ध के लिए बिल्कुल तैयार रखना—सेना (जल, स्थल, नभ) का संगठन। इसके अलावा युद्ध कालीन आर्थिक व्यवस्था का चलन करके, युद्धोपयोगी मानसिक वातावरण तैयार करना। आज के जीवन की गति तेज़ होने के कारण, युद्ध भी 'बिजली की तेज़ी' से होता है। एक बार शुरू हो जाने पर दम मारने की फ़ुर्सत नहीं मिलती। इसीलिए एक विद्वान ने लिखा है—"अस्त्र शस्त्रों के बनाने की होड़ में जो जीतेगा, वही लड़ाई मे भी विजयी होगा"।

उपर्युक्त तीनों बातों मे नाज़ियों ने अपनी योग्यता का परिचय दिया है। युद्ध शुरू होने के समय उसकी शक्ति क्या थी, इसका ठीक ठीक पता लगाना मुमकिन नहीं पर युद्ध शुरू हो जाने पर जल्द से जल्द दुश्मन को ख़त्म करने के लिए कोई भी राष्ट्र अपनी ताकतों को छिपा नहीं रखता। ख़ासकर उस हालत मे जब दुश्मन प्रबल होता है।

सोवियत् की सामरिक शक्ति का ठीक ठीक पता हमे नहीं है। कुछ लोगों का कहना है कि रूस में सगठन शक्ति नही है, उसका सेना नायकत्व भी ख़त्म हो चुका है। ट्राट्स्की-बुख़ारिन षणयन्त्र के बाद फांसियों, कैदों आदि से सोवियत् के प्रथम कोटि के राजनीतिक तथा सामरिक नेता अब नहीं रहे। वह नेता-हीन तथा सगठन रहित-सा है। दूसरे समर-विशारदों का कथन है कि सोवियत् की तरह उद्यम, मेहनत और प्रतिभा कहीं भी देखने मे नहीं आई है। ठीक आंकड़ों का पता लगाना कठिन है, क्योंकि पूंजीवादी जगत को अपना शत्रु समझने के कारण उसे अपनी सामरिक शक्ति सम्बन्धी आंकड़ों को गुप्त तो रखना ही था। विभिन्न युद्ध सम्बन्धी तैयारियों की ख़बर रखने वाले लेखकों से सोवियत् सामरिक शक्ति का जो पता चलता है, उसी पर हमें निर्भर करना पड़ेगा। उन में से मैक्स वर्नर की "मिलिटरी

स्ट्रेंग्थ आफ़ दी पावर्स" प्रधान ग्रंथ है। १९३६-३७ तक का हिसाब इसमें मिलता है। इसके पहले से ही सोवियत् अपनी सामरिक शक्ति को फिर से संगठित करने लग गया था—१९२९-३२ के दर्मियान में प्रथम पंच वर्षीय योजना के साथ साथ प्राथमिक संगठन शुरू हुआ था। इसका दूसरा स्तर (Phase) ख़त्म हुआ १९३३ में, तीसरा स्तर १९३३-३४ में चौथा स्तर वरोशिलोव के नेतृत्व में १९३५-३९ तक चला। इसके बाद फ़िनलैण्ड की लड़ाई के बाद से इसका पाचवा यानी 'युद्ध युग' शुरू हुआ है। वर्नर के अलावा लिडल हार्ट, टम वीनथ्रिघम आदि की पुस्तकें, तथा इधर उधर के लेखों से हमे सोवियत् की सामरिक शक्ति का अनुमान लगाना होगा।

आक्रमण की आशका से सोवियत् को हमेशा तैयार रहना पड़ा है। अतएव शुरू से ही उसका आर्थिक सगठन आत्म रक्षा को ध्यान में रखकर किया गया है। अर्थात् युद्ध कालीन आर्थिक व्यवस्था सोवियत् ने १९३७ के पहले से ही चालू कर दी थी

सोवियत् की पच वार्षिक योजनाओं को उसकी सामरिक तैयारी से अलग नहीं देखा जा सकता और न तो दोनों में फ़र्क़ ही किया जा सकता है। इसलिए तीनों योजनाओं का संक्षेप में वर्णन कर देने से उसकी अर्थनीतिक तथा कुछ दूसरी तैयारियों का पता पाठकों को चल जायगा।

१९२८ की पहली अक्तूबर से पहली योजना शुरू हुई और ३१ दिसम्बर १९३२ अर्थात ४ वर्ष मे ख़तम हुई। ट्रैक्टर और हवाई जहाज़ बनने लगे। प्रथम योजना ने ही रूस को मशीनों के लिए स्वावलंबी बना दिया। पेट्रोल और कोयले की उपज में वह संसार में अव्वल हो गया। १९२८ के पहले कारख़ानों में ४९० करोड़ रूबल लगे थे। प्रथम योजना के अन्त में यह २४०० करोड़ हो गये। १९२८ में ७,२३,००० आदमी कारख़ानों में काम करते थे, १९३२ में वे ३१,२५,००० हो गये। १५०० नयी फ़ैक्टरियां खुल गईं। मशीन बनाने वाली मशीनों के उद्योग-धधे ने सोवियत् को बहुत प्रबल बना दिया।

दूसरी योजना १९३३ से शुरू हुई और ३७ तक ४½ वर्ष में ख़तम हो गई। प्रथम ४ वर्षों में ही ४६ अरब रूबल नये कारख़ानों के बनाने में लगाए गए। जब कि पहले वाली योजना में कुल ४४ अरब ही लगाये गए थे। खेती ९९ फ़ी सदी पंचायती हो गई। १९३७ में ७००० करोड़ पुड या साढ़े इकतीस अरब मन (१ पुड-१८ सेर) हुआ, जो कि १९१३ का दूना था। दूसरी योजना में १,३३,००,००,००,००० रुबल ख़र्च किये गये। यह रक़म पहली योजना में लगे हुए मूलधन की दूनी है। १९२९ से १९३७ के बीच में उसकी उत्पादक शक्ति ४२८ गुना बढ़ गई। १९३३ से १९३७ के बीच में मज़दूरी के लिए ३४,००,००,००,००० रुबल की जगह ८१,००,००,०००,०० रुबल ख़र्च किये गये।

तीसरी योजना—१९३८ की १ जनवरी से शुरू होकर ३१ दिसम्बर १९४२ को ख़तम होती। ट्रैक्टर, सोना तथा और भी कितनी औद्योगिक चीज़ों की उपज मे सोवियत् सयुक्त-राष्ट्र अमेरिका से आगे बढ़ कर अव्वल स्थान ग्रहण करता। तीसरी योजना ख़तम होने पर साम्यवादी समाज उस स्थान पर पहुँच जाता जहा अपने सामर्थ्य के अनुसार लोग काम करते और आवश्यकतानुसार सभी चीज़ें लेते।

खनिज पदार्थों की दृष्टि से भी सोवियत् को हम स्वावलंबी कह सकते हैं। उसके पास २६ खरब ५४ अरब टन अर्थात् संसार का ⅕ कोयला, ३ नील ५५ खरब ५७ अरब टन अर्थात् ५४८० फ़ी सदी खनिज पदार्थ हैं। इस तरह खनिज पदार्थ में उसका स्थान अव्वल है। वहा १० अरब ६१ करोड़ २० टन अर्थात् दुनियां का ५२ फी सदी लोहा है और इसमें भी उसका स्थान प्रथम है। मेगनीज़ का ⅔ सोवियत् में है। सोने की उपज में उसका स्थान दूसरा है।

ज़ार के ज़माने में सिर्फ़ काकेसस से ही तेल निकाला जाता था। बाकू इसका केन्द्र था। आज तेल के उद्योग में सोवियत् का स्थान दूसरा है। उसके विभिन्न इलाक़ों में तेल का पता चला है और

यहां ज़ोर शोर से तेल निकालने का काम जारी है। ये तेल क्षेत्र शत्रु के हवाई हमले के क्षेत्र से (Range) से दूर हैं। आज सोवियत् के पास ६३७ करोड़ टन या दुनियां का ३ तेल मौजूद है।

यहां जर्मनी और सोवियत् यूनियन के कच्चे माल की रफ़्नी की शक्ति की तुलना प्रतिशत के हिसाब से करेंगे।

	जर्मनी	सो० यू०
तेल	३०	१००
कच्चा लोहा	२८	१००
कच्चा तांबा	११	×
जस्ता	४८	१००
[illegible]	२५	५६
रुई	×	१००

(Max wuner—The Military Strength of Powers)

उपर्युक्त आंकड़ों का सीधा निष्कर्ष है कि सोवियत् के पास कच्चे माल की कमी नहीं है। तेल उसके पास इतना है कि वह दूसरों के हाथ बेच सकता है। एक युद्ध विशारद जर्मन सेनापति ऐमेन्सबर्ग ने कहा है कि तेल की नदी लगातार बहाने में असमर्थ होने से कोई भी देश युद्ध नहीं चला सकता। खाने की चीज़ों के लिए रूस निश्चिन्त है। उसके खनिज पदार्थ तथा खाने की चीज़ों के उत्पत्ति-स्थलों को प्रकृति ने इस प्रकार विभाजित कर रक्खा है कि अगर पश्चिम वाले उत्पादन स्थल शत्रु के हाथों में चले भी जाय, तो रूस का उन चीज़ों के लिए दूसरे का मुह नहीं ताकना पड़ेगा। एक दूसरी सुविधा यह भी है कि उसके उद्योग धधों तथा कच्चे मालों को उत्पन्न करने वाले स्थल पश्चिमी सीमा से इतनी दूर पर हैं कि मास्को तक पहुंच कर भी शत्रु हवाई हमला करके उन्हें नुक़सान नहीं पहुंचा सकता।

इस युद्ध की विशाल तैयारी है। १९३६ में ही रूसी हवाई जहाज़ के कारख़ानों में ५००० जंगी हवाई जहाज़ तैयार होते थे, और जर्मन कारख़ानों में आज भी ४००० से कुछ अधिक तैयार हो पाते हैं।

सोवियत् सेना के सगठन के सम्बन्ध में कुछ भी जानना सहज नहीं है—कई दिन पहले 'नयत् सुर्ख़ जेतुंग' नामक पत्र के बार्लिन स्थित सम्वाददाता के अनुसार वह इस प्रकार है:—

"यूरोपीय सीमान्त में इस समय सोवियत् की ११८ डिविज़न पैदल, १८ डिवीज़न घोड़सवार तथा ४० सशस्त्र (armoured) ब्रिगेड हैं। यूरोपीय रूस में २७ डिवीज़न पैदल, ५ डिवीज़न घोड़सवार तथा १ सशस्त्र ब्रिगेड मौजूद हैं। सुदूर पूर्व में २६ डिविज़न पैदल, ८ डिविज़न घोड़सवार तथा ५ सशस्त्र ब्रिगेड हैं।"

इस हिसाब को समझने के लिए यह जान लेना चाहिये कि १५ से १८ सेनाओं से एक डिविज़न बनता है; इसी प्रकार से ६० डिविज़नों को लेकर जर्मनी फ्रांस में घुसा था उस समय उसके साथ ३००० टैंक तथा ५००० युद्ध विमान थे। आज १५०० मील से भी अधिक लम्बे मोर्चे पर लड़ाई हो रही है। ऐसा कहा गया है कि दोनों तरफ़ से ९० लाख सेनायें लड़ रही हैं। आज इस बात को भी याद रखना चाहिए कि पैदल सेना भी मोटरलारी से चलती है, घोड़सवार भी उसी से चलते हैं—विशेष परिस्थिति तथा स्थल पर काम लेने के लिए सोवियत् ने विश्वविख्यात कज़ाक घोड़सवारों की सेना को नए सिरे से संगठित किया है।

सोवियत् तथा जर्मनी दोनों देशों में सामरिक शिक्षा अनिवार्य है।

मैक्स वर्नर के मतानुसार १९३६ में रूस के पास नीचे लिखी हुई सख्या से अधिक युद्ध सामान तैयार था।

हवाई जहाज़—सोवियत् १० हज़ार; जर्मनी १० हज़ार, युद्ध पोत (Warship)—सोवियत् १७३ (?); जर्मनी १२५, पनडुब्बियाँ (Sub marines)—सोवियत् १६४, जर्मनी ६९।

यह विवरण ठीक नहीं जंचता और इससे यह भी मालूम नहीं होता कि विभिन्न प्रकार के हथियार किस हद तक क्रियाशील हैं, उनके चलाने वालों की शिक्षा किस दर्जे की है। १९३८ तक की सोवियत् सामरिक शक्ति की विशेषता है उसकी विभिन्न तरह के हथियार तथा रिज़र्व सेनाओं की लाइनें। उसकी टैंकें जलचर हैं, उसके पास छोटी और विशालकाय दोनों प्रकार की टैंकें हैं। उसके हवाई लड़ाकों की संख्या लड़ाई के पहले १ लाख थी, युद्ध में पैराशूट का प्रयोग उसी ने पहले पहल किया। जर्मनी तथा दुनिया ने इसे रूस से ही सीखा।

हिटलर, गोयरिंग, रिबनट्राप आदि के अन्तरंग मित्र तथा ब्रिटिश-जर्मन एकता के हामी लार्ड लण्डनडरी ने अपनी पुस्तक मे सोवियत् सामरिक शक्ति के विषय में हिटलर से अपनी एक मुलाक़ात का ज़िक्र किया है। इस मुलाक़ात में हिटलर ने सोवियत् शक्ति के सम्बन्ध मे कहा था—

१—रूस के मुक़ाबले का मतलब १५ करोड़ व्यक्तियो के राष्ट्र का मुक़ाबला करना है।

२—भौगोलिक दृष्टि से रूस एक सुरक्षित राष्ट्र है।

३—ब्लाकेड (नाकाबन्दी) करके रूस को नहीं झुकाया जा सकता।

४—रूसी उद्योग धन्धों पर हवाई हमला नहीं हो सकता। चूंकि उसके औद्योगिक केन्द्र सरहद से ४ हज़ार से ६ हज़ार किलोमीटर दूर हैं।

यही चार बातें इस मुल्क को ख़तरनाक बनाने के लिए काफ़ी हैं। इनके अतिरिक्त लोगों को क्रान्तिकारी विचारों से भी शक्ति मिलती है। फिर जो लोग सोवियत् राष्ट्र के संचालक हैं, वे भी विश्व क्रान्ति की ज़ोरदार तैय्यारी में लगे हुए हैं। इसी उद्देश्य को सामने रखकर आधुनिक अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित एक सेना तैय्यार की गई है।

सोवियत् की वर्तमान उन्नति हर एक को सोचने का मौक़ा देती है। १९१७ मे रूस का पतन हो चुका था और रूस किसी योग्य न था। १९२० में गृह युद्ध ने उसके चिथड़े चिथड़े कर दिये थे। १९२४-२५ में उसके अन्दर जागृति के पहले लक्षण दिखाई दिये। तभी लाल सेना का संगठन हुआ। १९२७ में पहली पंच वर्षीय योजना बनी। १९३२ में दूसरी पंच वर्षीय योजना बनी जो इस वक्त बड़े ज़ोर शोर से चल रही है। रूस का व्यापार ठोस बुनियादों पर है। रूस के पास अपूर्व बलशाली लाल सेना है। शक्तिशाली टैंकों के दस्ते हैं। और दुनिया में सब से बड़ी हवाई शक्ति है। ये ऐसे वाक़यात हैं जिनको नज़रअन्दाज़ नहीं किया जा सकता।

सोवियत् सामरिक शक्ति के सम्बन्ध में राहुल सांकृत्यायन ने अपने एक लेख में लिखा—था उसकी सेना संसार की सबसे ज़बरदस्त सेना है जिसमें २५ लाख स्थायी सैनिक हैं, १ करोड़ ८० लाख रिज़र्व और १ करोड़ ३० लाख शिक्षित सैनिक हैं। उसकी हवाई सेना में १० हज़ार प्रथम श्रेणी के लड़ाकू विमान और ४० हज़ार साधारण सैनिक विमान हैं। १९३४ में ही उसकी नौ सेना में ८० विध्वंसक, ४४८ पनडुब्बिया, ५५० टारपीडो बोट और दूसरे बड़े बड़े सैनिक जहाज़, हल्के क्रूज़र, आधुनिक द्रुतगामी क्रूज़र, सुरंग बिछाने वाले जहाज, और नापने वाले जहाज़ हैं।"

सामरिक शिक्षा

सोवियत् शुरू से ही नवीन वैज्ञानिक पद्धति के पक्ष में रहा है। उसे उसने पूरी तरह से ग्रहण भी किया है। फ़ी सदी ५० अफ़सरों का निशाना अचूक है। हवाई जहाज़ चलाने में, टैंक चलाने में, टैंक के नायकत्व में, उनके नक़ली युद्ध (Manoeuvre) ने सभी देशो के दूतों को चकित कर दिया है।

युद्ध नायक दल

युद्ध नायकों की शिक्षा भी कड़ी होती है। १९३६ में एक लाख रिज़र्व अफ़सर थे और हर साल ४ हज़ार अफ़सर शिक्षा पाते थे। फ्रांसीसी मन्त्री पियेरको सोवियत् भूमि में सर्वत्र युद्ध-विज्ञान की

गवेषणा देखकर (१९३५) दंग रह गए। उन्होंने लिखा—"नायक लोग तरुण हैं; उनकी विचार शक्ति बलवान है, देखने ही से पता चल जाता है कि वे उद्योगी और बुद्धिमान हैं। उनकी कल्पना शक्ति भी विस्तृत होती है, उनके सीमाहीन कौतूहल तथा ज्ञान ने मुझे आश्चर्य में डाल दिया है।" हिन्दुस्तान के वर्तमान प्रधान सेनापति जनरल वावल १९३६ के एक नक़ली युद्ध को देखकर मुग्ध हो गये थे। युद्ध धुरन्धर ब्रिटिश विद्वान लिडेल हार्ट सोवियत् युद्ध नीति के विरोधी हैं। उन्होंने उनकी कड़ी समालोचना की है, तिस पर भी उन्हें स्वीकार करना पड़ा है कि—सोवियत् सेना सुशिक्षित, अनुशासनबद्ध तथा निपुण है। 'Europe in Arms'—Capt Liddel Hart P 30)। उन्होंने यह भी लिखा है दूसरे किसी भी देश के सैनिक विदेशी विचारों तथा नवीन सामरिक विद्या के तथ्य को जानने और अपनाने के लिए इतने उत्सुक नहीं होते हैं।" तुकाचेवस्की आदि दस हज़ार सेना के छोटे बड़े अफ़सरों को हटा देने से भी सेना को किसी प्रकार का स्थायी नुक़सान नहीं पहुँचा है, इसका कारण यह है कि सोवियत् शासन प्रणाली की भांति सोवियत् सेना भी व्यक्ति केन्द्रिक होने की जगह समूह केन्द्रिक है।

सोवियत् सेना की कमज़ोरियां

समालोचकों के मतानुसार सोवियत् सेना की कमज़ोरी इन बातों में है—(१) पुराने सेनापतियों का हटाया जाना; (२) बहुत तेज़ी से सेना तथा अस्त्र आदि के कारख़ानों के विकास; (३) किसी किसी कारख़ाने के मज़दूर जर्मन मज़दूरों की तरह निपुण नहीं हैं, (४) सोवियत् के कारख़ाने युद्ध क्षेत्र से दूर हैं। (५) ऐसा हो सकता है कि उसके बहुत से विमान पुराने ढंग के हैं और बहुत सी टैंकें भी पुराने तरह की हैं (६) अभी तक उसकी परीक्षा नहीं हुई है और फ़िनलैण्ड में उसने अपने बल का अच्छा परिचय नहीं दिया है। (७) जर्मनों की तरह रूसी भी संगठन कार्य में अभ्यस्त नहीं हैं।

युद्ध क्षेत्र ही रूस की इन कमज़ोरियों का खण्डन या समर्थन करेगा।

इसके अलावा एक त्रुटि यह भी बतलाई जाती है कि सोवियत् सेना तथा सेनापति वंश-परम्परा से सैनिक पेशे के लोग नहीं हैं—किसान मज़दूरों से उत्पन्न हुए हैं।

लालसेना की मज़बूती का कारण यह है कि उसकी सेना के सभी सैनिक राजनैतिक कार्यकर्त्ता हैं। वे सभी शिक्षित और समझदार हैं। अपने राष्ट्र तथा युद्ध के उद्देश्य को वे भली भांति समझते हैं। इसीलिए फ़ौज उनके लिए एक प्रकार से विद्यालय है। उसमें नीच ऊंच का भेद भाव नहीं है, जो पूंजीवादी देशों की सेनाओं में देखा जाता है। अफसर तथा साधारण सैनिक ड्यूटी के पश्चात बिल्कुल बराबर हैं। उनके रहन सहन में नाम मात्र का अन्तर है। वे सभी एक ही वर्ग के हैं। एक शब्द में कहा जा सकता है कि शिक्षा, संस्कृति और अपने आदर्श के ज्ञान में पूंजीवादी देशों के सैनिकों और सोवियत् सैनिकों में कोई तुलना नहीं। सोवियत् की लालसेना क्रान्ति की सेना है। दुनिया के किसी भी देश की सेना के पीछे इतना महान इतिहास और आदर्श नहीं है।

नाज़ियों ने भी एक भ्रामक आदर्श से अपने देश की सेना को उत्साहित किया है। आज इससे उन्हें बहुत सफलता भी मिली है। लेकिन इस बात को नहीं भूलना चाहिये कि दो ही एक ज़बरदस्त धक्कों से नाज़ियों के सब्ज़ बाग़ ख़त्म हो जायंगे। सोवियत् सेना के लिए इस प्रकार के किसी डर की सम्भावना नहीं है। उसका जन्म एक क्रान्ति के बीच से हुआ है और वह क्रान्ति भी उन्हीं की है।

सोवियत् की आक्रमण शक्ति

अब हम सोवियत् युद्ध नीति का हिसाब लगा सकते हैं। सबसे प्रधान बात है—आक्रमण शक्ति। लिडेल

मर्ट आदि के मतानुसार सोवियत् युद्धनीति आत्म रक्षा के युद्ध (Defensive war) पर विश्वास नहीं रखती है। वर्त्तमान जर्मन युद्धनीति की तरह वह गतिशील (Mobile) तथा आक्रमण मूलक है। उसकी आक्रमण शक्ति के उपादान हैं:—लाल हवाई सेना; उसके बमवाज़ विमान (T B 3) की २० हज़ार टन की तादाद में बम ढोने की शक्ति। दूसरी बात है उसकी हवाई लड़ाई की नीति—जैसे, शत्रु के मर्म स्थल पर घातक आक्रमण करना, हवाई युद्ध-स्थल में युद्ध मे पूरे सहयोग के साथ आक्रमण और ज़रूरत पड़ने पर झुण्ड के झुण्ड मे आगे बढ़ना। तीसरी बात है टैंक सेना (१९३५ में गुडरियन १० हज़ार टैंक, डेढ़ लाख ट्रैक्टर तथा एक लाख सामरिक मोटरें देखकर आश्चर्यान्वित हो गए थे। वर्नर का कथन है कि १९३८-३९ मे टैंक की संख्या २० हज़ार थी। पैदल तथा घुड़सवार सेना के साथ भी टैंकें रहती हैं। टैंकें अकेली नहीं चलती, वह एक समूह में (Mass) शत्रुओं की शक्ति को छिन्न-भिन्न करती हुई चलती हैं। चौथी बात है लाल घुड़सवार सेना, इसका भी टैंकों सा ही प्रयोग होता है। पाचवीं बात है तोपे तथा रसायनिक युद्ध की तैयारी। रासायनिक गवेषणा का काम सोवियत् ने बड़े ज़ोरों से चलाया है। वह इस बात को जानता है कि 'सभ्य जगत' उसके विरुद्ध इसका प्रयोग करने में नहीं चूकेगा।

सोवियत् युद्धनीति

असंख्य सेना, अपरिमेय युद्ध सामग्री तथा पूर्वी यूरोप का विस्तृत युद्ध-क्षेत्र—यही सोवियत् युद्धनीति को निर्धारित करने वाली पट भूमि (Back Ground) है।

सोवियत् युद्धनीति के पीछे सोवियत् दृष्टिकोण तथा सोवियत् भूमि की आवश्यकता है। यह दृष्टि-कोण वैज्ञानिक तथा क्रान्तिकारी है। इसकी पहली बात है, सोवियत् भूमि की रक्षा, और अन्तिम बात है—विश्व क्रान्ति। अतएव एक ही साथ वह आत्म रक्षा तथा आक्रमण (defensive and offensive) की नीति है—यही उसका महान क्रान्तिकारी समन्वय है।

इस बात को दुनिया की राजनीति की खबरें रखने वाले सभी लोग जानते हैं कि इसी राजनीति को विकृत रूप मे जर्मन पूंजीपतियों के स्वार्थ की रक्षा के लिए नाज़ियों ने भी ग्रहण किया है। पर दुनियां जानती है कि नाज़ियों के उत्थान के ग्यारह वर्ष पहले १६ अप्रेल १९२२ की रैपैलो की संधि के बाद ही सोवियत् ने इस युद्धनीति को अपनाया। ऐसा कहा जाता है कि उन युद्ध विशारदों में आधुनिक जर्मनी के फ़ील्ड मार्शल कैटल भी थे। इस नीति के दो सूत्रों मे ही इसकी पद्धति स्पष्ट हो जाती है—पहला सूत्र है आक्रमणात्मक प्रयास, और दूसरा है गतिशील युद्ध का, 'मैनोवर' का (Manoeuvre) प्रयत्न। इस गतिशील (Mobile) युद्ध को सोवियत् ने क्रान्ति के युग मे प्राप्त किया है।

नाज़ी युद्ध नीति भी इसी प्रकार की है। फ़र्क़ यह है कि नाज़ी 'तूफानी युद्ध' (BlitKreig) के अनुसार एक ही धक्के मे शत्रु को नेस्तनाबूद करना चाहते हैं। सोवियत् युद्धनीति है—"आक्रमण करो सर्वदा, एक पर एक हमला करो, सर्वत्र हमला करो, तभी शत्रु पर विजय पा सकोगे।"

युद्ध कौशल

युपर्युक्त नीतियों की परीक्षा होनी है। युद्ध कौशल मे जर्मनी आठ मोर्चों से अग्रसर होना चाहता है—मिंस्क के मोर्चे पर वह अधिक आगे बढ़ा है।

सोवियत् युद्ध कौशल कैसा होगा, इसके विषय मे कुछ कहना कठिन है, हो सकता है, विभिन्न मोर्चों पर विभिन्न कौशल काम में लाये गये और लाये जायंगे भी। यह कहा जा सकता है कि सोवियत् का अन्त किसी भी हालत में नहीं होगा—प्रत्यक्ष युद्ध में सोवियत् की पराजय होने पर भी सोवियत् गण सेना स्पेन तथा चीन की तरह उसे अपराजेय बनाए रक्खेगी। फिनलैण्ड या

बाल्टिक राष्ट्रों के खण्ड-युद्ध में जर्मनी की जीत भले ही हो जाय।

सोवियत् के युद्ध कौशल का दूसरा अङ्ग है इस जनसेना का उद्‌बोधन। एक तीसरा कौशल भी है। हमें उसे भी जान लेना चाहिए। इस नीति का प्रयोग नाज़ियों ने भी किया है। वह कौशल है—देश देश में, यहां तक की दुश्मन के देश में तथा सोवियत् के प्रति सहानुभूति शील जनगण को और विशेष कर मज़दूर-किसान तथा क्रान्तिकारी नौजवानों के समूह को क्रान्ति के पथ पर बढ़ाना।

पहिले तो सोवियत् का हर एक नागरिक उसकी रक्षा तथा शत्रुओं के विनाश के लिए अपने प्राणों की बाज़ी लगा देगा। अगर युद्ध की गति सोवियत् के विरुद्ध जाती नज़र आई, तो दुनिया के क्रान्तिकारी मज़दूर-किसान उसकी रक्षा के लिए अपना सर्वस्व निछावर कर देंगे। इसी अरसे में १९१९ की भांति जर्मनी के अधीनस्थ यूरोपीय देशों में क्रान्ति की लपटें समग्र नाज़ी शासित यूरोप के बन्धनों को भस्म कर देने के लिए दिखाई पड़ेंगी।

यह युद्ध क्रान्ति तथा प्रतिक्रिया शील शक्तियों में हो रहा है। अतएव अगर दुनिया के सभी देशों के क्रान्तिकारी, कम्यूनिस्ट प्रगति, शान्ति तथा स्वाधीनता के इच्छुक और नाज़ी विरोधी समूह दुनियां के जन साधारण के इस शत्रु के ख़िलाफ़ विद्रोह करने के लिए तैयार नहीं हो जाते हैं, तो हमें समझ लेना चाहिए कि सदियों के लिए उनकी ग़ुलामी की जंज़ीर और भी मज़बूत हो गई। उन्होंने अपने साथ तथा दुनियां के साथ विश्वासघात किया है। अपने पवित्र कर्त्तव्य में चूकने पर इतिहास उन्हें विश्वासघातक के सिवा और क्या कहेगा? लेकिन इस बात में सन्देह नहीं कि पिछले चौबिस वर्षों में दुनियां के सामने एक नवीन जगत की सम्भावना दिखाई पड़ी है। इसमें भी सन्देह नहीं कि सोवियत् के लिये दुनिया का हर एक क्रान्तिकारी मज़दूर किसान गर्व के साथ, आनन्द के साथ तथा चेतना के साथ अपना सर्वस्व निछावर कर देगा। युद्ध में पूर्वी यूरोप की भूमि क्रान्तिकारियों के गरम ख़ून से सिक्त हो जायगी। वे जानते हैं इसी में से नवीन जगत का, नवीन मानव का जन्म होगा। प्रत्येक क्रान्तिकारी के जीवन की सार्थकता इस बात में है कि वह इस कार्य के लिए कुछ भी बाक़ी उठा न रखे।



संतुलन

श्री अम्बिका प्रसाद वर्मा "दिव्य" एम० ए०

अपने मे मत भूल प्रिये !
अपने को कुछ और समझ मत,
तू भी जग की धूल प्रिये !

तू भी एक बदरिया आली
होना जिसे बरस कर खाली;
इने गिने सुख दुख के आंसू
श्वासों के संग झूल प्रिये !

तू भी एक लता उपवन की
झूला आहों के उन्मन की;
झूल झूल कर जिसे टूटना
समय-सरित के कूल प्रिये !

तू भी कलिका एक सुमन की
मदिर भरी मधु, लघु यौवन की;
जिसे बिखरना कुछ ही दिन में
मरघट में बन फूल प्रिये !

तू भी एक विहँग है वन की
अतिथि यहाँ पर कुछ ही क्षण की;
उड़ना है तुझको भी जग में
छोड़ विटप की मूल प्रिये !

कहले अपने को जो कहना
सबके सदृश तुझको रहना;
सहना मूक हृदय पर निर्दय-
जग के सारे शूल प्रिये !

'आ मिल गायें गीत !'

श्री कुमार मिश्र

उतरते हुये सावन का सुहावना मौसम, आकाश मेघाच्छन्न, रिम झिम बूंदें, बावली सी डोलती हुई दक्षिणी सुरभि—भला यह भी कोई मौसम है कार्यालय में फाइलों को उलटने का ? दूसरे कमरे में देखा 'विश्ववाणी' के सम्पादक महोदय गम्भीर भाव से किसी ऐतिहासिक लेख की विवेचना में व्यस्त थे। सोचा सम्पादक और साहित्यकार मे कितना अन्तर है ? सम्पादक क्या बिल्कुल नीरस जीव होता है ? इसी 'सावन मन भावन' पर भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने क्या सब कुछ भूल कर नहीं लिखा—

यह सावन मास सुहावन है, मन भावन या में न शोक करो,
जमुना पे चलो जु सबै मिल के, औ गाय बजाय के शोक हरो;

और वे केवल यहीं तक नहीं रुके। मर्यादा की सीमा लांघकर उन्होंने तरुणियों से विनती की—

हरिचन्द की तुमसों यही विनती यहि पार्वे पतीव्रत ताखें धरो !

टीकाकार शायद कहें कि पतीव्रत से कवि का तात्पर्य व्यावहारिक दायरे से निकल कर अपने व्यक्तित्व को चेतना देना है। बहरहाल बूंदनियों का तार आत्म विस्मृत कर देने वाला समा बांध देता है। तभी तो कवि श्रेष्ठ श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने वर्षा मङ्गल पर कहा है—

शशि-तारा-हीना अन्ध तामसी यामनी,
कहां आज विस्मृत विह्वल फिरतीं सारी पुरकामिनी ?
चमके दीप्त दामिनी,
शून्य पड़ी है सारी शय्या कहां गईं पुरकामिनी ? (अनुवाद)

और कवि श्रेष्ठ स्वयं उत्तर देते हैं—

आई वरषा आई नूतन वरषा
विगलित करुणा लेकर आई वरषा
सन सन बहता पवन आज वन वीथिका
आज गीत मय हुई सभी तरु लतिका;
युग सहस्र से कवि छाये आकाश
तुमुल नाद से मत्त मदिर वातास,
शत शत युग की गीतिका
आज सहस्रों गीतो से मुखरित सारी बन वीथिका ! (अनुवाद)

न मैं वियोगी हूं और न यक्ष और न कोई विरह-विधुरा यक्ष सुन्दरी ही दूर काशमीर में बैठी हुई मेरी प्रतीक्षा कर रही है। और न मैं कवि हूं अन्यथा कवि शिरोमणि कालिदास की तरह मेघों को दूत बनाकर किसी काल्पनिक विरहणी के पास उसके प्रियतम का सन्देशा ही भेजता।

पवन में उड़ती हुई फुहारें दिल में एक टीस पैदा कर रही थीं। कुछ अनमना सा सम्पादक महोदय के टेबुल पर जा बैठा। सहसा श्री उपेन्द्र नाथ 'अश्क' की लिखी और हिन्दुस्तानी एकेडमी इलाहाबाद की

प्रकाशित 'उर्दू काव्य की एक नई धारा' पुस्तक पर निगाह पड़ी। बरसात के मौसम पर उर्दू कवियों के मीठे मीठे गीत पढ़कर तबियत फड़क उठी। उर्दू कविता में इतना ज़बर्दस्त परिवर्तन हो रहा है हम हिन्दी वालों को पता तक नहीं। उर्दू कवि अब ग़ज़लों के बजाय छोटे छोटे सरल गीतों में अपने हृदय का अन्तस्तल खोल रहे हैं।

उर्दू के एक शायर 'कैस' गीतों का निमंत्रण देते हुए लिखते हैं—

आ मिल गायें गीत !
नीली नीली बदली छाई, ठंडी ठंडी वायू आई,
हलकी हलकी बूंदें बरसें, नैन तेरे दर्शन को तरसें,
आमिल गायें गीत ! साजन, प्रीत हमारी रीत !
मन्द मन्द कलियां मुसकाएं, झूम झूम बेलें लहराएं,
तुम बिन रह रह जी घबराए, तू आये तो मन कल पाये,
यह अगिनी हो शीत ! साजन, प्रीत हमारी रीत !
आ मिल मिल कर झूला झूलें, जग के सारे संकट भूलें,
सैर करें हम प्रेम नगर की, आजा, बरखा की यह रुत भी,
जाय न यों ही बीत साजन, प्रीत हमारी रीत !

जब इस याचना पर भी साजन नहीं आता तो 'कैस' की वियोगन दुख की पीड़ा सहकर कहती है—

किस बिध बीतेगी, उन बिन काली रात ?
बिजली पल-पल छिन-छिन तड़पे, बादल कड़-कड़, कड़-कड़ कड़के,
पानी रिम-झिम रिम-झिम बरसे, आई यौवन पर बरसात !
मैं भरती हूँ ठण्डी आहे, मैं तकती हूँ उनकी राहे !
वह, औ मुझ पापिन को चाहें ? यह तो है अनहोनी बात !
क्या जाने क्या गुजरे मुझ पर ? जी घबराता है रह रह कर !
ऐसा सूना है उन बिन घर—जैसे कोई रुख बिन पात !

'वक़ार' की नायिका का प्रियतम परदेस में रहा है—किन्तु फिर भी इतना निर्दय है कि भरी बरसात में अपनी प्रियतमा को छोड़कर चला जाना चाहता है ! और भय की मारी वह उससे मिन्नत करती है :—

प्रीतम, रहजा आज की रात !
आज की रात जिया घबराए, आज की रात गई कब आये ?
सुन जा मन की बात, प्रीतम, रह जा आज की रात !
बिजली कड़के, बादल बरसे, आज की रात निकल नहिं घर से,
देख भरी बरसात प्रीतम, रह जा आज की रात !
आज की रात हिया मोरा धड़के, आज की रात आंख मोरी फड़के,
जोड़ रही हूँ हाथ, प्रीतम, रह जा आज की रात !

और उसके प्रियतम का दिल भी क्या कठोर है कि वह मिन्नतें करने पर भी नहीं रुकता और चला ही जाता है, रह जाती है वियोगन जो पपीहे की कूक पर निःश्वास भरती हुई कहती है —

कूक पपीहे, कूक !
बादल गरजे रैन अंधेरी, सूनी-सूनी दुनिया मेरी,
जीना मेरा हो गया दूभर, आंख लगे न भूक !
कूक पपीहे, कूक !
तू बनवासी खुलकर रोए, मेरा रोना मुझे डुबोए !
तेरी तरह मे नेह लगाया, चूक गई मैं चूक !
कूक पपीहे, कूक !
मैं भी अकेली, तू भी अकेला, मोह का सागर, दुख का रेला,
तेरे गले में पी का फन्दा, मेरे मन में हूक !
कूक पपीहे, कूक !

एक दूसरी विरहणी है जो 'आषाढ़स्य प्रथम दिवसे' से अपने प्रियतम की प्रतीक्षा कर रही है। दिन पर दिन बीतते जाते हैं, आषाढ़ पूरा गया और अब सावन भी बीता जा रहा है और कवि इन्द्रजीत के शब्दों में वह म्लान और कातर अपनी सहेली से कहती है :—

सावन बीता जाये, सजनी, प्रीतम घर नहिं आये,
कैसे काटू रात बिरह की, नागन बन बन खाये !
ठंडी ठंडी पुरवा सनके, बादल घिर-घिर छाये,
नन्ही नन्ही बूंदें टपकें, औ बिजली लहराये !
याद पिया की मेरे दिल को, रह रह कर तड़पाये,
सावन बीता जाये, सजनी, प्रीतम घर नहिं आये !
मोर, पपीहा, झींगर, सारस, मिलकर शोर मचायें,
नाचें कूदें करें कलोलें, फूले नहीं समायें।
सावन बीता जाये, सजनी, प्रीतम घर नहिं आये !
कुंज कुंज में पड़े हैं झूले, मिलकर सखियां झूलें,
पींग बढ़ाएं, तान उड़ाएं अपने मन में फूलें;
हंसी ख़ुशी की बात यह मेरे, मन को और जलाये,
सावन बीता जाये, सजनी, प्रीतम घर नहिं आये !

सावन का यह महीना, घटाएं घिर रही हैं, जगह जगह झूले पड़े हुए हैं—और वियोगन प्रियतमा उर्दू के किसी अज्ञात कवि के शब्दों में सोचती है—

उमंग इक जी मे उठ रही है, घटाएं घिर घिर के छा रही हैं,
पड़ोसिनें झूलने को झूला, घने घने घन मे जा रही हैं।
कहीं पै बादल बरस रहे हैं, कहीं पै बिजली चमक रही हैं;
हरी हरी डालियों पै चिड़ियां, जगह जगह चहचहा रही हैं।
लगा है सावन घिरा है बादल, पड़ा है झूला, लगी हैं लड़ियां;
बड़े बड़े पींग चल रहे हैं, पड़ोसिनें गीत गा रही हैं।
इधर पपीहे की 'पी कहां,' छेड़ती है बैठे बिठाये मुझको;
उधर निगोड़ी ये कोयलें और भी मेरा जी जला रही हैं।

जहां जहां पड़ चुका है पानी, भरी हुई हैं वहां की झीलें ;
और उसमें जाकर सुहागनें सब मिल झपाझप नहा रही हैं।
हमें नहीं चैन बिन तुम्हारे, अकेले घर में उलझ रही हैं,
पहाड़ से दिन सता रहे हैं, सुहानी रातें रुला रही हैं।
हो तुम तो परदेस में ऐ साजन, मैं कैसे काटूंगी इन दिनों को ?
ऐ मेरे प्यारे तुम्हारी बातें, बहुत कलेजा दुखा रही हैं।

वर्षा के तार पृथ्वी को जल मग्न बना रहे हैं—वसुधा की तपन तो मिट चुकी मगर वियोगन की तपन को कौन बुझाए ? कवि हफ़ीज़, होशियारपुरी के शब्दों मे वह चीत्कार कर उठती है—

आग लगे इस मन को आग !
लो फिर रात विरह की आई, चारों ओर उदासी छाई,
जान मेरी तन मे घबराई, अपनी किस्मत अपने भाग !
आग लगे इस मन को आग !
काली औ बरसाती रैन, उस बिन नींद को तरसें नैन,
जिसके साथ गया सुख चैन, उसकी याद कहे, अब जाग !
आग लगे इस मन को आग !
जिस दिन से वह पास नहीं है, कोई खुशी भी रास नहीं है,
जीने तक की आस नहीं है, जान को है अब तन से लाग !
आग लगे इस मन को आग !
कौन जिए औ किसके सहारे, मीठे मीठे बोल सिधारे,
गीत कहां वे प्यारे प्यारे ? अब वह तान न अब वह राग !
आग लगे इस मन को आग !

फिर ताना देते हुए कहती है :—

दरस दिखाकर जो छिप जाए, कौन उससे प्रीत लगाए ?
क्यों अपनी कोई दसा सुनाए, छोड़ मुहब्बत का खटराग ?
आग लगे इस मन को आग !

मगर ताना देकर क्या कभी वियोगन के जी को शान्ति मिलती है ? सूना घर और उदास रातें उसे खाए जाती हैं, कवि फ़ाख़िर, हरियानवी के शब्दों में उसे अब भी उम्मीद है अपने प्रियतम के लौटने की और जी की उमगें पूरी होने की :—

घर है सूना रात उदास ?
दीरघ दिन अंधियारी रातें, कैसे गुजरेंगी बरसातें !
झूठी थीं सब उनकी बातें, रहता है अब यह विश्वास !
घर है सूना रात उदास !
मैं दुखियारी प्रीत की मारी, पड़ गई मुझ पर विपदा भारी,
मन में सुलग रही अंगियारी, कौन बुझाए दिल की प्यास ?
घर है सूना रात उदास !

छाई हैं घनघोर घटाएं, चलती हैं पुरशोर हवाएं,
मन का मीत अगर आ जाए, तो पूरी हो मन की आस।
घर है सूना रात उदास!

और प्रियतम भी कैसा बेदर्द है जो लौटता ही नहीं। वेदना की लम्बी रातें उसके मन मे प्रतिक्रिया उत्पन्न करती हैं, और वह कवि अहसान के शब्दों में निराश होकर कहती है :—

सीस नवाकर झरना रोए, छोड़ के उत्तम देस।
उसकी चिन्ता राम ही जाने, जिसका पी परदेस॥
सावन औ फिर काली बदली, बूंदनियों के तार।
रीत जगत की प्रीत से खाली, सपना है संसार॥

और इस प्रतिक्रिया के बाद वह मीरा के गिरधर गोपाल की ओर झुकती है। वह मोहब्बत का खटराग छोड़कर और सपने के संसार की माया तोड़कर कन्हैया के दर पै अटकती है। और निराकार के उपासक अनेक मुसलमान कवि भी वियोगन को बन्शी की ध्वनि सुनाते हैं, गोकुल की सैर कराते हैं और वृन्दावन के कुंज बनों में घुमाते हैं। और क्या दुनिया ने भी कृष्ण से बढ़कर वियोगनों की टेक रखने वाला कोई प्रियतम पैदा किया है? लेकिन यह भी सत्य है कि वियोग की सीढ़ी के सहारे ही उनके प्रेम मन्दिर तक पहुँचा जा सकता है। कवि नश्तर, जालन्धरी ऐसी ही एक वियोगन का चित्र खींचते हैं :—

तड़प तड़प कर भोर हुई थी, न आया पैग़ाम!
कन्हैया उजड़ चला मन - ग्राम
बादल गरजे, बिजली चमके उठीं घटाएं श्याम!
कन्हैया उजड़ चला मन-ग्राम!
आंख मे आंसू, कसक हृदय में, फिर आई है शाम!
कन्हैया उजड़ चला मन-ग्राम

'नसीम' नामक एक दूसरे कवि के शब्दों में—

घटाएं घिर आईं घन घोर,
हवाएं चलती हैं पुर शोर!
मस्त पपीहा,
बेसुध कोयल,
औ पागल है मोर!
घटाएं घिर आईं घन घोर।
बिजली चमके,
बादल बरसे,
आन मिलो चित चोर!
घटाएं फिर आईं घन घोर,
हवाएं चलती हैं पुर शोर!

अन्त में वियोग की यह तपस्या अपना वरदान लाती है और वृन्दावन की कुंज गली से अख्तर शेरानी की वियोगन के कानों में बांसुरी की धुन सुनाई पड़ती है:—

बरसात का यह मौसम, यह नीलगूं[1] घटाएं,
यह बाग़ो बन का आलम, यह गुलफ़िशां फ़िज़ाएं,[2]
यह रस भरी हवाएं।
यह रंगोबूके तूफ़ां, यह बिरज के नज़ारे,
यह जन्नती ख़याबां[3], जमना के यह किनारे,
यह सीन प्यारे प्यारे।
यह कोयलों की कू कू, यह मोर की सदायें,[4]
यह नाज़नी ने आहू,[5] और यह ग़रीब गायें,
यह नश्शा गूं फ़िज़ाएं !
सब्ज़ा[6] निखर रहा है, वादी[7] महक रही है,
नश्शा बिखर रहा है, बुलबुल चहक रही है,
फ़ितरत[8] बहक रही है !
यह कौन इस समय में, बंसी बजा रहा है,
इस दर्जा मस्तलय में, उलफ़त[9] लुटा रहा है,
नग़में बहा रहा है।
शायद कोई रिषी है, सन्यास की लगन में !
शायद कोई मुनी है, मसरूफ़[10] कीर्तन में।
तौहीद[11] के भजन में !
हां आओ पास चल कर, पूछें कि नाम क्या है ?
तलवों से आखें मलकर, पूछें कि काम क्या है ?
इसका पयाम[12] क्या है ?
ठहरो ज़रा, निगाहें पहचानती हैं इसको,
फ़ितरत की जलवा गाहें,[13] सब जानती हैं इसको
औ' मानती हैं इसको !
हां, हां यह बंसी वाला, चूकी नज़र हमारी.
यह बिरज का गवाला, है नन्द का मुरारी।
औ' आरज़ू[14] हमारी !
बंसी मे से परेशां, नग़में मचल रहे हैं,
या सैकड़ों गुलिस्तां, करवट बदल रहे हैं,
औ' फूल उगल रहे हैं।

और अख़तर शेरानी भी क्या शायर हैं। वे बांसुरी की धुन में तन्मय होते हैं लेकिन अपने को खोते नहीं। यदि एक ओर वे कृष्ण की बंशी ध्वनि सुनते हैं तो दूसरी ओर मज़दूरों और किसानों की इस दुनिया

---

१ नीली २ फूल बरसाने वाला, ३ स्वर्गीय क्यारियां, ४ स्वर, ५ मृग छौनी सी तरुणी, ६ हरियाली, ८ प्रकृति ९ प्रेम १० निमग्न, ११ परमात्मा के भजन में, १२ संदेश, १३ जहां प्रकृति अपने पूर्ण प्रकाश में रहती है, १४ आकांक्षा।

में चक्की की सदा पर देहाती गीत गाते हुए एक ग्रमीण बाला के दुःख को भी वे नहीं भूलते। उसकी कसक को वे अत्यन्त मर्मस्पर्शी शब्दों में व्यक्त करते हैं:—

सुनो यह कैसी आवाज़ आ रही है ? कोई गावों की लड़की गा रही है।
सहर के धुंधले धुंधले मंज़रों[1] को, शराबे नग़मां[2] से नहला रही है।
उठी है शायद आटा पीसने को, कि चक्की की सदा[3] भी आ रही है।
ग़मों से चूर अपने नन्हे दिल को, तराना[4] छेड़कर बहला रही है।
फ़िज़ा पर, बस्तियों पर, जंगलों पर, धुआंधार एक बदली छा रही है।
छमाछम मेह की बूंदें पड़ रही हैं, कि सावन की परी कुछ गा रही है।
ये बादल हैं कि हैं सावन के सपने, हवा जिनको उड़ाकर ला रही है।
यह बिजली है कि इक मरमर की नागिन, धुंए के झील पर लहरा रही है।
यह बूंदें हैं कि बिजली आसमां से, सितारे तोड़कर बरसा रही है।
यह बादल की गरज, बिजली का कड़का, ख़ुदाई सारी लरज़ी[6] जा रही है।
मगर वह ग़मज़दा[7] मासूम[8] लड़की, बराबर गीत गाए जा रही है।
यह घर सुसराल होगा शायद इसका, जभी मां बाप की सुध आ रही है।
जभी मसरूफ़[9] है आहो फ़ुग़ां[10] मे, जभी ग़मगीन लय में गा रही है।

और सर्द आहें भरकर यह ग्रामीण बाला कहती है—

यह बरखा रुत भी बीती जा रही है।
हवा जो गांव को महका रही है, मेरे मैके से शायद आ रही है।
घटा की ऊदी-ऊदी चुनरियों से, मेरी सखियों की बू-बास आ रही है।
मुझे लेने न आये अच्छे बावल, तुम्हारी याद आफ़त ढा रही है।
मेरी अम्मा को हो इसकी ख़बर क्या, कि चंपा इस जगह घबरा रही है।
न ली भैया ने भी सुध बुध हमारी, जहां से चाह उठती जा रही है।
भला क्यों कर थमें आंसू कि जी पर, उदासी की बदरिया छा रही है।
गया पींगें बढ़ाने का ज़माना, वह अमरय्यों पै कोयल गा रही है।
यों ही वह अपनी ग़मगी रागनी से, दरो दीवार को तड़पा रही है।

उर्दू के ये हिन्दू और मुसलमान कवि इतनी सीधी और सरल भाषा में प्रेम के जिन गीतों का निर्माण कर रहे हैं वे क्या हमें एक युग परिवर्तन की सूचना नहीं देते ? हमारे भाषाकार इसी बहस मे पड़े हुए हैं कि भाषा का रूप संस्कृतमय हो या फ़ारसीयुक्त। जगह जगह सभायें होकर आवाज़ें सुनाई देती हैं 'हिन्दुस्तानी भाषा का बहिष्कार करो,' मानों भाषा आन्दोलनकारियों द्वारा गढ़ी जाती है ? मैं सोचने लगा ये मुसलमान कवि सरल हिन्दुस्तानी भाषा में भारतीय संस्कृति की छाप लगाकर जो साहित्य सृजन कर रहे हैं क्या वह हिन्दुस्तानी के विरोधियों को करारा जवाब नहीं है ?

---

१ दृश्यों. २ संगीत की सुरा, ३ आवाज़, ४ संगीत, ५ प्रकृति, ६ कांपी, ७ दुखी, ८ सरल हृदय, ९ व्यस्त, १० शोकोद्गार।

प्राचीन जीवन के सुकुमार विनोद

श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी

यदि 'रस' भारतीय साहित्य की अपनी विशेषता है और निस्सन्देह बहुत ही महत्वपूर्ण देन है, जो भारतवर्ष ने संसार के साहित्य को दिया है, तो फिर प्रश्न यह है कि क्या कारण है कि 'रस' को प्रधान वस्तु समझ कर भी भारतीय कवि और काव्य शास्त्री काव्य में ऐसी बहुत सी शब्द-चातुरी को स्थान देते हैं, जिनका 'रस' से कोई सम्पर्क नहीं। अक्षरच्युतक, मात्राच्युतक, बिंदुमती प्रहेलिका[1] आदि के साथ रस का कोई सीधा सम्बन्ध तो है ही नहीं उल्टे जैसा कि विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में कहा है ये रस के परिपंथी हैं। फिर यमकों, अनुप्रासों और चित्र-काव्यों की लम्बी सूचियां जो दण्डी आदि प्राचीन आलंकारिकों के ग्रन्थों में अनायास मिल जाती हैं, क्यों इतना महत्वपूर्ण स्थान अधिकार कर सकीं? दण्डी, भामह और रुद्रट जैसे आचार्य क्या समझ नहीं सके थे कि ये शब्दों की भूलभुलैयां काव्य की कोटि में नहीं आ सकतीं? इसी तरह अन्य शास्त्रों मे भी प्रश्न उठते हैं। इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये हमें थोड़ा और विचार कर लेने की जरूरत है। आगे हम इसी विचार का प्रस्ताव करते हैं।

जिन दिनों संस्कृत के बड़े बड़े काव्य लिखे गये थे, उन दिनों की सामाजिक स्थिति आज ही जैसी नहीं थी। उन दिनों का सहृदय कैसा होता था यह जाने बिना उस युग के काव्य-प्रयत्नों को हम ठीक ठीक नहीं समझ सकते। सहृदयों को लक्ष्य करके ही ये काव्य लिखे गये थे। ये सहृदय अधिकतर शहर के रहने वाले या 'नागर' थे। उन्हें खास खास कलाओं का अभ्यास कराया जाता था और उनके मनोविनोद के साधनों में काव्य-चर्चा का

१—अक्षरच्युतक—ऐसा श्लोक जिसमे से एक अक्षर हटा देने से दूसरे कवि-वांछित अर्थ की प्रतीति हो। जैसे—'कुर्वन्दिवाकराश्लेषं दधच्चरणडम्बरम्। देव यौस्माकमेनायाः करेणुः प्रसरत्यसौ।' इसका अर्थ यह है कि हे महाराज तुम्हारी सेना का करेणु (हाथी) सूर्य के बिंब को ढकता चलने का आडंबर करता हुआ फैल रहा है। इसमें 'करेणु' शब्द का 'क' अक्षर हटा दें, तो 'रेणु' (=धूल) रह जायगा और अर्थ स्पष्ट हो जायगा।

मात्राच्युतक—ऐसा श्लोक जिसमें एक मात्रा। (आकार, इकार आदि) हटा देने पर कवि वांछित अर्थ प्रकट हो जाय।

बिंदुमती—ऐसा श्लोक जिसमें अक्षरों की जगह पर बिंदु देकर मात्रायें दी गई हों। इन बिंदुओं पर से श्लोक को पढ़ना होता है—जैसे—

ि० ००० ०ू०।० ०ं ि० ०ं ि०ोः ०ु०ु० ० ०ो ०ं ०ु:।

अर्थात् त्रिनयन चूड़ा रत्नं मित्रं सिंधोः कुमुद्वती बंधुः।

प्रहेलिका—ये पहेलियां हैं जिनके अनेकानेक भेद शास्त्र में बताये गये हैं। कभी श्लोक के भीतर ही इनका जवाब होता है कभी बाहर। किसी किसी ने इसके दो भेद किये हैं शाब्दी और आर्थी। अनावश्यक समझ कर इनका यहां विस्तार नहीं किया गया।

एक महत्वपूर्ण स्थान था। उन दिनों किसी भी पुरुष को, जो राज सभा और सहृदय गोष्ठियों में प्रवेश करने की इच्छा रखता था, अपने को इन गोष्ठी चर्चाओं का उपयुक्त पात्र प्रमाणित करना पड़ता था। कादंबरी में वैशम्पायन नामक तोते को जब चाण्डाल-कन्या राजा शूद्रक के पास ले गई, तो उसके साथी ने उस तोते में उन सभी गुणों का उल्लेख किया, जो राज-सभा में सदस्य होने की योग्यता प्रमाणित करते थे। उसने कहा था[1] कि यह तोता सभी शास्त्रार्थों को जानता है; राजनीत प्रयोग में कुशल है, पुराण-इतिहास की कथा कहने में निपुण है, गान और बाईस श्रुतियों[2] का जानकार है काव्य, नाटक, आख्यायिका आख्यानक, इत्यादि अनेकानेक सुभाषितों का पाठक और कर्ता है परिहासालाप में चतुर है, वीणा, वेणु मुरज आदि वाद्यों का अतुलनीय श्रोता है नृत्त प्रयोग के देखने में निपुण है चित्र कर्म में प्रवीण है द्यूत-व्यापार में प्रगल्भ है प्रणय कलह में कोप की हुई मानवती प्रिया का प्रसन्न करने में चतुर है और हाथी, घोड़ा, पुरुष और स्त्री के लक्षणों का जानकार है। इसी ग्रंथ में आगे चलकर राजकुमार चंद्रापीड़ की शिक्षा के प्रसंग मे बताया गया है कि उन्हें निम्न लिखित क्रियायें सिखाई गई थीं[3]—पद, वाक्य, प्रमाण, धर्मशास्त्र राजनीति, व्यायाम विद्या, चाप-चक्र-चर्म-कृपाण-शक्ति-तोमर-परशु-गदा-प्रभृति हथियारों का चलाना रथचर्या, हस्तिपृष्ठ, वीणा-वेणु-मुरज-कांस्य-ताल-दर्दुर-प्रभृति वाद्यों का बजाना, भरतादि प्रणीत-नृत्त-शास्त्र, नारद प्रणीत गांधर्व वेद, हस्ति शिक्षा, घोड़े की उमर पहचानना, पुरुष लक्षण, चित्र कर्म, पत्रच्छेद्य, पुस्तक-व्यापार, लेख्य कर्म, समस्त द्यूत कलायें, पक्षियों की आवाज पहचानने की विद्या, ग्रहगणित, रत्न-परीक्षा, दारुकर्म (बढ़ई का काम), हाथीदांत का व्यवहार, वास्तु विद्या, आयुर्वेद, मंत्र प्रयोग, विष दूर करना, सुरंगभेद, तैरना, लांघना, कूदना, इंद्रजाल, कथा, नाटक, आख्यायिका, काव्य, महाभारत-पुराण-इतिहास-रामायण, सभी लिपियां, सब देशी भाषायें, सभी संज्ञायें या परिभाषायें, सभी शिल्प, छन्द और अन्यान्य कलायें। यह समझना भूल होगा कि काव्य ग्रंथों में बताई गई ये कलायें और उनकी शिक्षा एक कवि कल्पित व्यापार है। वात्स्यायन का काम सूत्र निश्चित रूप से कवि की कल्पना नहीं है, बल्कि वास्तविक परिस्थितियों का बताने वाला ग्रंथ है। इस ग्रंथ के अनुसार उन दिनों के नागरकों का जिन चौंसठ कलाओं का अभ्यास करना आवश्यक माना जाता था, उनमें काव्यांगों और अन्य ललित कलाओं का ज्ञान आवश्यक अंग है। वह नायक गुणवान् माना जाता था जो विद्वान् हो, आख्यान-कुशल या अच्छी कहानी कहने वाला हो, वाग्मी हो, विविध शिल्पों को जानने वाला हो, उत्साह-परायण हो, त्यागी हो, मित्र

१—विदितसकलशास्त्रार्थः, राजनीतिप्रयोगकुशलः, पुराणेतिहासकथालापनिपुणः वेदिता गीतश्रुतीनां, काव्यनाटकाख्यायिकाख्यानकप्रभृतीनामपरिमितानां सुभाषितानामध्येता स्वयं च कर्ता, परिहासालापपेशलः, वीणावेणुमुरजादीनामसमः श्रोता, नृत्तप्रयोगदर्शननिपुणः चित्रकर्मणि प्रवीणः द्यूतव्यापारे प्रगल्भः, प्रणयकलह-कुपितकामिनीप्रसादनोपायचतुरः गजतुरंगपुरुषस्त्रीलक्षणाभिज्ञः सकलभूतलरत्नभूतोयं वैशम्पायनो नाम शुकः।—कादंबरी कथामुख

२—संगीत में सात स्वर, तीन ग्राम, इक्कीस मूर्च्छनायें, उनचास तान और बाईस श्रुतियां होती हैं—

समस्वरास्त्रयो ग्रामा मूर्च्छना श्चैकोनविंशतिः।
ताना एकोनपंचाशद्द्वयधिका विंशतिः श्रुति॥

३—कादम्बरी पृ० १४७-१४९

वत्सल हो, घटा-गोष्ठी-समाज आदि में हिस्सा लेने वाला और उनका संगठन करने वाला हो, क्रीड़नशील हो, निरोग हो, जिसका शरीर विकृत न हो, प्राणवान् हो और मद्यपान न करता हो।[1] काम सूत्र के ६४ कलाओं[2] में कई का संबंध शब्द और अर्थ अर्थात् काव्य से है।—

इन चौंसठ कलाओं में लगभग एक तिहाई तो विशुद्ध साहित्यिक हैं, बाक़ी में कुछ नायक नायिकाओं के विलास-क्रीड़ा के सहायक हैं, कुछ मनोविनोद के साधक हैं और कुछ दैनिक प्रयोजनों के पूरक हैं। गाना, बजाना, नृत्य, चित्रकारी (आलेख्य), प्रिया के कपोल और ललाट आदि की शोभा बढ़ा सकने वाले भोजपत्र के काटे हुए पत्रों की रचना करना (विशेषकच्छेद्य), फ़र्श पर विविध रंग के पुष्पों और रंगे हुए चावलों से नाना प्रकार के नयनाभिराम चित्र बनाना (तंडुल-कुसुम-विकार), फूल बिछाना, दांत और वस्त्रों को रंजित करना, फूलों की सेज रचना, दांत रंगना, वस्त्र रंगना, ग्रीष्मकाल में क्रीड़ा के लिये मरकत आदि पत्थरों का गज बनाना, सेज बिछाना, जल-क्रीड़ा में मुरज आदि बाजा बजाना, कौशलपूर्वक प्रेयसी के प्रति पानी के छींटे फेंकना, माला गूथना, केशों को पुष्पों से सजाना; देश और काल के अनुसार शरीर सजाना, कान के लिये हाथी दांत के पत्तरों से आभरण बनाना, सुगंधित धूप दीप और वर्तियों का प्रयोग जानना, गहना पहनाना, इंद्रजाल और हाथ की सफ़ाई, चोली आदि का सीना, नाना प्रकार के भक्ष्य भोज्य बना सकना, शरबत आदि तैयार करना, कुश आदि से आसन बना लेना, वीणा, डमरू आदि बजा लेना इत्यादि कलायें उन दिनों नागरकों के लिए आवश्यक समझी जाती थीं। इनसे अपना घर और शरीर तो सजाना अभीष्ट ही था, असल उद्देश्य प्रेमी और प्रेयसियों को सन्तुष्ट करना था। संस्कृत साहित्य में इन कलाओं का भूरि भूरि वर्णन मिलता है। किसी विलासिनी को इसलिये फूली हुई देख कर कि उसके प्रिय ने अपने हाथो उसके कपोल तल पर मंजरी बना दी है, कोई सुहागिनी फ़िकरे कस रही है—'अजी, और कोई भी ऐसी ही फूली फिर सकती थी यदि कम्बख्त कंपन ही दुश्मन न हो जाती[3]; कहीं

१—विद्वान् कविराख्यायनकुशलो वाग्मी विविध शिल्पज्ञो महोत्साहस्त्यागी मित्रवत्सलो घटागोष्ठी प्रेक्षणकसमाजसमस्याःक्रीड़नशीलो नीरुजोऽव्यग्रशरीरप्राणवानमद्यपः।—कामसूत्र, ६ १

२—गीतम् वाद्यम् नृत्यम्, आलेख्यम् विशेषकच्छेद्यम्, तंडुलकुसुमवलिविकाराः, पुष्पास्तरणम्, दशनवसनांगरागः, मणिभूमिकाकर्म, शयनरचनम्, उदकवाद्यम्, उदकाघातः, चित्राश्चयोगाः, माल्यग्रथन विकल्पाः शेखरकापीडयोजनम्, नेपथ्यप्रयोगाः, कर्णपत्रभंगाः, गंधयुक्तिः, भूषणयोजनम्, ऐन्द्रजालाः कौचुमाराश्च योगः हस्तलाघवम्, विचित्रशाकयूषभक्ष्यविकारक्रियाः, पानकरसरागासवयोजनम्, सूचीवान कर्माणि, सूत्रक्रीड़ा, वीणाडमरुकवाद्यानि, प्रहेलिका, प्रतिमाला, दुर्वाचकयोगाः पुस्तकवाचनम्, नाटकाख्यायिकादर्शनम्, काव्यसमस्यापूरणम्, पट्टिकावेत्रवानविकल्पाः, तक्षकर्माणि, तक्षणम्, वास्तुविद्या, रूप्यरत्नपरीक्षा, धातुवाद, मणिरागाकरज्ञानम्, वृक्षायुर्वेदयोगाः, मेषकुक्कुटलावकयुद्धविधिः, शुकसारिका प्रलापनम्, उत्सादने संवाहने केशमर्दने च कौशलम्, अक्षरमुष्टिकाकथनम्, म्लेच्छितविकल्पाः, देशभाषा-विज्ञानम्, पुष्पशकटिका, निमित्तज्ञानम्, यन्त्रमातृका, धारणमातृका, संपाठ्यम्, मानसीकाव्यक्रीया, अभिधान कोषः, छंदो ज्ञानम्, क्रियाकल्पः, छलितिकयोगाः वस्त्रगोपनानि, द्यूतविशेषाः, आकर्षक्रीड़ा, बालक्रीड़नकानि, वैनयिकीनां वैजयिकीना व्यायामिकोवां च विद्यानां ज्ञानम्, इति—कामसूत्र १. ३.

३—मागर्वमुद्वह कपोलतले चकास्ति कान्तस्वहस्तलिखिता मम मंजरीति
अन्यापिकिं न सखि भाजन मीदृशानां वैरी न चेद् भवति वेपथुरंन्तरायः।

अभिसारिकाओं की जल्दबाजी से केशों से गिरे हुए मन्दार पुष्पों, कान से भ्रष्ट स्वर्ण-कमल और पत्रच्छेद्यों तथा वक्षस्थल पर से टूट कर गिरे हुए हार के मोतियों से कामिनियों का अभिसार मार्ग सूर्योदय होते ही स्पष्ट ही सूचित हो जाता था,[1] कहीं सखियों द्वारा ललाट और कपोल देश पर रचित चन्दन-पत्र-लेखा ऐसी दिखाई देती थी, मानो ईषत् पाण्डुर और क्षाम कपोल-भित्ति पर लगे हुए कामदेव के बाणों से जो घाव हो गया है उसी की पट्टी है[2]; कहीं जल-क्रीड़ा के समय पानी के भीतर से बजता हुआ मृदंग—जो तीर पर चक्कर काटने वाले उत्कलाप मयूरों की केका से अभिनंदित होता रहता था,—विलासिनियों के कान में प्रविष्ट होकर उनके कान और कपोल लाल कर देता था[3]; कहीं जलाकेलि के समय खुले हुए केशपाश से स्खलित पत्र-लेखा, और मुक्ता फलों से विच्छिन्न पत्रवेष्टन, इन दोनों अभावों के होते हुए भी प्रमदाओं का वेश प्रेमियों का मन हर लेता था;[4] कहीं प्रियतमा के कपोल देश पर पत्रावली बनाने का संकल्प करके भी प्रेमी हाथ कांप जाने से असफल-काम हो जाता था[5], कहीं स्वयं महावर लगाने का प्रयत्नशील प्रेमी अपनी प्रेमिका के वेश भूषा का शैथिल्य देख कर चंचल हो उठता था[6] और इसी प्रकार और जाने क्या क्या व्यापार उन दिनों के साहित्य के इतने प्रिय विषय हैं कि उन्हें लिख सकना असंभव है।

इन कलाओं के बाद इस लंबी कला-सूची में कुछ उपयोगी कलायें हैं, जैसे वास्तुविद्या या गृह निर्माण की कला,[7] रूप्य-रत्न परीक्षा, धातु विद्या, कीमती पत्थरों का रंगना, वृक्षायुर्वेद या पेड़ पौधों का विज्ञान, हथियारों की पहचान, हाथी-घोड़ों के लक्षण आदि। कुछ का संबंध मनोविनोद मात्र से था, जैसे भेड़ों और मुर्गों की लड़ाई, तोतों-मैनों को पढ़ाना इत्यादि। बाक़ी विशुद्ध साहित्यिक थीं। इन साहित्यिक कलाओं में से अधिकांश को मनोविनोद की श्रेणी में रख सकते हैं।

१—गत्युत्कम्पादलकपतितैर्यत्र मन्दारपुष्पैः
पत्रच्छेदैः कनककमलैः कर्णविभ्रंशिभिश्च ।
मुक्ताजालैः स्तनपरिसरच्छिन्नसूत्रैश्च हारै—
र्नैशो मार्गः सवितुरुदये सूच्यते कामिनीनाम् ॥—मेघदूत ६८

२—अस्या ललाटे रचिता सखीभिर्विभाव्यते चन्दन-पत्र-लेखा ।
आपाण्डुरक्षामकपोलभित्तावनङ्गबाणव्रणपट्टिकेव ॥

३—तीरस्थलीबर्हिभिरुत्कलापैः प्रस्निग्धकेकैरभिनन्द्यमानम् ।
श्रोत्रेषु संमूर्च्छति रक्तमासां गीतानुगं वारिमृदंगवाद्यम् ॥

४—उद्बन्धकेशश्च्युतपत्रलेखो विश्लिष्टमुक्ताफलपत्रवेष्टः ।
मनोज्ञ एव प्रमदामुखानामम्भोविहाराकुलितोऽपि वेषः ॥

५—कपोले पत्राली पुलकितविधातुं व्यवसितः स्वयं श्रीराधायाः करकलितवर्तिर्मधुरिपुः ।
अभूद् वक्त्रेन्दौ यत्निहितनयनः कम्पितभुजः । तदेतत् सामर्थ्यं तदभिनवरूपस्य जयति ।

६—स स्वयं चरणरागमादधे योषितां न च तथा समाहितः ।
लोभ्यमान नयनः श्लथांशुकैर्मेखलागुणपदैर्नितम्बिभिः ।—रघुवंश १९ २६

७—बराहमिहिर की बृहत् संहिता से ऐसी बहुतेरी कलाओं की जानकारी हो सकती है। जैसे वास्तुविद्या (५३ अध्याय), वृक्षायुर्वेद (५५), वज्रलेप (५७), कुक्कुटलक्षण (६३ अ०), शय्यासन (७८ अध्याय), गंधयुक्ति (७७ अध्याय), रत्न-परीक्षा (८०-८३ अ०,) इत्यादि।

इन कलाओं के प्रधान आश्रय अन्तःपुर थे। पुरुषों की दुनियां में वास्तविकता के कठोर आघातों से रोमांस का कोमल और मनोरम वातावरण प्रायः क्षुब्ध हो जाता था। आज हूणों का तो कल यवनों (= आयोनियन-ग्रीक) का आक्रमण नगर की शान्ति को विक्षुब्ध कर जाया करता था; परन्तु अन्तःपुर में विक्षोभ की लहरियां कम ही पहुँचा करती थीं। शत्रु और मित्र दोनों ही उन दिनों अन्तःपुर की शान्ति का सम्मान करते थे।

साधारणतः संस्कृत-कवि का वर्णनीय अन्तःपुर धनी और राजवंशीय पुरुषों का ही होता था, क्योंकि संस्कृत काव्य-नाटक-आख्यायिका आदि के नायक और नायिकाएं प्रख्यातवंशीय धनाढ्य हुआ करती थीं। इसीलिये संस्कृत-काव्यों के अन्तःपुर का ठाट-बाट बहुत ही विपुल और चित्ताकर्षक है। इन अन्तःपुरों और इनमें रहने वाली अन्तःपुरिकाओं का वर्णन संस्कृत-कवि बड़ी शान-शौकत के साथ करता है। प्रत्येक धनाढ्य नागरिक के घरके साथ उसका अन्तःपुर रहा करता था, जहां बड़े बड़े पहरे की व्यवस्था रहती थी। अन्तःपुर से लगी हुई एक वृक्ष-वाटिका (या गृह-उपवन) हुआ करती थी। इसके बीच में एक दीर्घिका या तालाब की व्यवस्था रहती थी। इस वाटिका में फलदार वृक्षों के सिवा पुष्पों और लता-कुंजों की भी व्यवस्था रहा करती थी। गृह-स्वामिनी अपनी रंधन-शाला के काम लायक तरकारियां भी इसी वाटिका के एक अंश में उत्पन्न कर लिया करती थीं। वात्स्यायन के[1] कामसूत्र (पृ० २२८) में बताया गया है कि वह इस स्थान पर मूलक (मूली), आलुक (कन्द आदि), पलंकी (पालक), दमनक (दवना), आम्रातक (आमड़ा), ऐर्वारुक (फूटी), त्रपुष (खीरा), वार्त्ताक (बैंगन), कुष्माण्ड (सफेद कुंभड़े), अलाबु (कद्दू), सूरण (सूरन), शुकनासा (अगस्ता), स्वयंगुप्ता (केंवाछ), तिलपर्णिका (शाक), अग्निमंथ (?), लशुन, पलाण्डु (प्याज) आदि साग-भाजी बोती थीं। इस सूची से जान पड़ता है कि भारतवर्ष आज से दो हजार वर्ष पहले जो साग-भाजियां खाता था, वे अब भी बहुत परिवर्तित नहीं हुई हैं। इन साग-भाजियों के साथ ये मसाले भी गृहदेवियां स्वयं तैयार कर लेती थीं—जीरा, सरसों, जवायन, सौंफ, तेजपात आदि। वाटिका के दूसरे भाग में कुब्जक (= मालती ?) आमलक (?), मल्लिका (बेला), जाती (मालती, और भावप्रकाश के मत से चमेली), कुरण्टक (कटसरैया), नवमालिका, तगर, जपा आदि के पुष्पों के गुल्म भी लगाया करतीं थीं (पृ० २२६)। वृक्षवाटिका के अन्तिम (बाहरी) किनारे पर बड़े छायादार वृक्ष जैसे अशोक, अरिष्ट, पुन्नाग, शिरीष आदि लगाये जाते थे। बृहत्संहिता (५५-३) में बताया गया है कि ये वृक्ष मांगल्य होते हैं, इसलिये इनको घर या उद्यान के पूर्व भाग में रोपण करना चाहिए। उद्यान के बीचोंबीच गृह-दीर्घिका या तालाब रहा करता था। इन तालाबों में नाना प्रकार के जल-पक्षियों का रहना मंगल जनक समझा जाता था। इनमें कृत्रिम भाव से कमलिनी या नलिनी (पत्र-पुष्प-सहित कमल वृक्ष) उत्पन्न की जाती थी। वराहमिहिर ने बृहत्संहिता (५६-४-७) में लिखा है[2] कि जिस सरोवर में नलिनी-रूप छत्र से सूर्य-किरणें निरस्त होती हैं, हंस के कन्धों से धकेली हुई लहरियां कल्हारों से टकराती हैं, हंस, कारण्डव, क्रौंच और चक्रवाकगण कल-निनाद करते रहते हैं और जिसके तटान्त की बेत्र-वनच्छाया में जलचरी

१—इस लेखमें सर्वत्र चौखंबा सीरीज़ में छपे हुए कामसूत्र की पृष्ठ संख्याएं दी हुई हैं।

२—सरः सुनलिनीच्छत्र निरस्त रविरश्मिषु। हंसांसाक्षिप्त कह्लार वीची विमल वारिषु॥
हंस कारण्डव क्रौंच चक्रवाक विराविषु। पर्यन्त निचुलच्छायां विश्रान्त जलचारिषु॥

पक्षी विश्राम करते हैं, ऐसे सरोवर के निकट देवतागण प्रसन्न भाव से विराजते हैं। इन वापियों में विविध पक्षियों के निवास का नाना भांति से कवियों ने वर्णन किया है। इन्हीं वाटिकाओं में, वात्स्यायनने लिखा है कि, सघन छाया में प्रेङ्खादोला या झूला लगाया जाता था, इन्हीं में पत्थर की स्थंडिल-पीठिकाएं (बैठने के आसन) बनाये जाते थे और उन पर सुकुमार पुष्प-दल बिछा दिये जाते थे (पृ० ५५)। भवन-दीर्घिका के एक पार्श्व में क्रीड़ा-पर्वत हुआ करते थे, जिनके इर्द-गिर्द मयूर मंडराते रहते थे। यहीं अन्तःपुरिकाएं नाना भांति की विलास-लीलाएं करती थीं। दीर्घिका में और अन्यत्र धारायंत्र या फव्वारे बने होते थे, जिनमें कभी जलदेवताओं की और कभी हंस-मिथुन या चक्रवाक-मिथुन के जोड़े बने होते थे, जो जल धारा को उच्छ्वासित करते थे। अलकापुरी में मेघदूत की यक्षिणी के अन्तःपुर में एक ऐसी ही वाटिका थी, जिसमें यक्ष-प्रिया ने एक छोटे से मंदार वृक्ष को—जिसके पुष्पस्तवक हाथ की पहुँच के भीतर ही थे—पुत्रवत् पाल रखा था।[१] इस उद्यान में मरकत-मणियों की सीढ़ी वाली एक वापी थी, जिसमें वैदूर्यमणि के बने हुए नालों पर हेम-पद्म प्रस्फुटित हो रहे थे और हंस विचरण कर रहे थे[२]। इसी वापी के तीर पर एक क्रीड़ा-पर्वत था। वह इंद्रनीलमणि से निर्मित था और कनक-कदली से वेष्ठित था। वाटिका के मध्यभाग में रक्त-अशोक और बकुल के वृक्ष थे, एक प्रिया के पदाघात से और दूसरा वदन-मदिरा से उत्फुल्ल होने की आकांक्षा रखता था[३]। इनका बेड़ा कुरबक या पियाबसाकी झाड़ियों का था। ठीक बीच में एक सोने की वास-यष्टि पर स्फटिक की पीढ़ी थी, जिस पर यक्ष-प्रिया का वह मयूर बैठा करता था, जिसे वह अपनी चूड़ियों की मंजु-ध्वनि से नचाया करती थी।[४] बहुत भीतर जाने पर यक्ष-प्रिया के शयन-कक्षके पास पिंजड़े में मधुरभाषिणी सारिका थी, जिससे यदा-कदा वह अपने प्रिय के विषय में पूछा करती थी[५]। बाणभट्ट की कादंबरी में अन्तःपुर के भीतर का बड़ा ही रसमय और जीवन्त वर्णन है। उस वर्णन से जान पड़ता है कि कादम्बरी की विविध परिचारिकाएं किन कार्यों में व्यस्त थीं। वस्तुतः समस्त संस्कृत-साहित्य में अन्तःपुर वर्णन के प्रसंग में इन बातों का अल्पाधिक विस्तार रहता है। अन्तःपुर के सब से भीतरी हिस्से में कोई लवलिका केतकी (केवड़े) की धूलि से लवली (हरफारेवरी) के आलवालों को सजा रही थी। कोई सागरिका गंध-जल की वापियों में रत्न-वालुका निक्षेप कर रही थी, कोई मृणालिका कृत्रिम कमलिनियों के यन्त्र-चक्रवाकों के ऊपर कुंकुम-रेणु फेंक रही थी, कोई मकरिका कर्पूर-पल्लव

१ तत्रागारं धनपतिगृहादुत्तरेणास्मदीयं। दूराल्लक्ष्यं त्वदमरधनुश्चारुणातोरणेन।
यस्योद्याने कृतकतनयो वर्धितः कान्तया मे। हस्तप्राप्यस्तवकनमितो बालमन्दारवृक्षः। ८०

२ वापी चास्मिन् मरकतशिलाबद्धसोपानमार्गा हैमैःस्फीता विकचकमलैर्दीर्घवैदूर्यनालैः।
यस्यास्तोये कृतवसतयो मानसं संनिकृष्टं। नाध्यास्यन्ति व्यपगतशुचस्त्वामपि प्रेक्ष्य हंसाः।८१

३ रक्ताशोकश्चल किसलयः केसरश्चात्र कान्तः प्रत्यासन्नौ कुरबक वृतेर्माधवीमण्डपस्य।
एकः सख्यास्तव सह मया वामपादाभिलाषी कांक्षत्यन्यो वदनमदिरां दोहदच्छद्मनास्याः।८६

४ तन्मध्ये च स्फटिक फलका काञ्चनीवास यष्टि—
मूले बद्धा मणि भिरनति प्रौढ़ वंश प्रकाशैः। तालैः शिञ्जावलय सुभगैः कान्तया नर्तितो मे।
यामध्यास्ते दिवस विगमे नीलकण्ठः सुहृद् वः।८७

५ पृच्छन्ती वा मधुरवचनां सारिकां पंजरस्थां कच्चिद्भर्तुः स्मरसि रसिके त्वं हि तस्यप्रियेति।

के रससे गंध-पात्रों को सुवासित कर रही थी, कोई रजनिका तमाल वीथिका के अंधकार में मणि-प्रदीपों को रख रही थी, कोई कुमुदिका पक्षियों के निवारण के लिए दाड़िमी फलों को मुक्ताजाल से अवरुद्ध कर रही थी, कोई निपुणिका मणि की पुतलियो के वक्षःस्थल पर कुंकुम रससे चित्रकारी कर रही थी, कोई उत्पलिका कदली-गृहकी मरकत-वेदिकाओं को सोने की समार्जनी (झाड़ू) से साफ कर रही थी, कोई केसरिका बकुल-कुसुम-माला-गृहों को मदिरा-रससे सींच रही थी और कोई मालतिका कामदेव गृह की हाथीदांतों की वलभिका (मण्डप) को सिंदूर-रेणु से पाटलित कर रही थी। ये सारी बातें ऐसी हैं, जिनका अर्थ दरिद्र लेखनी-धारियों की समझ में नहीं आ सकता। हम केवल आंख फाड़ कर देखते हैं कि मधुमक्खियों के छत्ते से भी अधिक व्यस्त दिखनेवाले इस अन्तःपुर के व्यापारों का अर्थ क्या है ? खैर, कुछ समझ में आने लायक बातें भी हैं। वहां कोई नलिनिका भवन के कल हंसों को कमल मधुरस पान कराने जा रही थी, कोई कदलिका मयूरों को धारा-गृह या फव्वारों के पास ले जा रही थी—शायद नचाने के लिए!—कोई कमलिनिका चक्रवाक शावकों को मृणाल-क्षीर-रस दे रही थी, कोई कोकिलों को आम्रमंजरी का अंकुर खिलाने में लगी थी, कोई पल्लविका मरिच (काली मिर्च) के कोमल किसलयों को चुन-चुन कर भवन-हारीतों को खिला रही थी, कोई लवंगिका चकोरों के पिंजड़ों मे पिप्पली के मुलायम पत्ते निक्षेप कर रही थी, कोई मधुरिका पुष्पों के आभरण बना रही थी, और इस प्रकार सारा अन्तःपुर पक्षियों की सेवा में व्यस्त था। सबके भीतर वचनमुखरा सारिका (मैना) थी और विदग्ध शुक था, जिनके प्रणय-कलह की शिक्षा पूरी हो चुकी थी, और चंद्रापीड़ के सामने अपना वैदग्ध्य-विलास प्रकट करके जिस सारिका ने कादम्बरी के अधरों पर लज्जायुक्त मुसकान की एक हल्की रेखा प्रकट कर दी थी ! [१]

प्राचीन भारत का यह अन्तःपुर वस्तुतः सब प्रकार की सुकुमार कलाओं का घर था। यद्यपि साधारण श्रेणी के नागरिकों के अन्तःपुर या वहिः प्रकोष्ठ उतने समृद्धि युक्त नहीं हुआ करते होंगे जितना साधारणतः उस युग के राज-भवनों के वर्णन प्रसंग मे मिल जाते हैं, पर इसमें सन्देह नहीं कि कला और विद्या के आश्रय स्थान ऐसे ही रईस थे। मृच्छकटिक नाटक में एक छोटा-सा वाक्य आता है जो काफी अर्थ पूर्ण है। इस नाटक के नायक चारुदत्त का एक पुराना नौकर संवाहक था, जिसने संवाहक-कला अर्थात् शरीर और वेश भूषा को सुरुचिपूर्ण ढङ्ग से सजाने का कौशल सीखा था। उसने दरिद्रता वश नौकरी कर ली थी। यही संवाहक चारुदत्त की दरिद्रता के कारण नौकरी छोड़कर अन्य व्यसन में लग गया था। एक बार चारुदत्त की प्रेमिका गणिका वसन्तसेना के यह कहने पर कि तुमने सुकुमार कला सीखी है, उसने प्रतिवाद करके कहा—"नहीं आर्ये, कला समझ कर सीखा जरूर था, पर अब तो वह आजीविका हो गई है—'अज्जये कलेत्ति सिक्खिदा। आजिविआ दाणिं संवुत्ता', इस कथन का अर्थ यह हुआ कि जीविका उपार्जन में लगाई हुई विद्या कला के सुवर्ण सिंहासन से विच्युत मान ली जाती थी। यही कारण था कि धनहीन नागरकगण सर्वकला-पारंगत होने पर भी नागरक के ऊंचे आसन से उतार कर 'विट' होने को बाध्य होते थे। यदि इस बात को हम ध्यान में रखें कि कला को आजीविका बनाने पर उस युग के सहृदयों की आंखों से कलाकार गिर जाता था, तो सहज ही समझ मे आ जायगा कि

---

१ कादम्बरी पृ० ३३५ और आगे। इस लेख में सर्वत्र निर्णय-सागर प्रेस (छठवें संस्करण १९२१) की कादम्बरी से उद्धरण दिये गये हैं।

काव्य मीमांसा आदि ग्रंथों से अनेक कारीगरों, चित्रकारों और मूर्ति-शिल्पियों को प्राकृत और अपभ्रंश के कवियों के पीछे बैठने का क्यों निर्देश है। कामसूत्र में कला के मर्मज्ञ और आश्रयदाता नागरक का जो उल्लेख है, वह यहां स्मरण कर लिया जा सकता है। नागरक के विशाल प्रासाद का बहिः प्रकोष्ठ, जिसमें नागरक स्वयं रहा करता था, बहुत ही शानदार होता था। उसमें एक शय्या पड़ी रहती थी, जिसके दोनों सिरों पर दो तकिया या उपधान होते और उसके ऊपर सफेद चादर या प्रच्छदपट पड़े होते थे। यह बहुत ही नर्म और बीच में झुका हुआ होता था। इसके पास ही कभी कभी एक दूसरी शय्या भी पड़ी होती थी, जो पहली से कुछ नीची होती थी। शय्या के सिरहाने कूर्चस्थान पर नागरक के इष्ट देवता की कला पूर्ण मूर्ति रहती थी और उसके पास ही वेदिका पर माल्य, चंदन और अन्यान्य सुगंधित उपलेपन रखे होते थे। इसी वेदिका पर सुगंधित मोमबत्ती की पिटारी (सिक्थ-करण्डक) और इत्रदान (सौगंधिक पुटिका) रखा रहता था। मातुलुङ्ग की छाल और पान के बीड़ों के रखने की जगह भी यही थी। नीचे जमीन पर पीकदान या पतद्ग्रह रखा होता था। ऊपर दीवाल में हाथी दांत की खूंटियों पर कपड़े के थैले में लिपटी हुई वीणा रहती थी, चित्र फलक हुआ करता था, तूलिका और रंग के डिब्बे रखे होते थे, पुस्तकें सजाई हुई थीं और बहुत देर तक ताजी रहने वाली कुरण्टक माला भी लटकी रहती थी। दूर एक आस्तरण (शायद दरी) पड़ी होती थी और उस पर द्यूत और शतरंज खेलने की गोटियां रखी रहती थीं। उसके बाहर क्रीड़ा के पक्षियों अर्थात शुक-सारिका-लाव-तित्तिर-कुकुट आदि के पिंजड़े हुआ करते थे। शर्विलक नामक चोर जब मृच्छकटिक नाम के नायक चारुदत्त के घर में रात को घुसा था, तो उसने आश्चर्य के साथ देखा था कि उस रसिक नागरक के घर में कहीं मृदंग, कहीं, दर्दुर, कहीं पणव, कहीं वीणा, कहीं वंशी और कहीं पुस्तकें पड़ी हुई थीं। एक बार तो वह यह भी सोचने लगा कि कहीं यह नाट्याचार्य का घर तो नहीं है। क्योंकि ये वस्तुयें एक ही साथ केवल दो जगह संभव थीं, धनी नागरक के बैठक घर में या फिर उस नाट्याचार्य के गृह में जिसने कला को आजीविका बना लिया हो। चोर ने घर की दशा से यह अनुमान सहज ही कर लिया था कि धनी आदमी का घर तो यह होने से रहा।

वीणा और चित्रफलक ये दो वस्तुएं उन दिनों के सहृदय के लिये नितान्त आवश्यक वस्तु थीं। चारुदत्त ने ठीक ही कहा था कि वीणा जो है वह असमुद्रोत्पन्न रत्न है, उत्कंठित की संगिनि है, उकताये हुये का विनोद है, विरही का ढाढ़स है और प्रेमी का रागवर्द्धक प्रमोद है[1]। प्राचीन काव्य साहित्य में इसकी इतनी चर्चा है कि सबका संग्रह करना बड़ा कठिन कार्य है। सरस्वती भवन से लेकर कामदेवायतन तक, अन्तःपुर के विलासमय जीवन से लेकर अच्छोद सरोवर के शिवायतन वाली तपोभूमि तक, नागरक के बहिर्निवास से लेकर उद्यानयात्रा की वनभूमि तक—सर्वत्र वीणा उन दिनों के नागर रसिकों की संगिनी थी। संस्कृत का कवि सौन्दर्य और चारुता की बात याद करते ही पहले वीणा की बात याद करता है। कामसूत्र से जान पड़ता है कि उन दिनों की गंधर्वशालाओं में प्रत्येक नागरक के लड़कों को जिन कलाओं का सीखना जरूरी था

१ वीणाहि असमुद्रोत्पन्नं रत्नम्—

उत्कंठितस्य हृदयानुगुणा वयस्या संकेतके चिरयति प्रवरो विनोदः

संस्थापना प्रियतमा विरहातुराणां रक्तस्य रागपरिवृद्धिकरः प्रमोदः॥ मृच्छकटिक ३, ४

उनमें सर्वप्रधान हैं, गीत-वाद्य और नृत्य। इस वाद्य में वीणा और डमरू तथा वंशी का उल्लेख है। डमरू भारतवर्ष का अत्यन्त प्राचीन वाद्य है और कहते हैं, काल क्रम से उसी ने मृदंग का आकार ग्रहण किया है। जिस मृदंग के विषय में सर सी० वी० रमन जैसे चोटी के वैज्ञानिक का कहना है कि यह संसार का सबसे श्रेष्ठ वैज्ञानिक ढङ्ग से बना हुआ वाद्य है। ललित-विस्तर में वीणा और वाद्य-नृत्य को उन ८६ कलाओं में गिना गया है, जिनका ज्ञान सिद्धार्थ को था। वीणा के साथ ही एक और बाजा वेणु या वंशी का भी कामसूत्रादि ग्रन्थों में बारबार उल्लेख है। यह बाजा भी नागरकों को बहुत प्रिय था। यहां हम नृत्य-गीत नाट्य आदि का विस्तृत उल्लेख नहीं करेंगे।

दूसरा अत्यन्त महत्वपूर्ण मनोविनोद चित्रकर्म था। कला की गणना में इसका प्रमुख स्थान है। विष्णु धर्मोत्तर पुराण के चित्र सूत्र में कहा गया है कि समस्त कलाओं में चित्र-कला श्रेष्ठ है। वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को देने वाली है। जिस गृह में यह कला रही है वह गृह मांगल्य होता है[1]। हमने पहले ही देखा है कि उन दिनों के प्रत्येक सुसंस्कृत के कमरे में चित्रफलक और समुद्गक अर्थात रंगों की डिबिया का रहना आवश्यक समझा जाता था। अन्तःपुरिकायें अवसर मिलने पर इसी विद्या के द्वारा अपना मनोविनोद करती थीं। परन्तु यहां कह रखना उचित होगा कि ये चित्र नाना आधारों पर बनाये जाते थे—काठ या हाथीदांत के चित्रफलक पर, चिकने शिलापट्ट पर, कपड़े पर और विशेष रूप से वास-भवन की दीवालों या भित्ति पर। प्राचीन चित्र का आधार प्रायः भित्ति या दीवाल बताई गई है। मध्ययुग में तुलसीदास जब 'शून्य भित्ति पर चित्र लिख्यो', देखकर मन ही मन माधव की महिमा समझ कर रह गये थे, उस समय प्राचीन भारत के भित्ति पर लिखे गये चित्र (आलेख्य) की बात याद कर रहे थे। अभिलषितार्थ चिन्तामणि आदि ग्रंथों में इस भीत की चित्रकारी का विशद वर्णन दिया हुआ है। समृद्ध लोगों के घर की दीवालें स्फटिक मणि के समान स्वच्छ और दर्पण के समान चिकनी हुआ करती थीं। उनके ऊपर 'सूक्ष्म रेखा विशारद' कलाकार जो 'विद्युत्-निर्माण' में कुशल होते थे, पत्रलेखन में कोविद होते थे, वर्ण पूरण या रंग भरने में उस्ताद होते थे' (अभि० चि० ३ १३८) नाना रस के चित्र अंकित करते थे। दीवाल को पहले समान करके चूने से बनाया जाता था, उस पर लेपद्रव्य लगाते थे, जो नये भैंस के चमड़े को पानी में घोंट कर बनाया जाता था। इससे एक प्रकार का वज्र लेप बनाया जाता था, जो गर्म रहने पर पिघल जाता था और दीवाल में लगा कर हवा में छोड़ देने से सूख जाता था (अभि० चि० १४६-१४६)। वज्र लेप में सफेद मिट्टी मिला कर या शंख चूर्ण और सिता (मिश्री) मिलाकर भित्ति को चिकनी बनाते थे (अ० चि० ३.१४७) या फिर नीलगिरि में उत्पन्न नग नामक सफेद पदार्थ को पीस कर उसमें मिलाते थे (अ० चि० ३.१४८)। रंग की स्थायिता के लिये भी नाना प्रकार के द्रव्यों के प्रयोग की बात प्राचीन पुस्तकों में दी हुई है। विष्णु धर्मोत्तर के अनुसार तीन प्रकार के ईंट के चूर्ण, साधारण मिट्टी, गुग्गुल, मोम, महुए का रस, मुसक (?), गुड़, कुसुंभ तेल और चूने को घोंट कर उसमें दो भाग कच्चे बेल का चूर्ण मिलाते थे। फिर अन्दाज़ से उपयुक्त मात्रा में बालुका देकर भीत पर एक महीने तक धीरे धीरे पोतते थे। इस प्रकार

१ कलानां प्रवरं चित्रं धर्म कामार्थ मोक्षदम्। मांगल्यं प्रथमं वैतद् गृहे यत्र प्रतिष्ठितम् ॥
—विष्णुधर्मोत्तर० ३ य खंड, ४५ अ० ३८

की और भी विधियां दी हुई हैं, जो सब समय ठीक ठीक समझ में नहीं आतीं। इनके ऊपर चित्र बनाये जाते थे।

चित्रों में कई प्रकार के रंग काम में लाये जाते थे। घने बांस की नलिका के आगे तामे का सूक्ष्मग्र शंकु लगाते थे, जो जौ भर भीतर और इतना ही बाहर रहता था। इसे तिन्दुक कहते थे। तूलिका में बछड़े के कान के पास के रोएं लगाये जाते थे और चित्र की रेखाओं के लिये मोम और भात में काजल रगड़ कर काला रंग बनाते थे। वंशनाली के आगे लगे हुए ताम्रशंकु से महीन रेखा खींचने का कार्य किया जाता था। रोयें वाली लेखनी तीन प्रकार की होती थी स्थूल, मध्य और सूक्ष्म। पहली से लेपने का कार्य होता था, दूसरी से अग्र भाग और पार्श्व भाग की रेखायें खींची जाती थीं और तीसरी से सूक्ष्म रेखायें बनाई जाती थीं। चित्र केवल रेखाओं के भी होते थे और रेखाओं में रंग भर के भी बनाये जाते थे। जिसको 'लाइट ऐण्ड शेड' कहते हैं उसका भी ध्यान रखा जाता था। एकरंगे चित्रों में इनका विशेष उपयोग होता था। अभिलषितार्थचिन्तामणि (३·१६२) में कहा गया है कि जो स्थान निम्नतर हो वहां एक रंगे चित्र में श्यामल वर्ण होना चाहिये और जो स्थान उन्नत हो वह उज्ज्वल या फीके रंग का। रंगीन चित्रों में नाना प्रकार के रंगों का विन्यास करते थे। श्वेत रंग शंख को चूर्ण करके बनाया जाता था, शोण दरद से, रक्त (लाल) अलक्तक से, लोहित गेरू से, पीत हरिताल से और काला काजल से बनता था। इनके आपस में मिलने से तथा अन्य रंगों के मिश्रण से भिन्न रंग बनते थे। ये मिश्र रंग कमल, सौराश्व (?) घोरात्व (?), धूमच्छाय, कपोताभ, अतसी-पुष्पाभ, नीलकमल समान, हरित, गौर, श्याम, पाटल, कर्बुर आदि बहुतेरे रंग के बनते थे।

पट या कपड़े पर भी चित्र बनाये जाते थे। पंचदशी नामक वेदान्त ग्रंथ से जाना जाता है कि ऐसे चित्र चार अवस्थाओं से गुजरते थे—धौत, घट्टित, लांछित और रंजित। कपड़े का धोया हुआ रूप धौत है, उस पर चावल आदि के मांड से घोंटाई मण्डित है; फिर काजल आदि की सहायता से रेखांकन लांछित है और उस में रंग भरना रंजित अवस्था है (पं० ६ १-३)।

विष्णु धर्मोत्तर पुराण में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण बात यह है कि नृत्य और चित्र का बड़ा गहरा सम्बन्ध है। मार्कण्डेय मुनि ने कहा था कि नृत्य और चित्र इन दोनों ही कलाओं में त्रैलोक्य की अनुकृति होती है। महानृत्य में दृष्टि, हाथ, भाव आदि की जो भंगी बताई गई है, वही चित्र में भी प्रयोज्य है, वस्तुत: नृत्य ही परम चित्र है[1]।

सोमेश्वर की अभिलषितार्थचिन्तामणि में चार प्रकार के चित्रों का उल्लेख है—विद्ध चित्र, जो इतना अधिक वास्तविक वस्तु से मिलता हो कि दर्पण में पड़ी परछाई जैसा लगता हो, अविद्ध चित्र, जो काल्पनिक होते थे और चित्रकार के भावोल्लास की उमंग में बनाये जाते थे; रस चित्र, जो भिन्न भिन्न रसों की अभिव्यक्ति के लिये बनाये जाते थे, और धूलि चित्र। इस ग्रंथ में चित्र में सोने के उपयोग की भी विधि दी हुई है।

शास्त्रीय ग्रंथों के देखने से जान पड़ता है कि उन दिनों चित्र के विषय अनेक थे। केवल शृङ्गार चेष्टा या धर्माख्यान ही तक उनकी सीमा नहीं थी। धार्मिक और ऐतिहासिक आख्यानों के

---

१ यथा नृत्ये तथा चित्रे त्रैलोक्यस्यानुकृतिः स्मृता। दृष्टयश्च तथा भावा अंगोपांगानि सर्वशः॥
करारच ये महानृत्ये पूर्वोक्ता नृपसत्तम। त एव नृत्ये विज्ञेया नृत्यं चित्रं परं स्मृतम्॥

लंबे लंबे पट उन दिनों बहुत प्रचलित थे। कामसूत्र में ऐसे आख्यानक पटों (पृ० २६७) का उल्लेख है और मुद्रा राक्षस नाटक में यम-पटों की कहानी है। देवता, असुर, राक्षस, नाग, यक्ष, किन्नर, वृक्ष, लता, पशु, पक्षी सब कुछ चित्र के विषय थे। इनकी लम्बाई चौड़ाई आदि कैसी होनी चाहिये, इन विषयों का शास्त्र ग्रंथों में विशेष रूप से उल्लेख है।

सम्भ्रान्त परिवार के अन्तःपुर की देवियों में चित्र विद्या का कैसा प्रचार था, इसका अन्दाज़ा इसी बात से लगाया जा सकता है कि कामसूत्र में लड़कियों के लिये जो उपहार अत्यन्त आकर्षक हो सकते हैं उनकी सूची में एक पटोलिका का मुख्य स्थान है। इस पटोलिका में अलक्तक (महावर), मनः शिला (मैनसिल), हरिताल, हिंगुल और श्याम वर्णक (राजावर्तक का चूर्ण ?) रहा करते थे। हमने पहले ही देखा है कि इन पदार्थों से शुद्ध और मिश्र रंग बनाने का काम लिया जाता था। संस्कृत नाटकों में शायद ही कोई ऐसा हो, जिस में प्रेमी या प्रेमिका अपनी गाढ़ विरह-वेदना को प्रिय के चित्र बना कर न हल्की करती हो। मृच्छकटिक की गणिका वसन्तसेना चारुदत्त का चित्र बनाती है, शकुन्तला नाटक का नायक दुःष्यन्त विरही होकर प्रियतमा का चित्र बना कर मन बहलाता है, रत्नावली में तो चित्रफलक ही नाटक के द्वन्द्व को तीव्र और भाव को सान्द्र बना देता है। उत्तर चरित में राम जानकी अपने पूर्वतर चरित्रों का चित्र देखकर विनोद करते हैं। कालिदास के ग्रंथों से जान पड़ता है कि विवाह के समय देवताओं के चित्र बनाकर पूजे जाते थे, वधुओं के दुकूल-पट्ट के आंचल में हंस के जोड़े बनाये जाते थे और चित्र देखकर वर वधू के संबन्ध ठीक ठीक किये जाते थे। ध्वस्त अयोध्या नगरी वर्णन प्रसंग में महाकवि ने कहा है कि प्रासादों की भित्ति पर पहले नाना भांति के पद्मवन चित्रित थे और उन पद्म वनोंमें बड़े बड़े मातंग (हाथी) चित्रित थे, जिन्हें उनकी प्रियतमा करेणु-बालायें मृणाल खंड देती हुई अंकित की गई थीं। ये चित्र इतने सजीव थे कि उन्हें वास्तविक हाथी समझकर आज की विध्वस्तावस्था में वहां के रहने वाले सिंहों ने अपने तेज़ नाखूनों से उनका कुंभस्थल विदीर्ण कर दिया है! बड़े बड़े महलों में जो लकड़ी के खंभे लगे हुए थे, उन पर मनोहर स्त्री मूर्तियां अंकित थीं और उनमें रंग भी भरा गया था। अवस्था के गिरने से ये दारु मूर्तियां फीकी पड़ गई थीं। आज सांपों की छोड़ी हुई केंचुलें ही उनके वक्षः स्थल के आवरण योग्य दुकूल वस्त्र का कार्य कर रही हैं[1]। जान पड़ता है, उन दिनों इस प्रकार के चित्र बहुत प्रचलित थे। अजन्ता में हूबहू एक वैसा ही चित्र है, जैसा कि कालिदास ने ऊपर के हाथी वर्णन के प्रसंग में कहा है। दुर्भाग्यवश कालके निर्मम स्रोत में उस युग की दारुमयी स्तंभ प्रतिमायें एकदम लोप हो गई हैं। नहीं तो इसका भी कुछ उदाहरण मिल ही जाता।

नाटकादि में चित्र का जो प्रसंग आता है, उसमें सर्वत्र विद्ध चित्र की ही प्रशंसा मिलती है, अर्थात् जो चित्र देखने में ठीक हू-ब-हू मूल वस्तु से मिल जाता था वही प्रशंसनीय समझा जाता था। कालिदास की शकुन्तला में एक विवादास्पद अर्थवाला श्लोक आता है जिसमें शायद चित्र

---

१ चित्रद्विपाः पद्मवनावतीर्णाः करेणुभिर्दत्तमृणालभंगाः।
नखांकुशाघातविभिन्नकुंभाः संरब्धसिंहप्रहृतं वहन्ति॥
स्तंभेषु योषित् प्रतियातनानामुत्क्रान्तवर्णक्रमधूसराणाम्
स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति सगान्निर्मोक पट्टाः फणिभिर्विमुक्ताः।

—रघुवंश १६ १६-१७

की अपूर्णता की ओर इशारा किया गया है। राजा दुष्यन्त ने शकुन्तला का जो चित्र बनाया था जिसमें शकुन्तला के दोनों नेत्र कान तक फैले हुए थे, भ्रूलता लीला द्वारा कुंचित थे, अधर देश उज्ज्वल दसन-छवि की ज्योत्स्ना से समुद्भासित थे, ओष्ठ प्रदेश पकी बेर के समान पाटल वर्ण के थे, विभ्रम-विलास की मनोहारिणी छवि की एक तरल धारा सी जगमगा उठी थी, चित्रगत होने पर भी मुख में ऐसी सम्भावना थी कि जान पड़ता था अब बोला अब बोला[1] ! मिश्रकेशी नामक शकुन्तला की सखी ने इस चित्र को देखकर आश्चर्य के साथ अनुभव किया था कि मानों उसकी सखी सामने ही खड़ी है। पर राजा को सन्तोष नहीं था। इतना भावपूर्ण सजीव चित्र भी कुछ कमी लिये हुए था। राजा ने कहा कि—चित्र में जो जो साधु अर्थात (ठीक) नहीं होता, उसे दूसरे ढङ्ग से (अन्यथा) किया जाता है तथापि उसका लावण्य रेखा से कुछ अन्वित हुआ है[2]।—यह श्लोक का कंकाल है। इन वाक्यों का अर्थ पंडितों ने कई प्रकार से किया है। पर जान पड़ता है कि राजा का भाव यही है कि हजार यत्न किया जाय मूल वस्तु का भाव चित्र मे नहीं आ पाता। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि कालिदास ने चित्र में जो जो गुण बताये हैं, वे निश्चित रूप से उत्तम कला के सबूत हैं। यह जो बोलता बोलता भाव है, या फिर ऊंचे स्थानों का ऊंचा दिखाना, निम्न स्थानों का निम्न दिखाना, शरीर में इस प्रकार रंग और रेखा का विन्यास करना कि मृदुता और सुकुमारता निखर आवे, मुख पर ऐसा भाव चित्रित करना कि प्रेम दृष्टि और मुसुकान-भरी वाणी प्रत्यक्ष हो उठे,[3] निस्सन्देह बहुत ही उत्तम कला का निदर्शन है। किन्तु विष्णुधर्मोत्तर के चित्र सूत्र के आचार्य को इतना ही काफी नहीं जान पड़ता। वे और भी सूक्ष्मता चाहते हैं, और भी कौशल होने पर दाद देना स्वीकारते हैं। जो चित्रकार सोये हुये आदमी में चेतना दिखा सके, या मरे हुए में चेतना का अभाव दिखा सके, निम्नोन्नत विभाग को दिखा सके, तरंग की चंचलता, अग्नि शिखा की कम्पमानता, धूम का तरंगित होना और पताका का लहराना दिखा सके, असल में उसे ही आचार्य चित्रविद् कहना चाहते हैं[4]।

ऐसा जान पड़ता है कि विद्ध चित्रों के चित्रण में उन दिनों पूरी सफलता मिली थी। राजा और रानियों की पुरुष प्रमाण प्रतिकृति उन दिनों नियमित रूप से राज घरानो मे सुरक्षित रहती

---

१ दीर्घापंगविसारिनेत्रयुगलं लीलांचितभ्रूलतं ।
दन्तान्तःपरिकीर्णहासकिरणज्योत्स्नाविलिप्ताधरम् ॥
कर्कन्धूद्युतिपाटलोष्ठरुचिरं तस्यास्तदेतन्मुखम् ।
चित्रेऽप्यालपतीव विभ्रमलसत् प्रोद्भिन्न कान्तिद्रवम् ॥१०२

२ यद् यत्साधु न चित्रे स्यात् क्रियते तत्तदन्यथा ।
तथापि तस्या लावण्यं रेखया किञ्चिदन्वितम् ॥ १०३

३ अस्यास्तुंगमिव स्तनद्वयमिदं निम्नेव नाभिः स्थिता ।
दृश्यन्ते विषमोन्नताश्च वलयो भित्तौ समायामपि
अंगे च प्रतिभाति मार्दवमिदं स्निग्धप्रभावाच्चिरं ।
प्रेम्णा मन्मुखमीषदीक्षत इव स्मेरा च वक्तीव माम् ॥ १०४। ६ ष्ठ अंक

४ तरंगाग्निशिखाधूमवैजयन्त्यम्बरादिकम् । वायुगत्या लिखेद्यस्तु विज्ञेयः स तु चित्रवित्
सुप्तं च चेतनायुक्तं मृतं चैतन्यवर्जितम् । निम्नोन्नतविभागं च यः करोति स चित्रवित् ॥

थी। हर्ष चरित से जान पड़ता है कि श्राद्ध के बाद पहला कार्य होता था मृत व्यक्ति का आलेख्य बनाना। यद्यपि अन्तःपुर और समृद्ध नागरकों के वहिर्निवास में ही कला का अधिक उल्लेख मिलता है, तथापि साधारण जनता में भी इस कला का प्रचार रहा होगा। संस्कृत नाटकों और नादिकाओं में परिचारिकाओं को प्रायः चित्र बनाते अंकित किया गया है। प्राचीन ग्रन्थों से इस बात का सबूत भी मिल जाता है कि उन दिनों स्वयं लोग अपना चित्र भी बनाते थे। भारतवर्ष ने उस काल में इस विद्या में जो चरम उत्कर्ष प्राप्त किया था उसका ज्वलन्त प्रमाण अजन्ता और बेलूर आदि की गुफायें हैं।

(आगामी अंक में समाप्य)

ओ मेरे बचपन की कश्ती

क़मर, जलालाबादी

ओ मेरे बचपन की कश्ती, इन काली काली रातों में,
किस जानिब[1] भागी जाती है, इन तूफ़ानी बरसातों में ?

दिल में उलफ़त, आखों में चमक, नज़रों में हिजाब[2] आने को है,
भंवरों से निकल लहरो से संभल, तूफ़ाने शबाब[3] आने को है।

शहरों में डाकू बसते है, ले चल मुझको सहराओं[4] में,
ओ मेरी जवानी, ले भी चल, जगल की मस्त हवाओं में!

आ उस जा[5] भाग चलें जिस जा, यह जिस्म लुटाये जाते है,
जिस जा आजादी की ख़ातिर, सर भेंट चढ़ाये जाते हैं।

जहा दिल की नजरें[6] चढ़ती है, आजादी के दरबारों मे,
जिस जगह जवानी पलती है, हथकड़ियों की झनकारों में।

---

१ तरफ़, २ लज्जा, ३ जवानी का तूफ़ान, ४ जंगलों, ५ जगह, ६ भेंटें।

क्या क्या चीज़ें साथ खाई जा सकती हैं ?

डाक्टर सतीशचन्द्र दास

एल० आर० सी० पी० एण्ड एस० [एडिनबरा], एल० आर० एफ़० पी० एण्ड एस० [ग्लासगो] एल० एम० [डबलिन]
भूतपूर्व चीफ़ मेडिकल आफ़ीसर, नैपाल

इस विषय पर श्री अत्रिदेव गुप्त का वह लेख जो जुलाई की 'विश्ववाणी' में छपा है, मैने ध्यान से पढ़ा। गुप्त जी की देशभक्ति और परोपकार वृत्ति की मैं तारीफ़ करता हूँ। जिस नेक इरादे से उन्होंने वह लेख लिखा है, उसकी भी मेरे दिल में बड़ी क़द्र है। लेकिन ख़ुराक के बारे में उनके विचार प्राचीन पुस्तकों के आधार पर, जिन्हें शास्त्र कहा जाता है, और इस देश के परम्परा गत रिवाजो के आधार पर बने हैं; जब कि ये नये विचार आजकल की कैमिस्ट्री (रसायन-शास्त्र) और फ़िज़ियालॉजी (शरीर-शास्त्र) पर क़ायम है। इसलिये उनके लिये इन नये विचारों की क़द्र कर सकना आसान नहीं है। फिर भी मुझे इस बात की ख़ुशी है कि भोजन की मिक़दार, उपवास, व्यायाम इत्यादि के बारे में इन नये विचारों में से अधिकांश को पुराने साहित्य से पुष्टि मिलती है। गुप्त जी के और मेरे विचारों में मुख्य भेद इस बात में है कि खाने की किन किन चीज़ों का आपस में मेल है और किन किन चीज़ों का नहीं है। इन नये विचारों पर राय क़ायम करने के लिये हमे उनके ठीक होने या न होने, उनकी भलाई या बुराई के अनुसार राय क़ायम करना चाहिये, यह समझ कर नहीं बैठ जाना चाहिये कि जो पुराने ग्रन्थों में लिखा है—वह सब सच है और जो बात भी उनके ख़िलाफ़ हो, सब ग़लत है। इस तरह के विश्वास के आधार पर हमे नये विचारों का विरोध नहीं करना चाहिये। लेकिन उन लोगों से हम इस बात की आशा नहीं कर सकते, जो ये समझते हों कि जो चीज़ भी उन संस्कृत पुस्तकों में, जिन्हे शास्त्र कहा जाता है, लिख दी गयी है, वह हमेशा के लिये सच्ची और जो भी रिवाज परम्परा से चला आ रहा है वह ज़रूर अच्छा है। मिसाल के तौर पर जो लोग यह समझते हैं कि हिन्दुस्तान में दाल और रोटी और यूरोप मे मांस और डबल रोटी चूंकि सब तरह के करोड़ों आदमी हज़ारों बरस से साथ साथ खाते चले आये हैं, इसलिये इन चीज़ों का एक दूसरे से मेल ज़रूरी है। यानी 'कारबो हाइड्रेट' और 'प्रोटीन' (रोटी मे कार्बो हाइड्रेट ज़्यादह होता है और दाल या गोश्त में प्रोटीन ज़्यादह होता है) साथ मिलाकर खाना ठीक है। जर्मनी और अमरीका जैसे दूसरे देशों मे भी लोग इस तरह के खानों के ठीक होने में सन्देह करने लगे हैं। उन्हें अपनी इस ख़ुराक में कोई दोष दिखायी देता है, तो वे उसका पता लगाने और उसे ठीक ठीक समझने की ज़बरदस्त कोशिशें करते हैं। पिछले महायुद्ध के बाद से उन देशों में इस तरह के तजरुबे ख़ूब हो रहे हैं, और इन तजरुबों की रोशनी में वे अपनी ख़ुराक को ठीक करते जा रहे हैं। उनका उद्देश्य अपने अपने देशों की मानव-शक्ति को बढ़ाना है और यही उनके तजरुबों का नतीजा होता है। जर्मनी के लोगों ने सन् १९१८ की हार के बाद से इस तरफ़ ज़ोरों के साथ ध्यान देना और मन को लगाना शुरू किया। इसी तरह अमरीका वालों ने भी इस बात का पता लगाया कि उनके देश में उम्र के लिहाज़ से जितने आदमी फ़ौज में भरती किये जा सकते थे,

उनमें से ७० फ़ीसदी डाक्टरी यानी तनदुरुस्ती के लिहाज़ से भरती किये जाने के नाक़ाबिल थे। उन लोगों ने इस अफ़सोसनाक हालत के कारणों का पता लगाने के लिये गम्भीरता के साथ सोचना शुरू किया। उन्होंने तरह तरह की खोज और तहक़ीकात की। नये नये तजरुबे किये। इनसे उन्होंने कुछ नतीजे निकाले।

अब हमें यह देखना चाहिये कि क्या हमारी तनदुरुस्ती किसी अंश मे भी जर्मनी वालों या अमरीका वालों से अच्छी है ? हम बहुत जल्दी इस बात को देख सकते हैं कि अगरचे हम हज़ारों बरस से दाल और रोटी साथ साथ खाते चले आ रहे हैं, भारत सरकार की तनदुरुस्ती सम्बन्धी रिपोर्टों से साबित है कि हमारी तनदुरुस्ती जर्मनी और अमरीका के लोगो की तनदुरुस्ती से कहीं बुरी है। हमारी हालत इस विषय में उनसे कहीं ज्यादह अफ़सोसनाक है। मैं उस रिपोर्ट से लेकर थोड़ी सी बातें नीचे देता हूँ।

(१) हिन्दुस्तान मे जितनी स्त्रियों को गर्भ रहता है, उन सब मे से लगभग ३० फ़ी सदी का गर्भ कच्चा गिर जाता है और ८ फ़ीसदी बच्चे मरे हुये पैदा होते है। इसके मुक़ाबिले में इंगलिस्तान मे इन दोनों तरीक़ों से मिलाकर कुल ८ फ़ीसदी बच्चे नष्ट होते हैं। यानी इस देश में ६२ फ़ीसदी और इंगलिस्तान में ९२ फीसदी बच्चे ज़िन्दा पैदा होने हैं। इसके बाद जो बच्चे इस देश मे ज़िन्दा पैदा होते हैं, उनमें हर एक हज़ार बच्चो पीछे २५० से लेकर ३०० तक पहले साल के अन्दर मर जाते हैं। हिन्दुस्तान की इस भयंकर स्थिति के मुक़ाबिले में यूरोप में हर हज़ार पीछे सिर्फ़ ८० बच्चे एक साल के अन्दर मरते हैं। अब हम ज़रा उन बच्चों की तनदुरुस्ती की तरफ़ निगाह डालें, जो एक साल के बाद ज़िन्दा रह जाते हैं। हिन्दुस्तान मे एक आदमी की औसत उम्र केवल २३ साल है, इंगलिस्तान मे ५६ और अमरीका में ६०। हमारे नौजवानों में से अधिकांश की तनदुरुस्ती अच्छी नहीं रहती। ४० बरस की उम्र के बाद हम में से अधिकांश बिला शुबह किसी न किसी रोग के शिकार हो जाते हैं। यूरोप के देशों मे ४० तक पहुँच कर लोगों की तनदुरुस्ती सबसे अच्छी होती है और जवानी की शक्ति उनमें भरी रहती है। इन सब बातों के होते हुए भी जब कि यूरोप वाले अपनी तनदुरुस्ती की हालत से सन्तुष्ट नहीं हैं और अपनी इस तनदुरुस्ती को बेहतर करने और अपनी औसत उम्र को बढ़ाने के तरीक़े सोच निकालने की लगातार कोशिशें कर रहे हैं और उसमें सफलता प्राप्त कर रहे है, हम हिन्दुस्तानियों के लिये इस तरह की कोशिशें करना कितना ज्यादा ज़रूरी हो जाता है। मैं इस बात को भी अच्छी तरह जानता हूँ कि हिन्दुस्तान के लोगों की तनदुरुस्ती के इस बिगड़ने के और भी कई कारण हैं, जैसे राजनैतिक ग़ुलामी, भयंकर ग़रीबी, शिक्षा की कमी, इत्यादि। लेकिन मुझे इस बात का उतना ही विश्वास है कि इन अनेक कारणों में से, यदि सबसे बड़ा कारण नहीं, तो कम से कम एक बड़ा कारण हमारी ख़ुराक भी है। दूसरे कारणों को दूर करने के लिये बड़े बड़े नेता अपनी शक्ति लगा रहे हैं। मैंने पिछले बारह बरस से अपने दिमाग़ को आख़िरी कारण के ऊपर ही लगाया है। इस अरसे में मैने ख़ुद अपने ऊपर और दूसरों के ऊपर भी बहुत से तजरबे किये हैं। और मुझे इस बात को देख कर भी ख़ुशी हुई कि भारत सरकार की क़ायम की हुई कोनूर रिसर्च इंस्टीट्यूट अपनी खोजों के ज़रिये और समय समय पर बुलेटिन यानी पत्रिकाएं निकाल कर इस बारे में बहुत ही क़ीमती काम कर रही है। इस तरह, जिन विचारो का मै इस समय समर्थन कर रहा हूँ वे विचार मेरे अपने निजी तजरुबों और आजकल की फ़िज़ियालॉजी (शरीर-शास्त्र) के आधार पर क़ायम हैं और हाल की खोजों के मुताबिक़ और उन्हीं का

नतीजा हैं। मनुष्यों मनुष्यों के स्वभाव में फ़रक़ होता है। कुछ लोग किसी न किसी बाहरी प्रमाण के सहारे चलना चाहते हैं और उसी के अनुसार सब काम करते हैं। दूसरे लोग इस तरह के हैं कि जब तक हर सवाल पर वह ख़ुद अच्छी तरह ग़ौर न कर लें, उनकी तसल्ली नहीं होती। इस तरह के लोग ख़ुद अपनी स्वतंत्र राय क़ायम करना चाहते हैं। इन दोनों तरह के लोगों का दृष्टिकोण क़रीब क़रीब हर बात में एक दूसरे से अलग होता है। इसलिये 'विश्ववाणी' के पाठकों के लिये यह बहुत अच्छी बात है कि उन्हें इस सवाल के दोनों पहलू और दोनों की राय पढ़ने को मिल जावें। हर पढ़ने वाला अपने स्वभाव और अपनी तबीयत के झुकाव के अनुसार जिस राय को चाहे अपना सकता है।

अब मैं कुछ बातें इस सम्बन्ध के पंडित सुन्दरलाल जी के उस लेख के बारे में कहना चाहता हूँ जो मई सन् ४१ की 'विश्ववाणी' में छपा है। उसमें कुछ बातें और ज़्यादह साफ़ करने की ज़रूरत है, और कुछ कमियां भी हैं जिन्हें मैं इस समय पूरा किये देता हूँ।

सब से पहले हमें यह जान लेना चाहिये कि हमारे खाने का उद्देश्य क्या है? हमारे खाने के उद्देश्य यह हैं—(१) हमारे शरीर में ताक़त बनी रहे, (२) हमारे शरीर की गरमी क़ायम रहे, (३) छोटे बच्चों और क़रीब पच्चीस साल की उम्र तक के बड़े लोगों के शरीरों को बढ़ने में मदद मिले, (४) हमारे शरीर के जो अंश हर सेकेण्ड लगातार नष्ट होते रहते हैं, उनकी कमी पूरी होती रहे और शरीर की मरम्मत होती रहे, और (५) हमारे ख़ून में जितना अलकलाइन यानी खार का अंश है वह बराबर क़ायम रहे।

खाने की चीज़ों को कई तरीक़ों से अलग अलग क़िस्मों में बांटा जा सकता है।

(१) Chemical composition यानी इस ख़्याल से कि किस किस खाने में क्या क्या रसायनिक पदार्थ मौजूद हैं। पांच तरह की चीज़ें हो सकती हैं—(अ) कारबोहाइड्रेट, यानी जिन खानों में कारबन हाइड्रोजिन पाये जाते हैं जैसे गेहूँ, चावल, शक्कर, केला, खजूर इत्यादि (आ) प्रोटीड्स जिसमें ख़ास कर सब तरह की दालें वग़ैरह शामिल हैं, (इ) फ़ैट्स, जैसे घी तेल वग़ैरह, (ई) वे चीज़ें जिनमें खनिज पदार्थ हैं, जैसे नमक, गन्धक, लोहा इत्यादि और (उ) पानी।

(२) Physiological यानी इस दृष्टि से कि कौन कौन चीज़ हमारे शरीर के अन्दर जाकर क्या क्या काम करती है, (अ) वे खाने जो गरमी और शक्ति पैदा करते हैं, जैसे कारबोहाइड्रेट्स और फैट्स* (गेहूँ आदि और घी, तेल वग़ैरह) और एक दरजे तक प्रोटीड्स यानी दालें इत्यादि भी, (आ) वे खाने जो शरीर के बढ़ने में मदद देते है, और शरीर के जो हिस्से पट्ठे वग़ैरह नष्ट होते रहते हैं (tissue wastes) उन्हें फिर से मरम्मत करके ठीक करते रहते हैं, यह काम मुख्य कर प्रोटीड्स यानी दालों, वग़ैरह का है, (इ) वे खाने जो ख़ून के अन्दर (alkalinity) खार के अंश को ठीक ठीक बनाए रखते हैं, इनमें फल और वह सब्ज़ियां शामिल हैं, जिनमें काफ़ी खनिज पदार्थ हैं, (ई) विटेमिन्स, ये वह चीज़ें हैं जिनके रसायन (chemistry) की खोज अभी जारी है, लेकिन जिनके

---

* Protieds—which contains Nitrogen in addition to C H and O.
Fats—also consist of C. H. and O but in different proportions to those of the starch.

बारे में यह ठीक ठीक पता लग चुका है कि शरीर के अन्दर वे क्या काम करते हैं, ये विटेमिन हमारे अन्दर एक तरह के राज मजदूरों का काम करते हैं। जितनी तरह के खानों का ऊपर जिक्र किया गया है वे सब वह मसाला ईंट चूना वगैरह हैं, जिनसे शरीर की रचना होती है और ये विटेमिन रचना करने वाले "राज मजदूर" (builders) हैं। जब तक ये विटेमिन शरीर के अन्दर न पहुँचें तब तक खाली मसाले से शरीर की रचना हो ही नहीं सकती। दूसरे शब्दों में हमारे खाने के अन्दर जब तक काफी विटेमिन मौजूद न हों, तब तक कोई चीज़ न हज़म हो सकती है, न शरीर में लग सकती है और न उसके अन्दर का निकम्मा हिस्सा शरीर से बाहर फिंक सकता है।

(३) Metabolic classification* -यानी इस दृष्टि से कि शरीर के अन्दर जाकर धीरे धीरे हज़म होते होते और शरीर में लगते लगते किस चीज़ का क्या रूप होता रहता है ? जितनी चीज़ें हम खाते हैं सब शरीर के अन्दर जाकर कुछ का कुछ बनती रहती हैं। आख़ीर में उन की तीन तरह की रसायनिक प्रतिक्रिया होती रहती है। कुछ की एसिड यानी तेजाब या खटाई का रूप, कुछ का अलकलाइन यानी खार (चूना नमक इत्यादि) का रूप, और कुछ का इनमें से कुछ नहीं बदल (अ) जिन चीज़ों में कारबोहाइड्रेट्स या प्रोटीड्स या फैट्स अधिक हों (जैसे नाज, दालें, घी वगैरह) वे सब आख़ीर में, यानी हज़म होने के बाद, शरीर में तेज़ाब या खटाई पैदा करते हैं, (आ) रसीले और खटाई लिए हुए फल और सब्ज़ियां जिनमें काफ़ी खनिज पदार्थ (नमक वगैरह) होते हैं, आख़ीर में खार पैदा करते हैं, (इ) दूध में जितनी चीज़ें तेज़ाब पैदा करने वाली हैं, ठीक उतनी ही खार पैदा करने वाली हैं, तेज़ाब और खार एक दूसरे को काटते हैं यानी न तेज़ाब रहता है न खार (So its end product is Nautral)

अब मैं इस मुख्य सवाल पर आता हूँ कि किन किन खानों का आपस में मेल है (Compatibility of foods)। इसे ठीक ठीक समझने के लिए हमें थोड़ा सा मोटा ज्ञान इस बात का होना चाहिये कि आदमी के शरीर के अन्दर खाना किस तरह हज़म होता है। हज़म होने (Digestion) से मतलब यह है कि जो हल न हो सकने वाली चीज़ें हम खाते हैं वे रसायनिक क्रिया से ऐसी शक्ल में बदल जावें कि हल हो सकें, ताकि आसानी से शरीर में लग सकें। यह सब काम हमारे शरीर के अन्दर उस एक क़रीब ३३ फुट लम्बी लगातार नली में होता है, जिसे 'एलिमेण्टरी कैनाल' कहते हैं। यह नली हमारे मुंह से शुरू होती है और गुदा पर ख़त्म होती है। इसके छै मुख्य हिस्से हैं—(१) मुंह, (२) फैरिन्क्स, (३) ईसोफ़ैगस, (४) मेदा यानी आमाशय, (५) छोटी अंतड़ी, और (६) बड़ी अंतड़ी।

जितनी चीज़ें हम खाते हैं उनमें से (१) कारबोहाइड्रेट्स (गेहूँ, चावल, शक्कर वगैरह मुंह के अन्दर हज़म होना शुरू होते हैं, और खार माध्यम में यानी खार रस में हज़म होते हैं, (२) इसी तरह प्रोटीड्स (दालें वगैरह) मेदे के अन्दर पहुँच कर तेज़ाब या खटाई के माध्यम में हज़म होना शुरू होते हैं। लेकिन कारबोहाइड्रेट्स, प्रोटीड्स और फैट्स तीनों पूरी तरह छोटी अंतड़ी

* (3) Metabolic classification. (a) Those which have acid end products are Carbohydrates, Proteids and Fats (b) Those which have alkaline end products are juicy fruits and low vegetable. (c) Those which have natural end products—milk only

में जाकर हज़म होते हैं। वहां पहुँच कर ही इन तीनों के हाज़मे से जो आख़री शक्लें बनती हैं, वह खून में मिल कर शरीर के अन्दर गरदिश करने लगती हैं। बड़ी अंतड़ी का ख़ास काम केवल ख़ुराक के निकम्मे हिस्से यानी फ़ुज़ले को तथा अन्य दूसरे कचरे को शरीर से बाहर निकाल देना है। इस अंतड़ी में से सिर्फ़ पानी शरीर के अन्दर खपता है। यानी जो कुछ हम खाते हैं, उसमें से जो जो अंश शरीर के अन्दर हज़म होकर और मिल कर शरीर का अंग बन जाते हैं, उनके बाद जो फ़ालतू अंश रह जाता है, वह रक़ीक़ यानी पानी की तरह पतले रूप में इस बड़ी अंतड़ी में पहुँचता है। उस लम्बी अंतड़ी में जब यह चीज़ धीरे धीरे नीचे को जाती है तो उसका पानी शरीर में खपता जाता है और धीरे धीरे वह गाढ़ी यानी ठोस होती जाती है, यहां तक कि अन्त में जो फ़ुज़ला या पाख़ाना आख़ीर में जाकर नीचे निकलता है वह, तन्दुरुस्ती की हालत में, नरम लेकिन ठोस और बंधा हुआ होना चाहिये। अब जब हम अपने शरीर के अन्दर की इस थोड़ी सी बात को जान गए, तो हमें इस बात के समझने में आसानी होनी चाहिये कि किन किन पदार्थों का आपस में मेल है और किन किन का नहीं।

अब हम इन नतीजों पर पहुँचे कि—

(१) जिन खानों में कारबोहाइड्रेट्स की मात्रा अधिक है (जैसे गेहूँ चावल, शक्कर, केला, खजूर इत्यादि) उनका हाज़मा खार रस के अन्दर मुंह में ही शुरू हो जाता है और तेज़ाब और खार (जैसे खटाई और चूना) इनका आपस में बैर है। इसलिए ऊपर लिखी खाने की चीज़ें हर क़िस्म की तेज़ाबी या खट्टी चीज़ों के साथ बेमेल हैं, जैसे नीबू, इमली, दही इत्यादि। क्योंकि ये चीज़ें यानी नीबू वग़ैरह मुंह के अन्दर के पाचक रस के खार को नष्ट कर देंगी, और कारबोहाइड्रेट्स यानी गेहूँ शक्कर वग़ैरह के हाज़मे में बाधा डालेंगी।

(२) इसी तरह वे चीज़ें जिनमें कारबोहाइड्रेट्स की मात्रा अधिक है उन चीज़ों के साथ बेमेल हैं, जिनमें प्रोटीड्स की मात्रा अधिक है जैसे दालें। क्योंकि कारबोहाइड्रेट्स का हाज़मा मुंह के अन्दर खार रस में शुरू हो जाता है और प्रोटीड्स यानी दाल वग़ैरह का हज़म होना मेदे के अन्दर जाकर तेज़ाब यानी खटाई में शुरू होता है। अगर कारबोहाइड्रेट्स के साथ कोई प्रोटीड्स न खाए जावें, तो कारबोहाइड्रेट्स मुंह में से अपने साथ खार रस लेते हुए मेदे में पहुँचेंगे और मेदे के अन्दर भी उनका हज़म होना बराबर आसानी से जारी रहेगा क्योंकि वे मेदे के अन्दर से तेज़ाब नहीं खींचेंगे। लेकिन अगर प्रोटीड्स, कारबोहाइड्रेट्स के साथ साथ खाए गए तो प्रोटीड्स मेदे में पहुँचते ही अपने हज़म होने के लिए तेज़ाब रस खींचेंगे और यह तेज़ाब रस उस खार रस के साथ मिल कर निकम्मा और रद्द हो जायगा, जो कि कारबोहाइड्रेट्स अपने साथ मुंह में से लेते गए हैं, इस तरह दोनों के हाज़मे में रुकावट पड़ेगी, देर लगेगी और शक्ति नष्ट होगी।

यह भी मालूम रहना चाहिये कि ये खार रस मुंह में और तेज़ाब मेदे में कहीं भरे नहीं रहते, बल्कि जो खाना इनमें पहुँचता है वह अपनी ज़रूरत के मुताबिक़ इनमें से उन रसों को खींचता है।

(३) इन्हीं कारणों से वे साग-सब्ज़ियां और फल जिनमें कारबोहाइड्रेट्स का हिस्सा बहुत ज्यादह होता है, जैसे आलू, केला, खजूर, किशमिश इत्यादि, प्रोटीड्स (दालों वग़ैरह) के साथ बेमेल हैं, लेकिन तेज़ाबी या खटाई लिए हुए फल या खट्टी चीज़ें प्रोटीड्स (दालों वग़ैरह) के साथ ख़ूब मेल रखती हैं।

(४) दूध सबसे अच्छा तब हज़म होता है जब कि अकेला लिया जाय। ज्यादह कारबो हाइड्रेट्स वाली चीज़ों या प्रोटीड्स वाली चीज़ों के साथ दूध इतनी अच्छी तरह हज़म नहीं होता। इन माइनों में दूध इन दोनों के साथ बेमेल है। लेकिन दूध उन सब्ज़ियों या फलों के साथ खाया जा सकता है, जिनमें कारबोहाइड्रेट्स की मात्रा या प्रोटीड्स की मात्रा बहुत कम है। खटाई लिए हुए फलों या खट्टी चीज़ों का दूध के साथ ख़ूब मेल है, जैसे दूध और सन्तरा, क्योंकि दूध का हज़म होना भी मेदे में जाकर तेज़ाब या खटाई के अन्दर ही शुरू होता है। इसके अलावा खटाई वाले फलों का रस जब दूध के साथ लिया जाता है तो उससे मेदे में ऐसा सुन्दर दही (Curds) बन जाता है, जो दूध को हज़म होने में मदद देता है। साथ ही खास कर हमारे देश में जहां बाज़ार का कच्चा दूध पीना ज़रा खतरनाक है और दूध को उबालना पड़ता है, उबालने से दूध के जो 'विटेमिन' नष्ट हो जाते हैं, इन फलों का रस उस विटेमिन की कमी को पूरा कर देता है।
अंदर या मेदे में उनके हज़म होने में बड़ी दिक़्क़त पड़ती है। किन्तु प्रकृति ने यह इन्तज़ाम कर दिया है कि छोटी अंतड़ी में पहुँच कर ये चीज़ें थोड़ा बहुत हज़म हो जाती हैं और ज़ाहिरा हमें तन्दुरुस्त और ज़िन्दा बनाए रखती हैं। लेकिन इससे छोटी अंतड़ी की शक्ति और उसके खाने को हज़म करने वाले हिस्सों पर बड़ा ज़ोर पड़ता है, जिससे आख़ीर में हमारी तन्दुरुस्ती को नुकसान पहुँचे बिना नहीं रहता। इसलिये ख़ास कर उन लोगों के लिये जिन्हें अपनी तन्दुरुस्ती को बेहतर करने की ज़रूरत है और जो बेहतर करना चाहते हैं खाने की चीज़ों में मेल और बेमेल का ख़याल रखना बहुत ज़रूरी है।

मैं समझता हूँ मैंने थोड़े से में श्री गुप्त जी के लेख पर अपने विचार प्रकट कर दिये और पं० सुन्दरलाल जी के लेख में जो बातें साफ़ नहीं हुई थीं उन्हें भी दे दिया।

१८-८-४१
सेवागांव, वर्धा

पूरम पार भरी है गंगा

मक़बूल हुसेन, अहमदपुरी

पूरम पार भरी है गंगा, खेवनहारे हौले हौले !
मेघ प्रेम का छाया मन में प्रियतम बोल पपीहा बोले;
वर्षा रुत औ रात अंधेरी, नाव प्रेम की खाय झकोले !
संभल संभल रे प्रेम के जोगी, मन की गांठ न कोई खोले;
देख देख अनमोल समय है, अपने मन ही मन में रोले !
नींद प्रेम की सब से प्यारी, दुःख सहले फिर जी भर सोले;
रीत यही है इस नगरी की, पहले मन की माया खोले !

महान भारतीय संस्कृति पर एक दृष्टि

डाक्टर कृष्णस्वामी आयंगर, एम० ए०, पी० एच० डी०

लगभग सौ वर्ष पहले यह बात मशहूर थी कि हिन्दुस्तान का ठीक ठीक इतिहास सिकंदर के हमले से शुरू होता है। इस कथन में सचाई का काफ़ी अंश था। संकीर्णतः विचार करने पर ऐसे इतिहास के विषय में यह बात अब भी ठीक उतरती है, जिसमें तिथि और वर्ष निश्चित रूप से दिये हुये हैं। फिर भी ठीक ठीक तिथि निर्णय की दृष्टि से भारत वर्ष का इतिहास कम से कम इससे एक हज़ार वर्ष और पुराना सिद्ध होता है। अतएव काल-विवरण के विचार से भी यह कहा जा सकता है कि हम अपने इतिहास को चौदह सौ ईस्वी पूर्व तक ले जा सकते हैं। भारतीय सभ्यता और संस्कृति को समझने के लिये, जो सचमुच इतिहास को अच्छी तरह समझने का ध्येय है, यह परिणाम बिलकुल सच है।

भारतीय संस्कृति के अध्ययन के क्षेत्र में सारा खोज का काम पहले भाषा-विज्ञान-सम्बन्धी खोज के सिलसिले में आरंभ हुआ। अब यह धीरे धीरे पुरातत्व का विषय होता जा रहा है। यह गवेषणा अपने विकास की बाद की सीढ़ियों में ऐतिहासिक अनुसंधान के रूप में प्रकट हुई। अंत में यह क्रमशः इतिहास के भिन्न भिन्न युगों का स्वरूप निश्चित रूप से निर्धारित करेगी।

इस कार्य का सबसे आरंभिक और महत्त्वपूर्ण भाग वर्णन के योग्य है। उसकी पहली झलक हमें अपने सबसे महान् पुरातत्ववेत्ता सर अलेक्ज़ेण्डर *कनिंघम से १८७०-७५ ई० के लगभग मिली थी। उन्होंने पंजाब के उस भाग में जो अब हड़प्पा के नाम से प्रसिद्ध है, कुछ पुरानी मुहरों और दूसरे प्रकार के चिन्हों का पता लगाया था। उन मुहरों पर जानवरों के निशान खुदे थे।* यह सब उस समय समझ में नहीं आते थे। परन्तु उनसे यह मालूम हुआ कि इन मुहरों के चिन्ह मैसोपोटामिया में खोद कर निकाली गई मुहरों के चिन्हों से बहुत कुछ मिलते जुलते हैं। उन्हीं दिनों सिंध में मोहेन जे दड़ो के आस पास कुछ वस्तुयें अकस्मात् मिलीं। वहां नियम से खुदाई का काम शुरू हुआ। हड़प्पा में भी क्रम-बद्ध खुदाई शुरू करने की ज़रूरत मालूम हुई। इन दोनों जगहों के अनुसंधानों से इस देश के प्राचीन इतिहास के क्षेत्र में एक नया युग खड़ा हो गया है। इस खोज ने हमे, भारत की आरंभिक आर्य सभ्यता के युग से भी दो हज़ार वर्ष पहले पहुंचा दिया है। सिंध में पुरातत्ववेत्ताओं ने सभ्यता का जो रूप पाया है, वह मानव सभ्यता का आदिम रूप नहीं है। इस विशेष दिशा में हम कभी सभ्यता के बिलकुल आदिम रूप तक पहुंच सकेंगे, यह लगभग असभव जान पड़ता है। कुछ आम दृष्टियों से सिंध की इस सभ्यता से निकट एशिया की वह सभ्यता मिलती है, जिसका पता हमें कुछ वर्षों से लग रहा है।

मोहन जे दड़ो और हड़प्पा की खुदाई

अगर मोहन जे दड़ो और हड़प्पा की मुहरों पर खुदो हुई लिपियों के आधार पर सिक्कों और इसी तरह की उन और वस्तुओं के विषय में खोज की जाय जो सारे देश में, विशेष कर दक्षिण में बिखरी हुई हैं, तो सिंधी लिपि और सिक्कों तथा मिट्टी के बरतनों आदि पर बनी हुई रेखाओं में एक निकट सम्बन्ध मालूम हो सकता है। हमें आशा करनी चाहिये कि इस दिशा में थोड़े और परिश्रम से कम से कम भारतवर्ष की लिपियों में एक आवश्यक सम्बन्ध सूत्र मिल जायगा। इस विशेष प्रश्न पर मैसोपोटामिया

की खुदाई के फलस्वरूप भविष्य में जो भी पता लग जाय, उसकी तो बात ही अलग है।

उत्तर-पश्चिम की ओर देखने से हमें ज्ञात होता है कि बीसवीं शताब्दी में इस क्षेत्र में बहुत उपयोगी काम हुये हैं और बड़ी महत्वपूर्ण सफलतायें भी मिली हैं। इस दिशा में, पुरातत्त्व सम्बन्धी खोज की सबसे बड़ी सफलतायें, सर ऑरेल स्टेन द्वारा की हुई तीन यात्राओं से प्रकट होती हैं, जो उन्होंने भारत-सरकार की ओर से की थीं। उन्नतिशील पुरानी बस्तियों और संस्कृति के लगभग एक दर्जन केन्द्र ज़मीन से खोदकर निकाले गये हैं और बहुत सी पुरातत्व सम्बन्धी वस्तुयें सुरक्षित रूप में मिली हैं। वे इस स्थान के सूखे जलवायु के कारण, बहुत अच्छी हालत में पाई गई हैं और बहुत दिनों तक सुरक्षित रक्खी जा सकती हैं। कला और संस्कृति के सभी विभागों के लिये इस सामग्री से काफी मूल्यवान् विवरण मिले हैं। और ये भारतीय ईरानी, निकट एशियाई तथा चीनी संस्कृति के पारस्परिक सम्बन्ध और प्रभाव को प्रकट करते हैं।

इसके अतिरिक्त इन यात्राओं का सबसे अधिक महत्वपूर्ण परिणाम यह है कि ये संसार के कुछ मशहूर यात्रियों, विशेषतः चीनी यात्री हुएन त्सांग और वेनीशियन यात्री मार्कोपोलो के वर्णन पर अच्छा प्रकाश डालती हैं। इन दोनों यात्रियों के सम्बन्ध में सर ऑरेल स्टेन को ऐसी सामग्री मिली है जिससे उन्होंने इनके यात्रा वर्णन के गूढ़ तथ्यों को पुष्ट किया है और उनकी सत्यता प्रमाणित कर दी है। इससे भारतीय दृष्टिकोण से इस देश की संस्कृति के बहुत विस्तृत और महत्वपूर्ण क्षेत्र में प्रसार का परिचय मिलता है।

हिन्द चीन में भारतीय संस्कृति

भारत के उस पार दूसरी सीमा पर एक ऐसा सफल क्षेत्र दिखाई पड़ता है जहां भारतीय-संस्कृति खूब फैली और हज़ार वर्ष के ऊपर पूरे बल-वैभव के साथ फली फूली थी। इस क्षेत्र को हम दो भागों में बांट सकते हैं। यद्यपि भारतीय संस्कृति में इस प्रकार की कोई विभाजक रेखा नहीं है, तथापि भौगोलिक दृष्टिकोण से यह विभाजन उचित है। पहला महाद्वीप से जुटा हुआ भाग जिसे हिंद-चीन प्रायद्वीप, सुदूर भारत या हिंद चीन कहते हैं और दूसरा भाग द्वीपों का वह समूह जिसे भारतीय एशिया कहते हैं। इन भागों में भारतीय संस्कृति के इतिहास ने उसी मार्ग का अवलंबन किया है और उसका विकास भी उसी तरह हुआ है। इस सांस्कृतिक संपर्क की परीक्षा करने पर सबसे अधिक प्रभावपूर्ण तत्व 'धर्म' मालूम होता है। इस सम्बन्ध में अब तक जो प्रमाण मिले हैं उनमें सबसे पुराना प्रमाण शिव की पूजा और दक्षिणी भारत में शैव धर्म का प्रवेश मालूम होता है।

इससे भी अधिक महत्वपूर्ण प्रमाण हिंद-चीन और बोर्नियो की सुदूर पूर्व सीमा तक फैले हुये शिला लेखों की लिपि है। इस लिपि में लिखा हुआ एक पल्लव ग्रंथ है, जिसकी भाषा संस्कृत है।

हम ईस्वी सन् के आरंभ से नवीं शताब्दी तक इतिहास के विकास का केवल अधूरा ही निरीक्षण कर पाते थे। कालांतर में इतिहास का प्रमुख भाग शैलेन्द्र साम्राज्य और फिर विजय की इच्छा से प्रेरित शैलेन्द्र-चोल संघर्ष हो जाता है। जावा अथवा सुमात्रा-जावा की शक्ति के उत्थान का सम्बन्ध शैलेन्द्र के इतिहास से है। शैलेन्द्र-वंश के पतन के साथ साथ पूर्वी चीन का व्यापार भारतीयों के हाथ से निकल कर धीरे धीरे अरब प्रायद्वीप के निवासियों के हाथों में आ गया। उन्होंने सारे भारतीय एशिया को पदाक्रान्त करके, वहां मुस्लिम संस्कृति का सिक्का जमाया। यद्यपि अब तक अनेक प्रकार की सामग्रियां एकत्रित हो चुकी हैं और कितने शिलालेख (inscriptions) प्रकाश में आ चुके हैं, जिससे इस भाग के इतिहास के पुनर्निर्माण में सहायता मिल सकती है, तथापि प्राचीन इतिहास में वर्णित शैलेन्द्र या श्री विजय के साम्राज्य का क्षेत्र निश्चित रूप से निर्धारित नहीं हो सका है। इस दिशा में हाल के प्रयत्नों से इस कठिनाई के दूर होने की आशा है। अन्वेषकों

के एक दल ने, जिसे महाराज गायकवाड़ ने आर्थिक सहायता देकर भेजा था, शैलेन्द्र के इतिहास के इस अंग पर अच्छा प्रकाश डाला है। विचारपूर्ण अनुमान करने पर, मिले हुये प्रमाण इस दिशा की ओर संकेत करते हैं कि भारत की सांस्कृतिक विजय, फूनान, चंपा और कम्बोज के क्षेत्र में हुई थी। मि० वेल्स की हाल की पुरातत्व सम्बन्धी यात्रा से यह आशा होती है कि हमे श्रीविजय के साम्राज्य का पता (उसकी आरंभिक अवस्था में) मलाया प्रायद्वीप में लगाना चाहिये। अगर यह सिद्ध हो जाय तो इस क्षेत्र के विस्तार के फल स्वरूप इसमें जावा और सुमात्रा भी सम्मिलित सिद्ध हो जायगे। इस विस्तार से दूसरा श्रीविजय स्थापित हुआ, जिसका स्थान साधारणतः सुमात्रा बताया जाता है। इसी का केन्द्र बाद में जावा हो गया। दूसरी संभावना यह है कि सुमात्रा में स्थित श्रीविजय ही पहले साम्राज्य की राजधानी थी। जलडमरूमध्य के उस पार के प्रदेश का नाम श्रीविजय उनके राज्य के विस्तार के कारण पड़ा था। परन्तु इसके वास्तविक परिणाम तक पहुँचने के लिये हमें तब तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी, जब तक अनुसंधानों का अन्तिम परिणाम न ज्ञात हो जाय। द्वीपों के इस प्रदेश का, जिसका नाम भारतीय एशिया रक्खा गया है, पुराना इतिहास लगभग वैसा ही रहा है जैसा ब्राह्मण धर्म-प्रचारकों का औपनिवेशीकरण और सभ्यता प्रचार का ।

परन्तु हिंद-चीन और द्वीपों में भारतीय सभ्यता का यह शिशु ईसाई युग के आरंभ या कुछ और शताब्दी पहले उत्पन्न हुआ, १४ वीं या १५ वीं सदी तक बढ़ा और सबल हुआ।

स्याम का हाल का इतिहास और उसकी वर्तमान संस्थायें बराबर यह सिद्ध करती हैं कि वे मूल रूप में बिलकुल भारतीय हैं। बल्कि यहां तक कह सकते हैं कि वे दक्षिणी भारत से प्रभावित भारतीय-आर्य-संस्थायें हैं।

इसके अतिरिक्त डाक्टर वेल्स ने अपने दो हाल के प्रकाशनों, 'स्यामी-राज्योत्सव' और 'स्यामी सरकार और शासन' द्वारा जो उपयोगी कार्य किया है, उसको पूरी तरह से समझने के लिये इस विषय का भारतीय दृष्टिकोण से अध्ययन आवश्यक है।

श्रीविजय के साम्राज्य की स्थिति

इस प्रसंग को छोड़ने के पहले इस आवश्यक विषय के कुछ मनोरंजक अंश पर विचार कर लेना असंगत न होगा। हमने शैलेन्द्र साम्राज्य की लिपि का उदाहरण दिया था। परन्तु इस प्रश्न पर विचार नहीं किया था कि वह साम्राज्य प्रायद्वीप में था या द्वीपों में। एक प्राचीन तामिल-ग्रन्थ में कावेरी नदी के मुख पर स्थित कावेरीपट्टिनम् नामक बड़े बन्दरगाह के आयात-पदार्थों का वर्णन आता है। उसमें सिंहल तथा सुदूर पूर्व से मंगाई हुई वस्तुओं का इस प्रकार विवरण मिलता है:—'इलट्टू उनावुम' और 'कलहट्टू अक्कामम'। इन तामिल शब्दों का अपने संदर्भ के साथ ठीक अर्थ उतरता है और उससे इस क्षेत्र से आये हुये पदार्थों का वर्गीकरण होता है। पहले अवतरण का अर्थ है:—सिंहल से आये हुये खाद्य पदार्थ और कलाहम से आई हुई संपत्ति। इसका वास्तविक निर्देश यह होगा कि सिंहल से खाद्य पदार्थ आते थे और कलाहम से व्यापारिक महत्त्व की अर्थात् बेचने और लाभ उठाने योग्य वस्तुएं आती थीं। इलाम प्रसिद्ध लंका ही है।* कलाहम, जहा तक तामिल साहित्य से सम्बन्ध है, वही है जिसे तामिल में 'कदारम्' और संस्कृत में 'कदहा' कहते हैं। कलाहम सुमात्रा द्वीप में स्थित रहा होगा। सुमात्रा ही यव द्वीप हो सकता है; इस प्रकार यह प्रश्न हल हो जाता है। सभी विदेशी विद्वान्, जिन्होंने इस प्रदेश का कुछ भी विवरण दिया है, कलाहम को मलाया प्रायद्वीप का मुख्य बन्दरगाह बताते हैं—इसी को कभी कभी केला या केदा भी कहा जाता है। यदि कलाहम का उस प्रदेश के व्यापार से इतना महत्वपूर्ण स्थान था तो वह व्यापारिक पदार्थों के लेन देन और आने जाने के साधन का केन्द्र अवश्य रहा होगा। वहां से मंगाई जाने वाली वस्तुओं को

* इलाम दक्षिणी इराक़ को भी कहते थे—सम्पादक।

ध्यान में रखते हुये कलाहम को समुद्री व्यापार के लिये वस्तुओं को एकत्रित करने का केन्द्र मान सकते हैं।

यदि इसके सामने का प्रदेश स्याम की खाड़ी के उस पार तक फैला हुआ है, उसके बीच में बन्दम की खाड़ी पड़ती है, जिसकी राजधानी श्रीविजय (वेंगसा) है और इस नाम की एक नदी के कारण उस प्रान्त का नाम गिरिराष्ट्र है, तो क्या तकोला (वर्तमान तक्कापा) के पीछे स्थित मलाया प्रायद्वीप और स्याम की खाड़ी के पास केदा या केला को हम प्राचीन श्रीविजय का साम्राज्य मान सकते हैं, जिसके सुमात्रा तक फैलने के कारण सुमात्रा का एक स्वतन्त्र श्रीविजय बन गया है? इस प्रश्न को और गवेषणा के लिये यहीं छोड़ दे रहे हैं।

भारतीय संस्कृति के दूर देशों में प्रचार के इस संक्षिप्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक विभाग में बाहरी और भीतरी दृष्टिकोण से भारत-सम्बन्धी अध्ययन की बहुत ज़्यादा ज़रूरत है। जब कि बाहर से (विदेशों की) बहुत सी संस्थायें इस अध्ययन में अपना कार्य कर रही हैं, क्या स्वयं हम लोगों ने अपना कर्तव्य पूरा किया है?

धार्मिक प्रभाव

भारतीय संस्कृति के विस्तार के संक्षिप्त अवलोकन के समय (धर्म और संस्कृति की) दोनों धाराओं में बहुत कुछ साम्य दिखलाई पड़ता है। परन्तु उनके स्वरूप में कुछ मौलिक भेद भी दीख पड़ते हैं। यह प्रश्न सभी दिशाओं अर्थात् कला, साहित्य, और धर्म इत्यादि के क्षेत्र में भारतीय संस्कृति के प्रसार का है। उत्तर की ओर इसका प्रसार स्वाभाविक रूप में संस्कृत भाषा और बौद्ध धर्म की महायान शाखा के आधार पर होता है। इस विस्तार के और अंगों का महायान शाखा से प्रत्यक्ष और निश्चित सम्बन्ध है। अतएव हिन्दू संस्कृति के जिस किसी अंग का यहां विवरण दिया जायगा, उस पर महायान शाखा का बहुत कुछ प्रभाव अवश्य होगा। इसके विरुद्ध दक्षिण-पूर्व में हिंदू-धर्म अथवा ब्राह्मण-धर्म के व्यापक रूप और भक्ति की अनेक परंपराओं, विशेषकर शैव और वैष्णव धर्म के प्रचार के साथ हिंदू संस्कृति फैली।

बौद्ध धर्म की दोनों शाखायें हीनयान और महायान बाद में आरम्भ होती हैं। इनमें भी इन भागों मे महायान शाखा का अधिक प्रभाव है। परन्तु वह प्रभाव बाद का है और ईसा की सातवीं शताब्दी के लगभग आरम्भ होता है।

इस देश के धार्मिक इतिहास का अध्ययन करते समय हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि यहां कोई अनिवार्य राज्य-धर्म नहीं था और किसी विश्वास की समानता या इस प्रकार का कोई साम्य नहीं था। दार्शनिक प्रणालियों के विचार से भी कई विचार-धाराओं का ही प्रमाण मिलता है। यदि इस मौलिक सत्य पर उचित ज़ोर दिया जाता है, तो यह बिलकुल स्पष्ट हो जायगा कि विभिन्न विचार धाराओं का विकास एक साथ और एक ही कारण से सम्भव था। यह कारण भारतीय जनता के स्वभाव के ही अंतर्गत है।

साधारण जनता दार्शनिक बुद्धि वाली नहीं हो सकती और नियम तथा सिद्धान्त में दर्शन जो सूक्ष्म भेद कर सकता है, उसे समझ नहीं सकती। एक दार्शनिक धर्म जो कुछ चुने हुये विद्वानों को सन्तुष्ट कर सकता है, साधारण जनता की धार्मिक ज़रूरतों को नहीं पूरा कर सकता। इसलिये दार्शनिक धर्म के साथ साथ एक ऐसे धर्म की आवश्यकता है, जो मानवमात्र की सामान्य आध्यात्मिक ज़रूरतों को पूरा कर सके। अतएव धर्म में इस तरह के कुछ मौलिक भेद जनता की प्रवृत्ति के कारण होते हैं। ऐसे प्रभाव जिनके मूल का पता साहित्य से मिलता है, इस विचार की पुष्टि करते हैं।

हिन्द चीन और भारतीय एशिया में हिन्दू धर्म में, एक नये वातावरण में हम नव-विकासोन्मुख हिंदू धर्म के उन्हीं आरम्भिक सिद्धान्तों का उसी प्रकार प्रसार होता हुआ देखते हैं, जैसे वह कुछ समय पहले दक्षिण भारत में समान परिस्थितियों में प्रचलित हुआ था। भारतीय आर्य-हिन्दू संस्कृति का

दक्षिण भारत और सुदूर भारत मे एक ही साथ समान रूप से प्रचार हुआ।

खोज-पूर्ण अध्ययन की जरूरत

इन खोजों से यह मालूम होता है कि हिन्दू-धर्म में उन्नति करने की ऐसी क्षमता थी, जिससे मुस्लिम देशों और साइबेरिया को छोड़कर समस्त एशिया इसके झंडे के नीचे आ गया था। भारत से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाने तथा उनके अकेले रह जाने के कारण ये संस्कृतियां धीरे धीरे निर्बल पड़ गईं।

दूसरी जगहों में या दूसरी सस्थाओं द्वारा जो महान कार्य इस दिशा में हो रहा है, उसके अतिरिक्त हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि हम सुचालित और सुसंगठित रूप में इस संस्कृति के विस्तृत क्षेत्र को फिर प्राप्त करने की कोशिश करें, जिससे कम से कम हम उसे अच्छी तरह समझ तो लें। तभी हम भारतीय संस्कृति का निर्माण करने वाली सस्थाओं में छिपे हुये प्रभाव की पूर्ण रूप से प्रशंसा करने के अधिकारी हो सकते हैं। भारतीय प्राच्य सम्मेलन (Indian Oriental Conference) जैसी अखिल भारतीय संस्था का यह सबसे पहला कर्तव्य है कि वह इस पवित्र कार्य की ओर अपना ध्यान दे और इसमें अपनी शक्ति लगावे। इसके लिये पहला आवश्यक कार्य उन तमाम सामग्रियों का संग्रह होगा, जो इस विस्तृत क्षेत्र के किसी विशेष अंग पर प्रकाश डालें। मानव-विज्ञान (Anthropology), पुरातत्व (Archaeology) भाषा ज्ञान, और इतिहास को इस कार्य में सहयोग देना चाहिये, और विषय का इतना विस्तृत और विश्वास पूर्ण ज्ञान करा देना चाहिये, जितना हम आसानी से समझ सकें।

जभी खुदाई द्वारा ऐसी वस्तुएं मिलीं, जिनकी आशा नहीं थी और जो इस पुरातन देश की पुरानी सभ्यता पर पर्याप्त प्रकाश डालती थीं, तभी पुरातत्त्व सम्बन्धी काम बन्द होने का भय हुआ। अभी भारत के प्रसिद्ध स्थानों में बहुत ज़्यादा खोज करने की ज़रूरत है, जिससे हमारी खोज का परिणाम वस्तुतः उपयोगी हो और हमें अधिक विश्वसनीय बातें मालूम हों। क्योंकि भारत वर्ष में मानव-इतिहास के विकास को दिखलाने के लिये और उसके आधार पर किसी निश्चित नतीजे पर पहुँचने के लिये यह ज़रूरी है। जहां पर यह काम सरकार न कर सके, वहां इसमें ग़ैर सरकारी परिश्रम लगाना चाहिये। मगर ग़ैर सरकारी काम बहुत संगठित तरीक़े पर और विशेषज्ञों की देख रेख में ही चलना चाहिये।

हिन्दू-धर्म और जाति-प्रथा

संभवतः वह समय आ गया है जब जाति-प्रथा को इस विचार से कि वह भारत के भविष्य पर कुछ प्रकाश डाल सके, पूर्णतः समझने के लिये एक संगठित ऐतिहासिक प्रयत्न आवश्यक है। इस समय सबसे महत्त्वपूर्ण सवाल यह उठता है कि क्या जाति विभेद को दूर करने के लिये भारतीय जाति-प्रथा क्रान्तिकारी परिवर्तनों से भी समाप्त की जा सकती है? कोई यह इच्छा कर सकता है कि जाति-प्रथा हमारी सुविधा के लिये ख़तम कर दी जाय और भारतीय समाज स्वतंत्र हो जाय, जिससे कोई सच्चा सुधारक उसे यथेच्छ रूप दे सके। भारतीय संस्कृति के गंभीर विद्यार्थी के सामने यह प्रश्न आता है कि क्या जाति-प्रथा बिल्कुल उठ सकती है? अब तक के इतिहास के अध्ययन का यह परिणाम निकला है कि जाति-प्रथा समाप्त नहीं हो सकती। फिर सवाल उठता है कि क्या हिन्दू-धर्म, हिन्दू समाज या भारत का किसी प्रकार उद्धार हो सकता है? जाति-प्रथा का गंभीर अध्ययन आवश्यक है। यदि हिन्दू-भारत के प्रभुत्व में जाति-प्रथा में सारे पूर्वी एशिया में संस्कृति के प्रसार की इतनी क्षमता थी, जहां उसका कुछ विरोध भी नहीं हुआ, तो क्या अब किसी प्रकार की उन्नति के लिये जाति-प्रथा को नष्ट कर देना क्या नितान्त ज़रूरी है?

इससे हिन्दू-धर्म के भविष्य पर प्रकाश पड़ता है। क्या इसका कोई भविष्य रह गया है? अथवा यह एक गंभीर समस्या हो गई है कि भारत को हिन्दू-धर्म छोड़ कर कोई ऐसा धर्म ग्रहण करना चाहिये जो अधिक मेल या इस समय भारतीय-राष्ट्रीयता की

भावना बढ़ाने में समर्थ हो सके चाहे उस राष्ट्रीयता में वे सब भयंकर रोग क्यों न हों जिनसे आज पश्चिमी संसार पीड़ित है। क्या संसार के हित के लिये वे सब जाति-गत भेद-विभेद, जिनके अन्दर एक सच्ची सांस्कृतिक एकता निहित थी, १९ वीं शताब्दी की संकीर्ण राष्ट्रीयता से अच्छे नहीं थे, जिसे हटाकर पश्चिमी संसार फिर अंतर्राष्ट्रीयता लाने का विचार कर रहा है ? इस मृत साहित्य और संस्कृति के अवयवों का अध्ययन करने वाले विद्यार्थी के सामने भी एक जीवित क्रियात्मक समस्या है, जिसका इतना उपहास होता है। यदि वर्तमान भारत का कुछ अधिक स्पष्ट और उत्तम अध्ययन अपेक्षित है, तो क्या समस्त भारतीय संस्कृति के इतिहास के और विस्तृत अध्ययन का समय नहीं आ गया है ?

जिन लोगों ने भारतीय संस्कृति का गंभीर अध्ययन किया है वे सुदूर भारत की भारतीय-संस्कृति के विषय में सर्व सम्मति से इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि उसकी उन्नति तभी रुकी, जब भारत से उसका सम्बन्ध टूट गया। यद्यपि भारतीय एशिया में मुसलिम धर्म को स्वीकार करने के तीन चार सौ वर्ष बाद तक उनकी सांस्कृतिक पृष्ठ भूमि भारतीय और हिन्दू ही रही है।

भारतीय-संस्कृति ने बाहर के देशों में, जिस जीवन-शक्ति का परिचय दिया था, यदि उसकी प्रेरणा भारत से ही मिली है, तो इस प्रश्न का हम क्या उत्तर दें कि स्वयं इस देश में इस संस्कृति की सामर्थ्य कहां चली गई, जो आज उसे हम मृत संस्कृति कहते हैं और पश्चिमी संस्कृति को ग्रहण करने के लिये इसे छोड़ने को तैयार रहते हैं ? इस समस्या को उचित रूप से समझने के लिये पहले हिन्दू-भारत के साथ मुसलिम संस्कृति और फिर यूरोपीय ईसाई संस्कृति के सम्पर्क का अध्ययन करना होगा।

पुराने साहित्य के संग्रह की ज़रूरत—

अब यह प्रयत्न करना है कि हर विभाग ने संपूर्ण संस्कृति के निर्माण में जो योग दिया है, उसके साथ सपूर्ण संस्कृति का रचनात्मक अध्ययन किया जाय—इस दिशा में सबसे ज़रूरी क़दम यह है कि विशाल भारतीय साहित्य का, उसके विकास और विस्तार के सभी क्षेत्रों में संग्रह किया जाय, जो आवश्यकता पड़ने पर काम में लाया जा सके। संस्कृत और देशी भाषाओं के ग्रंथों के विषय में जनता के सामने पूरी सामग्री रक्खी जा सके और एक विस्तृत, खोजपूर्ण और सुव्यवस्थित सूची संगृहीत की जाय। इस दिशा में पहले भी काफ़ी प्रयत्न हो चुके हैं, परन्तु आज भी काम अधूरा है। इधर उधर काम करने के बजाय अच्छा यह होगा कि सारी सामग्री एक जगह इकट्ठी की जाय। यह समय का प्रभाव है कि मद्रास विश्व-विद्यालय अधिक विस्तृत और पूरी सूची तैयार कर रहा है। आशा है कि वह इस कार्य को सफलता पूर्वक समाप्त करने के लिये प्रचुर साधन और सामग्री पा सकेगा।

दूसरे जिस विभाग की आवश्यकता है, वह भारतीय इतिहास के अध्ययन के सम्बन्ध में प्रकाशित सारी सामग्री को एक बड़े संग्रहालय में रक्खेगा—और उसका संपादन समीक्षात्मक ढंग पर योग्यता पूर्वक करेगा—इन दोनों विभागों का यह समन्वयात्मक कार्य व्यक्ति-विशेष या छोटे-छोटे वर्गों के कार्यों को दबा कर बढ़ जायगा या उन्हें नियंत्रित करेगा—इसका निर्णय करना बहुत कठिन नहीं। जो कार्य हो रहा है या जो प्रयत्न किये जा रहे हैं उनमें बाधा नहीं डालनी चाहिये। अब तक काफ़ी अंश तक उपयोगी कार्य हो चुका है, और इससे भी अधिक उन लोगों और संस्थाओं द्वारा हो सकता है, जो इस कार्य में लगे हुये हैं। इसके लिये उन्हें अधिक प्रोत्साहन देना चाहिये और शेष कार्य को इस प्रकार संगठित करना चाहिये, जिससे उसमें और सहयोग मिले—कोई कार्य दुहरा न हो तथा परिश्रम अव्यवस्थित न हो।

अध्ययन की सुविधा—

मुझे भय है कि इस देश में कोई ऐसा केन्द्र नहीं जहां एक अच्छा विद्वान जाकर किसी विषय की छानबीन के लिये सब आवश्यक सामग्री पा सके।

देश के विस्तार को ध्यान में रखकर कम से कम तीन ऐसे केन्द्रों की आवश्यकता है। क्या इस उद्देश्य की पूर्ति में भारतीय प्राच्य परिषद् कुछ कर सकती है ? क्या इस कार्य की पूर्ति के लिये बड़े-बड़े धनवानों और विद्वानों की सहानुभूति प्राप्त हो सकती है ?

क्या सांस्कृतिक गवेषणा के सभी विशेष कर साहित्य और तत्सम्बन्धी अंगो पर हमारे आलोचनात्मक दृष्टिकोण के बदल देने का समय नहीं आ गया है ? मुझे यह मालूम होता है कि विभिन्न विषयों को शुरू कर देने, उस पर कुछ प्रश्न इत्यादि कर लेने और फिर बिना उस पर गंभीर विचार किये हुये उस काम को ताक पर रख देने पर ज़रूरत से ज़्यादा तत्परता दिखाई जाती है।

धीरे-धीरे लोग यह निश्चयात्मक रूप से मानने लगे हैं कि एशियाई संस्कृति की कुंजी भारत के हाथ में है। इस विजय ने भारत को मानव-संस्कृति का मूल स्रोत सिद्ध करने के पथ पर ला खड़ा किया है। यदि कुछ समय मे यह सिद्ध हो जाय तो भारत मानव-मात्र का घर मूल-निकास होने का गौरव प्राप्त कर लेगा। इसकी पूरी आशा भी है। यह देखना है कि इस उद्देश्य की पूर्ति मे हमारा देश कितना सहयोग देता है। अतएव मैं आप लोगों से स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में अनुरोध करता हूं, "उठो, जागो और लक्ष्य तक पहुँच जाने के पहले मत रुको।" यह लक्ष्य उस सभ्यता को लाने का है, जो सारी मानवता को प्रेम, शान्ति और सुख से साथ साथ रहना सिखायेगी।

चन्द्रग्रहण के समय

श्री रामदुलारे गुप्त, एम० ए०

नभ पर लगता ग्रहण भूमि पर तम छाता जाता है,
नभ के दुःख मे इस भू को भी शोक-वसन भाता है।
निश्चित-मृत्यु-समान अँधेरा प्रतिपल घनतर होता,
घनतर होता, घनतर होता अंधकार छाता है।

यह निश्चेष्ट वायु! पीपल का पत्ता नहीं खरकता,
निज प्रश्वास निकल कर बाहर ख़ुद ही आज अखरता।
मरते के कमरे में दम-सा ज्यों घुटने लगता है,
त्यों अपने ही हृत्स्पन्दन से प्रति नक्षत्र सिहरता।

अपने मुंह के कलुष भाव से वृक्ष प्रेत लगते हैं,
अब दौड़े, अब दौड़े खाने; विहग चिहुँक पड़ते हैं।
दूर, क्षितिज-रेखा धुंधली होती छिपती जाती है,
घोर-शून्य-सी लगती जगती; पर हम क्या लगते हैं—

सपने में ज्यों उच्च शिखर से शून्य अतल में गिरते,
त्यों व्याकुल, चेतना-हीन-से इधर-उधर हम फिरते;
ज्यों मसान में बिन बोले कङ्काल फिरा करते हैं,
त्यों हम यंत्र-चलित-से फिरते, तंत्र-बद्ध मोहित-से।

ऊपर लोहित चाँद माँस के टुकड़े-सा रह जाता,
एक रहस्य, एक भय जग पर छाया-सा दिखलाता!

———

अंतिम भेंट

श्री किशोर साहू, बी० ए०, एफ० आर० एस० ए०

श्री किशोर साहू प्रसिद्ध भारतीय सफल चित्रपट-अभिनेता हैं। विद्यार्थी आन्दोलन में उनका खास भाग रहा है। वे भारतीय संस्कृति की एकता के अटल विश्वासी हैं। इधर अनेक मासिक पत्रों में उनकी सुरुचिपूर्ण सुन्दर कहानियाँ निकली हैं। उनमें सफल साहित्यकार बनने के समस्त गुण मौजूद हैं—आदर्श, सिद्धान्त, रुचि और सरसता।

कई दिनों की लगातार झड़ी के बाद आज शाम को बादल खुले थे, भीनी भीनी सिक्त सुरभि हलके-हलके बह रही थी। सूर्य की पीली किरणें पेड़-पौधों की कोमल पत्तियों पर बिखर रही थीं। आँगन में लगे हुए गुलाब की नाजुक टहनी पर एक नन्ही-सी पीली चिड़िया फुदक-फुदक कर चहक रही थी। क्षितिज में अपने सातों रंग उंड़ेले इन्द्रधनुष निखरा हुआ था। मैं बरामदे में कागज़ और क़लम लिए, एक आराम कुरसी पर बैठा हुआ अपनी नई कहानी के लिए कोई कथानक सोच रहा था। वर्षा ऋतु के वातावरण में एक लोच होता है, जो लेखक को हमेशा प्रेरणा दिया करता है। परन्तु वही लोच अगर अधिक मात्रा में हुआ, तो लेखक कभी-कभी गुम शुम पुतला बनकर रह जाता है। फिर उसकी कल्पना काम नहीं करती, लेखनी रुक जाती है। प्रकृति के लावण्य पर मुग्ध हो, उस महान कलाकार की अप्रतिम कलाकृति पर हृदय वारकर लेखक मन ही मन उस निर्माता की स्तुति करने लगता है। उस स्तुति को संसार की कोई भी भाषा शब्दों में नहीं बाँध सकती। तुच्छ, असहाय, अबोध मानव को अपने शक्तिशाली, सर्वज्ञानी, सर्व व्यापी विधाता की इस मौन, अर्थहीन स्तुति में जो असीम आनंद प्राप्त होता है, वह फिर उसे कहीं भी नहीं मिलता—बेहतरीन कहानी के लिखने में भी नहीं।

मैंने बार-बार सिर खुजाया, बार-बार क़लम उठाई, परन्तु कोई विषय नहीं सूझा। सूझता भी कैसे जब कि मेरे सारे अवयव अपने अनिर्दिष्ट कलाकार को उस इन्द्रधनुष की तरह साष्टांग दंडवत करने में लीन थे। नौकरानी को पुकार कर उससे मैंने काफी लाने को कहा और पैड पर अपनी भावी कहानी के संभव शीर्षक लिखने का प्रयत्न करने लगा, क्योंकि कभी-कभी शीर्षक सोचते-सोचते विषय भी मिल जाया करता है। परन्तु कुछ ही देर में मैंने देखा कि मेरी क़लम ने सारा पन्ना आदमियों की शक्लें बना-बना कर भर दिया है और मेरा मुंह, विद्यार्थी-जीवन में कभी किसी नौटंकी में सुनी हुई, कोई पुरानी फड़कती हुई चीज़ गुनगुना रहा है। ये दोनों मेरी बहुत पुरानी आदतें थीं, जो मुझे बेकार देख, मुझ पर हावी हो जाती थीं, और तब मैं समझ जाता था कि लिखने की कोशिश करना बेकार है, इस वक्त दिमाग़ बिल्कुल नहीं चलेगा। अतएव काग़ज़, क़लम तिपाई पर रखकर मैंने ज्योंही सिगरेट जलाई तो देखता क्या हूं कि सामने, दूर सड़क पर, सरजू प्रसाद तिवारी चले आ रहे हैं।

तिवारी जी से मेरी पुरानी मुलाक़ात थी। किसी ज़माने में वे मेरे पड़ोसी थे। सेक्रेटेरिएट में क्लर्की करते-करते जब कुछ पैसा जमा हो गया, तब स्टेशन के पास थोड़ी ज़मीन लेकर छोटा-सा दो मंज़िला मकान बनवाकर माँ और पत्नी के साथ वे वहीं रहने चले गए। ऊपर के हिस्से में ख़ुद रहते थे और नीचे का किराए पर दे रक्खा था। तिवारी जी उम्र में मुझसे बहुत बड़े थे, परन्तु वे उन मनुष्यों में से

थे जिनपर सदा युवावस्था तारी रहती है। कान के पास के छिटके हुए बाल तथा आंखों के छोर पर पड़ी हुई रेखाओं के लिए उनकी उम्र उतनी जवाबदार नहीं थी, जितनी कि उनकी स्त्री। वह बांझ थी—और फिर ऊपर से मिजाज़ था शक्की। घर में एक मिनट भी चैन मिलना तिवारी जी के लिए दुश्वार हो गया था। पर इतने वर्षों के सहवास से उन्हें घर के काम की आदत-सी हो गई थी। देवी जी दिन भर त्योरी चढ़ाकर चखचख करती और तिवारी जी गालों में पान दबाए हंसा करते। जब देवी जी का पारा ज़्यादा चढ़ जाता, तो चुपके से छड़ी उठाकर वे अपने किसी दोस्त के घर गप्पें छाटने चल देते।

"अ मा, क्या कर रहे हो अकेले छप्पर में बैठे ?" उन्होंने आते ही मुझ से पूछा।

"आइए, तिवारी जी," बग़ल की कुरसी पर उन्हें बिठाते हुए मैंने कहा। "अपनी नई कहानी के लिए प्लॉट सोच रहा था। बहुत दिनों बाद दर्शन हुए। सब ख़ैरियत तो है ?"

"सब ख़ैरियत तो है ?"—में छिपा हुआ इशारा समझ तिवारी जी मुस्कराए।

"हां, सब ख़ैरियत ही है," "क्रॉनिक बीमारियों में चिंता की कोई बात नहीं हुआ करती।" उन्होंने कहा।

नौकरानी कॉफी का ट्रे लिए बाहर आई और हमारे सामने टेबुल पर रख गई।

"अ मा, आज के दिन—ऐसे सुहावने समय में भी तुम क्या कॉफी ही पियोगे ?" तिवारी जी ने शिकायत की "आज तो छननी थी भग। भग से छलकता हुआ कासे का कटोरा होना था और दुलीचंद हलवाई की दूकान के होने थे पेड़े।"

"आप तो जानते हैं तिवारी जी, मैंने आज तक भग कभी छुई नहीं, पर कहिए तो मिठाई मगवाई जाय ?"

"ना, अब रहने दो। आज कॉफ़ी ही सही। यार तुम भी रहे निरे बुद्धू ही। अच्छा, अब हमारे लिए हुक्का तो भरवाओ। बहुत दिन हुए तुम्हारे यहां का लखनऊ वाला ख़मीरा पिए।"

इसी समय नौकरानी हुक्के की चिलम फूंकती बाहर आई।

"लीजिए" मैंने हंसकर कहा, "तिवारी जी की ख़ातिरदारी करना बेला ख़ूब जानती है।"

"भाई, मान लिया हमने, क़ाज़ी जी के घर के चूहे भी नमाज़ी होते हैं। कहो, बेलारानी, कैसी हो ?"

हुक्का रख, बेला शर्मा कर अन्दर भाग गई। शहर भर में शायद बेला से ज़्यादा काली स्त्री दूसरी न होगी। हमारी श्रीमती जी ने इसे ख़ास तौर पर चुन कर रक्खा था।

प्यालियों में मैंने कॉफ़ी उड़ेली और ट्रे तिवारी जी की ओर बढ़ा दिया। प्याली उठाने के लिए वे ज्योंही झुके उनके कोट की जेब में सोने की चेन में लगी हुई एक लेडीज़ रिस्टवॉच निकल कर नीचे लटक गई। इस रिस्टवॉच को मैं उनके पास कई मरतबा देख चुका था। हर व्यक्ति में कुछ न कुछ अद्भुत आदतें होती हैं। लेडीज़ रिस्टवॉच को पॉकेटवॉच बनाए कोट में रखना, मैं तिवारी जी की एक अद्भुत आदत ही समझे हुआ था और इसीलिए दूसरे दोस्तों की तरह मैंने उनका कभी मज़ाक नहीं उड़ाया। मगर आज सोने की उस नाज़ुक-सी ख़ूबसूरत रिस्टवॉच को अपनी आंखों के इतने पास ही झूलते देख मेरे मन में सहसा कुछ कौतूहल हुआ कि आख़िर माजरा क्या है, जो सेक्रेटेरिएट का एक मामूली क्लर्क सदा अपने साथ इतनी क़ीमती ज़नानी घड़ी लिए फिरता है। तिवारी जी के कान में अगर क़लम या पेंसिल खुंची होती, तो मैं उस बात को समझ सकता था, मगर उनका लेडीज़ रिस्टवॉच अपनी छाती से लगाए रखना मेरी कल्पना-शक्ति के एकदम बाहर था।

"तिवारी जी, एक बात पूछूं, बताइएगा ?" मैं कह ही तो बैठा।

"पूछो ?"

"आप हमेशा यह जनानी घड़ी क्यों साथ लिए फिरते हैं? भाभी जी की हो तो यह नहीं जान पड़ती।"

तिवारी जी का चेहरा अनायास गम्भीर हो गया। प्याली खाली कर उन्होंने हुक्के की नै उठा महनार होंठों के बीच ली। दो एक कश लेकर फिर कुछ मोटी-सी आवाज़ में बोले "किसी की यादगार है यह। किसी की अन्तिम भेंट।" घड़ी हाथ में लेकर वे उसे बड़े गौर से देखने लगे मुझे साफ़ जान पड़ा कि उस अष्टकोनी घड़ी के नन्हे-से काँच पर तिवारी जी की आँखों को कोई तस्वीर अवश्य दिखाई दे रही है। एक क्लर्क के जीवन में भी 'किसी की यादगार,' 'किसी की अन्तिम भेंट' जैसी कोई चीज़ हो सकती है, इस बात ने मुझे अचम्भे में डाल दिया।

"किसकी अन्तिम भेंट?" मैंने कुछ ज्यादा उत्सुकता से पूछा "अगर आपको कोई एतराज़ न हो तो मैं इस रहस्य को जानना चाहूँगा। बहुत मरतबा जी में आया कि आपसे पूछूँ मगर पूछ नहीं सका।"

"मुझे तो कोई एतराज़ नहीं," तिवारी जी ने घड़ी की ओर देखते हुए कहा; "पर सुनकर तुम्हारा मन खराब हो जाएगा। दूसरे, तुम ठहरे कहानीकार तुम्हारे सामने कुछ बोलते भी तो ज़बान रुकती है। मगर टूटे फूटे जैसे भी हो सके आज मैं तुम्हें अपनी आप बीती सुनाऊँगा। और कुछ नहीं तो मेरा दिल तो हलका हो जाएगा। कभी-कभी दिल की लगी सुनाने को भी जी करता है।"

"ज़रूर सुनाइए, बात मुझसे बाहर नहीं जाएगी — मैं इतमीनान दिलाता हूँ।"

"मुझे इतमीनान है," उन्होंने कहा "और अगर जाय भी तो कोई हर्ज नहीं। मेरे जीवन में अगर ऐसी कोई एक घटना हुई है, जिस पर मुझे गर्व है तो वह यही है...उस बात को सात साल होने आए। मकान मेरा नया-नया बनकर तैयार हुआ था। तुम तो जानते हो, मुझसे घर पर ज्यादा देर रहा नहीं जाता। रात के खाने के बाद रोज़ थोड़ी देर स्टेशन के प्लैटफार्म पर जा कर मैं घूम लिया करता था। गाड़ियों के आने-जाने में, प्लैटफार्म की चहल पहल में तबीयत ताज़ा हो जाती थी। उधर ग्रैंडट्रङ्क छूटती थी और इधर मैं भी घर चला आता था।

"वह इतवार का दिन था। शाम को आने वाला बाम्बे मेल चार घंटे लेट होकर रात को साढ़े नौ बजे आई थी। स्टाल में मैंने डेढ़ पैसे की एक कैंची खरीदी और धेले का पान और अपने नियमानुसार प्लैटफार्म पर टहलने लगा। रोज़मर्रा के जाने से स्टेशन के सब कर्मचारी मेरे मुलाकाती हो गए थे; इसलिए कोई मुझे प्लेटफार्म-टिकट के लिए रोकता टोकता भी न था। बल्कि किसी दिन अगर किसी सबब से वहाँ न जा पाऊँ, तो उन्हें बड़ा ताज्जुब होता। कई लोग तो मुझे रेलवे या सी० आई० डी० का आदमी समझ लम्बे-लम्बे सलाम ठोंका करते। पतलून की जेब में हाथ डाले, गालों में धेले का पान दबाए, डेढ़ पैसे की सिगरेट फूँकता हुआ मैं उस दिन भी बाम्बे मेल के सामने चहलक़दमी कर रहा था। सहसा सेकेंड क्लास कम्पार्टमेंट में बैठी हुई एक बंगाली स्त्री को देखकर मेरी आँखें चकाचौंध हो गईं। बंगला की कोई पुस्तक पढ़ने में वह लीन थी। उसकी पतली माँग में सिंदूर भरा हुआ था। बदन पर चौड़े लाल पाट की रंगीन रेशमी साड़ी लपेटे हुए थी। मैं और ज़्यादा कुछ नहीं देख सका। सकते के आलम में खड़ा बस देखा किया और देखकर भी कुछ नहीं देखा। उस बला की खूबसूरती मैंने इससे पहले कभी नहीं देखी थी और न उसके बाद ही कभी देखी। उसको खूबसूरती नहीं कह सकते। खूबसूरती अक्सर कलुषित हुआ करती है। उसको सौन्दर्य कहेंगे—सात्विक सौन्दर्य। ऐसा जान पड़ा कि आज मैंने साक्षात् भगवान का ही रूप देख लिया। मेरे मन में उस स्त्री के प्रति एक तरह का आदर—बल्कि उसे भक्ति भी कह सकते हैं—उत्पन्न होने लगा। उस युवती ने एक दफा किताब के ऊपर से मेरी ओर देखा और फिर पढ़ने में तल्लीन होगई। मैं उसकी खिड़की के सामने ही खड़ा रहा। खड़ा-

खड़ा देखा किया। न मेरे क़दम हटते थे और न निगाह हटती थी। न जाने मुझे क्या हो गया था कि मैं पागल की तरह खड़ा हुआ उसे घूरता रहा। कहां हूं, क्या कर रहा हूं, इसका मुझे भान तक न था। अचानक मैंने सुना कोई ज़ोर-ज़ोर से किसी पर बिगड़ रहा है। आवाज़ मर्दानी थी। मेरा ध्यान भंग हो गया। मुड़ कर देखा डब्बे के दरवाज़े में, ढीला रेशमी कुरता पहने फ्रेमलेस ग्लास का चश्मा लगाए, एक बंगाली महाशय खड़े हुये मुझे फटकार रहे थे।

"आपको शर्म नहीं आती किसी स्त्री को इस तरह घूरते हुए!" उन्होंने अंगरेज़ी में मुझे सुनाया।

"इसमें शर्म की क्या बात!" मैंने भी अंगरेज़ी में जवाब दिया। "मैं उन पर किसी तरह का आघात तो कर नहीं रहा हूं।"

"जानते हो, किसी स्त्री को घूरना गुनाह है!"

"होगा साहब, पर मैं विश्वास दिलाता हूं कि मैंने किसी बुरी निगाह से नहीं देखा। मैंने उन्हें मा या बहन समझ कर ही देखा है।"

"अच्छा, अच्छा, अब आप मेहरबानी करके हट जाइए, वरना अच्छा नहीं होगा।"

"नाराज न होइये" मैंने कहा।

"मुझे स्टेशनमास्टर को बुलाना पड़ेगा।"

"इससे क्या फायदा!"

"मैं पुलिस को ख़बर करूंगा।"

"डराइए मत, जो चाहे कीजिए।"

"देन इट सीम्स आई विल हैव टु टेक दी लॉ इनटु माई ओन हैण्डस" कहता हुआ वह व्यक्ति कुरते की आस्तीन चढा कर डब्बे से नीचे उतरने लगा, मगर इसी समय उसकी स्त्री ने लपक कर पीछे से उसका कुरता पकड़ लिया।

"ए तुमि कि कोर्छो!" उसने कहा। "वह आदमी ख़ुद कह रहा है कि मैं मां या बहन समझ कर देख रहा हूं और तुम बिगड़े जा रहे हो!"

"वह आदमी असभ्य जान पड़ता है।"

"ए तोमार भूल।" फिर मुझसे कहा "कम अंदर, कम इन।"

"नहीं बहन," मैंने कहा, "इतना होने पर क्या अब यह उचित है?"

मगर उसने आग्रह किया, फिर उसका पति भी मुझे अंदर बुलाने लगा। मैं कम्पार्टमेंट में चला गया। कम्पार्टमेंट के सामने लगी हुई भीड़ इस तमाशे को देखकर हैरत में थी। फिर चाय मंगवाई गई। बातें होने लगीं। मैंने अपना दृष्टिकोण समझाया। तब उस युवती ने कहा कि वह भी उस समय अपनी बंगला पुस्तक में उसी तरह का एक विचार पढ़ रही थी। ईश्वर की सौंदर्य-कृति में ईश्वर की झलक। हम तीनों के मन में परस्पर एक दूसरे के प्रति कौतूहल पैदा हो गया। गाड़ी चलने-चलने को थी। मैंने उतरना चाहा; मगर उन लोगों ने अगले स्टेशन तक साथ चलने की ज़िद की। मुझे मान लेना पड़ा। रास्ते में खूब बातें हुईं। अगले स्टेशन पर उन्होंने फिर नहीं उतरने दिया, कहा कि अगले जंक्शन पर उतर जाना। फिर तो मुझे असली बात साफ़ कह देनी पड़ी कि मेरे जेब में उतने किराए के पैसे नहीं हैं। "तुम मुझ से ले सकते हो—अपनी बहन से, संध्या ने कहा। "ना, बहन से कुछ भी लेना हम लोगों में पाप समझा जाता है," मैंने कहा। तब मि० घोष बोले—"मगर मुझसे तो ले सकते हो! चलो, अब बातें न बनाओ; तुम यहां नहीं उतर सकते। अगला स्टेशन जंक्शन है, वहां चाहे उतर जाना।" मैं मान गया।

मि० अतुलचन्द्र घोष कलकत्ते में ऊनी कपड़ों का व्यापार करते थे। चौरंगी और न्युमार्केट में उनकी बड़ी बड़ी दूकानें थीं। उनकी स्त्री संध्या कुमारी का शिक्षण शान्तिनिकेतन में हुआ था। अभी इसी महीने उनकी शादी हुई थी। सैर के लिए विएना जा रहे थे। वहां से विलायत, अमरीका भी जाने का विचार था। मेरे बहन न थी और संध्या के भाई न था; अतएव हम दोनों ने एक दूसरे को अपना बहन-भाई बद लिया।

"बम्बई से, विएना से, लंदन से, न्युयॉर्क से वे लोग मुझे बराबर लिखते रहे। कभी-कभी वहां की बनी हुई चीज़ें भी मेरे लिए भेजा करते। लौटती बार मैं फिर स्टेशन पर मिला। कलकत्ते से भी वह मुझे बराबर लिखती रहीं। मैं और संध्या सचमुच भाई बहन बन गए थे। बड़े दिनों की छुट्टियों में हर साल मैं कलकत्ते जाकर उनके यहां कुछ दिन रह आया करता। इस तरह चार साल बीत गए और फिर एक रात मैंने सपने में देखा कि मेरी संध्या बहन मृत्युशैया पर पड़ी आखरी सांस ले रही हैं। दूसरे ही दिन मैंने अतुल घोष को कलकत्ता तार देकर खबर पूछी। जवाब आया फ़ौरन चले आओ। संध्या की हालत नाज़ुक है।

हावड़ा स्टेशन पर घोष के यहां का आदमी मुझे ढूंढता फिर रहा था। मैंने उससे संध्या की हालत पूछी। उसने कहा सुबह से ज़बान बन्द है। मैं मन्न हो गया। मोटर से उतर कर ज्योंही मैं 'संध्या भवन' में दाखिल हुआ तो देखा कि सर्वत्र शोक छाया हुआ है। किसी ने मुझे अन्दर पहुँचाया। कमरे में प्रवेश करते ही अतुल मुझसे लिपट गया और रोने लगा। "ज़बान बन्द होने से पहले तक तुम्हारी याद कर रही थीं," उसने कहा।

संध्या ने आंखे खोलकर मेरी ओर देखा। मैंने उसका सिर अपनी गोद में ले लिया। फिर एकाएक मुझे याद आया कि चलते समय मां ने हेमगर्भ की गोली मेरी जेब में रख दी थी। मैंने अतुल से कहा कि इलाज करने का एक मौक़ा मुझे भी दिया जाय, वैसे तो सब निराश हो ही चुके हैं। मैंने हेमगर्भ की गोली घिस कर संध्या को चटा दी। थोड़ी ही देर में उसके अन्दर शक्ति का संचार होने लगा। आंखे झपकनी बन्द हो गई। दांतो की चौखट खुल गई और उसने मुंह से आवाज़ निकाली—

"एशे छो, दादा!" उसने लड़खड़ाती ज़बान से कहा। "तोमार रास्ताई देखछिलुम"। फिर सिरहाने पड़ी हुई रिस्टवॉच अपने दुर्बल हाथों से उठाकर मुझे देती हुई बोली। "मेरी यह तुम्हें भेंट है—बहन की अपने भाई को अन्तिम भेंट"। मैं रो रहा था। संध्या ने अतुल के गाल पर हाथ फेरते हुए कहा कि वह रोए नहीं। फिर उसके पैर पकड़ कर उन्हीं पर उसने अपना सिर रख दिया और·········

रिस्टवॉच को अपने गन्दे रूमाल से पोंछते हुए तिवारीजी ने एक लम्बी सांस ली। "बात बिलकुल कहानी-सी मालूम होती होगी न?" उन्होंने अपनी डबडबाई आंखों को मेरी नज़रों से छिपाने की कोशिश करते हुए कहा।

"ज़िन्दगी भी तो कहानी ही हुआ करती है तिवारीजी" मैंने उत्तर दिया। "बल्कि अक्सर कहानी से भी ज्यादा विचित्र। माफ़ कीजिएगा, मुझे मालूम न था कि इस रिस्टवॉच के रहस्य में इतना दर्द छिपा होगा, वरना मैं आपका ज़ख्म न कुरेदता।"

तिवारीजी मुस्कराए। मुंह से धुआं छोड़ते हुए बोले—"तुम्हें अपनी नई कहानी के लिए प्लॉट की ज़रूरत थी। अगर चाहो तो इसे इस्तेमाल कर सकते हो।"

मैं भी यही सोच रहा था। मगर इजाज़त मांगने की हिम्मत नहीं हो रही थी।

"शुक्रिया" मैंने कहा—"पर कह नहीं सकता कि जिस दर्द से आपने यह सुनाई है, वह दर्द कहानी में पैदा कर सकूंगा या नहीं। मेरी असफलता आपके और संध्या बहन के प्रति कहीं अन्याय न हो जाय।"

तिवारीजी फिर मुस्कराए—"मुझे तुम्हारी क़लम पर भरोसा है।" कहकर फिर हुक्के के कश लेने लगे।

गीत

श्री गोपीकृष्ण

आज घिरे है काले बादल
दूर गगन मे मानव-मन में—

लुटा रहा था कौन यहा पर
अभी विहंस पथ पथ पर सोना,
चमक रहा था मणि माणिक सा,
किसके दिल का कोना, कोना,
किसके पूजन, आराधन मे,
सूने पन में—अपने पन में,
आज घिरे है काले बादल,
दूर गगन में,
मानव - मन मे !

अरमानों से रज के कण कण,
कहा गये, क्या हम, तुम जानें !
अंधड मे प्रीतम की छाया,
अब कैसे देखें, पहिचानें,
बूंद गिरीं, दुनिया कहती है,
आग लगी, मैं कहता, तन में !
आज घिरे है काले बादल,
दूर गगन में,
मानव - मन में !!

दुनिया की काली डगरों पर,
काले बादल आये, छाये,
दूर पंथ के राही बैठे,
पथ पर अपने शीस झुकाये,
अट्टहास कर नभ हंसता है,
मानव के रोदन, क्रदन में !
आज घिरे हैं काले बादल,
दूर गगन में,
मानव - मन में !!!

भगवान बुद्ध की दार्शनिक शिक्षाएँ

भदन्त आनन्द कौसल्यायन

आप लोगों ने त्रिपिटक शब्द अवश्य सुना है। 'त्रि' का मतलब तीन और 'पिटक' का मतलब है ग्रन्थ-समूह या किताबों का मजमुवा। भगवान बुद्ध और उनके शिष्यों के उपदेश तीन ग्रन्थ-समूहों में एकत्रित हैं। उन ग्रन्थ-समूहों के नाम हैं—'सुत्र-पिटक' 'विनय-पिटक' तथा 'अभिधर्म-पिटक'।

सूत्र-पिटक मे साधारण बात चीत के ढंग पर दिये गये उपदेश हैं, विनय-पिटक में भिक्षुओं के नियम-उप-नियम हैं और अभिधर्म पिटक में है बुद्ध दर्शन या बुद्ध धर्म की फिलासफी—अपने पारिभाषिक शब्दों में।

यह सब ग्रन्थ पालि भाषा में हैं और अपनी अट्ठ कथाओं के साथ लगभग तीन महाभारत के बराबर हैं। भगवान बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद राजगृह वैशाली और पटना में जो तीन कौंसिलें हुईं, उन्हीं में इन पिटकों का संगायन किया गया और इस समय जिस त्रिपिटक को हम पढते हैं, वह पहली शती में राजा वट्टगामनी के समय सिंहल में पहले पहल लिखा गया।

त्रिपिटक का अध्ययन करने से पता चलता है कि उसमें कई ऐसे धार्मिक प्रश्नों को, जिन्हें दूसरी मज़हबी किताबों में बड़ी अहमीयत दी गई है, बिल्कुल नज़र-अन्दाज किया गया है। बुद्ध कहते हैं :— "भिक्षुओ! अगर कोई कहे कि मैं तब तक भगवान् बुद्ध के उपदेश के अनुसार नहीं चलूंगा, जब तक कि भगवान् मुझे यह न बता दें कि दुनिया का कभी अन्त होगा या दुनिया हमेशा के लिए रहेगी, जीव या रूह वही है जो शरीर है; वा जीव दूसरा है शरीर दूसरा है; मरने के बाद बुद्ध रहते हैं वा मरने के बाद बुद्ध नहीं रहते—तो भिक्षुओ, यह बातें तो बेकही ही रहेंगी और वह मनुष्य यूं ही मर जाएगा।"

संसार को किसने बनाया? कब बनाया? आदि प्रश्नों को बुद्ध ने नजर-अन्दाज़ किया है, उनका जवाब नहीं दिया—सो बिला वजह नहीं। उनका कहना था—"भिक्षुओ, जैसे किसी आदमी को ज़हर में बुझा हुआ तीर लगा हो, उसके मित्र रिश्तेदार उसे तीर निकालने वाले वैद्य या हकीम के पास ले जावें। लेकिन वह कहे मैं तब तक यह तीर नहीं निकलवाऊंगा, जब तक यह न जान लूं कि जिस आदमी ने मुझे यह तीर मारा है, वह क्षत्रिय है, ब्राह्मण है, वैश्य है, वा शूद्र है; अथवा वह कहे मैं तब तक यह तीर नहीं निकलवाऊंगा, जब तक यह न जान लूं कि जिस आदमी ने मुझे यह तीर मारा है उसका अमुक नाम है, अमुक जाति है, अथवा वह कहे—मैं तब तक यह तीर नहीं निकलवाऊंगा जब तक यह न जान लूं कि जिस आदमी ने मुझे यह तीर मारा है वह लम्बा है, छोटा है, वा मँझले क़द का है, तो हे भिक्षुओ उस आदमी को इन बातों का पता लगेगा ही नहीं; और वह यूं ही मर जाएगा।"

तो त्रिपिटक में क्या है? उसमें एक बड़े भारी सवाल का—ऐसे सवाल का जिसका सम्बन्ध न केवल सभी मनुष्यों से है, बल्कि सभी जानदारों से है, न केवल सभी देशों से है, बल्कि सारे विश्व से है, जिसका सम्बन्ध अतीत से है; वर्तमान से है, अनागत से है। वह प्रश्न है, क्या हम दुःखी हैं? बुद्ध का उत्तर है "हां" क्या हम इस दुःख से छूट सकते हैं? बुद्ध का उत्तर है "हां"।

पुराने ज़माने में भी और आजकल भी ऐसे लोग रहे हैं और हैं जिनका मत है कि संसार मे पैदा हुए हैं तो उसमे अधिक से अधिक मज़ा उड़ाने की कोशिश होनी चाहिये। यही एक मात्र दानिशमन्दी है; यही सब से बड़ी बुद्धिमानी है। इस दानिशमन्दी

में और तो कोई दोष नहीं—दोष है महज़ इतना कि ज़्यादा से ज़्यादा मज़ा उड़ाने को ही जीवन का परमार्थ बना लेने वाले के हिस्से में आता है—अधिक से अधिक दुःख। प्रत्येक "मज़े" को वह इस उम्मीद पर दुगुना करता है कि दुगुना मज़ा आयेगा। लेकिन होता क्या है? आज शराब का एक प्याला नाकाफी मालूम देता है, कल दूसरा, परसों तीसरा। एक दिन आता है कि वह शराब को महज़ इसलिए पीता है कि बिना पिए रह नहीं सकता। यही हाल संसार के सभी विषयों—सभी "मज़ों" का है। थोड़े ही समय में "मज़ों" के भोगने में कोई "मज़ा" नहीं रहता और न-भोगने में होता है महान दुःख। कैसी क़ाबिले रहम हालत होती है उस समय दुनियावी ऐशो इशरत के पीछे अन्धे होकर भागने वाले की?

कुछ लोगों का कहना है कि संसार तो भ्रम है, है ही नहीं—रस्सी को सांप समझ लिया गया है। इस भ्रम को छोड़कर जो वास्तविक असलीयत है, जो सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म है उस ब्रह्म तक पहुँचना ही जीवन का असली उद्देश्य है। हम पूछते हैं कि छः इन्द्रियों आख, कान, नाक, ज़बान, शरीर और दिमाग़ से हम जिस संसार का अनुभव करते हैं, उसे हम झूठा कहें तो कैसे? इस झूठ के पीछे दूसरी सचाई को स्वीकार करें तो कैसे? कुछ मज़हबी किताबों की गवाही के अतिरिक्त क्या और भी कोई प्रमाण है? आख़िर उन मज़हबी किताबों के शब्द किस बिना पर स्वीकार किये जायें?

संसार के भोगों को ही जीवन का असली आधार मानने वालों को यदि हम भोगवादी कहें, तो संसार की सब चीज़ों को महज़ भ्रम समझने वालों को हम आत्म-वादी कह सकते हैं। बुद्ध का अपना वाद या मत क्या है?

त्रिपिटक में संसार का वर्णन दोनों दृष्टियों से है। एक मामूली आदमी की नज़र से भी और एक पहुँचे हुए आदमी की नज़र से भी। मामूली आदमी की दृष्टि से संसार में फूल भी हैं, काटे भी हैं; दुःख भी है, सुख भी है; लेकिन पहुँचे हुए आदमी की दृष्टि से संसार में कांटे ही कांटे हैं, दुःख ही दुःख हैं।

खुजली के मरीज़ को खाज के खुजलाने में जो मज़ा आता है वह न लड्डू खाने में, न पेड़े खाने में। खाज का खुजलाना उसके लिये मज़ा है। सुख है और खाज का खुजलाना—यूं ही खाज होते देते रहना काटे हैं, दुःख है। थोड़ी देर के लिये वह यह भूल जाता है कि स्वस्थ आदमी को न खाज होती है, न खुजलाना। साधारण आदमी को संसार के सुख अच्छे लगते हैं, दुःख बुरे; पहुंचा हुआ आदमी दोनों को एक नज़र से देखता है। इन्द्रियों और मन की जिन चञ्चलताओं को हम 'मज़ा लेना' कहते हैं, शान्त-चित्त अर्हत के लिए ये सभी चञ्चलताएं दुःख ही हैं।

तब तो बुद्ध धर्म बिल्कुल निराशावाद ही निराशावाद है—केवल Pessimism है, पज़ मुर्दगी का धर्म है? नहीं। निराशावाद कहता है, दुःख है और दुःख से छुटकारा नहीं; लेकिन बुद्ध धर्म कहता है दुःख है और दुःख से छुटकारा है।

जो धर्म बिना किसी परमात्मा या ख़ुदा में विश्वास करने की ज़रूरत के, बिना किसी परमात्मा के अवतार, पुत्र या पैग़म्बर पर निर्भर हुए, बिना किसी इलहामी किताब को मानने की मजबूरी के, बिना किसी पुरोहित, पण्डे या मुल्ला की ज़रूरत के सभी दुःखों का अन्त कर देने का रास्ता बताता है, उससे बढ़कर आशावादी (Optimist) धर्म और कौन सा होगा? तो इस दुःखमय संसार का कारण क्या है? ईश्वर? बुद्ध कहते—हैं यदि यह मान लिया जाय कि ईश्वर के ही बनाए यह संसार बनता है, तब तो इन्सान मोक्ष या निजात के लिये कोशिश कर ही नहीं सकता।

बुद्ध के मत में दुःख का कारण हम स्वयं हैं। हमारी अपनी अविद्या है, लाइल्मी है। हमारी अपनी तृष्णा है; नफ़सानियत है।

हमने कहा है कि बुद्ध का जो उपदेश है, वह केवल 'दुःख और दुःख से मुक्ति' का उपदेश है।

सवाल पैदा होता है कि यह दुःख से मुक्त होने वाला कौन है ? आत्मवादी दर्शनों से यदि प्रश्न पूछा जाय, तो उनका तो सीधा जवाब है 'आत्मा' या 'रूह'। लेकिन बुद्ध से पूछा जाता कि 'आप कहते हैं मनुष्य दुःख भोगता है, दुःख से मुक्त होना है, यह दुःख भोगने वाला कौन है? दुःख से मुक्त होने वाला कौन है ? बुद्ध कहते हैं:—"तुम्हारा यह सवाल ही ग़लत है। सवाल य होना चाहिये कि क्या होने से दुःख होता है ? और उसका जवाब यह है कि तृष्णा होने से दुःख होता है।" यदि आप फिर यह जानना चाहें कि तृष्णा किसे होती है, तो फिर बुद्ध का वही उत्तर है कि तुम्हारा यह प्रश्न ही ग़लत है कि तृष्णा किसे होती है ? सवाल य होना चाहिये कि क्या होने से तृष्णा होती है ? और उसका जवाब यह है कि वेदना अर्थात् इन्द्रियों और विषयों के स्पर्श से होने वाली अनुभूति के होने से।"इस प्रकार यह प्रतित्य समुत्पाद का नियम (This law of Dependent Origination) जारी रहता है। एक के होने से दूसरे की उत्पत्ति होती है; एक के न होने से दूसरे का निरोध।

अविद्या के होने से ही दुःख होता है और न होने से ही दुःख का ख़ातमा।

एक सवाल पूछा जा सकता है कि अगर कोई दुःख का भोगता-जीवात्मा या रूह है ही नहीं, तो फिर दुःख से मुक्ति का प्रयत्न व्यर्थ। हां, सचमुच यदि हमारी आंख खुल जाय और हमको यह समझ में आ जाय कि जिसे हम "आत्मा" या 'रूह" समझ बैठे हैं, वह केवल हमारे अहङ्कार की एक छाया है, और हो जाय उस अहङ्कार का पूरा ख़ात्मा, तो फिर हमें दुःख से मुक्त होने की कोशिश करने की ज़रूरत नहीं।

उस हालत में न दुःख रहेगा, न दुःख का भोगने वाला; न सवाल की गुञ्जायश रहेगी, न उसके जवाब की।

क्या यह जो दुःख का एकान्तिक निरोध है, पूरा ख़ातमा है—जिसे निर्वाण कहते हैं ? जीते जी प्राप्त किया जा सकता है ? हां; इसी छै फ़ुट के शरीर में प्राप्त किया जा सकता है। भिक्षु, जब शान्त-चित्त हो जाता है; जब उसे मुकम्मिल तस्कीन हासिल हो जाती है, तब उसको कुछ और करना बाक़ी नहीं रहता। जो कार्य वह करता है उसमें कोई ऐसा नहीं होता, जिसके लिये उसे पश्चाताप हो।"

इस प्रकार का भिक्षु जब शरीर छोड़ता है, तब उसके नाम रूप का—Mind और Matter का क्या होता है ? जिस कारण से उसका पुनर्जन्म होता, उस हेतु (अविद्या तृष्णा) के न रहने के कारण उसका पुनर्जन्म नहीं होता। जिस तरह बिजली का बटन ऊपर उठा देने से बिजली की धारा रुक जाती है और बल्ब बुझ जाता है, उसी तरह तृष्णा की धारा का निरोध होने से यह जन्म-मरण रूपी जलता हुआ दीपक बुझ जाता है। बिजली के उदाहरण में हम यह नहीं पूछते कि जो रोशनी थी, वह क्या हुई, क्योंकि हम जानते हैं कि रोशनी की उत्पत्ति का कारण तो बिजली की धारा थी, वह बन्द हो गई तो अब और रोशनी कैसे उत्पन्न हो ? उसी प्रकार जब अविद्या तृष्णा की धारा बन्द हो गई, तो फिर अब जन्म-मरण का दीपक कहां से जले ? उसका तो निर्वाण ही होगा।

लोग प्रायः यह पूछते हैं कि जब आत्मा या रूह ही नहीं, तो पुनर्जन्म किसका ? इसका कुछ जवाब ऊपर आ गया है। अधिक सफ़ाई से कहना हो तो यूं कहा जा सकता है कि अबौद्ध फ़िलासफ़ी में जो स्थान आत्मा का है; बौद्ध फ़िलासफ़ी में वही स्थान मन का है। आत्मा जब अपरिवर्तनशील है तो वह अच्छे बुरे कर्मों के संस्कारों को एक जन्म से दूसरे जन्म तक कैसे ले जा सकती है ? मन तो परिवर्तन शील है। वह अच्छे कर्मों से अच्छा और बुरे कर्मों से बुरा बनता है।

तो यह जो दुःख अनुभव होता है, इसका ख़ात्मा कैसे किया जा सकता है ? यही विचारवान् बनकर, सदाचारी बनकर, चित्त को साफ़ करके ही। धम्मपद की प्रसिद्ध गाथा है—

सब्ब पापस्स अकरणं ।
कुसलस्स उप सम्पदा ॥
सचित्त परियोदपन ।
एत बुद्धान सासनं ॥

अशुभ कर्मों का न करना, शुभ कर्मो का करना, चित्त को साफ़ रखना—यही बुद्धों की शिक्षा है।

जिसे हम मोक्ष, निर्वाण या निजात कहते हैं, वह कोई ऐसी चीज़ नहीं है कि जिसके पीछे भाग कर आदमी उसे प्राप्त करता हो। जिस प्रकार मनुष्य स्वयं स्वस्थ होता है, स्वास्थ्य नाम की किसी बाहरी चीज़ को प्राप्त नहीं करता, उसी प्रकार मनुष्य निर्वृत्त होता है—निर्वाण को प्राप्त नहीं करता।

कोई भी हो, स्त्री हो या पुरुष, गृहस्थ हो या प्रव्रजित—जिसका राग शान्त हो गया है, जिसका द्वेष शान्त हो गया है, जिसका मोह शान्त हो गया है। वह निर्वाण प्राप्त है।

दुःख और दुःख का एकान्तिक निरोध—यही है बुद्ध की शिक्षा का सार।[1]

गीत

श्री विनोद विहारी सिन्हा

सच कहना, क्या याद हमारी, तब तुमको आती है?
हँसता है जब चाँद गगन मे,
खिलतीं जब कलियाँ उपवन मे;
छा जाता जब हर्ष तुम्हारे,
रोम-रोम में, तन में, मन में,
तरु-फुनगी पर पंचम-स्वर मे जब कोयल गाती है!
सच कहना, क्या याद हमारी, तब तुमको आती है?

आती जब बरसात सजीली,
धरती हो जाती जब गीली,
फूलों पर अनमोल तितलियाँ
मँडरातीं जब नीली-पीली;
पत्ती-पत्ती हरी-भरी होकर जब मुस्काती है!
सच कहना, क्या याद हमारी, तब तुमको आती है?

रात शरद की जब इठलाती,
फिरती मलय-वात मदमाती;
दूबों की सुकुमार गोद जब,
रस की बूंदों से भर जाती;
अन्तर की जब व्यथा हृदय के पास न आ पाती है!
सच कहना, क्या याद हमारी, तब तुमको आती है?

---

१ आल इण्डिया रेडियो के सौजन्य से।

विश्व संस्कृति में जैन धर्म का स्थान

डाक्टर कालिदास नाग, एम० ए०, डी० लिट

जैन धर्म और जैन संस्कृति के विकास के पीछे शताब्दियों का इतिहास छिपा पड़ा है। श्री ऋषभदेव से लेकर बाईसवें अर्हत श्री नेमिनाथ तक महान तीर्थकरों की पौराणिक परम्परा को छोड़ भी दें, तो भी हम अनुमानतः ईसवी सन् से ८७२ वर्ष पूर्व के ऐतिहासिक काल को देखते हैं, जब तेईसवें अर्हत श्री भगवान पार्श्वनाथ का जन्म हुआ, जिन्होंने तीस वर्ष की आयु में घर-गृहस्थी त्याग दी और जिनको अनुमानतः ईसवी सन् से ७७२ वर्ष पूर्व बिहार के अन्तर्गत पार्श्वनाथ पहाड़ पर मोक्ष प्राप्त हुआ। भगवान पार्श्वनाथ ने जिस निगन्थ सम्प्रदाय की स्थापना की थी, उसमें काल-गति से उत्पन्न हुए दोषों का सुधार श्री वर्धमान महावीर ने किया। महावीर अपनी आध्यात्मिक विजय के कारण 'जिन' अर्थात विजयी कहलाते हैं। अतएव जैन धर्म, अर्थात उन लोगों का धर्म जिन्होंने अपनी प्रकृति पर विजय प्राप्त कर ली है, एक महान धर्म था; जिसका आधार आध्यात्मिक शुद्धि और विकास था। इससे यह मालूम हुआ कि महावीर किसी धर्म के संस्थापक नहीं, बल्कि एक प्राचीन धर्म के सुधारक थे। प्राचीन भारतीय साहित्य में महावीर गौतम बुद्ध के कुछ पहले उत्पन्न हुए उनके समकालीन माने जाते हैं। जैन साहित्य में कई स्थानों पर गौतम बुद्ध के लिए यह बतलाया गया है कि वे महावीर के शिष्य गोयम नाम से प्रसिद्ध थे। बाद में उत्पन्न हुए पक्षपात और मत-भेद के कारण बौद्ध लेखकों ने निगन्थ नातपुत्त (महावीर) को बुद्ध का प्रतिपक्षी बताया। वास्तव मे दोनों के दृष्टिकोणों में फ़र्क़ था भी। यही कारण है कि बौद्ध धर्म का दुनिया के बड़े भाग में प्रसार हुआ, किन्तु जैन धर्म एक भारतीय राष्ट्रीय धर्म ही रहा। किन्तु फिर भी जैसा डाक्टर विंटरनिज़ ने कहा है, दर्शन शास्त्र की दृष्टि से जैन धर्म भी एक अर्थ में विश्व धर्म है। वह अर्थ यह है कि जैन धर्म न केवल सब जातियों और सब श्रेणियों के लोगों के लिए ही है, बल्कि यह तो जानवरों, देवताओं और पाताल वासियों के लिए भी है। विश्वात्मक सहानुभूति सहित यह व्यापक दृष्टि और बौद्धों का मैत्री का सिद्धान्त दोनों बातें जैन धर्म मे अहिंसा के आध्यात्मिक सिद्धान्त द्वारा मौजूद हैं। इसलिए जैन धर्म और बौद्ध धर्म का तुलनात्मक अध्ययन बहुत पहले से ही किया जाना चाहिये था। आज ईसवी सन् से पहले के १००० वर्षों मे हिन्दुस्तान के आध्यात्मिक सुधार के आन्दोलनों को जो समझना चाहते हैं, उनके लिए इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन की अनिवार्य आवश्यकता है। वह समय एशिया भर में उग्र राजनैतिक और सामाजिक उलट-फेर का था; उसी समय एशिया में कई महान द्रष्टा और धर्म संस्थापक उत्पन्न हुए, जैसे ईरान में ज़रथुस्त्र और चीन में लाओत्ज़े और कनफ्यूसियस।

जैन धर्म और ब्राह्मण धर्म के सम्बन्ध के बारे में हम देखते हैं कि सारा का सारा जैन साहित्य ब्राह्मण संस्कृति की ओर बौद्ध लेखकों के विचारों की अपेक्षा ज्यादा झुका हुआ है। डाक्टर विंटरनिज़, प्रो० जैकोबी और दूसरे कई विद्वानों ने इस बात को ज़ोर-दार शब्दों मे स्वीकार किया है कि जैन लेखकों ने भारतीय साहित्य को सम्पन्न बनाने मे बड़ा महत्व-पूर्ण हिस्सा अदा किया है। कहा गया है कि "भारतीय साहित्य का शायद ही कोई अंग बचा हो, जिसमें जैनियों का अत्यन्त विशिष्ट स्थान न रहा हो।"

इतिहास और वृत्त, काव्य और आख्यान, कथा और नाटक, स्तुति और जीवनचरित्र, व्याकरण और कोष और इतना ही क्यों, विशिष्ट वैज्ञानिक साहित्य में भी जैन लेखकों की संख्या कम नहीं है। भद्रबाहु, कुंद कुंद, जिनसेन, हेमचन्द्र, हरिभद्र और अन्य प्राचीन तथा मध्यकालीन लेखकों ने आधुनिक भारतवासियों के लिए एक बड़ी सांस्कृतिक सम्पत्ति जमा करके रख दी। इस बात का प्रतिपादन तपगच्छ के सुप्रसिद्ध जैन आचार्य, लेखक और सुधारक श्री यशोविजय जी ने किया है, जिनका समय सन् (१६२४–८८) के बीच का है। ईसवी सन् से एक शताब्दी बाद जैनियों में दिगम्बर और श्वेताम्बर जो दो फ़िर्के हो गये, उनको एक करने का गौरवपूर्ण प्रयत्न इस महापुरुष ने किया था।

इस महान साहित्य और इसकी आध्यात्मिक सामग्री की यत्नपूर्वक रक्षा करना मात्र दिगम्बरियों का, श्वेताम्बरियों का, स्थानक वासियों का, तेरा पंथियों या किसी दूसरे संप्रदाय के लोगों का ही कर्त्तव्य नहीं है, बल्कि यह तो भारतीय संस्कृति और ज्ञान के सभी प्रेमियों का कर्त्तव्य है।

जैनियों का सैद्धांतिक साहित्य आज भी केवल कुछ विशेषज्ञों और विभिन्न सम्प्रदायों के लोगों तक ही सीमित है। और सिद्धान्त प्रतिपादन के अलावा जो दूसरा विशाल साहित्य है, उसका भी आज तक पूर्ण रीति से अध्ययन नहीं किया गया है। हिन्दू-तत्त्वज्ञान के कितने विद्यार्थी यह जानने की परवाह भी करते हैं कि जैनियों ने न्याय और वैशेषिक दर्शनों के विकास में कितना योग दिया है? कितने हिन्दू इस बात को जानते हैं कि रामायण और महाभारत की कथाओं, एवं पुराण और कृष्ण की कहानियों पर जैन लेखकों ने भी कितना लिखा है। भारतीय कला के कितने विद्यार्थी यह जानते हैं कि प्राचीन अजन्ता-काल की चित्रकला और मध्य-युग की राजपूत कला के बीच जैन चित्रकला कितना सुन्दर यौगिक है। जैन लेखकों ने भारत की कई प्रमुख भाषाओं जैसे उत्तर में गुजराती, मारवाड़ी और हिन्दी, तथा दक्षिण में तामिल, तेलगु और कनाड़ी आदि को साहित्य-सम्पन्न करने में कितनी सहायता दी है। इन भाषाओं में आज भी जैन धर्म सम्बन्धी कितने गम्भीर और विवेचनपूर्ण प्रबन्ध छपते हैं; किन्तु अभी तक किसी भी जैन संस्था ने इस समस्त सामग्री की सर्व साधारण के लिए एक बृहत् सूची बनाने का प्रयत्न भी नहीं किया। लगभग सन् १८७६–७८ में हस्तलिखित जैन ग्रन्थों का एक बड़ा संकलन बर्लिन की रायल लाइब्रेरी के लिए जार्ज बूल्हर ने किया था। और जैन साहित्य के विस्तृत विवरण का भी पहला प्रयत्न सन् १८८३-८५ के आस पास प्रोफेसर ए० वेबर ने किया था। सन् १९०६ और १९०८ के बीच में पेरिस के विद्वान प्रो० ए० गुरीनाँ महोदय ने अपनी 'Studies on Jaina Bibliography' प्रकाशित की थी। उसमें उसके बाद कोई परिवर्तन नहीं किया गया; जब कि गत तीस वर्षों में उत्तर और दक्षिण भारत में नये हस्तलिखित जैन ग्रन्थों और शिला लेखों के ढेर के ढेर मिले हैं। हाल ही में दक्षिण भारत में जैन धर्म की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित हो रहा है। डा०, एम० एच० कृष्ण ने 'श्रवण बेल गोला में गोमटेश्वर के मस्तकाभिषेक' पर खोज पूर्ण विवेचन किया है। डा०, बी० ए० सालतोर और श्री एम० एस० रामस्वामी आयंगर ने भी दक्षिण भारतीय जैन धर्म के अध्ययन में महत्वपूर्ण योग दान किया है। (देखो जैन एंटीक्वेरी, मार्च १९४०)। इण्डियन म्यूज़ियम के क्यूरेटर श्री टी० एन० रामचन्द्र ने अपनी सुन्दर सचित्र पुस्तक, जिसका नाम "तिरुप्परुत्ती कुरनन, और उसके मन्दिर" में दक्षिण भारत के जैन स्मारकों के बारे में बहुत सुन्दर सामग्री दी है। डा० सी० मीनाक्षी ने कई जैन गुफाओं और जैन चित्रों का पता लगाया है, जिनमें तीर्थंकरों के जीवन की सामग्री है। ख़ासतौर से पुदुक्कोटा स्टेट अन्तर्गत सित्तन्न वासल ग्राम में यह खोज हुई है।

[पर्युषन-पर्व व्याख्यान]

अमरनाथ की यात्रा

कुमारी विद्या नेहरू

अमरनाथ चलोगी ? श्रीनगर की मेरी मेज़बान ने मुझसे पूछा।

जीवन के २७ वर्ष अन्यत्र बिताकर जब मई के शुरू मे मैं काशमीर पहुँची तो ऐसा महसूस हुआ मानो मैं अपने अनुकूल वातावरण में हूं और इसके ज़र्रे ज़र्रे से मेरा कोई नाता है। अपने देश में और यूरोप के विविध देशों में मुझे प्रवास के अवसर मिले। स्वभाव से ही मुझे संकुचित सीमा बन्धनों से प्रेम नहीं। जर्मनी, फ्रान्स, इङ्गलैण्ड, या दक्षिण भारत में जगह जगह विविध दृश्यों और रमणीक स्थानों को देखकर मुझे उतनी ही खुशी हुई है जितनी किसी जर्मन, या फ्रान्सीसी, या अङ्गरेज़ या दक्षिण भारत के रहने वाले को हो सकती है। किन्तु पहली दफा मैंने अनुभव किया कि काशमीर से मेरा कोई विशेष नाता है। इसलिये नहीं कि अकस्मात मै एक काशमीरी घर में पैदा हुई हूं बल्कि इसलिये कि प्रकृति की इस रमणीक गोद में दैवी सौन्दर्य के प्रकाश की किरणें व्यक्ति को कल्पना देती हैं, महत्व देती हैं और आत्म शक्ति की अनुभूति देती हैं। व्यक्ति अपना संकोच भूल कर ईश्वर के इस विराट दर्शन में एकीकृत हो जाने को सचेष्ट होता है। उसके 'मैं' की अहमन्यता फीकी पड़ जाती है और अपने 'स्व' के अन्दर वह 'पर' को अनुभव करने लगता है। मैं सोचने लगी हमारे ऋषि और मुनि जो कुछ थे उसका आधा श्रेय क्या इस अनुकूल वातावरण को नहीं है ? गङ्गा जमना के दोआबों में सभ्यताएं फूली हैं, राज्य विस्तार हुए हैं, संस्कृतियो का निर्माण हुआ है; मगर कोई इतिहास मुझे इस बात का विश्वास नहीं दिला सकता कि उपनिषद भी वहीं लिखे गये हैं, जिज्ञासुओं को ऋद्धि, सिद्धि या मोक्ष भी वहीं प्राप्त हुआ है और ईश्वर का साक्षात्कार भी किसी ने वहीं किया है ! मनुष्य तो क्या स्वयं ईश्वर भी अयोध्या और वृन्दावन की कुंज गलियों में मात्र मनुष्य होकर रह जाते हैं और मनुष्य यहा आकर देवताओं के इस आंचल मे देवताओं के समकक्ष बन जाते हैं। लंकापति दशानन को भी यहीं आकर बल और पुरुषार्थ मिला। वह नम्र होकर आया था और सगर्व होकर गया और अपने गाण्डीव पर विश्वास रखने वाले धनञ्जय इसी बर्फ़ में घुलमिलकर लुप्त हो गये।

मेरे हृदय में क्षण भर के लिये महान आर्य सभ्यता का गौरवमय अतीत चक्कर मार गया। फिर मैं सोचने लगी अपने देश की दुरावस्था को। इसी काशमीर में मनुष्य नाम के जो प्राणी बसते हैं क्या वे किसी भी अर्थ में मनुष्य हैं ? भारत मां के किरीट के जो उज्वल मणि माणिक्य होने चाहियें थे वे आज क्षीण अस्थि पञ्जर, बुद्धिहीन मस्तिष्क और साधना हीन जीवन का भार ढोने वाले मात्र हैं और हमारे इस पतन की कहानी कोई बिरला इतिहासज्ञ ही लिख सकेगा।

मैंने उत्साह के साथ अमरनाथ जाने का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया।

डल झील के किनारे खड़े होकर हरि पर्वत मे छनछन कर प्रभा की किरणों को फूटते हुए मैंने देखा था और मन में जिज्ञासा की थी क्या 'राज तरङ्गणी' के कवि ने इन्हीं शिखरों के उस पार कहीं अपनी रचना को अन्तिम रूप दिया था ?

पहले हमने सोचा था श्रावणी पूर्णमासी की यात्रा के पहले ही हम लोग अमरनाथ हो आवें। किन्तु हमारी तैयारी पूरी न हो सकी और 'यात्रा' के

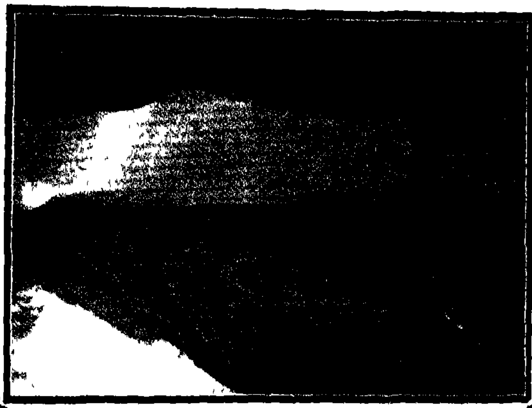
साथ ही हम लोग रवाना हुए। श्रीनगर से पहल गाव तक मोटर का रास्ता है। पहल गाव को हम देवताओं के इस प्रदेश का दुर्ग द्वार कह सकते हैं। इसी दुर्ग द्वार के बाद यात्री की चढ़ाई शुरू होती है। पहल गाव के बाहर शेष नाग के समानान्तर बहती हुई लम्बोदरा नदी क्रुद्ध सर्पिणी की तरह सर धुनती और फेनिल फकती हुई किंकर्तव्य विमूढ़ होकर दौड़ रही थी। जी होता था एकान्त भाव से इसी लम्बोदरा को बैठी देखती रहूं।

पहल गाव से अमरनाथ की गुफा लगभग तीस मील के फ़ासले पर है और इस थोड़े से फ़ासले में लगभग ८ हजार फुट की चढ़ाई चढ़नी पड़ती है। रास्ते में शेष नाग के प्रपात भोजपत्र, एशवृक्ष तथा गुच्छ से छाये हुए हैं। पीत, हरित और अरुण वर्णों के रंग बिरंगे फूलों और लताओं से इस स्थान की रमणीकता बेहद बढ़ जाती है।

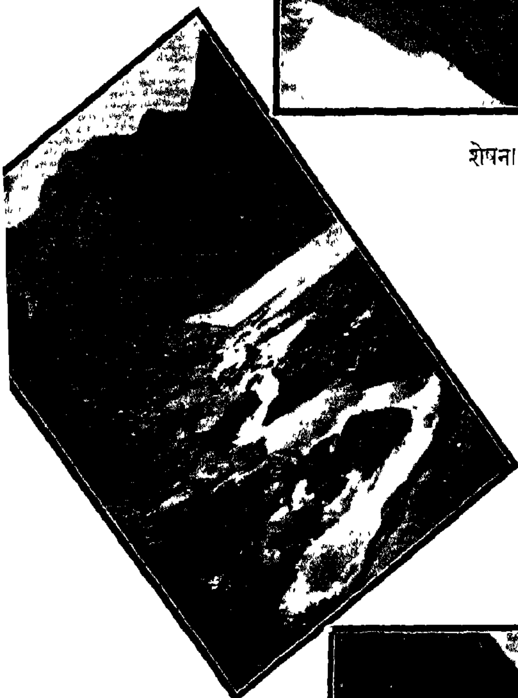
पहल गाव से पहला पड़ाव लगभग आठ मील के फ़ासले पर चन्दन वाड़ी पड़ता है। पहल गाव से चन्दन वाड़ी तक मैं घोड़े पर ही गई। मुझे बचपन से ही घोड़े की सवारी का शौक है। रास्ते भर पानी बरसता रहा जिससे रास्ता खतरनाक हो गया था। एक जगह हमारे घोड़ेजी ने उस सकरे रास्ते में अगली दोनों टांगे ऊपर करके नाचना शुरू कर दिया। नीचे कई हज़ार फुट गहरी खाई थी। मगर मैं भी ढीठ बनकर रास पकड़े बैठी रही, यह सोचकर कि खड्ड में अकेली नहीं जाऊंगी। मुझे गिराना होगा तो यह आप भी गिरेगा। मगर दो तीन ही चाबुक खाकर उन्होंने नाच बन्द करके सीधी चाल चलनी शुरू कर दी। चन्दन वाड़ी से अमरनाथ तक हम सब पैदल ही चले। अमरनाथ की यात्रा में यदि पानी बरस जाय तो फिर वह अमरनाथ के बजाय मरणनाथ हो जाता है। होनी है अपनी अपनी क़िस्मत। हमारी इस यात्रा में रास्ते भर पानी ही बरसता रहा। टट्टुओं का पैर बुरी तरह फिसल रहा था। पानी ज़ोर का बरस रहा था, घनघोर घटाएं मड़रा रही थीं और सर के ऊपर रह रह कर बिजली कौंध उठती थी।

चन्दन वाड़ी से दूसरा पड़ाव शेष नाग है। आज का रास्ता भयावह, खतरनाक किन्तु रमणीक भी था, सामने पिस्सु पहाड़ी सगर्व खड़ी थी। इसकी चढ़ाई उतराई तलवार की धार पर चलने से कम नहीं। चढ़ते चढ़ते रास्ता दुर्गम होता जाता था। दम फूल रहा था, पसीने से बदन शल हो रहा था और प्यास के मारे बुरा हाल था। हमने रास्ता छोड़कर पगडंडी की सीधी चढ़ाई चढ़नी शुरू की। नीचे देखने की शक्ति नहीं थी। अब मुझे हैरत होती है कि बच कैसे आये? एक जगह तीन झरने पास पास बह रहे थे। वज्र घोष जैसी उनकी आवाज़ थी। एक झरने के ऊपर चढ़कर हमें जाना था। रास्ता मुशकिल से दस इञ्च चौड़ा होगा। नीचे तूफ़ान का दरिया, ऊपर बड़ी बड़ी चट्टानें। एक बार तो मुझे कुछ चक्कर सा आ गया। वहां हवा में एक विचित्र प्रकार की गन्ध थी जिससे बहुत से लोगों को मूर्छा आ जाया करती है। ज्यों त्यों करके चढ़ाई पूरी की। रास्ते में जो मेरी शक्ल देखता था परेशान होकर कहता था कि तुम बैठ जाओ। न बैठूं तो ख्वाह-म-ख्वाह लोग चढ़ने में सहारा देने लगें। शेषनाग पहुंच कर मेरी मेज़बान मिसेज़ सोदी तो मुझे देखकर घबरा गईं। जल्दी से जो दवा उनके पास थी वह पिलाई और खाना फ़ौरन मंगवाया। मैंने पूछा बात क्या है तो कहने लगीं कुछ नहीं। जब शीशे में मैंने देखा तो मेरा चेहरा बिलकुल ऊदा हो रहा था और ऐसी मुर्दनी सी छाई थी कि लगता था क़ब्र में से उठ कर कोई आया हो!

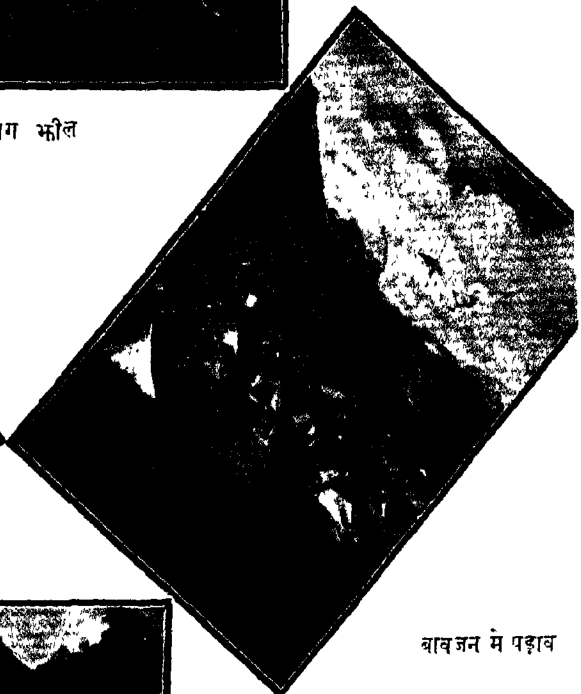
शेषनाग झील से प्रायः एक मील ऊपर बावजन के मैदान में यात्रियों का पड़ाव लगता है। बावजन की ऊंचाई लगभग १४,००० फुट होगी। सामने श्वेत वसना हिम श्रेणियां थीं। चीड़ और चिनार के वृक्ष, लता और फूल पौधे हम पीछे छोड़ आये थे। हां यहां पर रंग बिरंगी बूटियां ज़रूर नज़र आती थीं। पहल गांव की ओर बहने वाली नदी यहीं



शेषनाग झील



झील से निकलती हुई नदी



बावजन में पड़ाव



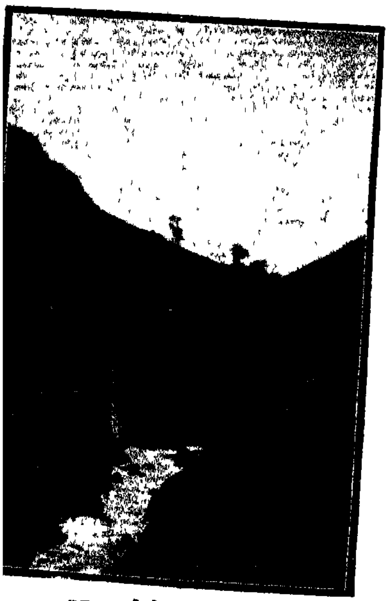
पंचतरणी और शेषनाग के बीच में एक जल-प्रपात



अमरनाथ की गुफा



लेखिका और उसके साथी



पचतरणी के मार्ग में



पंचतरणी में संध्या

शेषनाग झील से निकलती है। झील ऐसी लगती थी मानों हिमराज की अगूठी मे नीलम का नगीना जड़ा हुआ है।

शेषनाग के बाद पंचतरणी पड़ाव है। पचतरणी एक फैली हुई उपत्यका है जिसमे एक साथ पाच बर्फीली धाराए बहती है। इनका निर्मल और शीतल जल यात्रियों को मोह लेता है। यात्री गण शख और घण्टों की तुमुल ध्वनि मे प्रार्थनाए कर रहे थे। बीच बीच में जय शिव शम्भु ' हर, हर, महादेव ' की ध्वनि वातावरण को कम्पित कर देती थी। रात का चतुर्दशी के चांद ने अपनी रुपहली ज्योत्स्ना सारे वातावरण कर फैला दी।

हम खेमों मे ज़मीन पर ही सोते थ। और गीली जमीन पर चाहे जितना बिछाओ ठण्ड लगती थी। पचतरणी मे दूसरे दिन अमरनाथ की गुफा के लिये रवाना हुए। गुफा मे हिम का एक शिवलिङ्ग है जो पूर्ण चन्द्र के साथ साथ आकार मे भी पूर्ण होता है। यही अमरनाथ महादेव कहलाते हैं। अमरनाथ की गुफा कोई ८० फुट ऊची, ५० फुट चौड़ी और लगभग ६० फुट गहरी होगी। यात्रा के लिए मैंने 'स्लैक्स' बनवा लिये थे। उन्ही को पहनकर यात्रा की थी। मेरी एक बुआ भी साथ थीं, डाक्टर श्रीधर नेहरू की बहिन, जरा पुराने ख़याल की हैं। उन्होंने पहले ही दिन मुझे टोका था कि—"और कही सैर करने जाती तो और बात थी, यात्रा में कहीं ऐसे कपड़े पहन कर आना था?" लेकिन मेरी इस पोशाक और बल्लम ने ही यात्रा मे बड़ी सुविधा पहुँचाई।

× × ×

श्रीनगर वापस आकर जो खबर सबसे पहले सुनी वह थी गुरू पूर्णिमा के दिन गुरुदेव रवीन्द्रनाथ का निधन ' दुख मे जी सन्न रह गया और पूरी यात्रा की सुखद स्मृतियों पर धूमिल परदा सा पड़ गया।

समालोचना और प्राप्त पुस्तकें

भार्गव पुस्तकालय गायघाट बनारस—

१—अभागे दम्पत्ति, लेखक श्री व्यथित हृदय.

२—भाभी के पत्र, लेखक उपर्युक्त

३—अनोखी दुनिया, लेखक उपर्युक्त

पुस्तक भंडार लहरिया सराय—

४—दीन बन्धु की श्रद्धाञ्जलिया

सकलनकर्ता श्री प्रभुदयाल विद्यार्थी

छात्र हितकारी पुस्तक माला, दारागंज, प्रयाग —

५—महापुरुषों की जीवन झाकी, लेखक उपर्युक्त

जाफरी ब्रादर्स, इलाहाबाद—

६—सर सैय्यद अहमद खा, लेखक मै० क़ासिमअली

आनन्द प्रेस, बहादुर गंज, इलाहाबाद।—

७—अंकुरिता, रचयिता, श्री विद्यावती कोकिल।

भारतीय ग्रन्थमाला वृन्दावन—

८—नागरिक शिक्षा, लेखक श्री भगवान दास केला

९—अर्थशास्त्र, शब्दावली, लेखक श्री दया शंकर दुबे, श्री केला और श्री अम्बष्ट

हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, गिरगाम, मुबई—

१०—हिन्दी साहित्य की भूमिका, लेखक प० हज़ारी प्रसाद द्विवेदी

सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली की पाच पुस्तकें—

१—बिखरे विचार, लेखक श्री घनश्याम दास बिड़ला, मूल्य सजिल्द दो रुपया, अजिल्द डेढ रुपया। पृष्ठ सख्या २५०,

इस पुस्तक मे श्री बिड़ला जी के समय समय पर लिखे २६ लेखों का सग्रह है। बिड़ला जी की क़लम में सरलता, हृदय में रोचकता और दिमाग़ मे सिद्धान्त हैं। हम उन्हें केवल सफल व्यापारी ही समझते थे किन्तु 'बिखरे विचार' मानव हृदय से निकले हैं और उस हृदय मे है दर्द। उन्हें अपने आस पास के वातावरण से घोर असन्तोष है, अपने मुल्क की

गुलामी की ग्लानि है और सम्पदा से उन्हें सन्तोष नहीं मिलता और यदि उनकी यह पुस्तक उनके दिल की वास्तविक झांकी मान ली जाय, तो वह दिन दूर नहीं जब बिड़ला जी सर्वस्व त्यागी देश प्रेमी के रूप में हमें दिखाई देंगे। पुस्तक सरल, रोचक और शिक्षा प्रद है। क्या मण्डल इस पुस्तक का सस्ता संस्करण न निकालेगा ?

२—**डायरी के कुछ पन्ने**, लेखक प्रकाशक उपर्युक्त, मूल्य ।।।), पृष्ठ संख्या १५७

बिड़ला जी की इस पुस्तक मे राउण्ड टेबुल कान्फ्रेंस के समय के संस्मरण अंकित हैं। बहुत सी बातें जो पत्रों में नहीं छपी वे इस पुस्तक से मालूम होती हैं। पुस्तक पढ़ कर 'रेशो' के सम्बन्ध में भी बहुत सी नई जानकारी होती है। पुस्तक रोचक है और सरल भाषा में लिखी हुई है। विलायत में गांधी जी के जीवन पर अच्छा प्रकाश डालती है। पुस्तक में विरोधियों के लिये एक वचन सर्वनाम ज़रा खटकता है।

३—**यूरोपीय युद्ध और भारत**, मूल्य चार आना, पृष्ठ संख्या ४७।

पुस्तक मे वर्तमान युद्ध के सम्बन्ध में गांधी जी और पंडित जवाहर लाल के लेखों का संग्रह है। पुस्तक को पढ़कर कांग्रेस की युद्ध नीति बिलकुल स्पष्ट हो जाती है।

४—**देशी राजाओं का दर्जा**, लेखक श्री प्यारे लाल नायर, मूल्य चार आना, पृष्ठ संख्या ४२, भूमिका लेखक महात्मा गांधी।

देशी राजाओं के सम्बन्ध में इस अत्यन्त उपयोगी पुस्तक को पढ़ने की हम हर एक से सिफारिश करते हैं।

५—**सेवा धर्म और सेवा मार्ग**, लेखक श्री श्री कृष्णदत्त पालीवाल, पृष्ठ संख्या ३००, मूल्य १)

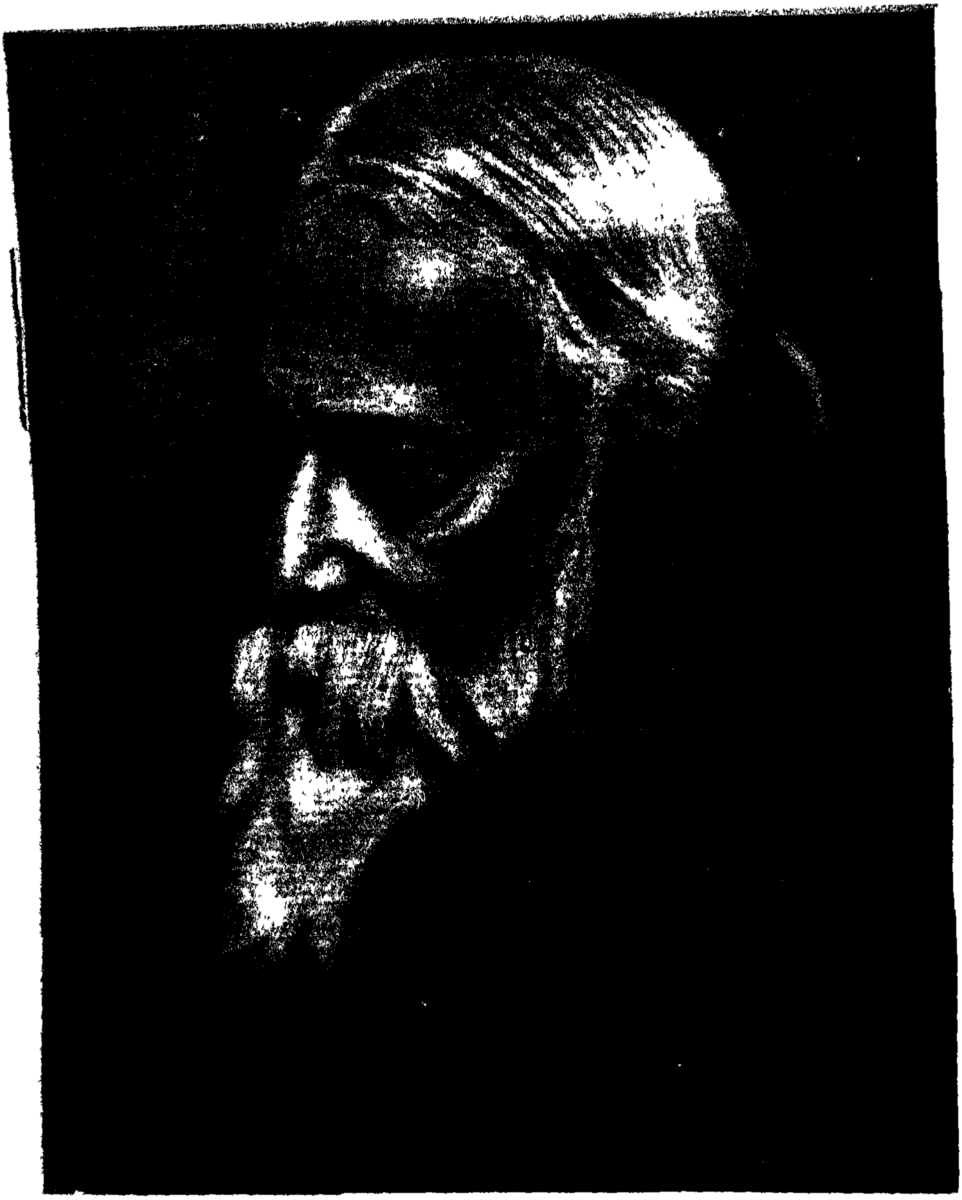
पुस्तक के लेखक युक्तप्रान्त के प्रसिद्ध जन सेवक हैं और सेवा धर्म पर उन्हें कहने का अधिकार है। पुस्तक १२ अध्यायों में बंटी है और सेवा के हर पहलू पर इसमें विचार किया गया है। नर नारायण की सेवा की आकांक्षा रखने वाले हर सेवक को इस पुस्तक का अध्ययन ज़रूरी है।

कूजन—रचयिता प० पद्मकान्त मालवीय प्रकाशक नेशनलिम्टि न्यूज़ पेपर्स लिमिटेड, प्रयाग, मूल्य १)।

प्रस्तुत पुस्तक पंडित पद्मकान्त जी की ३८ रचनाओं का सुन्दर संग्रह है। हिन्दी और उर्दू को अधिकाधिक समीप लाने का मालवीय जी का यह महान प्रयत्न है। कविताओं की भाषा बामुहावरा, ओजपूर्ण, रसीली और साथ ही साथ सरल भी है। संग्रह में कुछ उर्दू तर्ज़ के ग़ज़ल के ढङ्ग पर कविता लिखने का मालवीय जी का पहला किन्तु सफल प्रयत्न है। पुस्तक की अनेक कविताएं बेहद सुन्दर और भावपूर्ण हैं। आर्ट पेपर पर छपी हुई यह पुस्तक संग्रह योग्य है।

Status of Women—स्त्रियों की अवस्था—(बंगाला अनुवाद के साथ)—लेखक श्री महेन्द्र नाथ दत्त, प्रकाशक—महेन्द्र पबलिशिंग कमिटी, ३, गौर मुखर्जी स्ट्रीट, पो० बिडन स्ट्रीट, कलकत्ता। क़ीमत आठ आने।

इस पुस्तिका में लेखक ने एशिया की नारियों की अवस्था पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया है। पुस्तिका अपने लम्बे व्यक्तिगत अनुभव और मनन के आधार पर लिखी गई है; किताबी विद्या के आधार पर नहीं। १९ वीं सदी के अन्त में लेखक ने पश्चिमी यूरोप से हिन्दुस्तान तक पैदल यात्रा की थी। बीच के सभी देशों में, वहां के गांवों में रहकर उन्होंने विभिन्न विषयों का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त किया था। पुस्तिका ऐतिहासिक दृष्टिकोण लेकर लिखी गई है। स्त्रियों की अवस्था का आर्थिक विश्लेषण निपुणता से किया गया है। पुस्तिका इन अध्यायों में विभक्त है—मानव सभ्यता और राष्ट्रीय आदर्श, सभ्यता और राष्ट्रीय शिक्षा, प्राचीन और आधुनिक शिक्षा तथा सभ्यता, एशिया में नारी प्रगति, उन्नत और अवनत जातियों के भेद। पुस्तक की छपाई, बंधाई सभी अच्छी है और दाम भी कम ही है। हम चाहते हैं कि इसका प्रचार बहुतायत से हो। किसी हिन्दी के प्रकाशक को या नारी-प्रतिष्ठान को इसका अनुवाद छपवाने के लिए प्रयत्न करना चाहिए।



गुरुदेव

श्रीमती सरस्वती कपूर

वाणी का मन्दिर चूर हुआ,
स्वर्णिम प्रतिमा श्री-हीन हुई !
कल्पना हमारी दीन बनी,
कविता-श्री आज विलीन हुई !

अनुराग अगम में क्षीण हुआ,
डूबी मुसकान अश्रु-सर में !
युग युग सहस्त्र के गीत अमर,
मुखरित होंगे अब किस स्वर में ?

जाग्रत स्वप्नों का अन्त हुआ,
लौ बुझी दीप निर्वाण हुआ !
अचला के सिक्त कपोलों को,
छूकर समीर म्रिय माण हुआ !

अपनी निधियां सर्वस्व लुटा,
निर्धन कर शान्ति-निकेतन को !
हम हुए अभागे गौरव-च्युत,
खोकर अपने जीवन-धन को !

गहरी पीड़ा में छोड़ हमें,
तुम कहो कहां गुरुदेव गए ?
उस पार ! कहीं, अमरों के हित,
क्या गीत गढ़ोगे नये नये ?

———

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ

प्रो० हुमायूं कबीर, एम० ए०

भारतवर्ष के सांस्कृतिक क्रम-विकास के इतिहास में रवीन्द्रनाथ का आविर्भाव विस्मय जनक है। उनकी काव्य साधना के ऐश्वर्य्य तथा वैचित्र्य ने भारतीयों के मन को जिस तरह अभिभूत किया है, दुनिया के किसी देश में किसी भी युग में इसकी तुलना शायद नहीं मिलती। सिर्फ़ एक ही कवि की साधना से भारतवर्ष की एक प्रान्तीय भाषा विश्व-साहित्य की भाषा बन गई। यूरोप में दान्ते के जीवन में हमें इसकी मिसाल मिलती है। लेकिन शायद दान्ते से भी रवीन्द्रनाथ की सिद्धि व्यापक और युगान्तकारी है। यूरोप के नवयुग के पहले दान्ते का जन्म हुआ था; छिन्न-भिन्न इटली उस दिन स्वाधीनता के स्वप्न से प्रायः पागल हो उठा था। इटली की वह जीवन-स्फूर्ति कला, साहित्य, विज्ञान और राष्ट्रीय प्रतिष्ठा में सचेष्ट और चंचल थी। लेकिन इटली की वह साधना निषेधात्मक नहीं थी। रोम का पार्थिव गौरव अपनी महिमा खो चुका था। पर पोप के पारलौकिक साम्राज्य में उस दिन इटली को मानस-सिद्धि और प्रतिष्ठा का सन्धान मिला था। इसीलिए दान्ते की काव्य-साधना में दुःख है, किन्तु पराजित या पलायन की मनोवृत्ति का परिचय नहीं मिलता। आस पास के सहयोग और वातावरण से दान्ते की प्रदीप्त प्रतिभा और भी उज्वल हो गई थी। लेकिन रवीन्द्रनाथ की साधना में आस पास की अवस्थाओं की सहायता गौण है। बल्कि ऐसा कहा जा सकता है कि उनकी साधना से जो चारों तरफ़ रूपान्तर हुए हैं, उसी के फलस्वरूप स्वधर्म और राष्ट्रीयता का नया अर्थ तथा उसकी सम्भावना हमारे सामने आई है।

बंकिमचन्द्र कलकत्ता विश्वविद्यालय के पहले ग्रेजुएट और नई शिक्षा पाए हुए पहले डिप्टी थे। सन् सत्तावन की हार से अंग्रेज़ों की राजशक्ति का ऐश्वर्य उस दिन मुखरित हो चला था। अतएव राजशक्ति की वह दीप्ति दिमाग़ पर भी अपनी रोशनी फेंकेगी, इसमें कुछ भी अचरज नहीं है। इसीलिए उन दिनों अंग्रेज़ों के लिखे हुए इतिहास भ्रान्तिरहित समझे गए। यह बात किसी के मन मे क्षण भर के लिए भी न आई कि फैलते हुए पूंजीवाद के कारण ही अंग्रेज़ भारतवर्ष में आए हैं, कुछ परोपकार अथवा भारतवर्ष के उद्धार के लिए नहीं। इसलिए बंकिमचन्द्र जैसे तीव्र बुद्धि साहित्यिक ने भी अंग्रेज़ों के आगमन में विधाता का वरदहस्त देखा या देखना चाहा था! साम्राज्यवाद ने अपनी आवश्यकता के अनुसार भारत के आधुनिक इतिहास को किस तरह विकृत किया है, इसे आज हम जानते हैं। कभी कभी प्रतिक्रिया के कारण बुराई का सुधार करने पर नई बुराइयां दीख पड़ती हैं; लेकिन बंकिमचन्द्र और उनके वक्त के लोगों के मन में इस बुराई के अस्तित्व के बारे में किसी दिन भी आशंका नहीं हुई। सामन्तवाद की याद हलकी पड़ चुकी थी; लेकिन उसका आकर्षण कम नहीं हुआ था। इसीलिए उसके रोमांटिक आह्वान ने उस युग के कवि-चित्त को सहज ही में अपनी ओर खींच लिया। बंकिमचन्द्र के उपन्यास बंगला काव्य-इतिहास के अंग नहीं हैं, पर उन में जिस मनोवृत्ति का विकास हुआ है, उस युग के काव्य में भी उसी युग का परिचय मिलता है। बंकिम युग की राष्ट्रीयता भी निषेधात्मक (Negative) है—अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद के मोह से विह्वल मध्यम वर्ग के मन को उस दिन नष्टप्राय मुसलिम राजशक्ति पर हमला करने में ही राष्ट्रीयता नज़र आ रही थी; उन्होंने स्वाधीनता का अर्थ नहीं समझा था।

चारों ओर की जिन अवस्थाओं के सहयोग से दान्ते की काव्य-साधना सहज हो गई थी; वे अवस्थाएं रवीन्द्रनाथ को नहीं मिलीं; लेकिन चारों ओर की अवस्थाओं के असहयोग को लांघ जाने और उन्हें बदल देने में ही रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा की सिद्धि है। जिस दिन रवीन्द्रनाथ का जन्म हुआ, उस समय बंकिमचन्द्र की साहित्य-साधना शुरू नहीं हुई थी; उस दिन भी बंगाल का नव जाग्रत हिन्दू-मानस सुदूर अतीत के स्वप्न और निकट अतीत के विक्षोभ से क्षुब्ध था। नव प्रतिष्ठित हिन्दू मध्यश्रेणी के विस्तार का युग अन्तिम सांस ले रहा था। लेकिन समाज के नेताओं के मन में भी उस दिन, (स्थिति-शील) परिवर्तन विरोधी हिन्दू मध्यम वर्ग के दुर्भाग्य की पूर्व छाया ने आशंका का भी रूप नहीं लिया था। निषेधात्मक साम्प्रदायिकता को आत्मप्रतिष्ठित राष्ट्रीयता मे रूपान्तरित करना रवीन्द्रनाथ की अन्यतम कीर्ति है। साहित्य के क्षेत्र में उनके आविर्भाव के समय, विचार की प्रवृत्ति के साथ विचार के उपादान भी देश मे इकट्ठा होने लगे। नव जाग्रत बंगाली मानस इसीलिए उस दिन स्वाधीनता के स्वप्न से व्याकुल और चचल हो उठा था। रवीन्द्रनाथ की राष्ट्रीयता इसीलिए निषेधात्मक नहीं है—आत्मप्रतिष्ठा की साधना में व्याकुल तरुण भारत के जीवन की चंचलता से उनकी काव्य-रीति स्पन्दित है। इस स्वधर्म-प्रतिष्ठा की साधना में रवीन्द्रनाथ केवल कवि ही नहीं हैं, बल्कि पथ प्रदर्शक भी हैं।

रवीन्द्र-प्रतिभा की दीप्ति इतनी तेज़ है कि इस समय का मानस उसे ठीक ठीक नहीं समझ पाता। भारतवर्ष के तप्त मध्यान्ह सूर्य की रोशनी से वस्तु का वैशिष्ट मलीन हो जाता है; ऐसा मालूम होने लगता है कि रोशनी की अधिकता से सीमान्त-रेखाएं अस्पष्ट और अनिश्चित हैं। रवीन्द्र-प्रतिभा का विचार भी इसीलिए आज असम्भव-सा है, और प्रतिभा को स्वीकार कर लेने में साधारण मनुष्य की लाचारी के कारण विचार की प्रवृत्ति और चेष्टा भी क्षीण हो जाती है। पर तब भी प्रतिभा के निरूपण की चेष्टा समालोचक के लिए अनिवार्य है; क्योंकि सिर्फ़ प्रतिभा होने के कारण ही समालोचना करने से विरत रहना विचार-बुद्धि को तिलाञ्जलि देने के समान है। इसीलिए प्रतिभा की आलोकित शक्ति को सिर्फ़ स्वीकार किया जा सकता है; विचार के क्षेत्र में उसकी अलौकिकता को समझने की चेष्टा करना होगा। इसीलिए सामाजिक, राष्ट्रीय और अर्थनैतिक शक्तियों तथा आदर्शों के द्वन्द के समन्वय मे ही हम प्रतिभा का परिचय ढूंढ़ते हैं; चारों तरफ़ की अवस्था रूपी देश-काल की पृष्ठभूमि में इसका विचार करते हैं। रवीन्द्र-प्रतिभा की आलोचना में सफलता पाने की आशा भी इसी ढंग से की जा सकती है।

व्यक्तिगत प्रतिभा अलौकिक और विचार के परे की चीज़ है। इसीलिए जिस सामाजिक और राष्ट्रीय व्यवस्था में उसका विकास हुआ है, सिर्फ़ उसी पर हम विचार कर सकते हैं। उस तरह से विचार करने पर उस युग के स्वप्न-विलासी बंगाली मानस को रवीन्द्रनाथ की काव्य-साधना में मुक्ति का पता मिलेगा, यह बात समझ में आती है। रवीन्द्रनाथ ख़ुद अभिजात (Aristocrat) थे। ध्वंसमुखी सामन्तशाही के वातावरण से उनका परिचय इतना घनिष्ट था कि तत्कालीन लुप्तप्राय सामन्त शाही के प्रति उनके मन मे मोह नहीं पैदा हुआ था और हो भी नहीं सकता था। सिर्फ़ यही नहीं, पलासी की लड़ाई के बाद इस्तमरारी बन्दोबस्त, लाख़िराज ज़मीन की ज़ब्ती और भाषा-विप्लव के मध्य से जो सामाजिक विप्लव शुरू हुआ था, उसकी प्रत्येक धारा में उन्होंने प्रवेश किया था; और इसी से उस समाज-मानस की दुर्बलता को लांघ जाना उनके लिए सहज नहीं होने पर भी सम्भव हुआ था।

यही कारण है कि अंग्रेज़ों के प्रति रवीन्द्रनाथ की श्रद्धा आजन्म रही है; परन्तु अंग्रेज़ी हुकूमत के प्रति किसी प्रकार की दुर्बलता उनके मन में नहीं थी। अपने लड़कपन में ही अंग्रेज़ी हुकूमत की कम-ज़ोरी और भारतीय इतिहास की साम्राज्यवादी विकृति को उन्होंने समझना शुरू कर दिया था।

इसीलिए बंकिम युग की अन्ध-अंग्रेज़-भक्ति उनमें बिलकुल नहीं दिखाई पड़ती। व्यक्ति के मन में जो समवेदना पैदा होती है, उसकी अनुभूति को चेतना के राज्य में लाना व्यक्ति के लिए भी कठिन है; प्रतिभा की काव्य-साधना में जब व्यक्ति उसी समवेदना की चेतन मूर्ति को देखता है, तब आश्चर्य-चकित होकर उसे ग्रहण कर लेता है और बोल उठता है कि 'यही तो मेरे मन की बात थी, लेकिन मैं स्वयं इसे न कह सका।' प्रतिभा का अर्थ भी शायद यही है। जो आवेग और समवेदना जाति के अवचेतन मन में संचित है, उसके ज़ाहिर न होने से समाज दुखी है। इसीलिए जिस क्षण प्रतिभा के स्पर्श से स्वप्न मूर्त हो उठते हैं, समाज प्रतिभा के सामने सिर झुकाकर कहता है—'तुम्हारी प्रतीक्षा में मैं इतने दिनों तक था, तुमने मेरे कंठ में वाणी भर दी है, मेरी अवरुद्ध आशा को आज रूप मिल गया है, मेरे अन्तर का क्षोभ आज सौन्दर्य सृष्टि से सार्थक हुआ।' रवीन्द्रनाथ की साधना में भारतीय मानस का वह अस्पष्ट आवेग और आकांक्षा साकार हो उठी। इतने दिनों तक जिस आवेग का सर्व प्रधान मन्त्र निषेधात्मक था, अचानक नवीन चंचलता के कारण नवीन स्वाधीनता के स्वप्न से वह चमक उठी।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के काल से ही रवीन्द्रनाथ का उससे अन्तरंग सम्बन्ध रहा है, यह घटना आकस्मिक नहीं है चारों तरफ़ की परिस्थितियों के सहयोग से दान्ते ने नवीन इटली को जिस राष्ट्रीय जागरण का मन्त्र दिया था, समाज-मानस की निष्क्रियता को लांघ के चारों तरफ़ परिस्थितियों के परिवर्तन में रवीन्द्रनाथ ने भी उस दिन के जागरण शील भारतीय मानस को वही वाणी सुनाई थी। या ऐसा भी कहा जा सकता है कि जो नवीन सृजनकारी आवेग भारतीय मानस में उस दिन संचित हो उठा था, रवीन्द्रनाथ के काव्य और राष्ट्र साधना में वही अव्यक्त और अरूप आवेग पहले पहल मुक्त हुआ और उसे रूप मिला। समाज और व्यक्ति की सत्ता में छिपे हुए रहस्य का आविष्कार करना और उसे प्रकाश में लाना ही प्रतिभा का गुण है। इसीलिए रवीन्द्र काव्य में उस युग की समाज सत्ता के अन्तर्निहित रूप ने पहले पहले आत्म प्रकाश किया।

भारतीय संस्कृति का पुनरुज्जीवन ही बंकिम युग के हिन्दू-मानस का स्वप्न था। उस स्वप्न से रवीन्द्रनाथ कभी आकर्षित नहीं हुए—उसी जगह उन्होंने हिन्दुस्तान की नवीन राष्ट्रीयता का स्वप्न देखा था, जिस स्वप्न को एक दिन अकबर ने भी देखा था। अकबर के स्वप्न का राष्ट्रीय आधार स्पष्ट है और उसका व्यक्तिगत आवेदन भी ज़ोरदार है। घटनाओं के घात-प्रतिघात के कारण रवीन्द्रनाथ के लिए वह सम्भव नहीं था, लेकिन उनकी इस सर्व भारतीय आत्मानुभूति में भी शायद पारिवारिक और सामाजिक शक्तियों का प्रभाव दिखाई पड़ता है। किस पारिवारिक अथवा सामाजिक विपर्यय के कारण ठाकुर घराना हिन्दू समाज के भीतर होने पर भी समाज से उसका सम्बन्ध शिथिल था, इसे हम नहीं जानते। किन्तु वह कारण कुछ भी क्यों न हो, इस शिथिल सम्बन्ध के कारण रवीन्द्रनाथ सिर्फ़ प्राचीन भारतीय हिन्दू संस्कृति के उत्तराधिकारी ही नहीं, बल्कि मुग़ल कालीन भारतवर्ष की भारतीय और इसलामी सभ्यता के संघर्ष और समन्वय से जो अनुपम संस्कृति बनी थी, उसे भी हृदय से ग्रहण कर सके थे। संस्कृति की इन दोनों धाराओं में अंग्रेज़ी ज़माने के शुरू में यूरोपीय सभ्यता की पुकार सुनाई पड़ी, और रवीन्द्रनाथ के जीवन में इन तीनों धाराओं के संगम से उनकी विश्व विजयिनी प्रतिभा के विकास में सहायता मिली है; यह बात असंदिग्ध है। रवीन्द्रनाथ ख़ुद अभिजात (Aristocrat) थे और अभिजात होने की हैसियत से प्राचीन हिन्दू और मुग़ल संस्कृति की धाराओं को उन्होंने सहज ही ग्रहण कर लिया था। लेकिन अभिजात होते हुए भी उनकी मनोवृत्ति और मित्रमंडली नव-जाग्रत मध्यम वर्ग को केन्द्र बनाकर ही बनी थी। उन दिनों इस नये मध्यम वर्ग के दिमाग़ पर यूरोप का प्रभाव भारत से भी अधिक पड़ा था; इसीलिए इस वर्ग के बहुतेरे मनीषियों ने



गुरुदेव और आइन्सटाइन

[बरलिन १९३०]



गुरुदेव मास्को मे

[जून १९३०]

भारत की हिन्दू मुसलमान संस्कृति को या तो अस्वीकार किया है, नहीं तो विकृत किया है। रवीन्द्रनाथ में यह बात नहीं पाई जाती—पारिवारिक तथा सामाजिक परिस्थितियों ने उनके मन पर मध्य युग की भारतीय संस्कृति को विकृत नहीं होने दिया; बल्कि ग्रामीण सभ्यता से उनकी आत्मीयता और सम्बन्ध को और भी घनिष्ट कर दिया था। उनके यौवन के दिन पूर्वीय बंगाल के गांवों और पद्मा नदी के चरों* में बीते। वहां उन्हें जिस जीवन-धारा का स्वाद मिला था, वह भारत की प्रचीन तथा साश्वत जीवन की धारा है। देश की जीवन-धारा से उनका सम्बन्ध किसी दिन नहीं टूटा। इससे उनके मन और चिन्तन को असीम उद्यम और तेज मिला है। इसीलिए संस्कृति की तीनों धाराओं का मिलन, उनके जीवन की अचानक घटना नहीं है। नवीन को ग्रहण करके उन्होंने सहज कर दिया था। यूरोपीय संस्कृति के निवेदन को पूर्ण रूप से ग्रहण करने पर भी प्राचीन और मध्य युगीय आदर्शों के माधुर्य और गम्भीरता को उन्होंने जीवन में स्थान दिया।

रवीन्द्रनाथ की जीवन धारा की अविच्छिन्नता में ही उनकी गम्भीर शक्ति और आत्मविश्वास का मूल निहित है। हिन्दुस्तान में यूरोपीय आदर्शों के आविर्भाव के बाद भी जो केवल अतीत का ही स्वप्न देखने लगे, उन्हें निष्ठुर घटनाओं का प्रभाव किस लोक में खींच ले गया; इसका दृष्टान्त आज के भारतीय ग्रमीण-जीवन में तथाकथित अभिजातों में मिलता है। क्षणस्थायी, स्वधर्मच्युत और आश्रयहीन इन अतीत में वास करने वालों-सा अभागा शायद ही कोई हो। ज़मीन के साथ इन अभिजातों का किसानों सा सम्बन्ध नहीं है। दूसरी ओर जिस नवीन मध्यम वर्ग का जन्म हुआ, वह भी यूरोप को पूर्ण रूप से ग्रहण नहीं कर सका—क्योंकि ऐसा सम्भव नहीं है। लेकिन देश की व्यापक जीवन-धारा से अपना सम्बन्ध खो देने के कारण उसकी मानसिक शक्ति भी क्षीण हो गई। व्यक्ति के जीवन में आत्म-विस्मृति का नतीजा शायद और भी भीषण होता है। अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद का मुंह ताकने वाला मध्यम वर्ग अपने इस भीषण भविष्य को नहीं समझ सका। उस समय उसे सुख और सुविधा मिली थी; लेकिन उस सुविधा के आकर्षण में मृत्यु का बीज छिपा हुआ था। आज के शिक्षित बेकारों की वेदना और विडम्बना उसी का दृष्टान्त है। भारतीय सभ्यता के इतिहास में यह स्मरणीय घटना है कि रवीन्द्रनाथ के जीवन संस्कृति और जीवन-आदर्श में उपरोक्त प्रकार की विच्छिन्नता नहीं है। अति प्राचीन और प्राचीन में नवीन कब आकर सहज ही में मिल गया, रवींद्रनाथ शायद ख़ुद भी सर्वदा नहीं बता सकते थे। युग युग में और स्तर स्तर में रवीन्द्र साहित्य में जो विचित्र और विपल्वकारी परिवर्तन हुए हैं, उसकी जड़ में भी शायद यही स्वपूर्णता और तीव्र आत्मानुभूति है—अभिज्ञता की समग्र विचित्रताओं में ही जीवन-आदर्श का अविच्छिन्न प्रवाह निहित है। अंग्रेज़ी ज़माने के शुरू से ही विपरीतमुखी संस्कृति के संघर्ष से भारत की बहुतेरी प्रतिभाओं का जन्म हुआ है—जीवन-धारा की इसी अविच्छिन्नता का महत्तम परिणाम रवीन्द्रनाथ हैं।

जीवन-आदर्श की इस अविच्छिन्नता ने रवीन्द्र काव्य को और एक प्रकार से क्रान्तिकारी बना दिया है। १९ वीं सदी के अन्त में अंग्रेज़ी साहित्य में कल्पना-विलासी कला के आदर्श का जय जय कार सुनाई पड़ता था। साहित्यिक और कलाकार स्वप्न-विलासी थे, वास्तव के साथ उनका कोई लगाव नहीं था और वे जीवन से सम्बन्ध विहीन कला-लोक के जीव थे! पर आस्करवाइल्ड का मत रवीन्द्रनाथ को किसी दिन छू-भी नहीं सका। इसीलिए देश के राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक सभी संगठनों की चेष्टा के साथ रवीन्द्रनाथ का अन्तरंग सम्बन्ध था, और उन सभी चेष्टाओं में रवीन्द्रनाथ की निजी देन भी उपेक्षणीय नहीं है। प्राचीन सभ्यता से घनिष्ट सम्बन्ध

---

* गंगा जहां पद्मा हो जाती है; वहां जब उसकी धारा के बीच में ज़मीन निकल आती है, उसी को चर कहते हैं।

के कारण ही रवीन्द्र-काव्य में जीवन का गम्भीर प्रभाव है और इसीलिए वे ग्रामीण सभ्यता की जीवन शक्ति को अपने साहित्य में सांचारित कर सके थे। गल्पगुच्छ की कहानियों में ग्राम्य जीवन की गम्भीर अनुभूति, साधारण मनुष्य के दैनिक जीवन के छोटे मोटे सुख-दुख का सूक्ष्म चित्रण आदि को रवीन्द्रनाथ के जीवन-प्रवाह की पूर्णता और एकात्मबोध की बात को जाने बिना उसका कोई विवरण देना असम्भव सा है। आजन्म ऐश्वर्य की गोद में पले अभिजात रवीन्द्रनाथ ने अपनी कल्पना से वंचित मानव की दुःख वेदना का चित्र किस गहन उद्‌गम से संचारित किया?

देश के सामाजिक जीवन से रवीन्द्रनाथ की अन्तरंग आत्मीयता के अनेकों दृष्टान्तों में से सिर्फ एक का ही उल्लेख सम्भव है। मुग़ल साम्राज्य के पतन के बाद जो राष्ट्रीय अर्थनैतिक और सामाजिक क्रान्ति शुरू हुई थी, पूंजीवाद और राष्ट्रीय स्वाधीनता की प्रतिष्ठा उसी का स्वाभाविक परिणाम होना चाहिए था। लेकिन भारत के राष्ट्रीय जीवन में यह स्वाभाविक रूपान्तर नहीं हुआ—पलासी की लड़ाई के कुछ दिनों बाद ही इस्तमरारी बन्दोबस्त, भारतीय उद्योग धन्धों का ध्वंस होना तथा भाषा-विप्लव में निहित व्यापक क्रान्ति की सम्भावना नष्ट हो गई। इस पर भी सामाजिक विप्लव जहां तक सम्भव हुआ, उसी से हिन्दू मध्यम वर्ग का विस्तार आश्चर्य जनक गति से शुरू हुआ। लेकिन इस विस्तार में ही पराजय का बीज निहित था। ज़मीन्दारी और नौकरी के प्रति आसक्त होने के कारण वृद्धिमान समाज में स्थितिशीलता आ गई और इसीलिए जीवन गति में स्थितिशील हिन्दू मध्यम वर्ग के भाग्य-विपर्यय का पूर्व-आभास दिखाई पड़ा। सभी की नज़रों में यह बात नहीं आई; लेकिन समाज-सत्ता की गम्भीर *अवचेतना की पूर्ण परिणति के ज़माने की जो अव्यक्त* अतृप्ति थी, उसी समाज-सत्ता के श्रेष्ठ प्रतीक रवीन्द्रनाथ के काव्य में उसी का सुर सुनाई पड़ा; और यह आश्चर्य की बात नहीं थी।

रवीन्द्रनाथ अपने को देश के समग्र जीवन के साथ रखते थे और यही उनके जीवन को शक्ति प्रदान करता था। उनकी सृजनशील प्रतिभा के असीम प्रकाश का उद्‌गमस्थल भी यही है। रवीन्द्र काव्य में मध्यम वर्ग के समाज का मानसिक चित्र बहुतों ने देखा है और शायद यह बात सच है कि धनी वर्ग के दृष्टिकोण से ही रवीन्द्रनाथ ने दुनिया को देखा था; अपने व्यक्तिगत अधिकार और आत्मस्थ जीवन के केन्द्र से कल्पना की दृष्टि से दुनिया को समझा था। जो मानसिक निःसंगता और दूरी रवीन्द्र काव्य का मूल सुर है, उसे मध्यम वर्ग की मनोवृत्ति के व्यक्ति स्वातन्त्र्य की परिणति के हिसाब से सहज ही में समझा जा सकता है और उस मनोवृत्ति की अवचेतना की अव्यक्त व्यर्थता का बोध, रवीन्द्र काव्य के अन्तर्लीन गम्भीर विषाद का सुर इसी व्यक्ति-केन्द्रिक स्वातन्त्र्य की अन्तिम निष्फलता का काव्य रूप है। लेकिन फिर भी प्रश्न उठता है कि अभिजात रवीन्द्रनाथ के मानस में इसी मध्यम वर्ग की आशा आवेश और प्रार्थना मूर्तिमती क्यों हुई?

रवीन्द्रनाथ की प्रबल जीवन-शक्ति और अशेष सृजनशील प्रतिभा में ही शायद उपरोक्त प्रश्न का उत्तर मिले। उनका बचपन मध्यम वर्ग के विस्तार का युग था और उस विस्तार का अन्तिम परिणाम व्यर्थता से भरा हुआ होने पर भी उसकी विस्तार शक्ति और आवेग ने ही पहले पहल रवीन्द्रनाथ को आकर्षित किया। अभिजात्य के दिन उस समय ख़तम हो चले थे, वह सामन्तशाही के ध्वंस का युग था और इस्तमरारी बन्दोबस्त के कारण ज़मीन्दारों का जो नया दल पैदा हुआ था, उनमें भी मध्यम वर्ग के स्वभाव का लक्षण स्पष्ट है। प्राणवान प्राणवान को ही चाहता है; नवीन का आकर्षण नवीन के ही प्रति होता है। *इसीलिए प्राणवान रवीन्द्रनाथ को उन* दिनों वृद्धिमान मध्यम वर्ग में ही सहकर्मी और सहधर्मी मिले, उनकी अपनी मनोवृत्ति में उसी प्राणवान समाज की छाया पड़ी और यह भी आश्चर्य की बात नहीं है।

इसी अशेष जीवन शक्ति और देश के समग्र जीवन से आत्मीय सम्बन्ध रखने के कारण रवीन्द्र काव्य में मध्यम वर्ग के मानस को पार कर जाने की चेष्टा का परिचय मिलता है। रवीन्द्र काव्य की धारा विचित्र है और उसका प्रसार बहुत विस्तृत है, समाज और जीवन के विभिन्न स्तरों और पर्य्यायों ने उनकी चित्तवृत्ति में विभिन्न प्रकार की तरगें उठाई हैं, प्रतिभा की चिर नवीनता में समाज-सत्ता के अनेकों अप्रकाशित रहस्यों ने उनके सामने आत्म प्रकाश किया है। परन्तु इतना होते हुए भी शायद ऐसा कहा जा सकता है कि रवीन्द्र काव्य में पाये जाने वाले मानसिक चित्र की जड़े मध्यम वर्ग की सत्ता में जमी हुई हैं। हमने इसका कारण बताने की कोशिश की है। लड़कपन से लेकर जवानी तक रवीन्द्रनाथ ने उसी श्रेणी में अपने प्रबल प्राणों की लीला की प्रतिछबि देखी थी। लेकिन उस जीवन शक्ति के उच्छ्वास में ही मध्यम वर्ग की सत्ता को पार करने की चेष्टा रवीन्द्र काव्य में स्पष्ट है। पिछले महायुद्ध के ज़माने से ही यह स्पष्ट हो गया कि मध्यम वर्ग के सृजन के युग का अन्त हो चला है। सामाजिक विकास की जिस धारा में किसी दिन अभिजात सामन्तशाही विलीन हो गई है, उसी विकास की गति से मध्यम वर्ग का अन्तर्धान होना अवश्यम्भावी है। रवीन्द्र प्रतिभा का चमत्कार यह है कि इस परिवर्तन से भी उनके काव्य-प्रवाह की धारा तीव्र हुई है—जिस उम्र में मनुष्य का मन, अभ्यास और प्रकृति जड़ और लोचहीन हो जाती है, उस उम्र के बाद भी नित्य नूतन को ग्रहण करने में उनके मन में विराग या अशक्ति का लक्षण लेशमात्र भी नहीं था।

उनकी प्रबल जीवन-शक्ति ने समष्टि बोधक और अपने आप में पूर्ण होने के कारण रण-क्लान्त तथा आत्मविच्छिन्न यूरोप को सबसे अधिक आकर्षित किया था। यूरोप में जीवन-शक्ति की कमी नहीं; लेकिन यूरोप की वह शक्ति आत्म घातक और स्वधर्म च्युत है। वर्तमान यूरोप का रोग आवेग की अधिकता से नहीं उत्पन्न हुआ है, ब/९क आवेग के अकाल से। और जीवन के आवेग की कमी को छिपाने से वहां बाहरी कर्म जगत् में दिशा भ्रष्टता एवं चंचलता दिखाई पड़ती है। इसीलिए रवीन्द्रनाथ की अशेष जीवन शक्ति की अंतरंग समाज चेतनता और आवेग के आह्वान को यूरोप ने जिस आतुरता से सुना, उसकी तुलना अनेकों शताब्दियों के इतिहास में नहीं मिलती। व्यक्ति स्वातंत्र्य तथा मनुष्य और प्रकृति के विचित्र सम्बन्ध से जो रोमाण्टिक भाव उनके लड़कपन और जवानी में जमे थे, प्रौढ़ता की पूर्णता में वह विश्व-भारती की साधना में समाप्त हुए।

यहां पर रवीन्द्र काव्य की विस्तृत समालोचना नहीं की जा सकती। रवीन्द्रनाथ जीवन के कलाकार थे, और उनके काव्य की समालोचना का अर्थ है, उनके जीवन का मूल्य-निर्णय करना। जिस प्रबल जीवन-शक्ति से उन्होंने किसी दिन मध्यम वर्ग की स्वतंत्रता को काव्य का रूप दिया था; समाज चेतना के विकास से व्यक्ति की उस दूरी को पार कर दुनियां के जन-समागम में से अनेकों आदमियों के साधारण सुख दुख को काव्य जगत में रूप देने की साधना भी उसी प्रेरणा का फल है।

भारतीय कला के इतिहास में रवीन्द्रनाथ का आविर्भाव उनके काव्य जगत के आविर्भाव से कुछ कम विस्मय-जनक नहीं है। भारतीय चित्रकला की पद्धति तथा आदर्श के सम्बन्ध में लेखक ने अन्यत्र समालोचना की है,* यहा पर सिर्फ़ इतना ही कहना चाहता हूं कि रवीन्द्र-अंकित चित्रों ने उस परम्परा को अस्वीकार नहीं किया, बल्कि उसमें नवीन ऐश्वर्य का भण्डार हमारे सामने खोल दिया है। आधुनिक अध्यात्म की साधना ने भारतीय चित्रकला की सचमुच अवहेलना की है! किसी ज़माने में राज दरबार की नागरिक सभ्यता को व्यक्त करने की चेष्टा में प्रत्येक रेखा के अन्दर ललित और सूक्ष्म कला का निदर्शन उपस्थित किया गया है। देहातीत आवेग

* देखिये लेखक का 'विश्ववाणी' जुलाई १९४१ में प्रकाशित 'भारतीय चित्रकला' नामक लेख।

के त्रिकालजयी प्रकाश की स्मृति के निदर्शन स्वरूप अजंता के चित्रों को हम कभी भी नहीं भूल सकते—वास्तव और स्पर्शमान जगत् को पार करने का यह प्रयास भी चित्रकला का अवर्णनीय ऐश्वर्य है। मुग़ल और राजपूत चित्रकला से उसका ज़मीन आसमान का फ़र्क़ है। वहां हमें नागरिक मनोवृत्ति का चरम प्रकाश दिखाई पड़ता है। अंग्रेज़ी युग के प्रारम्भ में राष्ट्रीय अधःपतन के साथ कला का भी अधःपतन हुआ। यूरोपीय सभ्यता के प्रथम संघर्ष से भी यह अधोगति नहीं रुकी। बनावटी नकलों के कारण कला-चेतना भी विकृत हो गई। अवनीन्द्रनाथ में ही सर्व-प्रथम भारतीय चित्रकला की प्रतिभा का दृष्टान्त मिलता है। यूरोपीय चित्रकला में सिद्धहस्त होने पर भी उन्होंने भारतीय पद्धति को ही अपनाया। लेकिन इस पुनरुज्जीवन में भी ख़तरा था, क्योंकि अल्प प्रतिभा के कलाकारों के हाथों में वह भारतीय चित्र-कला के नवयुग की घोषणा न करके सिर्फ़ भूले हुए और भूल जाने वाले अतीत की कष्टदायक पुनरावृत्ति हो उठी। भारतीय राजनीति के क्षेत्र में अतीत काल के बोझ अनेक क्षेत्रों में दुःसह हो उठे हैं, कला-जगत में भी उस पुरानी पद्धति की स्मृति नवीन सृष्टियों की चेष्टा में बाधक हो गई।

रवीन्द्रनाथ चित्रकला के क्षेत्र में नये और बे बुलाये अतिथि थे। इसीलिए भारतवर्ष में आजकल की प्रचलित चित्र-पद्धति का प्रभाव उनके चित्रांकण में नहीं के समान है—चित्र-जगत में उन्होंने स्वाभाविक कलाकार की प्रतिभा और पटुता का परिचय दिया था। लेकिन जिस जीवन-प्राचुर्य का परिचय उनके काव्य में मिलता है, यहां भी उसकी कमी नहीं दीखती। और उसी जीवनोच्छ्वास से चित्रजगत में जिस रास्ते को उन्होंने ढूंढ निकाला है, वह इसके पहले किसी चित्रकर की नज़रों में नहीं आया था। यह बात ऊपर ही लिखी गई है कि रवीन्द्रनाथ ने किसी वर्गविशेष के बंधन को स्वीकार नहीं किया; बल्कि जन्म तथा शिक्षा दीक्षा के शासन को पार कर समाज जीवन के प्रत्येक प्राणवान प्रतीक के साथ उनका घनिष्ठ संबन्ध क़ायम हुआ है। चेतना के कारण चित्र-जगत में भी रवीन्द्रनाथ सिर्फ़ संस्कृतिवान चित्र-पद्धति को स्वीकार करके ही सन्तुष्ट नहीं हो गए थे—पूर्ण विकसित चित्रांकण-रीति के पीछे और नीचे जो सहज चित्रकला देश की अशिक्षित जनता में व्याप्त है, उसी में उन्हें कला-साधना की प्रेरणा मिली थी।

जन मन के विश्लेषण से शायद यह बात सन्देहातीत हो जाती है कि युगों के पश्चात् भी उस जन मन में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है, दुनियां के इतिहास में अत्याचार पीड़ित वर्ग अनेकों बार उत्पन्न हुआ है; लेकिन पीड़ितों के राष्ट्र की उत्पत्ति शायद आज भी नहीं हुई है। अत्याचार पीड़ित व्यक्ति के जीवन में राष्ट्रीय इतिहास की पुनरावृत्ति होती है, अवचेतन मन (Subconcious mind) के विश्लेषण से यह बात अनेकों बार मालूम हुई है। इसीलिए जन मन की चित्र-कल्पना पर प्रतिष्ठित चित्ररीति बारम्बार हमें प्राचीन युग के चित्रकला की बात याद करा देती है। दूसरी ओर यूरोप की संस्कृति में आज जो संकट दिखाई पड़ता है, उसी से आत्म-विभक्त, वर्गकलह की राष्ट्रीय संहारक मूर्ति को देखकर कलाकार का हृदय अनेक स्थलों में संस्कृति और सभ्यता के सभी बाहरी प्रकाशों और रूपकलाओं को अस्वीकार करके सभ्यता से पक्षपातहीन मनोवृत्ति का आश्रय ढूंढ़ता है।

रवीन्द्रनाथ के चित्रांकण में पतिक्रिया नहीं है। और उसके न होने के कारण ही उस पर हमारा विश्वास और भरोसा इतना अधिक है। प्राचीन भारत की आध्यात्मिक और मुग़लकालीन भारत की दरबारी चित्ररीति के अलावा हमारे देश के सनातन कला की धारा के मूलसूत्र को स्वभाविक कलाकार की प्रतिभा ने ग्रहण किया था, और भारत के जातीय जीवन में उसकी जड़ दूर तक जमी होने के कारण ही उनकी चित्ररीति इतनी शक्तिशाली और दृढ़ है।

महाकवि के निर्वाण पर

श्री रामप्रकाश अग्रवाल, एम० ए०

बुझ गया विश्व का महादीप !
बन गई पूर्णिमा अमा, आज हो गया अस्त नभ का प्रदीप।

सूना सूना सा अब अम्बर
अवनी पर आया तिमिर उतर,
नयनों में ही नक्षत्र-ज्योति
बन आई तरल, नीर ले कर,
हो गया दीप-निर्वाण, किन्तु कुछ शलभ अभी बैठे समीप।

जिसकी वाणी का मधु कम्पन
कर देता निखिल विश्व निस्वन,
जिसकी तूली अपनी गति में
भर लाती कण कण का स्पन्दन,
खिल उठते सुमन जहाँ जाता, सौन्दर्य्य-सृष्टि का वह महीप।

प्राची में उदित हुआ 'रवि' बन
बन गया प्रतीची मे शशि-घन,
गीतो की अंजलि मे भर कर
लाया विश्वात्मा का दर्शन,
वे मुग्ध दृष्टि से देख रहे, पूरब पश्चिम बैठे समीप।

नूतन शिक्षा - संस्कृति - विधान
इस जीर्ण विश्व में युवा प्राण,
जीवन भर शान्ति-निकेतन बन
जिसने की जग को ज्योति दान,
अब केवल शान्ति - निलय में जा विश्राम ले रहा महा दीप।

बन गया व्योम - जग का प्रदीप,
बुझ गया विश्व का महादीप।

रवीन्द्रनाथ का महा परिनिर्वाण

श्री सत्येन्द्रनाथ मजुमदार

पश्चिमी आसमान में प्रलय की खूनी घटा दिखाई पड़ रही है—अनिश्चित आशंका के काले बादलों से पूरब घिरा हुआ है, ऐसे समय में भारत के चमकते हुए रवि अस्त हो गए। अंधकार और भी घना हो गया। हज़ारों वर्षों में भी जिस प्रकार के मानव को किसी देश की जाति को देखने का सौभाग्य प्राप्त नहीं होता है, उसी कोटि का मानव एकाएक हमारे बीच दिखाई पड़ा था—आज उसे खोकर हम अनाथ हो गए, विश्व-मानव दरिद्र हो गया।

आज से ढाई हज़ार वर्ष पहले उत्तरी भारत के घने जंगल में एक राजकुमार का जन्म हुआ था, वह करुणा और मैत्री की साकार मूर्त्ति थे। अस्सी वर्ष तक इसी भूमि में निवास करके वह जंगल में शिष्यों से घिरे इस असार संसार को छोड़कर चले गये। उनके धर्म, शिक्षा, कला के गौरवमय दानों का भारत आज भी नहीं भूला है। सर्वमानव के लिए कल्याणकारी उनकी वाणी सारे एशिया में फैल गई थी, उस इतिहास और दिव्य दान की कहानी हमने पढ़ी है। आज फिर हमने देखा कि एक राजकुमार राजभवन में पैदा होकर, ऐश्वर्य्य और स्वाच्छन्द्य जीवन के बीच पलने पर भी किसी संकीर्ण सीमा में आबद्ध नहीं रहा। अपनी असाधारण प्रतिभा और भावावेग से उसने विश्वमानव की वन्दना की। देश और जाति के संकीर्ण बन्धनों को त्याग कर उसने समग्र मानवता को अपने हृदय में धारण किया। पीड़ित मानव की वेदना को उसने भाषा प्रदान की, उसकी आशा को उसने छन्दों में रूपान्तरित किया, उसके आनन्द को उसने संगीत की सैकड़ों धाराओं में बहाया। मानव महत्व के इस चिर जाग्रत पुरोहित ने देश देशान्तर में भ्रमण कर मानवता को 'दानवी शक्ति' से छुटकारा पाने की अमर वाणी सुनाई। नगर छोड़कर देहात के एकान्त गोद में साधना करते हुए दीर्घ जीवन व्यतीत करके अस्सी वर्ष की उम्र में जोड़ासांको के अपने राजभवन में शिष्य प्रशिष्यों के बीच शरीर त्याग किया।

इस ऐतिहासिक महानिर्वाण के बाद जब मैं लौट रहा था, तब पक्षाघातग्रस्त पंगु की तरह मेरा हृदय और मन इस बात को नहीं समझ सका कि मानवता का कितना बड़ा नुक़सान हुआ। बुद्ध को तत्कालीन भारत बहुत कम पहचान सका था। उस महान क्षति और महा ऐश्वर्य को जानने समझने में उस समय अनेकों बाधाएं थीं! पर आधुनिक विज्ञान के युग में छापाख़ाना तथा ख़बरों के जल्दी से जल्दी लेन देन के ज़माने में भी क्या सारे राष्ट्र को मालूम हो सका है कि हमारी कैसी क्षति हुई है? जिसकी शव-यात्रा के पीछे कौतूहल और शोक से भरे हुए नर-नारियों का अपार विराट समुद्र था; क्या उन आदमियों ने समझा है कि भारत के गर्व और गौरव रवीन्द्रनाथ कौन थे? इस निरक्षर देश की पंचानवे फी सदी जनता के लिए ज्ञान की रोशनी सदा के लिये वर्जित है, रवि की ज्योति का प्रकाश वहां तक नहीं पहुंच सका था। जिस दिन यह देश, यह जाति स्वतंत्र होकर आज़ादी के वातावरण में सांस लेगी, उसी दिन भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक इस अविनश्वर कीर्त्ति-प्रतिभा की ज्योति फैल जायगी।

मृत्यु नश्वर क्षण-स्थायी जीवन का अन्तिम परिणाम है—मृत मानव इस दुनियां में ही पड़ा रह जाता है। मनुष्य सहज ही में उसे भूल जाता है। गतिशील काल उसकी सभी यादगारों को धो डालता



अन्तिम यात्रा

['हिन्दुस्तान स्टैण्डर्ड" के सौजन्य से]

है। इन्द्रलोक, चन्द्रलोक आदि किसी लोक में अमरता नहीं है। इसी पृथ्वी ने किन्हीं किन्हीं आदमियों को अमरता प्रदान की है। उन्हीं इनेगिने महामानवों की अमर कीर्त्ति के बीच रवीन्द्र प्रतिभा भी सदियों तक चमकती रहेगी।

यश और मान न पाकर बंगाल के एक कंगाल (दरिद्र) कवि ने अत्यन्त विश्वास के साथ लिखा था—

साम्राज्य, ऐश्वर्य वीर्य जगते नश्वर
कविता अमृत आर कविरा अमर ॥

(अर्थात् साम्राज्य, ऐश्वर्य, वीरता दुनिया से मिट जायगी। लेकिन कविता अमृत है और कवि गण अमर हैं।)

रवीन्द्रनाथ का काव्य संगीत यथार्थ में अमृतमय है। 'बङ्गाल के "किसी किसी भाग्यवान" ने इस अमृतधारा का बचपन से ही पान किया है। यह अमृत उनकी नस नस में भिग गया है। इसीलिए वे इस जाति के प्रति अपने प्रेम को अमर कर सके हैं। कृतघ्नता, कुसंस्कार, लोभ का प्रहार और दशन उनके हृदय को कलुषित और बुद्धि को विकृत नहीं कर सका है। नवयुग के ये मानव रवीन्द्र प्रतिभा की सृष्टि हैं। चण्डीदास के काव्य ने एक दिन चैतन्य के धर्म को रूप प्रदान किया था। रवीन्द्रनाथ के काव्य ने मानव धर्म को एक अपूर्व रूप प्रदान किया है। जाति, वर्ण, सम्प्रदाय की संकीर्णता से मुक्त रवीन्द्र नाथ ने ही भारत में इसे सम्भव किया। विश्व मानव की वेदना के पुरोहित ने दीन हीन नर नारियों के क्षुद्र जीवन को महिमामय बना दिया है।

श्रावण की पूर्णिमा हिन्दुस्तान के इतिहास में चिरस्मरणीय दिन है। इसी दिन स्वदेशी युग में (१९०५-७) राखी बंधन दिवस घोषित किया गया था। बंगाल के प्रत्येक भाई बहिन को एक करने के लिए उस दिन रवीन्द्रनाथ कलकत्ते की सड़कों पर दिखाई पड़े थे। उस दिन इस आत्मविस्मृत प्रेमिक के पीछे था युवक और छात्र समूह। रवीन्द्रनाथ की राखी ने उस दिन बंगाल के हर एक गांवों के बालक, युवक, वृद्ध सभी में देशप्रेम और नया जोश पैदा कर दिया था। आज कवि की शव-यात्रा के पीछे छात्र और युवक समुदाय को देखकर १९०५ की वह बात याद आ गई। उस दिन के छात्र और युवकों में हमें स्वदेशी युग की आशा दीख पड़ी थी। मुझे विश्वास हो गया कि वे रवीन्द्रनाथ के महान उत्तराधिकार की रक्षा कर सकेंगे।

लेकिन आज की इस महान क्षति को किसी तरह हम नहीं भूल सकते। स्वदेशी युग में कवि की रूद्र वीणा के तीव्र झंकार से हृदयवीणा के तार जिस तरह प्रतिध्वनित हुए थे, उसकी गति आज भी क्षीण नहीं हुई है। उस वीणा को छोड़कर कवि चले गये। जिस तरह सूर्य रोज़ सवेरे नवीन अचरज के साथ पूरब में उदय होता है, उसी प्रकार रवीन्द्र प्रतिभा भी रोज़ नई विचारधारा, नया काव्य, नवीन संगति की अनगिनित धाराओं से हमारे हृदय को सींचती है। दीन जाति इस ऐश्वर्य को बिना चेष्टा किए ही बहुत दिनों से पाती आ रही थी, आज उसका अंत हो गया। इस भीषण सर्वनाश के सामने मृत्यु को धिक्कारूँ या जीवन का गान करूँ? ऐसा भी हो सकता है कि हमने कुछ भी नहीं खोया है। एक महान जीवन के प्राकृतिक परिणाम की पूर्णता के सामने साधारण विलाप संकुचित हो जाता है। जो मृत्यु श्लाघापूर्ण है, जो मृत्यु गौरव मय है, उसी महान मृत्यु की महिमा को महसूस कर हमें क्षति से ऊपर उठना होगा।

महा-मिलन की बेला में

[कवीन्द्र श्री रवीन्द्र के महा प्रयाण में]

श्री सुधीन्द्र एम० ए०

मरण, मरण, कवि, मरण तुम्हारा ?
यह न तुम्हारा मरण हुआ !
यह तो तुम्हे आज चिर विरही !
प्रिय का अन्तिम वरण हुआ !
प्रतियुग, प्रति पल, चरण-चरण धर
बढ़े मिलन - पथ पर अविचल
वन्दनीय मानवता को, कवि ,
पुण्य तुम्हारा चरण हुआ !

विश्वकवे ! लेकर तुमने निज
प्राणों की अमरण वीणा
गाये ऐसे गीत कि जिनकी
ध्वनि न कभी होगी क्षीणा
अहो अगेय गेय के गायक !
गीत तुम्हारे गेय हुए
गा- गा कर जिनको आत्मा यह
बने अमर - रस मे लीना

ओ अनन्त के अनुपम साधक !
आज तुम्हें निज साध्य मिला
अहो विश्वप्रिय के आराधक !
आज तुम्हे आराध्य मिला

अपने गीतों की अंजलि से
किया जिसे अर्चन - पूजन
आज तुम्हे देवता तुम्हारा
मानो स्वयम् अबाध्य मिला

युग के कवि, युग-युग के कवि ओ ,
युग-युग तक तुम अहो अमर !
भव-काया से ओझल हो पर
यश - शरीर से सदा अजर !
मंगल - कलश अमर गीतों का
जो तुम कवि धर गये, यहाँ
रस बरसाता, सरसाता है
प्रेय - श्रेय से मानस - सर

तार-तार छूती प्राणो के
कवि-गुरु ! तव अमृतवाणी ,
जीवन का सन्देश सुनाती
जिसमे संस्कृति कल्याणी ;
पूजा-गीत बने युग - युग के
देव, तुम्हारे ये गायन
तुमसे सतत अनुप्राणित हैं
युग - युग तक मानव प्राणी !

'स्वदेशी समाज' और रवीन्द्रनाथ

[स्वदेशी आन्दोलन के समय रवि बाबू के जीवन की एक झलक]

१९०४ में 'स्वदेशी समाज' नामक अपने प्रसिद्ध भाषण के बाद हिन्दुस्तान की सामाजिक व्यवस्था के पुनर्निर्माण के लिए रवीन्द्रनाथ ने समाज और राष्ट्रीय व्यवस्था की एक गुप्त योजना बनाई थी। नौकरशाही हुकूमत और अगरेज़ों से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखकर देश की शक्ति और सम्पदा का संगठन करने के लिए यह योजना तैयार की गई थी। इस योजना को गुप्त रूप से अपने परिचित लोगों में प्रचारित किया गया इससे उनके उस समय के विचार पर रोशनी पड़ती है। योजना नीचे दी जाती है:—

हमने निश्चय किया है कि हम कई आदमी मिलकर एक समाज स्थापित करेंगे।

हम अपनी सम्मिलित चेष्टा से यथासाध्य अपने अभावों को दूर करने में अपना कर्तव्य पालन करेंगे; अपने शासन की ज़िम्मेवारी अपने हाथों में लेंगे; जो काम हमारे देशवासियों द्वारा हो सकता है, उसके लिए दूसरे की सहायता नहीं लेंगे। इसीलिए अपने समाजके इन नियमों का पालन हममें से हरएक को ईमानदारी से करना होगा। इन नियमों की अवहेलना करने पर हम समाज द्वारा दिए गए दण्ड को स्वीकार करेंगे।

समाज के अधिनायक और उसके सहायक पदाधिकारियों का समाज द्वारा निर्द्धारित अधिकार के अनुसार निश्चयात्मक रूप से यथायोग्य सम्मान करेंगे।

प्रत्येक व्यक्ति को इस समाज में योगदान करने का अधिकार होगा।

साधारणतः इक्कीस साल से कम उम्र वालों का प्रवेशाधिकार नहीं होगा।

नीचे लिखी बातों पर इस सभा के सदस्यों की सम्मति ज़रूरी है:—

१—हमारे समाज और साधारणतः भारतवर्षीय समाज के किसी भी प्रकार के सामाजिक विधानों के लिए हम सरकार की शरण में नहीं जायंगे।

२—जानबूझ कर हम विलायती पोशाक और विलायती चीज़ों का इस्तेमाल नहीं करेंगे।

३—विशेष आवश्यकता नहीं पड़ने पर हम बंगाली को अंगरेज़ी में पत्र नहीं लिखेंगे।

४—अंगरेज़ी खाना, अंगरेजी साज, और अंग्रेज़ी बाजे का इस्तेमाल नहीं करेंगे। शराब नहीं पियेंगे और आडम्बर के उद्देश्य से अंग्रेज़ों को न्योता देना बन्द करेंगे। अगर दोस्ती या किसी दूसरे विशेष कारण से अंग्रेज़ निमंत्रित किये जाय, तो उन्हें बंगला रीति से भोजन करायेंगे।

५—जब तक हम अपने स्वदेशी विद्यालय की स्थापना नहीं कर लेते, तब तक यथासाध्य स्वदेशी व्यक्तियों के द्वारा सचालित विद्यालयों में ही अपनी सन्तानों को भेजेंगे।

६—समाज के व्यक्तियों में अगर किसी प्रकार का विरोध दिखाई पड़ा, तो अदालत नहीं जाकर सब से पहले समाज के फ़ैसले को मान लेने की चेष्टा करेंगे।

७—स्वदेशी दूकान से अपने काम में आने वाली चीज़ों को ख़रीदेंगे।

८—आपस में मतभेद होने पर भी बाहरी लोगों में समाज या (समाज के सदस्य) को निन्दित करने लायक़ कोई बात नहीं करेंगे।

[पाठक कृपा करके अपने अभिप्राय के अनुसार नियमावली में परिवर्तन, परिवर्द्धन और परिमार्जन करके जोड़ासांको के ६ नम्बर द्वारकानाथ ठाकुर की गली में श्रीयुक्त बाबू गगनेन्द्रनाथ ठाकुर के पास भेज दें। इसे जनता में प्रकाशित न किया जाय।]

रवीन्द्रनाथ और मानव महात्म्य

आचार्य श्री क्षितिमोहन सेन

हमारे देश में जो सबसे ऊंचे सम्मान का अधिकारी है, उसको कहते हैं योगी। लड़कपन में सोचता था कि योगी का सम्मान इतना ऊंचा क्यों है ? जिस देश के अन्दर अनगिनत भेद-विभेद की विडम्बना है, उस देश में तो उसी को सर्वजन मान्य होना उचित है, जो भेद के भीतर अभेद की और विच्छेद के भीतर योग (मेल) की स्थापना कर सकता है। प्राचीन भारत के समर विजयी योद्धा और देश विजेता शूरवीरों की कथा को लोग नहीं याद करते थे, याद करते थे उसी महापुरुष को जो अपने प्रेम और मैत्री से पतितों को उन्नत और विच्छेद के भीतर योग की स्थापना करते थे। लङ्का विजयी के रूप में राम पूजनीय नहीं हैं। राम सभी के हृदय के धन इसलिए हैं कि वह गुह के मित्र, शबरी के बन्धु और बन्दर-भालुओं के सखा थे। कृष्ण और बुद्ध इसी मैत्री के गुण से बड़े हैं यह भारतवर्ष के इतिहास की धारा देखने से मालूम होता है। रवीन्द्रनाथ ने ख़ूब सुन्दर भावों में इस कथा को हमारे लिये रचा है।

भारतवर्ष की इन सभी दुर्गतियों का प्रधान कारण है, उसके अपने अन्दर के असंख्य भेद-विभेद। लेकिन राजनीतिक दुर्गति को दूर करने के लिए ही यह मैत्री बुद्धि प्रशंसित नहीं है; असल में यह भेद-विभेद मानवता की दृष्टि से त्याज्य है। आज हम मन्दिरों मन्दिरों में भगवान की मूर्ति की पूजा करते हैं; पर सच तो यह है कि हम आज भगवान को भुला चुके हैं— उनको खो चुके हैं। इसका कारण यह है कि असल भगवान तो मनुष्य के हृदय में वास करते हैं। उस मानव-मन्दिर-वासी भगवान का अपमान करके किस मुंह से हम कह सकते हैं कि हम भगवान को चाहते हैं ? रवीन्द्रनाथ ने बतलाया है, भगवान पत्थर के मन्दिरों और मूर्तियों में नहीं बैठे हैं, वह दीन दुखियों के घरों में बसते हैं।

वह तो दुनिया के सभी लोगों की सेवा में दिन रात लगे हैं। साधक को उसी सेवा के लिए प्रार्थी होना चाहिए, उसी सेवा के द्वारा भगवान का सच्चा सेवक हुआ जा सकता है। व्यर्थ का जप तप और पूजा-पाठ क्या उसकी सच्ची उपासना है ? उपासना का अर्थ यदि पास होना है, समीप होना है, तब तो लोक सेवा के ज़रिये ही उसकी सच्ची उपासना की जा सकती है। इसीलिए रवीन्द्रनाथ कहते हैं—

तुम जो कार्य कर रहे हो
क्या उस काम में मुझे न लगाओगे ?
काम करते समय—
क्या तुम मुझे अपने हाथ से न जगाओगे !

मुंह से तो हम कहते हैं "यत्र जीव तत्र शिव", किन्तु कार्य में ठीक इससे उलटा होता है। ईसा ने कहा—"कोई यदि तुम्हारे एक गाल में थप्पड़ मारे तो दूसरा गाल उसके सामने कर दो।" पर कितने ईसाई इसका पालन करते हैं ! हिन्दुस्तानी ही इस हिसाब से ईसाई हैं, जो एक गाल पर थप्पड़ खाकर दूसरा गाल सामने लाने के लिए बाध्य हैं। और गीता के कृष्ण का जो वीरतापूर्ण उपदेश है, उसका पालन करनेवाले मिलते हैं पश्चिम में। 'यत्र जीव तत्र शिव' यदि सत्य है, तब सारे संसार के साथ सेवा को माध्यम बनाकर मिलना होगा, सारे विश्व के साथ एक होना होगा। रवीन्द्रनाथ ने कहा है—

जहां विश्व के साथ तुम्हारा सम्पर्क है (तुम) वहीं विचरण करते हो
इसलिए उसी जगह तुम्हारे साथ मेरा साक्षात् होगा,
न (तो) बन में, न विजन में
न कहीं हमारे अपने मन में,
हे प्रिय जहां लोक है वहीं तुम हो
और वहीं मेरा अपनत्व भी है।

संसार के साथ (योग) मेल के लिए हमको सब से नीचे उतरना होगा। फिर क्या हम किसी को नीच कहकर घृणा या उपेक्षा कर सकेंगे? इसीलिए रवीन्द्रनाथ कहते हैं—

जहां अधम से अधम और दीन से दीन रहते हैं,
उसी भूमि पर तुम्हारे चरण हैं।
सब से पीछे सब से नीचे,
सर्व हारा - जनों के बीच।
हमने तुम्हे जब प्रणाम किया,
(तब) हमारा वह प्रणाम (तुम तक) न पहुँचा!
तुम्हारे पद अपमान के अतल में हैं
वहां मेरा प्रमाम कैसे पहुंचे ?
तुम तो सबसे पीछे, सबसे नीचे, सर्वहारा जन के बीच में हो।

यही पूजा है सत्य। इस पूजा को छोड़कर हम जो मठ मन्दिर गुहा गह्वर आदि में उसे ढूंढ़ते फिरते हैं, माला जपते हैं, वह पूजा क्या सत्य है? सत्य पूजा से भ्रष्ट होने के कारण ही आज हमारी यह इतनी दुर्दशा है। इसीलिए आज हमारा देश दुर्भिक्ष पर दुर्भिक्ष, कष्ट पर कष्ट और डर-भय में हर रोज़ डूबता जा रहा है—"दौर्भिक्षाद् याति दौर्भिक्षं कष्टात् कष्टं भयाद् भयम्।" इस दुर्गति की बात को रवीन्द्रनाथ ने अभूतपूर्व ढंग से गीताञ्जलि में कहा है—

भजन, पूजन, साधन, आराधना सब मुझसे दूर होओ!
देवालय के द्वार बन्द हैं और यहां देवता नहीं!
अज्ञान के अन्धकार में अपने हृदय को छिपा कर
किस देवता की पूजा में निमग्न है?
तू आंख मीच कर देख, देवता इस घर में नहीं है!
जहां कृषक हल चलाकर अन्न बीज धरती में बो रहे हैं,
श्रमी जहां पत्थर तोड़कर पथ बना रहे हैं,
धूलि धूसरित जिनके कर और तन हैं
स्वच्छ वसन छोड़कर उन्हीं के समान तू भी धूल में चल!
प्रभु अपनी रचना मे बंधे सब के साथ हैं,
घर और पूजा का थाल और ध्यान को दूर हटा,
आज अपने श्रम सीकर बहा कर कर्मयोग में प्रभु से मिल!

असली धर्म है सेवा और प्रेम के द्वारा दीन दुखियों से मिलना। इसी मेल से अलग हो जाने के कारण आज दिन-रात हमारा अपमान, दुर्दशा और दुर्गति हो रही है। जो मनुष्य का अपमान करता है, उसके अपमान से उसका उद्धार कौन कर सकता है? हमने जिसको अपमानित पतित करके रखा है, वही हमको पतित और अपमानित कर रहा है, क्या इसकी ख़बर हमको है? यही बात हमे रवीन्द्रनाथ ने बताई है—

अरे ओ हमारे अभागे देश! तुमने जिसका अपमान किया;
(उनके) उसी अपमान से आज तुमको सबके समान होना होगा।
जिनको तुमने मनुष्यता के अधिकार से वंचित करके रखा,
और सामने खड़े रहने पर भी पास (बैठने के लिए) जगह नहीं दी
(उनके) उसी अपमान से आज तुमको सबके समान होना होगा।

× × ×

तुमने जिसको नीचे फेंका, वह आज तुमको पीछे खींचता है!
(तुमने) अज्ञान अन्धकार के गह्वर मे जिसको छिपाया,
(वह) तुम्हारे मंगल—कल्याण—को ढंककर घोर व्यवधान, पैदा कर रहा है।
अपमान के द्वारा (तुमको) सबके बराबर होना होगा।

× × ×

देख नहीं रहा है, मृत्यु दूत दर्वाजे पर खड़ा है,
(और उसने) तुम्हारे जातीय अहंकार पर अभिशाप की छाप लगादी है।
(अब यदि) सबको नहीं बुलाओगे, इस समय भी बैठे रहोगे,
(और अपने आपको) चारों तरफ़ से जातीय अहंकार में बांध रखोगे—
(तो याद रखो) मृत्यु से बाद चिता की राख में तुमको सबके बराबर होना पड़ेगा।

जुलाई १९१० में इस कविता की रचना हुई थी। यह बात है ३१ साल पहले की। उस समय इस सारी दुर्गति और पाप की कथा कोई इस तरह सोच भी नहीं सकता था। आज ३१ साल बाद देखता हूं कि कवि की वाणी में कितना तथ्य है और सत्य है।

बड़ौदा के अन्त्यज आश्रम के अभिनन्दन पर रवीन्द्रनाथ ने १५ अप्रेल सन् १९२० में जो अत्यन्त महत्वपूर्ण उत्तर दिया था उसका एक अंश यह है—

"यह मैं अपनी ओर देखकर कहता हूं कि तुम सब बड़े हो, तुम अपना दावा पेश करो। इस झूठी दीनता हीनता को दूर करो, यदि एक बार तुम्हारी सच्ची दृष्टि खुल जाय तब जगत में ऐसा कोई नहीं है जो तुम्हें वंचित रख सके। तुम अपने महत्व को प्राप्त करके, सारे बन्धनों को तोड़कर हमें मुक्ति दो। दीनता तुम्हारी नहीं है। सचमुच दीनता और हीनता तो हमारी है। कब तुम स्वयं मुक्त होकर हमारा उद्धार करोगे ?"

आज महाकवि की इस महावाणी को स्मरण करने का दिन है।



गुरुदेव, सर मारिस गॉयर और सर राधाकृष्णन

[शान्ति निकेतन में आक्सफ़ोर्ड की डाक्टरेट दे



गुरुदेव और बापू

[नवीन गान्धी के सौजन्य से]

गांधी और रवीन्द्रनाथ

श्री प्रभाकर माचवे एम० ए०, साहित्य-रत्न

दोनों श्री सम्पन्न कुलो मे जन्मे, किन्तु त्याग के धर्मी ;
दोनों धार्मिक, दोनों श्रद्धा के विश्वासी, दोनों मर्मी।

एक राजनैतिक हो रखता, नैतिकता की धुरा सुरक्षित ;
और दूसरा मानवता को, करता था अनुप्राणित, प्रेरित।

एक सत्य को खोज रहा है, अशिव भस्म तन रमा शिवम मे ;
और दूसरा ढूंढ़ रहा था, सत्य सुन्दरम मानव मन में।

तुमको खोकर कहो विश्व - कवि भारत किसकी ओर निहारे ?
आज चतुर्दिक गगन घिरे है, पथ विभ्रम है सखा हमारे।

यह क्या तुमने किया, कहो जब तुम्हें विश्ववाणी कहनी थी ;
हिंसा की सहार वेदना, हमे अनल में तप, सहनी थी ?

तुम सहसा वाणी के ईश्वर, आज मौन होकर सोये हो ;
गाधी के गुरुदेव ! आज तुम किस प्रकाश-तम मे खोये हो ?

तुम में बोल रहा था ऋषि स्वर, तुम में थी युग-युग की भाषा ;
वाणी कुण्ठित हुई, विश्व की रही अधूरी ही अभिलाषा !

पथ निर्देश तुम्हारा, भावी मानस - मन पर होगा हावी ;
हमको विभ्रम कर न सकेगा, पश्चिम का दानव, मायावी।

गुरुदेव के प्रथम दर्शन और कुछ संस्मरण

श्री सीताराम सेकसरिया

विश्व कवि गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर के नाम से तो सभी परिचित हैं। कितनेक लोगों को उनके दर्शन का, उनके सामीप्य का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ है। बंगाल में रहने वाले लोगों के लिये औरों की अपेक्षा उनके दर्शन सुलभ थे। तो भी मैं उनके प्रथम दर्शन सन् १९३९ के पहले न कर सका। सन् १९३९ की ६ अक्तूबर को श्री बनारसी दास जी चतुर्वेदी के साथ मारवाड़ी बालिका विद्यालय की कुछ लड़कियों और अध्यापिकाओं को लेकर गुरुदेव के दर्शनो को गया और ७ तारीख को गुरुदेव का दर्शन हुआ। गुरुदेव के प्रथम दर्शन से, बात चीत से, मेरे दिल पर जो प्रभाव पड़ा, वह उस दिन की डायरी से यहाँ दे रहा हूं :—

'शान्ति निकेतन की अन्य चीज़े देखने के बाद ३ बजे श्री बनारसी दास जी और लड़कियाँ तथा मैं गुरुदेव के कमरे मे ले जाए गए। जिस कमरे में गुरुदेव बैठे थे वह एक साफ़-सुथरा और सजा हुआ कमरा था। दीवारो पर गुरुदेव के हाथ के बनाए हुए चित्र अंकित थे। फ़र्श से चार-पाच फ़ुट ऊंचे तक शीतल पट्टी काठ के फ़्रेम मे लगो हुई थी। गुरुदेव जिस आसन पर बैठे थे, उस पर हाथ की कारीगरी का काम किया हुआ था और सामने सुन्दर फूलों का गुलदस्ता था। जितनी चीज़े वहा थीं, वे सब-की-सब कला की द्योतक थी। गुरुदेव रेशमी कुर्ता पहने, दूध की तरह सफेद बाल और सुन्दर चेहरा, बड़ी बड़ी आखें, विशद ललाट और लम्बी सफेद दाढ़ी-ऐसी उस सौम्य-मूर्ति को देख कर किसी प्राचीन ऋषि का स्वाभाविक रूप से स्मरण हो आता था। हम लोगों ने चरण छूकर गुरुदेव को प्रणाम किया। उन्होंने प्रेमभरी दृष्टि से देखते हुए कहा—'बोसुन'। उनकी दृष्टि में आकर्षण था और स्वर में माधुर्य। कुशल समाचार पूछने के बाद शान्ति निकेतन के बारे में कहने लगे "यह संस्था ही मेरा जीवन है—मेरा सब कुछ यही है। इसकी उन्नति के लिये मैं जीता हूं। मैंने अपना सब कुछ शान्ति निकेतन को दे दिया। नोबुल प्राइज़ के रुपये शान्ति निकेतन को दिये। मेरी पुस्तकों मे जो आय होती है, वह शान्ति निकेतन की ही है। ज़मींदारी की आय का बहुत सा हिस्सा भी शान्ति निकेतन मे चला जाता है। आज-कल ज़मींदारी की आय कम हो गई है। पुस्तकों की आय भी कम होने लगी है; इसलिये शान्ति निकेतन पर क़र्ज़ हो गया है। इस सस्था के बोझ से मै दबा जा रहा हूं। जो हो, मुझे यह बोझ लेकर चलना है। मैं मद्रास जा रहा हूं। इस तिहत्तर वर्ष की उम्र मे मैं बाहर नहीं जाना चाहता। आज मुझ में न तो शक्ति है और न इच्छा कि, मैं नाच-गान की पार्टी लेकर फिरूँ। पर क्या करूँ? शान्ति-निकेतन के लिये धन चाहिये। देशवासी मुझे यहां बैठे-बैठे धन नहीं देते। वे मेरा नाच-गान और कविता सुनना चाहते हैं। मै वही करूंगा। शान्ति-निकेतन पर सत्तर हज़ार का क़र्ज़ है। उस क़र्ज़ को चुकाना चाहता हूं। मै शान्ति-निकेतन—विश्वभारती को बंगाल की नहीं, भारतवर्ष की नहीं, संसार की संस्था जानता हूं और चाहता हूं कि यह संस्था संसार के तमाम लोगों की संस्कृति का आदर करे और भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व करे। यहां पर सभी संस्कृतियों और भाषाओं के विद्वान् रहें और अपनी-अपनी संस्कृतियों का अन्वेषण और उन्नति करें। आज से कई वर्ष पूर्व यहा हिन्दी की पढ़ाई शुरू की गई थी। इसके लिये हमे मद्रास से सहायता मिला करती थी। उसके बन्द होने पर एक दूसरे सज्जन छः सौ रुपये साल सहायता दिया करते थे। आजकल वह भी बन्द है। पर मैं हिन्दी

की पढ़ाई कैसे बन्द कर सकता हूं ? हिन्दी के अच्छे विद्वान् श्री हजारी प्रसाद जी द्विवेदी हमें मिल गये हैं। उनको मैं कैसे छोड़ सकता हूं ? मैं चाहता हूं यहा हिन्दी के लिये अच्छी-से-अच्छी व्यवस्था हो, हिन्दी की स्थायी सीट हो; एक हिन्दी भवन हो और सुन्दर पुस्तकालय हो। तुम्हारी जाति धनी है। यदि ठीक समझो और कर सकते हो तो, इस काम को करना।" कवि के हृदय मे दर्द था, वेदना थी और था हिन्दी के लिये प्रेम। फिर वे लड़कियो को सम्बोधन कर कहने लगे—"तुम तो जननी हो। तुम्हारे हृदय मे प्रेम, दया-सेवा भरी हुई है। तुम्हारे लिये सभी अपने हैं। तुम किसी की बुराई नहीं कर सकतीं। तुम तो सब को प्यार करती हो। भेद-भाव रहित सेवा करती हो क्योंकि तुम जननी हो।" कवि ने और भी बहुत कुछ कहा; पर मै तो उनकी भावना और स्वर लालित्य मे इतना अपने को खो चुका था कि कुछ पता ही नहीं चला।

इतना बड़ा महापुरुष, जिसने हमारे इस गिरे हुए देश का स्थान ससार मे ऊचा किया, जिसकी लिखी पुस्तको का, कविताओ का संसार के बड़े-बड़े विद्वान् आदर करते हैं; जिसकी वाणी सुनने के लिये अमेरिका आदि देशों के लोग भी लालायित रहते हैं वह रुपये के लिये—इतनी बड़ी सस्था के लिये—रुपये मागते भटकता फिरे, क्या यह हम लोगों के लिये लज्जा की बात नहीं है ? इच्छा हुई और दर्द भी हुआ कि गुरुदेव के शान्ति निकेतन का आर्थिक संकट किस तरह कटे। सोचा, अपनी सामर्थ्य ही कितनी ? एक छोटी सी भेट गुरुदेव के चरणो पर रखने की बात बनारसी दास जी से कही और उन्होंने गुरुदेव से। वे तो कवि थे, हृदय के भाव को जानते थे—पहचानते थे। उनके सामने वस्तु का मूल्य नहीं, भावना का मूल्य था। कहा—'बहुत अच्छा।' यहा तक कि उसी समय से मुझ जैसे साधारण आदमी को वे कभी भूले नहीं। अपने परिवार का जैसा सम्बन्ध मानने लगे। जब वे धन संग्रह के लिये निकले और उनका पहला व्याख्यान पढ़ने में हुआ, तब उस सभा में मेरी उस छोटी-सी भेट का जिक्र तक किया। वे बहुत ही भावुक थे। मेरे दिल पर भी इस बात का गहरा असर रहा कि शान्ति-निकेतन का ऋण कैसे चुकाया जाय। मैंने एक बड़े धनी सज्जन से ज़िक्र किया कि इतना बड़ा आदमी पैसा मागने के लिये भटके यह ठीक नही। हम लोगों को इन्हें एक अच्छी रक़म देनी चाहिये। सभी जानते हैं, बाद में तो पूज्य गाधी जी की प्रेरणा से शान्ति-निकेतन का सम्पूर्ण ऋण चुका दिया गया। गुरुदेव बहुत जल्द ही इस यात्रा से वापस आ गये। एक ही स्थान पर यात्रा पूर्ण हो गई। गुरुदेव के मन पर भी इसका बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। एक दिन बात करते हुए कहने लगे—'देशवासियों ने मुझे चाहा तो, तेरासी या छियासी वर्ष तक मै जी सकता हूं।' मैंने कहा—'गुरुदेव ! देशवासी तो चाहते हैं कि आप बराबर हमारे बीच रहें'। उन्होंने कहा—'मुझे उत्साह मिलना चाहिये न ?' इसके बाद तो कई बार शान्ति-निकेतन जाने का, गुरुदेव के दर्शन करने का मौक़ा मिलता रहा।

गुरुदेव कलकत्ते आते तब कभी कभी कुछ लोगों को बुलाकर अपनी कविता सुनाया करते। एक छोटा-सा साहित्यिक समारोह-सा होता। एक बार ऐसे समारोह मे शामिल होने के लिये गुरुदेव के सेक्रेटरी ने फ़ोन किया। शाम को मैं, भाई भागीरथ जी तथा मेरी पुत्री पन्ना उसमे शामिल होने के लिये गये। एक हॉल में पचास-साठ स्त्री-पुरुष रहे होंगे। धूप बत्तिया जल रही थीं। पिलसौत में चिरागे जल रही थीं और गुलाब आदि फूलों से गुरुदेव के बैठने के समीप का स्थान सजा हुआ था। निहायत सुन्दर, सात्विक और कलापूर्ण वातावरण था। गुरुदेव आये। लोगों ने खड़े होकर उनको नमस्कार किया। बहनों ने आरती उतारी। एक पीढ़े पर गुरुदेव विराजे। हल्के रग के खादी का कुर्ता पहने वे कितने सुन्दर लगते थे। वे बूढ़े थे; कमर झुक गई थी तो भी वे देखने में सुन्दर मालूम होते थे और उनका दबाब सम्राटों के जैसा था। पांच-सात

रवीन्द्रनाथ का गार्हस्थ जीवन

[पौष, १६४०] के 'प्रवासी' में प्रकाशित श्रीमती हेमलता देवी के लेख का कुछ अंश]

"विद्यालयके बनने के बाद विद्यार्थियों के बीच में रहने के विचार से कवि शान्तिनिकेतन के मौजूदा पुस्तक भवन के एक हिस्से में बहुत दिनों तक रहे थे और विद्यार्थियों के साथ ही बैठकर एक ही सा भोजन करते थे।

"कवि-पत्नी स्वभाव से अतिरिक्त साज शृङ्गार की अनुरागी न थीं। वे गहना भी बहुत सामान्य पहनती थीं। बड़े घर की बहू थीं, फिर भी साधारण वेश में रहना ही उन्हें अच्छा लगता था। इसके अतिरिक्त कवि की उन्नत रुचि के प्रभाव ने उन्हें और भी सीधा-सादा बना दिया था।

"एक बार कवि के जन्म दिन पर कवि-पत्नी ने कवि के लिए बड़ी साध के साथ सोने के बटन गढ़ाये थे। उन्हें देखकर कवि बोले थे--'छि: छि: छि:, पुरुष भी कहीं सोना पहनते हैं--यह लज्जा की बात है।'

"कवि-पत्नी खाना बनाने में चमत्कार करती थीं।

"नये-नये भोजनों के आविष्कार का शौक कवि में भी कुछ कम न था। मालूम होता है, पत्नी की पाक कुशलता ने उनके इस शौक को और भी अधिक बढ़ा दिया था। अनेक बार तो वे मोढ़े पर बैठे-बैठे नई विधि से भोजन बनाने की फ़रमाइश अपनी पत्नी से करते रहते थे। फ़रमाइश देकर ही वे चुप न बैठते, बल्कि नये मसालों और नई प्रणाली से पत्नी को भोजन बनाना भी सिखाते। कभी-कभी उन्हें सिखाने के विचार से गर्व के साथ वे कहते —'देखा, तुम्हारा ही काज और थोड़ा सा तुम्हीं को मैंने कैसा सिखा दिया?' वे चट कहतीं—'तुमसे कौन जीत सकता है? तुमने तो सब विषयों में मुझे जीत लिया है।"

"कवि खाने को लेकर संसार भर का उपद्रव करते। कभी-कभी तो इतना थोड़ा खाते कि घरवाले चिन्तित हो उठते। करो चिन्ता जैसी ख़ुशी हो। कवि को इसकी ज़रा भी परवाह न होती। वे अपनी इच्छानुसार काम करते। जन्म से ही अटूट स्वास्थ होने और उम्र होने के कारण शरीर अनायास ही यह सब उपद्रव सह लेता था। घरके लोगों की धारणा थी कि कल्पना के देश में रहने वाले कवि स्वल्पाहार से अपने शरीर को नष्ट कर रहे हैं। कवि शरीर के उपयोगी खाद्य को न खोजकर मन के उपयोगी खाद्य को ढूंढ़ लेते हैं, यह बात उस समय स्पष्ट रूप से कोई नहीं समझता था। घर के मनुष्य, जिनका उद्देश्य शारीरिक स्वास्थ्य होता था, ऐसे झक्की आदमी को लेकर सर्वदा उद्विग्न हो उठते थे।

"नौकर-चाकर प्रसन्न मन और सहज भाव से कवि के सामने ही ऐसी बातें कहते; पर कवि उसे सदा पसन्द करते। भय से भृत्य काम करेंगे, इसे वे कभी पसन्द न करते।

"उसी समय की एक और भी उल्लेख-योग्य घटना है। उनकी कन्या अपनी ससुराल जानेवाली थी। कविने उसे अत्यन्त साधारण साज और साधारण वेश के साथ वहां भेजा। आत्मीयों ने यह देखकर कहा था—'इस प्रकार कवि लड़की को ससुराल भेजते हैं देखकर लज्जा आती है।' कवि का उत्तर था— 'इस वेश में यदि कन्या हमारा स्नेह-सम्मान नहीं पाती, तो वैसे सम्मान की कोई आवश्यकता नहीं। जिस सम्मान की योग्यता वेश-भूषा हो, उस सम्मान को न पाना ही श्रेय है।'

"कवि का संतान-स्नेह अपरिमेय था। अपनी प्रथम सन्तान कन्या के पिता होकर भी उन्होंने मातृ-



१८ वर्ष की उम्र मे इङ्गलैण्ड मे



अपने ज्येष्ठ पुत्र और कन्या के साथ



स्वदेशी आन्दोलन के समय



स्व० धर्मपत्नी मृणालि



गुरुदेव, पं० जवाहरलाल और प्रो० तानयुन-शान

स्नेह से उसका धात्री रूप में पालन किया था। उनकी पत्नीकी उम्र उस समय कम थी, इसी से कवि को यह भरोसा नहीं था कि नवजात शिशु की देख भाल ठीक हो सकेगी। हमने अपनी आंखों से कवि को शिशु को दूध पिलाते, कपड़े पहनाते, बिछौना बदलते—यह सब काम करते देखा है।

"शिक्षाव्रती कवि जिस समय आदर्श-शिक्षालय के संगठन में प्रवृत्त थे, उस समय कवि की सहधर्मिणी उनके इस काम में उनकी सहकर्मिणी थी। अपने हाथ से छात्रों के लिए जलपान तैयार करने का भार उन्होंने अपने ऊपर लिया था। छात्रों को अपने स्नेह से उन्होंने गढ़ना चाहा था। विद्यालय को आरम्भ हुए अभी एक वर्ष भी पूरा नहीं हुआ था कि कवि-पत्नी की आयु शेष हो गयी। कवि के संसार को भङ्ग करके वे अकाल में ही चल बसीं। मृत्यु-शय्या पर कवि ने अपने हाथ से उनकी जैसी सेवा-शुश्रूषा की थी, उसकी छाप परिवार के हरएक व्यक्ति के मन पर आज भी ज्यों की त्यों है। प्रायः दो महीने तक वे शय्या शायी रहीं। भाड़े की नर्सों पर पत्नी की सेवा-शुश्रूषा का भार उन्होंने एक दिन के लिए भी नहीं छोड़ा।

साध्वी नारी ही जानती है कि "स्वामी की सेवा पाना कितना बड़ा सौभाग्य है। अपनी पत्नी के अन्तिम समय में कवि का प्रेम उनके प्रति अगाध होगया था। देश में उस समय इलेक्ट्रिक फैन की सृष्टि नहीं हुई थी। हाथ में पंखा लेकर दिन रात पत्नी को हवा करते रहते। एक क्षण के लिए भी पंखा न छोड़ते।"

इस पर श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय लिखते हैं—

पत्नी के महाप्रयाण पर उन्हें जो मर्मान्तिक वेदना हुई थी, उसका उनके 'स्मरण' ग्रन्थ की प्रथम कविता 'प्रार्थना' में इस प्रकार वर्णन है :—

"आजि मोर काछे प्रभात तोमार
कर गो आड़ाल कर'।
ए खेला ए मेला ए आलो ए गीत
हाजि हेथा ह'ते ह'र;
प्रभात-जगत हते मोरे छिंडि'
करुण आधारे लह मोरे घिरि',
उदास हियारे तुलिया बाधुक
तव स्नेह बाहु डोर।"

इहलोक और परलोक के मध्य में व्यवधान होने पर भी यह दम्पति अभिन्नात्मा थे। कवि ने स्वर्गगता पत्नी को संबोधित करके कहा है:—

"आमार जीवने तुमि बाच उगो बाच।
तोमार कामना मोर चित्त दिये जाच।
जेन आमि बुझि मने
अतिशय संगोपने
तुमि आजि मोर माझे आमि हये आछ।
आमारि जीवने तुमि बाच उगो बाच।"

रवीन्द्रनाथ की जीवन झांकी

ठाकुर परिवार वाले शाण्डिल्य गोत्र के 'राधीय' ब्राह्मण हैं। कहते हैं ये लोग आठवीं सदी में राधा में आकर बसे। गङ्गा के दाहिने किनारे को बङ्गाल में 'राधा' कहते हैं। इसी से वे 'राधीय' कहलाए। इन्हें 'पिराली' ब्राह्मण भी कहा जाता है। सत्रहवीं सदी मे ठाकुर परिवार जैसोर को छोड़कर कलकत्ते के निकट गोविन्दपुर नामक ग्राम में आकर बसे। शीघ्र ही ये लोग बेहद धनी हो गये और सम्मान से लोग इन्हें 'ठाकुर' कहने लगे। अंगरेज़ ठाकुर को 'टैगूर' कहते थे जो बाद में 'टैगोर' हो गया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के सम्पर्क में इनके एक पूर्वज जयराम ठाकुर ने काफ़ी धन कमाया। जयराम के पुत्र नीलमणि ने कलकत्ते के जोड़ासांकू मोहल्ले में जायदाद ख़रीदी। इन्हीं नील

मणि के पौत्र द्वारकानाथ ठाकुर थे। कवि के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर इन्हीं द्वारकानाथ के सबसे बड़े पुत्र थे।

१८६१—मंगलवार, ७ मई, ३ बजे प्रातः काल कलकत्ते में जन्म। अपने पिता की ये चौदहवीं सन्तान थे। इनकी मा का नाम श्रीमती शारदा देवी [१८२४-१८७५] था।

१८६३—महर्षि देवेन्द्रनाथ ने शान्ति-निकेतन की छै एकड़ ज़मीन ख़रीदी।

१८७३—६ फ़रवरी को उपनयन संस्कार। पहली बार शान्ति निकेतन यात्रा। 'पृथ्वीराज पराजय' नामक नाटक की रचना। अमृतसर यात्रा। शिक्षा प्राप्ति।

१८७४—'मैकबेथ' नामक शेक्सपीयर के नाटक का बंगला मे अनुवाद किया जो बाद में 'भारती' नामक बंगला मासिक में छपा।

१८७६—बंगला मासिक 'ज्ञानांकुर' मे 'बन फूल' नामक पहली कविता छपी। कई कविताएं 'भानुसिंह ठाकुर' उपनाम से छपीं।

१८७८—अपने बड़े भाई सत्येन्द्रनाथ ठाकुर आई० सी० एस० के पास अहमदाबाद गये। उसी साल विलायत यात्रा। यूनिवर्सिटी कालेज लन्दन में भर्ती हुए।

१८७९—'यूरोप प्रवासीर पत्र' नामक लेख माला 'भारती' में निकली।

१८८०—बग़ैर शिक्षा समाप्त किये भारत वापिसी।

१८८३—९ दिसम्बर को श्रीमती मृणालिनी देवी से विवाह।

१८८६—२२ फ़रवरी को पहली सन्तान (कन्या) माधुरीलता का जन्म। दादा भाई नौरोजी के सभापतित्व में कलकत्ते में कांग्रेस के दूसरे अधिवेशन में 'आमरा मिलेछि आज मायेर डाके' नामक अपना गीत सुनाया।

१८८६—महर्षि ने शान्ति-निकेतन का ट्रस्टडीड बनाया।

१८८८—२७ नवम्बर को पुत्र रथीन्द्रनाथ का जन्म।

१८९०—इटली, फ्रान्स और इङ्गलिस्तान यात्रा। २१ जनवरी को दूसरी कन्या रेणुका का जन्म।

१८९१—'पोस्ट मास्टर' और दूसरी कहानियों की रचना। 'साधना' नामक मासिक पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ।

१८९२—'चित्राङ्गदा' की रचना। 'साधना' में आधुनिक शिक्षा के विरोध में एक लेख। 'सोनार तरी' नामक कविताओं की रचना।

१८९४—अपने एक लेख में अपने देशवासियों को हिन्दू मुसलिम एकता का महत्व समझाया। नवम्बर मे सबसे छोटे पुत्र समीन्द्र का जन्म।

१८९८—'भारती' का सम्पादन भार लिया। लो० तिलक की गिरफ़्तारी पर सरकार की निन्दा की।

१९००—कन्या माधुरी लता का विवाह। दिसम्बर में शान्ति निकेतन में पहली बार प्रार्थना कराई।

१९०१—बंकिम चन्द्र चैटरजी के मासिक 'बङ्ग दर्शन' को फिर से चलाकर पाच वर्ष तक उसका सम्पादन किया। 'चोखेर बाली' उपन्यास और 'नैवेद्य' की कविताएं लिखीं। दूसरी कन्या रेणुका की शादी। शान्तिनिकेतन में आकर २२ दिसम्बर को ब्रह्मचर्य आश्रम की स्थापना।

१९०२—लार्ड कर्ज़न ने १५ फ़रवरी को कलकत्ता विश्व विद्यालय के दीक्षा अभिभाषण में जो भारत वासियों के चरित्र पर इलज़ाम लगाये उसका करारा जवाब दिया। २३ नवम्बर को धर्म पत्नी श्रीमती मृणालिनी देवी का स्वर्गवास। पत्नी की स्मृति में 'स्मरण' नामक कविताएं लिखीं।

१९०३—कन्या रेणुका की मृत्यु। 'नौका डूबी' की रचना।

१९०४—कवि की कविताओं के ९ भाग प्रकाशित (दूसरा संस्करण)। मशहूर 'स्वदेशी समाज' नामक व्याख्यान रमेशचन्द्र दत्त के सभापतित्व में २२ जुलाई को दिया।

१९०५—१९ जनवरी को महर्षि देवेन्द्रनाथ का निधन। नये मासिक पत्र 'भाण्डार' का सम्पादन।

'राजा प्रजा' नामक निबन्ध में भारत के साम्राज्यवादी शोषण का विरोध। 'देशीय राज्य' नामक निबन्ध में भारतीय राजाओं को भारतीय कला को प्रोत्साहन देने की अपील। बङ्ग-भङ्ग पर आन्दोलन, राखी बन्धन को नये रूप में मनाने का विधान। 'विधीर बन्धन काटबे तुमि एमन शक्तिमान' नामक कविता की रचना। उनकी अपील पर एक सभा के अन्दर पचास हज़ार रुपये इकट्ठा।

१९०६—प्रथम बङ्ग साहित्य परिषद का सभापतित्व। 'खेया' की रचना। पुत्र रथीन्द्र की शिक्षा के लिये अमरीका यात्रा।

१९०७—'गोरा' की रचना, छोटी कन्या मीरा की शादी और छोटे पुत्र समीन्द्र की मुंगेर में मृत्यु।

१९०८—पबना में बङ्ग प्रान्तीय राजनैतिक सम्मेलन की सदारत। हिन्दू मुसलिम एकता पर ज़ोर। अमरीका से रथीन्द्र की वापसी।

१९०९—अपने ग्रन्थ 'प्रायश्चित्त' में अहिंसात्मक सत्याग्रह का प्रतिपादन।

१९१०—'गीताञ्जलि' के गीतों की रचना। प्रतिमा के साथ रथीन्द्र का विवाह।

१९१२—'जन गण मन अधिनायक' नामक गीत की रचना। तीसरी विलायत यात्रा। सी० एफ० एण्ड्रूज़ से पहली मुलाक़ात। 'गीताञ्जलि' का अंगरेज़ी अनुवाद। अमरीका यात्रा। सब जगह कवि का सम्मान। १३ नवम्बर को 'नोबुल प्राइज़' की प्राप्ति। कलकत्ता विश्व विद्यालय ने डी० लिट० की डिगरी दी।

१९१४—पीयर्सन, नन्दलाल बोस और एण्ड्रूज़ का शान्तिनिकेतन आगमन।

१९१५—गान्धी जी अपने दल के साथ दक्षिण अफ़रीका से आकर शान्तिनिकेतन में ठहरे।

१९१६—जापान और अमरीका की यात्रा।

१९१७—कलकत्ता कांग्रेस अधिवेशन में शामिल। बिहार के हिन्दू मुसलिम दंगे पर एक लेख में मार्मिक दुःख प्रकट किया।

१९१८—विश्व भारती की स्थापना। बड़ी कन्या माधुरीलता की मृत्यु।

१९१९—दक्षिण भारत की यात्रा। जलियान वाला बाग़ के हत्याकाण्ड पर अपने 'सर' के ख़िताब का परित्याग।

१९२०—पांचवी विलायत यात्रा। 'सर' का ख़िताब छोड़ने के कारण और अंगरेज़ी हुकूमत की निन्दा करने के कारण अंगरेज़ मित्रों की अलहदगी। पेरिस आना। फ्रेंच लेखकों से भेंट। हालैण्ड, बेल्जियम और अमरीका की यात्रा।

१९२१—अमरीका से लन्दन वापसी। अंगरेज़ों का विरोधी भाव जारी। पेरिस आकर रोमां रोलां से भेंट। स्वीडन, जर्मनी, आस्ट्रिया आदि घूम कर भारत वापसी। गांधी जी और शरत चैटरजी से असहयोग आन्दोलन के सम्बन्ध में मतभेद। सर बृजेन्द्रनाथ सील द्वारा 'विश्व भारती' की विधिवत स्थापना। 'विश्व भारती' का ट्रस्ट बनाना।

१९२२—श्री निकेतन की स्थापना।

१९२४—छठवीं विदेश यात्रा। चीन में स्वागत। जापान मे स्वागत। भारत वापसी। ७ वीं विदेश यात्रा दक्षिण अमरीका की। दक्षिण अमरीका से इटली होते हुए भारत वापसी।

१९२५—कलकत्ता में पहली भारतीय दर्शन कांग्रेस का सभापतित्व।

१९२६—बड़े भाई द्विजेन्द्रनाथ की मृत्यु। आठवीं बार विदेश यात्रा। इटली सरकार के मेहमान। मुसोलिनी से भेंट। फ़ासीज़्म की आलोचना। जर्मनी, बल्गारिया, चेकोस्लोवेकिया, यूनान, मिस्र की यात्रा। सब जगह सम्मान। भारत वापसी।

१९२७—नौवीं विदेश यात्रा—डच हिन्द, जावा, सुमात्रा, बाली, सियाम होकर भारत वापिसी।

१९२८—मिसेज़ बेसेण्ट, श्रीअरविन्द और लार्ड इरविन से भेंट और लंका यात्रा।

१९२९—दसवीं विदेश यात्रा। जापान होते हुए अमरीका यात्रा। लास एंगेल में पास पोर्ट खो जाने से

अधिकारियों का असभ्य व्यवहार। विरोध में कवि की हिन्द चीन होते भारत वापसी।

१९३०—कवि का चित्राङ्कण। ११ वीं विदेश यात्रा। जर्मनी में आइन्स टाइन से भेंट। रूस-यात्रा। मास्को में ज़बर्दस्त स्वागत। अमरीका यात्रा।

१९३१—भारत "वापसी पण्डितों द्वारा कवि को 'कवि सार्व भौम' की उपाधि।

१९३२—ईरान और इराक़ यात्रा। एक मात्र पौत्र नितीन्द्रनाथ की जर्मनी में मृत्यु।

१९३४—जवाहरलाल और कमला का शान्ति-निकेतन में स्वागत। बङ्गाल में गान्धी विरोधी आन्दोलन की निन्दा। सिंहल यात्रा।

१९३५—उत्तर भारत के शिक्षा केन्द्रों का दौरा। योन नागुची का शान्ति निकेतन में आगमन।

१९३६—शान्ति-निकेतन के लिये चन्दा इकट्ठा करने के लिये बुढ़ापे में यात्रा। गान्धी जी का दुख। उनके प्रयत्न से कवि को साठ हज़ार रुपये की दान प्राप्ति। कवि की शान्ति-निकेतन वापसी। शरतचन्द्र चैटरजी, का साठवें जन्म दिन पर, कवि द्वारा सम्मान।

१९३७—शान्ति-निकेतन में 'चीना भवन' की स्थापना।

१९३८—लार्ड लोथियन, लार्ड ब्राबूर्न, लेडी लिनलिथगो आदि की शान्ति निकेतन यात्रा।

१९३९—'हिन्दी भवन' की स्थापना।

१९४०—गांधी जी शान्ति-निकेतन में। चीनी प्रतिनिधि शान्ति-निकेतन में।

१९४१—सारे देश में ८० वें जन्म दिन का महोत्सव। गुरु पूर्णिमा के दिन महा प्रयाण।

मृत्यु

[गुरुदेव की अन्तिम रचना]

दुःखेर आँधार रात्रि बारे बारे
एसेछे आमार द्वारे।
एक मात्र अस्त्र तार देखे छिनु
कष्टेर विकृत भाल, त्रासेर विकट भङ्गी जत,
अधन्कारे छलनार भूमिका ताहार।
जत बार भयेर मुखोस तार करेछि विश्वास,
तत बार हयेछे अनर्थ पराजय।
एइ हार जित खेला, जीवनेर मिथ्या ए कुहक,
शिशुकाल हेते विजड़ित पदे पदे एइ विभीषिका,
दुःखेर परिहासे भरा।
भयेर विचित्र चलच्छवि—
मृत्युर निपुण शिल्प विकीर्ण आँधारे।

[सर्वस्वत्व विश्वभारती का]

दुःख की अंधकार मय रजनी
बारम्बार मेरे द्वार पर आई,
उसका एक मात्र अस्त्र मैंने देखा है—
कष्ट का विकृत भाल और त्रास की विकट भंगी,
उसके छल की भूमिका अन्धकार में थी।
उसके भयग्रस्त मुख का जब जब मैंने विश्वास किया
उतनी बार अनर्थ होकर मेरी पराजय हुई!
हार और जीत के ये खेल जीवन के भ्रम-जाल हैं,
शिशुकाल से ही पद पद पर यह विभीषिका
दुःख के परिहासों से भरी हुई है।
भय के ये विचित्र चलचित्र
अन्धकार में मृत्यु के निपुण शिल्प हैं।

सम्पादकीय-विचार

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ

साल भर भी नहीं हुआ जब शान्ति-निकेतन में गुरुदेव के चरणों के निकट बैठने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। यूरोपीय युद्ध, हिन्दू मुसलिम एकता, हिन्दी-उर्दू समस्या, अहिंसा और ज्योतिष आदि विषयों पर थोड़ी थोड़ी देर गुरुदेव ने चर्चा की। उठते उठते गुरुदेव ने भाई हजारी प्रसाद जी से अपनी जन्म पत्रिका को देखकर वर्ष-फल बनाने की बात कही। क्या पता था कि यही वर्ष उनका अन्तिम वर्ष होगा।

गुरुदेव ने 'विश्ववाणी' पर असीम कृपा की। उसका उन्होंने नाम करण किया। वे उसके धर्म-पिता बने। यह गौरव शायद हिन्दी के किसी पत्र को नहीं प्राप्त हुआ। जन्म से ही गुरुदेव के साथ अपने इस सम्बन्ध को हम सदा अभिमान से याद करेंगे। हम तुच्छ थे गुरुदेव की इस कृपा ने हमारे हृदय में बल दिया। उनकी पवित्र स्मृति को थाती मानकर हम मनः प्राण से अपने कर्तव्य के पालन में सचेष्ट रहेंगे। गुरुदेव का यह निधन हमारा व्यक्तिगत दुःख है। वे हमारे मार्ग प्रदर्शक थे। इसीलिये उनका अभाव हमारे दारुण दुःख का विषय है। 'विश्ववाणी' अपने महान धर्म-पिता की शिक्षाओं को अपना नैतिक आधार बनाकर—साहस के साथ आगे क़दम बढ़ाती रहेगी।

गुरुदेव की कीर्ति दुनिया में किसी से कम न थी। उन्होंने ऐसा साहित्य निर्माण किया कि सारे संसार ने नत मस्तक होकर उनका आदर किया। इतनी बहुमुखी प्रतिभा का व्यक्तित्व तो आधुनिक दुनिया ने पैदा किया नहीं। वे संसार भर की श्रद्धा के पात्र थे। किन्तु भारत वासियों के वे विशेष प्रेम पात्र थे। वे उनके अपने थे। उनका व्यक्तित्व हिमालय के समान ऊंचा था। वे भारतीय साहित्य मन्दिर के अन्यतम देवता थे। हमारे ही मांस और हमारे ही रुधिर से वे बने थे। पूरे पचास वर्ष से अधिक तक वे हमारे गुरुदेव रहे। बड़े से बड़े भारतीय इस बीच जन्मे किन्तु उनमें महान से महान गांधी जी तक ने गुरुदेव के चरणों पर मस्तक झुकाया। उनके 'जन गण मन अधिनायक' में भारत की आत्मा बोलती थी। वे वास्तव में हमारे अधिनायक थे।

सारी दुनिया गुरुदेव की पूजा करती थी किन्तु गुरुदेव देश के दरिद्रनारायण के पुजारी थे। श्री-निकेतन आज इसका जीता जागता उदाहरण है। देश के इन करोड़ों अभागों के लिये उन्होंने ख़ून के आंसू बहाये थे। १९१९ में ज़बर्दस्त अवज्ञा के साथ अपनी 'सर' की उपाधि अपने देश का अपमान करने वालों के मुंह पर फेंक दी थी। क्या भारत उनके इस साहस को भूल सकता है? क्या उनके अन्तिम जन्म दिन का सिंहनाद संसार भूल सकेगा? वे अपने मधुर किन्तु वज्र घोष 'स्वर में अहंकार के मद से चूर सत्ता को उसके अत्याचार का बोध कराते थे। दधीचि की हड्डियों की तरह ही उनके स्वर में दृढ़ता थी। उनकी वाणी भारतीय आत्मा की वाणी थी।

आज हमारे हृदय के आल्हाद, हमारी जाति के अभिमान, हमारे देश के गौरव और हमारे गुरुदेव हमारे बीच में नहीं हैं। किन्तु क्या इस पर कोई विश्वास कर सकता है कि गुरुदेव अब नहीं रहे? उनकी रचनाओं ने उन्हें चिरकाल के लिये अमर कर दिया है। आने वाली सन्तानें हमेशा हमेशा उन्हें याद रखेंगी। उनका सुन्दर, सौम्य और भव्य शरीर हमारे बीच में नहीं है किन्तु उनकी अमृत वाणी हमें सदा सदा गौरव पूर्ण प्रेरणा देती रहेगी।

गुरुदेव युग अनन्त के द्रष्टा थे। वे भारत के वास्तविक सन्देश को समझते थे। विच्छेद और

आपसी कलह के इस ग्लानि पूर्ण वातावरण में वे एकता और मिलन का दिव्य संदेश दे रहे थे। कवि ने भारतीय संस्कृति के सच्चे सन्देश वाहक की हैसियत से एक बार कहा था—

हे थाय आर्य, हेथा अनार्य
हे थाय द्राविड़, चीन--
शक, हूण-दल, पाठान, मोगल
एक देहे होलो लीन...।
पश्चिमे आज खुलिया छे द्वार,
सेथा हते सबे आने उपहार,
दिबे आर निबे मिलाबे मिलिबे
जाबेन फिरे,
एइ भारतेर महा-मानवेर सागर तीरे

दुनिया की समस्त जातियें भारत में आ आकर—एक भारतीय आत्मा में लीन होगईं। भारत की इसी महती आत्मा को उन्होंने जाना था। इसीलिये फूट और विच्छेद के इस युग में उनकी आत्मा पुकार उठी—

एसो हे आर्य, एसो अनार्य
हिन्दू मुसलमान।
ऐसो एसो आज तुमि इंगराज,
एसो एसो खृष्टान।
एसो ब्राह्मण, शुचि कर मन
धारो हात सबाकार।
एसो हे पतित, होक अपनीत
सब अपमान-भार।
भार अभिषेके एसो एसो त्वरा,
मंगल घट हय निजे भरा,
सबार परशे पवित्र करा तीर्थ नीरे,
आजि भारतेर महा-मानवेर सागर तीरे।

कौन इनकार कर सकता है कि गुरुदेव के इसी महान उपदेश में, उनकी इस अमृत वाणी में भारत का कल्याण निर्भर है। हम अभागे कब अपनी मां के इस एक्य स्वरूप को पहचान सकेंगे? गुरुदेव की स्वर्गस्थ आत्मा हमसे इसी एक प्रश्न का उत्तर बार बार चाहेगी।

विहंगम

यूरोपीय युद्ध का विस्तार दिन ब दिन अधिक व्यापक होता जाता है। रूस जर्मन युद्ध के दस सप्ताह ख़त्म हो चुके और कह सकना असम्भव है कि लड़ाई आगे क्या रूप अख़्तियार करेगी। वैदेशिक परिस्थिति पर हमने विस्तृत टिप्पणियें लिखी थीं किन्तु यह अङ्क इतना बढ़ गया है कि हम वह सब देने में असमर्थ हैं। अगले अङ्क में इस सम्बन्ध में हम विस्तार से लिखेंगे।

इस अङ्क को हम यहीं समाप्त करते हैं और अपने और 'विश्ववाणी' परिवार की ओर से गुरुदेव की स्मृति में शत शत, नम्र श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हैं।

स्व० मिर्ज़ा अज़ीम बेग चग़तई

पत्र छपते-छपते हमे यह दुख पूर्ण समाचार मिला कि गत २० अगस्त को केवल ३८ वर्ष की आयु में ही मिर्ज़ा साहब की मृत्यु हो गई। अरसे से वे क्षयरोग के मरीज़ थे किन्तु हमें आशा थी कि वे मृत्यु से लड़कर अपनी बीमारी पर हावी होंगे और अपनी हास्य रचनाओं द्वारा वे हिन्दी की अभी और सेवा करते रहेंगे।

हिन्दू मुसलिम एकता के वे ज़बर्दस्त हामी थे। उनका कहना था—"यह हिन्दू मुसलिम झगड़े शहरों मे ही हैं। अगर आप गाव में जायंगे तो हिन्दू मुसलमान भाई-भाई की तरह रहते नज़र आयेंगे।"

चग़तई साहब ने कई मुसलमान मित्रों को हिन्दी पढ़ाई थी। वे हिन्दी वालों को उर्दू और उर्दू वालों को हिन्दी पढ़ने का आदेश देते रहते थे। आपकी हास्य रस की तीस पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। आपकी रचनाओं में जीवन से सम्बन्ध रखने वाला शिष्ट हास्य भरा रहता था। भारत की अनेक भाषाओं में आपकी पुस्तकें अनुवादित हो चुकी हैं।

हम उनकी बहिन इस्मत चग़तई और उनके परिवार के अन्य सदस्यों के साथ हार्दिक समवेदना प्रकट करते हैं।



बापू अपने ७२ वे जन्म दिन पर

यह कहना कि कुछ वर्गों के वर्तमान अधिकार या विशेषाधिकार शुरू मे हिंसा से प्राप्त किये गये है और हिंसा से ही उनकी रक्षा की जा रही है, इसलिये फिर हिंसा से ही उनका नाश किया जा सकता है; यह तो एक अक्षय दूषित चक्र का निर्माण करना है। इस दूषित चक्र को कहीं न कहीं तोड़ना ही है और गांधी जी चाहते है कि उसे तोड़ने का प्रथम श्रेय भारत को मिले। हो सकता है, वे सफल न हों। हो सकता है मनुष्यों को कुपथ से हटाने में वे भी वैसे ही असफल रहें, जैसे बुद्ध और ईसा रहे; किन्तु तब एक आदर्श जीवन के रूप मे उनकी स्मृति युग युग तक अमर बनी रहेगी।

—स्व० गुरुदेव श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर

विश्ववाणी

युक्तप्रान्त, पंजाब, बम्बई, मदरास, होलकर राज्य, मेवाड़ [उदयपुर], जोधपुर, मैसूर और काश्मीर के शिक्षा विभागों द्वारा स्कूल और कालेज लाइब्रेरियों के लिए स्वीकृत

संरक्षक **पण्डित सुन्दरलाल** | सम्पादक **विश्वम्भरनाथ**

वर्ष १, भाग २ | अक्तूबर, १९४१ | अङ्क ४, पूरा अङ्क १०

गांधी-जयन्ती

स्व० गुरुदेव श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर

बहुत शुरू ज़माने में सारे हिन्दुस्तान में जो भौगोलिक एकता लोगों में दिखाई पड़ती थी, उससे हमेशा ही यहां के रहने वालों के मन में यह इच्छा पैदा होती थी कि इस देश की क़ुदरती सीमाओं के भीतर वही एकता सिद्ध करके कार्य रूप में भी परिणित की जाय। महाभारत के समय में तथा और भी भिन्न भिन्न समयों में नाना स्थानों की जो परम्परागत स्मृतियां चारों ओर फैली हुई थीं, उन सब को महाभारत में इकट्ठा करने की कोशिश की गई थी। इसके अलावा देश के नाना भागों में दूर दूर तक जो अनेकों तीर्थस्थान फैले हुये थे, उन तीर्थों की लोग व्यवस्थित रूप से यात्रायें करते थे। उन पर विचार करने से हमें यही पता चलता है कि जन साधारण एक सा सामान्य धार्मिक ... में अपने देश के भौतिक आकार-प्रकार का एक सर्वाङ्गपूर्ण चित्र देखने की कोशिश करते थे।

इस तरह लोगों के मन में जो भाव अंकित हो जाते थे, उन पर भारतवर्ष के मर्मस्थान में बैठी हुई गीता पूरी रोशनी डाल कर उन्हें प्रज्वलित रखती थी। यदि एक नज़र से देखा जाय, तो ऐसा मालूम होता है कि जिस समय कुरुक्षेत्र में एक भीषण तथा नाशकर लड़ाई होने को थी, उस वक़्त श्री कृष्ण का वहां खड़े होकर अर्जुन को इस तरह का दार्शनिक उपदेश देना बहुत ही अप्रासंगिक और बेमौक़ा था; इसी वजह से बहुत लोग यह समझते हैं कि महाभारत में गीता पीछे से मिलाई गई है। यदि इसे



बापू अपने ७३ वे जन्म दिन पर

यह कहना कि कुछ वर्गों के वर्तमान अधिकार या विशेषाधिकार शुरू में हिंसा से प्राप्त किये गये है और हिंसा से ही उनकी रक्षा की जा रही है, इसलिये फिर हिंसा से ही उनका नाश किया जा सकता है; यह तो एक अक्षय दूषित चक्र का निर्माण करना है। इस दूषित चक्र को कहीं न कहीं तोड़ना ही है और गांधी जी चाहते हैं कि उसे तोडने का प्रथम श्रेय भारत को मिले। हो सकता है, वे सफल न हों। हो सकता है मनुष्यो को कुपथ से हटाने में वे भी वैसे ही असफल रहे, जैसे बुद्ध और ईसा रहे; किन्तु तब एक आदर्श जीवन के रूप मे उनकी स्मृति युग युग तक अमर बनी रहेगी।

—स्व० गुरुदेव श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर

विश्ववाणी

युक्तप्रान्त, पंजाब, बम्बई, मद्रास, होलकर राज्य, मेवाड़ [उदयपुर], जोधपुर, मैसूर और काश्मीर के शिक्षा विभागों द्वारा स्कूल और कालेज लाइब्रेरियों के लिए स्वीकृत

संरक्षक
पण्डित सुन्दरलाल

सम्पादक
विश्वम्भरनाथ

वर्ष १, भाग २ | अक्तूबर, १९४१ | अङ्क ४, पूरा अङ्क १०

गांधी-जयन्ती

स्व० गुरुदेव श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर

बहुत शुरू ज़माने में सारे हिन्दुस्तान में जो भौगोलिक एकता लोगों में दिखाई पड़ती थी, उसमें हमेशा ही यहां के रहने वालों के मन में यह इच्छा पैदा होती थी कि इस देश की क़ुदरती सीमाओं के भीतर वही एकता सिद्ध करके कार्य रूप में भी परिणित की जाय। महाभारत के समय में तथा और भी भिन्न भिन्न समयों में नाना स्थानों की जो परम्परागत स्मृतियां चारों ओर फैली हुई थीं, उन सब को महाभारत में इकट्ठा करने की कोशिश की गई थी। इसके अलावा देश के नाना भागों में दूर दूर तक जो अनेकों तीर्थस्थान फैले हुये थे, उन तीर्थों की लोग व्यवस्थित रूप से यात्रायें करते थे। उन पर विचार करने से हमें यही पता चलता है कि जन साधारण एक सर्व सामान्य धार्मिक भक्ति और श्रद्धा के अन्त में अपने देश के भौतिक आकार-प्रकार का एक सर्वाङ्गपूर्ण चित्र देखने की कोशिश करते थे।

इस तरह लोगों के मन में जो भाव अंकित हो जाते थे, उन पर भारतवर्ष के मर्मस्थान में बैठी हुई गीता पूरी रोशनी डाल कर उन्हें प्रज्वलित रखती थी। यदि एक नज़र से देखा जाय, तो ऐसा मालूम होता है कि जिस समय कुरुक्षेत्र में एक भीषण तथा नाशकर लड़ाई होने को थी, उस वक़्त श्री कृष्ण का वहां खड़े होकर अर्जुन को इस तरह का दार्शनिक उपदेश देना बहुत ही अप्रासंगिक और बेमौक़े था; इसी वजह से बहुत लोग यह समझते हैं कि महाभारत में गीता पीछे से मिलाई गई है। यदि इसे ठीक मान लिया जाय, तो भी जिस प्रतिभाशाली

पुरुष ने पीछे से गीता को महाभारत में मिला दिया था, वह जानता था कि उस महाकाव्य में मूलभूत समस्याओं का यह स्पष्टीकरण इसलिए ज़रूरी है कि भारतवासी यह बात बहुत मज़े मे समझ ले कि भीतर से भी और बाहर से भी सारा भारत दरअसल एक ही है; उन्हें उसकी पूरी एकता की वास्तविक कल्पना हो जाय।

इसी कारण आम लोगों के लिये नित्य नियमित रूप से महाभारत के पढ़ने का विधान किया गया था। इस विधान का यही कारण नहीं था कि यह बहुत से आध्यात्मिक अनुभवों का संग्रह है, बल्कि इसका असली कारण यह था कि इसका पाठ करने से आम लोग अपनी ऐतिहासिक एकता भी समझ सकते थे। इसीलिये इसके साथ साथ यह प्रथा भी चला दी गई थी कि लोग नियमित रूप से सब तीर्थों की यात्रा किया करें—जिसमें उन्हें समस्त देश की भौगोलिक एकता का ज्ञान हो जाय। पश्चिम के दरवाज़े से आकर जब आर्यों ने पञ्जाब में अपने उपनिवेश क़ायम किये थे और फिर वहां से विंध्याचल के पहाड़ को पार करके सारे देश में फैले थे, उस समय इस महादेश और गांधार सरीखे आस पास के सब प्रदेशों में, क़रीब क़रीब एक ही सभ्यता का राज था—उसमें एक प्रकार की एकता थी। सभ्यता की इस एकता की एक विशेषता यह भी थी कि उन दिनों जितने भेद विभेद मौजूद थे, उन सबों को स्वीकार कर लिया गया था; और आगे चलकर उन्हीं भेद विभेदों ने स्थायी रूप ले लिया था। सभ्यता की इस एकता के कारण सारे देश में कोई कृत्रिम एकता नहीं हुई थी, लेकिन फिर भी तरह तरह के तत्वों का पारस्परिक संयोग और सम्बन्ध तब तक अटूट बना रहा, जब तक सब लोगों को देश की भौगोलिक एकता का स्पष्ट ज्ञान बना रहा और जब तक बाहरी दस्तन्दाज़ी ने उसमें बाधा नहीं पहुंचायी थी। इसके बाद उसी पच्छिमी दरवाज़े से और भी कुछ आक्रमणकारियों का आना हुआ; इनकी संस्कृतिया यहा के बाशिन्दे आर्यों की संस्कृति से बिलकुल दूसरी तरह की थीं; और उसी समय से लोगो को इस नई बात की जानकारी हुई कि अभी तक हम लोग केवल एक साथ रहते थे, किन्तु हम सब लोग मिलकर एक नहीं हुये थे। इसी के फलस्वरूप आर्य जाति में जो कमज़ोरी पैदा हो गई थी, उसी के कारण यह देश बार बार विदेशियों के द्वारा जीता जाने लगा। इन विजेताओं में पहिले तो प्राचीन पड़ोसी जातियों के दल थे; लेकिन आगे चल कर बहुत दूर दूर के यहा तक कि समुद्र पार के लोग भी यहा का धन हरने के लिए आने लगे; और उनमे से किसी को आगे बढ़ने में कोई ख़ास कठिनाई या विरोध का सामना नहीं करना पड़ा।

इन लगातार आक्रमणों मे जो आर्य जाति छिन्न भिन्न हो गई थी, उसके अन्दर एक नई बात यह भी पैदा होगई थी कि रोज़ रोज़ आर्य लोग आपस में लड़ने झगड़ने लगे। भारतीय लोग ही भारतीयो पर अपना अधिकार क़ायम करने के लिये या तो आपस में ही लड़ने लग गये और नहीं तो किसी विदेशी शक्ति के साथ मित्रता क़ायम कर के अपना अधिकार जमाने की कोशिश करने लगे। बीच के एक थोड़े से समय को छोड़कर उसी समय से अब तक का भारतवर्ष का इतिहास केवल इस बात का इतिहास रहा है कि किस प्रकार भारतवासी रोज़ रोज़ नई नई मुसीबतें उठाते थे। किस प्रकार दिन प्रति दिन उनका पतन होता जाता था। किस तरह इस देश की धन सम्पत्ति और सारे वैभव क्षीण होते गये तथा किस तरह इसी के फलस्वरूप लोगों की मानसिक और नैतिक दुर्बलता बढ़ती गई। और इसका कारण यही है कि जब मनुष्य बाहरी धन सम्पत्ति से हीन और दरिद्र हो जाता है, तब वह उसी के साथ साथ अपने भीतरी गुणों से भी हीन और दरिद्र हो जाता है। इन सारे दुःखों का एक मात्र कारण यही हमारी मौलिक अपूर्णता थी—हम लोग इसीलिये इतने कष्ट भोग रहे हैं कि जिस प्रकार की एकता इस विशाल

देश में है, वैसी एकता आपस में भी क़ायम करने की सफलता हमें नहीं मिली। इसमें शक नहीं कि इस बीच बराबर कुछ ऐसी शक्तियां भी काम कर रही थीं, जो देश को सुधारना चाहती थीं। यह कहना तो कठिन है कि यदि हिन्दुस्तान पर बाहरी क़ौमों का हमला न होता, तो हमारी संस्कृति की जीवन शक्ति के कारण इस देश के लोगों में एक मज़बूत और स्थायी एकता क़ायम हो सकती थी या नहीं: लेकिन इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अपने इतिहास के सब से अधिक अंधेरे काल में भी, जब कि इस देश की संस्कृति और स्वतन्त्रता पर एकाएक हमला हुआ था और वह पददलित हुई थी, भारत में उसी मंदगति लेकिन बारीक़ी के साथ बराबर कुछ न कुछ प्रतिक्रिया होती रहती थी। जिस समय हिन्दुस्तान के सामने इसलाम की मर्दानगी से भरी हुई चुनौती आई उस समय भारतवर्ष ने एक ऐसे ब्रह्मसाक्षात्कारवाद की धारा बहाई कि जिसमें इसलाम की सभी अच्छी अच्छी बातें शामिल कर ली गई थीं और जिसने ख़ुद उस चुनौती को ही एक नवीन शक्ति का उद्गम बना दिया था। इस तरह मध्य युग के सन्तों और ब्रह्मसाक्षात्कारवादी सन्त महात्माओं की—जिनमें हिन्दू और मुसलमान दोनों शामिल थे—अक़्लमन्दी के कारण मन्दगति से एकता पैदा करने वाले उन प्रभावों और साधनों की बराबर उन्नति और वृद्धि होती रही, जिनका पता हमें महाभारत के समय से मिल रहा है। यद्यपि इन सन्त-महात्माओं ने अपनी आध्यात्मिक साधनाओं के ज़रिये पुरानी संस्कृति की वास्तविकता के पुनरुद्धार का बहुत कुछ प्रयत्न किया था। लेकिन फिर भी बद-क़िस्मती से, जहां तक आम लोगों का ताल्लुक़ था, उनकी कोशिशों का सिर्फ़ यही नतीजा हुआ कि लोग दूसरे सांसारिक लाभों के फेर में पड़ गए और उन्होंने अपनी शारीरिक तथा मानसिक दरिद्रता को इस दुनिया में ज्यों का त्यों बना रहने दिया—उसे दूर करने का कोई भी उपाय नहीं किया। बल्कि कहना तो चाहिये कि अपनी सम्पत्ति के साधनों तथा उद्गमों का अपव्यय रोकना तो दूर रहा, उल्टे वे लोग धर्म के ज़रिये ठगने वाले लोगों के भरे और फूले हुये पेटों में अपनी धन सम्पत्ति भर भर कर अपनी दरिद्रता और तक़लीफ़ों को और भी बढ़ाते गए।

एक बार एक गांव में एक सन्यासी के साथ मेरी कुछ बातें हुई थीं। मैंने उस से पूछा था—'तुम्हारे चारों ओर जो ये अभागे देहाती लोग भूखों मर रहे हैं, रोगी बने हुए हैं और अनेक तरह के बुरे कामों में फंसे हुए हैं, तुम इनकी हालत सुधारने की कोशिश क्यों नहीं करते ?' मेरे इस सवाल से उसे आश्चर्य हुआ और वह अपने मन में झल्लाया। उसने मुझे जवाब दिया था—'आप भी कैसी बातें करते हैं। मैं विशुद्ध परमानन्द प्राप्त करने के लिये सांसारिक जीवन की सब झंझटें छोड़ चुका हूं। क्या आप चाहते हैं कि मैं फिर भ्रम में पड़े हुए इन सांसारिक जीवों के बखेड़ों में पड़ूं और इन्हीं लोगों की तरह फिर माया में फंसूं।'

हिन्दुस्तान जिस समय इसी तरह के बन्धनों में जकड़ा हुआ पड़ा था और उसमें आपस की फूट और भेद भाव फैले हुए थे, तथा जिस समय स्वयं उसके आदर्शवाद ने ही उसे धोखा दे दिया था, उसी समय उसे एक इतनी बड़ी विकट परीक्षा में पड़ना पड़ा, जितनी बड़ी और विकट परीक्षा में वह आज तक नहीं पड़ा था। वह बड़ी और विकट परीक्षा थी पच्छिमी साम्राज्यवाद की चुनौती! आर्यों और मुसलमानों ने तो कुछ द्रविड़ या हिन्दू राजवंशों का राज्याधिकार हटाकर हिन्दुस्तान में अपनी हुकूमत क़ायम की होगी। लेकिन फिर भी इतना ज़रूर था कि वे लोग इसी देश में और यहां की जनता में बस गये थे। उन लोगों ने जो भी बड़े बड़े काम किये, वे सब इसी देश वालों की पैतृक सम्पत्ति में शामिल हो गए थे। किन्तु अब तो यहां एक ऐसा नवीन और व्यक्तित्व हीन साम्राज्य क़ायम हो गया था जिसमें शासक लोग हमारे ऊपर तो थे, पर हमारे बीच में नहीं थे। वे हमारे देश के मालिक तो बन गए थे, पर

हमारे देश के कभी न हो सकते थे। इधर हिन्दुस्तान का धन जितनी बेरहमी के साथ और जितना अधिक छीना गया है; और जितने भेद-भाव आपस में क़ायम हो गए हैं, उतने पहिले कभी नहीं हुए थे। पच्छिम के असर से भारतीय सम्कृति की एकता नष्ट भ्रष्ट हो रही थी, उसमें छूत छात का भीषण और प्राणनाशक रोग लग गया था। हिन्दू और मुसलमान अपने राष्ट्र के कल्याण की ओर से मुंह फेर कर आपस में संरक्षण के उन छोटे छोटे टुकड़ों के लिये लड़ने लग गए थे, जिन्हें शासक लोग खूब समझ बूझ कर उनकी ओर फेंका करते थे। हमारे देश के निवासी इतने अधिक पतित हो गए थे कि बहुत से लोगों को इस बात में सन्देह होने लग गया था कि भारतवर्ष कभी अपने ही आदमियों की प्रतिभा के बल खड़ा हो भी सका था या नहीं। यहां तक कि आख़ीर में एक ऐसा सच्चा महात्मा और जनता का एक ऐसा बड़ा नेता पैदा हुआ, जो हमारे यहां बहुत पुराने समय से ऋषियों और महर्षियों की कोटि का था और जिसका आदर करने के लिये हम सब लोग आज यहां इकट्ठा हुये हैं। वह है महात्मा गान्धी। अब इस देश के भविष्य के सम्बन्ध में किसी को निराश होने की ज़रूरत नहीं है; क्योंकि जो अजेय शक्ति सिरजन का कार्य करती है, वह अब हमें प्राप्त हो गई है। महात्मा गान्धी ने हम लोगों को एक रास्ता दिखा दिया है। यदि हम लोग उस रास्ते पर चले, तो न केवल अपनी ही रक्षा करेंगे, बल्कि और लोगों की भी उनकी रक्षा के काम में सहायता पहुंचा सकेंगे।

हम लोगों के बीच में आज जो महात्मा आया है, उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह हर तरह के व्यक्तिगत या राष्ट्रगत स्वार्थपरता के भाव से बिलकुल मुक्त है। नेताओं में जो स्वार्थ भाव होता है वही राष्ट्र के पक्ष में बहुत ही विशाल-रूप में दिखाया जा सकता है। स्वार्थपरता का दोष वहां रहता ही है यही कारण है कि नेता के इस दोष से सारा राष्ट्र ही स्वार्थी समझा जाने लगता है। जिस श्रेणी के लोग राजनीतिज्ञ कहलाते हैं, उस श्रेणी का चरित्र ऊंचे आदर्शों से युक्त नहीं होता। साधारणतः राजनीतिज्ञों को झूठ बोलने में ज़रा भी संकोच नहीं होता; वे लोग स्वयं अपना महत्व क़ायम करने के लिये दूसरों को हानि पहुंचाने में ज़रा भी नहीं हिचकते। इसीलिये हमें पच्छिमी देशों में यह दृश्य दिखाई देता है कि वहां वाले एक ओर तो अपने देश के लिये अपने को क़ुर्बान तक कर देते हैं, और दूसरी ओर अपने देश को हर तरह के अपराध करने में सहायता भी देते हैं। उनका यह दोष इस हद तक बढ़ गया है कि अब बहुत से लोगों के मन में इस बात का गम्भीर सन्देह पैदा होने लग गया है कि यह पाश्चात्य सभ्यता अब बहुत दिनों तक ठहरी रह सकेगी या नहीं। जिसको वे लोग देश-प्रेम कहते हैं, वह देश-प्रेम स्वयं ही अपना नाश करने की कोशिश करता है। और जब वह आ जाता है, तब वे लोग उसका सामना निष्क्रिय भाव से नहीं करते, जिस निष्क्रिय भाव से हमारे देश वाले करते हैं; बल्कि वे ऐसी उथल-पुथल मचा देते हैं, जिसमें सभी तरह के घोर भीषण कार्य और अनर्थ होते हैं।

राजनीतिज्ञ लोग इस बात का अभिमान करते हैं कि हम जो कुछ कहते अथवा करना चाहते हैं, वह असम्भव नहीं होता—कार्यरूप में परिणित हो सकने लायक होता है। उनकी सारी बातें क्रियात्मक और काम में आने लायक होती हैं। यही कारण है कि जब वह लोग यह समझते हैं कि इस प्रकार के दुष्कर्म करने से ही हमारा काम पूरा हो सकेगा, तब वे लोग उन दुष्कर्मों में ही लग जाते हैं। पर ऐसे कामों को वह विधाता कभी क्षमा नहीं कर सकता, जिसके हाथ में हमारा भाग्य सूत्र है। इसलिये ऐसे राजनैतिकों की चालाकियों की हम प्रशंसा भले ही करलें, किन्तु उनके प्रति हमारे मन में कभी आदर और श्रद्धा का भाव नहीं पैदा होता। हमारी श्रद्धा और भक्ति तो उसी महात्मा के लिये होती है, जो सदा सत्य की सिद्धि की कोशिश किया करता है

इस समय हमारा देश एक नये युग में प्रवेश कर रहा है और हमारा यह बहुत बड़ा सौभाग्य है कि इस वक्त हमको एक ऐसा महात्मा मिला है, जो सिर्फ़ तात्कालिक लाभों की सिद्धि के लिये कभी भी ऐसी सलाह नहीं देता, जो विश्वव्यापी नीतिमत्ता के सिद्धान्तों के विरुद्ध हो और जिसमें शुभ नीति को छोड़ना पड़े।

उसने हमको एक ऐसा रास्ता दिखला दिया है, जिससे बिना रक्तपात के स्वाधीनता प्राप्त की जा सकती है। इसमें ज़रा भी शक नहीं कि हम लोगों में ऐसे आदमी बहुत ही थोड़े होंगे, जो अपने मन से हिंसा का भाव पूर्ण रूप से निकाल चुके हों, और जिनका सचमुच यह विश्वास हो कि बिना हिंसा का रास्ता अख़्तियार किये ही हम विजय पा सकते हैं। पच्छिमी देशों के सभ्यता पूर्ण युद्धों की बात तो जाने दीजिये, स्वयं अपने यहां के महाभारत में भी हम जिस धर्म-युद्ध का उल्लेख पाते हैं, वह भी हिंसा और निर्दयता से पूर्ण है। लेकिन अब शायद हम लोगों को यह पहली बार बताया जा रहा है कि हमारा काम दूसरों की हत्या करना नहीं है, बल्कि स्वयं अपने आपको बलिदान कर देना है और फिर भी अन्त में हम विजयी होंगे। यह कोई युद्ध कौशल का परामर्श नहीं है और न सिर्फ़ राजनैतिक मक़सद को हासिल करने का कोई साधन है, बल्कि सच्चे अर्थों में एक गौरवपूर्ण सन्देश है। जिस युद्ध में सच्चाई का कुछ भी ध्यान नहीं रखा जाता, उसमें मरना जैसे अपने आपको मिटा देना है—अपने हाथों अपनी हस्ती का विनाश करना है। पर सच्चाई के साथ जो अहिंसात्मक युद्ध किया जाता है, उसमें कुछ बात बाक़ी बच जाती है। उसमें हार जाने पर भी जीत होती है और मर जाने पर भी अमरता मिलती है। जिस महात्मा ने ख़ुद अपने जीवन में ही इस सिद्धान्त को सत्य सिद्ध करके दिखलाया है, वही हमें इसकी सच्चाई पर भी विश्वास करने के लिये मजबूर करता है।

भारतवर्ष की प्रतिभा ने पहले ही की तरह अब भी अपने ऊपर हमला करने वालों से उनकी संस्कृति का वही सिद्धान्त ग्रहण किया है, जिसका आध्यात्मिक दृष्टि से सबसे अधिक महत्व है; और उसे एक ऐसा रूप दिया है कि वह मानव जाति के लिये आशा का एक नया सन्देश बन गया है। ईसाई धर्म में एक बहुत बड़ा सिद्धान्त यह माना जाता है कि मानव जाति की रक्षा करने के लिये ईश्वर ने उसके पापों और पीड़ाओं का सारा भार अपने ऊपर लेने के लिये ही मनुष्य का रूप ग्रहण किया था, और यह काम उसने परलोक के लिये नहीं रख छोड़ा था, बल्कि इसी लोक में और यहीं आकर मनुष्य का रूप ग्रहण करके उसने मनुष्य जाति का कल्याण किया था। निस्सन्देह हमारे देश के धर्म में भी दान पुण्य तथा परोपकार आदि का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है; लेकिन व्यवहार के वक्त ये सारी बातें संकुचित सीमाओं के भीतर ही बंधी रहती हैं—आंशिक रूप से ही लोग मानव जाति के प्रेम से प्रेरित होकर इस तरह के कामों में लगते हैं। हम लोगों का बहुत बड़ा सौभाग्य है कि गान्धी जी हज़रत ईसा के इस उपदेश को जीवन रूप में ग्रहण कर सके थे। यह भी एक सौभाग्य की ही बात है कि उन्हें ईसाई धर्म की ये सब बातें पेशेवर ईसाई पादरियों से नहीं सीखनी पड़ी थीं; इसके लिये उन्हें टालस्टाय सरीखा एक ऐसा शिक्षक और गुरू मिला था, जिसने स्वयं अपने ही जीवन के संघर्षों के अनेकों अनुभवों से अहिंसा का महत्त्व समझा था। यूरोप से यही बहुत बड़ा दान पाने के लिये हमारा देश इतने दिनों से प्रतीक्षा कर रहा था।

मध्य युग में मुसलमानी उद्गमों से इस प्रकार के कुछ दान मिले थे। दादू, कबीर तथा दूसरे सन्त महात्माओं ने यह घोषणा की थी कि शुद्धता और उद्धार आदि पवित्र बातें किसी मन्दिर में गाड़कर रखने की चीज़ें नहीं हैं; ये तो ऐसी सम्पत्ति हैं, जिनसे लाभ उठाने का हक़ सारी मानव-जाति को है।

स्वतन्त्रता पूर्वक यह मञ्जूर करने मे हम कुछ भी संकोच नहीं होता कि इस्लाम के सम्पर्क से इस सन्देश को प्रेरणा मिली थी। भले आदमी सभी अच्छी बातों को मञ्जूर कर लेते हैं, चाहे वे अच्छी बातें जहा से मिले,—चाहे अच्छी बातें धर्म, नैतिक संस्कृति अथवा व्यक्ति के जीवन मे हो, वे उन्हें सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं। और अब मनुष्यों मे सर्वश्रेष्ठ महात्मा गान्धी पश्चिम के उपहारों मे सर्वश्रेष्ठ उपहार लेकर हम लोगों के पास आये हैं।

हज़रत मसीह ने यह घोषणा की थी कि जो लोग नम्र तथा सहिष्णु होंगे, वही पृथ्वी और स्वर्ग के राज्य के हक़दार होंगे, पर फिर भी ईसाई लोग आजकल विश्वासपूर्वक यही बात कहते हैं कि जो लोग बलवान होते हैं और दूसरों पर हमला कर सकते हैं, वही विजयी होने हैं। किन्तु पश्चिमी देशों के वैज्ञानिक, प्राकृतिक इतिहास का जो अर्थ बताते हैं, उसे देखते हुये यह मत बिलकुल वाहियात और प्राकृतिक इतिहास के सिद्धान्तो के नितान्त विरुद्ध ठहरता है। यह एक दम नई और ऐसी बात है, जो देखने मे तो असम्भव-सी जान पड़ती है, लेकिन फिर भी यह ठीक है कि जो लोग नम्र और सहिष्णु होंगे वही पृथ्वी के राज्य के अधिकारी होंगे। इस अनोखी बात की सत्यता सिद्ध करने और यह बताने के लिये एक दूसरे पैग़म्बर की ज़रूरत थी कि यह नम्रता और सहिष्णुता ही सत्याग्रह के रूप मे प्रेम और सत्य शीलता की भावात्मक और निश्चित काम करनेवाली शक्ति है। लेकिन इस नम्रता और सहिष्णुता का यह अर्थ हरगिज़ नहीं है कि यदि कोई हमारे साथ बुराई या अन्याय करे, तो हम सिर्फ निष्क्रिय होकर चुपचाप वे सारी बुराइयां और अन्याय सहते चले जाय। इस तरह चुपचाप अन्याय सहना तो एकदम कायरता पूर्ण होगा और जान मे नही, पर फिर भी अनजान में मानों उन बुराइयों और अन्यायों के साथ सहयोग करना होगा। ऐसी अवस्था में मानों अन्याय और अत्याचार वाली शक्ति की सहायता ही करेंगे। लेकिन गान्धीजी ने तो इस सहिष्णुता या अहिंसा को वीरता का सबसे बढ़िया रूप दिया है और इसीलिये यह एक ऐसी चुनौती के रूप मे है, जो बलवान की बदतमीज़ी के मुक़ाबले में हमेशा डटी रहती है।

अभी तो यह कह सकना कठिन है कि इन दोनो परस्पर विरोधी सिद्धान्तो मे से अन्त मे किस सिद्धान्त की जीत होगी। जिस समय हम लोग अपने आस पास की भी और अपने अन्दर रहनेवाली दुष्ट शक्तियों के साथ लड़ाई लड़ रहे हैं, उस समय साथ ही साथ सत्य की भी जिज्ञासा करना और उसके पाने की कोशिश करना बहुत ही मुश्किल है। लेकिन एक बात है। चाहे हम लोगों में से कोई पूर्ण अहिंसा का पालन न कर सके और चाहे उससे न हो सके, लेकिन फिर भी हमे अहिंसा के सिद्धान्त को ज़रूर ही मानना और उस पर विश्वास करना पड़ेगा। क्या इस समय हमारे सामने एक ऐसा आदमी मौजूद नहीं है, जो आधुनिक युग के बिलकुल बीच मे होने पर भी स्वयं अपने जीवन और आदर्शो मे से हमे इसका महत्व नहीं बतलाता है और इस अहिंसा का झंडा ऊंचा उठाकर हमसे उसकी छाया मे आने के लिये नही कह रहा है? और हम इस रास्ते पर चलते रहेंगे; चाहे हमारा वह चलना कितनी ही मन्द गति से क्यों न हो। महात्मा जी का यह सन्देश धीरे धीरे वास्तविक रूप ग्रहण करता जायगा। इसीलिये आज का दिन बहुत महत्वपूर्ण और स्मरणीय है और आगे हर साल जब जब यह दिन आवे—हम चाहते हैं बहुत वर्षों तक इसी तरह आवे—तब तब जैसे साल पर साल गुज़रते जायगे, उस महात्मा का सन्देश हमें बराबर याद रखना चाहिये।

मानव गांधी

स्व० गुरुदेव श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर

सन् २१ में जब गान्धी जी ने एक साल के भीतर ही स्वराज्य की आशा दिलाई, तब मुझे लगा कि एक महान लक्ष्य की प्राप्ति के लिये महात्मा जी ने हम लोगों के चरित्र की एक ऐसी आन्तरिक दुर्बलता को सन्तुष्ट करने के लिये चुन लिया है, जो हम लोगों के राजनैतिक जीवन की युग युग की विफलता की उत्तरदायी है। मैंने महात्मा जी को जनता के विश्वास की अतार्किक शक्ति का अनुचित लाभ उठाने के लिये दोषी ठहराया। राष्ट्र के नायक के रूप में महात्मा जी की कल्पना मेरे दिल में पहली बार इसी तरह शुरू हुई, किन्तु मेरे सौभाग्य से वहीं उसका अन्त हो गया।

सभी प्रगतिशील महान व्यक्तियों की तरह गान्धी जी को भी अपनी रचनात्मक इच्छा शक्ति को पूरी तरह सामञ्जस्य करने के लिये एक बहुत बड़े माध्यम की ज़रूरत थी। जब उन्होंने देश को असंख्य सामाजिक खाइयों, दीवारों और ऊसर राजनीति के असीम सूनेपन को पार करके स्वतन्त्रता तक पहुंचाने की बहुत बड़ी ज़िम्मेवारी ली थी, उस समय उन्हें अपने लिये इस माध्यम का विकास करना ही पड़ा। इस कोशिश ने उनके व्यक्तित्व को समृद्ध और परिपक्व बना दिया और उनकी प्रतिभा के वास्तविक रहस्य को प्रकाशित कर दिया। तभी से एक कलाकार के रूप में, उनके मत के सिद्धान्तों और भ्रान्तियों से नहीं, किन्तु उनके असाधारण मस्तिष्क से परिचालित उनके आचरण से मैंने उन्हें पहचानना सीखा है। और उस रूप में जैसे जैसे मैं उन्हें पहचानता जाता हूं, उनकी प्रभावपूर्ण मानवता पर मेरा विस्मय बढ़ता जाता है।

स्वयं तपस्वी होकर भी वे दूसरों के सुखों पर भौंहें नहीं सिकोड़ते, किन्तु दिन रात उनके अस्तित्व को सजीव बनाने की चेष्टा करते रहते हैं। अपने जीवन में वह ग़रीबी का आदर करते हैं, किन्तु भारत की जनता के भौतिक कल्याण के लिये उनसे अधिक तत्परता से और किसी ने कोशिश नहीं की। क्रान्तिकारियों का उत्साह लेकर एक सुधारक के रूप में वे जिन इच्छाओं को उकसाते हैं, उन्हीं पर कठोर प्रतिबन्ध भी लगा देते हैं। मूर्ति पूजक भी और मूर्ति ध्वंसक भी, वे पुराने देवताओं को पवित्रता की धूलिमय आलों में छोड़ देते हैं और प्राचीन पूजाओं को मानव के उपकार की ओर खींच लाते हैं। वर्ण-व्यवस्था का पालन स्वयं करते हुए भी उन्होंने उसके उस अङ्ग पर जिसकी वह अधिक से अधिक रक्षा करना चाहती है, आघात किया है और जहां कोई दूसरा व्यक्ति तुरत ही जनता की आंखों से उतर गया होता, वहां उनकी लोकप्रियता पर तनिक भी आंच नहीं आई।

वे विषय भोग के जीवन को मानव की नैतिक उन्नति का बाधक समझ कर उससे नफ़रत करते हैं और उससे उन्हें उतनी ही घृणा है, जितनी 'क्रूज़र सोनाता' (उपन्यास) के लेखक (टाल्सटाय) को थी। किन्तु उन्हें टाल्सटाय की तरह उस वर्ग से जो उनके सवर्णियों को आकर्षित कर लेता है, कोई भी नफ़रत नहीं है। वास्तव में स्त्रियों के प्रति उनकी कोमलता उनके चरित्र की एक सर्वश्रेष्ठ और युक्तिपूर्ण विशेषता है और अपने देश की स्त्रियों में उन्होंने अपने आन्दोलन में सहायता देने वाली कितनी ही अत्यन्त बहुमूल्य सहकारिणियां पाई हैं।

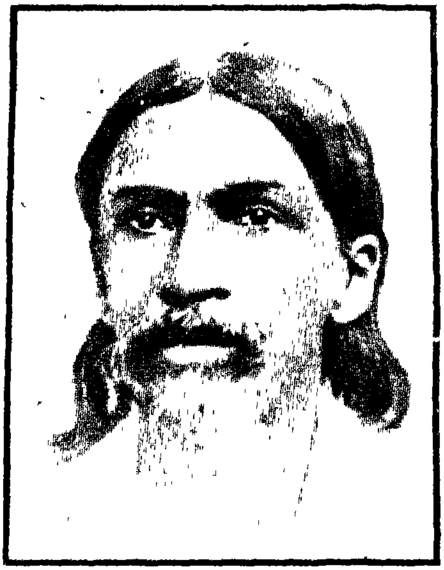
वे अपने अनुयायियों को बुराई करने वालों से घृणा किये बिना ही बुराई से घृणा करने का आदेश देते हैं। यह एक असम्भव सा उपदेश लगता है; किन्तु उन्होंने इसे अपने जीवन में सम्भव सीमा तक चरितार्थ किया है।

गान्धी जी के विषय में मुझे सबसे बड़ी विशेषता यह लगती है कि वे महान राजनीतिज्ञ हैं, महान नेता हैं और महान नैतिक सुधारक हैं. किन्तु इन सबसे अधिक वे महान पुरुष हैं। उनकी कोई क्रिया या उनका कोई पहलू उनकी मानवता को सीमित नहीं करता। उल्टे उनके सारे कामों को मानवता से ही स्फूर्ति और प्रेरणा मिलती है। महान आशावादी होते हुए भी और अपने सारे आचरणों में अपने थोड़े से सिद्धान्तों को अमल करने के आदी होते हुए भी, वे वास्तव में मानवता के प्रेमी हैं, भावनाओं के नहीं, और इसी से अपनी क्रान्तिकारी योजनाओं में वे इतने सतर्क और सावधान हैं। यदि समाज के लिये वे किसी बलिदान का विधान करते हैं, तो पहले अपने आप पर ही उसकी परीक्षा करके देख लेते हैं। यदि कोई नया प्रयोग करना चाहते हैं, तो पहले स्वयं उसकी कठोरता सह लेते हैं। जब कि कितने ही समाजवादी इसी प्रतीक्षा में रहते हैं कि जब सबका सब छिन जाय, तब उन्हें त्याग करना पड़े। गान्धी सबसे पहले अपना सब कुछ होमकर तब दूसरों को त्याग करने के लिये कहने का साहस करते हैं।

साधनाओं की सत्यता और शुद्धता पर उनका ज़ोर देना, जिससे कि उन्होंने अपनी अहिंसा का विकास किया है, उनकी गहन और दृढ़ मानवता का ही दूसरा स्वरूप है। क्योंकि वह इस बात की चेतावनी देता है कि मनुष्यों को व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूप से अपने अधिकारों के लिये युद्ध करते हुए मानवता के प्रति अपने प्रमुख कर्तव्य की अवहेलना नहीं करनी चाहिये, जिसका अर्थ यह है कि जीवन का आदर करना ही चाहिये। यह कहना कि कुछ वर्गों के वर्त्तमान अधिकार या विशेषाधिकार शुरू में हिंसा से हासिल किये गये और हिंसा से ही, उनकी रक्षा की जा रही है, इसलिये फिर हिंसा से ही उनका नाश किया जा सकता है, यह तो एक अक्षय दूषित चक्र का निर्माण करना है, क्योंकि ऐसा कभी नहीं होगा, जब कि मनुष्य को अपनी तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था के प्रति वास्तविक या फ़र्ज़ी शिकायतें न हों और तब उस समय भी नैतिक कर्तव्यों से उसी प्रकार बचने की और अपने लक्ष्य तक रक्तपात के पथ से पहुँचने की वैसी ही चेष्टा करेगा, जैसी मनुष्य आज कर रहा है। उस दूषित चक्र को कहीं न कहीं तोड़ना ही है और गान्धी जी चाहते हैं कि उसे तोड़ने का प्रथम श्रेय भारत को मिले। हो सकता है वे सफल न हों। हो सकता है, मनुष्यों को कुपथ से हटाने में वे भी वैसे ही असफल रहें, जैसे बुद्ध और ईसा रहे; किन्तु तब एक आदर्श जीवन के रूप में उनकी स्मृति युग युग तक अमर बनी रहेगी।

मनुष्य और जीवन-संग्राम

योगी श्रीअरविन्द



योगी श्रीअरविन्द

गीता के उपदेश को यदि हम उसके व्यापक उदार रूप में समझना चाहते हैं, तो हमें जगत् के व्यक्त रूप और क्रम के सम्बन्ध में गीता की ही दृष्टि अपनी बुद्धि में ले आनी होगी और उसी निर्भीकता के साथ उसे देखना होगा। कुरुक्षेत्र के सारथी भगवान् एक ओर तो सर्वलोक महेश्वर, सब प्राणियों के सुहृद् और सर्वज्ञ गुरु हैं, और दूसरी ओर संहारक काल हैं, जो "यहां इन सब लोगों का संहार करने में प्रवृत्त हुए हैं (लोकान् समाहर्त्तुमिह प्रवृत्तः)।" गीता ने उदार हिन्दू धर्म के सारभाव का ही अनुसरण करके इस काल रूप को भी भगवान् कहा है। गीता जगत् की पहेली को टालने के लिए जगत्में से किसी बग़ल के दरवाज़े से निकल भागने की कोई चेष्टा नहीं करती। और यदि सचमुच ही संसार को हम किसी असंस्कृत विवेकशून्य जड़ प्राकृतिक शक्ति की ही कोई यान्त्रिक क्रिया मात्र नहीं समझते, अथवा दूसरी ओर किसी अनादि शून्य से उत्पन्न हुई भावनाओं और शक्तियों की वैसी ही यान्त्रिक क्रीड़ा मात्र नहीं मानते, या यह भी नहीं मानते कि यह अक्रिय आत्मा में होनेवाला केवल एक आभास है, या अलिप्त अचल अक्षर परब्रह्म के ऊपरीतल के चैतन्य में होनेवाला यह केवल एक मिथ्या दुःस्वप्न, या स्वप्न ही का क्रम-विकास है, और स्वयं परब्रह्म उससे विचलित नहीं होता, न उसमें वस्तुतः उसका कोई हाथ ही है। अर्थात् यदि हम इस बात को ज़रा भी मानते हैं, जैसा कि गीता मानती है, कि भगवान् हैं, और वे सर्वव्यापी हैं, सर्वज्ञ हैं और सर्वशक्तिमान हैं; और फिर भी सबके परे रहनेवाले परमपुरुष हैं, जो जगत् को प्रकट कर स्वयं भी उसमें प्रकट होते हैं, जो अपनी माया, प्रकृति या शक्ति के दास नहीं, बल्कि प्रभु हैं, जिनकी जगत-परिकल्पना या योजना को उनके द्वारा सृष्ट कोई भी जीव-जन्तु, मानव-दानव इधर-उधर या उलट-पलट नहीं कर सकते। जो अपनी सृष्टि या अभिव्यक्ति के किसी भाग के उत्तरदायित्व को अपने सृष्ट या अभिव्यक्त प्राणियों के ऊपर लादकर स्वयं उससे बरी होने की कोई ज़रूरत नहीं रखते,—यदि हम ऐसा मानते हैं, तब तो आरम्भ में ही मानव-प्राणी को एक महान और महाकठिन श्रद्धा को धारण करके ही आगे बढ़ना होगा। मानव प्राणी एक ऐसे जगत् में आया है, जहां ऊपर से ऐसा दिखाई देता है कि लड़ाकू शक्तियों ने यहां एक भीषण विशृङ्खला कर रखी है, बड़ी बड़ी और अन्धकार की शक्तियों का संग्राम छिड़ा हुआ है, जहां का जीवन एक ऐसा जीवन है, जो सतत परिवर्तन और मृत्यु के द्वारा ही टिका हुआ है, जो व्यथा, यन्त्रणा, अमंगल

और विनाशकी विभीषिका द्वारा चारों ओर से घिरा हुआ है, ऐसे इस जगत् के अन्दर उसे सर्वव्यापी ईश्वर को देखना होगा और इस बात से सचेतन होना होगा कि इस पहेली का कोई हल अवश्य है और यह कि जिस अज्ञान में वह इस समय वास करता है, उसके परे कोई ऐसा ज्ञान है, जो इन विरोधों को मिटाता है। उसको इस श्रद्धा और विश्वास के आधार पर खड़ा होना होगा कि, "तू मुझे मार भी डाले, तो भी मैं तेरा भरोसा न छोड़ूँगा।"

समस्त सक्रिय या दृढ़ मानव-विचार या श्रद्धा के अन्दर सचमुच में इस प्रकार का भाव रहता है; फिर चाहे इस विचार या श्रद्धा को रखनेवाला मनुष्य ईश्वरवादी हो, आस्तिक हो, विश्वदेववादी (Pantheistic) हो या नास्तिक। तब हो सकता है कि किसी में इस विचार और श्रद्धा की अभिव्यक्ति और पूर्णता कम हो और किसी में अधिक। इसमें कोई स्वीकृति होती है और कोई विश्वास भी। स्वीकृति इस बातकी कि संसार में सर्वत्र अनबन है और विश्वास इस बातका कि कोई भागवत तत्त्व भी है, विश्वपुरुष अथवा प्रकृति जो भी कहिये—जिसके बल से हम इन परस्पर विरोधों को पार कर सकते हैं, जीत सकते हैं या समन्वित कर सकते हैं, कदाचित् एक साथ तीनों ही बातें कर सकते हैं, इनको जीतकर और इनको पार कर हम इन्हें समन्वित कर सकते हैं।

तब मनुष्य जीवन जैसा कुछ है उसके सम्बन्ध में हमें यह मानना होगा कि इसका एक पहलू संघर्ष और युद्ध भी है, जिसकी भीषणता बढ़ती बढ़ती कुरुक्षेत्र के महा संग्राम जैसे भीषण प्रसंगों में पर्यवसित होती है। गीता जैसा कि हमलोग पहले देख चुके हैं, परिवर्तन और संकट के एक ऐसे ही काल के प्रसंग से उद्धृत होती है, जो मानव-जाति के इतिहास में पुनः पुनः आया करता है, और इस काल में बड़ी बड़ी शक्तियाँ किसी भीषण बौद्धिक, सामाजिक, नैतिक, धार्मिक, राजनीतिक ध्वंस और पुनर्निर्माण के लिए एक दूसरी से टकरा जाती हैं और इनका मनुष्य के विकास की आन्तरिक और सामाजिक अवस्था पर साधारणतया जो वास्तविक परिणाम होता है, वह यह कि संघर्ष और क्रान्ति का एक भीषण भौतिक आन्दोलन खड़ा हो जाता है। गीता का प्रारम्भ ही इस बात की मान्यता से होता है कि ऐसे भीषण क्रान्तिकारी प्रसंग प्रकृति में प्रयोजनीय होते हैं, केवल उनका नैतिक पहलू ही नहीं अर्थात अधर्म और धर्म में, शुभ के स्वप्रस्थापित होते जाते हुए विधान और उसकी प्रगति को रोकनेवाली शक्तियों में जो युद्ध होता है उन्हींका नहीं, बल्कि उनका भौतिक अंग भी अर्थात् शुभाशुभ शक्तियों के प्रतिनिधि स्वरूप जो मनुष्य हैं उनके बीच सशस्त्र संग्राम अथवा अन्य किसी प्रकार का प्रत्यक्ष शारीरिक युद्ध भी आवश्यक होता है। यहाँ हमें यह बात स्मरण रखनी होगी कि गीता की रचना ऐसे समय में हुई है, जब युद्ध मानव-कर्मण्यताका अब से भी अधिक आवश्यक अंग था और युद्ध के बिना जीवन की योजना उस समय एक असम्भव योजना होती। मनुष्यों में विश्वव्यापी शान्ति और पूर्ण सद्भाव के बिना सच्चा और स्थायी शान्ति नहीं हो सकती। हमारी अभी तक की उन्नति के इतिहास में कभी एक क्षण के लिए भी मानव जीवन को अधिकृत नहीं कर सका है, कारण जाति की नैतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक अवस्था इसके लिए तैयार नहीं थी और विकासात्मक प्रकृति की अभी तक जो हालत थी उसके कारण वह इस प्रकार की इजाज़त नहीं दे सकती थी कि मानव-जाति ऐसी उच्चतर स्थिति के लिए एकाएक तैयार कर ली जाय।

आज भी हमलोग सिवाय इसके ज़रा भी आगे नहीं बढ़े हैं कि परस्पर विरुद्ध स्वार्थों के बीच सम्भवतः कोई ऐसा समझौता कर लिया करें, जिससे अति-भीषण और बीभत्स संघर्ष कुछ कम हो जाय। और इसके लिए मनुष्य-जाति को अपनी ही प्रकृति के वश जिस उपाय और जिस ढङ्ग का अवलम्बन करना पड़ता है, वह है परस्पर एक ऐसा महा भयंकर रक्तपात, जिसका इतिहास में कोई जोड़ नहीं! अर्थात्

आधुनिक मनुष्य को जगत्व्यापी शान्ति की स्थापना का जो सीधा और सफल मार्ग मिला है, वह है कटुता और दुर्दमनीय द्वेष से परिपूर्ण विश्वव्यापी महायुद्ध! ऐसी इस शान्ति की स्थापना के मूल में भी कोई ऐसा भाव नहीं है, जो मनुष्य-स्वभाव के आमूल परिवर्तन से उत्पन्न हुआ हो। बल्कि मनुष्यों की जैसी बौद्धिक धारणाएं हैं, आर्थिक सुविधा का जो ख्याल है, प्राणहानि के भय से उनके प्राण और उनकी भावुकता में जो कपकपी उठती है, युद्ध से उनको जो असुविधा और घबराहट होती है, उसी से ऐसी शान्ति की इच्छा की जाती है; और राजनीतिक अधिकारादि ले देकर ही इस शान्ति की रक्षा का प्रयत्न किया जाता है। इस प्रकार से जो शान्ति स्थापित की जाती है, उसकी नींव दृढ़ हो और वह बहुत काल तक स्थिर रहे, ऐसा भरोसा नहीं होता। एक दिन आ सकता है, बल्कि यह कहिये कि निश्चय ही आयेगा, जब मनुष्य जाति आध्यात्मिक, नैतिक और सामाजिक रूप से इस बात के लिए तय्यार होगी कि सर्वत्र शान्ति का राज्य हो, पर जब तक वह नहीं होता, तब तक किसी व्यावहारिक तत्त्वज्ञान और धर्मशास्त्र को यह मान कर ही चलना होगा कि युद्ध जीवन का एक अङ्ग है, और लड़ना मनुष्य का एक स्वभाव और कर्म है, और यह मानकर इनकी कोई विधि भी बैठानी होगी। गीता, भविष्यमें किस प्रकार का मानव-जीवन होगा, केवल इसी का विचार न करके उसका जो वर्तमान रूप है, उसे भी देखती हुई यह प्रश्न उपस्थित करती है कि मनुष्य-जीवन का जो यह अङ्ग है और मनुष्य का जो यह स्वभाव और कर्म है, जो वास्तव में मनुष्य की सर्वसाधारण कर्मण्यता का ही एक अङ्ग और स्वभाव है, अर्थात् युद्ध और युद्ध करना, इसका उसकी आत्मिक स्थिति के साथ कैसे मेल बैठाया जाय?

इसीलिए गीता एक ऐसे पुरुष से कही गई है, जो क्षत्रिय है, योद्धा है, कर्मी है, और युद्ध करना तथा संरक्षण करना जिसके जीवन का कर्तव्य है—युद्ध है उसके प्रजापालक-धर्म का एक अङ्ग। उन लोगों की रक्षा के लिए जो युद्ध कर्म से बरी हैं जो अपनी रक्षा आप करने से अलग कर दिये गये हैं और इसलिए बलवान् और हिंसक मनुष्यों से अपने को नहीं बचा सकते, और फिर युद्ध का एक और नैतिक भाव है अर्थात् दीन दुर्बलों और पीड़ितों की रक्षा और जगत में धर्म और न्याय की स्थापना। ये सभी भावनाएं और व्यावहारिक, नैतिक और वीरोचित भावनाएं क्षत्रिय शब्द के भारतीय भाव के अन्तर्गत आ जाती हैं, क्षत्रिय कर्म से योद्धा और शासक होता है और स्वभाव से शूरवीर और राजा। यद्यपि हमारे लिए गीता के सर्वसामान्य और व्यापक सिद्धान्त ही सब से अधिक महत्त्व रखते हैं, तथापि ये सिद्धान्त जिस विशिष्ट भारतीय संस्कृति और समाजव्यवस्था के समय में प्रादुर्भूत हुए और उस कारण इन सिद्धान्तों पर उस संस्कृति और व्यवस्था का जो रंग चढ़ा है, और जिस ओर इसका रुख है, उनका कोई विचार न करके यों ही छोड़ देना ठीक न होगा। उस समाज-व्यवस्था की धारणा आधुनिक समाजव्यवस्था की धारणा से भिन्न थी। आधुनिकों की बुद्धि में एक ही मनुष्य तत्त्व जिज्ञासु, योद्धा, कृषक, व्यवसायी और सेवक सब कुछ है, और आजकल की सामाजिक व्यवस्था का रुख इस ओर है कि इन सब कामों को मिलाजुला दिया जाय और प्रत्येक व्यक्ति से समाज के बौद्धिक, सामरिक और आर्थिक जीवन और प्रयत्न के लिए उसका अपना हिस्सा मांगा जाय, और इस बात में उसकी अपनी प्रकृति की मांग पर कोई ध्यान न दिया जाय। प्राचीन भारतीय संस्कृति में व्यक्तिगत सहज गुण, कर्म, स्वभाव का बहुत अधिक ध्यान रखा जाता था और इसी गुण कर्म स्वभाव से व्यक्तिमात्र का विशेष धर्म, कर्म और समाज में उसका स्थान नियत करने का प्रयत्न किया जाता था। उस काल में मनुष्य को मूलतः एक सामाजिक प्राणी नहीं समझा जाता था, और न उसकी सामाजिक स्थिति की पूर्ण सम्पन्नता ही सर्वोच्च आदर्श मानी जाती थी, बल्कि यह मान्यता थी कि मनुष्य एक आध्यात्मिक जीव है, जो क्रमशः संगठित और विकसित हो रहा है और

उसका सामाजिक जीवन, उसका विशेष धर्म, उसके स्वभाव की क्रिया और उसके कर्म का उपयोग, ये सब उसके आध्यात्मिक संस्कार के साधन और अवस्था मात्र हैं। चिन्तन और ज्ञान, युद्ध और राज्यप्रबन्ध, शिल्प, कृषि और वाणिज्य, मज़दूरी और सेवा, ये सब समाज के विधिपूर्वक बटे हुए कर्म थे। जो सहज भाव से जिस कर्म के योग्य हुए, उन्हीं को वह कर्म सौंपा जाता था और वही कर्म उनका वह उचित साधन होता था, जिसके द्वारा वे व्यक्तिशः अपनी आध्यात्मिक उन्नति और आत्मसिद्धि की ओर आगे बढ़ सकते थे।

आधुनिकों की जो यह भावना है कि अखिल मानव कर्म के सभी मुख्य-मुख्य विभागों में सब मनुष्यों को ही समान रूप से योग दान करना चाहिए, इस भावना के अपने कुछ लाभ हैं; और जहा भारतीय वर्ण व्यवस्था द्वारा अन्त को यह परिणाम हुआ कि व्यक्ति के अनगिनत विभाजन हो गये, उसमे विशेषीकरण की भरमार हो गई, तथा उसका जीवन संकुचित और कृत्रिम बन्धनों मे बंध गया, वहा आधुनिक व्यवस्था समाज के जीवन को अधिक संघटित, एकत्रित और पूर्ण बनाने में तथा सम्पूर्ण मानव सत्ता का सर्वाङ्गीण विकास करने में सहायता देती है। परन्तु आधुनिक व्यवस्था के भी अपने दोप हैं और इसके कतिपय व्यावहारिक प्रयोग में इस व्यवस्था का बहुत अधिक कठोरतापूर्वक उपयोग किये जाने के कारण उसका परिणाम बेढङ्गा और अनर्थकारी हुआ है। आधुनिक युद्ध का स्वरूप देखने से ही यह बात स्पष्ट हो जायगी। जिस समाज में मनुष्य रहता और पलता है, उसकी रक्षा करना और उसके लिए लड़ना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य हो और इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपना क्षात्र कर्म करने के लिये बंधा हो; इस आधुनिक व्यवस्था का यह परिणाम हुआ है कि राष्ट्र का सारा-का सारा पुरुषवर्ग रक्तरंजित खाइयों में मरने और मारने के लिए ढकेल दिया जाता है। तत्त्व-जिज्ञासु, कलाकार, दार्शनिक, पुजारी, व्यवसायी और कारीगर, सब-के-सब अपने स्वाभाविक कर्म से अलग कर दिये जाते हैं। समाज का सारा जीवन अव्यवस्थित हो जाता है। विचार और धर्माधर्म-विवेक का भाव क्षात्र धर्म के नीचे दब जाता है। यहा तक होता है कि जिस पुरोहित को राज्य की ओर से शान्ति और प्रेम के भाव का प्रचार करने के लिये वृत्ति मिलती है, या यह काम जिसका सहज कर्म होता है; उसे भी अपना धर्म त्याग देना पड़ता है। और अपने भाइयों का क़त्ल करने के लिये क़साई बनजाना पड़ता है! इस प्रकार के लड़ाकू देश के आदेश द्वारा धर्माधर्म विवेक और मनुष्य के विशिष्ट स्वभाव का ही उल्लंघन होता हो सो नहीं, बल्कि राष्ट्र-संरक्षण का भाव जब बढ़ते बढ़ते उन्माद की हद तक पहुँच जाता है, तब इसका वह राष्ट्र-संरक्षण राष्ट्रीय-आत्महत्या में बदल जाना चाहता है।

इसके विपरीत भारतीय संस्कृति का यह मुख्य लक्ष्य था कि युद्ध और उसमे होने वाला अनर्थ और विनाश, जहां तक हो सके कम हो। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिये भारतीय समाज-व्यवस्था में क्षात्र धर्म समाज को ऐसी एक छोटी सी कक्षा के लोगों में ही परिसीमित कर दिया गया था, जो अपने जन्म, स्वभाव और परम्परा से इस कर्म के लिये विशेष उपयुक्त थे; और इस कर्म में उनके साहस, उनकी अनुशासिता शक्ति, उनकी परोपकारपरायणता, उनकी वीरतापूर्ण महानता आदि गुणों की वृद्धि होकर उनका आत्म-प्रस्फुटन होता था; और फलतः यह जीवन उनके आत्म-विकास का एक साधन होता था, क्योंकि किसी उच्च आदर्श को सामने रखकर जो लोग योद्धा-जीवन बिताते हैं, उनके आत्म-विकास के लिये यह जीवन एक क्षेत्र और अवसर बन जाता है। इस प्रकार इस कर्म के जो अधिकारी थे, उन्हीं के ज़िम्मे यह युद्ध कर्म कर दिया गया था; अन्य लोग इससे बरी थे और मारकाट और लूटमार से उनकी हर तरह से रक्षा की जाती थी। उनका जीवन और जीविका जहां तक सम्भव होता वहा तक इससे अलग ही रखे जाते थे। मानव-स्वभाव में युद्ध और संहार

करने की जो प्रवृत्तियां होती हैं उनका क्षेत्र मर्यादित कर दिया गया था; उसको एक जाति-विशेष के अन्दर ही हद बांध दी गई थी और इस तरह युद्ध से होने वाली राष्ट्र के सर्व साधारण जीवन की हानि की सम्भावना यथासम्भव कम कर दी गई थी। इसके साथ ही युद्ध का जैसा उच्च नैतिक आदर्श था और धर्म युद्ध के जो मनुष्योचित वीरोदार नियम पालन किये जाते थे, उनसे युद्ध योद्धाओं को क्रूर नरपशु बनाने का कारण नहीं, बल्कि उन्हें उन्नत और उदार बनाने का ही कारण होता था। यह बात ध्यान मे रखनी चाहिये कि गीता जो युद्ध करने को कहती है, वह ऐसा ही युद्ध था, और इन्हीं अवस्थाओं के अन्तर्गत लड़ा जाता था, वह युद्ध जो मानव-जीवन का एक अपरिहार्य अङ्ग माना जाता था। और वह इतना मर्यादित और संयमित था कि अन्य कर्मों के समान यह कर्म भी मनुष्य के नैतिक और आध्यात्मिक विकास में सहायक ही होता था और यह नैतिक और आत्मिक विकास ही उस काल में जीवन का एक मात्र और वास्तविक लक्ष्य था, वह युद्ध कतिपय छोटे से दायरे के अन्दर ही व्यक्तियों के जीवन का संहार कार्य करता था, किन्तु इस प्रकार के युद्ध द्वारा योद्धा के आन्तरिक जीवन का संगठन होता था और जाति की नैतिक उन्नति होती थी। पूर्वकाल में उस उच्च आदर्श को सामने रखकर जो युद्ध किये जाते थे, उनसे उत्कर्ष ही साबित होता था। यह बात चाहे चरमपन्थी दुराग्रही शान्तिवादी न स्वीकार करे, पर शौर्य और वीरता को युद्ध ने ही विकसित किया है। भारत का क्षात्र धर्म और जापान का सामुराइ-धर्म युद्ध के ही फल हैं। हां, अपना काम कर चुकने के बाद भले ही युद्ध संसार से विदा हो जाय; कारण इसकी उपयोगिता समाप्त हो जाने पर भी यदि यह बना रहना चाहे, तो यह हिंसा की एक अप्रशमित क्रूरता के रूप मे ही प्रकट होगा, जिसमें युद्ध का आदर्श और संगठनात्मक पहलू होगा ही नहीं; और इसलिये मनुष्य का प्रगतिशील मन इसको त्याग देगा। परन्तु जिस समय हम अपने विकास के इतिहास को विवेक पूर्वक देखेंगे, तब तो पूर्वकाल में युद्ध से मनुष्य जाति का जो उपकार हुआ, उसको उस उपकारिता को हमें मानना ही होगा।

अस्तु, भौतिक रूप से जो युद्ध होता है, वह जीवन में युद्ध रूपी जो एक सर्वसाधारण तत्व है, उसकी एक विशेष और बाह्य अभिव्यक्ति मात्र है और मानव जीवन की पूर्णता के लिए जिस एक सर्व-साधारण वैशिष्ट्य की आवश्यकता है, क्षत्रिय उसी की केवल एक बाह्य अभिव्यक्ति और नमूना मात्र है। हम लोगों के क्या आन्तरिक और क्या बाह्य, दोनों ही प्रकार के जीवन में, संघर्ष का जो एक पहलू है, वही युद्ध के रूप में एक विशिष्ट भौतिक आकार धारण करके प्रकट होता है। यह संसार क्षेत्र ही है संघर्ष का। यहां का तरीका ही यह है कि विभिन्न शक्तियां एक दूसरी से टकरायें और भिड़ें और इस तरह परस्पर संहार के द्वारा आगे बढ़ें—एक ऐसे सतत परिवर्तनशील सामंजस्य की ओर जो स्वयं किसी प्रगतिशील सुसंगति-साधन का द्योतक होता है तथा पूर्ण समन्वय की आशा दिलाता है; और इसका आधार होती है एकता की ऐसी सम्भावना, जो अभी तक पकड़ में नहीं आई है। मनुष्य में जो योद्धा भाव है वही क्षत्रिय रूपमें प्रकट होता है। क्षत्रिय इसे अपने जीवन का उसूल बना लेता है और योद्धा के नाते युद्ध का सामना करता हुआ आत्म-विजय में यत्नवान् होता है। मानव-शरीरों और रूपों का संहार करने में तो वह नहीं हिचकता, पर इस संहार-कर्म में उसका लक्ष्य होता है किसी ऐसे सत्य, न्याय, धर्म के सिद्धान्त की उपलब्धि, जो इस सामंजस्य की बुनियाद हो सके; जिसकी ओर यह सारा संघर्ष प्रवाहित हो रहा है। जगत्-चालिका शक्ति के इस पहलू को तथा युद्ध के भौतिक तथ्य को—जो इस पहलू का केवल मूर्त्त रूप ही होता है—गीता स्वीकार करती है और युद्ध का उपदेश करती है एक क्षत्रिय को, अर्थात् उस मनुष्य को जो कर्मी है, उद्योगी है और योद्धा है—उस युद्ध का उपदेश करती है, जो अन्दर में शान्ति-मय और बाहर में अहिंसामय रहने को अन्तरात्मा

की जो उच्च अभीप्सा होती है, उसके एकदम विपरीत पड़ता है, कहा जाता है उस योद्धा से जिसके युद्ध और कर्म या जो अपरिहार्य विक्षोभ होगा वह अन्तरात्मा की शान्त प्रभुता और आत्म-अधिकृति जैसे उच्च आदर्शों के सर्वथा विपरीत मालूम होता है,—ऐसी परस्पर-विरोधिनी अवस्थाओं में से गीता एक ऐसा रास्ता निकालने और एक ऐसे स्थलपर पहुंचाने का प्रयास करती है, जहां दोनों बातें बराबर होकर मिल जायं और वह सन्तुलित-अवस्था हो जाय जो सामञ्जस्य और परागति का मूल और पहला आधार हो।

प्रत्येक मनुष्य जीवन संग्राम का सामना अपनी प्रकृति के सर्वोपरि प्रधान गुण के अनुकूल ढंग से ही किया करता है। सांख्य सिद्धान्त के अनुसार जगत्प्रकृति त्रिगुणात्मिका है और इसलिए मनुष्य स्वभाव भी त्रिगुणात्मक है। गीता को भी यह स्वीकार है। सत्त्व सन्तुलित अवस्था, ज्ञान और सन्तोष का गुण है, रज प्राणावेग कर्म और द्वन्द्वमय भावावेग का; और तम अज्ञान और जड़ता का। मनुष्य में जब तमोगुण की प्रधानता होती है तब वह मनुष्य अपने चारों ओर चक्कर काटने वाली और अपने ऊपर आ धमकने वाली जगत् शक्तियों के वेगों और धक्कों का उतना सामना नहीं करता; क्योंकि उनके सामने वह हिम्मत हार देता, उनके प्रभाव में आ जाता, शोकाकुल हो जाता, और उनकी अधीनता स्वीकार कर लेता है, अथवा अधिक से अधिक अपने अन्य गुणों से मदद पाकर किसी तरह बचे रहना भर चाहता है। जब तक टिक सके, तब तक टिके रहना चाहता है। किसी ऐसे आचार विचार से बंधे जीवनक्रम के गढ़ में छिपकर अपनी जान बचाना चाहता है, जिसमें पहुँच कर वह अपने-आपको किसी अंश में इस संग्राम से बचा हुआ समझे और यह समझे कि उसकी उच्चतर प्रकृति उससे जो कुछ मांग रही है, उसको वह नट सकेगा तथा इस संघर्ष को और आगे बढ़ाने और एक वर्धमान प्रयास एवं प्रभुत्व के आदर्श को चरितार्थ करने की मेहनत से वह बरी हो सकेगा। रजोगुण की जब प्रधानता होती है, तब मनुष्य अपने आपको युद्ध में झोंक देता है और शक्तियों के संघर्ष का उपयोग अपने ही अहंकार के लाभ के लिये अर्थात् विरोधी को मारने, काटने, जीतने उस पर प्रभुता पाने और जीवन का भोग करने के लिये करता है; अथवा अपने सत्त्वगुण से कुछ मदद पाकर इस संघर्ष को अपनी आन्तरिक प्रभुता, अन्तः मुक्त-शक्ति-सम्पत्ति बढ़ाने का एक साधन बना लेता है। जीवन-संग्राम उसके आनन्द और नशे की चीज़ बन जाता है। इसका कारण कुछ तो यह होता है कि संघर्ष करना उसका स्वभाव होता है; इस तरह की कर्मण्यता से उसे एक सुख मिलता है और उसको अपनी शक्ति का अनुभव होता है, और कुछ यह कि यह उसकी वृद्धि और स्वाभाविक आत्मविकास का साधन होता है। जब सत्त्वगुण की प्रधानता होती है, तब मनुष्य संघर्ष के बीच में धर्म, सत्य, सन्तुलित अवस्था, समन्वय, शान्ति, सन्तोष का कोई तत्त्व ढूंढा करता है। विशुद्ध सात्त्विक मनुष्य इसी का अनुसन्धान अपने अन्दर करता रहता है, चाहे केवल अपने लिए ही करे अथवा यह भाव चित्त में रखे कि जब चीज़ हासिल होगी, तब वह दूसरों को भी दी जायगी, किन्तु यह काम साधारणतया सक्रिय जगत् शक्ति के झगड़े और कोलाहल से अन्तःनिवृत्त होकर अथवा बाह्यतः उनका त्याग ही करके किया जाता है। पर सात्त्विक मनुष्य जब अंशतः राजसी वृत्ति ग्रहण भी करता है, तो इसको वह संघर्ष और बाहरी गड़बड़झाले के ऊपर सन्तुलित अवस्था और सामञ्जस्य को लादने के लिए; युद्ध, अनबन, और संघर्ष पर शान्ति, प्रेम और सामञ्जस्य को विजय दिलाने के लिए करता है। जीवन समस्या को हल करने के लिये मनुष्य का मन जो जो ढंग अख़्तियार करता है, वे सब ढङ्ग इन्हीं गुणों में से किसी एक गुण की प्रधानता से या इन गुणों के बीच समतोलता और सामञ्जस्य स्थापित करने के प्रयत्न से ही उद्भूत होते हैं।

परन्तु एक ऐसी भी अवस्था आती है, जब मन इस सारी समस्या से ही फिर जाता है और प्रकृति के त्रिविध प्रकारों से, त्रैगुण्य से प्राप्त होनेवाले उपायों से असन्तुष्ट होकर किसी ऐसे हल को ढूंढने लगता है, जो त्रैगुण्य के परे या ऊपर हो। किसी ऐसी चीज़ में मन भाग जाना चाहता है जो समस्त गुणों के बाहर है या जो समस्त गुणों से सर्वथा रहित है और इसलिये जो कर्म रहित भी है अथवा किसी ऐसी चीज़ में जो इन तीनो गुणों से श्रेष्ठ है और ये गुण जिसके वश में हैं और इसलिये वहां पहुंचकर वह साथ-साथ कर्म भी कर सकता और अपने उस कर्म से अलिप्त और अप्रभावित भी रह सकता है, जो या तो निर्गुण अवस्था है या त्रिगुणातीत अवस्था। मन अभीप्सा करता है निरपेक्ष शान्ति और निरुपाधि स्थिति के लिये अथवा प्रबल स्थिरता और श्रेष्ठतर स्थिति के लिये। प्रथमोक्त भाव की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है सन्यास की ओर और शेषोक्त भाव की प्रवृत्ति होती है निम्नगा प्रकृति की मांगों और उसकी क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं के चक्कर पर प्रभुत्व प्राप्त करने की ओर, और इसका सिद्धान्त होता है समता की स्थापना तथा आवेशों और कामना का आन्तरिक त्याग। अर्जुन के चित्त में पहले वही प्रथमोक्त आवेग हुआ था, जिसके कारण कुरुक्षेत्र में अर्थात् युद्ध और हत्याकाण्ड के घोर संहार क्षेत्र में अपने वीरकर्म से होनेवाले दुःखद पर्यवसान से उसका मन फिर गया, अब तक उसका जो कर्म सम्बन्धी सिद्धान्त था, वह लुप्त हो गया और उसको ऐसा बोध होने लगा कि अकर्म और जीवन का तथा जीवन की मांगों का त्याग ही एक मात्र उपाय है। परन्तु भगवान गुरु की वाणी उसे जो कुछ करने को कहती है, वह जीवन और कर्म का वाह्य-संन्यास नहीं है बल्कि वह है उनपर आन्तरिक प्रभुता की स्थापना।

अर्जुन क्षत्रिय है, वैसा रजोगुणी पुरुष जो अपना राजसिक कर्म एक उच्च सात्विक आदर्श से नियत किया करता है। इस भीषण संग्राम में, कुरुक्षेत्र के इस महासमर में वह युद्ध का हौसला लेकर, रणरंग में मस्त होकर ही आया है, उसे अपने पक्ष की न्याय्यता का पूर्ण और साभिमान विश्वास भी है, वह अपने द्रुतगामी रथ पर आरूढ होकर शत्रुओं के हृदयों को अपने युद्ध-शंख के विजय-निनाद से विदीर्ण करता हुआ आगे बढ़ता है; क्योंकि वह देखना चाहता है कि उसके विरुद्ध खड़े होकर अधर्म का बल बढ़ाने और धर्म, न्याय और सत्य को कुचल कर उनके स्थान में स्वार्थी और उद्दण्ड अहंकार की प्रभुता स्थापित करने कौन कौन राजा आये हैं। पर उसका यह विश्वास चूर-चूर हो गया और वह अपने सहज भाव से तथा जीवन सम्बन्धी अपने मानसिक आधार पर से एक भीषण आघात खाकर गिर पड़ा; इसका कारण यह हुआ कि राजसिक अर्जुन में तमोगुण की एक बाढ़ उमड़ आई और इसने उसको आश्चर्य, शोक, भय, निरुत्साह, विषाद, मन की व्याकुलता और उसके अपने ही तर्कों के परस्पर संग्राम द्वारा व्यथित कर इस कार्य से मुंह मोड़ने के लिये उकसाया और वह अज्ञान और जड़ता में डूब गया। परिणाम यह हुआ कि वह सन्यास की ओर मुड़ा। सोचने लगा यह घोर युद्धकर्म अच्छा नहीं जिसका फल सब का संहार है, वह राज्य, यश और प्रताप किस काम का जो नाश और रक्तपात से ही प्राप्त होता है, ऐसे भोगों की कौन इच्छा करे, जो रक्त से सने हुये हैं, न्याय और सत्य की वह विजय क्या, जो समस्त धर्मों को ही मिटाने वाली हो और उस सामाजिक विधान की स्थापना ही क्या जो एक ऐसे युद्ध द्वारा हो, जिसकी प्रक्रिया और परिणाम उन सब को नष्ट करने वाले हों जिनसे समाज बनता है। क्षत्रिय के इस धर्म से तो भीख मांग कर जीने वाले भिक्षुक का जीवन अच्छा।

संन्यास का अर्थ है जीवन और कर्म तथा प्रकृति के त्रिगुण का त्याग, किन्तु इस त्रिगुण में से किसी एक गुण के द्वारा ही संन्यास की ओर जाना होता है। संन्यास की ओर जाने का यह आवेग हो सकता है

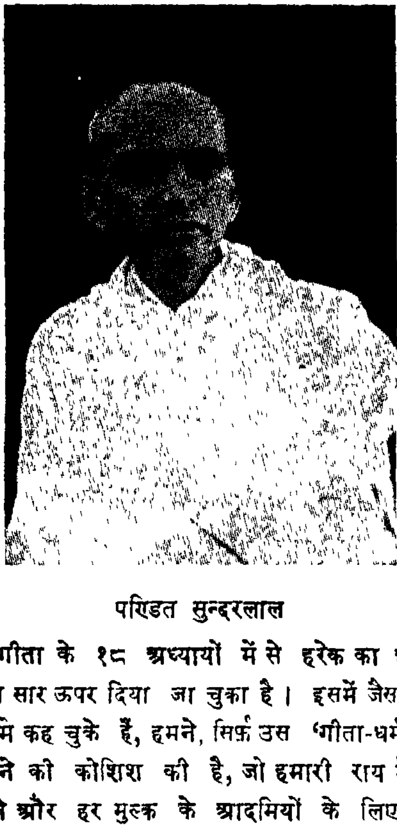
कि तामसिक हो, अर्थात् क्लीवता, भय, विद्वेष, जुगुप्सा, जगत और जीवन से त्रास अनुभव होता हो, अथवा हो सकता है कि यह तम की ओर झुका हुआ राजसिक गुण हो, अर्थात् संघर्ष से थकावट मालूम पड़ने लगी हो, शोक छा गया हो, निराशा उत्पन्न हुई हो और कष्ट तथा अनन्त असन्तोष से भरे हुए कर्म के इस व्यर्थ के हुल्लड़ को स्वीकार करने से जी ऊब गया हो। अथवा हो सकता है कि यह सत्त्व की ओर झुका हुआ राजसिक वेग हो, अर्थात् यह जीवन जो कुछ दे सकता है, उससे किसी श्रेष्ठ वस्तु तक पहुँचने, किसी उच्चतर अवस्था पर विजय प्राप्त करने समस्त बन्धनों को तोड़नेवाली और समस्त सीमाओं को पार करनेवाली किसी आन्तरिक शक्ति के पैरों तले स्वय जीवन को ही कुचल डालने का आवेग उठा हो। अथवा हो सकता है कि यह सात्त्विक हो, अर्थात् जीवन की निस्सारता का और इस जगत्-जीवन का किसी सच्चे लक्ष्य या औचित्य के बिना ही निरन्तर चक्कर काटते रहने का एक बौद्धिक आभास हुआ हो, या फिर उस नाम रूप रहित परात्पर शान्ति का कोई आध्यात्मिक अनुभव हुआ हो और इसलिये जगत्-जीवन और कर्म से संन्यास लेलेने का आवेग उठा हो। अर्जुन को जो विराग हुआ है सो सत्त्व की ओर प्रवृत्त रजोगुणी पुरुष का कर्म से तामस विराग है। गुरु चाहें तो उसे इसी रास्ते पर स्थिर कर सकते हैं; इसी अन्धेरे दरवाज़े से विरक्त जीवन की शुद्धता और शान्ति में उसे प्रविष्ट करा सकते हैं; अथवा इस वृत्ति को तुरन्त शुद्ध करके वे उसे सन्यास की सात्विक प्रवृत्ति के अत्युच्च शिखरों पर चढ़ा सकते हैं। पर वास्तव मे वे इन दोनों में से एक काम भी नहीं करते। गुरु उसके तामस विराग और संन्यास ग्रहण करने की प्रवृत्ति से उसका चित्त फेरते हैं और कर्म को ही चालू रखने के लिये कहते हैं और वह भी उसी भीषण और घोर कर्म को। परन्तु इसके साथ ही उसे एक दूसरे और ऐसे आन्तरिक वैराग्य का निर्देश करते हैं, जो उसके संकट का सच्चा निराकरण है, और जो विश्व-प्रकृति पर जीव की श्रेष्ठता स्थापित करने का रास्ता है और यह होते हुए भी, जो मनुष्य को स्थिर और आत्म-अधिकृत कर्म मे प्रवृत्त रखता है। शारीरिक नहीं, बल्कि आन्तरिक तपस्या ही गीता में अभिप्रेत है।



गीता का यही सार है

परिडत सुन्दरलाल

(४)



परिडत सुन्दरलाल

गीता के १८ अध्यायों में से हरेक का अलग अलग सार ऊपर दिया जा चुका है। इसमें जैसा हम शुरू मे कह चुके हैं, हमने, सिर्फ़ उस 'गीता-धर्म' को दिखाने की कोशिश की है, जो हमारी राय में हर ज़माने और हर मुल्क के आदमियों के लिए एक क़ीमती उपदेश है। तरजुमा करने में हमने जहां अपनी शक्ति भर इस बात का ध्यान रखा है कि कहीं अर्थ का अनर्थ न हो वहा हमने हर जगह हर श्लोक हर शब्द और हर वाक्य को ज्यों का त्यों न देकर सार लेने की कोशिश की है।

गीता के उपदेशों में इधर से उधर तक हमें सिर्फ़ एक ऐसा असूल नज़र आता है, जिससे किसी किसी दूसरे मज़हब के आदमी को इन्कार हो सकता है। यह असूल आवागमन यानी पुनर्जन्म का असूल है। गीता में इस असूल का कई बार और साफ़ साफ़ लफ़्ज़ों में ज़िक्र आता है।

ऊपर के गीता-धर्म सार में इसका ज़िक्र जान बूझ कर शामिल नहीं किया गया, क्योंकि गीता ने कहीं पर भी इस सिद्धान्त में विश्वास करना धार्मिक ज़िन्दगी के लिए ज़रूरी नहीं बताया। गीता में जीव और परमेश्वर, व्यक्त और अव्यक्त, प्रकृति और पुरुष इन सब दार्शनिक सवालों पर अपने ढङ्ग से बहस की गई है, और गीता का रुझान अद्वैतवाद यानी वहदतुलवजूद की तरफ़ है, लेकिन फिर भी गीता के मुताबिक़ सच्ची धार्मिक ज़िन्दगी बसर करने के लिए किसी तरह के असूल में यक़ीन करना ज़रूरी नहीं है। अब हम थोड़ी सी पुनरुक्ति का ख़याल न करके इन अट्ठारह अध्यायों की शिक्षा का निचोड़ फिर से थोड़े से शब्दों में दे देना चाहते हैं। वह यह है—

उस ज़माने में बहुत से अलग अलग 'कुल' 'जातियां,' और वर्ण इस देश मे मौजूद थे जो सब जन्म से माने जाते थे; किसी पुराने समय से हर कुल और हर जाति के बहुत से अलग अलग रस्म रिवाज चले आते थे, जिन्हें "कुल धर्मों" और "जाति धर्मों" का नाम दिया जाता था (१-४०.४३)। इन कुल धर्मों और जाति धर्मों का पालन होना इतना ज़रूरी माना जाता था कि अगर किसी कुल की इन रूढ़ियों का पालन बन्द हो जाय, तो समझा जाता था कि उस कुल के सारे स्त्री पुरुष, और उसके मरे हुए 'पितर' नरक को जाते हैं; (१-४२) पितरों को "पिण्ड" वग़ैरह देने का रिवाज था (१-४२), जिस का अधिकार सिर्फ़ अपनी औलाद को ही होता था;

कुदरती तौर पर लोग 'वर्ण संकर' से बहुत डरते थे और इसीलिए अपने कुल के किसी आदमी को मारना, चाहे वह "आततायी" भी क्यों न हो "बहुत बड़ा पाप" गिना जाता था (१-३६,४५)। गीता इन सब रूढ़ियों, रिवाजों और विचारों का ख़याल करना तक समझदार आदमी के लिए "मोह" "दिल की कमजोरी" और "शान के खिलाफ़" बताती है। गीता इन सबको ग़लत मानती है। (२ ३ से १०)।

तीनों वेदों ऋक्, यजुर् और साम में उन दिनों लोगों को बहुत विश्वास था। वेदों से उन्होंने यज्ञ, हवन, जप, तप वग़ैरह तरह तरह के कर्मकाण्ड सीख रखे थे। लोग बहुत से देवी देवताओं की भी पूजा करते थे। देवताओं के नाम पर हवन में तरह तरह की चीज़ों की आहुतियां दी जाती थीं। चढ़ावे चढ़ाये जाते थे। देवताओं से अपने इस दुनिया के सुखों के लिए और स्वर्ग के लिए प्रार्थनाएं की जाती थीं। "स्वर्ग" की कल्पना भी "भोग ऐश्वर्य" और "इन्द्रिय सुखों" की कल्पना थी। यज्ञों में "सोम" पीने का भी रिवाज था (२-४२,४३,४४,५३,) इत्यादि।

गीता इस सारे कर्मकाण्ड से ऊपर उठने का उपदेश देती है। गीता इस तरह के कर्मकाण्डों में पड़े हुए लोगों को नासमझ ("अविपश्चिताः") कहती है, बताती है कि इन कर्मकाण्डों से लोगों की बुद्धि नष्ट हो जाती है (तयापहृत चेतसाम्) (२ ४२ से ४४), वैदिक कर्मकाण्ड लोगों को तीनों गुणों में फंसाए रखता है, आदमी को इन तीनों से ऊपर हो जाना चाहिये, समझदार आदमी के लिए वेद वैसे ही फ़ज़ूल हैं जैसे उस जगह जहां चारों तरफ़ जल ही जल हो वहां कुंआ (२ ४५,४६); वेदों की इस तरह की तालीम से बुद्धि फिर जाती है (श्रुति विप्रतिपन्ना बुद्धि–२-५३)। और जिस आदमी के दिल में कर्म योग की यानी अपना ठीक ठीक कर्तव्य पालन करने की ख़्वाहिश भी पैदा हो जाती है उसे फिर वेदों की कोई ज़रूरत नहीं रह जाती (६ ४४)। "वेदों से, यज्ञों से, जप तप, से, और इन तमाम कर्मकाण्डों से आदमी को ईश्वर के दर्शन नहीं मिल सकते (११ ४८,५३)।

गीता इस बात को भी तफ़सील के साथ बताती है कि असली "यज्ञ" असली "तप" वग़ैरह किसे कहते हैं। चौथे अध्याय में अपने ज़माने के तरह तरह के यज्ञों का बयान करते हुए गीता कहती है कि आदमी को अपने सारे काम ही यज्ञ के तौर पर ("यज्ञाय,"–४ २३) यानी निस्वार्थ भाव से, दुई से ऊपर उठकर, किसी से ईर्ष्या न रखते हुए, दूसरों के कल्याण के लिए और ईश्वरार्पण" करने चाहियें (४-२२,२३ २४ इत्यादि)। यही यज्ञ है। सब से बढ़कर यज्ञ वह "ज्ञान यज्ञ" है, जिससे आदमी (येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि - ४-३५) तमाम प्राणियों को अपनी आत्मा के अन्दर और सबको ईश्वर के अन्दर देखता है, इस ज्ञान से बढ़कर आत्मा को पाक करने वाली चीज़ इस दुनिया में दूसरी नहीं है (४-३८)। ऐसे ही गीता ब्रह्मचर्य, अहिंसा (यानी किसी को तकलीफ़ न देना) वग़ैरह को शरीर का तप; सच्ची, प्यारी और ऐसी बात कहना जिससे किसी का दिल न दुखे और जिससे दूसरों का फ़ायदा हो ज़बान का तप, और अपनी इन्द्रियों पर क़ाबू, दिल को साफ़ और शान्त रखना वग़ैरह को मन का तप बताती है (१७ १४ से १६)।

इस दुनिया के भोगों की ख़्वाहिश और स्वर्ग वग़ैरह की वासना का गीता दूसरे अध्याय में और जगह जगह साफ़ आत्मा की तरक़्क़ी में रुकावट और छोड़ देने की चीज़ें बताती है।

रूढ़ियों और कर्मकाण्ड के बारे में गीता की एक और राय भी है। वह यह कि जो कम बुद्धि के लोग किसी भी रूढ़ियों का पालन करते हुए अपने विश्वास के सहारे नेक कामों में लगे रहते हैं, और उनके विश्वास को हिला देने से डर है कि वह नेकी से हट जावें, समझदार आदमी को चाहिये कि उनकी बुद्धि को विचलित न करे (३-२६,२९)।

अलग अलग देवताओं की पूजा या एक ईश्वर की पूजा के अलग अलग तरीक़ों के बारे में गीता के विचार और भी ज़्यादह उदार लेकिन साफ़ हैं। गीता ईश्वर को अनादि, अनन्त, सब मे रमा हुआ और सबसे अलग, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, सब के दिलों में बैटा हुआ ("हृदिसर्वस्यविष्ठितम्") लेकिन "अचिन्त्य" यानी ख़याल की गति से परे और "अनिर्देश्य" मानती है। आदमी के लिए इस तरह के निर्गुण ईश्वर का ध्यान कर सकना बहुत कठिन है (१२-३,४,५,), इसलिए आदमी उसकी पूजा या उपासना सिर्फ़ उसके किसी एक गुण को मान कर या किसी एक अंश, पहलू या भाव के रूप में ही कर सकता है। इस लिहाज़ से सब देवताओं की अलग अलग कल्पना ईश्वर ही की अंश कल्पना है और दुनिया के सब इष्ट देव और सब देवता ईश्वर ही का रूप हैं। इसलिए किसी भी देवता की पूजा एक माइने में ईश्वर ही की पूजा है।

इसी तरह पूजा के अलग अलग तरीक़ों के बारे मे गीता का कहना है कि जो आदमी श्रद्धा और सचाई के साथ जिस तरीक़े से भी ईश्वर की पूजा करता है ईश्वर उसी तरीक़े के उसकी पूजा को स्वीकार करते हैं।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः (४-११)।

इस तरह सब तरीक़े गीता के मुताबिक़ जायज़ और ठीक हैं।

लेकिन फिर भी दूसरे अलग अलग देवताओं की पूजा को गीता ईश्वर की "अविधिपूर्वकम्" (९-२३) बेतरीक़े पूजा बताती है, देवताओं के उपासक देवताओं को पहुंचते हैं और ईश्वर के उपासक ईश्वर को (९-२५,)। इसलिए गीता की बार बार और साफ शब्दों में आज्ञा है कि और सब देवताओं वग़ैरह को छोड़ कर सिर्फ़ एक ईश्वर ही की पूजा करनी चाहिये (९-२७,३४), और—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज (१८-६६) और सब धर्मों को छोड़कर सिर्फ़ एक ईश्वर का ही सहारा लेना चाहिये, वही आदमी को पापों से बचा सकता है।

वर्ण भेद को यानी ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र के फ़रक़ को गीता बजाय जन्म के गुण, कर्मों और स्वभाव के मुताबिक़ मानती है और इनमें किसी को ऊंचा नीचा नहीं मानती। जिसे अपनी इन्द्रियों पर क़ाबू हो, जो शान्त चित्त हो वग़ैरह और जिसकी तबियत ज्ञान और इल्म की तरफ़ जाती है, उसे इसी तरह के कामों में लगना चाहिये और उसे ब्राह्मण कहना चाहिये; जिसमें बहादुरी, हकूमत करने और इन्तज़ाम करने की ताक़त वग़ैरह हो उसे क्षत्री कहना चाहिये; किसान और व्यापारी को वैश्य; और सिर्फ़ दूसरों की सेवा में लगे हुए लोगों को शूद्र (१८ ४२ से ४४)। न इसका जन्म या ख़ानदान से कोई ख़ास तअल्लुक़ है और न किसी ख़ास सम्प्रदाय या मज़हब से।

दर्शन शास्त्र या फ़लसफ़े के ख़याल से उन दिनो दो सम्प्रदायों का सब से ज़्यादह ज़ोर था। एक कर्म सम्प्रदाय वाले जो वैदिक कर्मकाण्ड और रूढियों के पालन करने में मुक्ति मानते थे और दूसरे सांख्य सम्प्रदाय वाले जो दुनिया के कामों से अलग रहकर सन्यास और त्याग के ज़रिये मुक्ति मानते थे। गीता ने दोनों की रूढियों का खण्डन करते हुए दोनों का बड़ा सुन्दर मेल या समन्वय किया है और दोनों को एक दिखाया है (५-४,५)। न आग को हाथ लगाने वाला आदमी या इसी तरह की सन्यास की दूसरी रूढियों में फंसा हुआ आदमी सचा सन्यासी है, और न अपनी ख़्वाहिशों का ग़ुलाम कर्मकाण्ड में फंसा हुआ कर्म भोगी है। जो अपने स्वार्थ या ख़ुद ग़रज़ी को अलग रखकर दुई से ऊपर उठकर, किसी से द्वेष न करता हुआ दुनिया की तरफ़ अपने सब फ़र्ज़ों को पूरा करता है वही सचा सन्यासी है और वही योगी है (५-३;६-१)।

गीता जिस चीज़ को असली धर्म और सब के लिए एक समान धर्म मानती है और जिस चीज़ पर

बार बार और तरह तरह से ज़ोर देती है वह अपने आप पर क़ाबू हासिल करके, "अपने नफ़्स को जीत कर," (सनिम्येन्द्रिय ग्रामं १२-४) दुई से उपर उठकर, (निर्द्वन्दो) अपने लिए "सुख दुख नफ़े नुक़सान की बिल्कुल परवाह न करते हुए," (सुख दुःख समेकृत्वा...३०) "सब दुनिया का भला चाहते हुए" (चिकीर्षुलोक सग्रहम् ३-२५), "किसी से दुशमन न करते हुए" (निर्वैरः सर्वभूतेषु-११-५५), सब के भले के कामों में लगे हुए" (सर्वभूतहिते रताः ५-२५, १२-४,), दूसरों की तरफ़ अपने "फ़र्ज़ों को फ़र्ज़ समझ कर" पूरा करना है। (१८-९, ९०) नरक के तीन दरवाज़े हैं—काम, क्रोध और लोभ (१६-२१); मनुष्य मात्र के लिए यही गीता-धर्म का सार है। इसी को गीता ईश्वर की सच्ची भक्ति बताती है (१२-१३ से २०)। ईश्वर को सब से ज़्यादह प्यारा वह है जिससे दुनिया का कोई आदमी भय न करता हो और न जिसे ख़ुद किसी से किसी तरह का डर हो (यस्मान्नो-द्विजते लोको लोकान्नो द्विजते चयः १२-१५)। इसके ख़िलाफ़ अपने स्वार्थ के लिए, घमण्ड या खुदी के वश आदमी अगर मेहनत भी करे, "तप" करे और तकलीफ़ें उठावे तो वे भी शैतानी हैं और ईश्वर उनसे ख़ुश नहीं हो सकता (१६-५, ६)। इस तरह अपनी ख़ुदी को मार कर दूसरों की तरफ़ अपने फ़र्ज़ों के पूरा करने में लगे हुए, सबका हित साधन करते हुए ही आदमी सच्चे ज्ञान को पा सकता है। सच्चा ज्ञान यही है कि आदमी (आत्मौ-पम्येयन सर्वत्र समंपश्यति योऽअर्जुन—६-३२) सब को अपनी तरह," सर्व भूतात्मा ५-७) "अपने अन्दर सब को" (सर्वभूतस्थमात्मानं-५-७ सर्वभूतानि यात्मनि-६ २६) सब को ईश्वर के अन्दर" और "सब के अन्दर एक ईश्वर को (योमा पश्यति सर्वत्र सर्वंचमयि पश्यति...सर्वभूतस्थितंयोमां"...(६ ३०-३१) देखें। केवल इस तरह, "आत्मसंयम, और "दूसरों की सेवा" के ज़रिये ही आदमी "अपनी आत्मा को शुद्ध" करते करते, आत्मा की असली तरक़्क़ी के पथ पर क़दम बढ़ा सकता है, और फिर 'अपने अन्दर" और "सबके अन्दर" उस परमात्मा का साक्षात करके जो "सब ज्योतियों की ज्योति है (ज्योतिषामपितज्योतिः १३-१७) और सब के दिलों में बैठा है। (सर्वस्य चाहं हृदिसन्निविष्टो १५-१५) मुक्ति हासिल कर सकता है। (३-१९;५-१६, १७,३०) यही गीता धर्म का निचोड़ है।

दुनिया में जितने अलग अलग "धर्म या मज़हब" चल चुके हैं या चल रहे हैं उनमें एक दूसरे से फरक़ आमतौर पर या तो थोड़ा बहुत उनके दार्शनिक मंतव्यों में होता है, यह कि जीव और ब्रह्म एक हैं या दो, माद्दा यानी मैटर सादि है या अनादि, स्वर्ग और नरक की कल्पनाएं वग़ैरह और या उनके ऊपरी रस्म रिवाजों में होता है जैसे पूरब की तरफ़ मुंह करके ईश्वर की पूजा करना या पच्छिम की तरफ़ वग़ैरह। आमतौर पर अलग अलग धर्मों के बुनियादी उसूलों जैसे एक ईश्वर में विश्वास, और सदाचार के नियमों जैसे सच बोलना, सब से प्रेम करना वग़ैरह में फरक़ नहीं होता। इस लिहाज़ से 'गीता-धर्म' कोई अलग "धर्म" नहीं है। गीता हमें, सब "धर्मों" को एक समदृष्टि से देखने का आदेश देती है, सब धर्मों में एक समन्वय पैदा करती है और सब धर्मों का सार निकाल कर हमारे सामने रख देती है। इसीलिए गीता-धर्म मनुष्य मात्र का धर्म है और गीता दुनिया के सब आदमियों की एक समान बपौती और एक समान मिलकीयत है।

गीता तमाम हिन्दू शास्त्रों और हिन्दू पुस्तकों का सार है। जिस किसी ने उपनिषदों को पढ़ा हो उसे गीता में जगह जगह उपनिषदों के फ़िक़रों के फ़िक़रे और कड़ियों की कड़ियां ज्यूं की त्यूं दिखाई देंगी। कई जैन संस्कृत ग्रन्थों से गीता के फ़िक़रे इतने ज़्यादह मिलते चले जाते हैं कि नामुमकिन मालूम होने लगता है कि इसने उससे या उसने इससे न लिया है। हमारे विद्वान दोस्त मोहम्मद अजमल ख़ां साहब एम० ए०, एल-एल० बी० ने गीता का एक सुन्दर उर्दू तरजुमा प्रकाशित किया है जिसका नाम

"नग़म-ए-ख़ुदावन्दी है"। उसमें उन्होंने जगह जगह गीता के श्लोकों के साथ साथ क़ुरान मजीद से और दूसरी मुसलिम किताबों से ठीक उसी माइने के सैकड़ों सुन्दर हवाले नक़ल किये हैं। क़ुरान और गीता दोनों पर एक सरसरी निगाह डालने से भी इस तरह की एक सी बातें जगह जगह दिखाई दिये बिना नहीं रह सकती। जिस तरह गीता में बार बार सब काम 'ईश्वरार्पण करने का आदेश है उसी तरह क़ुरान में बार बार ही हर काम "फ़ी सबी लल्लाह" (८-७, ७४ ३०) यानी अल्लाह की राह में या अल्लाह के लिए करने का हुकुम है। जिस तरह गीता में ईश्वर को जगह जगह "ज्योति वा मपि तज्ज्योतिः" (१३-१७), यानी रोशनियों की रोशनी, प्रभास्मि शशि सूर्ययोः" (७-८), यानी चांद और सूरज की रोशनी वग़ैरह कहा गया है, उसी तरह क़ुरान में ईश्वर को बार बार "नूरुस्स-मावाते वल अर्दे" 'यानी आसमानों और ज़मीन की रोशनी,' और "नूरुन अला नूरिन्" यानी 'रोशनी पर रोशनी' (२४-३५-३०) वग़ैरह कहा गया है। जिस तरह गीता में ईश्वर को "विश्वतो मुखम्" (११-११), 'सब तरफ़ मुंह वाला' कहा गया है, उसी तरह क़ुरान में कहा गया है—"फ़एनमा तोवल्लूफ़सम्मवजहुल्लाह" यानी 'जिधर को भी तुम मुड़ो उधर ही अल्लाह का मुंह है' (२-११५)। गीता में ईश्वर को "सत्य" कहा गया है। क़ुरान में लिखा है "अल्लाह हो वल हक़्क़ो", अल्लाह सत्य है, (३२-६२)। इसी तरह की अनेकानेक समानताएं गीता और क़ुरान में दिखाई जा सकती हैं।

अट्ठारवें अध्याय की यह लाइन

सर्व धर्मान परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज,

मौलाना रूम के इस मशहूर शेर से अपने माइने और मतलब में पूरी तरह मिलती है—

मजहबे इश्क़ अज़ हमे दींहा जुदास्त
आशिक़ां रा मज़हबो मिल्लत ख़ुदास्त

यानी प्रेम का मज़हब सब मज़हबों से अलग है। प्रेमी के लिए ख़ुदा ही उसका मज़हब और ख़ुदा ही मिल्लत है।

मशहूर अंग्रेज़ विद्वान् टामस कारलाइल ने एक जगह लिखा है कि "मुझ से अगर पूछा जावे कि दोनों में से कोई एक चीज़ रख लो हिन्दुस्तान की सल्तनत या शेक्सपियर, तो मैं हिन्दुस्तान की सल्तनत छोड़ दूंगा लेकिन शेक्सपियर नहीं छोड़ूंगा"। अगर यही सवाल किसी हिन्दुस्तानी से किया जावे, सिर्फ हिन्दुस्तान की सल्तनत की जगह दुनिया की सल्तनत हो और शेक्सपियर की जगह गीता, तो हमारी राय में उसका यही जवाब होना चाहिये।

अमरीका के मशहूर दार्शनिक और सन्त थोरो ने एक बार सुना कि पच्छिम के लोग हिन्दुस्तान पहुंचने के लिए कोई नया नज़दीकी रास्ता ढूढ़ रहे हैं, उसने तुरन्त कहा—"ये लोग जल और थल पर से कहां हिन्दुस्तान का नया रास्ता ढूंढ रहे हैं? इन्हें नहीं मालूम कि हिन्दुस्तान तक पहुंचने का रास्ता भगवद्गीता में से है।"

बात बिल्कुल सच है।

कमी केवल यह है कि अभी तक वे लोग भी, जो गीता को अपनी ख़ास बपौती समझते हैं, नित्य उसका पाठ करते हैं, और लाखों की तादाद में उसकी कापियां बटवाते हैं, गीता के असली सबक़ से कोसों दूर मेरा धर्म और तेरा धर्म, मेरी संस्कृति और तेरी संस्कृति के नाशकर "मोह" में पड़कर भारतीय संस्कृति रूपी विशाल वृक्ष की चोटी के फूलों की तरफ़ निगाह डालने के बजाय इस पुराने दरख़्त के तने पर की सूखी हुई छाल को ज़ोरों से चाटने में लगे हुए हैं। हम इस तरह न केवल इस पाक दरख़्त को गन्दा कर रहे हैं, बल्कि अपनी जीभ को भी लहूलुहान कर रहे हैं और दुनिया के उन लोगों की नज़रों में, जो ज़रा दूर से खड़े होकर हमारी हालत को देख रहे हैं, अपने को नफ़रत और मज़ाक़ की चीज़ बना रहे हैं। इस मुल्क का गौरव, इसका

निस्तार, इसकी सलामती, इसकी आज़ादी का राज़ और इसके ज़रिये दुनिया का कल्याण न इस रूढ़ि या कर्मकाण्ड में है और न उसमें, न इस वेष भूषा या लिबास में है और न उसमें, न इस तरह के संकीर्ण माइनों में इस ख़ास संस्कृति को चिपटे रहने में है और न उसको। भारत और संसार दोनों का कल्याण उस सम भाव उस तौहीदे हक़ीक़ी में है जो भिन्नता में एकता को देख सके, जो सब रूढ़ियों और कर्मकाण्डों से ऊपर रहकर सबके अन्दर से उसी तरह अपनी रोशनी की किरणें दुनिया पर फेंक सके जिस तरह रंग बिरंगे शीशों में से लैम्प की रोशनी, और जो आर्य संस्कृति और द्रविड़ संस्कृति, बंगाली संस्कृति और पंजाबी संस्कृति, हिन्दू संस्कृति और मुसलिम संस्कृति के बजाय उस सुन्दर, सार्वांगिक भारतीय संस्कृति की रचना में अपनी सच्ची सफलता समझे, जो भारतीय संस्कृति आख़ीर में उस व्यापक मानव संस्कृति में अपने को लीन करदे, जिसके बनाने में दुनिया इस समय बड़ी मेहनत और तकलीफ़ के साथ लगी हुई है, और जिसके लिए मानव समाज की टुकड़े टुकड़े हुई आत्मा बेचैनी के साथ तड़प रही है।

यही गीता का पाठ है। यही भारत का इस समय "स्वधर्म" है। इसके ख़िलाफ़ हर रास्ता "भयावह" है।

समाप्त



मन की गुत्थियां

श्री विष्णु

वह बहुत देर से विचारों में डूबता उतराता आ रहा था। क्रोध और झुंझलाहट के कारण उसके माथे की सलवटें गहरी हो गई थीं और उसके मन की अवस्था उथले हुये समुद्र की तरह थी। वह इसी ट्रेन से देहली जा रहा था। उसकी स्त्री और बच्चा गाड़ी में बैठ चुके थे। गाड़ी छूटने मे काफी देर थी। यद्यपि वह बहुत बड़ा जकशन नहीं था, फिर भी खासी चहल पहल थी। स्टेशन भी एक छोटी सी दुनिया के समान है, जहां भिन्न भिन्न आकृति मनोवृत्ति और वेशभूषा के लोग एक ही स्थान पर नज़र आते हैं। उनकी चिड़ियों की भांति अलग अलग बोलियां सुन कर मन मे कल्पना जाग उठती है और कौतूहल के कारण आंखें बहुत देर तक उनका पीछा करती रहती हैं। कभी सौन्दर्य की जीती जागती तसवीरें, कभी ऐश्वर्य और विलास की पुतलियां, कभी बदसूरती और मुफलिसी की नंगी सूरतें सिनेमा के चित्रों की तरह आंखों के सामने से गुज़र जाती हैं। दिल कभी श्रद्धा से उमड़ उठता है, क्योंकि एक बड़ा लीडर उधर से गुज़रा है और उसकी जय के नारों से आसमान गूंज उठा है। कभी उसी दिल में वासना उमड़ उठती है, क्योंकि सौन्दर्य और विलास की एक जीती जागती मूरत सन्नाटे के साथ कन्धे को छूती हुई निकल गई है। लवेन्डर और इतर की महक नाक में भरी जा रही है। क्षण बीतता है दिल में घृणा पैदा हो जाती है, क्योंकि श्मशान से उठकर आया हुआ एक कंकाल, एक निहायत गन्दा और बदबूदार चिथड़ा लपेटे आपके आगे हाथ पसारे खड़ा है। अभी यह घृणा दूर नहीं होती कि करुणा उमड़ आती है, क्योंकि एक स्त्री अपने बच्चे को दूर पढ़ने के लिये भेज रही है, क्योंकि लड़की अपने मां बाप से सदा सदा के लिये बिदा हो रही है......।

यह सब स्टेशन की बातें हैं, जो दुनिया का एक छोटा सा चित्र है या सिनेमा का विश्वव्यापी दृश्य है। जहां सुख, दुख, भय, करुणा पाप और पुण्य सब साकार है, और जहां आंखों वाले के लिये कहानी कहने के अनन्त प्लाट भरे पड़े हैं। यह दुनिया, यह जीवन सब कहानी ही तो है........।

लेकिन वह इन सब ओर से आंखें बन्द किये कुछ और ही देख रहा है।

जिस तरह दुनिया में रहने वाले प्रत्येक मानव के मन में अपना ही ख्याल होता है, उसी तरह उसे अपना ही ख्याल था और इस ख्याल में वह इतना ग़र्क़ था कि जब उसके एक अत्यन्त परिचित बन्धु ने उसे पुकारा – हलो मिस्टर......' तो वह तनिक भी टस से मस नहीं हुआ।

आगन्तुक ने पास आकर कहा- -सो रहे हो मिस्टर !

वह चौंका—अरे तुम।

'हां मैं हूं।'

माफ करना मैं कुछ सोच रहा था और यह अचरज की बात है मुझे तुम्हारी ही ज़रूरत थी।'

मेरी—आगन्तुक ने कुछ रस लेते हुये कहा।

'जी हां ! एक अहम मसला दरपेश था जिस पर तुम ही ठीक ठीक रोशनी डाल सकते हो।'

आगन्तुक हंस पड़ा—मैं धन्य हुआ ! क्या बात है वह ?

वह ज़रा धीरे से बोला—तुमने सुना होगा न कि परसों C I D ने मेरी तलाशी ली थी।

'तुम्हारी तलाशी ? क्या कहते हो ?'

'कह तो रहा हूं परसों Defence of india Act मे मेरी तलाशी हो चुकी है।'

'लेकिन मैं यक़ीन नहीं कर सकता। तुम तो सरकारी नौकर हो।'

'यही तो बात है। सरकारी नौकर होते हुये भी मुझे यह ज़िल्लत उठानी पड़ी है, सिर्फ़ अपने ग़ैर मज़हबी दोस्तों के कारण।'

आगन्तुक का अचरज अब ढीला पड़ गया था। उसने कहा—तो तुम कहना चाहते हो कि परसों तुम्हारी Defence of india Act में तलाशी हुई है और उसका कारण तुम्हारे ग़ैर मज़हबी दोस्त हैं।

'बेशक यही बात है। यह मेरा क़यास ही नहीं है बल्कि मेरे पास इस बात के प्रमाण हैं कि सिवाय उन कमीने कुत्तों के यह काम किसी और का नहीं है।'

'तुमने C I D वालों से पूछा था।'

'पूछा था, लेकिन उन्होंने नहीं बताया।'

'फिर...।'

वह आगन्तुक के और भी नज़दीक आ गया और धीरे धीरे कहने लगा। उसकी आंखें तेज़ थीं और वाणी दृढ़। वह बोला—मैंने गुप्त रूप से पता लगाया है। एक दो अरज़ी रोज़ मेरे ख़िलाफ़ Government और C I D के दफ़्तर में जाती हैं। जिस समय मेरी तलाशी का आर्डर हुआ था, लगभग २०० अर्ज़ियां C I D के दफ़्तर मे मेरे विरुद्ध थीं...।

'अच्छा...!' आगन्तुक अचरज से बोला।

'यह तो तब है जब मैं राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। धर्मों के झगड़े मुझे अच्छे नहीं लगते। मैं तो केवल मानवधर्म का प्रेमी हूं।

'बड़ी कमीनी जात है।'

'बेशक! मैं तो समझता था इन्सान सब एक हैं; परन्तु देखता हूं इन लोगों की बदमाशी की कोई हद नहीं है। ऊपर से कितने दोस्त बनते हैं। मुस्करा कर बोलते हैं और ऐसा एक्टिंग करते हैं कि जैसे उनसे बढ़ कर हमारा और कोई दोस्त नहीं है।'

आगन्तुक बोला—मैं तो सदा से कहता रहा हूं कि सांप की दोस्ती ही क्या? न जाने कब काट खाय। परन्तु तुम लोगों ने सदा ही मेरा विरोध किया, मुझे गालियां दीं, तास्सुबी कहा और......।

वह बीच में ही बोल उठा—तुम्हारी बात ठीक है, परन्तु बिना अनुभव के पता नहीं लगता। मैं तो अब भी इन्सान से नफ़रत नहीं करता, परन्तु परसों वाली घटनाने मुझे ज़मीन पर ला पटका है। मेरी आंखों में ख़ून बरस रहा है और मुझे ताज्जुब है ख़ुदा या परमात्मा जैसी कोई चीज़ इस दुनिया में है भी...।

'लेकिन तुमने क्या सोचा?'—आगन्तुक ने पूछा।

वही तो कहता हूं......और उसने बहुत धीरे धीरे कान में कहा—दिल्ली जा रहा हूं। वहां से प्रबन्ध करूंगा कि दो तीन अरज़ी रोज़ उन ग़ैर मज़हबी दोस्तों के ख़िलाफ़ Government और C I D के दफ़्तर में पहुंचें। फ़ैक्टस दूंगा। देखता हूं कब तक सुख की नींद सोते हैं। जेल में बन्द करवा दूंगा। उन्होंने भी सांप को छेड़ा है......।

कहते कहते उसके माथे की सलवटें फिर गहरी हो उठीं और नफ़रत उसकी आंखों मे साकार हो उठी। आगन्तुक ने भी उसी तरह कहा—बेशक यही ठीक है। मैं तुम्हारी मदद करूंगा। कब तक लौट रहे हो?

'अगले हफ़्ते इसी दिन लौटूंगा।'

'तो मैं परसों दिल्ली मिलूंगा और......।'

वे दोनों चौंक पड़े। बातों ही बातों में न जाने कब गाड़ी ने सीटी दी, कब गार्ड ने हरी झण्डी हिलाई। गाड़ी चल पड़ी। उसकी पत्नी ने घबरा कर बाहर देखा। वह शीघ्रता से उचक कर गाड़ी की पटरी पर खड़ा हो गया और अन्दर चला आया। गार्ड ने गुस्से से भर कर कहा—अगर एक्सीडैन्ट हो जाता तो...।

पत्नी बोली—अगर गिर पड़ते तो......।

उसने किसी की बात का जवाब नहीं दिया और चुपचाप पत्नी के पास जा बैठा। पल भर में ही यह

सब हो गया। गाड़ी ने स्टेशन की चहल पहल को पीछे छोड़ दिया और वह हरे भरे खेतों के बीच बड़ी तेज़ी से दौड़ने लगी। दूर के दरख़्त, नाले, नहर और ऊंचे नीचे टीले पास आ-आकर पीछे चलते गये। दो तीन कुत्ते शेख़ी में भर कर ट्रेन के साथ दौड़ने लगे, परन्तु दो तीन मिनट में ही सांस तोड़ बैठे। केवल खट खट पट पट की आवाज़ पटरी के साथ लगे हुये तार, डिब्बे में भरे हुये मुसाफिर और उनकी अलग अलग आवाज़ों के अतिरिक्त कोई और वस्तु न तो ठीक ठीक दिखाई पड़ती थी और न कुछ सुनाई देता था। उसका दिमाग़ अभी तक उन्हीं बातों से भरा हुआ था और आने वाले षड़यन्त्र का सिलसिलेवार प्लेन उसकी आंखों के सामने खिच गया था।

उसका बच्चा सो रहा था। उसने भी धीरे धीरे अपना सिर दिवार के सहारे टिका कर आखें मींच ली ताकि वह शान्ति से उन सारी बातो पर विचार कर सके, जिन्होंने उसके मन की शान्ति को नष्ट कर डाला था और उसे ख़ून के आंसू रुला रही थी...।

वह देर तक इसी अवस्था मे बैठा रहा कि सहसा चौंक पड़ा। किसी ने पुकारा—

मिस्टर! सुनते हो क्या हुआ आज?

क्या—वह बोला?

'मिस्टर 'टी' Defence of india Act में गिरफ़्तार कर लिये गये।'

'सच।'

'जी। मैं अभी उन्हे जेल में छोड़ आया हूं। उनकी तलाशी हुई थी और पुलिस का विश्वास है वह देश के दुश्मनों से मिला हुआ है।'

वह बड़े ज़ोर से हंस पड़ा। उसके सामने जेल का चित्र साकार हो उठा। उसने देखा उसके सामने जेल की चिर परिचित खिड़की है, जिसके बाहर लोगों की भीड़ लगी है। सब अपनी अपनी बात कह रहे हैं।

एक ने कहा—सरकारी आदमी ऐसा काम करेगें यह कौन सोच सकता है?

दूसरा बोला—अजी! आदमी के भीतर क्या क्या भरा है यह कौन जानता है?

'फिर भी मिस्टर 'टी' से यह उम्मीद नहीं थी'—तीसरा बोल उठा।

'ज़रूर किसी की शरारत है।'

'बेशक। देखो न कांग्रेस वालों से कितनी नफरत करता था।'

'अजी! सब को गालियां सुनता था।

जिसके जी मे जो आया उसने कहा, परन्तु उसका दिल ख़ुशी से उमड़ा पड़ता था। उसने धक्के दे दे कर सबको पीछे हटा दिया और वह खिड़की के सामने जा पहुंचा। मिस्टर 'टी' सिर झुकाये एक स्टूल पर बैठा था। उसके चेहरे पर पीलापन छा रहा था और आखे डर से भरी हुई थीं। उसने पुकारा—मिस्टर 'टी'! क्या हुआ यह? किस बदमाश की शरारत है?

मिस्टर 'टी' ने आखें उठाकर उसे देखा। चाहा मुस्करा दे, लेकिन बेबसी की हलकी सी छाया चेहरे पर फैल कर रह गई। वह इतना ही बोला—तक़दीर में ऐसा ही लिखा था दोस्त।

'फिर भी...!

'मैं तो कुछ जानता ही नहीं।'

तभी मिस्टर 'टी' के कई दोस्त रिश्तेदार आ पहुंचे। उसने गर्व से भर कर उन्हें देखा। सहानुभूति के नपे तुले पुराने शब्द उसे याद थे। लेकिन छाती के भीतर जो आनन्द उमड़ आया था, उसे दबाने में बड़ी कठिनाई जान पड़ रही थी। वह बहुत देर तक वहीं खड़ा बातें करता रहा। भीड़ हट गई। दोस्त भी चले गये। पता लगा परसों चालान पेश होगा। वह भी आदाबअर्ज़ करके लौट चला कि सुन पड़ा—सुनो तो······।

वह फिर मुड़ा। लेकिन अब न वहां जैल थी और न मिस्टर 'टी'। वह चौंक पड़ा। उसने देखा वह ट्रेन में बैठा है और उसकी पत्नी कह रही है—सुनो तो जंकशन आ गया। पानी लादो।

गाड़ी धीमी पड़ गई थी। बार बार पटरियां बदलने की खड़ खड़, चारो तरफ बिखरे पड़े माल,

एक्प्रेस, पैसेजंर, डाक गाड़ियों के डिब्बे केबिन और क्रॉसिंग के पास लोगों की भीड़ से साफ़ मालूम हो रहा था कि गाड़ी जंकशन पर आ गई थी। उसने आँखें मल कर पत्नी से कहा—मैं सो गया था।

'जी आप तो दो घण्टे से सो रहे हैं।'

वह उठा और पानी के लिये लोटा निकालने लगा कि उसकी नज़र सामने की सीट पर पड़ी—एक सिनरसीदा बुज़ुर्ग बैठे अजीब अदा से मुस्करा रहे थे। वह न जाने क्यों एक दम सोच गया—ये लोग सदा ही इस तरह मुस्कराते हैं। इनकी मुस्कराहट में विष भरा रहता है। दिल में ज़हर छुपा कर वाणी से अमृत बरसाने में ये बड़े कुशल हैं। न जाने कैसे? न जाने क्यों?… …सहसा वे वृद्ध पुरुष बड़े ज़ोर से खिल खिला पड़े और नीचे झुक कर उन्होंने एक बच्चे को उठा लिया……।

कि वह ज़ोर से पत्नी से बोला—मुन्ना कहां है?

पत्नी हंस पड़ी—वही तो है। बहुत देर से उधर खेल रहा है। डाढ़ी नोच डाली बेचारों की…।

अब उसने स्पष्ट देखा—हज़रत उन वृद्ध पुरुष की गोद में बैठे हंस रहे थे। कभी उनकी डाढ़ी खींचने को उचकते और कभी कमीज़ के बटनो पर झपटते, हाथ में शायद चश्मे का घर था, जिसे आप बेतकल्लुफ़ी के साथ सीट मे जोर जोर से मार रहे थे…।

उसे यह बुरा लगा। बोला—क्यों जाने दिया उसे? इन्हीं लोगों के कारण तो मुझे मुसीबत उठानी पड़ रही है…।

पत्नी बेबस सी बोली—मैं क्या करती जी। उनकी लड़की उठा कर ले गई। तभी एक ज़ोर का क़ह क़हा लगा। बच्चे ने वृद्ध की टोपी उतार कर फेंक दी थी और खल्वाट खोपड़ी में बड़े ज़ोर से चश्मे का घर दे मारा था। उसने यह सब देखा और झपट कर बच्चे को उठा लिया।

वृद्ध बोल उठे—

आपका बच्चा है।

'जी।'

'बड़ा नटखट है।'

पास बैठे दूसरे सज्जन बोल उठे—बच्चा नटखट ही ठीक है।

तीसरे ने पूछा—क्या उमर है जी इसकी?

'साल भर।'

'ख़ूब दौड़ता है।'

'सेहत बहुत अच्छी है।'

'ख़ूबसूरत कितना है।'

सबने अपने अपने मन की बात कही और बच्चा उसकी गोद से उतरकर फिर वृद्ध के पास चला गया। वह रोकना चाह कर भी रोक न सका। वह मुस्करा कर पानी लेने चला गया। लौटकर देखा १३-१४ वर्ष की एक लड़की उसके बच्चे को लिए बैठी है। उसकी गोदी में फल थे और दो एक स्टेशनों पर बिकने वाले खिलौने। बच्चे ने एक हाथ से सेब सभाला था और दूसरे में केला, जिसे खा जाने की वह व्यर्थ कोशिश कर रहा था। लड़की हंसती हंसती बोली—खाना भी नहीं आता गधे को?

और छील कर केला उसके मुह में भर दिया। बालक हंस पड़ा। लड़की वृद्ध पुरुष से बोली—देखो बाबा। केला कैसे खाता है। अपना नन्हा तो छूता भी नहीं।

वह मुस्करा कर रह गये। लड़की बड़े चाव से बच्चे को खिलाती और खाती रही। पुरुष की पत्नी ने यह सब देखा। धीरे से बोली—उसके साथ खा रहा है। बुला लो न जी?

उसने भी चाहा कि बच्चे को उठा ले, पर न जाने क्या ख़्याल आया, बोला—बच्चे के लिये जात पात का भेद नहीं होता। खा भी लेने दो कितनी मोहब्बत से खिला रही है।

पत्नी चुप हो गई। वह बहुत देर तक उन दोनों को देखता रहा। सोचता रहा—लड़की बच्चे को कितना प्यार करती है। शायद यह जानती नहीं कि इन्सान होकर भी यह बच्चा उससे कितना दूर है।… इसी के भाई बन्दो ने मुझे बेइज़्ज़त किया और मुझे तबाह करना चाहा।…लेकिन यह वृद्ध और

यह दूसरे लोग......शायद ये लोग समझदार हैं, शायद ये मुझे जानते नहीं .....सभी इन्सान तो एक जैसे नहीं होते,...इन्सान इन्सान है कहां ? यहां तो रंग रंग के लेबुल चिपकाये इन्सानतुमा शकल फिरती है......फिर भी भले आदमी तो सभी जगह होते हैं। ये लोग कितनी मोहब्बत दिखा रहे हैं··· नहीं ! यह धोखा है, मैं उसे नहीं छोड़ूंगा ········ ?

वह न जाने कब तक सोचता रहा कि अचानक चौंक पड़ा। किसी ने चिल्ला कर कहा—अरे ! बच्चा गिर गया।

'अरे ! ट्रेन रोको। ट्रेन रोको।

उसने गाड़ी के खुले दरवाज़े की ओर देखा कि लड़की उसी ओर लपक रही है। उसकी आंखों के आगे अंधेरा छा गया। वह चीख़ उठा—बच्चा ! किसका बच्चा ?

पत्नी घबरा कर उठी—मुन्ना कहां है ?

वे संभले कि गाड़ी रुक गई। वृद्ध ने जंजीर खींच ली थी। स्टेशन पर शोर मच गया। गाड़ी अभी प्लेटफार्म से निकली नहीं थी। बहुत से लोग नीचे उतर पड़े। वह सबसे आगे था। उसने जो कुछ देखा उससे सबके रोंगटे खड़े होगये—लड़की प्लेटफार्म पर चित्त पड़ी थी और उसके दोनों हाथ गाड़ी के पास नीचे लटके थे। उन हाथों में उसने बच्चे को संभाला था, जो बेतहाशा चीख़ रहा था······।

लोगों ने बच्चे और लड़की को हाथों पर उठा लिया। लड़की के हाथ ज़ख़्मी हो गये थे और बच्चे के सिर में चोट लगी थी। चोटें हल्की थीं और दोनों जीते जागते थे। क्षण भर में ही यह सब होगया। वह ठीक ठीक सोच भी न सका आख़िर यह कैसे हुआ ? उसके मास्तिष्क में तो भयंकर द्वन्द मचा हुआ था। वह लोगों की बातें सुन रहा था,—वे कह रहे थे—बचानेवाला बहुत बड़ा है।

जी हां ! उसी की माया है, नहीं तो गाड़ी के नीचे आकर भी क्या कोई बचता है।'

'लड़की हिम्मतवाली है साहब।'

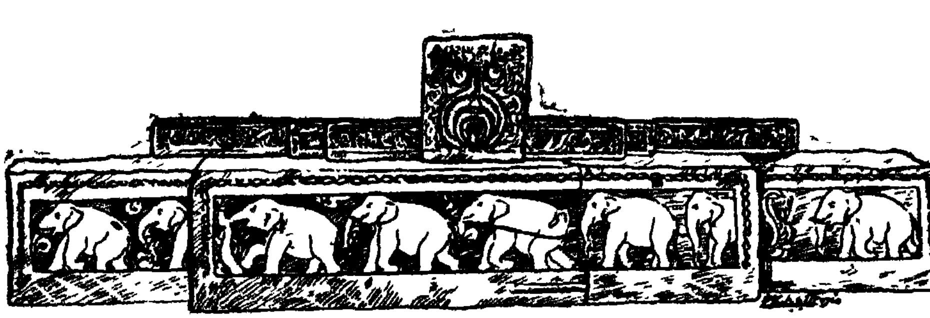
'उसका भाई तो था ही।'

तभी तो साहब !—बहिन की मोहब्बत अजीब होती है।'

उसके मुंह से भी निकला 'भाई बहिन' और सिर से पैर तक एक सिहरन सी दौड़ गई। वह गिर पड़ता अगर लोहे का डण्डा उसके हाथ में न आ जाता। उसने डण्डे को कसकर पकड़ लिया और उसके मुंह से फिर निकला 'भाई बहिन'। फिर तो चारो तरफ 'भाई बहिन' 'भाई बहिन' की आवाज़ें आने लगी...।

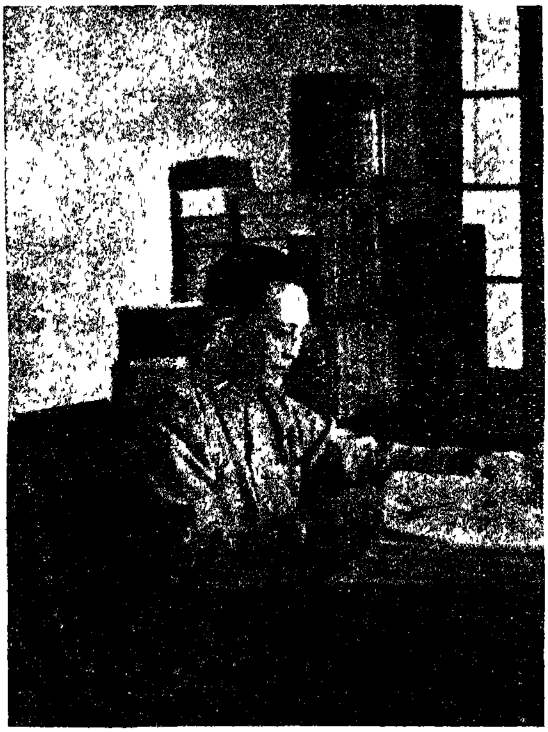
आगे बात इतनी हो गई कि दिल्ली जाकर उसने अपने मित्र को पत्र लिख दिया कि उसे दुःख है वह अब अपने ग़ैर मज़हबी दोस्त के विरुद्ध कोई कार्रवाई नहीं करना चाहता। वह उनकी सहायता और कृपा का बहुत मशकूर है। उसे आशा है भविष्य में भी उनकी कृपा बनी रहेगी......।

कहते हैं यह पत्र पढ़कर उसके मित्र ने कहा था। कि ऐसे ही बुज़दिलों के कारण जाति का नाश हुआ है।



चीन वालों का धर्म क्या है ?

प्रोफ़ैसर तान युन-शान



प्रोफ़ैसर तान युन-शान

जब मैं पहले पहल हिन्दुस्तान आया तो यहां के बहुत से दोस्तों ने मुझसे यह सवाल पूछा "आप किस धर्म के माननेवाले हैं ?" यह सवाल मुझसे जगह जगह पूछा जाता था। लेकिन मेरे लिये इसका जवाब देना इतना आसान न था। मैं सोचने लगता था कि इस सवाल से कैसे बचूं। मैंने अक्सर यह जवाब दिया "मैं चीनी धर्म का माननेवाला हूं।" इस पर एक और इससे भी ज़्यादा कठिन सवाल मुझसे किया जाता था, वह यह कि "चीनी धर्म क्या है ?"

"चीनी धर्म" एक ऐसा अनोखा वाक्य है कि विदेशियों का तो क्या कहना स्वयं चीनियों ने भी कभी इस वाक्य को न सुना होगा। जब मैंने इस वाक्य का उपयोग किया, तो मैंने उसी समय महसूस कर लिया कि यह कितना अनोखा वाक्य है। लेकिन इसके सिवाय मुझे और कोई ठीक उत्तर न सूझता था। इस पर दूसरे सवाल के जवाब में मैंने कहा "चीनी धर्म चीनी धर्म है।"

मेरा यह जवाब तर्कशास्त्र की दृष्टि से ठीक हो या न हो, सुननेवाला यही कहेगा कि "यह कोई जवाब नहीं।" उसका मतलब इससे हल नहीं हो सकता। लेकिन मैं भी कोई दूसरा जवाब दे ही न सकता था। कुछ इसी से मिलती जुलती हालत हिन्दू धर्म की है। फ़र्ज़ कीजिये मैं किसी अपने हिन्दू दोस्त से पूछूं—"तुम किस धर्म को मानते हो ?" तो वह जवाब देगा "हिन्दू धर्म"। फिर यदि मैं पूछूं "हिन्दू धर्म क्या है ?" तो वह या तो यह जवाब देगा कि "हिन्दू धर्म हिन्दू धर्म है" और या कहेगा "हिन्दू धर्म हिन्दुओं का धर्म है।" बात यह है कि इस तरह के धर्म में इतनी तरह तरह की चीज़ें मिली हुई होती हैं कि उसे इस तरह के सीधे सादे दो चार शब्दों के अन्दर प्रकट नहीं किया जा सकता। जैसे "ईसाई धर्म वह धर्म है जिसे हज़रत ईसा ने क़ायम किया था", या "इसलाम वह धर्म है जिसे हज़रत मोहम्मद ने क़ायम किया था।" इन दोनों जवाबों से भी हमारे ईसाई या मुसलमान दोस्तों की तसल्ली नहीं हो सकती। अब मेरा ऊपर का जवाब यद्यपि बिलकुल साफ़ नहीं है फिर भी समझा जा सकता है। जिस चीज़ को हम किसी देश के रहनेवालों का धर्म कहते हैं, वह उनके

सैकड़ों तरह के विचारों, भावनाओं, सोचने के तरीकों और उन पेचीदा प्रवृत्तियों और रुझानों की एक मिली हुई चीज़ होती है, जिसकी जड़ें उस देश की प्राचीन से प्राचीन परम्पराओं में होती है। इस सारे समूह या गोरखधन्धे को किसी एक छोटे से वाक्य, परिभाषा या तारीफ के अन्दर बन्द कर सकना असम्भव और बेमाइनें है। मेरा जवाब केवल इसी एक बात को साफ़ कर देना चाहता है। किसी दूसरी तरह सोचना ही असलियत से मुंह छिपाना है।

बहुत से चीनी और ग़ैर चीनी विद्वान कहते हैं कि चीन के जितने "धर्म" हैं, वे सब चीन के बाहर से गये हैं। जैसे बौद्ध धर्म हिन्दुस्तान से गया है, जरथुस्त्री धर्म ईरान से, इसलाम अरब से, ईसाई धर्म यूरोप और अमरीका से। और ख़ुद चीन के अन्दर कभी कोई धर्म पैदा नहीं हुआ। "कान्फ्यूशीयसका धर्म" जिस रूप मे प्रचलित है, उसकी बाबत ये लोग कहते हैं कि वह वास्तव मे कोई धर्म या मज़हब है ही नहीं, कान्फ्यूशियस दार्शनिक था, सदाचार पर ज़ोर देता था, राजनीतिज्ञ था, लड़के लड़कियों की शिक्षा के बारे में विशेषज्ञ था, लेकिन वह कोई धार्मिक नेता या धर्मसंस्थापक नहीं था। उसने जो कुछ उपदेश दिया और जो कुछ विचार फैलाये वे दर्शन से सम्बन्ध रखने हैं, सदाचार शास्त्र से सम्बन्ध रखते हैं, राजनीति से सम्बन्ध रखते हैं और शिक्षा के असूल से सम्बन्ध रखते हैं; लेकिन धर्म से उनका सम्बन्ध नहीं है। ऐसे ही दूसरे चीनी धर्म "ताओ धर्म" की बाबत ये लोग कहते हैं कि वह भी कोई धर्म या मज़हब नहीं है। लाओत्ज़े जो आमतौर पर ताओ धर्म का क़ायम करने वाला माना जाता है, इन लोगों की राय में, उसका असली क़ायम करने वाला नहीं था। ताओ धर्म का नाम चाङ्ग-ताओ-लिङ्ग के समय से यानी चीनी इतिहास के बाद के 'हान' राजकुल के समय से ईसा की दूसरी सदी के आस पास शुरू हुआ। लाओत्ज़े के उपदेश कुछ और ही हैं और ताओ धर्म के "जादू टोने" वगैरह बिलकुल एक अलग चीज़ हैं। सचमुच लाओत्ज़े केवल एक दार्शनिक था। वह कोई धार्मिक नेता नहीं था और ताओ धर्म भी धर्म या मज़हब नहीं कहा जा सकता। यदि यह विचार ठीक हैं, तब तो सचमुच "चीनी धर्म" नाम की चीन में कोई चीज़ नहीं है। बहुत से विद्वान ऐसे भी हैं, जो इस बात को एक तारीफ और गर्व की चीज़ समझते हैं कि चीन का अपना कोई धर्म नहीं। वे समझते हैं कि धर्म या मज़हब का मतलब ही यह है कि उसमें कुछ न कुछ फ़र्जी या अन्धविश्वास शामिल हैं। हर मज़हब अन्दर से अनुदार होता है और बाहर सबको अपने से अलग समझता है। हर मज़हब मनुष्य के स्वतन्त्र विचारों को क़ैद करना चाहता है और मुख़्तलिफ धर्मों मे अपने अपने धर्म के अन्दर भी झगड़े और नफ़रतें पैदा करता है, और एक धर्म को दूसरे धर्म के साथ भी लड़ाता है। चूंकि चीनियों का अपना कोई धर्म नहीं है, इसलिये चीनी लोग सोचने और राय क़ायम करने में बिलकुल स्वतन्त्र हैं। उनमे न किसी का पक्षपात है, न वे किसी को ग़ैर समझते हैं। अभी तक चीनियों में धार्मिक युद्ध या मज़हब के नाम पर लड़ाइयां नहीं हैं। चीनी इस आफत से बचे रहे हैं। जो धर्म भी बाहर से उनके देश में आया है, उसका उन्होंने स्वागत किया है, और धीरे धीरे उसे अपनी आवश्यकताओं के अनुसार अदल-बदल कर उसे पूरी तरह अपना लिया है, और अपने अन्दर हज़म कर लिया है। ये लोग कहते हैं कि चीनी संस्कृति के अन्दर इन अच्छे गुणों का होना चीन के लिये बड़ी ख़ुशी की और बड़े सौभाग्य की चीज़ है। हाल ही मे श्री लियाङ्ग-चि-चाओ नामी इस ज़माने के एक बहुत बड़े चीनी विद्वान हुए हैं। उनके विचार भी ठीक इसी ढङ्ग के विचार थे। इसके ख़िलाफ कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो समझते हैं कि चीन में चीनियों का अपना कोई धर्म न होना चीनी क़ौम के लिये बड़े ज़िल्लत की बात है। इन लोगों को यह देखकर बड़ा दुख होता है कि हमारा देश इस बात में दूसरे देशों की बराबरी नहीं कर सकता और उनसे घटिया है। मैं इन दोनों में किसी विचार-धारा के

साथ भी सहमत नहीं हूं। मैं समझता हूं चीन का अपना स्वदेशी धर्म है और वह "चीनी धर्म" है कान्फ्यूशियस और लाओत्से दोनों इस चीनी धर्म के दो सबसे बड़े महापुरुष या सन्त हुए हैं।

चीनी धर्म को समझने से पहले यह उचित है कि पहले इस बात को साफ साफ समझ लें कि धर्म क्या चीज़ है। कॉण्ट, फिक्टे, स्पाइनोज़ा, हीगल, श्लेर मैशर और बहुत से दूसरे दार्शनिकों और धर्माचार्यों ने समय समय पर धर्म की बहुत सी परिभाषाएं तय्यार की हैं। उन्हें यहां दोहराना अनावश्यक है। अपने इस लेख के लिये मैं धर्म शब्द की दो तरह से परिभाषा करना चाहता हूं। एक ज़रा तंग अर्थों में और दूसरी ज़रा उदार या व्यापक अर्थों में। पहली को "संकीर्ण धर्म" कहा जा सकता है और दूसरी को "व्यापक धर्म"। संकीर्ण धर्म में कम से कम पांच चीज़ों का होना ज़रूरी है। (१) कोई ख़ास पैग़म्बर जैसे ईसाई धर्म में हज़रत ईसा और इसलाम में हज़रत मोहम्मद, (२) एक ख़ास पूज्य देव, जैसे ईसाई धर्म का गॉड (God) और इसलाम का अल्लाह, (३) एक ख़ास साम्प्रदायिक संस्था जैसे ईसाइयों का गिरजा और मुसलमानों की मसजिद, (४) खास तरह के नियम कड़ाई से पालन करने के लिये जैसे ईसाइयों के दस हुकुमनामे और मुसलमानों के चार बुनियादी फ़र्ज़, (५) एक ख़ास तरह की रस्म जैसे ईसाइयों और मुसलमान दोनों के अपने अपने दुआ और नमाज़ के तरीक़े। इस तरह के धर्म को "व्यवस्थित धर्म" भी कहा जा सकता है। धर्म शब्द के व्यापक अर्थों में इस तरह की किसी चीज का होना ज़रूरी नहीं है। चीनी भाषा में धर्म या मज़हब के लिये 'त्सुङ्ग-चि-आओ' शब्द का इस्तेमाल किया जाता है। त्सुङ्ग का अर्थ है आदर और चि-आओ का अर्थ है उपदेश। त्सुङ्ग-चि-आओ का अर्थ है— अच्छे उपदेशों का आदर। इसका मतलब यह है कि पुराने ज़माने के सन्तों और महात्माओं के उपदेश सब लोगों के आदर के पात्र हैं और सबको उन पर अमल करना चाहिये। हमें अपनी रोज़मर्रा की ज़िन्दगी उन्हीं के अनुसार व्यतीत करनी चाहिये। धीरे धीरे दुनिया के आम लोग इस तरह के उपदेशों पर पूरी तरह और दृढ़ता के साथ विश्वास करने लगे और ये उपदेश ख़ुद एक बहुत बड़ी शक्ति बन गये। इस दृष्टि से हर ऐसे महान और क़ीमती उपदेश को, जिसे लोगों ने आदर के साथ मान लिया हो और जो लोगों के जीवन पर एक जीवित शक्ति की तरह असर डालता हो धर्म कहा जा सकता है। महात्मा बुद्ध के उपदेश इसी तरह का एक धर्म हैं, ईसा मसीह का उपदेश एक धर्म है, पैग़म्बर मोहम्मद का उपदेश एक धर्म है, लाओत्से के उपदेश एक धर्म हैं और कान्फ्यूशियस के उपदेश भी एक धर्म हैं। आजकल के हिन्दुस्तान में श्री रामकृष्ण परमहंस के उपदेश भी क़रीब क़रीब एक धर्म बन गये हैं। इसी तरह महात्मा गान्धी के उपदेश यदि अभी तक एक धर्म नहीं बने, तो मुमकिन है कि आइन्दा धर्म बन जावें। यदि मेरी याद मुझे धोखा नहीं देती, तो सन् १९२०, १९२१ में चीन में व्याख्यान देते हुए मिस्टर बर्टेण्ड रसल ने कहा था कि लेनिन के उसूल सोवियत् रूस के अन्दर एक तरह का धर्म बनाये हैं। एक अमरीकन विद्वान् ने चीनी प्रजातंत्र के जन्मदाता डाक्टर सुनयात सेन के सान-मिन सिद्धान्त को "राजनैतिक बाइबिल" यानी 'चीन का धर्म' कहा था। जिन पांच आवश्यक चीज़ों का मैंने ऊपर ज़िक्र किया है, वे किसी धर्म के लिये अपने उसूलों पर अमल कराने का केवल एक साधन हैं। अलग अलग धर्मों के लिये इस तरह के साधनों के रूप अलग अलग हो सकते हैं, लेकिन सब धर्मों के बुनियादी उसूल या उनकी मौलिक भावना एक ही है।

धर्म के इन दोनों पहलुओं को नज़र में रखते हुए अब हम चीनी धर्म को समझने की कोशिश कर सकते हैं और यह देख सकते हैं कि वह धर्म किस तरह से बना। जिस तरह चीन दुनिया के सबसे पुराने सभ्य देशों में से एक है, उसी तरह चीन के धर्म की जड़ें भी बहुत ही पुराने समय में मिलती हैं। जिस तरह चीन का देश फैलाव की दृष्टि से दुनिया के बड़े

से बड़े देशों में से है, उसी तरह चीनी धर्म में भी बहुत सी और तरह तरह की चीज़ें शामिल हैं। दुनिया की मुख्तलिफ़ क़ौमों के धर्मों के विकास की खोज करते हुए हमें पता चलता है कि ये धर्म अधिकतर किसी छोटे मोटे जड़ पदार्थ की पूजा से बढ़ते बढ़ते देवताओं या ईश्वर की पूजा तक, प्राकृतिक चीज़ों की पूजा से बढ़ते बढ़ते ईश्वर में विश्वास तक और बहुत से देवी देवताओं में विश्वास से बढ़ते बढ़ते एक परमेश्वर मे विश्वास तक पहुंचे हैं। लेकिन मालूम होता है कि चीनी धर्म का विकास इस तरह से नहीं हुआ। प्राचीन चीन में या चीन के सारे इतिहास मे कहीं किसी छोटे मोटे जड़ पदार्थ की पूजा का ज़िक्र नहीं आता, जैसे लकड़ी पत्थर वग़ैरह। इसमे मिलती जुलती कुछ चीज़े ज़रूर थीं। लेकिन जिसे यूरोप में 'टोटेम-पूजा' (Totemism) कहते हैं, वह चीन मे कभी नहीं रही। जानवरों या दरख़्तों की पूजा भी चीन मे कभी नहीं हुई। अत्यन्त प्राचीन समय से आजतक चीनी लोग 'तियन' (Tien) और 'ती' (Ti) यानी आसमान और ज़मीन इन दोनों की पूजा करते रहे हैं और सूरज, चाद, तारे, मेघ, आंधी, बिजली इत्यादि की और पहाड़ों दरियाओं और अलग अलग जगह की भूमिओं की भी पूजा करते रहे हैं। पिछले ज़माने में सम्राटों को, उनके वज़ीरों को और उनकी प्रजा को अलग अलग मौसमों में अलग अलग तरह की रस्मों के साथ इन क़ुदरती चीज़ों की पूजा करनी होती थी। इन पूजाओं की देख भाल करने के लिये खास अफ़सर नियुक्त थे। सम्राट जब तख़्त पर बैठता था, उसे आसमान (द्यौ) और ज़मीन (पृथ्वी) की पूजा करनी होती थी। छोटे मोटे सामन्त राजाओं को पहाड़ों और नदियों की पूजा करनी होती थी। आम जनता को अपने अपने इलाक़े की भूमि की पूजा करनी होती थी। सम्राट को कभी कभी ख़ुद यात्रा करके या अपने ख़ास दूत भेजकर ख़ास ख़ास मौक़ों पर ख़ास ख़ास पर्वतों या नदियों पर जाकर बलि देनी होती थी। जब कोई असाधारण घटना होती थी, तो असाधारण बलियां दी जाती थीं। मसलन सूर्यग्रहण पर सूर्य को बलि दी जाती थी, चन्द्रग्रहण पर चांद को। जब कोई बाढ़ आती थी या सूखा पड़ जाता था, तो मेघ, आंधी, बिजली और वर्षा के नाम पर बलि दी जाती थी। इनके अलावा बहार, गरमी, पतझड़ और सरदी इन चारों मौसमों में अलग अलग बलियां दी जाती थीं। चीनी लोग इन सब क़ुदरती चीज़ों को एक तरह की शख़्सीयतें और देवता समझते थे। वे समझते थे कि इन सब में अपना अपना व्यक्तित्व है और सब में इच्छा, प्रवृत्ति, और अपनी अपनी भावनाएं मौजूद हैं। इन सब में आसमान या आकाश या द्यौ सबसे ज़बरदस्त और सबसे बड़ा माना जाता था। उसे वे "शान्ति" यानी सर्वोच्च राजा या 'ति-एन-ति' यानी स्वर्गीय राजा कहते थे। उनका ख़याल था कि आसमान ही ने सारे विश्व को, घास के मैदानों को, मनुष्य जाति को और सब प्राणियों को बनाया है और उनको अपनी अपनी जगह क़ायम किया है। प्राचीन चीन के पुराणों में लिखा है कि "आसमान ने सब क़ौमों को, सब चीज़ों को और सब क़ायदे क़ानूनों को पैदा किया है। मनुष्य जीवन के सब दुःख सुख खुशक़िस्मती और बदक़िस्मती भी आसमान की ही इच्छा और आज्ञा पर निर्भर समझी जाती थीं। पुरानी किताबों में हमें इस तरह के वाक्य अकसर मिलते हैं "आसमान नेकी करने वालों को सैकड़ों तरह के सौभाग्य प्रदान करता है और बदी करने वालों को सैकड़ों तरह की सज़ाएं और मुसीबतें देता है।" चीन के सम्राट अपने को 'ति-एन-ज़ु' यानी आसमान का बेटा कहा करते थे। वे मानते थे कि आसमान ही के हुक्म से वे सम्राट बनाये गये और प्रजा पर राज्य करना उन्हें सौंपा गया। इसीलिये पुराने चीनी इतिहास में इस तरह के वाक्य मिलते हैं—"आसमान वेनवाङ्ग को राजा होने का हुक्म देता है," "आसमान का बेटा अपनी प्रजा का पिता है और दुनिया का मालिक है।" इसी तरह की सैकड़ों मिसालें दी जा सकती हैं। चीनियों की इस कल्पना या उनके इस रिवाज के

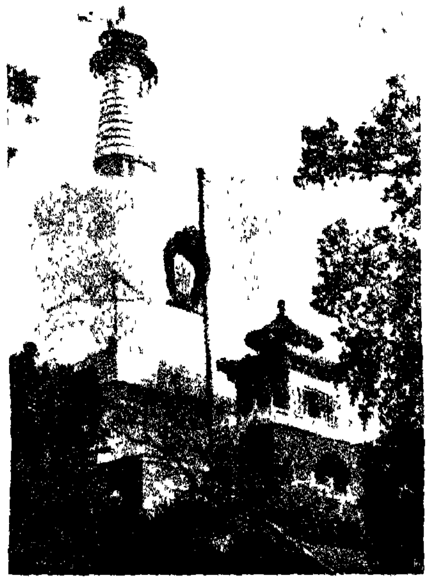
लिये विदेशी भाषाओं में ठीक शब्द मिलना मुश्किल है। इसे क़रीब क़रीब एक तरह की प्रकृति पूजा (Nature worship) या बहुत से देवी देवताओं की पूजा भी कहा जा सकता है। लेकिन इसे जड़ पदार्थों की पूजा (Fetichism) कहना ग़लत है। प्राचीन हिन्दुस्तान के "वैदिक ज़माने" के धर्म से यह चीज़ बहुत मिलती जुलती है। दोनों का समय भी क़रीब क़रीब एक था।

सृष्टि कैसे रची गई, इस बारे में भी हर धर्म में कुछ न कुछ कहानियां प्रचलित हैं। बाइबिल के पुराने अहदनामे मे लिखा है कि ईश्वर ने आसमान ज़मीन और सब जानदारों को सात दिन के अन्दर बनाया है। इस तरह की कहानियां चीन में भी प्रचलित हैं। चीन के आम लोग यह मानते हैं कि 'पान-कु' नामी एक देवता ने जिसकी आदमी की सी शक्ल थी और जिसके सात हाथ और आठ पैर थे और जिसकी उम्र अठारह हज़ार साल थी, सबसे पहले इस विश्व को और सब प्राणियों को रूप दिया। पान-कु की यह कल्पना ब्रह्मा की कल्पना से मिलती हुई है। लेकिन यह चीनी कहानी सिर्फ़ प्रचलित कहानियों में या सस्ते नाविलों में मिलती है, गम्भीर पुराणों में या धार्मिक ग्रन्थों में नहीं मिलती; जिससे पता चलता है कि यह कोई धार्मिक कथा नहीं थी, बल्कि लोगों की एक मामूली क़िस्सा कहानी थी। और या चीन के लोगों ने इसे हिन्दुस्तान के ब्रह्मा के क़िस्से को सुनकर अपने यहां यह क़िस्सा गढ़ लिया था। इसी तरह सब धर्मों में बिना इनसानी बाप के बच्चे होने के भी क़िस्से मौजूद हैं। कहा है कि बुद्ध की मां माया ने सफ़ेद हाथी को स्वप्न में देखा और उसे गर्भ रह गया और उसने बुद्ध को जन्म दिया। 'पवित्रात्मा' यानी 'होली गोस्ट' से ईसा की मां मरियम को गर्भ रहा और हज़रत ईसा पैदा हुए। इस तरह के फ़र्ज़ी क़िस्से चीन में भी बहुत प्रचलित हैं। कहते हैं कि हुआङ्ग-ति की मा को बड़ी चमकती हुई बिजली लगी और उसे हुआङ्ग-ति पैदा होगया। सम्राट या-ओ की मां का किसी लाल काल्पनिक अजदहे (Red bragon) से स्पर्श होगया और या-ओ पैदा हो गये। सम्राट शुन की मां ने सुन्दर इन्द्र धनुष को देखा और उसी से उनके शुन पैदा हो गये। लाओत्ज़े की बाबत कहा जाता है कि उनकी मांने एक तारे को टूटते हुए देख लिया था और उसी से लाओत्ज़े पैदा हुए थे। कान्फ्यूशियस की मां ने किसी काले देवता को स्वप्न में देखा, जिससे कान्फ्यूशियस पैदा हो गये। इस तरह के बेशुमार क़िस्से चीन में प्रचलित हैं। लेकिन चीन में इस तरह के क़िस्से केवल छोटी मोटी अप्रामाणिक किताबों ही में मिलते हैं, प्रामाणिक धार्मिक ग्रन्थों में नहीं। इसलिए लोग उनपर विश्वास नहीं करते। शुरू में अधिकतर धर्मों में जादू टोने, शकुन परीक्षा झाड़ फूक और फलित ज्योतिष का भी रिवाज रहा है। चीन में ख़ासकर शकुन देखने का रिवाज़ बहुत बढ़ा हुआ था। बड़े बड़े कामों के शुरू में चाहे वे क़ौमी काम हों या केवल व्यक्तियों के काम शकुन देखे जाते थे। शकुन देखने वाले पुरुष को 'हिस' और स्त्री को 'वु' कहा जाता था। आमतौर पर दोनों को 'वु-हिस' भी कहते थे। प्रामाणिक धर्म ग्रन्थों और इतिहास की किताबों में भी इसका ज़िक्र मिलता है। कुछ लोग सबसे पुराने चीनी पुराण 'यि-चिङ्ग' यानी परिवर्तन का फ़लसफ़ा (Philosophy of change) को शकुन देखने की किताब मानते हैं। लेकिन वास्तव में यह किताब दर्शनशास्त्र पर सबसे पुरानी और क़ीमती किताब है, जो कुछ कुछ हिन्दुस्तान के वेदों से मिलती हुई है। इस किताब में असली चीज़ यह है कि उसमें विश्व के क़ुदरती रहस्य को समझाने की कोशिश की गई है। शकुन परीक्षा यदि उसमें है भी तो किताब के बुनियादी विचारों के साथ शकुन परिक्षा का कोई सम्बन्ध नहीं है।

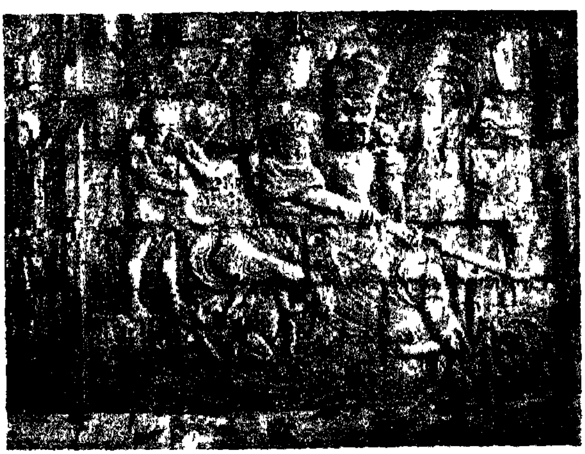
यह सब चीनी धर्म के केवल बहुत शुरू के पहलू थे। ज्यों ज्यों समय बीतता गया चीनी धर्म भी बदल कर प्राकृतिक पदार्थों और देवताओं की पूजा से हटकर मनुष्यों की पूजा की तरफ़ बढ़ा। यह मनुष्यों की पूजा दो तरह की थी। एक बड़े बड़े सन्तों और



शान्सि में छठवीं सदी की भगवान बुद्ध की मूर्ति



पीकिंग का प्रसिद्ध बौद्ध मन्दिर दागोबा



विरुधक नामक लोकपाल

[नानकू, चिह्ली के चुयुङ्ग कुआन नामक फाटक पर सन् १३४५ ईसवी का एक प्रस्तर चित्र]



पीकिंग के लामा मन्दिर का पुरोहित

महापुरुषों की पूजा और दूसरे अपने अपने पितरों की पूजा। सन्तों या महापुरुषों की पूजा पितरों की पूजा से पहले शुरू होती है और धीरे धीरे उसी से पितरों की पूजा का रिवाज़ चल पड़ता है। इसके अलावा यह पितर भी शुरू में बड़े बड़े सन्त या महापुरुष ही थे। उस ज़माने में घरेलू जीवन इतना व्यवस्थित नहीं हो पाया था कि जिससे अपने अपने पितरों की अलग अलग पूजा हो सकती। एक पुरानी धर्म पुस्तक में लिखा है "सब प्राणी आसमान से पैदा हुए हैं और सब मनुष्य एक आदि पुरुष की औलाद हैं। हमारे सब से पुराने पूर्वज ही हमारे संरक्षक और उपकार करने वाले हैं। चोऊ राजकुल के पिछले आधे ज़माने में जिसे 'पूर्वीय चोऊ युग' (७७० ई० पू० से २४७ ई० तक) कहते हैं, लाओत्से और कान्फ्यूशियस जैसे बड़े बड़े सन्त और दार्शनिक पैदा हुए। मनुष्य के ज्ञान में उस समय बहुत बड़ी वृद्धि हुई। चीनी धर्म में भी उस समय एक असाधारण क्रान्ति हुई। लाओत्से ने 'ति-एन' और 'ति' यानी आसमान और ज़मीन की पूजा के पुराने रिवाज़ पर सब से पहले हमला किया। लाओत्से ने कहा कि "न ति-एन हमारा उपकार करता है और न ति। ये दोनों लोगों को बेवकूफ बनाते हैं और उनसे एक दूसरे की गर्दन कटवाते हैं।" लाओत्से का उद्देश्य यह था कि विश्व की सब प्राकृतिक चीज़ों को विवेक और तर्क के साथ समझने की कोशिश की जावे, जिससे कि एक सच्चा और गहरा विज्ञान (Science) जन्म ले सके। एक बार लाओत्से ने कहा था "आदमी ज़मीन की नक़ल करता है, ज़मीन आसमान की नक़ल करता है, आसमान ताओ (प्रवृत्ति या गति) की नक़ल करता है और ताओ प्रकृति की।" एक दूसरी बार उसने कहा था "आसमान ज़मीन और सब प्राणी अस्तित्व से पैदा होते हैं और अस्तित्व शून्य से पैदा होता है।" एक और बार उसने कहा था "आसमान और ज़मीन के बनने से पहले कुछ था, जिसकी कोई शक्ल नहीं थी जो एक राज़ (रहस्य) था, जो किसी पर निर्भर नहीं था, जिसमें कोई तब्दीली नहीं होती थी, और जो बिना थके घूमता रहता था, वही विश्व की असली मा थी। मुझे नहीं मालूम उसे क्या नाम दिया जावे। इसलिए मैंने उसे ताओ कहना पसन्द किया। ताओ का मतलब है महा गति।" इससे यह ज़ाहिर है कि लाओत्से इस विश्व को और सब प्राणियों को एक क़ुदरती प्रगति का नतीजा मानता था। और यह मानता था कि वह क़ुदरती प्रगति न इनसान की ताक़त के अन्दर है और न आसमान या कोई देवता अपनी इच्छा से उसको बना सकता है। इसलिए आदमियों के लिये सब से अच्छा यह है कि वह क़ुदरत के अनुसार चले और क़ुदरत ही के मुताबिक़ उससे मिलकर चले। नहीं तो इसके ख़िलाफ़ चलने से न केवल क़ुदरत को नुक़सान पहुँचेगा, बल्कि हमारे ऊपर भी आफतें और मुसीबतें आती रहेंगी। इसीलिए लाओत्से इस बात पर ज़ोर देता था कि 'क़ुदरत क़ुदरत ही है, उसे ज़बरदस्ती बनाया या बदला नहीं जा सकता। उसके साथ ज़बरदस्ती करना उसे नाश कर देना है और उसे चिपट जाना उसे खो देना है।"

कान्फ्यूशियस ने सिर्फ मनुष्य के जीवन के बारे में ध्यान दिया और अपना सारा समय इसी में ख़र्च किया। उसने कभी आसमान और ज़मीन, क़ुदरती चीज़ों, देवी देवताओं, पितरों वग़ैरह की बाबत न गहराई से सोचा और न इनकी बाबत कुछ कहा। एकबार उसके एक प्रिय शिष्य चि-लू ने उससे पूछा—"देवताओं की सेवा कैसे की जावे ?" कान्फ्यूशियस ने जवाब दिया "अभी तुम यही नहीं जानते कि मनुष्य की सेवा कैसे की जाय, तो तुम देवताओं की सेवा के बारे में सवाल कैसे कर सकते हो ?" एकबार उसी शिष्य ने कान्फ्यूशियस से पूछा कि "मृत्यु क्या है ?" कान्फ्यूशियस ने जवाब दिया—"अभी तुम जीवन के बारे में ही कितना कम जानते हो, तो तुम मृत्यु के बारे में कुछ समझने की आशा कैसे कर सकते हो ? एक बार उसके एक दूसरे शिष्य त्सु कुङ्ग ने उससे पूछा—"मरने के

बाद लोगों में ज्ञान रहता है या नहीं ?" जवाब मिला—"मैं अगर यह कहूं कि ज्ञान रहता है, तो मुझे डर है कि बच्चे अपने ज़िन्दा माता पिता की तरफ से बेपरवाह हो जायंगे और मरने के बाद उनकी क्रिया कर्म को करके सन्तुष्ट रहेंगे। यदि मैं यह कहूं कि मरने के बाद लोगों में ज्ञान नहीं रहता, तो मुझे डर है कि आगे की नसलें अपने मरे हुये बुजुर्गों को ठीक ठीक दफन करना और उनकी आख़री क्रियाएं करना भी भूल जायगे। इसलिये ऐ मेरे प्यारे शिष्य, अगर तुम यह जानना चाहते हो कि मरने के बाद आदमी को ज्ञान रहता है या नहीं, तो इसकी अभी कोई जल्दी नहीं है; तुम्हें ख़ुद अपने मरने के बाद सब पता लग जावेगा।" एक बार जान-यु नामक एक शिष्य ने पूछा कि "क्या यह जान सकना असम्भव है कि आसमान और जमीन के पैदा होने के पहले क्या था ?" गुरु ने जवाब दिया "असम्भव नहीं है। जो हालत इस समय है वही पहले थी।" "शिष्य ने फिर पूछा "आपका क्या मतलब है ?" कान्फ्यूशियस ने जवाब दिया "आसमान और जमीन के साथ न कोई भूतकाल है और न कोई वर्तमान, आदि है और न अन्त। यदि पहले बच्चे न रहे होते, तो क्या कभी भी कोई बच्चे पैदा हो सकते थे ?" इस तरह के उपदेशों से हम आसानी से देख सकते हैं कि कान्फ्यूशियस सिर्फ इस दुनिया की चीजों और मनुष्य के जीवन से सम्बन्ध रखने वाली बातों पर ही विचार करता था, उन्हीं पर चर्चा करता था और उन्हीं पर उपदेश देता था। इससे यह हरगिज़ नहीं समझ लेना चाहिये कि कान्फ्यूशियस ने कभी आसमान और ज़मीन या देवताओं और पितरोंके अस्तित्व से इन्कार किया, या क़ुदरती चीज़ों को वह न समझता था। एकबार कान्फ्यूशियस ने कहा था—"नेक आदमी को तीन चीज़ों से डरना चाहिये। एक, आसमान के फ़ैसलों से, दूसरे, महापुरुषों से और तीसरे सन्तों के शब्दों से।" एक और मौक़े पर देवताओं को बलि या क़ुर्बानी चढ़ाने के बारे में कान्फ्यूशियस ने कहा था, "किसी देवता की पूजा करते समय आदमी को ऐसा महसूस करना चाहिये कि वह देवता उसकी आंख के सामने खड़ा है।" "यदि देवताओं के चढ़ावे की रस्म में मैं ख़ुद हिस्सा न लूं तो मेरे लिये ऐसा ही है कि देवताओं की पूजा हुई ही नहीं।" इससे कान्फ्यूशियस का मतलब केवल यह था कि लोगों के दिलों पर यह बात जमी रहे कि हमारे व्यक्तित्व से कहीं बढ़कर और हम सबसे ऊपर एक और शक्ति भी है, ताकि लोगों के दिलों में आदर और डर के भाव बने रहें और अहङ्कार या गर्व का जहर उनमें पैदा न हो पावे। वह चाहता था कि लोग आसमान की मरज़ी की असली क़दर करना सीखें और पितरों या आत्माओं के नाम पर चढावे चढाने की भी कद्र समझें। इसी-लिये वह इस बात पर ज़ोर देता था "देवताओं और पितरों की पूजा करो, लेकिन उनसे दूर रहो।" क्योंकि इस तरह के कामों को किसी स्वार्थ की दृष्टि से नहीं करना चाहिये, नहीं तो उनका असली मतलब और उनका असली मूल्य जाता रहेगा। थोड़े से शब्दों में कान्फ्यूशियस का उपदेश यह है कि यह सारा विश्व और हर एक प्राणी हर क्षण बदलता रहता है और मनुष्य जीवन का सबसे जरूरी पहलू उसका वर्तमान अस्तित्व है। केवल वर्तमान के द्वारा ही मनुष्य अपने भूतकाल का पता लगा सकता है, या अपने भविष्य के जानने की आशा कर सकता है। और केवल मनुष्य जीवन के द्वारा ही आदमी आसमान और ज़मीन देवताओं और पितरों और सब प्राणियों को समझने की आशा कर सकता है। इस तरह जब कि कान्फ्यूशियस ने मनुष्य को यह उपदेश दिया कि वह दूसरों के साथ अपने व्यवहार में सच्चा और वफादार रहे, अपने माता पिता का आदर करे और उनकी आज्ञा माने, अपने बचन को पूरा करे, सदाचारी रहे, सुशीलता और ईमानदारी का व्यवहार करे, शर्म से काम ले, पवित्र जीवन व्यतीत करे और हर तरह से अपने आप पर क़ाबू हासिल करे और अपनी आत्मा को पाक साफ़ रखे, तो कान्फ्यूशियस का लक्ष्य यह था कि मनुष्य पूर्ण

सौन्दर्य और कामिल नेकी को प्राप्त कर सके। जिसका साधन है अपनी रोज़मर्रा की ज़िन्दगी को नेक बनाकर विश्व के अन्दर सब प्राणियों और सब मनुष्यों के साथ अपने जीवन को एक करना। सदाचार का यह आदर्श ही चीनी धर्म का असली तत्व है। इससे एक बड़ा सुन्दर और सम्पूर्ण सदाचार शास्त्र या जीवन दर्शन तैयार हो जाता है, इसीलिये बहुत से लोग इसे "सदाचार की शिक्षा कहते हैं, कुछ लोग इसे 'यू० चि-आओ यानी विद्वानों की शिक्षा भी कहते हैं, और कुछ लोग इसे कान्फ्यूशियन धर्म (Confucianism) भी कहते हैं। असल मे इसके लिये सब से ठीक नाम "चीनी धर्म" है।

चिन और हान राजकुलों के समय मे बाहर के धर्मों ने धीरे धीरे चीन मे आना और इस शुरू के चीनी धर्म पर असर डालना शुरू किया। उनमें सबसे पहला बौद्ध धर्म था। दूसरा ईसाई धर्म और तीसरा इस्लाम। लेकिन चीनी धर्म के ऊपर इनमे सब से ज्यादा प्रभाव बौद्ध धर्म का पड़ा। यह धर्म क़रीब दो हज़ार वर्ष हुए चीन मे आया। अब यह चीनियों का दूसरा राष्ट्रीय धर्म है। चीनी धर्म के साथ यह बिलकुल मिल गया है और उसमें एक प्रकार से हजम हो गया है। बौद्ध धर्म और चीनी धर्म इन दोनों ने एक दूसरे की मदद मे उन्नति की है। बौद्ध धर्म ने चीनी धर्म को कहीं ज्यादा समृद्ध कर दिया है और चीनी धर्म ने बौद्ध धर्म को ज्यादा मालामाल कर दिया है। ईसाई धर्म हज़रत ईसा के सूली दिये जाने के थोड़े ही दिनों बाद चीन पहुँच गया था। चीनी भाषा में पहले इसे "चिन-चिआओ" कहते थे। मालूम होता है कि यह शब्द क्रिश्चियन शब्द के ग़लत उच्चारण या ग़लत अनुवाद से बना है। सबसे पहले यह धर्म चीन में जेज़ुइट सम्प्रदाय के पादरियों द्वारा पहुँचा। किन्तु उस समय इसका बहुत कम असर पड़ा है। लेकिन पिछली कुछ सदियों के अन्दर पहले यूरोप के पादरियों ने और फिर अमरीका के कुछ पादरियों ने नये सिरे से और बड़ी सफलता के साथ चीन में इसाई धर्म का प्रचार किया। आज नई शिक्षा पाए हुए लोगों में शहरों के अन्दर इस धर्म का ख़ासा असर है। मोहम्मद साहब के मरने के थोड़े ही दिनों बाद इसलाम भी चीन में पहुँचा और चीनी धर्म का एक महत्वपूर्ण अङ्ग बन गया। चीन के हाल के इतिहास में मुसलमानों की स्थिति ख़ासी चमकती हुई और ध्यान देने के क़ाबिल है। इन तीन बड़े बड़े बाहर के धर्मों के अलावा ज़रथुस्त्री धर्म और कुछ और छोटे छोटे धर्म भी चीन पहुँचे। लेकिन चीनियों के ऊपर उनका बहुत कम असर पड़ा और धीरे धीरे वे चीन से लोप हो गये।

लेकिन इस तरह के ज़बरदस्त बाहर के धर्मों के असर के होते हुए भी अभी तक चीनी धर्म अपनी शुरू की शक्ल मे और अपनी उसी मौलिक भावना के साथ मौजूद है। बाहर के जो धर्म एक बार चीन में आ गये, वे कम या ज्यादा चीनी बन गये और चीनी धर्म के ही अङ्ग हो गये। मसलन चीन का बौद्ध धर्म एक ख़ास 'चीनी बौद्ध धर्म' है। चीन का ईसाई धर्म भी 'चीनी ईसाई धर्म' है। और चीन का इस्लाम 'चीनी इस्लाम' है। चीनी धर्म की यह एक ख़ास विशेषता है कि चीन के अन्दर आकर यह सब अलग अलग विदेशी धर्म इस तरह एक दूसरे मे मिल जाते हैं और समा जाते हैं और चीन वाले उन सबसे इस तरह फ़ायदा उठा सकते हैं कि ये सब धर्म बिना किसी तरह के झगड़े, द्वेष या विरोध के एक दूसरे के साथ मिल कर चीन में रह सकते हैं। यही कारण है कि चीनी धर्म इतना गहरा, इतना समृद्ध, इतना व्यापक इतना विशाल और इतना माला माल है। इस समय चीनी धर्म की जो ऊपर की शक्लें हैं वे काफी पेचीदा हैं। जहा तक ऊपरी रस्म रिवाज का सम्बन्ध है चीन की आम जनता देश के बड़े बड़े सन्तों, महापुरुषों और अपने पूर्वजों के नाम पर चढ़ावे चढ़ाते हैं। साथ ही साथ वे आसमान और ज़मीन, देवताओं, पितरों, महात्मा बुद्ध, ईसा मसीह और पैग़म्बर मोहम्मद इन सब की भी पूजा करते हैं। क़रीब क़रीब हर घर के अन्दर बीच के कमरे की ऊपर की दीवार में एक छोटा सा पितरों का मन्दिर

होता है, जिसके सामने दिया जलता रहता है और रोज़ सुबह शाम धूप जलाई जाती है। शादी के मौक़े पर या किसी के मरने पर या किसी और मौसमी या दूसरे त्योहार के मौक़े पर पितरों के सामने ख़ास बलि दी जाती है। एक ही नस्ल, गोत्र या अल्ल के घरानों में सब 'घरानों का एक मिला हुआ मन्दिर' होता है। इस तरह के मन्दिरों में पितरों के जन्म दिन पर और मौसमी त्योहारों पर ख़ास तरह के भोज और कुर्बानियां होती हैं। गाव गाव में बौद्ध मठ हैं। और बहुत से देवताओं के मन्दिर हैं जहां किसान लोग और ख़ासकर औरतें पूजा करती हैं और चढ़ावे चढ़ाती हैं। शहरों में मसजिदें और गिरजे हैं, जिनमें ईसाई और मुसलमान जाकर नमाज़ पढते हैं और दुआयें करते हैं। लेकिन सबसे विचित्र बात यह है कि अकसर एक ही जगह मन्दिर के अन्दर अलग अलग धर्मों के देवी देवताओं और सन्त महात्माओं की मूर्तिया आदर से रखी हुई मिलती हैं। जहा तक लोगों के भावों का सम्बन्ध है चीनी लोग आमतौर पर एक तरफ तो सदाचार के नियमों को मानते और उन पर अमल करने की कोशिश करते हैं, और दूसरी तरफ क़िस्मत और शकुन परीक्षा में भी विश्वास करते हैं। एक तरफ वे बौद्ध धर्म, ईसाई धर्म और इसलाम के असूलों और सिद्धान्तों का अध्ययन करते हैं, और दूसरी तरफ तरह तरह के क्रान्तिकारी सिद्धान्तों और नए विज्ञान का स्वागत करते हैं। ये सब चीज़ें एक दूसरे के खिलाफ मालूम होती हैं। लेकिन चीन में यह सब मिल जुल कर और एक होकर साथ साथ रहती हैं। असलीयत यह है कि प्रकृति और विश्व, मनुष्य जाति और समाज इनमें कोई चीज़ भी ऐसी सरल नहीं है जिसके केवल एक ही पहलू हो। ये सब चीज़ें विस्तृत और पेचीदा हैं। इनमें से हर एक के कई कई पहलू हैं। मिसाल के तौर पर समुद्र किसी एक मछली ही का घर नहीं है और न पहाड़ केवल किसी एक जानवर के रहने ही की जगह है। वास्तव में मनुष्य के छोटे छोटे पक्षपात और हठधर्मी को छोड़कर इस दुनिया में कोई चीज़ें ऐसी नहीं हैं, जो एक दूसरे से मिल न सकती हों और एक दूसरे में समा न सकती हों। चीन का एक पुराना ग्रन्थ है जिसका नाम "महा विद्या" है। उसमें यह सुन्दर कहावत लिखी हुई है, "सब प्राणी बिना एक दूसरे को नुक़सान पहुंचाए उसी तरह साथ साथ रहते हैं, जिस तरह आकाश के सब नक्षत्र या गोले बिना एक दूसरे से टकराये बराबर बराबर अपने अपने रास्तों पर चलते रहते हैं। चीनी धर्म की पेचीदगी इसी भावना की ठोस मिसाल है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे हम कम से कम "मोटे तौर पर चीनी धर्म का अर्थ उसकी विशेषताएं और उसके विकास को समझ सकते हैं। अब हम इस बात को और साफ कर देने के लिये चीनी धर्म की मुख्य मुख्य विशेषताएं थोड़े से शब्दों में नीचे देते हैं—

(१) चीनी धर्म का केन्द्र सदाचार है। यह धर्म असली इनसानी चीज़ों और रोज़मर्रा की इनसानी ज़िन्दगी को ठीक करने पर ही ज़ोर देता है। इस धर्म का आध्यात्मिक लक्ष्य मनुष्य जीवन के अन्दर 'पूर्ण सौन्दर्य' और 'पूर्ण सदाचार' को साक्षात करना है। पुराने चीनी ग्रन्थों में इसे इस तरह सुन्दरता के साथ बयान किया गया है—" 'महा विद्या' का मार्ग' सदाचार को चमकाना और रोशन करना है; लोगों को ज्ञान की ज्योति में लाना है और पूर्ण सदाचार को साक्षात करना है।" और "आदमी का लक्ष्य पूर्ण सौन्दर्य और पूर्ण सदाचार होना चाहिये। मिस्टर बरट्रैण्ड रसल ने ठीक कहा है कि "चीनी लोग कला में हद दरजे का सौन्दर्य और जीवन में पूरी तरह विवेकी होने की कोशिश करते हैं।"

(२) इस पूर्ण सौन्दर्य और पूर्ण सदाचार को किस तरह साक्षात करने का तरीक़ा, अपनी अपनी शख़्सीयत, यानी अपने अपने व्यक्तित्व को कसना और ठीक करना एक चीनी धर्म ग्रन्थ के अन्दर है। इसके लिये यह नियम लिखा हुआ है—"वे पुराने लोग जो दुनिया में सदाचार या नेकी को चमकाना चाहते थे, पहले अपने अपने राज्यों या अपने अपने देशों का ठीक ठीक प्रबन्ध करते थे। अपने अपने

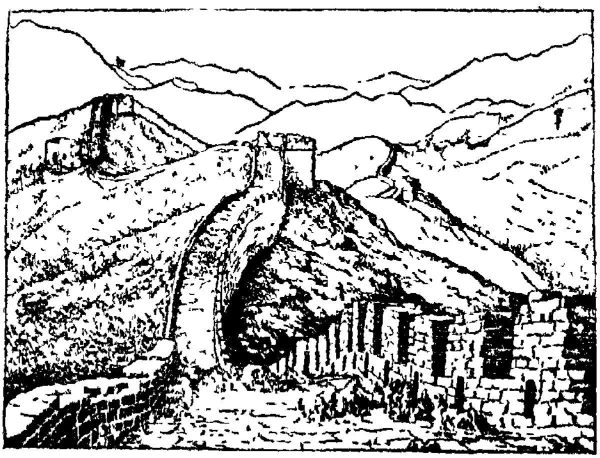
राज्यों का ठीक ठीक प्रबन्ध करने के लिये वे पहले अपने अपने कुटुम्बों का ठीक ठीक प्रबन्ध करते थे। अपने कुटुम्बों का ठीक प्रबन्ध करने के लिये वे पहले अपनी अपनी आत्मा का ठीक प्रबन्ध करते थे। अपनी अपनी आत्मा का ठीक प्रबन्ध करने के लिये वे पहले अपने अपने दिमाग़ों को ठीक करते थे। अपने दिमाग़ों को ठीक करने के लिये वे पहले अपनी इच्छाओं और कामनाओं को पाक करते थे। अपनी इच्छाओं को पाक करने के लिये वे पहले अपनी समझ को ठीक करते थे। उनकी यह समझ इस बात पर निर्भर होती थी कि वे चारों तरफ की चीज़ों को किस तरह देखते हैं। जब वे चीजों को ठीक ठीक देखना सीख लेते थे, तब उनकी समझ पक्की होती थी। जब उनकी समझ पक्की हो जाती थी तब उनकी इच्छाएं पवित्र होती थीं। जब उनकी इच्छाएं पवित्र हो जाती थीं, तब उनके दिमाग़ ठीक काम कर सकते थे। जब उनके दिमाग़ ठीक काम कर सकते थे, तब उनकी आत्माएं ठीक विकसित होती थीं। जब उनकी आत्माएं विकसित होतीं और खिलती थीं, तब उनके कुटुम्बों का ठीक ठीक प्रबन्ध होता था। जब कुटुम्बों का ठीक ठीक प्रबन्ध हो जाता था, तब उनके राज्यों का ठीक ठीक प्रबन्ध होता था; और जब अलग अलग राज्यों का ठीक ठीक प्रबन्ध हो जाता था, तब सारी दुनिया शान्त और सुखी हो सकती थी।"

(३) मनुष्यता उस ज़िन्दगी का नाम है, जिसमें मनुष्य मात्र मिलकर प्रेम के साथ एक होकर अविरोध भाव से रह सकें। हर एक अपने को आप और दूसरों को ग़ैर समझे, इस तरह का जीवन मनुष्यता नहीं है। मनुष्य जाति का अन्तिम लक्ष्य सब मनुष्यों की भलाई और सब का कल्याण प्राप्त करना होना चाहिये। इस जीवन का लक्ष्य न व्यक्ति है न कोई जाति और न कोई राज्य। एक दूसरी चीनी किताब में लिखा है—"प्रकृति की महान योजना में सारी दुनिया आज़ाद है और सारी दुनिया सबकी सम्पत्ति है। लोगों में जो बुद्धिमान और योग्य हों, उन्हें शासन करने के लिये चुनना चाहिये। सबके साथ सच्चा व्यवहार करना, वफ़ादार रहना और शान्त रहना ये गुण सबमें पैदा किये जाने चाहियें और सबमें रहने चाहियें। इतना ही काफी नहीं है कि आदमी अपने माता पिता से प्रेम करे और खुद अपने बच्चों से प्यार करे, बल्कि हर मनुष्य का यह भी धर्म है कि वह सब बूढ़े और कमज़ोर लोगों को आराम पहुंचाने और सुख देने की कोशिश करे; सब बड़े और मज़बूत लोगों को काम में लगावे और सब छोटों को उनके शारीरिक और मानसिक विकास में पूरी तरह मदद दे और सबकी सेवा करे। सबको चाहिये कि विधुरों, बेवाओं, यतीमों, असहायों, अपाहजों और बीमारों का ठीक ठीक इलाज और उनकी देख रेख करें। मनुष्य जीवन की योजना में हर पुरुष का अपना कर्तव्य है और स्त्री का अपना। ज़मीन के अन्दर से प्राकृतिक सम्पत्ति को निकाल कर उसे काम में लाना चाहिये। लेकिन अपने या किसी के व्यक्तिगत धन को बढ़ाने के लिये नहीं। हर आदमी को अपनी शारीरिक और मानसिक शक्तियों का पूरा पूरा उपयोग करना चाहिये। और उनसे पूरा पूरा काम लेना चाहिये। लेकिन अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिये नहीं। यदि यह अहतियात रक्खी जावेगी, तो न कोई षड्यन्त्र होगा और न कोई साज़िश, न चोरी होगी और न डकैती और हर घर के दरवाज़े रात भर खुले पड़े रहेंगे। इसी का नाम 'ता-तुङ्ग' यानी 'महान समन्वय' है।"

(४) 'ता-तुङ्ग' का यह उच्च लक्ष्य मनुष्य जाति के इस महान समन्वय के साथ पूरा नहीं हो जाता। बल्कि यह लक्ष्य सारे विश्व को और सब प्राणियों को एक करना चाहता है। पुराने चीनी धर्म ग्रन्थों में इस तरह के बहुत से उपदेशप्रद वाक्य मिलते हैं—"मनुष्य मात्र हमारे भाई हैं और सब प्राणी हमारे मित्र हैं", "जब से आसमान और ज़मीन है तभी से आदमी मौजूद है और प्राणि मात्र एक हैं," "सचाई का मतलब यह है कि न केवल अपने आपको ही

बल्कि सब चीज़ों को पूरे विकास और पूरी तरक्की तक पहुंचाया जावे," "महात्माओं के उपदेश बड़े ऊंचे हैं, सब प्राणियों के पूरे पूरे विकास में सहायक होना और ऊंची से ऊंची भावना के साथ आसमान से अपना नाता जोड़ना, यह काम कितना महान और कितना शानदार है।" 'आसमान हमें मीठी मीठी ओस देता है, ज़मीन हमें मीठा जल देती है, पहाड़ हमारे औज़ारों के लिये लकड़ी देते हैं, नदियें हमारे अध्ययन के लिये काफी सामग्री देती हैं। अनोखे अनोखे पशुपक्षी खेतों और जङ्गलों में खेलते हैं। दिव्य कछुए और अज़दहे समुद्र में आनन्द लेते हैं और सब तरह के प्राणी हमारे देखने, खोजने और अध्ययन करने के लिये मौजूद हैं।"

इन चारों में पहली दो बातों से पता चलता है कि चीनी धर्म सदाचार की शिक्षा या मानवता की शिक्षा कहा जा सकता है। आखिरी दोनों बातों से चीनी धर्म को 'ता-तुङ्ग' की शिक्षा या 'महान सामञ्जस्य की शिक्षा' या 'सारा विश्व एक या एक कुटुम्ब है'—इस बात की शिक्षा कहा जा सकता है। लेकिन अगर हम चीनी धर्म को अपने परम्परागत रस्मरिवाजों से मिलाकर देखें, तो मैं उसे केवल "चीनी धर्म" कहना ही ज़्यादा पसन्द करूंगा।



चेतना का संस्कार

श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन



श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन

मानव के लातीनी नाम का अर्थ होता है 'बुद्धि-प्राण जीव ।' निस्सन्देह यह मानव की एक शक्ति की प्रशस्ति है, किन्तु यह कहना कठिन है कि इस शक्ति का उचित प्रयोग प्रत्येक मानव करता है। चेतन तो प्रत्येक मानव है, परन्तु यह चेतनता उस सीमा तक उपेक्षाकृत बहुत कम व्यक्तियों में पहुँचती है, जिस पर पहुँच कर वह बुद्धि की अभिधा प्राप्त कर सके। आज मानव की किसी शक्ति का प्रयोग हम व्यापक रूप में देख सकते हैं, तो वह वास्तव में मानव की कोई शक्ति नहीं है; मानव द्वारा वशीकृत जड़ पदार्थ की शक्ति है। आज निस्सन्देह सत्ता का युग है, लेकिन वह सत्ता पैसे की है, धातु की है, यन्त्र की है, आर्थिक संगठन की है।

क्या यह परिस्थिति वाञ्छनीय है ? क्या, जैसा कि कुछ लोगों का दावा है, यह वास्तव में जनतन्त्र के चरम विकास की अवस्था है ? क्या जो संघर्ष आज संसार को व्याप रहा है, और जिसका प्रत्येक परिवर्तन उसे व्यापकतर बनाता जा रहा है, वह वास्तव में उसी सत्ता के विकास से उत्पन्न नहीं हुआ, जिसे हम संस्कृति और संस्कृति का मुकुट जानते हैं ? सूत्र रूप में कहा जाता है कि यह संघर्ष दो विचार-परिपाटियों का संघर्ष है—जनतन्त्रवाद का और अधिनायकवाद का। किन्तु क्या गहराई तक जाकर देखने से यही परिणाम नहीं निकलता कि इन दोनों का संघर्ष दो अत्यन्त भिन्न शक्तियों का संघर्ष नहीं, बल्कि एक ही शक्ति के अनिवार्य अन्तर्विरोध का भीषण विस्फोट मात्र ? उलझन के युग में अकेली बुद्धि अपर्याप्त जान पड़ने लगती है, किन्तु हमें पहले समस्याओं को बुद्धि के प्रकाश में तो देखना ही चाहिये। बुद्धि अपर्याप्त हो सकती है, किन्तु ऐसी पूर्व धारणा बनाकर चलना भूल होगी, और ऐसा परिणाम निकालने के लिए बुद्धि का प्रयोग आवश्यक होगा।

सबसे पहले अपने युग की कुछ विशेषताओं का निरूपण किया जाय। युग लक्षणों में पहला यह है कि हमारे पास अभूतपूर्व सत्ता है। इतनी सत्ता किसी युग में, किसी जाति या समाज या वर्ग के पास नहीं हुई। यांत्रिक आविष्कारों की सहायता से हमने अपनी मूल शारीरिक सामर्थ्य को बहुत प्रसारित कर लिया है। बोझा उठाने की मशीनों के द्वारा हमने अपनी भुजाओं का बल सहस्र गुना बढ़ा लिया है। रेलों और मोटरों के आविष्कार से हमने अपने पैरों की

गति असंख्य गुना तीव्र कर ली है, विराट् उत्पादन की कलें मानों असंख्य नये मज़दूर हैं और अनेक प्रकार के गणक यंत्र मानों उतने ही परिष्कृत सहायक मस्तिष्क हैं।

सत्ता के इस बहुमुख अधिकरण का परिणाम क्या हुआ है? स्पष्ट है कि हमारी सामर्थ्य—रचना करने की भी और विनाश करने की भी—पिछले किसी भी युग की अपेक्षा कई गुनी बढ़ गई है। लेकिन शोचनीय बात यह है कि इस शक्ति वृद्धि के साथ हमारी विवेक वृद्धि उसी अनुपात में नहीं हुई। सत्ता हमारे पास है, सत्ता का ज्ञान भी हमें है, लेकिन सत्ता का उचित प्रयोग करने की समझ हमें नहीं है। अपनी इस विराट् सत्ता के आगे हम स्वयं विवश-से हैं। हम कह सकते हैं कि सत्ता और विवेक का यह वैषम्य, *यह मौलिक विसंगति ही हमारी सभ्यता का* विशेष लक्षण है—सभ्यता का विशेष लक्षण भी, और विशेष ख़तरा भी। हमारी सभ्यता की, और हमारे युग की बुनियादी समस्या यही है कि किस प्रकार अपने विवेक का इस हद तक परिष्कार किया जा सके कि हम अपनी बढ़ी हुई और बढ़ती हुई शक्ति की ललकार का सामना कर सकें, उस शक्ति को कूलबद्ध करके नियमित करने की सामर्थ्य अपने भीतर उत्पन्न कर सकें।

समस्या का एक उदाहरण लीजिए। प्राकृतिक साधनों का, अर्थात् जीवन के स्थूल उपकरणों का, नियंत्रण करने में हम अपने पूर्वजों से कहीं आगे बढ़ गए हैं। किन्तु व्यक्तिगत आचार-नियंत्रण के क्षेत्र में हमने क्या किया है? और सामाजिक जीवन के नियंत्रण में हम कितना आगे बढ़े हैं? क्या हम कह सकते हैं कि पहले क्षेत्र में हम मनु या याज्ञवल्क्य से, या दूसरे में प्राचीन जानपदों से या यूनानी जनतंत्र से उसी अनुपात में आगे बढ़ गये हैं, जितना कि कृषि-विज्ञान के क्षेत्र में आज का ट्रैक्टर (Tractor) प्राचीन युग की मिट्टी गोड़ने की खुरपी है? हमें मानना पड़ेगा कि भौतिक विकास के साथ हमारा आत्मिक विकास नहीं चल सका है।

यह वैषम्य इतना तीव्र है कि कहीं-कहीं यह शंका भी होने लगती है कि शायद भौतिक विकास के साथ-साथ हमारा आध्यात्मिक ह्रास होता गया है—कि भौतिक शक्तियों पर हमारी पकड़ जितनी दृढ़ होती गई है, आत्मा की प्रवृत्तियों पर हमारा वश उतना ही निर्बल होता गया है। धर्म का—चाहे उस धर्म को एक रूढ़ि ही कह लें—महत्व आधुनिक जीवन में घटता चला गया है और नैतिकता की चेतना क्षीण होती गई है। फलतः एक विशेष प्रकार का भोगवाद आधुनिक मानव के मन पर छाता गया है, और उसकी नैतिकता की आंखों की ज्योति मन्द पड़ती गई है। उसकी नैतिक दृष्टि ने तात्कालिक अगले कदम से परे कुछ भी देखना अनावश्यक मान लिया है। तात्कालिक सुख, तात्कालिक सिद्धि, तात्कालिक *सफलता ही मानो उसके प्रत्येक कार्य की एक मात्र* कसौटी हो गई है। इसे छोड़कर कोई दूसरी कसौटी उसे सहन नहीं होती, और दूसरी ओर इस कसौटी से यदि उसकी बुद्धि अथवा चेतना बिल्कुल ही भर नहीं गई है तो—उसे कोई स्थायी सन्तोष या शक्ति नहीं मिलती। इस विराट् क्रिया को समझने के लिए आधुनिक हिन्दी-काव्य में बड़े वेग के साथ जो भोग-वादी लहर आई, और उतने ही वेग के साथ स्खलित और खण्डित होकर एक विक्षोभ और अपर्याप्तता की भावना में परिणत हो गई, वह इसका एक सांकेतिक उदाहरण है।

यह परिस्थिति वैषम्य क्रमशः कितना असह्य होता जा रहा है, इसका न्यूनाधिक अनुभव अनेक विचारकों ने किया है। उदाहरणतया वेल्स ने बार-बार यह कहा है कि आधुनिक सभ्यता की सबसे बड़ी त्रुटि और सबसे बड़ा ख़तरा यही है कि उसने युवाओं और युवतियों की शक्तियों के लिए उपयुक्त मार्ग, प्रतिभा के लिए उपयुक्त क्षेत्र, और आकांक्षाओं के लिए उपयुक्त वस्तुएं नहीं प्रस्तुत कीं। आधुनिक मनस्तत्ववेत्ताओं ने तो बार बार सभ्यता की इस अक्षमता और अपर्याप्तता का उल्लेख किया है।

संक्षेप में, इस वैषम्य ने विफलता और असन्तोष की जो भावना उत्पन्न की है, उसके भीतर से या उसकी आड़ में से दो प्रवृत्तियां ऐसी प्रकट होती हैं, जिनकी रचनात्मक सम्भावनाएं हो सकती हैं। पहली, अपने भौतिक और आध्यात्मिक विकास की विसंगति का—अपने ज्ञान और अपने विवेक की विषमता का—अनुभव; दूसरी, शिक्षित और संस्कृत व्यक्तियों को सन्तुष्ट कर सकने वाली किसी धार्मिक रूढ़ि की कमी और इस शून्य से उत्पन्न होने वाला असन्तोष और आन्तरिक आक्रोश। इन दोनों प्रवृत्तियों से पार पाने वाला जीवन की उद्देश्यहीनता का ज्ञान मानव को प्रेरित करता है, कि वह नये उद्देश्य की खोज करे। प्रकृति का नियम है कि वह शून्य को सहन नहीं करती, भौतिक विज्ञान का यह सत्य आध्यात्मिक क्षेत्र में भी लागू होता है। इसी बात को किसी दार्शनिक ने यों कहा है कि मानव स्वभावतया श्रद्धावान् है, यदि उसे श्रद्धा के लिए योग्य पात्र नहीं मिलेगा, तो वह उसे अयोग्य पात्र को ही दे देगा। निस्सन्देह मानव अपने ह्रासगत धर्म और आचार शास्त्र के स्थान में किसी नई पद्धति की उद्‌भावना करेगा। ऐसा कब होगा, यह नहीं कहा जा सकता। कहा केवल इतना जा सकता है, कि ऐसा होना अनिवार्य है।

यदि यह ठीक है, कि सभ्यता की वर्तमान अवस्था की मूल विसंगति यही है कि उसने साधनों के विकास और नियन्त्रण की दौड़ में साध्य को भुला दिया है; तब परिणाम यह निकलता है कि परिस्थिति का सुधार करने के लिये यह आवश्यक है कि वह जीवन के लिये नये साध्य, नये उद्देश्य खोज निकाले, नये आदर्शों की प्रतिष्ठा करे। किन्तु आदर्श तो मानव की चेतना के ही अनुरूप हो सकते हैं। उसकी चेतना जितनी अधिक या कम विकसित होगी, उसको उतना ही दूर व्यापी या तात्कालिक आदर्श आकर्षित करेगा। अभी तक मानव के कार्यों की मौलिक प्रेरणाएं स्वार्थ और अहङ्कार से अनुप्राणित रही हैं। इसीलिये अभी तक मानवीय चेतना के लिए सत्ता का—सम्पत्ति और सुख का—आकर्षण सबसे तीव्र रहा है। इस परिस्थिति में सुधार तभी सम्भव है, जब कि मानव नये आदर्शों की स्थापना करे—अर्थात् उसके कर्म एक नये प्रकार की प्रेरणा द्वारा अनुप्राणित हों—मानव ही एक नये प्रकार का प्राणी हो। यदि हमारा अब तक का विकास कुछ भी अर्थ रखता है, तो उसकी मांग यह है कि हम जीवन के प्रवाह की दिशा को बदलें। या यों कहें कि सभ्यता के विकास की गति में हम जहां तक पहुंच गये हैं, उससे आगे बढ़ने के लिए मानवीय चेतना को परिष्कृत करना, उसे एक नया संस्कार देना अनिवार्य है।

यदि हम जीवन-विकास का क्रमागत अध्ययन करें, तो हम पायेंगे कि इसे दो मुख्य युगों में विभाजित किया जा सकता है। पहला युग मुख्यतया शारीरिक विकास का युग था। प्रारम्भिक कोषबद्ध जीवाणु से उत्तरोत्तर बड़े जीवों का विकास हुआ, और फिर निरी स्थूलता को छोड़कर विकास की गति अधिक जटिल आकारों का निर्माण करने लगी। अमीबा (Amoeba) से लेकर डाइनोसार (dinosaur) अथवा ब्राटोसार (brontosaur) आदि महाकाय जन्तुओं तक पहुँच कर प्रकृति के कुशल हाथों ने अन्य प्रकार के जीव-जन्तु बनाने आरम्भ किए, जो इनसे अधिक बड़े नहीं लेकिन अधिक समर्थ थे। इसी क्रम में अनेक प्रकार के बन्दर आये और फिर प्राकृतिक सृष्टि का अवातंर मानव। मानव निरे शारीरिक विकास की मानो अन्तिम सीढ़ी है। यहां से और आगे बढ़ने के लिए विकास की क्रिया को एक नयी दिशा ग्रहण करनी पड़ी—विकास के दूसरे युग का आरम्भ हुआ, जिसे हम वैज्ञानिक युग अथवा आविष्कार-युग कह सकते हैं। इस युग में मानव ने नये नये आविष्कारों द्वारा अपनी सत्ता को प्रसारित और अपने जीवन-क्षेत्र को विकसित किया। इस क्रिया को जीव-विज्ञान की दृष्टि से देखें तो कहना होगा कि इस प्रकार मानव ने अपने शारीरिक सामर्थ्य को ही नई दिशाओं में विकसित

किया। क्योंकि ये सब यन्त्र और कलें मानव के लिए नये अंग और नये अवयव होती हैं।

निस्सन्देह वैज्ञानिक विकास का युग शारीरिक विकास के युग की तुलना में बहुत अल्पकालिक रहा है, किन्तु इन कई हजार वर्षों के आविष्कारशील जीवन के बाद ऐसा जान पड़ने लगा है कि यह दूसरा युग भी समाप्त हो चला है। नये आविष्कारों के बीच भी ऐसे लक्षण दीखने लगे हैं, जिनसे शंका होती है कि युगान्तकालीन ह्रास का आरम्भ हो गया है। उदाहरणतया विज्ञान मे विशेषीकरण (specialisation) बढ़ता जा रहा है, और समन्वय की प्रवृत्ति बिल्कुल नहीं है। वैज्ञानिक लोग अपने क्षेत्र में नित्य नये आविष्कार करते हैं, परन्तु ये आविष्कार एक दूसरे पर घटित नहीं किए जाते, अत्यन्त असम्बद्ध ही रह जाते हैं। ज्ञान की इन विभिन्न प्रवृत्तियों को एक ही सूत्र में गथनेवाली शक्ति— दर्शन अथवा अध्यात्म अथवा धर्म—की सब ओर उपेक्षा होती है। साथ ही नित्य नये उपकरण आविष्कृत हो जाते हैं, नये साधन जुटते जाते हैं, जिनका उपयोग करने की योग्यता हममें नहीं है।

इन संकेतों से एक नये युगपरिवर्त्तन की सम्भावना होती है। विकास क्रमागत होता है, लेकिन यह स्थापना डार्विन के समय ही हो गई थी कि विकास-गति में इस क्रमागत परिवर्त्तन के अतिरिक्त एक दूसरे प्रकार का अनियमित परिवर्त्तन भी होता है, जिसे हम दिशा-परिवर्त्तन (mutation) कह सकते हैं। यों कहें कि जब किसी एक दिशा का विकास अपनी अन्तिम अवस्था तक पहुँच जाता है, तब किसी ऐसे अनियमित परिवर्त्तन द्वारा ही उसकी शक्ति एक नई दिशा में प्रवाहित हो जाती है। यदि ऐसा न होता, तो विकास-गति अब तक अनेक बन्द गलियों या कटरों में उलझ कर रह गई होती।

प्रश्न होता है, कि यदि हम किसी ऐसे मौलिक परिवर्त्तन की देहरी पर खड़े हैं, तो वह परिवर्त्तन कौन सी दिशा लेगा, और उसके सम्बन्ध में हमारा कर्त्तव्य क्या है? इसका उत्तर संकेत रूप में दिया जा चुका है। शरीर के और बुद्धि के विकास के बाद अब उसकी गति हमारे जीवन के तीसरे स्तर को अपनाएगी—अर्थात् विकास अब चेतना के क्षेत्र में क्रियाशील होगा। मानव को एक नई संवेदना शक्ति एक नई आत्मा, एक नई और अधिक विस्तृत चेतना प्राप्त करनी होगी, जिसके द्वारा वह जीवन के नये साध्यों की उद्भावना कर सके, और उनका अनुसरण कर सके—ऐसे साध्य, ऐसे आदर्श, जो साधनों पर पाई हुई उसकी सम्पूर्ण विजय के अनुरूप हों। किन्तु यह सब तभी हो सकता है, जब कि स्वयं मानव ही इसमें योग दे। विकास की—जीवन की ही—गति क्रमशः तीव्रतर होती जा रही है, और युगपरिवर्त्तन अपेक्षाकृत कम काल में होते हैं। एक युगान्त और दूसरे युगान्त के बीच का अन्तराल—युगारम्भ और युगान्त के बीच की अवधि—छोटी होती जाती है, और उससे लाभ उठाने के लिए हमारा उसमें सहायक होना आवश्यक हो गया है। और अब, जब चेतना के ही संस्कार का प्रश्न है, तब यह एकान्त अनिवार्य है कि उसमें हमारा सचेतन उद्योग लगा हो। विकास की अगली सीढ़ी में मानव की कल्पना भी प्रासंगिक हो गई है।

समस्या जितनी स्पष्ट है, उसका अन्तिम निराकरण उतना स्पष्ट तो नहीं है। न यह आवश्यक ही है कि वह उतनी स्पष्ट हो। वैसे चेतना के पुनः संस्कार के परिणामों का कुछ स्थूल निरूपण अवश्य हो सकता है। सबसे महत्व की बात यह होगी कि हमारे चेतन और अवचेतन मनों के अवरोध मिट जायंगे। चेतन और अवचेतन के बीच जो अवरोध और विपर्यास इस समय दीखता है, और जो आधुनिक मनोविज्ञान के सहारे क्रमशः स्पष्टतर होता गया है, वह शायद उसी के सहारे दूर भी हो जायगा। तब इस अन्तर्विरोध की हालत में स्थायित्व लाने के गुरुतर कार्य में लगी हुई हमारी शक्तियां चेतन और अवचेतन के संघर्ष का दमन करने में व्यय होने वाली आत्मिक शक्ति का अजस्र भण्डार इस कार्य से मुक्त होकर पुनः रचनात्मक कार्य के लिए उपलब्ध होगा।

हम यह ज्ञान प्राप्त करेंगे कि जीवन मात्र एक अखण्ड इकाई है। जिसके साथ हमारा चेतन-सम्बन्ध भी उतना ही गहरा होगा, जितना कि हमारे बिना जाने हमारे अवचेतन का सम्बन्ध रहा है। नई अन्तर्दृष्टि पाकर हम सत्य के निकटतर जा सकेंगे; तत्वचिन्तन ही नहीं, प्रत्यक्ष तत्वज्ञान भी प्राप्त कर सकेंगे। और यद्यपि यह सूझ अभी कुछ हास्यास्पद-सी जान पड़ेगी—हम काम वासना के चंगुल से निकल सकेंगे। शायद वेदना की अनुभूति से ऊपर उठ सकेंगे, और निस्सन्देह मानवीय सम्बन्धों और व्यापारों के लिए कोई अहिंसा मूलक आधार दृढ निकालेंगे।

आस्तिकता के प्रश्न को एक तरफ भी रख दें, तो भी विकास की गति के सम्बन्ध में एक प्रश्न अवश्य उठता है, क्या विकास का कोई ध्येय है? जिस वृहत् और व्यापक क्रिया को आज विकास की अभिधा से जानते हैं, उसके पीछे कोई उतना ही विराट् रचनात्मक उद्देश्य भी है, या वह केवल एक स्फुरण है, जो देश, काल और परिस्थियों के आकस्मिक परिवर्त्तनों के अनुरूप बदलती रहती है, और इससे विशालतर कोई अर्थ, कोई अभिप्राय नहीं रखती? आधुनिक जीव-विज्ञान के पास इस प्रश्न का उत्तर नहीं है। वह अधिक से अधिक यही कहता है कि इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि विकास सोद्देश्य है। आधुनिक वैज्ञानिक प्रायः इस बात को स्वीकार करने को तय्यार नहीं होंगे कि विकास सोद्देश्य है। क्योंकि यह कैसे हो सकता है कि एक शक्ति आरंभ में अन्धी रही हो और विकास-क्रम में 'सप्राण' हो जाय, सोद्देश्य रूप ग्रहण कर ले? दूसरी ओर यदि वह आरम्भ से ही सोद्देश्य थी, तो क्यों नहीं आरंभ से ही हमें चैतन्य के लक्षण दीखने, क्यों जीव-युग अपेक्षाकृत इतना छोटा है? ये प्रश्न विचारणीय अवश्य हैं, किन्तु जहां वैज्ञानिक यह कहता है कि सोद्देश्यता का कोई प्रमाण नहीं है, वहां उसे यह भी स्वीकार करना ही चाहिये कि उसके विरुद्ध भी कोई अकाट्य युक्ति नहीं है। यदि जड़ से जीवन की सृष्टि हो सकती है—जैसा कि *विकासवाद* का बुनियादी सिद्धान्त है—तो इस क्रिया की अगली सीढ़ियां भी बहुत स्वाभाविक जान पड़ती हैं। जड़से जीवित, जीवित से चैतन्य, चैतन्य से प्रेरणायुक्त अथवा सोद्देश्य······यह सिद्धान्ततः असम्भव तो नहीं है कि विकास—क्रिया आरम्भ से ही सोद्देश्य रही हो— कम से कम इस अर्थ में कि आगे चलकर सोद्देश्य होजाना उसकी गति में निहित था...

एक दूसरा प्रश्न भी उपर्युक्त अवधारणा से उठता है। मानव की 'अधिक विकसित चेतना' किस ओर उन्मुख होगी? चेतना है, तो उसका कोई विषय होना अनिवार्य है, जिसकी चेतना वह हो सके। अर्थात् चेतना के ऊंचे या नीचे स्तर की परख उसके विषय की सूक्ष्मता अथवा स्थूलता से ही हो सकती है। निस्सन्देह ऐसी विचारधारा हमें एक प्रकार के नूतन रहस्यवाद की ओर ले जाती है; और अनेक प्रमुख आधुनिक वैज्ञानिकों के विचारों में रहस्यवाद का पुट है भी। विचारकों में भी एल्डस हक्सले की परिकल्पना बहुत कुछ भारतीय रहस्यवादियों से मिलती-जुलती है, और उसकी दार्शनिक प्रणाली योग दर्शन से स्पष्टतया प्रभावित है। हो सकता है कि अन्ततोगत्वा इस 'विकसित चेतना' का विषय स्वयं मानव की आत्मा हो, कि वह चेतना अन्तर्मुखी होकर आत्मतत्व के चिन्तन-अन्वेषण में लीन होजाय। किन्तु इस प्रश्न का तात्कालिक महत्व नहीं है; यदि हम स्वीकार कर लेते हैं कि विकास की अगली सीढ़ी मानवीय चेतना का ही नूतन संस्कार है; यदि यह स्थापना ठीक है तो तात्कालिक समस्या है संस्कृति की—जीवन के मानों के पुनः मापन की, मूल्यों के *अभिनव मूल्यांकन* की—क्योंकि चेतना का संस्कार इसी मार्ग से हो सकता है। चेतना द्वारा अब तक जो कुछ अवगत हो सका है, संस्कृति उसी का तत्वभाग है; भविष्य में जो कुछ अवगत होगा, उसकी ओर हम इसी द्वार से बढ़ सकते हैं, इसकी उपेक्षा करके नहीं। चेतना का विकास मूलतः संस्कृति का विकास है।

———

भारतेन्दु कालीन काव्य की नव-जागृति

डा०, केशरी नारायण शुक्ल, एम० ए०, डी० लिट्०

भारतेन्दु काल (सन् १८७०—१९००) का सूत्रपात, हिन्दी साहित्य के इतिहास में महत्वपूर्ण है। इसका आरम्भ साहित्य में युगान्तकारी है, गद्य के प्रसार के साथ साथ काव्य के आदर्श में भी परिवर्त्तन के चिन्ह दिखाई पड़ते हैं, भक्ति तथा रीतिकाल के एकागी साहित्य के स्थान पर पूर्णता के दर्शन होते हैं, साहित्य की सर्वतोमुखी उन्नति का श्री गणेश होता है, कवियों की दृष्टि में व्यापकता और उदारता आती है, वे केवल ईश प्रार्थना और प्रेम कला के विस्तार से सन्तुष्ट न होकर अपने चारों ओर के सामान्य जीवन पर भी दृष्टि डालते हैं, जीवन की वास्तविकता की ओर उनका ध्यान जाता है, समय की गति उनको आकृष्ट करती है, और वे सामाजिक तथा राजनैतिक चेतना के लिये प्रयत्नशील होते हैं, देश की सामयिक विचार धारा को कविता की वाणी प्राप्त होती है, इस प्रकार कविता में वास्तविकता का क्रमशः समावेश होता है, कवि-कर्म अब केवल आकाश-कुसुम चुनना न रह कर राह में चुभने वाले कांटों से भी सावधान करना हो जाता है। कवि सामयिक विचार धारा से प्रभावित होते हैं और उसका अभिनन्दन करते हैं। इस प्रकार काव्य और जीवन में सामञ्जस्य स्थापित होता है, और काव्य जागृति का सदेश देता है।

यह जागरण देश की परिवर्तित स्थिति का द्योतक है। सन् सत्तावन की क्रान्ति के समय से देश की राजनैतिक स्थिति में सतत परिवर्त्तन हो रहे हैं। इसका बड़ा व्यापक प्रभाव यह हुआ कि भारत के शासन की बागडोर ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथ से निकल कर सीधे ब्रिटिश पार्लिमेण्ट के हाथ में आ गई। इससे प्रजा अपने धन-जन को अधिक रक्षित समझने लगी, महारानी विक्टोरिया की घोषणा से प्रजा के हृदय में नव आशा का संचार हुआ, और वह घोषणा में कहे बचनों के पूर्ण होने का स्वप्न देखने लगी। अब प्रजा देश के राजनैतिक जीवन में उत्साह से भाग लेने लगी, अंग्रेज़ी शिक्षा के अधिकाधिक प्रचार से पाश्चात्य विचारों का प्रभुत्व बढ़ने लगा और देश वासियों के विचारों में क्रान्ति हुई। उन्हें अपनी सामाजिक स्थिति के सुधारने और कुछ परिवर्त्तन करने की चिन्ता हुई, समाज सुधार को सबसे प्रबल प्रेरणा स्वामी दयानन्द जी तथा उनके आर्य समाज-आन्दोलन की ओर से हुई। स्वामी जी बड़े विचक्षण, उदार और स्वतन्त्रता के पक्षपाती थे। उन्होंने प्राचीन आर्य संस्कृति के अभ्युत्थान के लिये जो उद्योग किया, वह निष्फल नहीं गया, उनकी इस सांस्कृतिक चेतना ने हिन्दू जनता के हृदय में आत्माभिमान का सञ्चार किया। उसने अन्य पराजित जातियों की भाति अपने को हेय समझ कर निष्क्रिय नहीं बनाया, प्रत्युत आत्माभिमान और आत्मसम्मान की भावना से सुधार और उन्नति की ओर अग्रसर हुई। सुधार की यह भावना केवल सामाजिक जीवन तक ही सीमित नहीं रही। वरन् समाज सुधार के साथ ही साथ देश की आर्थिक और राजनैतिक स्थिति में भी परिवर्त्तन करने के लिए लालायित हो उठी। कहने की बात नहीं कि प्रत्येक देश की सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक स्थितियां परस्पर अन्योन्याश्रित होती हैं। एक की क्रान्ति से अन्यों का प्रभावित होना अनिवार्य है। फलतः पाश्चात्य विचारों तथा सांस्कृतिक संघर्ष से जो सामाजिक चेतना हुई, वह दूसरे क्षेत्रों में भी फैली और देशवासी अपनी उन्नति के लिये व्यापक रूप से प्रयत्नशील हुए। इसी सर्वतोमुखी जागृति का प्रसार हमें भारतेन्दु काल की कविता में सर्वत्र दिखाई देता है।

इसी सर्वतोमुखी जागृति के फल स्वरूप हम उस समय के प्रायः सभी कवियों मे सुधार की भावना पाते हैं। समाज सुधार और राजनैतिक जीवन में अभिरुचि के साथ ही साथ आर्थिक उन्नति की कल्पना भारतेन्दु काल की कविता की एक निजी विशेषता है। इस काल की काव्यगत जागृति की सब से बड़ी विशिष्टता इन कवियों की सामञ्जस्य बुद्धि है। वे सुधार चाहते हैं पर क्रान्ति के लिये कटिबद्ध नहीं हैं। नवयुग के अभिनन्दन के साथ साथ वे अतीत के साथ अपना सम्बन्ध बनाये रखना चाहते हैं। नवीन विचारों के पक्षपाती होते हुए भी वे प्राचीनता का मोह नहीं छोड़ते। उनकी यह सामञ्जस्य बुद्धि सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक आदि जीवन के सभी क्षेत्रों मे व्याप्त दिखाई पड़ती है। पश्चिम की नई विचार धारा के साथ साथ सांस्कृतिक चेतना की प्राचीन लहर भी आगे बढ़ती है और चारों ओर सामञ्जस्य बुद्धि का विधान कर देती है। दोनों विचार धाराये हिलमिल कर संतुलित हो एक बन जाती हैं।

हम कह चुके हैं कि भारतेन्दु काल के प्रायः सभी प्रमुख कवियों में सामाजिक जागृति के चिन्ह दिखाई देते हैं। पर हरिश्चन्द्र, प्रेमघन, प्रभृति दूसरे कवियों मे हिन्दू समाज के सुधार की भावना पुष्ट दिखाई देती है। शिक्षा प्रचार, गोरक्षा, विलायत यात्रा, बाल विवाह, विधवा विवाह, धार्मिक खंडन-मंडन, और अन्धविश्वास आदि सभी सामाजिक विषयों पर उनकी दृष्टि पड़ी है। सभी उनको सुलझाने में मग्न हैं। सभी हिन्दू जाति को सचेत करने मे लगे हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने स्त्री शिक्षा पर ज़ोर दिया और स्त्रियों को सच्ची अर्धांगिनी बनाने का उपदेश दिया :—

पित पति सुत करतल कमल, लालित ललना लोग।
पढ़ैं गुनैं सीखैं सुनै, नासै सब जग सोक॥
वीर प्रसविनी बुध वधू, होइ हीनता खोय।
नारी नर अरधंग की, साँचहि स्वामिनि होय॥

साम्प्रदायिक विद्रोह और सामयिक कुरीतियों पर भी उनकी दृष्टि पड़ी और उन्होंने स्पष्ट रूप में कहा—

रचि बहु विधि के वाक्य पुरानन माहिं घुसाए।
शैव शाक्त वैष्णव अनेक मत प्रगट चलाए॥
जाति अनेकन करी ऊच अरु नीच बनायो।
खान पान सम्बन्ध सबनि सो बरजि छुड़ायो॥
करि कुलीन के बहुत व्याह बल बीरज मार्यो।
विधवा व्याह निषेध कियो बिभिचार प्रचार्यो॥

"प्रेमघन" इस सामाजिक सुधार क्षेत्र में सबसे आगे हैं। वे हिन्दू जाति को समाज संशोधन के लिये उत्तेजित कर रहे हैं।

प्रचलित हाय अध परिपाटी पर तुम चलते जाते।
आर्य वंश को लज्जित करते कुछ भी नहीं लजाते॥
आवश्यक समाज संशोधन करो न देर लगाओ।
हुए नवीन सभ्य औरो से अपने को न हसाओ॥
बीती जो उसको भलो समझो अब तो आगे से।
मिलो परस्पर सब भाई बंध एक प्रेम धागे से॥

प्रतापनारायण मिश्र भी स्त्री शिक्षा के पक्ष में हैं। बालविवाह को हटाने की प्रार्थना कर रहे हैं। विधवाओं का करुण-क्रन्दन उनके कानों को व्यथित कर रहा है:—

स्त्री गण को शिक्षा देवें, कर पतिव्रता यश लेवे,
झूठी यह गुलाल की लाली, धोवत ही मिटि जाय।
बाल व्याह की रीति मिटाओ, रहे लाली मुंह छाय,
विधवा बिलपें नित धेनु कटैं कोउ लागत हाय
गोहार नही।

प्रत्यक्ष ही इस सामाजिक चेतना के मूल में पश्चात्य विचार और आर्य समाज आन्दोलन काम कर रहे हैं, भारतेन्दु काल के कवियों की सामञ्जस्य बुद्धि यहां भी स्पष्ट दिखाई देती है। वे समाज सुधार चाहते हैं, परन्तु अपनी संस्कृति छोड़कर नहीं। पाश्चात्य संस्कृति की प्रभुता उन्हें दुःख देती है, वे ईश्वर और हिन्दू जाति से अपनी संस्कृति की रक्षा के लिये प्रार्थना करते हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आर्य मार्ग,

आर्य संस्कृति के लिये व्याकुल हो परमात्मा से प्रार्थना करते हैं:—

कहाँ गये विक्रम भोज राम बलि कर्ण युधिष्ठिर।
चंद्रगुप्त चाणक्य कहाँ नासे करि कै थिर॥
कहाँ क्षत्र सब मरे जरे सब गए किते गिर।
कहाँ राज को तौन साज जेहि जानत है चिर॥
कहँ दुर्ग सैन धन बल गयो धूरहिं धूर दिखात जग।
जागो अब तो खल बल दलन रक्षहु अपुनो आर्य मग॥

और अम्बिकादत्त व्यास हिन्दुओं की मानसिक दासता पर क्षोभ प्रकट करते हुए भारतीय धर्म-कर्म के पालन की प्रतिज्ञा करते हैं:—

पहिरि कोट पतलून बूट अरु हैट धारि सिर,
माल चरबी चरचि लवेंडर को लगाइ फिर।
सस्कृत के मृदु बचन लगत इनको अति कर्कस,
नई विदेसी विद्या ही को मानत सर्वस॥

× × ×

अगरेजी हम पढ़ी तउ अंगरेज न बनि है।
पहिरि कोट पतलून त्रुटन के गर्व न तनि है॥
भारत ही मे जन्म लियो भारत ही रहि है।
भारत ही के धर्म कर्म पर विद्या गहि हैं॥

प्रेमघन भी भारत में भारतीयता को लुप्त होते देख तड़प उठते हैं और अपनी जाति धर्म और वेष की निष्ठा के लिये आग्रह करते हैं:—

सबै विदेसी वस्तु, नर, गति रति रीति लखात।
भारतीयता कछु न अब भारत में दरसात॥
हिन्दुस्तानी नाम सुनि अब ये सकुचि लजात।
भारतीय सब वस्तु ही सो ये हाय घिनात॥

× × ×

अपनी जाति वस्तु अपने आचार देश भाषा से,
रक्खो प्रीति रीति निज धर्म वेष पर अति ममता से।

बालमुकुन्द गुप्त हिन्दूपन पर जमे रहने और उसमें दृढ़ अवस्था के लिये ईश्वर से प्रार्थना करते हैं:—

बहु दिन बीते राम प्रभु खोयो अपनो देस।
खोवत हैं अब बैठ के भाषा भोजन वेष॥
दया करो यह आस पुराओ हमरे मन की।
सुध न बिसारैं कबहुँ तुम्हारे श्री चरणन की॥
सदा रखे दृढ़ हिय महँ, निज साँचो हिन्दू पन।
घोर विपत हूँ पर डिगै नहिं आन और मन॥

आधुनिक राजनैतिक जागृति का आरम्भ भारतेन्दु काल से होता है। महारानी विक्टोरिया की घोषणा से भारतवासियों को प्रोत्साहन मिला और देश के राजनैतिक जीवन में उनकी अभिरुचि हुई। उन्हें भी देश के शासन में हाथ बटाने की लालसा हुई। विक्टोरिया के दिये हुए आश्वासन में उनकी पूर्ण आस्था थी। उनके पूर्ण होने की प्रतीक्षा होने लगी। प्रेमघन ने तो अपनी कविताओं में उनकी पूर्ति के लिये बार बार प्रार्थना की। अतएव हम देखते हैं कि इस राजनैतिक जागृति का मूलमन्त्र राजभक्ति है। भारतेन्दु कालीन कवि ब्रिटिश शासन का गुणगान कर अपनी राजभक्ति का विश्वास दिलाते हैं और फिर अधिक सुविधाओं के लिये प्रार्थी होते हैं। अस्तु, अम्बिकादत्त व्यास ब्रिटिश शासन की बड़ाई करते हुए कहते हैं:—

नये नये बहु लाट आए वै भारत आरत बारत।
लैफ्टेनेन्ट अरु गवर्नरादिक परजा राज संभारत॥
जगल काटि काटि के केते नगर बजार बसाये।
नहर निकारि नदी अरु नद पै भारी सेतु बधाये॥
जयति धर्म सब देस जय भारत भूमि नरेश।
जयति राज राजेश्वरी जय जय जय परमेश॥

राधाकृष्णदास भी इसी प्रकार विक्टोरिया के शासन की प्रशंसा करते हैं:—

परम दुःख मय तिमिर जब भारत पै छायो।
गृह विछेद बहु खंड राज्य सब प्रजा सतायो॥
तबहि कृपा करि ईश ब्रिटिश सूरज प्रगटायो।
जिन उजरत करि कृपा बहुरि यह देश बसायो॥
सोह ब्रिटिश वंश उज्वल करन विक्टोरिया प्रकाशभो
आनंद छायो सब देश में अरु दुःख तिमिर विनासभो

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र को तो वह "परम मोक्ष फल राजपद 'परसन' जीवन माहि" दिखाई देता है और फलतः वह ताल ठोंक कर पूछ बैठते हैं—

डिसलायल हिंदुन कहत कहाँ मूढ़ ते लोग।
दृग भरि निरखहि आज ते राज-भक्ति सयोग॥

आज इन कवियों के राजभक्तिपूर्ण उद्गार हम-लोगों को खटकते हैं; किन्तु उनकी राजभक्ति स्वाभाविक और सहेतु है। बात यह है कि महारानी विक्टोरिया के शासन मे शांति और रक्षा का आरम्भ हुआ। प्रजा इसमे पहले की लूट पाट से ऊबी और डरी हुई थी, इसलिए उसने ब्रिटिश शासन का हृदय से स्वागत किया। रेल, नहर, पुल डाक आदि नाना प्रकार की सुविधाओं से भी प्रजा को प्रोत्साहन मिला। वह उससे कहीं अधिक सुविधाओं की आशा करती थी। इसीलिए वह अधिकारियों को अपनी राजभक्ति का विश्वास दिला कर अन्य सुविधाओं के लिए प्रार्थी होती थी। भारतेन्दु काल के कवि जनता की भावना को व्यक्त करते हैं। प्रेमघन इसी प्रकार की राजभक्ति का विश्वास दिलाते हुए प्रार्थना करते हैं—

किन्ही सब प्रकार जिमि ग्रेट ब्रिटेन की उन्नति।
तैसहिं भारत की करिये भरिये सुख सम्पति॥
बाकी प्रजा समान स्वत्व आयुध अधिकारहि।
विद्या बल नीति विज्ञान प्रबन्ध विचारहिं॥
हम भारतवासिन कहं देइ दया कर देवी।
उभय प्रजा सम होहिं सुखी सम सम्पति सेवी॥

आज हम यह अच्छी तरह जानते हैं कि इन कवियों की यह आशा दुराशा मात्र थी। परन्तु उस समय रेल की नई सवारी से उन्हें मतिभ्रम हो गया था। बिजली की चकाचौंध में वे वस्तुस्थिति को ठीक ठीक नहीं देख पाते थे। वे यह समझ ही नहीं सकते थे कि ब्रिटिश विजेता भी गुलामों की सुविधा न देखकर अपना लाभ ही देखते हैं। निदान हम देखते हैं कि प्रेमघन की यह प्रार्थना शुद्ध अरण्यरोदन सिद्ध हुई है:—

करहु आज सों राज, आप केवल भारत हित।
केवल भारत के हित साधन में दीने चित्त॥

अतएव कोई आश्चर्य नहीं यदि हम आगे चल कर इन कवियों की राजभक्ति को क्षीण होते हुए देखते हैं। क्योंकि धीरे धीरे मोह का पर्दा उनके सामने से भी हटता जा रहा है और काल की कठोरता उनके सामने भी आ रही है।

फिर भी भारतेन्दु के समकालीन कवि देश की वास्तविक दुरवस्था से अनभिज्ञ न थे। भारत की दयनीय दशा के करुण चित्र उनकी कविताओं में मिलते ही हैं। राजभक्ति की सराहना में मग्न बाबू हरिश्चन्द्र को भी बाध्य होकर कहना ही पड़ता है—

अंगरेज राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी।
ताहू पै महँगी काल रोग विस्तारी।
दिन दिन दूने दुःख ईस देत हा हा री॥
सब के ऊपर टिक्कस की आफत आई।
हा हा भारत दुर्दशा न देखी जाई॥

देश की दरिद्रता पर तरस खा कर प्रेमघन भी कहते हैं:—

यदपि तिहारे राज भयो भारत अति उन्नत।
आगे से अब सब लोग सब विधि सुख पावत॥
पै दुःख अति भारी इक यह जो बढ़त दीनता।
भारत मे सम्पति की दिन दिन होत हीनता॥
सुख सुकालहूँ जिनहिं अकालहिं के सम भासत।
कई कोटि उन सब सहत भोजन की सांसत॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु काल के कवि देश की कठिन अवस्था से अपरिचित नहीं हैं। देश की आर्थिक उन्नति की सच्ची कामना करते हैं, भारत की आर्थिक पराधीनता से उनको दुःख होता है, विदेशी वस्तुओं का अत्यधिक उपयोग उन्हें अच्छा नहीं लगता। भारतीय कला कौशल, उद्योग धन्धों और शिल्प की उन्नति के लिए ये अधिकारियों और अपने देशवासियों से प्रार्थना करते हैं। भारतेन्दु

हरिश्चन्द्र भारत की आर्थिक पराधीनता से क्षुब्ध हो कर देशवासियों को अपनी उन्नति के लिये सचेत करते हैं : –

मारकीन मलमल बिना चलत कछू नहि काम।
परदेशी जुलहान के मानहु भए गुलाम॥
परदेशी की बुद्धि अरु वस्तुन की करि आस।
परबस ह्वै कबलौं कहौ रहि हो तुम ह्वै दास॥
काम खिताब किताब सों अब नहि सारिहै मीत।
तासो उठहु सिताब अब छाड़ि सकल भय भीति॥

प्रेमघन भी शिल्प की उन्नति के लिये अधिकारियों से प्रार्थना करते हैं :—

विद्या उन्नति भई शिल्प की उन्नति नाहीं,
देशउन्नति जाके बिन जग मे कहुँ न लखाहीं।
तासो शिक्षा शिल्प कृपा करि देहु इनहिं अब।
जाके बिन फलहीन होत उनके सब करतब॥

प्रेमघन को खेद के साथ कहना पड़ता है :—

देस नगर बानक बनो सब अंग्रेजी चाल।
हारन मे देखहु भरो बस अंग्रेजी माल॥

भारतीय कृषकों की दशा सब से अधिक दयनीय है। प्रेमघन देश का ध्यान इस ओर आकर्षित करते हैं। कृषिकर्म की उच्च शिक्षा के लिये अधिकारियो से कहते हैं : –

दीन कृषक जन औरहु दया जोग दरसाहीं,
जिनके तन पर स्वच्छ वस्त्र लखियत कहुँ नाहीं।
तिनहिं सिखावहु कृषी कर्म जस होत विलायत।
और सहायता और सखी करि देहु यथावत।

वे प्रार्थना करते हैं :—

भारत को धन अन्न और उद्यम व्यापारहिं।
रच्छहु, वृद्धि करहु साँचे उन्नति आधारहिं॥

राधाकृष्ण कुछ और आगे बढ़ते और दुःख के साथ कहते हैं:—

खरच बढ्यो उद्यम घट्यो नृपति निठुर मन कीन।
कहु रहीम कैसे जिये थोरे जल की मीन॥
थोरे जल की मीन भए सब भारतवासी।
अनावृष्टि अति वृष्टि सबै धन धान विनासी।
पेट जरै नहि अन्न लगत नित प्रति वर पर कर।
अन धन खिंचत विदेस रहत उत नाहिन इक खर

भारतेन्दु काल के अन्तिम कवि बालमुकुन्द गुप्त तो सरकार की फ़ौजी नीति की भी कड़ी आलो- करते हैं :—

बाबा उनसे कह दो जो सीमा की रक्षा करते है।
लोहे की सीमा कर लेने की चिन्ता में मरते है।
प्रजा तुम्हारी दीन दुखी है रक्षा भी किसकी करते हो
इससे क्या कुछ भी होना है नाहक पच पच मरते हो

अस्तु, हम देखते हैं कि भारतेन्दु काल के कवि चुप चाप बैठ रहने या कोरा गान करने वाले जीव नहीं हैं। देश की उन्नति के लिए देशवासियों को सन्नद्ध करते हैं। भारत के प्राचीन गौरव को सामने ला कर सामयिक दुरवस्था को चित्रित कर वे भारतवासियों को मातृभूमि की उन्नति के लिये उद्बुद्ध करते हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भारत के प्राचीन गौरव को याद कर क्षुब्ध हो उठे हैं :—

जहं भए शाक्य हरिचन्द्र नहुष ययाती,
जह राम युधिष्ठिर बासुदेव सर्याती।
जह भीम करन अर्जुन की छटा दिखाती,
तहं रही मूढ़ता कलह अविद्या राती।
अब जह देखहु तह दुखहि दुःख दिखाई,
हा हा भारत दुर्दशा न देखी जाई।

अम्बिकादत्त व्यास भी प्राचीन वीर पुरुषों की स्मृति में बेचैन हैं :—

कहां आज इक्ष्वाकु कुकुत्स्थु कहं मान्धाता,
कह दिलीप रघु अजहु कहां दशरथ जग त्राता।
पृथ्वीराज हमीर कहा विक्रम सम नासक,
कहां आज रनजीत सिंह जग विजय प्रकासक।

अवश्य ही इन देशभक्तिपूर्ण पदों के मूल में हिन्दू संस्कृति की चेतना है, कवि प्राचीन हिन्दू गौरव

का चित्र खींच कर जनता को देशोन्नति के लिए उत्तेजित करते हैं।

कांग्रेस की स्थापना हो जाने से (सन् १८८५) में देश में आशा का सचार हुआ और शासन सम्बन्धी निराशा क्रमशः दूर होने लगी। प्रेमघन को जीवन के अन्तिम वर्षों मे भारत के भाग्योदय के चिन्ह दिखाई देते हैं, वे हर्षपूर्वक कहते हैं:—

हुआ प्रबुद्ध वृद्ध भारत निज आरत दशा निशा का,
समझ अन्त अतिशय प्रमुदित हो तनिक तब उसने ताका।
उन्नति पथ अति स्वच्छ दूर तक पड़ने लगा दिखाई,
खग वंदेमातरम् मधुर ध्वनि पड़ने लगी सुनाई।
उठो आर्य संतान सकल मिल बस न विलम्ब लगाओ,

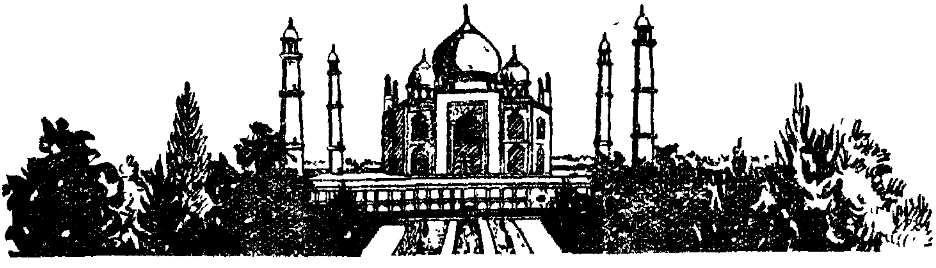
बालमुकुन्द गुप्त भी भारतोन्नति के लिए देश वासियों को बुला रहे हैं :—

आओ एक प्रतिज्ञा करें, एक साथ सब जीवें मरें।
अपना बोया आप ही खावें, अपना कपड़ा आप बनावें।
माल विदेशी दूर भगावें, अपना चरखा आप चलावें

प्रस्तुत पद्यों में देशभक्ति की भावना भरपूर दिखाई पड़ती है। कवि अब अपने भाग्य का रोना बन्द कर, देश की उन्नति के लिए तत्पर हैं। ईश्वर की प्रार्थना न कर देशवासियों का सहयोग प्राप्त करने के लिये अधिक उत्सुक हैं। इस प्रकार देशभक्ति की भावना में परिवर्त्तन हो रहा है। समय भी बदल रहा था। कांग्रेस की प्रतिदिन उन्नति हो रही थी। निदान इसका प्रभाव हमें उपर्युक्त पद्यों में "बन्देमातरम" और चरखा के रूप में दिखाई देता है।

फिर भी यह आर्थिक और राजनैतिक भावना सामञ्जस्य विहीन नहीं है। कवि आर्थिक और राजनैतिक उन्नति चाहते हुए भी उग्रवादी नहीं हैं। वे राजभक्त होते हुए भी देश को उन्नति के मार्ग पर चलाना चाहते हैं। अधिकारियों के वचनों में उन्हें पूर्ण विश्वास है। वे आजकल के नरम दल वालों की तरह ब्रिटिश साम्राज्य की छाया में अधिकार प्राप्त करना चाहते हैं। ब्रिटिश शासन को 'ईश कृपा' का फल समझते हैं। यह उनकी सामञ्जस्य भावना का परिचायक है।

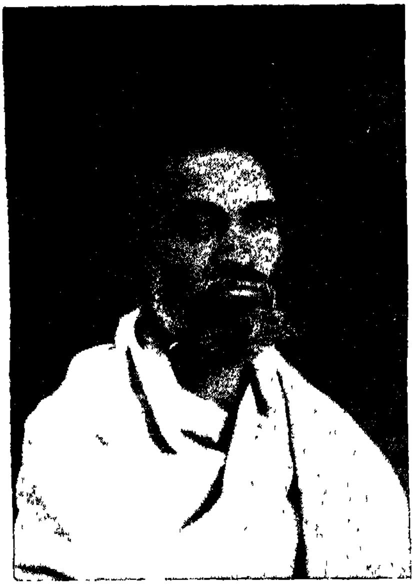
भारतेन्दु काल की जागृति की यही संक्षिप्त रूप रेखा है, यह जागृति सर्वतोमुखी है। कवि देश के सामान्य जीवन को कविता में ढाल देते हैं। उनमें सत्यता और अनुभूति है। अस्तु, हम देखते हैं कि भारतेन्दु काल के कवि अपने समय के जीवन और विचारधारा को व्यक्त करते हैं। उनका एक निजी दृष्टिकोण है। उनकी सारग्राही प्रवृत्ति प्राचीनता के पक्ष मे है और नवीनता का स्वागत करती है। संक्षेप मे यही उस समय का मूलमन्त्र अथवा अभीष्ट है।



इन आंखों का भला क्या ऐतबार

[आप बीती सच्ची बातें]

महात्मा भगवानदीन जी



महात्मा भगवानदीन जी

(१)

हमारे यहां एक रसोइया था। वह मुद्दतों से था। उसने मुझे गोद खिलाया था। ईमानदार इतना था कि घर की ताली कुञ्जी उसके हाथ में रहती थी। मेरे मा बाप ही नहीं, मोहल्ले के लोग भी उसे बड़ा ईमानदार समझते थे।

एक दिन दोपहर का वक्त था; मैं और मेरी मा आंगन में बैठे हुए बातें कर रहे थे। वह रसोइया किसी काम के लिये कोठे में गया और थोड़ी देर के बाद वहां से वापस चला आया। इतने में एक आदमी आया। वह मेरी मा से कुछ रुपये मांगने लगा। मेरी मां उठकर अन्दर कोठे में गईं और वहां से लौटकर उस आदमी को कुछ देकर बिदा किया। उसके जाते ही उन्होंने उस रसोइये को यह कहकर 'कुंजी जल्दी इधर आओ' (कुंजी रसोइये का नाम था) बुलाया। वह आवाज़ सुनते ही दौड़ा आया और सामने आकर खड़ा हो गया। उसके चेहरे पर हंसी टपक रही थी, क्योंकि वह हमेशा ही ख़ुश रहता था। मगर मेरी मा का चेहरा बुरी तरह चढ़ा हुआ था और उन्होंने डपट कर उससे पूछा—"लाओ वह गिन्नी कहां है ?" कुंजी उसके जवाब में और भी हंस दिया। मेरी मा ने फिर उसे डपटा मगर वह फिर भी हंसता ही रहा। मैं बिलकुल न समझ पाया कि आज क्यों मेरी मा कुंजी पर इतनी नाराज़ हैं। मैंने कभी कुंजी पर, मा तो क्या, किसी को भी नाराज़ होते न देखा था। वह नौकर की तरह घर में रहता ही न था। खाने पीने पहनने में उसके साथ कोई फ़र्क़ न किया जाता था। उसके अपने घर की तरफ से उसका कोई न था। कोई बहुत दूर के रिश्तेदार अहमदाबाद (गुजरात) मे रहते थे। वह बहुत छोटी उम्र मे ही हमारे यहां आ गया था। जब की यह बात है, उस वक्त उसकी उम्र कोई ३० की रही होगी। मैं १२ वर्ष का था, कुंजी को अपनी बे गुनाही पर इतना विश्वास था कि वह मेरी मा की सब डांट डपट को खिलवाड़ ही समझता रहा। जितना वह हंसता था उतना ही मेरी मा को ग़ुस्सा आता था। आख़िर मा ने तङ्ग होकर उसे घर से निकल जाने के लिये कहा। वह फिर भी कुछ न समझा। बड़ी मुशकिल से मेरी मा उसे बाहर निकालने में समर्थ हुईं।

वह बाहर जाकर दरवाज़े पर खड़ा हो गया। मुझे बहुत प्यारा था ही, मैं भी उसके पास जाने के

लिये दौड़ा। मेरी मां ने मुझे रोक लिया और मुझे समझाया कि वह चोर है; उसके साथ तुम्हें नहीं खेलना चाहिये। मेरे मन ने उसके चोर होने की बात बिलकुल मानकर न दी। हां, मा की बात मानकर मैं मन मसोसकर वहीं मां के पास बैठ गया और मां से उसके लिये वकालत करने लगा। मगर मा ने मेरी एक न मानी। मां की दलील यह थी कि मैं अभी कुछ देर हुई खुद गिन्नियां गिनकर आई थी। वे सोलह थीं। उसके बाद कोई अन्दर नहीं गया। कुंजी ही अभी गया था और अब वे १५ मिलीं। तो सिवाय कुंजी के और कौन हो सकता है, जो उस एक गिन्नी को लेता। मेरे पास इसका कोई जवाब न था। पर मैं अपनी इस हठ पर डटा हुआ था कि कोई ले गया हो कुंजी चोर नहीं है।

थोड़ी देर में पिता जी घर आये। मा ने उनसे सबसे पहली बात कुंजी के निकाल देने की ही कही। पिता जी ने भी कुंजी की तरफ से ख़ासी वकालत की पर मा मानकर न दीं और आख़िर कुंजी निकाल दिया गया।

कुछ दिनों के बाद किसी से यह पता चला कि कुंजी अहमदाबाद की किसी कपड़े की मिल में नौकर हो गया है। यह सुनते ही मैंने मा को फिर कुंजी के बेगुनाह होने की बात कही; मगर उन्होंने फिर यह कह कर चुप कर दिया कि नहीं बेटा वह चोर ही था।

कुछ महीनों के बाद कुंजी के दूर के रिश्तेदार का, मेरे पिता के नाम भेजा हुआ, एक कार्ड मिला, जिसमें कुंजी के मिल के पट्टे से हाथ फंसकर मरने का ज़िक्र था। यह सुनकर मेरी मा बुरी तरह रोने लगीं और ऐसे ही रोईं मानों उनका अपना बेटा ही मर गया हो। पर जैसे जैसे वह रोती थीं, वैसे ही वैसे मेरा ग़ुस्सा बढ़ता जाता था। मैं बार बार मां से यह कहता था कि मा कुंजी को तुमने ही मार डाला। तुम न निकालतीं तो वह इस तरह न मरता।

होली दिवाली के त्योहारों पर नौकर होते हुए भी हम घर के बाल बच्चे घर की सफ़ाई में लगे बिना न मानते थे। वही कोठा जिसमें से एक गिन्नी ग़ायब हुई थी, मुझे और मेरी बहिन को सफाई के लिये सुपुर्द हुआ। मैंने सबसे पहले वह पलंग उठाया, जिसके सरहाने रखी हुई गिन्नियों में से एक गिन्नी ग़ायब हुई थी। उसके उठाते ही मैंने एक आवाज़ सुनी और बिना आगे कुछ जाने हुए मैं बाहर भागा और आंगन में खड़ी हुई मा से लिपट गया और रो रोकर बार बार यही कहने लगा कि मां कुंजी को तुम्हीं ने मारा। वे बड़े प्यार से मुझे मनाने की कोशिश करती थीं और पूछती थीं बात क्या है? पर मैं पांच सात मिनट तक पागल की तरह यही कहता रहा कि 'मा तुम्ही ने कुंजी को मारा', 'मा तुम्हीं ने कुंजी को मारा।' बड़ी देर में मैं ठीक ठीक बात मा को बता सका। वे फिर मेरे साथ अन्दर आईं और उस पलंग की निवाड़ से उस गिन्नी को निकाला। उसे निकालते ही वे बहुत बुरी तरह से रोने लगीं। अब मेरा ग़ुस्सा शान्त हो चला था और अब बजाय मां को कुछ कहने के मैं उन्हें चुप करने में लग गया।

(२)

एक दिन मैं चौके में बैठा हुआ खाना खा रहा था। मेरी मा मुझे खाना खिला रही थीं। मेरी मा और मेरे दर्मियान एक ग़ज़ से ज्यादा का फासला नहीं था। दिन के ११ बजे का वक्त था। आसमान साफ था। हर चीज़ साफ दिखाई दे रही थी। चौके में भी ख़ूब उजाला था। मुझ से आधे ग़ज़ के फासले पर एक मिट्टी का शकोरा रखा हुआ था। उस शकोरे में मैंने देखा कि कुछ सुलगे हुए कोयले रखे हैं। मैंने मा से पूछा कि ये जलते हुए कोयले इस शकोरे में क्यों रखे हैं? मां ने इधर उधर नज़र डालकर मुझ से कहा— बेटा यहां तो कहीं जलते हुए कोयले नहीं हैं। मैंने शकोरे की तरफ़ इशारा किया। मां ने फौरन् उन, मेरे लिये, जलते हुए कोयलों पर हाथ रख दिया। हाथ रखते ही मैं खिल खिलाकर हंस पड़ा और मैंने मां से कहा कि मैं इस काग़ज़ की पुड़िया को कोयले समझे हुये था। असल बात यह थी कि मेरी नज़र अक्षरों

के बीच की सफेदी पर थी। मैं उस सफेदी को राख समझे हुआ था और काले काले अक्षरों को कोयले का बेराख वाला हिस्सा। यह है आंखों का देखा!

(३)

नागपुर में तलवार सत्याग्रह जोरों पर था। असहयोग आश्रम वालंटियरों का अड्डा बना हुआ था। श्रीयुत साम्बमूर्ति असहयोग आश्रम में मेरे ही पास ठहरे हुए थे। वह एक धोती और एक उपरने के सिवाय और कुछ नहीं पहनते। श्री घटवाई, मेरे एक आश्रमवासी, उस दिन वहीं थे। श्री घटवाई और श्री साम्बमूर्ति में किसी तरह कोई समानता नहीं है। श्री घटवाई पतले दुबले, साम्बमूर्ति एक भारी आदमी। श्री घटवाई क़द में छोटे और श्री साम्बमूर्ति क़द में लम्बे हैं। दोनों के रंग में भी ख़ासा अन्तर है। उस दिन क्या होता है कि मैं मेज़ के पास कुरसी पर बैठा हुआ था और क्या देखता हूं कि साम्बमूर्ति साहब शीर्षासन में मेरे बाईं ओर मौजूद हैं। मैं दस पाच मिनट उन्हें बड़े ग़ौर से देखता रहा और कई बार यह मन में आया कि मैं इनसे कहूं कि आप बड़ी देर शीर्षाशन करते हैं। मगर न मालूम क्यों मैं इस विचार को मन में ही रोके रहा। कुछ मिनट के बाद साम्बमूर्ति साहब खड़े हो गये और देखता क्या हूं कि साम्बमूर्ति की जगह श्री घटवाई खड़े हैं। मैं हैरान रह गया कि दोपहर के १२ बजे भी ये आंखें ७ बरस साथ रहे हुए श्री घटवाई को मस्तक के चक्कर में पड़कर साम्बमूर्ति की शक्ल दे सकती हैं, तब क्या क्या ग़लतियां ये नहीं कर सकतीं।

(४)

लखनऊ में मैं अपने एक मित्र के यहां ठहरा हुआ था। वे एम० ए०, एल० एल० बी० हैं। बरसों गवर्नमेण्ट एडवोकेट रहे हैं। उनके कई पुत्र हैं; उनमें से एक डिप्टी कलेक्टर हैं। जिस दिन मैं वहां था उस दिन उनके वे डिप्टी कलेक्टर पुत्र भी वहीं थे और उनकी छोटी लड़की भी, जिसकी उम्र कोई ३० वर्ष होगी, ससुराल से आई हुई थी। अब सुनिये। दोपहर को कोई दो बजे का वक्त होगा। मेरे मित्र का एक चार पाच बरस का पोता एक चादी की दोअन्नी लिये खेलता हुआ उस कमरे में दाखिल होता है। मैं अपने मित्र के साथ एक कोने में फर्श पर बैठा बातें कर रहा था। उनका वह पोता उस दोअन्नी से वहीं कमरे में खेलने लगता है। कुछ देर खेलने के बाद एक नौकर किसी काम से उसी कमरे में आता है। उसके आने के साथ ही उस लड़के के हाथ से वह दोअन्नी गिरती है और ठीक उसी वक्त नौकर झुकता है और हम दोनों को दोअन्नी उठाता हुआ दिखाई देता है। हम बे फ़िक्र हो जाते हैं। बच्चा दोअन्नी भूल कर किसी और खेल में लग जाता है।

बच्चा थोड़ी देर में आकर दोअन्नी खो जाने की बात हमसे कहता है। हम उसकी तसल्ली करते हैं और कहते हैं कि दोअन्नी खोई नहीं है। जाओ झुन्ना (नौकर का नाम था) के पास है उससे ले लो। बच्चा झुन्ना के पास जाता है। लेकिन वह दोअन्नी उठाने से इन्कार करता है। बच्चा फिर दौड़ा हमारे पास आता है। झुन्ना तलब किया जाता है। मेरे मित्र उससे वह दोअन्नी देने को कहते हैं। वह कसमें खा खाकर अपनी बेगुनाही का सुबूत देता है। मेरे मित्र उससे नाराज़ तो नहीं होते, पर यह ज़रूर कहते हैं कि भई हमने तुम्हें खुद उठाते देखा है और मुझे गवाहों में पेश करते हैं। मैं कहता तो कुछ नहीं हूं मगर चुप रहकर ही यह कहता हूं कि मेरे मित्र कहते तो ठीक हैं।

नौकर था नया। शायद उसे आये दो तीन दिन ही हुए थे। मेरे मित्र ने यही फैसला किया कि क्या दोअन्नी के लिये झगड़ा किया जाय, इसे निकाल देना चाहिये। हम अभी इस फैसले को आखरी शक्ल न दे पाये थे कि उनके डिप्टी कलेक्टर पुत्र कमरे में आ मौजूद होते हैं। और वह इस मामले को सुनकर उस नौकर का मुक़दमा अपने हाथ में ले लेते हैं। और उसे मार पीट कर यह क़ुबूल करवा लेते हैं कि दोअन्नी उसी ने उठाई थी। एक दोअन्नी उससे वसूल

कर लेते हैं। वह चांदी की दोअन्नी नहीं बल्कि दो आने किसी शक्ल में। नौकर निकाल दिया जाता है।

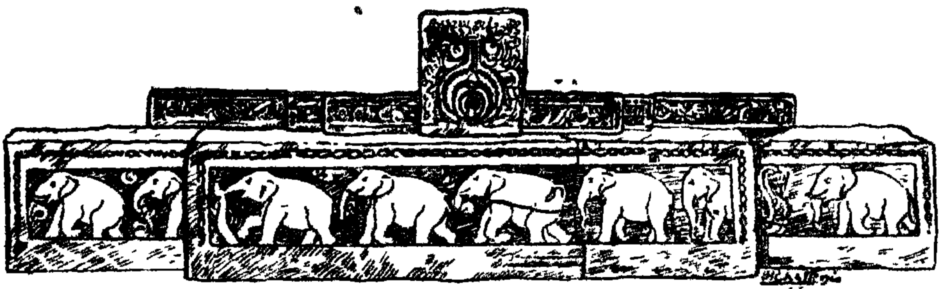
नौकर को निकाले अभी ६० मिनट भी न हुए होंगे कि मेरे मित्र की वही लड़की, जिसका ऊपर ज़िक्र आया है, उस कमरे में आती है और यों ही इधर उधर टहलने लगती है। अचानक उसकी नज़र उस दोअन्नी पर पड़ती है, जो गोल होने की वजह से गिर कर गिरने की जगह से कई कदम दूर एक ऐसी जगह पहुँच जाती है, जो तलाश किये जाने पर भी गिरते वक्त न मिल सकती थी। वह लड़की अचानक कहती है यह दोअन्नी किसकी पड़ी है? हम सब हैरत में पड़ जाते हैं और मेरे मित्र मेरी तरफ देखकर एक अजब तरीके से "कहिये" कहकर खामोश रह जाते हैं। मैं भी मन ही मन कह लेता हूं "वाह री आंखे!"

(५)

मैं मेरठ के करीब हस्तिनापुर जैन गुरुकुल का मुख्य अधिष्ठाता था और उन दिनों कट्टर जैन होने के नाते बाज़ार की मिठाइयां या और इसी तरह की चीज़ें, बिलकुल न खाता था। जैनों में मैं प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखा जाता था। एक दिन मेरठ में एक प्रतिष्ठित जैन सज्जन के यहां मैं ठहरा हुआ था। उन्हीं के साथ मैं बाज़ार में होकर उस जगह जा रहा था, जहां से मुझे हस्तिनापुर गुरुकुल के लिये सवारी मिल सकती थी। रास्ते में एक हलवाई ने अजीब लहजे में पुकार कर मुझे बुलाया। मैं उसके पास गया। मेरे साथ वे प्रतिष्ठित सज्जन भी थे। हलवाई मुझसे बोला कि आप तीन आने पैसे नहीं देंगे? मैंने पूछा 'कैसे तीन आने पैसे, भाई'? वह मुंह बनाकर बोला, 'कैसे तीन आने पैसे!' 'वही जो आपने उस दिन जलेबियां खाई थीं।' मैं उसे कुछ कहने के बजाय ज़रा मुसकरा दिया। मेरे साथ के प्रतिष्ठित सज्जन उस हलवाई के परिचित थे। वे ही बोले, 'अबे पागल हो गया है'? 'पहचानता भी है ये कौन हैं?' 'ये जलेबी तो क्या बाज़ार की बनी कोई चीज़ कभी नहीं खाते।' 'इन्हें हमें घर पर खाना खिलाने तक में तरह तरह की दिक्क़तें उठानी पड़ती हैं।' हलवाई उन्हें कुछ जवाब दिये बिना मुझसे पूछ बैठा, 'आप रहते कहां हैं?' मैंने जवाब दिया, हस्तिनापुर।' अब क्या था, अब तो वह बड़े विश्वास और जोर के साथ कहने लगा, 'तब तो आपही हैं और आप ही ने मेरे यहां जलेबी खाई है।' मैं फिर हंसा, मगर अब मामले की तह को पहुंच चुका था। मैंने अपने साथ के सज्जन को समझाया कि हलवाई दुरुस्त कहता है। हस्तिनापुर गुरुकुल में एक सज्जन हैं जिनके डाढ़ी है और जिनका रङ्ग तो मुझसे ज़्यादा साफ है, मगर दुबले मेरे ही जैसे हैं। उनका नाम कुंवरसेन शर्मा है। वे जलेबी के बड़े शौकीन हैं। यह हलवाई मुझको कुंवरसेन समझे हुए है। मैं जाकर उनसे पूछूंगा और यह कहकर मैं हलवाई से बोला 'ठीक है तुम्हारे पैसे तुम्हें दो एक दिन में मिल जायगे।'

मैंने हस्तिनापुर पहुंचकर कुंवरसेन जी से सारी बात कही और वे खूब हंसे और दूसरे दिन पैसे हलवाई को पहुंचा दिये।

मेरी आंखों जैसी ही क्या औरों की भी आंखें हैं?



छुट्टी का समय

श्री "मौलाना"

(२)

कितने ही सत्याग्रहियों को जेल भेजने के बाद डिप्टी गोकुलदास आज रविवार की छुट्टी मना रहे थे। सत्याग्रहियों ने 'नाक में दम' कर रखा था और यद्यपि एक भी मुक़दमा लड़ा नहीं जाता था, फिर भी उन्हें हफ्ते भर १२ से ४ तक गरदन उठाने की छुट्टी नहीं मिली थी। आदत तो पड़ी थी कि शहर मे गश्त के बहाने से घंटे दो घंटे काम करके घर चले जावें। चार घंटे उन्हें पहाड़ हो जाते थे। उनकी रिपोर्ट पर दूसरे डिप्टी कलक्टर उनकी सहायता के वास्ते बदलकर आये थे और उन्हीं के साथ ठहरे थे। डाइनिंग टेबुल पर गोकुलदास, हनुमान सिंह और उनकी धर्म-पत्नियां और लड़कों के अलावा गोकुलदास के भाई मथुरादास भी बैठे थे। गीली ख़स की टट्टी में से लू के झोंके चले आ रहे थे और कमरा बर्फ़ सा ठण्डा हो रहा था। सर के ऊपर बिजली का पङ्खा पूरी चाल से चल रहा था।

जो वाद विवाद मेज़ पर बैठते ही छिड़ गया था, वह नौकरों के चले जाने पर भी ज़्यादा ज़ोर से जारी रहा। शुरू मे वह वर्त्तमान युद्ध की चर्चा से आरम्भ हुआ था। गोकुलदास कांग्रेस वालों की निन्दा कर रहे थे और कह रहे थे कि महात्मा जी की अक़्ल अब सठिया गई है।

"भला कहीं अहिंसा से कोई स्वराज पाता है" उन्होंने कहा। हनुमान सिंह बोल उठे "भई हम राजपूत तो समझ ही नहीं सकते कि कैसे मार खाकर चुप रहा जावे।

मथुरादास कांग्रेसी नहीं थे, मगर उन्हें कांग्रेस से सहानुभूति थी, उन्होंने पूछा "तो फिर आप यह चाहते हैं कि सशस्त्र बलवा हो, उसके वास्ते हमारे पास न हथियार हैं न उसकी शिक्षा ही पाई है।"

गो०—इसी वास्ते हम कहते हैं कि कांस्टिट्यूशनल एजिटेशन जैसा पुरानी कांग्रेस करती थी करो। जो मिले लो और आगे मांगो। दरवाज़ा खट खटाये जाओ खुलेगा ही, मगर मैं तो कहता हूं कि हम स्वराज के क़ाबिल ही नहीं हैं। है हमारे लीडरों में कोई जो शासन की बाग़डोर संभाल सके?

म०—वह तो समय आने पर लीडर पैदा हो जाते हैं। हम कितने आदमियों को जानते हैं जो राय क़ायम करें?

ह०—जानना क्या है, आज किसानों के वास्ते स्वराज मांगा जाता है, आप मज़दूरों के वास्ते स्वराज मांगते हैं, उन्हीं के प्रतिनिधि तो हैं हमारे नौकर, देख लीजिये न समझ है न अक़ल, पढ़ना लिखना दूर रहा। सारे के सारे कामचोर, बेईमान। ज़रा भी नमक खाने का ख़याल नहीं, जिस थाली में खावें उसी मे छेद करने को तैयार।

गो०—जी और क्या ऐसे बदमाश होते हैं कि जहां आपकी आंख बची वह हाथ पर हाथ रख कर बैठ गये।

इस पर श्रीमती गोकुल और श्रीमती हनुमान के भी कान खड़े हो गये। श्रीमती हनुमान ने कहा "हमारे एक पुराने नौकर ने तो हमारे घर में चोरी करा दी, मेरा ज़ेवर का संदूक़चा चला गया। ज़रा सा भी एतबार इन लोगों का करो तो ज़रूर धोखा देते हैं।

श्रीमती गो०—यह तो हम रोज़ ही देखते हैं कि सौदा सुलुफ़ लाने में हर चीज़ मंहगी लाते हैं। बड़े चोर होते हैं।

श्रीमती ह०—और समझ तो इनमें छू भी नहीं गई, वो ही काम रोज बताओ रोज़ भूल जाते हैं। बड़े गदहे होते हैं।

श्रीमती गो०—नहीं जी पाजीपन मे ऐसा करते हैं, सिर्फ तंग करने को।

ह०—जब देखो पेशगी के वास्ते हाथ फैलाये सामने खड़े हैं; मानो कोई सदाबर्त बट रहा हो।

गो०—अगर कहो कि भई इतना क्यों खरचते हो कि महीने के पहले ही खतम हो जावे, तो उसे रिज़ेण्ट करते हैं। मुंह फूल जाता है। जैसे हमारा फर्ज़ है कि जब यह मांगे देते जावो।

मथुरादास सुनते और मुसकराते रहे। लेकिन यहा पर वह बोल ही उठे—

क्यों भाई साहब कभी ऐसा आपको मौक़ा नहीं पड़ा कि महीना खतम होने के पहले तन्ख़्वाह का रुपया खर्च हो जावे ?

क्यों नहीं, जब मैं २००) पाता था, तब कई दफे ऐसा मौक़ा पड़ा; मगर मैंने तो सरकार के पास पेशगी की दरख्वास्त नहीं दी। तुम्हारी भाभी नाक में दम कर देती थीं, तो बैंक से क़रज़ा ले लेता था। हलके हलके अदा कर देता था, गोकुलदास ने उत्तर दिया।

म०—मगर इन ग़रीबों की पहुच तो बैंक तक है नहीं और यह आठ दस से ज़्यादा पाते नहीं। उसी में जोरू, बच्चे, मा इत्यादि का भी पालन-पोषण होता है।

गो०—ठीक है, इनका बैंक अफ़ग़ानी है। बिला सोचे समझे दे देता है।

म०—और सूद में इन्हें मोल ले लेता है।

गो०—इससे हमें क्या मतलब ? लें या न ले उनकी ख़ुशी।

ह०—और क्यों साहब हमारे ऊपर उनके जोरू बच्चों के पालने का बोझा क्यों डाला जाता है। वह काम काज क्यों नहीं करते।

श्रीमती गो०—नाज का भाव जब गिरा हुआ था, दस सेर का आटा था, तब हमने तन्ख़्वाह तो घटाई नहीं थी। अब भी कुछ बहुत घटा नहीं है। न जाने क्यों रोना पड़ता है। मुझे तो पेशगी देने से बड़ी चिढ़ है।

श्रीमती ह०—और देने मे बुरा भी न मालूम हो, अगर साफ सुथरे रहें। कमबख़्त कपड़े तो बनवाते ही नहीं ..।

श्रीमती गो०—और पुराने धुराने दो तो पहनते नहीं, भाई भतीजों को बांट देते हैं, और स्वयं नंग धड़ंग सामने आ खड़े होते हैं। तमीज़ छू भी नहीं गई। डाट डपट सह नहीं सकते, समझ है नहीं। मैंने एक दफे इस फुन्नचंद की मा को "गदही कह दिया तो तुनक कर चली गई, बोली हम काम ना करबे।"

श्रीमती ह०—हमारा चौकीदार था एक। सरदी हो या गरमी कपड़े उतार कर खटिया डाल कर सोया करता था। रात को सरदी मे लेहाफ से निकल कर घूमता था। सरदी में लेहाफ से निकल के घूमोगे तो सरदी हो ही जावेगी।

"एक दफे न्यूमोनिया हो गया, महीने भर पड़ा रहा। मैंने कहा 'और कहना न मान मै तन्ख़्वाह न दूंगी।' तो बहुत टर्राया। मैंने तो उसी वक्त कान पकड़ कर निकाल दिया।"

श्रीमती गो०—हमारा खुर्चन महराज है, जो कभी कपड़ा नहीं पहनता, तुमने अभी देखा था चुटिया लटकाये, मैली धोती पहने, पसीनों से तर थालिया लाया था। मानता ही नहीं कमबख़्त।

गो०—अजी मैंने अपनी धोती कुरते भी दिये कि सामने आते वक्त तो पहन ले। मगर नहीं पहनता। कपड़े धोने को साबुन देता हूं तो कहता है कपड़े फट जावेंगे।

ह०—मोरी के कीड़ों को भला सफाई सिखा सकते हो। और इन्हीं मोरी के कीड़ों के वास्ते स्वराज्य मांगा जा रहा है।

गो०—मैं तो कहता हूं जब तक हम अपना धर्म, अपना फर्ज़ न सीखेंगे; हम स्वराज्य के लायक़ हो ही नहीं सकते। अभी हमारे पढ़े लिखे लोगों तक में इन बातों का ख़याल नहीं है।

ह०—न कपड़े पहनना जाने न बात करना जानें, बस स्वराज्य दे दो।

गो०—अपने घर में तुम्हें अख़्तियार है, जो चाहो पहनो या नंगे फिरो। मगर जब नौकरी करने जाओगे, तो मालिक की सी करनी पड़ेगी। हमारी लेडीज़ के सामने कमबख़्त दो टके का आदमी सिर नंगा चुटिया फटकारे आवेगा तो हमें ग़ुस्सा कैसे न आवे?

मथुरादास इस पर हस पड़े, "मगर भाई साहब हमारी लेडीज़ को तो यह बात बुरी नहीं मालूम हो सकती। वह तो गला खुली बिना आस्तीन की फ़तोही ख़ुद ही पहनती हैं, और पल्ला भी नाम के वास्ते कन्धे पर रहता है,"—मथुरा ने कहा।

गो०—तुम तो फ़िज़ूल बातें करते हो। यह तो फ़ैशन है और जो फैशन हो गया, वह ठीक है। नंगा रहना तो जंगली होने का चिन्ह है, सभ्य पुरुष लेडीज़ के सामने बिना कुरता कब आ सकता है?

ह०—और क्या! हमारे लोग जंगली नहीं तो क्या हैं। बैल हैं बैल। बोझा लाद दो, डंडा हाथ में ले लो, जो चाहे करा लो। लू या जाड़ा एक धोती उटंगी पहन ली और बस घर से चल खड़े हुये चारा ढूढने।

गो०—और अगर कहीं नौकर रखलो, तो बस धूप में जाते जान निकले। आज ही मैंने चपरासी से चिट्ठी ले जाने को कहा, तो कहता है, 'हज़ूर आज तो बड़ी लू है'। मै तो ख़ुद बाहर तक उसी लू में गया और उसी के पास खड़ा समझाता रहा, आख़िर में डिसमिस करने की धमकी दी तब कहीं राज़ी हुआ, और देहात मे इसी लू में हल चलाते हैं। लातों के भूत बातों से कैसे माने?

ह०—ठीक है। मेरे चौकीदार साहब रहते तो नंग-धड़ंग थे; मगर जाड़ा आते ही जड़ावल मागने लगते थे। एक दफ़े तो मैंने फ्लैनल का कुर्ता दिया, मगर दो ही चार दिन बाद फिर नगा पाया। तब से मुझे इन लोगों पर से एतबार उठ गया।

गो०—मेरा तो उसूल है कि कम से कम तनख़्वाह दो और जब तक मजबूर न हो जाओ, हरगिज़ न बढ़ाओ। इनसे सख़्ती से काम लो, रू रियायत से वास्ता न रखो, तब यह ठीक रहते हैं।

ह०—जहां ज़रा भी मीठा बोल बोले और यह सिर पर चढे। उन्हें अपनी जगह रखना भी हमारा धर्म है। हमसे भी तो सख़्ती से काम लिया जाता है। चौबीसों घंटे में किसी वक़्त बुलाये जा सकते हैं। जब हमारा कोई वक़्त नहीं तो हमारे नौकरों का क्या हक़ है। फिर भी हम दो तीन घटे दोपहर को छुट्टी दे देते हैं।

म०—अच्छा भाई साहब अब चलूंगा, मुझे हिन्दू सभा की मीटिंग में जाना है।

गो०—मगर बड़ी तेज़ धूप है और लू भी ख़ूब चल रही है। जल्दी क्या है जरा शाम होने दो। कोई इस लू में आवेगा थोड़े ही। उफ़ बाहर मुंह निकालते ही तमाचा सा लग जाता है।

म०—तो हम भी तो उन्हीं मजदूरी पेशा आदमियों में हैं जो धूप जाड़े से नहीं डरते।

गो०—सो तो ठीक है, मगर उनका काम तो धूप पानी का ही है, तुम्हारा थोड़े ही।

श्रीमती गो०—तुम मुद्दत बाद तो आज आये हो, अब चाय पीकर जाना। उफ़, तीन बज गये कोई नौकर आये नहीं। जब तक आवाज़ न पड़े घर से चलने को जी नहीं चाहता। सुनते हो! ज़रा डाट कर पुकारो तो। लल्ला की तो वह सुनी अनसुनी कर देते हैं।

गोकुलदास उठे मगर कमरे से बाहर पैर रखते ही बोले ओफ़, क्या लू है बरामदा भाड़ हो रहा है। मथुरा जाना मत, मैं अभी आया। यह कहकर उन्होंने पुकारा—कोई है? इतना वक़्त हो गया आने का ख़याल ही नहीं। तीन बज गये।

गोकुल के कमरे से लौटकर आने पर मथुरा ने कहा, अभी तो चार घन्टे भी नहीं हुये भोजन किये। भूख तो है नहीं। चाय की जल्दी क्या है? श्रीमती गोकुलदास ने उत्तर दिया कि समय पर आना तो चाहिये ही, हम चाय पियें या न पियें उससे क्या!

महाराष्ट्र में साहित्य, सङ्गीत और कला

श्री व्योहार राजेन्द्रसिंह, एम० एल० ए०

बसन्त व्याख्यान माला

लोक शिक्षा के लिए बसन्त व्याख्यान माला भी एक उत्तम साधन है; जो आज ३४ वर्षों से लगातार इसी दिशा में कार्य करती आ रही है। राजनीतिक जागृति के उद्देश्य से श्री म० गो० रानाडे ने इसे सन् १८८५ में स्थापित किया था, फिर लोकमान्य तिलक ने सन् १९०७ में उसे फिर से जागृत किया। तब से वह बराबर अपना कार्य करती चली आ रही है। प्रतिवर्ष ग्रीष्म में विविध विषयों पर उन विषयों के विशेषज्ञों और विद्वानों द्वारा भाषण कराना इसका मुख्य कार्यक्रम है। ग्रीष्म-अवकाश के समय नागरिकों के ज्ञानवर्धन तथा मनोरंजन के लिए माला काफी सामग्री जुटाती है।

इस वर्ष अपने पूना प्रवास में इस माला का लाभ उठाने की इच्छा थी, किन्तु मैं मई के अन्त में पूना पहुंचा, जब कि इसका कार्यक्रम समाप्त होने को था। अत: अधिक लाभ नहीं उठा सका। जिन विषयों पर इस वर्ष भाषण हुए, उनमें से वैज्ञानिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा साहित्यिक सभी प्रकार के विषयों का समावेष था। भाषण का स्थान तिलक स्मारक मन्दिर रहता है तथा श्रोताओं के लिये टिकट भी लग जाता है। इसके अतिरिक्त "माला" के पास एक कोष है, जिसमें से व्याख्यानदाताओं को राह खर्च आदि दिया जाता है। इस प्रकार के प्रयत्न प्रत्येक नगर में होने चाहियें।

पत्र पत्रिकाएं

लोक शिक्षा के लिए पत्र पत्रिकाएं भी बड़ी साधन-सामग्री उपस्थित करती हैं। लोकमान्य का स्मारक "केसरी" आज भी अपनी गर्जना सप्ताह में दो बार सुनाता रहता है। यहीं से "मराठा" (अंग्रेजी साप्ताहिक) तथा "सह्याद्रि" (मासिक) भी निकलते हैं। केवल पूना ही से मराठी के पांच दैनिक पत्र निकलते हैं। "ज्ञानप्रकाश," "लोकशक्ति," "काल" "प्रभात," तथा "सकाल"। "चित्र मय जगत," "आनन्द," "महाराष्ट्र" और "सह्याद्रि" मासिक पत्र हैं तथा 'ध्रुव" और "शाला पत्रम्" और "झंकार" साप्ताहिक पत्र हैं। हिन्दी संसार के अभाग्यवश हिन्दी "चित्रमय जगत्" कब का बन्द हो चुका। मराठी "केसरी" के अनुकरण पर बनारस से "हिन्दी केसरी" कुछ वर्ष निकल कर न जाने किस गुफा में सो गया। हिन्दी के समान यहां पत्र पत्रिकाओं का अकालोदय और अकाल मृत्यु कम होती हैं।

महाराष्ट्र चित्रकार मण्डल

तिलक भवन के ऊपरी भाग में उक्त मण्डल की ओर से एक चित्र भवन है, जिसमें महाराष्ट्र के चित्रकारों द्वारा निर्मित चित्रों तथा मूर्तियों का सुन्दर संग्रह किया गया है।

मराठी शब्द कोष मण्डल

इसी के एक भाग में शब्द कोष विभाग भी है। श्री दाते के सम्पादकत्व में सात खण्डों में यह कोष निकल चुका है। अब दूसरे संस्करण के लिए उसके संशोधन का कार्य चालू है।

संगीत

महाराष्ट्र में साहित्य के साथ साथ संगीत प्रेम भी विशेष है। जहां देखिये वहीं संगीत शालाओं और कक्षाओं के साइन बोर्ड लगे हुए हैं। शास्त्रीय संगीत के लिए महाराष्ट्र प्रसिद्ध ही है। एक दो नृत्यकला मन्दिर भी हैं। प्रति रविवार को किसी

स्थान पर संगीत की बैठकें होती हैं। उनमें से एक में शामिल होने का सौभाग्य मिला। यहा अनेक संगीत प्रेमी पारी पारी से गायन वादन करते जाते तथा संगीत रस में श्रोता तथा गायक वादक सब तन्मय होते जाते थे।

हमारे यहा संगीत अब सिनेमाओं में रह गया है। बहुत हुआ तो वेश्याएं शादी आदि अवसरो पर बुलाली जाती हैं। सो वह भी रेडियो तथा समाज सुधार के वेश्या बहिष्कार के कारण बन्द हो गया। इसका एक फल यह हुआ कि वेश्याएं अब केवल व्यभिचार की साधन रह गई। उनका कलात्मक उपयोग बिलकुल बन्द हो गया। शिक्षित लोग गायन वादन को हेय समझते हैं। हमारे यहा भी शिक्षित की संगीत बैठकें शुरू होनी चाहिये।

औद्योगिक प्रदर्शन

वैसे तो समय समय पर औद्योगिक प्रदर्शनिया हुआ करती हैं, जिनसे लोगों को सामयिक लाभ पहुँचता रहता है। किन्तु स्थायी रूप से औद्योगिक वस्तुओं का प्रदर्शन रहने से उद्योग के विद्यार्थियों तथा साधारण जनता को भी स्थायी लाभ पहुँचता रहता है। इसीलिए रे मार्केट (अथवा महात्मा फुले मार्केट) के ऊपर इसी प्रकार का स्थायी प्रदर्शन नगर पालिका द्वारा रक्खा गया है। यहां महाराष्ट्र के विशेष व्यवसायों के नमूने एकत्रित हैं। कपड़ा, साबुन, सीमेंट, पत्थर, लोहा, काग़ज़, बर्तन, लकड़ी, काच आदि के सुन्दर नमूने हम यहाँ देख सकते हैं। तीन खण्ड के सुन्दर अठ पहले भवन में ये सब चीज़ें सुन्दरता तथा व्यवस्था पूर्वक सजाई हुई हैं। नक़्शे, चार्ट, तथा रिलीफ़ नक़्शों से दक्षिण की नहरों की व्यवस्था आदि बातें एक दृष्टि में समझ में आ जाती हैं। कल कारखानों के भी चित्र हैं। प्रसिद्ध व्यवसायियों के तैल चित्र भी लगे हुए हैं। इनके अतिरिक्त कुछ कला कृतिया भी यहा देखने को मिल जाती हैं।

इसी प्रकार का एक और प्रदर्शन इस भवन में है, जहा मिट्टी लकड़ी लोहे आदि की तैयार वस्तुओं का स्थायी प्रदर्शन के रूप में संग्रह किया गया है।

महाराष्ट्रीय मण्डल

यह संस्था लगभग २५ वर्षों से व्यायाम शिक्षण का महत्त्वपूर्ण कार्य कर रही है। भारतीय तथा पश्चिमी दोनों प्रकार के व्यायामों का शास्त्रीय शिक्षण यहा दिया जाता है। गर्मी के दिनों में प्रति वर्ष शिक्षा शिविर खोले जाते हैं। जिनमें बाहर से भी लोग बड़ी सख्या में व्यायाम शिक्षा लेने आते हैं। इस वर्ष भी यही क्रम जारी था। वैसे तो महाराष्ट्र में व्यायाम का विशेष प्रचार है। प्राथमिक शालाओं से लगाकर कालेजों तक में व्यायाम शालाएं बनी हुई हैं, जिनमें विद्यार्थी बड़े चाव से भाग लेते हैं। बालकों ही की शालाओं मे नहीं किन्तु बालिकाओं तथा स्त्रियों की सस्थाओं में भी व्यायाम का पूरा प्रचार है।

धार्मिक सभा समाज

श्री रानाडे का प्रार्थना समाज सप्ताह में एक दिन जगकर अपनी याद दिला दिया करता है। किन्तु एनीबीसेण्ट की "थियोसोफिकल सोसाइटी" शायद उनकी श्राद्ध तिथि ही पर खुलती होगी। आर्य समाज क़ायम अवश्य है, किन्तु उतना प्रबल नहीं दीखता। एक जगह 'ख्रिस्ट सेवा सघ' का बोर्ड टंगा हुआ भी देखा, किन्तु यह भी शायद रविवार को "ईसूमसी मोरे प्राण बचैया" गाकर सो जाता होगा।

सामाजिक सस्थाए

श्री० एम० सी० राजा का डिप्रेस्ड क्लासेज़ मिशन का मुख्य दफ़्तर भी यहीं है। 'हरिजन सुधार मण्डल' तथा हरिजन सेवक संघ का कोई पता नहीं लग सका। "समाज विचार मण्डल" के प्रसिद्ध अग्रेमाटे विवाद से पूना की जनता का काफ़ी मनोरंजन हो चुका है। "विधवा विवाह मण्डल" की तख़्ती भी एक जगह देखने में आई।

साहित्यिक संस्थाएं

साहित्यिक संस्थाओं में महाराष्ट्र परिषद्, महाराष्ट्र शारदा पीठ, दि डेकन वर्नाक्यूलर ट्रान्सलेशन सोसाइटी, हिन्दी प्रचार संघ, वक्तृत्वोत्तेजक सभा, वेद शास्त्रो-त्तेजक सभा तथा तिलक विद्यालय मुख्य हैं।

प्राचीन जीवन के सुकुमार विनोद

—(०)—

श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी

(२)



श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी

नागरक के बैठक घर में जो दरी बिछी रहती थी, वह चतुरङ्ग क्रीड़ा या अक्षक्रीड़ा के लिये हुआ करती थी। चतुरङ्ग का खेल भारतवर्ष में बहुत प्रचलित था और इसी ने फ़ारस में जाकर शतरञ्ज नाम ग्रहण किया है। भारतवर्ष से यह खेल सारे संसार में फैल गया है। स्याम, चीन, कोरिया और जापान में भी इस खेल का जाना बताया जाता है। हाल ही में कलकत्ता विश्वविद्यालय के डाक्टर मनोमोहन घोष महाशय ने विश्वभारती ग्रन्थगार की एक हस्तलिखित प्रति के आधार पर 'चतुरङ्गदीपिका' नामक ग्रन्थ का सम्पादन किया है। इस ग्रन्थ से जान पड़ता है कि चतुरङ्ग खेलने के लिये ६४ खानों का एक वर्ग होता था। चार आदमी मिलकर यह खेल खेलते थे। विजिगीपु और मित्र एक तरफ और अरि और अरिमित्र दूसरी तरफ। चारों के पास चार कोनों पर आठ आठ गोटिया होती थीं, जो लाल, काले, पीले और हरे रंगों में रंगी होती थीं। गोटियों में एक राजा, एक हाथी, एक घोड़ा, एक नौका और चार पत्ति या पैदल सिपाही हुआ करते थे। प्राचीन साहित्य में इस खेल का बहुत अधिक उल्लेख मिलता है। इसके सिवा और भी कई प्रकार के अक्षद्यूत प्रचलित थे। कामसूत्र में अक्षक्रीड़ा के लिये विशेष प्रकार के उत्सव विनोद का भी वर्णन है, जिसे हम ऋतु संबधी उत्सवों और समस्या क्रीड़ा के अवसर पर लिखेंगे।

राजाओं और अन्य समृद्ध नागरकों के बैठकों में जो मित्र आया करते थे, वे किस प्रकार का विनोद करते थे, इसका आभास कादम्बरी के एक वर्णन से मिल जाता है। जब समस्त कलाओं की शिक्षा पाकर चन्द्रापीड़ लौटे और अपने पिता की उस सभा में गये, जिस में प्रसिद्ध राजकुमार लोग महाराज के आने की प्रतीक्षा कर रहे थे, और जो राज भवन के भीतर था, तो देखा कि वहां बैठे हुए सम्भ्रान्त राजा और राजकुमार गण नाना स्थानों पर बैठकर कोई दुरोदर क्रीड़ा या अक्षद्यूत खेल रहे थे; कुछ लोग अष्टापद या चतुरंग की क्रीड़ा में व्यस्त थे, कुछ लोग वीणा बजा रहे थे, कुछ लोग चित्र-फलक पर राजा की प्रतिकृति बना रहे थे, कुछ लोग काव्य गोष्ठी या कवि सम्मेलन जैसी मजलिस जमाये बैठे थे, कुछ

लोग आपस में परिहास कर रहे थे, कुछ लोग विन्दुमती की चिन्ता कर रहे थे, कुछ लोग किसी प्रहेलिका के सुलझाने में उलझे हुए थे। कुछ लोग राजा के लिखे काव्य सुभाषितों का पाठ कर रहे थे, कुछ लोग द्विपदी की तान छेड़े हुए थे, कुछ लोग कवियों के गुणों की विवेचना कर रहे थे, कुछ लोग पुष्पों की पङ्खड़ियों से बहुविधि आकृतियों का निर्माण कर रहे थे, कुछ लोग वैतालिक गीत सुन रहे थे और कुछ मनचले वारविलासिनियों के साथ बातें कर रहे थे। इस तरह समूचा सभाभवन विनोदियों के विनोद का क्रीड़ास्थल बना था।

इस सभा में जिसकी काव्य गोष्ठी की चर्चा है, वह भी प्राचीन भारत का एक अत्यन्त परिचित और प्रिय विनोद था। कामसूत्र की जयमङ्गला टीका से इन काव्य विनोदों में से कुछेक का संग्रह किया जा रहा है—

(१) प्रतिमाला या अन्त्याक्षरी में एक आदमी एक श्लोक पढ़ता था और उसके पठित श्लोक के अन्तिम अक्षर से शुरू करके दूसरा अन्य श्लोक पढ़ता था[1]। यह परम्परा लगातार चलती रहती थी। (२) दुर्वाचक योग के लिए ऐसे कठोर उच्चारण वाले शब्दों का श्लोक सामने रखा जाता है जिसे पढ़ सकना बड़ा मुश्किल होता था[2]। (३) पुस्तक वाचन की कला का जानकार वह माना जाता था, जो काव्यादि को उपयुक्त काकु के साथ पढ़ सकता हो। (४) काव्य समस्याओं की पूर्ति करने के लिए उन दिनों के कवि नाना प्रकार के उपायों का अभ्यास करते थे। अद्भुत अद्भुत समस्यायें दी जाती थीं, कवि लोग भी अपने रचना कौशल से उनकी पूर्ति किया करते थे। (५) अक्षर मुष्टि दो तरह की होती थी, साभासा और निराभासा। साभासा संक्षिप्त करके बोलने की कला है[3] जैसे 'फाल्गुन, चैत्र, वैशाख' को फा चै वै कहना इस प्रकार के संक्षिप्तीकृत श्लोकों का अर्थ निकालना सचमुच ही टेढ़ी खीर है। निराभासा अक्षर मुष्टि गुप्त भाव से बात चीत करने की कला है। इसके लिए उन दिनों नाना भांति के संकेत प्रचलित थे। हथेली और मुट्ठी को भिन्न भिन्न आकार में दिखाने से भिन्न भिन्न वर्ग सूचित होते हैं। जैसे कवर्ग के लिए मुट्ठी बांधना, चवर्ग के लिये किसलय के समान बनाना इत्यादि। वर्गों के अक्षरों के लिए अंगुलियों को उठा कर काम चलाया जाता था। जैसे ग कहना हुआ तो किसलय जैसा हाथ करके तीसरी उङ्गली उठायी जाती थी। इस तरह अक्षर तै हो जाने पर पोरो पर से अकार उकार आदि का इशारा किया जाता था। नाना प्रकार से इन संकेतों का वर्णन पुराने ग्रंथों में है[4]। (६) गूढ़ बात की मंत्रणा के लिये भाषा को नाना प्रकार से विकृत करके बोलने को म्लेच्छित विकल्प कहते थे। कभी ह्रस्व को दीर्घ दीर्घ ह्रस्व करके, कभी प्रत्येक दो अक्षर के बीच कुछ अट संट जोड़ करके, नाना प्रकार से यह संकेतित भाषा चलती थी। (७) संपाठ्य उस कला को कहते थे, जब, एक आदमी कुछ पढ़ता था और दूसरा हू बहू उसे दुहरा देता था। (८) मानसी कला एक अच्छा साहित्यिक विनोद थी। कमल के या अन्य किसी वृक्ष के पुष्प अक्षरों की जगह पर रख दिये जाते थे और उनमें इकार, उकार, अनुस्वार, विसर्ग लगा दिये जाते थे। इसको

१—प्रतिश्लोकं क्रमाद्यत्र संधायाक्षरमन्तिमम्।
पठेतां श्लोकमन्योन्यं प्रतिमालेति सोच्यते।

२—काव्यादर्श में एक ऐसा ही श्लोक इस प्रकार है—
दंष्ट्रा गर्द्धा प्रग्यो द्राक्ष्मामब्वन्तः स्थामुचिक्षेप।
देवध्रुर्टाचक्षयुत्विकस्तुत्यो युष्मान्सोऽव्यात्स-
र्पत्केतुः।

३—जयमंगला टीका में यशोधर ने आचार्य रविगुप्त के चंद्रप्रभा विजय काव्य से इसके उदाहरण के लिए एक श्लोक उद्धृत किया है। एक लाइन यहां दी गई है जिसमें बारह राशियों और बारह भावों के नाम के प्रथम अक्षर हैं—
मेवृमिकसितुवृधमकु भीमृयमवांसुशकनिधक आव्याः।

४—एक संकेत इस प्रकार है—
मुष्टिः, किसलयचैव, छटा च त्रियताकिका
पताकंकुशमुद्राश्च मुद्रावर्गेशु सप्तसु।

पढ़ना पड़ता था। पढ़नेवाले की चातुरी इस बात पर निर्भर करती थी कि वह उन इकार, उकार, अनुस्वार, विसर्गों को लगा कर एक ऐसा छन्द बनाले, जो सार्थक भी हो और छन्द के नियमों के विरुद्ध न हो। बिंदुमती से यह मिलता जुलता है। मानसी कला का और भी कठिन रूप वह है, जब कि पढ़ने वाले के सामने फूल आदि नहीं हैं, केवल उसे एक बार सुना दिया गया है कि कहां कौन सी मात्रा है और कहां अनुस्वार विसर्ग है। (९) छलितक योग में अन्य रूप को प्रकाशित करके अन्य वस्तु के समझने के लिये श्रोता को धोखा दिया जाता था। इनके अतिरिक्त कलाओं में काव्य-नाटक-आख्यायिका-व्याकरण-छन्दोज्ञान, कोषज्ञान आदि हैं जो बहुत प्रसिद्ध हैं।

अब यदि इस प्रकार के समाज में कवि को कीर्ति प्राप्त करना है तो उसे इन विषयों का अभ्यास करना ही होगा। यही कारण है कि भारतीय साहित्य में यद्यपि रस को काव्य का सर्वश्रेष्ठ उपादान स्वीकार किया गया है तथापि नाना प्रकार की शब्द चातुरी और अर्थ चातुरी को भी स्थान दिया गया है। भारतवर्ष जिन दिनों सम्पन्न और समृद्ध था उन दिनों उसका कला विलास अपने अपने युग के अन्यान्य सम्पन्न देशों के कला-कौतुक से कहीं अधिक सुकुमार और कहीं अधिक मनोज्ञ था। यहां के बड़े धनाढ्य और राजे महाराजे जिन गोष्ठियों और कवि सभाओं की व्यवस्था करते थे, उनसे अधिक सुसंस्कृत सभाओं और गोष्ठियों की कल्पना आज भी सभ्य संसार नहीं कर सका है। राजशेखर की काव्य मीमांसा से हम इस प्रकार की सभा की एक झलक पाते हैं। राजा का यह कर्तव्य समझा जाता था कि वह कवि समाज का आयोजन करे। राजा यदि काव्य का आदर करता है तो सारा राज्य काव्य का आदर करता है। काव्य परीक्षा के लिए भी एक बड़ा सभा मण्डप बनाना उसका कर्तव्य होता था।

काव्य मीमांसा में राजशेखर ने इस प्रकार की सभा को राजा का कर्तव्य बताया है। परन्तु सचमुच ही ऐसी गोष्ठियां होती थीं, इस बात के ऐतिहासिक प्रमाण हैं। खुद राजशेखर ने लिखा है कि उज्जयिनी में काव्यकारों की ऐसी परीक्षा हुई थी। कालिदास और मेंठ की; अमर-रूप-शूर और भारवि की; हरिश्चंद्र और चंद्रगुप्त की काव्य योग्यता की परीक्षा उज्जयिनी में हुई थी[1]। पाटलिपुत्र में शास्त्रकारों की परीक्षा हुई थी—वर्ष और उपवर्ष, पाणिनि और पिंग, व्याडि, वररुचि और पतंजलि यहीं परीक्षित होकर प्रख्यात हुए थे[2]।

राजशेखर ने कई प्रसिद्ध राजाओं के नाम गिनाये हैं जिन्हों ने कवि सभाओं का आयोजन किया था। ये हैं—वासुदेव, सातवाहन, शूद्रक, साहसाङ्क (विक्रमादित्य) आदि। उदयसुंदरी काव्य के प्रथमोच्छ्वास में इन सभापति नरेशों का उल्लेख है। विक्रमादित्य ने, इस काव्य के अनुसार कृती कवियों और पंडितों के गृह को हाथियों से भर दिया था, हाल जैसे गुणज्ञ राजा के स्वर्गस्थ होने पर कृति कविगण 'हा' 'हा' करते रहे; श्री हर्ष ने बाण कवि का घर सोने से भर दिया था; युवराज नरेंद्र ने तो कवि को अपने आसन पर साथ बैठा लिया था।

जैसा कि शुरू में ही कहा गया है अन्तःपुर से बाहर वाले प्रथम प्रकोष्ठ में तरह तरह के पक्षी विनोद के लिये पोसे जाते थे। इनमें कुक्कुट (मुर्ग़े), कुरर, कपिंजल, लावक और वार्तिक नामक पक्षी हैं, जिनकी लड़ाई से नागरिकों का मनोविनोद हुआ करता था।'[3] इसी प्रकोष्ठ में चकोर, कादम्ब (एक हंस), हारीत और कोकिल की आवाज़ सुनाई दे जाती थी, और शुक सारिकाओं की मज़ेदार बातें भी कर्णगोचर हो जाती थीं। वात्स्यायन ने कामसूत्र

१—इह कालिदास मेण्ठावत्रामर रूप सूर भारवयः।
हरिश्चंद्र चंद्रगुप्तौ परीक्षिताविह विशालायाम्।
२—अत्रोपवर्ष वर्षाविह पाणिनि पिंगलाविह व्याडिः।
वररुचि पतञ्जलीइह परीक्षिताः ख्यातिमाजग्मुः।
—काव्य मीमांसा, पृष्ठ ५५
३—कादम्बरी, पृ०, १७३।

में (पृ० ४७) नागरिकों को भोजन के बाद शुक-सारिका का आलाप तथा लावक-कुक्कुट और मेषों के युद्ध के देखने की व्यवस्था की है।[1] भोजन के बाद तो प्रत्येक सम्भ्रान्त नागरिक इन क्रीड़ाओं को अपने मित्रों-सहित देखता ही था; उद्यान-यात्राओं के समय इनका महत्त्व बहुत बढ़ जाता था। निश्चित दिन को पूर्वाह्न में ही नागरिकगण सजधज कर तैयार हो जाते थे। घोड़ों पर चढ़कर जब वे किसी दूरस्थित उद्यान की ओर—जो एक दिन में पहुँचने लायक दूरी पर हुआ करता था—चलते थे, तो उनके साथ पालकियों पर या बहलियों में वारवधूटियां चला करती थीं और पीछे परिचारिकाओं का झुंड चला करता था। इन उद्यान-यात्राओं में कुक्कुट, लाव और मेष-युद्ध का आयोजन होता था, हिंडोल-विलास की व्यवस्था रहा करती थी और यदि ग्रीष्म का समय हुआ, तो जलक्रीड़ा भी होती थी।[2] कभी कभी कुमारियां और विवाहित महिलाएं भी उद्यान यात्राओं में या तो पुरुषों के साथ या स्वतन्त्र रूप से शामिल होती थीं। पर कामसूत्र पर अगर विश्वास किया जाय, तो इन यात्राओं में लड़कियों का जाना सब समय निरापद नहीं होता था—विशेष करके जब कि वे स्वतन्त्र रूप में पिकनिक के लिए निकली हुई हों। असच्चरित्र पुरुष प्रायः बालिकाओं का अपहरण करते थे। इन उद्यान-यात्राओं में जब दो प्रतिद्वन्द्वी नागरिकों के मेष या लाव या कुक्कुट जूझते थे, तब प्रायः बाज़ी लगाई जाती थी, और उस समय दोनों पक्षों में बड़ी उत्तेजना का संचार हो जाया करता था। कभी कभी छोटी मोटी लड़ाइयां भी ज़रूर हो जाती रही होंगी तभी तो परमधार्मिक महाराज अशोक ने इन खून खच्चर वाले तामसिक खेलों को बन्द करा दिया था।

शुक सारिकाएं केवल विलासी नागरिकों के बहिर्द्वार पर ही नहीं मिलती थीं, बड़े-बड़े पंडितों के घरों की शोभा भी बढ़ाती थीं। शंकराचार्य को मंडन मिश्र के घर का मार्ग बताते समय स्थानीय परिचारिका ने कहा था, जहां शुकसारिकाएं 'स्वतः प्रमाणं'' 'परतः प्रमाणं' का शास्त्रार्थ कर रही हों, वही मंडन मिश्र का द्वार है—"स्वतः प्रमाणं" परतः प्रमाणं कीरांगना यत्र गिरोगिरन्ति।" सुप्रसिद्ध कवि बाणभट्ट ने अपने पूर्व-पुरुष कुबेर भट्ट का परिचय देते हुए बड़े गर्व से लिखा है कि उनके घर के शुकों और सारिकाओं ने समस्त वाङ्मय का अभ्यास कर लिया था, और यजुर्वेद और सामवेद का पाठ करते समय पद-पद पर ये पक्षी विद्यार्थियों की ग़लतियां पकड़ा करते थे। बेचारे विद्यार्थी सदा डरते-डरते सामगान किया करते थे।[1] ऋषियों के आश्रम में भी शुक-सारिकाओं का वास था। किसी वृक्ष के नीचे शुक-शावक के मुख से गिरे हुए नीवार (वन्य धान) को देखकर ही दुष्यन्त को यह समझने में देर नहीं लगी थी कि यहां किसी ऋषि का आश्रम है।[2] वस्तुतः शुक सारिका उस युग में अन्तःपुर से लेकर तपोवन तक सर्वत्र सम्मानित होते थे। मनुष्य के सुख दुःख के साथ उनका सुख दुःख इस प्रकार गुथा हुआ था कि एक

१ भोजनानन्तर शुकसारिका प्रलापन व्यापाराः, लावकुक्कुट-मेषयुद्धानि तास्ताश्च कालक्रीडाः पीठमर्दविटविदूषकायत्ता व्यापारा दिवाशय्या च

२ पूर्वाह्ण एव स्वलंकृतास्तुरगाधिरूढा वेश्याभिः सह परिचारिकानुगताः गच्छेयुर्दैवसिकीं च यात्रां तत्रैवानुभूय कुक्कुटलावकमेषयुद्धस्तैः प्रेक्षाभिरनुकूलैश्च चेष्टितैः कालं गमयित्वाऽपराह्णे गृहीत तदुद्यानोपभोग चिह्नास्तथैव प्रत्याव्रजेयुः। एतेन रचितोद्ग्राहोदकानां ग्रीष्मे जलक्रीडा गमनं व्याख्यातम्। पृ० ५३

१. जगुर्गृहेऽभ्यस्त समस्त वाङ्मयैः,
ससारिकैः पंजरवर्तिभिः शुकैः
निगृह्यमाणाः बटवः पदेपदे यजूंषि सामानि च यस्य शंकिताः ॥

--कादम्बरी, १२

२. नीवाराः शुककोटरार्भक मुख भ्रष्टास्तरूणामधः।
प्रस्निग्धाः क्वचिदिंगुदी फलभिदः सूच्यन्त एवोपलाः।
विश्वासोपगमादभिन्न गतयः शब्दं सहन्ते मृगाः
तोयाधारपथाश्च वल्कल शिखानिष्यन्द रेखांकिताः।

—शकुन्तला, १-१४

को दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। अमरूक-शतक में एक बड़ा ही मर्मस्पर्शी दृश्य है, जब कि मानवती गृहदेवी के दुःख से दुःखी होकर प्रियवाहर नाखून से ज़मीन कुरेद रहा है, सखियों ने खाना-पीना बन्द कर दिया है, रोते रोते उनकी आंखें सूज गई हैं और पिंजड़े के सुग्गे अज्ञात वेदना के कारण हंसना पढ़ना बन्द किये सारे व्यापार को समझने की चेष्टा करते हैं![1]

शुभाशुभ जानने के लिए उन दिनों कई पक्षियों की गति विधि जानना भी एक कला मानी जाती थी। वस्तुतः शकुन (हिन्दी 'सगुन') शब्द का अर्थ ही पक्षी है। इन शकुन-निर्देशक पक्षियों के कारण संस्कृत-साहित्य मे एक अत्यन्त सुकुमार भाव का प्रवेश हुआ है, और सारा साहित्य इससे समृद्ध हो गया है। वराहमिहिर की बृहत्संहिता[2] में निम्न-लिखित पक्षियों को शकुन-सूचक पक्षी कहा गया है—श्यामा, श्येन, शशघ्न, वञ्जुल, मयूर, श्रीकर्ण, चक्रवाक, चाष, अरुडीरक, खंजन, शुक, काक, तीन प्रकार के कपोत, भारद्वाज, कुलाल, कुक्कुट, खर, हारीत, गृध्र, पूर्णकूट और चटक। संस्कृत साहित्य मे इन पक्षियों के शकुन के कारण बड़ी-बड़ी घटनाओं के हो जाने का परिचय मिलता है। कभी-कभी शकुन मात्र से भावी राज्य-क्रान्ति का अनुमान किया गया है और उस पर से सारे प्लाट का आयोजन हुआ है। शकुन-सूचक पक्षियों के कारण सूक्तियां भी खूब कही गई हैं।

वस्तुतः जिन दिनों संस्कृत के काव्य-नाटकों का निर्माण अपने पूरे चढाव पर था, उन दिनों केलि-गृह और अन्तःपुर के प्रासाद-प्रांगण से लेकर युद्ध-क्षेत्र और वानप्रस्थों के आश्रम तक कोई-न-कोई पक्षी भारतीय सहृदय के साथ अवश्य रहा करता था। वह विनोद का साथी था, रहस्यालाप का दूत था, भविष्य के शुभाशुभ का द्रष्टा था, वियोग का सहारा था, संयोग का योजक था, युद्ध का संदेशवाहक था, और जीवन का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं था, जहां वह मनुष्य का साथ न देता हो। कभी भवन-वलभी में सोये हुए पारावत के रूप में, कभी मानिनी को हंसा देने वाले शुक के रूप में, कभी अज्ञात प्रणयिनी के विरहोच्छ्वास को खोल देने वाली सारिका के रूप में, कभी नागरिकों की गोष्ठी को उत्तेजित कर देनेवाले योद्धा कुक्कुट के रूप में, कभी भवन-दीर्घिका (अन्तःपुर के तालाब) मे मृणाल तन्तुभक्षी कलहंस के रूप में, कभी अज्ञात प्रिय के सन्देशवाहक राजहंस के रूप मे, कभी चूत कषाय-कंठ से विरहिणी के दिल में हूक पैदा कर देनेवाले कोकिल के रूप में, कभी नूपुर की झंकार से क्रेंकार ध्वनिकारी सारस के रूप में, कभी कंकण की रुनझुन से नाच पड़नेवाले मयूर के रूप में, कभी चन्द्रिकापान मे मदविह्वल होकर मुग्धा के मन मे अपरिचित हलचल पैदा कर देने वाले चकोर के रूप में वह प्रायः इस साहित्य में पाठक की नज़रों से टकरा जाता है। इन पक्षियों को संस्कृत-साहित्य में से निकाल देने से वह अत्यन्त निर्जीव हो जाता है।

महाभारत में एक पक्षी ने एक मनुष्य से कहा था कि मनुष्य और पक्षियों में सम्बन्ध दो ही तरह के हैं—भक्षण का सम्बन्ध और क्रीड़ा का सम्बन्ध। अर्थात् मनुष्य या तो पक्षियों को खाने के काम में लाता है या उन्हें फंसाकर उनसे मनोविनोद किया करता है—और कोई तीसरा सम्बन्ध इन दोनों में नहीं है। एक वध का सम्बन्ध है और दूसरा बन्ध का।[1] परन्तु समस्त संस्कृत-साहित्य और स्वयं महा-

---

१ लिखन्नास्ते भूमिं बहिरवनतः प्राणदयितः
निराहाराः सख्यः सतत रुदितोच्छून नयनाः
परित्यक्तं सर्वं हसित पठितं पंजरशुकैः
तवावस्था चेयं विसृज कठिने मानमधुना ?
—अमरूकशतक

२ श्यामा श्येन शशघ्न मंजुल शिखी श्रीकर्ण चक्राहवया-
श्चाषारुडीरक खंजरीटक शुकध्वांक्षाः कपोतास्त्रयः ।
भारद्वाज कुलाल कुक्कुट खरा हारीत गृध्रौकपिः
फेटः कुक्कुट पूर्णकूट चटकाश्चोक्ता दिवासंचाराः ।८८-१

१ भक्षार्थं क्रीडनार्थं वा नरा वाञ्छन्ति पक्षिणाम् ।
तृतीयो नास्ति संयोगो बधबंधादृते क्षमः ।
--म० भा० शान्तिपर्व, १३९-९०

भारत इस बात का सबूत है कि एक तीसरा सम्बन्ध भी है। यह प्रेम का सम्बन्ध है। अगर ऐसा न होता, तो कमल-पत्र पर विराजमान बलाका (बक-पंक्ति), जो मरकतमणि के पात्र में रखी हुई शंख शुक्ति के समान दीख रही है, अकारण मानव हृदय में आनन्दोद्रेक न कर सकती[1]; तपोनिरता पर्वत-कन्या जब कड़ाके की सर्दी में जल-वास करती होती, तो दूर से एक दूसरे को पुकारनेवाले चक्रवाक-दम्पति के प्रति अहेतुक कृपावती न हो जाती[2]; धान से लहराते हुए, मृगागनाओं से अध्युषित और क्रौंच पक्षी के मनोहर निनाद से मुखरित सीमान्त केका के साथ मनुष्य के चित्त को इतना चंचल न कर सकते[3]; और न ऐसी नदियां, जिनकी कांची क्रौंचों की श्रेणी है, जिनका कलस्वन कलहंसों का निनाद है, जिनकी साड़ी जलधारा है, जिनके कान के आभरण तीरद्रुम के पुष्प हैं, जिनका श्रेणी-मण्डल जल स्थल का संगम है, जिनके उरस्य उन्नत पुलिन हैं, जिनकी मुसकान हंसश्रेणी है, ऐसी नदियों के तटपर ही देवता रमण कर सकते हैं—यह बात ही मनुष्य के मन में आ पाती[4]!

ऐसे अन्तःपुर में कोमल-कला-विलास न हो तभी आश्चर्य है। कादम्बरी से ही पता चलता है कि अन्तःपुर की कुमारिकायें विविध अक्षक्रीड़ा, वीणा वादन, पणववाद्य, गान, सुभाषित आदि विविध सुकुमार कलायें जानती थीं[1]। कवित्व के अंश को हटा दिया जाय तो अन्तःपुर में कुमारिकायें वंशी वीणा बजा रही थीं, कलश से पुष्प लताओं को सींच रही थीं, झूला झूल रही थीं और कंदुक क्रीड़ा या गेंद खेल रही थीं। इस कंदुक क्रीड़ा का भूरिशः वर्णन संस्कृतकवियों ने किया है। कंदुक कभी वस्त्र के और कभी पुष्प के बनाये जाते थे। कुमारिकायें जब कंदुक क्रीड़ा मे व्यस्त होती थीं, तब संस्कृत कवि की गवाही पर मालूम होता है, कि उनके चरणों में अमन्द मणिनूपुर क्वणित होता रहता था, मेखला झनझनाती रहती थी, कभी कभी हार के तार टूट जाते थे और सोने की चूड़िया चचल भाव से वाचाल हो उठती थीं[2]। इस प्रकार सुभ्रुवों की मनोहर कदुक क्रीड़ा हेमन्त ऋतु मे विशेष रूप से होती थी। एक दूसरी गवाही से जान पड़ता है कि उनके चरण-पल्लवों के मंजीर क्वणित होते रहते थे। उरो देश पर से खिसका हुआ साड़ी का छोर मुहुर्मुहुः कंपित होता रहता था, सोने की मेखला रणित हो उठती थी—जब कि एक कुमारिका दूसरे का निक्षिप्त पुष्प-कदुक अपने कमल कोमल हाथों मे ग्रहण करती थी[3]। कामसूत्र से मालूम होता है कि महिलाओं की—विशेषकर कुमारिकाओं की—भी वैसी ही गोष्ठिया हुआ करती थीं जैसी पुरुषों की। कभी कभी अन्तःपुरचारिणियां नगर के बाहर उद्यानो मे उद्यान यात्रा और पिकनिक के लिये आया करती थीं और विविध-विध सुकुमार कलाओं से मनोविनोद किया करती थीं। कामसूत्र में ही अन्यत्र लिखा है कि ऐसी

१. उअणिच्चल-णिप्पंदा भिसिणी-पत्तम्मि रेहइ बलाआ ।
णिम्मल-मरगअ-भाअण-परिट्ठिआ संख सुत्ति व्व ॥
—हाल सतसई, १-४

२. निनाय साऽत्यन्त हिमोत्करानिलाः सहस्य रात्रीरुदवास तत्परा: ।
परस्पराक्रन्दिनि चक्रवाकयोर्मियो वियुक्ते मिथुने कृपावती
—कुमारसम्भव, ५-२६

३ प्रभूतशालिप्रसवैश्चितानि मृगांगनायूथविभूषितानि ।
मनोहर क्रौंचनिनादितानि सीमान्तराण्युत्सुकयन्तिकेकाः ।
—ऋतुसंहार, ३

४. क्रौंचकांचीकलापाश्च कलहंस कलस्वनाः ।
नद्यस्तोयांशुकायत्र शफरीकृतमेखलाः

१ कादम्बरी पृ० ३५६

२ अमन्दमणिनूपुरक्वणनचारु चारिक्रमं
झणज्झणित मेखला स्खलित तारहारच्छटम् ।
इदं तरल कंकणावलिविशेष वाचालितं
मनोहरति सुभ्रुवः किमपि कन्दुक क्रीडनम् ।

३ भ्रमच्चरणपल्लवक्वणदमन्दमंजीरकं
परिस्खलदुरोरुह-स्तबक-कम्पमानांशुकम् ।
रणत्कनकमेखलं करसरोरुहाभ्यां पुरः
पतन्तमग्रहीद्दे कुसुम कन्दुकं सुन्दरी

उद्यान यात्राओं के समय कन्याओं को उड़ाया जा सकता है। इससे जान पड़ता है कि ऐसी यात्रायें सब समय आनन्द का कारण नहीं होती होंगी। कभी कभी दुर्घटनायें भी होती होंगी और शायद इसीलिये उन दिनों इन उद्यान यात्राओं को अच्छा नहीं समझा जाता होगा।

यद्यपि संस्कृत काव्य में अन्तःपुर के मनोहर वर्णन मिलते हैं फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि सम्मिलित परिवार की प्रथा तथा बहुविवाह के कारण ये अन्तःपुर कलह और अविश्वास के केन्द्र थे। कामसूत्र में उन स्त्रियों को सन्देह की नज़रों से देखने को कहा गया है जो अधिक गोष्ठियों में जाया करें या उनका आयोजन किया करें[1]। संस्कृत काव्य में सास, जेठानी और ननद का भय पूरी सचाई के साथ परिस्फुट हुआ है। राजाओं के अन्तःपुर में सब कुछ अच्छी तरह ही नहीं चला करता था इसका प्रमाण वृहत्संहिता में वराहमिहिर ने संग्रह किया है। विदूरथ राजा की अपनी ही रानी ने वेणी में छिपाये हुये शस्त्र से उसकी हत्या की थी और काशिराज की रानी ने नूपुर में ज़हर लगाकर राजा के प्राण ले लिये थे।[2] इस प्रकार और भी बहुत सी घटनायें निश्चय ही घटी होंगी पर 'रस' को ध्वनित करने के प्रयासी संस्कृत काव्यों ने इन व्यापारों को अधिक महत्त्व नहीं दिया है।

सब होते हुये भी ऐसे कलामय वातावरण में निवास करने वाली स्त्रियां निश्चय ही सहृदय और कवि होती होंगी। राजशेखर ने ठीक ही कहा है कि कवित्व लिंग विशेष की अपेक्षा नहीं करता। पुरुषों की भांति स्त्रिया भी कवि हो सकती हैं। बुद्धि, मन आदि का संस्कार आत्मा में होता है और आत्मा में स्त्री पुरुष का कोई भेद नहीं है। बहुत सी राजकुमारियां, महामन्त्रियों की कन्यायें, गणिकायें और कौतुकियों की भार्यायें कवि और शास्त्रज्ञ हो गई हैं[1]। वात्स्यायन के कामसूत्र में भी (१-३.१२) ऐसी ही बात कही गई है। सूक्ति मुक्तावली में ऐसी पांच महिला कवियों की प्रशंसा-सूचक कवितायें राजशेखर के नाम पर संगृहीत की गई हैं। ये हैं—शीला भट्टारिका विकट नितंबा, विजयांका और सुभद्रा। स्वय राजशेखर की पत्नी अवन्तिसुन्दरी काव्य-विद्या की आचार्या थीं।

उन दिनों गणिकायें बहुत ही सुसंस्कृत और काव्यचर्चा परायणा होती थीं। सन् ईसवी से कुछ ही बाद में लिखे गये ललित विस्तर नामक बौद्ध ग्रंथ में कहा गया है कि राजा शुद्धोदन की इच्छा थी कि ऐसी बहू घर में लावे जो शास्त्र में गणिका के समान कुशल हो। वात्स्यायन कहते हैं कि जो वेश्या चौसठ कलाओं में कुशल हो, रूप-शील और गुण से युक्त हो वही 'गणिका' पद की अधिकारिणी होती है[2]। भारतीय नाट्यशास्त्र में कहा है कि गणिका समस्त स्त्रीदोषों से मुक्त प्रियवादिनी, प्रिय-कथा, चतुरा, परिश्रमी, रूप-गुण शील-यौवन-माधुर्य और शक्ति से सम्पन्ना होती है[3]। ऐसी कला मर्मज्ञा मधुर स्वभावा गणिकाओं का कवि होना स्वाभाविक ही है। उन दिनों कभी कभी ये गणिकायें अन्तःपुर में

---

१ काम सूत्र ५-१।

२ शस्त्रेण वेणीविनिगूहितेन
विदूरथं स्वा महिषी जघान।
विषप्रदिग्धेन च नूपुरेण
देवी विरक्ता किल काशिराजम्।
—वृहत्संहिता, ७८-१

१ पुरुषवद् योषितोऽपि कवीभवेयुः। संस्कारोह्यात्मनि समवैति, न स्त्रैणं पौरुषं वा विभागमपेक्षते। श्रूयन्ते दृश्यन्ते च राजपुत्र्यो महामात्र दुहितरो गणिकाः कौतुकिभार्याश्च शास्त्र प्रहत बुद्धयः।
—काव्यमीमांसा, पृ० ५३

२ आभिरभ्युच्छ्रिता वेश्या रूपशील गुणान्विताः
लभते गणिकाशब्दं स्थानं च जन संसदि
—कामसूत्र १-३

३ राजोपचार कुशला स्त्रीदोषैश्च विवर्जिताः
प्रियवादिनी प्रियकथा प्रियदक्षा जितश्रमा।
एभिर्गुणैस्तु संयुक्ता गणिका परिकीर्तिता
रूप-गुण-शील-यौवन-माधुर्य-शक्ति-सम्पन्ना।
—नाट्यशास्त्र [चौखंबा] ३५,६१-६२

पत्नी का आसन भी पा जाती होंगी। तभी शूद्रक के मृच्छकटिक नाटक और उसके भी पहले भास के चारुदत्त नाटक की कल्पना की जा सकी। दुर्भाग्यवश इन महिला कवियों की बहुत कम रचनायें काल के व्यवधान को लाँघ सकी हैं। आज सुभाषितों के संग्रहों से ही कई कवयित्रियों की रचनाओं का कुछ आभास मिलता है।

राजशेखर के ग्रंथ मे इस बात का भी पता चलता है कि मगध में राजा शिशुनाग ने यह नियम कर दिया था कि उनके अन्तःपुर में ट, ठ, ड, ढ, ण, ज, श, स, ह और क्ष इन आठ दुरुच्चार्य वर्णों को कोई उच्चारण न करे। इसी प्रकार सूरसेन के राजा कुविंद ने परुष या कटु उच्चारण वाले अक्षरों और संयुक्ताक्षरों का बोला जाना अन्तःपुर में निषिद्ध कर दिया था। फिर कुन्तल देश के राजा सातवाहन ने यह नियम कर दिया था कि उसके अन्तःपुर में केवल प्राकृत भाषा ही बोली जाय। उज्जयिनी के राजा साहसांक या विक्रमादित्य की आज्ञा थी कि उनके अन्तःपुर में केवल संस्कृत भाषा ही बोली जाय[१]। इस प्रकार बड़े बड़े भारतीय नरेशों के अन्तःपुर के शास्त्रीय नियमों और भाषा विशेष के प्रति आग्रह से स्पष्ट हो जाता है कि उन दिनों काव्य कला कैसे जीवित रूप में वर्त्तमान थी। जब बाहर और भीतर सर्वत्र काव्य की इतनी पूछ हो और समस्त प्रकार के मनोविनोद और कौशल प्रदर्शन में काव्य-विद्या का स्थान हो तो यह समझना बहुत आसान है कि क्यों काव्य विवेचकों और कवियों के प्रबन्ध में शब्दार्थ-चातुरी को इतना महत्व दिया गया था।

---

१ श्रूयते हि मगधेषु शिशुनागो नाम राजा।
तेन दुरुच्चारानष्टौ वर्णानपास्य स्वान्तःपुर एव प्रवर्तितो नियमः। टकारादयश्चत्वारो मूर्धन्यास्तृतीय ज वर्ज्जं मूष्माणास्त्रयः क्षकारश्चेति।

श्रूयते च सूरसेनेषु कुविंदो नाम राजा, तेन परुष संयोगाक्षर वर्जमन्तः पुर एवेति समानं पूर्वेण।

श्रूयते च कुन्तलेषु सातवाहनोनाम राजा, तेन च संस्कृत भाषात्मकमन्तःपुर एवेति समानं पूर्वेण।

श्रूयते चोज्जयिन्यां साहसाङ्को नाम राजा, तेन च संस्कृत भाषात्मकमन्तःपुर एवेति समानं पूर्वेण।

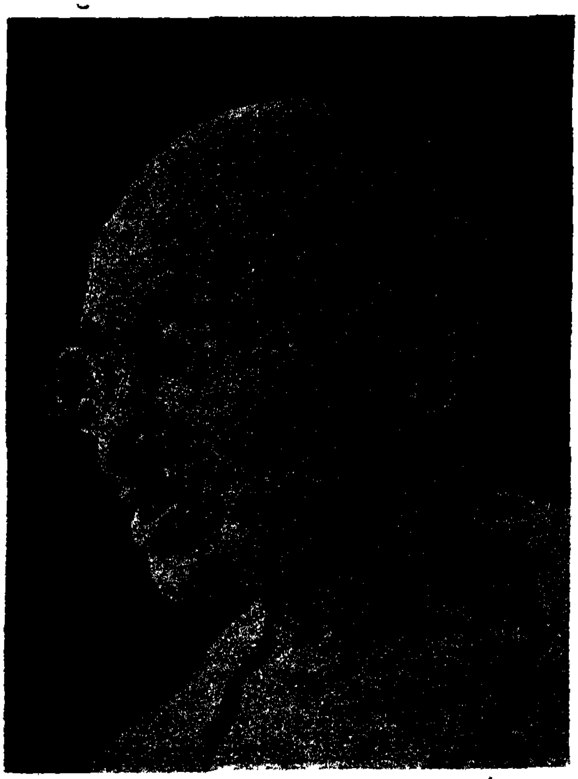
— काव्यमीमांसा, पृ० ५०



हिन्दुस्तान के लिये राष्ट्र-भाषा की समस्या

महात्मा गान्धी

राष्ट्र-भाषा को लेकर देश में अरसे से एक उग्र आन्दोलन चल रहा है। फोड़ा इतना पक चुका है कि ज़रा सा छूने पर भी भयंकर पीड़ा होने लगती है। लोग ठण्डे दिल से राष्ट्र-भाषा के सम्बन्ध में वैज्ञानिक बहस को भी नहीं सह सकते। किन्तु राष्ट्र की यह महत्वपूर्ण समस्या इस असहिष्णुता से तो हल न होगी। हम चाहते हैं 'विश्ववाणी' के पाठक इस समस्या पर सभी दृष्टिकोणों से विचार करके अपनी राय बनाएं। इस लेख में इस सम्बन्ध में हम गान्धी जी के विचार पेश कर रहे हैं जो अभी हाल में किताबिस्तान द्वारा प्रकाशित "दि प्राबलेम आफ़ नैशनल लैंग्वेज फ़ार इण्डिया" नामक निबन्ध-संग्रह में छपा है। सग्रहकर्ता के सौजन्य से इसे हम यहां छाप रहे हैं। हमें विश्वास है विश्ववाणी के पाठक इस पर गम्भीरता के साथ मनन करेंगे—सम्पादक



हमारे वक्तों की हिन्दुस्तानी संस्कृति (कलचर) अभी बनी नहीं है, बन रही है। आज बहुत सी संस्कृतियां एक दूसरे से टकराती हुई मालूम होती हैं। हममें से बहुत से इन सब संस्कृतियों को मिलाकर एक कर देने का यत्न कर रहे हैं। कोई संस्कृति जो दूसरी संस्कृतियों से बिना मेल जोल किये और लेन देन किये, बिलकुल अलग थलग रहने की कोशिश करे, ज़िन्दा नहीं रह सकती। आज हिन्दुस्तान में शुद्ध आर्य संस्कृति नाम की कोई चीज़ नहीं है। मुझे इस बात से बहुत दिलचस्पी नहीं है कि आर्य लोग हिन्दुस्तान ही के असली रहने वाले थे या कहीं बाहर से आकर ज़बरदस्ती यहां बस गये थे। लेकिन मुझे इस घटना से ज़रूर दिलचस्पी है कि मेरे बहुत पुराने ज़माने के पूर्वज हद दर्जे की आज़ादी के साथ एक दूसरे में घुल मिल गये और हमारी इस नस्ल के लोग उनके उसी मेल जोल से पैदा हुए हैं। यह बात आगे का ज़माना ही साबित कर सकता है कि हम जिस देश में पैदा हुए हैं या जिस छोटी सी पृथ्वी पर रह रहे हैं उनका कुछ भला कर रहे हैं या उन पर केवल एक भार हैं।

हिन्दुस्तानी

मैं शुरू से शुरू करूंगा। कांग्रेस पिछले कई वर्षों से देश भर के लिये एक आम बोली (Common Speech) पर ज़ोर देती रही है क्योंकि अगर हम सबका राजनैतिक लक्ष्य एक है तो ज़रूरी है कि हमारी एक आम बोली भी हो। साहित्य की दृष्टि से इसकी वजह से हमारे सार्वजनिक वक्ताओं की इस तरह की बहुत सी शिकायतें सुनी गई हैं कि उन्होंने अमुक शब्द को इस्तेमाल किया या अमुक को नहीं किया। लेकिन मैं यह जानता हूं कि उर्दू साहित्यकों में इससे एक इस तरह की ज़बान की सादगी और घरेलूपन पैदा हो गए हैं जो पहले दिखाई नहीं देते थे। मौलाना सय्यद सुलेमान नदवी जैसा लेखक भी जिन्होंने अपनी सारी जिन्दगी अरबी किताबों के पढने में ख़र्च की है और जो इस तरह के मज़मूनों के पढ़ने पढाने में लगे रहे हैं कि जिनकी परिभाषाओं को बदलना उस विषय का निरादर करना है, उन्होंने भी बड़े पक्के इरादे और गम्भीरता के साथ अपनी भाषा को ज़्यादा आसान बनाना और उसमें ज़्यादह 'हिन्दुस्तानियत लाना' शुरू कर दिया है, क्योंकि एक आम हिन्दुस्तानी ज़बान का आदर्श उन्हें अत्यन्त प्रिय है।

कांग्रेस में इस आम ज़बान को 'हिन्दुस्तानी' कहा जाता है। यद्यपि नाम के मामले में कांग्रेस ने उर्दू बोलने वालों या हिन्दी बोलने वालों के साथ मिलकर कोई ख़ास चीज़ तय नहीं की। लेकिन आप जानते हैं कि नामों का बहुत सी चीज़ों के साथ सम्बन्ध होता है। नामों का बहुत ज़बरदस्त राजनैतिक और सामाजिक महत्व होता है। इसीलिये हमारी इस आम ज़बान को क्या नाम दिया जावे यह भी एक बड़े महत्व की बात है। अभी तक उर्दू ही एक ऐसी ज़बान रही है जो किसी एक प्रान्त या किसी एक मज़हब के लोगों तक परिमित नहीं थी। मुसलमान हिन्दुस्तान भर में इस ज़बान को बोलते थे और उत्तर हिन्दुस्तान में इस के बोलने वालों में मुसलमानों की अपेक्षा हिन्दुओं की तादाद ज़्यादा रही है। हमारी आम ज़बान को अगर उर्दू नाम नहीं दिया जा सकता तो कम से कम उसे ऐसा नाम ज़रूर देना चाहिये जिसमें उसके अन्दर मुसलमानों का ख़ास हिस्सा—यानी यह कि उन्होंने देश भर की कम या ज़्यादा आम ज़बान बना दी—ज़ाहिर हो जावे। यह उद्देश्य 'हिन्दुस्तानी' नाम से पूरा हो सकता है, 'हिन्दी' नाम से नहीं हो सकता। पिछले समय में मुसलमानों ने हिन्दी का अध्ययन किया है। हिन्दी को एक साहित्यिक भाषा की पदवी तक पहुंचाने में मुसलमानों ने यदि अपने हिन्दू भाइयों से ज़्यादा हिस्सा नहीं लिया तो कम से कम उतना तो ज़रूर लिया है। लेकिन हिन्दी के साथ उस तरह के धार्मिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध हैं जिन्हें सब मुसलमान पूरी तरह नहीं अपना सकते। इसके अलावा हिन्दी इस समय अपना एक अलग शब्द भंडार बनाती जा रही है जिसे आम तौर पर वे लोग जो केवल उर्दू जानते हैं नहीं समझ पाते।

इस बात पर यहां ज़ोर देने की ज़रूरत न होती अगर हिन्दी और हिन्दुस्तानी इन दोनों शब्दों में गोलमाल कर देने की एक साफ़ साफ़ प्रवृत्ति दिखाई न दे गई होती। लेकिन उर्दू और हिन्दुस्तानी इन दोनों नामों में इस तरह के गोलमाल की कोई प्रवृत्ति नहीं है।

यह बात बिलकुल साफ़ है कि संस्कृत और अरबी दोनों में पारिभाषिक शब्द ख़ूब काफ़ी तादाद में मिल सकते हैं। लेकिन आम हिन्दुस्तानी ज़बान इन दोनों में से केवल किसी एक पर निर्भर नहीं हो सकती। क्योंकि यदि अरबी एक विदेशी भाषा है तो संस्कृत भी कभी आम लोगों की ज़बान नहीं रही। कोई भी आदमी यदि बोल चाल की हिन्दी का अध्ययन करे तो वह देखेगा कि उस हिन्दी में जितने संस्कृत शब्द आते हैं उन सबका रूप धीरे धीरे बहुत बदल गया है। इसकी वजह यह थी कि असली संस्कृत शब्दों का न मुसलमान आसानी से उच्चारण कर सकते थे और न आम हिन्दुस्तानी जनता कर

सकती थी। 'ग्राम' और 'वर्ष' जैसे छोटे छोटे शब्द भी 'गाव' और 'बरस' बन गये हैं। हिन्दी के बहुत से समर्थक जो इन शब्दों और इसी तरह के और बहुत से शब्दों (तद्भव शब्दों) की जगह मूल संस्कृत शब्दों (तत्सम शब्दों) को इस्तेमाल करने लगे हैं इन सब बातों को भूल जाते हैं। उनके ऐसा करने का कारण अपनी विद्वत्ता दिखाना है या अज्ञानता है या पक्षपात है यह मैं नहीं कह सकता, क्योंकि इन संस्कृत शब्दों की जो बोल चाल की शक्ल (तद्भव) हैं वे सब उर्दू ने अपनाली हैं। लेकिन यह बात बिलकुल ज़ाहिर है कि हमारे इन दोस्तों को इतना बोल चाल की ज़िन्दा जबान को फैलाने से ग़रज़ नहीं है जितना हिन्दुस्तानी जीवन को 'आर्य जीवन' बनाने से। अगर हमारे हिन्दू भाई अपने अन्दर कोई सुधार करने की या अपने जीवन को पीछे की ओर ले जाने की कोशिश करें तो मुसलमानों का इससे कोई सम्बन्ध नहीं। लेकिन मामूली ईमानदारी का यह तकाजा है कि इस तरह के आन्दोलनों को भाषा के प्रश्न से हम बिलकुल अलग रक्खें।

श्री कन्हैयालाल एम० मुन्शी ने आदिल साहब के एक ख़त के जवाब में यह कहा है कि गुजरातियों, महाराष्ट्रियों, बङ्गालियों और केरल वालों ने "अपनी इस तरह की साहित्यिक परम्पराएं बना ली हैं जिनमें शुद्ध उर्दू अंश (शब्द) क़रीब क़रीब नदारद हैं। यदि हम हिन्दी को अपनावें तो क़ुदरती तौर पर हम संस्कृतमय हिन्दी को ही अपनावेंगे।" अव्वल तो मैं बिलकुल अच्छी तरह जानता हूं कि गुजराती, मराठी और बङ्गला सब में बहुत से फ़ारसी के शब्द मौजूद हैं, और मैं यह मानने के लिये तय्यार नहीं हूं कि गुजरात और बङ्गाल के हिन्दुओं को एक दूसरे के नज़दीक आने और मुसलमानों के नज़दीक आने के लिये इस बात की ज़रूरत है कि वे अपनी अपनी बोली को संस्कृतमय बनावें। इसके अलावा "शुद्ध उर्दू अंशों" से हमें मतलब नहीं है, हमें मतलब उत्तर हिन्दुस्तान की ज़िन्दा बोल चाल की ज़बान और वहां के ज़िन्दा मोहावरों से है। अगर हम इस ज़िन्दा ज़बान को अपनी आम ज़बान की बुनियाद मान लें तो मुसलमान सफलता के साथ हमारा साथ दे सकते हैं। हमारे संस्कृत की तरफ़ लौटने के ये मायने होंगे कि हम मुसलमानों को और मुसलमानों ने हिन्दी, बङ्गला और गुजराती की अब तक जो कुछ सेवाएं की हैं उन सबको भुला देना चाहते हैं। ऐसी हालत में हमसे सहयोग चाहना हमसे अपनी ही आत्म हत्या में सहयोग देने की आशा करने से किसी तरह कम नहीं है।

नीचे मैं कुछ ऐसी बातें दे रहा हूं जो मेरी विनम्र राय में तर्क संगत भी हैं और जिनपे देश की एक आम ज़बान के लिये ठीक बुनियाद पड़ सकती है।

वे बातें ये हैं—

(१) यह कि हमारी आम ज़बान को 'हिन्दुस्तानी' कहा जावेगा, 'हिन्दी' नहीं।

(२) यह कि हिन्दुस्तानी का किसी सम्प्रदाय की धार्मिक परम्पराओं के साथ कोई ख़ास सम्बन्ध नहीं समझा जावेगा।

(३) यह कि किसी शब्द को इस कसौटी पर नहीं कसा जावेगा कि वह किसी 'विदेशी भाषा से लिया गया है' या 'यहीं का' है। हर शब्द के बारे में केवल यही देखा जावेगा कि वह रायज या टकसाली है या नहीं।

(४) जितने शब्द उर्दू के हिन्दू लेखकों ने और हिन्दी के मुसलमान लेखकों ने इस्तेमाल किये हैं वे सब टकसाली समझे जावेंगे। इस बात का उर्दू और हिन्दी अलग अलग भाषाओं से कोई सम्बन्ध नहीं है।

(५) यह कि पारिभाषिक शब्दों (इस्तलाहों) के चुनने में और ख़ासकर राजनैतिक शब्दों के चुनने में संस्कृत शब्दों को उनके संस्कृत होने के कारण हरगिज़ ज्यादा पसन्द न किया जावेगा, बल्कि जहां तक हो सकेगा क़ुदरती तौर पर उर्दू, हिन्दी और संस्कृत सब में से मुनासिब शब्द चुन लिये जावेंगे।

(६) यह कि देवनागरी और अरबी दोनों लिपियों को रायज और मानी हुई दफ़्तरी लिपियां समझा जावेगा और उन सब संस्थाओं में जिनका

नीति हिन्दुस्तानी के ख़ास समर्थकों के हाथों में होगी दोनों लिपियों के सीखने की सुविधाएं दी जावेगी।

हिन्दी उर्दू की बहस

बड़े दुख की बात है कि हिन्दी उर्दू के सवाल पर कड़ुवेपन के साथ बहस होती रही है और अब भी जारी है। जहां तक कांग्रेस का सम्बन्ध है हिन्दुस्तानी ही उसकी मानी हुई दफ़्तरी भाषा (Recognized Official Language) है और कांग्रेस की राय में प्रान्तों प्रान्तों के बीच के कार बार के लिए यही सारे हिन्दुस्तान की भाषा होनी चाहिये। यह प्रान्तीय भाषाओं की जगह लेने के लिए नहीं है, बल्कि उनकी कमी को पूरा करने के लिए है। इस बारे में किसी के दिल में कोई शक हो तो वह वर्किङ्ग कमेटी के हाल के प्रस्ताव से दूर हो जाना चाहिये। अगर वे कांग्रेस वाले जिन्हें सारे हिन्दुस्तान में काम करना पड़ता है केवल इतना कष्ट उठालें कि हिन्दुस्तानी ज़बान को दोनों लिपियों में सीखलें, तो अपने आम ज़बान (Common Language) के लक्ष्य की तरफ हमारे क़दम बहुत कुछ बढ़ जावें। असली झगड़ा या मुक़ाबला हिन्दी और उर्दू में नहीं है, बल्कि हिन्दुस्तानी और अङ्गरेज़ी में है। यह मुक़ाबला बड़ा सख़्त है। मैं सचमुच बड़े दर्द के साथ इस मुक़ाबले और उसके नतीजे की तरफ देख रहा हूं।

हिन्दी उर्दू की बहस की तो कोई पैदी ही नहीं। कांग्रेस जिस ज़बान को हिन्दुस्तानी कहती है उसे अभी पूरी तरह रूप दिया जाना बाक़ी है। यह उस वक़्त तक नहीं होगा जब तक कि कांग्रेस की सारी कार्रवाई केवल हिन्दुस्तानी ही में न होने लगे। कांग्रेस को ऐसी डिक्शनरियां या कोष तैयार करके देने होंगे जिन्हें कांग्रेस वाले इस्तेमाल करें, और एक डिपार्टमेण्ट या महकमा क़ायम करना होगा जो उन डिक्शनरियों के अलावा नए नए शब्द तय करके दे। यह बहुत बड़ा काम है। और अगर सचमुच हम सारे हिन्दुस्तान के लिए एक ज़िन्दा और बढ़ने वाली बोली चाहते हैं तो हमें यह काम करना ही चाहिये। यह महकमा ही इस बात को भी तय करेगा कि इस समय उर्दू लिपि और हिन्दी लिपि दोनों में जितना भी साहित्य मौजूद है—किताबें, रिसाले, साप्ताहिक, दैनिक इत्यादि, उसमें किसे हिन्दुस्तानी समझा जावे। यह बड़े महत्त्व का काम है, और यदि इसे सफल होना है तो इसमें बेहद दर्दसरी करनी होगी।

हिन्दुस्तानी को रूप देने के लिए हिन्दी और उर्दू दोनों के भंडारों से सामग्री लेनी होगी। इसलिए हर कांग्रेस वाले के लिए ज़रूरी है कि हिन्दी और उर्दू दोनों का भला चाहे और जहां तक भी उससे बन सके दोनों से अपना सम्पर्क बनाए रखे।

हमारा राष्ट्र एक बढ़ता हुआ राष्ट्र है। हमारी प्रान्तीय भाषाएं ख़ूब समृद्ध हैं। इस तरह के एक राष्ट्र की तरह तरह की ज़रूरतों को पूरा करने के लिए इस हिन्दुस्तानी को एक एक चीज़ के लिए बहुत से शब्द देने होंगे। क़ुदरती तौर पर जो हिन्दुस्तानी बंगाल के लोगों में या दक्खिन हिन्दुस्तान के लोगों में बोली जावेगी उसमें बहुत से शब्द संस्कृत से लिए हुए होंगे। वही भाषण पंजाब में दिया जायगा तो उसमें अरबी या फारसी से लिए हुए बहुत से शब्द होंगे। यदि अधिकांश इस तरह के मुसलमानों में भाषण दिया जायगा जो संस्कृत के बहुत से शब्द नहीं समझते तो भी ऐसा ही करना होगा। इसलिए जिन लोगों को सारे हिन्दुस्तान में भाषण देने होते हैं उन्हें अपना हिन्दुस्तानी का शब्द भण्डार इतना बड़ा रखना होगा कि जिससे वे हिन्दुस्तान के सब हिस्सों के लोगों में आसानी से अपने विचार ज़ाहिर कर सकें। इस सम्बन्ध में पण्डित मालवीय जी का नाम मुझे सब से पहले याद आता है। मैंने उन्हें हिन्दी बोलने वाले लोगों में और उर्दू बोलने वाले लोगों में दोनों में एक सी आसानी के साथ बोलते देखा और सुना है। मैंने कभी यह महसूस नहीं किया कि मौक़े पर उनके पास ठीक शब्द की कमी पड़ी हो। यही बात बाबू भगवानदास के बारे में सच है। वह एक ही भाषण में साथ साथ एक अर्थ में दो दो

शब्दों का उपयोग करते हैं और इसका पूरा ख़याल रखते हैं कि इससे भाषण के लालित्य या उसकी शिष्टता में फ़रक़ न पड़े। इस लेख को लिखते समय मुझे मुसलमानों में सिर्फ़ एक मौलाना मोहम्मद अली का ख़याल आ रहा है जिनका शब्द भण्डार इतना वसीअ था कि वह दोनों तरह के लोगों में भाषण दे सकते थे। जब वह बड़ौदा में नौकर थे तो उन्होंने गुजराती सीखली थी, उसमें उन्हें बड़ी मदद मिली।

कांग्रेस से बाहर हिन्दी और उर्दू दोनों फलती फूलती रहेंगी। हिन्दी ज्यादहतर हिन्दुओं में और उर्दू ज़्यादहतर मुसलमानों में। जिन हिस्सों में हिन्दी बोली जाती है, वहां जो मुसल्मान पैदा हुए हैं उनकी मातृभाषा, मैं समझता हूं, हिन्दी ही है। फिर भी वाक़या यह है कि अपेक्षा से बहुत कम मुसलमान ऐसे हैं जो इतनी अच्छी हिन्दी जानते हो कि हिन्दी के विद्वान कहे जा सके। हजारों हिन्दू हैं जिन की मातृभाषा उर्दू है और सैकड़ों हैं जिन्हें उर्दू के विद्वान कहा जा सकता है। पं० मोतीलाल जी इनमें से एक थे। डाक्टर तेजबहादुर सप्रू दूसरे हैं। और बहुत सी मिसालें आसानी से दी जा सकती हैं। इसलिए इन दोनों बोलियों में जो एक दूसरे की सगी बहने हैं किसी तरह के झगड़े की या ऐसी होड़ की जिससे किसी को नुकसान पहुँचे कोई वजह नहीं है। स्वस्थ मीठी होड़ हमेशा रहेगी ही।

जो कुछ मैंने सुना है उससे मालूम होता है कि मौलवी अब्दुल हक़ साहब की योग्य देख रेख में उसमानिया युनिवर्सिटी उर्दू की बहुत बड़ी सेवा कर रही है। उर्दू का उस युनिवर्सिटी के पास एक बहुत बड़ा शब्द भंडार है। उर्दू में वहा वैज्ञानिक पुस्तकें तय्यार की जा चुकी हैं और की जा रही हैं, और चूंकि उस युनिवर्सिटी में सचाई के साथ उर्दू के ज़रिये तालीम दी जाती है इसलिए उर्दू वहा ज़रूर तरक़्क़ी करेगी। यदि आज नासमझी और पक्षपात की वजह से सब हिन्दी भाषी हिन्दू उस सारे साहित्य से फ़ायदा नहीं उठाते जो वहा पैदा हो रहा और बढ़ रहा है तो इसमें उन ही का क़सूर है, लेकिन यह पक्षपात जाना चाहिये। क्योंकि हिन्दुओं और मुसलमानों की इस समय की फूट और बीमारियों की तरह केवल चन्द रोज़ा है। दोनों एक दूसरे के पड़ोसी हैं, दोनों इस भूमि की सन्तान हैं। दोनों की क़िस्मतें इस देश के साथ वाबस्ता हैं। दोनों यहा ही पैदा हुए हैं और यहा ही मरेंगे। अगर वे ख़ुद मिलकर रहना नहीं शुरू करेंगे तो क़ुदरत उन्हें मजबूर करेगी कि वे अमन के साथ मिलकर रहें।

मैं जानता हूं कुछ लोग ऐसे भी हैं जो यह स्वप्न देख रहे हैं कि केवल उर्दू ही रहेगी या केवल हिन्दी ही रहेगी। मैं समझता हूं इस तरह के स्वप्न सदा स्वप्न ही रहेंगे, और ये स्वप्न नापाक स्वप्न हैं। इसलाम की अपनी ख़ास संस्कृति है। ऐसे ही हिन्दू धर्म की अपनी ख़ास सस्कृति है। भावी हिन्दुस्तान इन दोनों का पूरा पूरा और सुखमय समन्वय होगा। जब वह मुबारिक दिन आवेगा तो इन दोनों की ज़बान हिन्दुस्तानी होगी। उर्दू फिर भी रहेगी जिसमें अरबी फारसी के शब्द अधिक होंगे और हिन्दी भी रहेगी जिसमें संस्कृत के शब्द अधिक होंगे। तुलसीदास और सूरदास की ज़बान मर नहीं सकती। और न जिस ज़बान में शिबली ने लिखा है वह मर सकती है। लेकिन दोनों के अच्छे से अच्छे विद्वान 'हिन्दुस्तानी' ज़बान में ख़ूब ताक़ होंगे और उसे अपनावेंगे।

एक सज्जन ने मुझे लिखा है कि उर्दू की तरफ़ मेरा जो रुख़ है उसे बताते हुए उर्दू अख़बारों में मेरे ख़िलाफ़ बहुत कुछ लिखा जा रहा है। लोग यहा तक कह डालते हैं कि अगरचे मैं हिन्दू मुसलिम एकता की बात करता हूं फिर भी हिन्दुओं में मैं सब से ज्यादह साम्प्रदायिक विचारों का हूं।

मेरी यह बिल्कुल इच्छा नहीं कि अपने ख़िलाफ़ इस इलज़ाम की जिसका ऊपर ज़िक्र किया गया है जवाबदेही करूं। हिन्दू मुसलिम सवाल की तरफ मेरा क्या रुख़ है यह मेरी ज़िन्दगी ही ख़ुद बतावेगी।

लेकिन हिन्दी उर्दू का सवाल बारहमासी सवाल है। मैं काफी मरतबा इस सवाल पर अपने विचार

प्रकट कर चुका हूं, फिर भी उन्हें दोहरा देने में कोई हर्ज नहीं। मैं बिना कोई दलील दिये एक एक कर केवल यह नीचे लिखे देता हूं कि मैं क्या मानता हूं।

मैं मानता हूं कि—

(१) हिन्दी, हिन्दुस्तानी और उर्दू तीनों शब्द उसी एक भाषा को जाहिर करते हैं जिसे उत्तर में हिन्दू और मुसलमान दोनों बोलते हैं और जो देव नागरी और फारसी दोनों लिपियों में लिखी जाती है।

(२) 'उर्दू' शब्द का उपयोग शुरू होने से पहले हिन्दू और मुसलमान दोनों इस ज़बान को 'हिन्दी' नाम से पुकारते थे।

(३) बाद में (ठीक तारीख मैं नहीं जानता) इसी ज़बान के लिए हिन्दुस्तानी नाम भी इस्तेमाल किया जाने लगा।

(४) हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों को वह ज़बान बोलने की कोशिश करना चाहिये जिसे उत्तर हिन्दुस्तान की अधिकांश जनता समझती है।

(५) फिर भी बहुत से हिन्दू संस्कृत शब्दों और केवल संस्कृत शब्दों के उपयोग पर ही ज़िद करते रहेंगे और बहुत से मुसलमान केवल फारसी अरबी के शब्दों के इस्तेमाल पर जिद करते रहेंगे। जब तक एक दूसरे पर अविश्वास और अलहदगी बनी रहेगी तब तक हमें यह बरदाश्त करना ही होगा। जो हिन्दू एक खास क़िस्म के मुसलिम विचारों को जानना चाहेंगे उन्हें फारसी अक्षरों में उर्दू पढ़नी पड़ेगी। ऐसे ही जो मुसलमान एक खास क़िस्म के हिन्दू विचारों को जानना चाहेंगे उन्हें देव नागरी अक्षरों में हिन्दी पढ़नी पड़ेगी।

(६) आखीर में जब हमारे दिल एक हो जायगे, और हम अपने अपने प्रान्तों की जगह सारे हिन्दुस्तान को अपना देश मानकर सब उस पर गर्व करने लगेंगे, और अपने अपने अलग अलग धर्मों का यह समझ कर पालन करेंगे और उनका आनन्द लेंगे कि ये सब धर्म एक ही सोते से निकले हैं, ठीक उसी तरह जिस तरह हम एक ही दरख्त के अलग अलग फलों को खाते और उनका आनन्द लेते हैं, तब जाकर हम सब की एक ही आम ज़बान होगी और उसकी एक ही लिपि होगी और प्रान्तों के इस्तेमाल के लिए प्रान्तीय ज़बानें रहेंगी।

(७) किसी प्रान्त पर या किसी ज़िले पर या किन्हीं लोगों पर कोई एक लिपि, या हिन्दी की कोई एक शक्ल ज़बरदस्ती लादने की कोशिश करना देश हित के लिए अत्यन्त हानिकर है।

(८) देश की आम ज़बान के इस सवाल को धार्मिक भेदों से बिल्कुल अलग रख कर देखना चाहिये।

(९) रोमन लिपि हिन्दुस्तान की आम लिपि नहीं हो सकती और न होनी चाहिये। स्पर्धा सिर्फ फारसी और देवनागरी लिपियों के बीच हो सकती है। देवनागरी लिपि में जो अपने और गुण हैं उन्हें छोड़कर भी देवनागरी इसलिए सारे हिन्दुस्तान की आम लिपि होनी चाहिये, क्योंकि अधिकतर प्रान्तीय लिपियां देवनागरी ही से निकली हैं, और उन प्रान्तों के लोगों के लिए देवनागरी लिपि को सीखना सबसे आसान है। साथ ही मुसलमानों के ऊपर या दूसरे उन लोगों के ऊपर जो देव नागरी नहीं जानते देवनागरी लिपि लादने की किसी तरह की भी कोशिश नहीं होनी चाहिये।

(१०) अगर उर्दू को हिन्दी से अलग करके देखा जा सकता है, तो जब इन्दौर में हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने मेरे कहने पर उस परिभाषा को स्वीकार कर लिया जो धारा (१) में दी हुई है, और इसके बाद जब नागपुर में भारतीय साहित्य परिषद् ने भी मेरे कहने पर उस परिभाषा को स्वीकार कर लिया और अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार की आम ज़बान को हिन्दी या हिन्दुस्तानी का नाम दिया तो दोनों बार मैंने उर्दू की सेवा की। इससे मुसलमानों और हिन्दुओं दोनों को इस बात का पूरा पूरा मौक़ा मिल गया कि वे इस आम ज़बान को ज्यादह मालामाल करने की कोशिश में पूरी तरह शामिल हो जावें, और प्रान्तीय

भाषाओं के अच्छे से अच्छे विचारों को उस ज़बान में ज़ाहिर करे।

लिपि का सवाल

अब लिपि का सवाल रह जाता है। इस समय इस बात पर ज़ोर देने का कि मुसलमान देवनागरी लिपि को अपना लें ख़याल भी नहीं किया जा सकता। इस पर ज़ोर देना कि अधिकांश हिन्दू जनता अरबी लिपि को अपनाले और भी ज्यादह बेकार है।

इसीलिए हिन्दी या हिन्दुस्तानी की जो परिभाषा मैंने सुझाई है वह यह है—"वह ज़बान जिसे आम तौर पर उत्तर हिन्दुस्तान के हिन्दू और मुसलमान दोनों बोलते हैं, चाहे वह देवनागरी में लिखी हो और चाहे उर्दू में," इस परिभाषा पर एतराज़ हो चुके हैं, फिर भी मैं उस पर क़ायम हूं, लेकिन इसमें भी शक नहीं कि देवनागरी लिपि के पक्ष में एक आन्दोलन जारी है और मैं पूरे दिल के साथ उस आन्दोलन में शामिल हूं। इस आन्दोलन की ग़रज़ यह है कि जितनी भाषाएं मुख्तलिफ प्रान्तों में बोली जाती हैं, ख़ास कर जिन भाषाओं में संस्कृत के बहुत से शब्द हैं उन सबके लिए देवनागरी लिपि को ही आम लिपि कर लिया जावे। जो हो, इस बात की कोशिश की जा रही है कि हिन्दुस्तान की सब भाषाओं के क़ीमती से क़ीमती ख़ज़ानों को देवनागरी लिपि में ज्यूं का त्यूं लिख दिया जावे।

जो मुख्तलिफ भाषाएं संस्कृत से निकली हैं या जिनका संस्कृत से गहरा सम्बन्ध है उन सब की एक ही लिपि होनी चाहिये और वह लिपि निस्सन्देह देवनागरी है। एक प्रान्त के लोगों के दूसरे प्रान्त की भाषा सीखने में अलग अलग लिपियां एक अनावश्यक रुकावट हैं। यूरोप एक राष्ट्र नहीं है फिर भी यूरोप ने आम तौर पर एक ही लिपि को अपना लिया है। हिन्दुस्तान का तो एक राष्ट्र होने का दावा है और वह एक राष्ट्र है तो फिर हिन्दुस्तान की एक लिपि क्यों न हो? मैं जानता हूं कि जब मैं एक ही ज़बान के लिए देवनागरी और उर्दू दोनों लिपियों को बरदाश्त करता हूं तो मैं अपने ही उसूल के ख़िलाफ बात करता हूं। लेकिन मेरा ऐसा करना बिल्कुल मूर्खता ही नहीं है। इस समय हिन्दू मुसलमानों में तनातनी है। इसलिए यह ज़रूरी है और अक़्लमन्दी भी इसी में है कि पढ़े लिखे हिन्दू और मुसलमान दोनों हद दरजे तक, जहां तक हो सकता है, एक दूसरे का आदर करें और एक दूसरे की बात को बरदाश्त करें। इसीलिए मैं देवनागरी या उर्दू चाहे जिस लिपि के इस्तेमाल को लोगों की मरज़ी पर छोड़ता हूं। ख़ुश क़िस्मती से प्रान्तों प्रान्तों के बीच इस तरह की कोई तनातनी नहीं है। इसीलिए एक इस तरह के सुधार के लिए आन्दोलन की ज़रूरत है जिससे मुख्तलिफ प्रान्त एक ही तरह से नहीं बल्कि बड़े तरह से अधिकाधिक एक सूत्र में बंध जावें। और यह याद रखना चाहिये कि अधिकांश जनता बिल्कुल बेपढ़ी है। उनके ऊपर, केवल एक झूठी भावना के कारण और सोचने की सुस्ती के कारण तरह तरह की लिपियां लाद देना आत्महत्या कर लेना होगा।

मुझे मालूम हुआ है कि आसाम प्रान्त की कुछ जातियों को बजाय देवनागरी के रोमन लिपि में लिखना पढ़ना सिखाया जा रहा है। मैं अपनी राय ज़ाहिर कर चुका हूं कि यदि किसी लिपि के कभी भी हिन्दुस्तान भर की आम लिपि हो जाने की सम्भावना है तो वह देवनागरी लिपि ही है, चाहे वह ऐसी की ऐसी ही रहे या उसमें कुछ सुधार कर लिए जावें। उर्दू या फारसी लिपि तब तक उसके साथ साथ चलती रहेगी जब तक कि मुसलमान, अपनी रज़ामन्दी से, और केवल वैज्ञानिक और राष्ट्रीय दृष्टि से, देवनागरी लिपि को ज्यादह उपयोगी न मान लें। लेकिन इस समय की बात से इसका कोई सम्बन्ध नहीं। रोमन लिपि इन दोनों लिपियों के साथ साथ नहीं चल सकती। जो लोग रोमन लिपि के पक्ष में हैं वे इन दोनों को हटाना चाहेंगे। लेकिन भावना और विज्ञान दोनों एक समान रोमन लिपि के ख़िलाफ हैं। रोमन लिपि का एक मात्र गुण यही है कि उसमें छापने

और टाइप करने में ज़्यादह आसानी है। लेकिन करोड़ों आदमियों के उसे सीखने में जो मेहनत पड़ेगी उसके मुक़ाबले में यह आसानी कोई चीज़ नहीं। उन करोड़ों आदमियों को जिन्हें अपनी अपनी प्रान्तों या लिपियों में या देवनागरी में अपना साहित्य पढ़ना पड़ता है, रोमन लिपि से कोई मदद नहीं मिल सकती। करोड़ों हिन्दुओं के लिए और मुसलमानों के लिए भी देवनागरी सीखना रोमन सीखने से ज़्यादह आसान है, क्योंकि ज़्यादहतर प्रान्तीय लिपियां देवनागरी से ही निकली हैं। मैंने जानबूझकर मुसलमानों को भी शामिल कर लिया है। मिसाल के तौर पर बङ्गाली मुसलमानों की मातृभाषा बङ्गला है और तामिल मुसलमानों की मातृभाषा तमिल है। उर्दू के प्रचार का जो आन्दोलन इस समय चल रहा है उसका नतीजा यही होगा और यही होना चाहिये कि हिन्दुस्तान भर में मुसलमान अपनी अपनी मातृभाषा के साथ साथ उर्दू भी सीखें। हर हालत में, कुरान शरीफ पढ़ने के लिए उन्हें अरबी जानना ही होगा। लेकिन करोड़ों जनता को, चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान, सिवाय इसके कि जब वे अंगरेज़ी सीखना चाहें, और कभी भी रोमन लिपि की ज़रूरत न पड़ेगी। इसी तरह जो हिन्दू मूल संस्कृत में अपनी धर्म पुस्तकों को पढ़ना चाहते हैं, उन्हें देवनागरी लिपि सीखनी पड़ती है और सीखते हैं। इस तरह देवनागरी लिपि को आम बनाने के आन्दोलन के लिए काफी मज़बूत बुनियाद है। रोमन लिपि का प्रचार करना एक ऐसी चीज़ को ऊपर से लादना है, जो कभी सर्वप्रिय नहीं हो सकती। जो हालात सामने दिखाई दे रहे हैं उनसे जितनी जल्दी का अनुमान किया जा सकता है, उससे कहीं जल्दी जनता में सच्ची जागृति पैदा होने वाली है, और जब वह जागृति पैदा होगी तो इस तरह की सब ऊपर से लादी हुई चीज़ें हवा में उड़ जायेंगी। फिर भी करोड़ों के जागने में वक़्त लगता है। इस तरह की जागृति गढ़ी नहीं जा सकती। वह एक अलौकिक रहस्यमय ढंग से आती है, या कम से कम इसी तरह आती हुई मालूम होती है। राष्ट्र के काम करने वाले केवल इतना ही कर सकते हैं कि जनता के दिमाग़ को पहले से समझ कर उस जागृति के पैदा होने में कुछ जल्दी कर दें।

पृथ्वी की उम्र और हिन्दू शास्त्र

पंडित मनोहरलाल मिश्र, एम० एस-सी०, एल-एल० बी०

भारत के पण्डितो ने पृथ्वी की उम्र "अनादि काल" बताई है। परन्तु अनादि काल का मतलब यह नहीं है कि उसकी गणना अङ्कों में न की जा सके। पर हा, जो लोग इस विषय में दिलचस्पी नहीं लेते, वे इतना अवश्य जानते हैं कि पृथ्वी की उम्र बहुत बड़ी है। हमारे प्राचीन शास्त्रों मे पृथ्वी की उम्र की चर्चा की गई है। किसी किसी ग्रन्थ मे इसका पूरा विवरण भी मिलता है।

ऋग्वेद और ज्योतिष-वेदाग हिन्दू धर्म के सबसे प्राचीन ग्रन्थ माने गये हैं।

इनमें पृथ्वी की उम्र के बारे में कुछ चर्चा की गई है या नहीं यह एक समस्या ही है, और वह तभी हल हो सकती है जब इस खास प्रश्न को लेकर ही इन ग्रन्थों का मनन किया जाय। परन्तु कुछ विद्वानों के मत के अनुसार ऋग्वेद में "कल्प" की चर्चा अवश्य है। कल्प ब्रह्मा का दिन बताया गया है और कहा गया है कि ब्रह्मा की बनाई वस्तुएं एक कल्प तक रहती हैं, याने ब्रह्मा की बनाई वस्तुओं के आरम्भ से उनके नष्ट होने तक एक कल्प लगता है।

कल्प शब्द की व्याख्या 'आदित्य पुराण' मे भी की गई है। इस ग्रन्थ में इस शब्द की व्याख्या करते हुए यह समझाया गया है कि कल्प क्यों ब्रह्मा का दिन माना गया है। साथ ही साथ यह बताया गया है कि "कल्प" शब्द 'काल्पना' से बना है। 'काल' का मतलब है किसी वस्तु का आरम्भ से अन्त तक रहना और 'पना' याने उसका नष्ट हो जाना। इसी से किसी वस्तु के पैदा होने से लेकर उसके नष्ट हो जाने तक के समय को कल्प कहते हैं। यहा पर वस्तु के नष्ट होने से मतलब है, उस जाति का या सारी सृष्टि का ही नष्ट हो जाना। यों तो रोज़ ही इतने *मनुष्य और दूसरे प्राणी मरते और पैदा होते हैं; परन्तु कल्प उसे कहा जायगा जब मनुष्य जाति का, दूसरे सारे प्राणियों का, या सारी सृष्टि का ही नाश हो।* यह सारा समय ब्रह्मा का दिन माना गया है और यही कल्प है?

ज्योतिष शास्त्र के प्राचीन धुरंधर विद्वान श्री ब्रह्मगुप्त का मत है कि पृथ्वी के धरातल पर उगने वाली सारी वनस्पतियों और जीव जन्तुओं का जन्म ब्रह्मा के दिन के आरम्भ होते ही हुआ था, और ये तब तक रहेंगे, जब तक ब्रह्मा के दिन का अन्त न होगा। ये सब एक कल्प तक रह कर नष्ट हो जायगे। इन्हीं का यह भी कथन है कि एक हज़ार चतुर्युग मिलकर ब्रह्मा का एक दिन और एक हज़ार चतुर्युग ब्रह्मा की एक रात के बराबर होते हैं, यानी ब्रह्मा की एक रात और एक दिन मे दो हज़ार चतुर्युग होते हैं।

श्रीमद् भगवत गीता के आठवें अध्याय के सत्रहवें श्लोक में भी कल्प की व्याख्या इसी प्रकार की गई है। कहा गया है वही आदमी इस बात पर विश्वास कर सकता है कि—एक हज़ार चतुर्युग मिल कर ब्रह्मा का एक दिन और एक हज़ार चतुर्युग मिलकर ब्रह्मा की एक रातके बराबर हैं,—जो दिन के सूर्य के प्रकाश में और रात्रि की अंधेरे में विश्वास करे।

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥१७॥
अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥१८॥
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥१९॥

हज़ार युगों का एक ब्रह्मा का दिन और अहोरात्रि का प्रमाण जानने वाले लोग हज़ार युगों की ब्रह्मा की एक रात्रि जानते हैं ॥ १७ ॥ ब्रह्मा के दिन के आरम्भ में सब व्यक्त पदार्थ अव्यक्त प्रकृति से उत्पन्न होते हैं और फिर रात्रि के प्रारम्भ में उसी अव्यक्त प्रकृति में लीन हो जाते हैं ॥ १८ ॥ हे अर्जुन ! वही यह भूतों का समुदाय परतंत्रता से बार बार उत्पन्न होकर रात्रि होते ही लीन हो जाता है, और फिर दिन होने पर उत्पन्न होता है ॥ १९ ॥

"मनुस्मृति" में स्वर्गभूमि आदिसृष्टि, या 'जगत की सृष्टि' नामक एक अध्याय है। इस अध्याय में भी कल्प का विवरण भली भांति दिया गया है। कल्प कितना लम्बा होता है? कितने मनवन्तर मिलकर एक कल्प के बराबर होते हैं इत्यादि बातों का इसमें जिक्र है। इससे पृथ्वी की उम्र के बारे में काफी पता चल जाता है। ऐसी ही बातों की ध्वनि हम स्मृति, पुराण तथा ज्योतिष के अन्य ग्रन्थों में भी पाते हैं।

"मनुस्मृति" के उपरोक्त अध्याय के ६१ वे श्लोक में मनवन्तर आदि का वर्णन आरम्भ होता है और ७२ श्लोक तक चलता है। इन श्लोकों में मनवन्तर, युग आदि का अंकों में मान दिया है। वह इस प्रकार है—

स्वायम्भुवस्यास्य मनोः षड्वंश्या मनवोऽपरे ।
सृष्टवन्तः प्रजाः स्वाः स्वा महात्मानो महौजसः ॥६१॥
स्वारोचिषश्चोत्तमश्च तामसो रैवतस्तथा ।
चाक्षुषश्च महातेजा विवस्वत्सुत एव च ॥६२॥

स्वायम्भुव मनु के वंश में ६ मनु और हैं। उन्होंने अपने अपने काल में प्रजा की सृष्टि पालन आदि किया है। उनका नाम स्वारोचिष, औत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष और वैवस्वत है।

स्वायम्भुवाद्याः सप्तैते मनवो भूरितेजसः ।
स्वे स्वेऽन्तरे सर्वमिदमुत्पाद्यापुश्चराचरम ॥६३॥

निमेषा दश चाष्टौ च काष्ठा त्रिंशत्तु ताः कलाः ।
त्रिंशत्कला मुहूर्तः स्यादहोरात्रं तु तावतः ॥६४॥
अहोरात्रे विभजते सूर्यो मानुषदैविके ।
रात्रिः स्वप्नाय भूतानां चेष्टायै कर्मणामहः ॥६५॥
पित्र्ये रात्र्यहनी मासः प्रविभागस्तु पक्षयोः ।
कर्म चेष्टास्वहः कृष्णः शुक्लः स्वप्नाय शर्वरी ॥६६॥

अब मनवन्तर आदि काल का मान सुनिये। आंख की पलक गिरने का समय निमेष कहलाता है। १८ निमेष की एक काष्ठा होती है। ३० काष्ठा की कला, ३० कला का मुहूर्त, ३० मुहूर्त का अहोरात्र होता है। दिन रात का विभाग सूर्य करता है। उसमें प्राणियों के सोने के लिये रात और कर्म करने के लिये दिन होता है। मनुष्यों के एक मास का पितरों का अहोरात्र होता है। उसमें कृष्ण पक्ष का दिन कर्म करने और शुक्ल पक्ष की रात्रि शयन करने के लिये है।

दैवे रात्र्यहनी वर्षं प्रविभागस्तयोः पुनः ।
अहस्तत्रोदगयनं रात्रिः स्याद्दक्षिणायनम ॥६७॥
ब्राह्मस्य तु क्षपाहस्य यत्प्रमाणं समासतः ।
एकैकशो युगानां तु क्रमशस्तन्निबोधत ॥६८॥
चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तु कृतं युगम ।
तस्य तावच्छती सन्ध्या सन्ध्यांशश्च तथाविधः ॥६९॥
इतरेषु ससन्ध्येषु ससन्ध्यांशेषु च त्रिषु ।
एकापायेन वर्तन्ते सहस्राणि शतानि च ॥७०॥
यदेतत्परिसंख्यातमादावेव चतुर्युगम ।
एतद्द्वादश साहस्रं देवानां युगमुच्यते ॥७१॥
दैविकानां युगानान्तु सहस्रं परिसंख्यया ।
ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावतीं रात्रिमेव च ॥७२॥

मनुष्यों का एक वर्ष देवताओं का अहोरात्र होता है। उसमें उत्तरायण दिन और दक्षिणायन रात है। ब्राह्म अहोरात्र और चारों युगों का प्रमाण इस प्रकार है मनुष्यों के ३६० वर्ष का १ दैव वर्ष होता है। ऐसे चार हज़ार वर्षों को कृत युग कहते हैं और उसकी संध्या (युग का आरम्भ काल) और सन्ध्यांश (युग का अन्त काल) दोनों चार सौ ४०० वर्ष का

है। यों सन्ध्या और सन्ध्यांश मिलकर ४,८०० दैव वर्ष का कृतयुग होता है। अर्थात् ४,८००×३६० = = १७,२८,००० वर्ष उसका मान है। बाक़ी त्रेता, द्वापर और कलि इन तीनों के सन्ध्या और सन्ध्यांश के साथ जो संख्या होती है, उसमें हज़ार और सैकड़े की एक एक संख्या घटाने से तीनों की संख्या पूरी होती है। इस प्रकार त्रेतायुग ३,६०० = १२,९६,०००, द्वापर = २,४०० = ८,६४,००० और कलि के १,२०० = ४,३२,०००; मान होते हैं। यह जो पहले चारों युगों की बारह हज़ार १२,००० दैव वर्ष संख्या कही है, यह एक दैवयुग का मान है। ऐसे हज़ार दैवयुगों का ब्रह्मा का एक दिन और उतनी ही की रात होती है। अर्थात् दो हज़ार दैव वर्षों का ब्रह्मा का अहोरात्र होता है। १२,००० दैव वर्ष का एक युग, इसको १००० गुणा करने से १,२०,००,००० दैव वर्षों का ब्रह्मा का दिन और इतनी ही की रात्रि हुई। इसे ३६० से गुणा करने से ४,३२,००,००,००० मनुष्य वर्षों का ब्रह्मा का एक दिन और उतनी ही ब्रह्मा की एक रात्रि हुई।

तद्वै युग सहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः।
रात्रिं च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥७३॥
तस्य सोहर्निशस्यान्ते प्रसुप्तः प्रतिबुध्यते।
प्रतिबुद्धश्च सृजति मनः सदसदात्मकम् ॥७४॥

एक हज़ार युग का ब्रह्मा का पुण्यदिन और उतनी ही रात्रि है। उस रात्रि के अन्त में ब्रह्मा सोकर जागता है और अपने मन को सृष्टि में प्रेरित करता है.........।

इसी प्रकार ब्रह्मगुप्त ने जो मत ब्रह्म सिद्धान्त में प्रगट किया है, उसके अनुसार भी एक कल्प में १४ मनवन्तर होते हैं। यह भी निश्चित रूप से माना गया है कि प्रत्येक मनवन्तर का आरम्भ एक मनु की उत्पत्ति से होता है। यह मनु उस मनवन्तर में होने वाले प्रत्येक जीवधारी को पैदा करने वाला माना जाता है। और उस काल का नाम उसी मनु के नाम से विख्यात होता है। मनु के मरने अथवा नष्ट होने पर उसके बनाये सब जीवधारियों का भी अन्त हो जाता है। मनु का अन्त होने पर पृथ्वी पर प्रलय होता है। प्रत्येक वस्तु नष्ट हो जाती है। प्रलय का विवरण श्रीमद् भागवत तथा अन्य धर्म ग्रन्थों में भली भाति दिया गया है। कहा गया है कि प्रलय में पृथ्वी जल मग्न हो जाती है। जल-मग्न होने और बड़े ज़ोरों का तूफान आने से सारी पृथ्वी की वस्तुएं नष्ट हो जाती हैं। प्रलय का वेग काफी समय तक रहता है। फिर शान्ति छा जाती है और दूसरे मनु का जन्म होता है। इस मनु से फिर जीवधारियों का जन्म होता है। ये जीवधारी भी उस मनु के जीवन काल तक रहते हैं। मनु नष्ट होता है, प्रलय होती है, शान्ति होती है और फिर दूसरे मनु का जन्म होता है। इसी प्रकार सृष्टि बनती बिगड़ती रहती है। बहुत कुछ इसी प्रकार की चर्चा बाइबिल के पुराने टेस्टामेण्ट में भी की गई है। यहां भी यह दिखलाया गया है कि कुछ काल के बाद पृथ्वी जल मग्न हो जाती है और सारी वस्तुओं का नाश हो जाता है। केवल एक "आर्क" बच जाती है। यह "आर्क" इस महा भयंकर तूफान में पानी के उपर यहां वहां टकराती रहती है, पर नष्ट नहीं होती। कहा गया है कि इस "आर्क" मे जीवधारियों को पैदा करने के बीज रहते हैं। कुछ काल के बाद जब तूफ़ान का अन्त हो जाता है और चारों ओर शान्ति छा जाती है, तब इस 'आर्क" में से जीवधारियोंका जन्म होता है और फिर नई सृष्टि चलती है।

भूगर्भ शास्त्र में भी कहा गया है कि पृथ्वी के जन्म से आज तक लगभग छै बार इसी तरह पृथ्वी जल-मग्न हुई है या कुछ ऐसे परिवर्त्तन हुए हैं, जिनसे पृथ्वी में नये सिरे से रचनायें हुई हैं। इस तरह के परिवर्तन के अब तक कम से कम चार निशान भूगर्भ शास्त्र वेत्ताओं को मिले हैं। प्रलय, नोआ की आर्क, और ये भूगर्भीय परिवर्त्तन एक ही घटना के भिन्न भिन्न नाम और वर्णन हैं? यदि यह सिद्ध हो सके, तो हमें यह मान लेना होगा कि हमारे ऋषि मुनि भूगर्भ शास्त्र के ज्ञाता थे। यह बात कह देना अनुचित

न होगा कि पश्चिमी देशों में भूगर्भ शास्त्र अपने मौलिक रूप में अभी २० या ३० वर्ष से ही आया है?

प्रत्येक मनवन्तर में ७१ महायुग या चतुर्युग होते हैं। दो मनवन्तर के समय को अथवा प्रलय काल को सन्धि कहते हैं। यह सन्धि एक मनु के मरने से लेकर दूसरे मनु के जन्म तक रहती है। एक सन्धि एक कृति युग के बराबर होती है।

भारत के ज्योतिष शास्त्र के विशेषज्ञों का मत है कि पृथ्वी के जन्म से अभी तक ६ मनवन्तर बीत चुके हैं। सातवें मनु का काल वर्त्तमान काल है। जो मनु हो चुके हैं, उनके नाम ऊपर दिये जा चुके हैं। सातवें मनु, (वैवस्वत) का काल इस समय चल रहा है।

हमने ऊपर जो कुछ लिखा है, उसे सुभीते के लिये यहां गणित की प्रणाली के अनुसार स्पष्ट करना उचित होगा :—

१८ निमेष = १ काष्ठा
३० काष्ठा = १ कला
३० कला = १ मुहूर्त
३० मुहूर्त = १ अहोरात्र (१ दिन + १ रात)
३० अहोरात्र = १ मनुष्य मास
१ मनुष्य मास = १ पितरों का दिन
१ मनुष्य वर्ष = १ देवताओं का दिन
३६० मनुष्य वर्ष = १ दैव वर्ष
४,८०० दैव वर्ष = १ कृतियुग
१२,००० दैव वर्ष = ४ युग
४ युग = १ दैव युग
१००० दैव युग = १ ब्रह्मा का दिन
१००० दैव युग = १ ब्रह्मा की रात्रि।
२००० दैव युग = १ कल्प

कृति युग = ४,८०० दैव वर्ष
= ३६० × ४८०० मनुष्य वर्ष
= १७,२८,००० वर्ष
त्रेता युग = ३६०० दैव वर्ष
= ३६० × ३६०० मनुष्य वर्ष
= १२,९६,००० वर्ष
द्वापर युग = २,४०० दैव वर्ष
= ३६० × २,४०० मनुष्य वर्ष
= ८,६४,००० वर्ष
कलि युग = १२०० दैव वर्ष
= ३६० × १२०० मनुष्य वर्ष
= ४,३२,००० वर्ष।

इन चारों युगों का एक दैव युग होता है और २००० दैव युगों का एक ब्रह्मा का दिन और एक ब्रह्मा की रात्रि या १ कल्प होता है। इसलिये :—

४ युग = ४३,२०,००० मनुष्य वर्ष
२००० × ४३,२०,००० मनुष्य वर्ष = १ कल्प
= ८,६४,००,००,००० वर्ष

इसलिये १ कल्प में ८,६४,००,००,००० वर्ष होते हैं।

विद्वानों का मत है पृथ्वी के जन्म से आज तक ६ मनवन्तर बीत चुके हैं। ७ वां चल रहा है। इस सातवें मनवन्तर के २७ महायुग या चतुर्युग या दैव युग बीत चुके हैं। २८ वां चल रहा है। इस २८ वें महा युग के क्रित, त्रेता और द्वापर युग बीत गये हैं और कलि युग चल रहा है। कलि युग के ५०४२ वर्ष बीत गये हैं। यह बात क़रीब क़रीब प्रत्येक पञ्चाङ्ग में दी जाती है। काशी हिन्दू विश्व विद्यालय से निकलने वाले पञ्चाङ्ग में लिखा है—

*अथास्मिन् वत्सरे वर्त्तमान कल्पारंभतः ससन्धयः षण्मनवोव्यतीताः वर्त्तमानो वैवस्वतमनुः तस्य प्रवृत्तेस्सप्त विंशतिमितानि महायुगानी व्यतीतानि अष्टाविंशतितये युगे त्रये.युगचरणा गताः चतुर्थे चरणे कलो कलेररम्भतः, द्विचत्वा-रिंशदुत्तर पञ्च सह मितानि वर्षाणि व्यतीतानि कल्पादितः १,९७,२९,४९,०४२ वत्सरा व्यतीताः सृष्टयादितश्च १,९५,५८,८५,०४२**

इस प्रकार पृथ्वी के जन्म से आज तक इतने वर्ष बीत चुके हैं।

* काशी विश्वविद्यालय से प्रकाशित पञ्चाङ्ग, सं० १९९८, सफ़ा ३।

ऊपर कहा जा चुका है कि १ मनवन्तर ७१ महायुग या १ चतुर्युग या १ देव युग के बराबर होता है और १ सन्धि एक कृति युग के बराबर होती है। इसलिये —

१ महा युग = कृति + त्रेता + द्वापर + कलि
या = ४३,२०,००० वर्ष
या = १० × ४,३२,००० वर्ष
७१ महा युग = ७१ × १० × ४,३२,००० वर्ष
या = ७१ × ४३,२०,००० ,,
६ मनवन्तर = ६ × ७१ × ४३,२०,००० ,,
या = ४२६ × ४३,२०,००० ,,
= १,८४,०३,२०,००० ,,

सातवें मनवन्तर के २७ महायुग बीते
या २७ × ४३,२०,००० वर्ष
या ११,६६,४०,००० ,,

छै मनवन्तरों के बीच में ७ सन्धि भी बीतीं
याने १ सन्धि = १ कृति युग
= १७,२८,००० वर्ष
इसलिये ७ सन्धि = ७ × १७,२८,००० ,,
= १,२०,९६,००० ,,

२८ वें महा युग के ३ युग, कृति, त्रेता और द्वापर युग भी बीत गये हैं। इसलिये—

कृति युग = १७,२८,००० वर्ष
त्रेता युग = १२,९६,००० ,,
द्वापर युग = ८,६४,००० ,,
या = ३८,८८,००० ,,

कलियुग के ५०४२ वर्ष भी बीत गये हैं।
इसलिये इन सब का जोड़ १,९७,२९,४९,०४२ वर्ष होता है। इस हिसाब से पृथ्वी के बनने के दिन से आज (सन् १९४१ ईसवी तक) १,९७,२९,४९,०४२ वर्ष बीत चुके हैं और यही पृथ्वी की उम्र है। परन्तु विद्वानो का मत है कि इसमें से ब्रह्म-ध्यान का काल घटाया जाना चाहिये। उनके मत के अनुसार ब्रह्म-ध्यान का काल १,७०,६४ ००० वर्ष है। इसलिये पृथ्वी की कुल उम्र —१९४१ ई० तक—१,९७,२९,४९,०४२

१,७०,६४,०००

१,९५,५८,८५,०४२ वर्ष की है।

भारतीय विद्वानों ने पृथ्वी की इस प्रकार से जानी गई आयु को स्मरण कराने के लिये बहुत ही सरल तरीक़ा भी अख़्तियार किया, और वह तरीक़ा अभी तक चला जा रहा है, और तब तक रहेगा जब तक हिन्दू धर्म इस संसार में है। जब किसी हिन्दू घर में कोई वस्तु ब्राह्मण को दी जाती है, तो ब्राह्मण बिना संकल्प पढ़े उस वस्तु को ग्रहण नहीं करता। संकल्प का श्लोक पढ़ने के बाद वह उसे ले लेता है। उस श्लोक को यदि हम अंकों में परिणित करें, तो पृथ्वी की आयु जानी जा सकती है। यह संकल्प का श्लोक भी उन्हीं विद्वानों का दिया हुआ है जिन्होंने पृथ्वी की उम्र पर प्रकाश डाला है—

ॐ तत्सदद्यैतस्य ब्रह्मणोऽन्हि द्वितीय प्रहरार्धे श्री श्वेत वाराह कल्पे जम्बूद्वीपे वैवश्वतमन्वन्तरेऽष्टा-विंशतितमे कलियुगे कलिप्रथमचरणे भारतवर्षे भरतखण्डे आर्यावर्तैकदेशान्तर्गते,...........

पृथ्वी की उम्र की अन्य दूसरे उपायों से जानी हुई उम्रों से ज़रा एक सरसरी दृष्टि से तुलना कीजिये—

आधुनिक काल से पहिले

चलडिया के लोगों के मतानुसार	...	५० हज़ार वर्ष
चलडिया के पुरोहितों के मतानुसार	...	२० लाख वर्ष
बेबीलोन के ज्योतिषियों के मत के अनुसार	...	५ लाख वर्ष
ज़रथुस्त्री ज्योतिषियों के मत के अनुसार	...	१२ हज़ार वर्ष
ईसाई पादरियों के मत के अनुसार	...	६ हज़ार वर्ष

आर्कबिशप उशर (बाईबिल)	.	४ हजार चार वर्ष
मिश्रियों और रोमनों के मतानुसार	...	बहुत बड़ी
लुक्रेशश	...	जब से कवियों ने कवितायें रचनी शुरू कीं।

आधुनिक तरीकों द्वारा

मिट्टी जमा होने के हिसाब से	...	५० करोड़ से १½ अरब वर्ष
चट्टानों के कटने के हिसाब से	...	१ अरब २० करोड़ वर्ष
समुद्र के खारेपन से ...	...	३ अरब २० करोड़ वर्ष
पृथ्वी के धरातल के परिवर्त्तनों से	...	२ अरब वर्ष
जीव जन्तुओं की उत्पत्ति के आधार पर	...	पृथ्वी का तृतीय काल ७ करोड़ वर्ष
बुध तारे की कक्षा के टेढ़ेपन से	.	१ अरब से ५ अरब वर्ष
चन्द्रमा के पृथ्वी से अलग होने के आधार पर		२ अरब से ३ अरब वर्ष
सूर्य का निहारिका से अलग होने के आधार पर		१ अरब से ३ अरब वर्ष
उल्कापातों के आधार पर ...	..	लगभग २ अरब ९० करोड़ वर्ष
रेडियो एक्टिव्ह धातुओं द्वारा	...	१ अरब ९० करोड़ वर्ष
हिन्दू शास्त्रों द्वारा ...	...	१,९५,५८,८५,०४२ (सन् १९४१ तक)

इस तरह हम देखते हैं यह एक आश्चर्य की बात है कि हिन्दू शास्त्रों ने पृथ्वी की उम्र का जो अन्दाज़ा लगाया है, वह वैज्ञानिक तरीक़ों से जानी हुई उम्र से बेहद मिलता जुलता है।

विचार तरङ्ग

श्री मुकन्दीलाल, बी० ए० (आक्सन), बैरिस्टर-एट-ला०

इतवार का दिन था। मैं शनिवार की शाम को ही अपना काम छोड़कर एक पहाड़ पर चला गया था। उस स्थान पर वैभवशाली लोगों के रहने योग्य कई विशाल भवन थे। किन्तु सब ख़ाली थे। उन्हीं कोठियों में से हिमालय की हिमाच्छादित पर्वतश्रेणी साफ़ दिखाई देती थी। मन करता था कि हनुमान की तरह सजीवनी बूटी की तलाश में वहा कूद कर पहुँच। देखने में हिमालय इतना नज़दीक दीखता था कि यदि तिब्बती उड़ाऊ लामाओं की उड़ान शक्ति मुझ मे होती तो मैं उस स्वर्णमय 'बन्दर पुच' या 'त्रीशूला' की चोटी पर जा बैठता। यह उड़ान शक्ति तो मुझ में थी नहीं, अस्तु मैं कुर्सी पर बैठकर सूर्य देव की किरणों का सुखद ताप सहता हुआ इस निर्जन स्थान मे अकथनीय आनन्द अनुभव करने लगा।

मेरी एक कमज़ोरी यह है कि मैं शान्त बैठकर समाधि लगाना तो दूर किनार बिला कुछ न कुछ काम अपने हाथों या दिमाग़ से किये, क्षण भर चुप चाप बैठ नहीं सकता। यदि मुझे कठिन से कठिन दण्ड देना हो तो मुझ से कह दिया जाय कि तुम चुप चाप बिला कोई काम किये बैठे रहो, तुम को समय पर खाना मिला करेगा। किन्तु तुम कुछ शारीरिक या दिमाग़ी काम न करो। इस प्रकार का दण्ड मेरे लिये असह्य होगा। मैं अपने साथ 'थिंकर्स लाइब्रेरी' की हैवलाक एलिस की लिखी ७४ वीं पुस्तक Morals, Manners and Men "सदाचार, आचरण और मनुष्य" ले आया था। एकान्त में इस पुस्तक को पढ़ने लगा!

देश और जाति के हित के लिये यूजेनिक्स

'हैवलाक एलिस' की उक्त पुस्तक में पहला निबन्ध है 'देश और जाति"। जाति की वृद्धि के लिये जीवन शास्त्र के विद्वानों ने सुन्दर सन्तानोत्पादन विज्ञान में दो बातें ध्यान में रखी हैं। एक तो यह कि किस तरह से स्वस्थ, बलिष्ठ और सुन्दर सन्तान उत्पन्न हो। और दूसरी यह कि बुरी व कमज़ोर सतति होने या बढ़ने न पाय।

यह कितने मार्के की बातें हैं। क्या हमारे देश में इन बातों पर विचार होता है? हमारे देश वासी तो यही चाहते हैं कि एन केन प्रकारेण सन्तान उत्पन्न हो। इसलिए अगर किसी अवधूत बाबा के प्रसाद की जरूरत हो तो उसकी शरण ली जाय पर सन्तान हो। एक विवाह से नहीं तो दूसरी शादी की जाय। तीसरी स्त्री आये। चौथी आवे परन्तु किसी न किसी तरह से पुत्र उत्पन्न हो। चाहे उसके होने से जाति को हानि पहुँचे, पुत्र कुरूप हो, ठिगना हो, रोगी हो, पर हो। जाति व देश को उसके ससार में आने पर कितना नुक़सान पहुँचेगा, इस पर कोई विचार नहीं करता।

कन्या या वर की तलाश में, उसके क़द, डील-डौल, और स्वास्थ्य की जाच पूछ नहीं होती। ढूढ होती है जातपात और दहेज़ की। अभी हाल ही में मैं एक मित्र की कन्या के विवाह में सम्मिलित होने को गया था। मुझे यह सुनकर शरम आई और दिल में ख़याल उठा कि जिस देश में इस वर्तमान जाग्रति के ज़माने में भी ऐसे शिक्षित लोग मौजूद हैं, तो यह देश कब उन्नत व स्वतन्त्र हो सकता है। वर महाराज बी० ए० पास, उच्च पुलिस अफ़सर थे। उन्होंने कन्या के पिता से पहिले २५,००० रुपये नक़द रखवा लिये तब उसका पाणि ग्रहण करने को राज़ी हुए। २५।३० हज़ार रुपये का जो सामान दहेज़ में दिया गया वह अलग है। जिस देश में शिक्षित लोगों में भी अब तक इस क़िस्म के विचार

वाले हैं वहां सुन्दर स्वस्थ संतान उत्पत्ति के ध्येय से विवाह करना अरण्य रोदन है। अस्तु, हिन्दुस्तान में "यूजेनिक्स" विज्ञान की चर्चा करना व्यर्थ है। यूजेनिक्स अर्थात् सुन्दर स्वस्थ सन्तानोत्पादन विज्ञान के अनुसार यह भी ज़रूरी है कि मनुष्य को उतनी ही सन्तानें उत्पन्न करनी चाहियें, जितने का वह पालन-पोषण व शिक्षा का सुप्रबन्ध कर सके और सन्तान भी उच्च कोटि की तन्दुरुस्त व बड़े क़द की हों।

जब तक सन्तान शास्त्र के अनुसार कोई स्त्री व पुरुष अच्छी तन्दुरुस्त सन्तान उत्पन्न करने व उसका भरण पोषण करने योग्य न हो, तब तक उस स्त्री व पुरुष को विवाह नहीं करना चाहिये।

यह भी देखने में आया है कि जिन देशों में जन संख्या अधिक है, वहां दरिद्रता भी ज्यादह है, और वहां मनुष्य कमजोर व छोटे कद के भी हैं सन्तानोत्पादन विज्ञान के अनुसार अधिक धनी और बलवान लोगों की सन्तति भी कम होती है।

देश और जाति की उन्नति व समृद्धि के लिये भारतवर्ष को यूजेनिक्स (सन्तानोत्पादन विज्ञान) के नियमों के अनुसार चलना होगा।

समय को हाथ से न जाने दो जीवन सार्थक करो

मा. एलिस के जीवन पर अपने विचार प्रकट करते हुए एलिस ने लिखा है - "जीवन में मनुष्य केवल एक ही अवस्था में स्तनों से दूध पाता है, यौवनावस्था एक ही बार प्राप्त होती है। हम जीवन उपभोग को स्थगित नहीं कर सकते हैं। न जीवन यात्रा में पीछे हट सकते हैं। जो बीता सो बीता। जो गया सो सदैव के लिये गया।

"जीवन एक कला है। इस कला को सब को स्वयं सीखना है। जिन्दगी बसर करना, जीवन कला, कोई किसी को नहीं सिखा सकता। विरक्त भाव जीवन में सर्वत्र पाया जाता है।.. सार्थक जीवन वही है, जिसमें मनुष्य संसार के सुख भोग भी करें और उस उपभोग में चलते चलते रुक भी जाय। यानें जीवन उपभोग का ग़ुलाम न बने। सही तरीक़े पर जिन्दगी बसर करने के लिए यह ज़रूरी है कि मनुष्य कुदरत (प्रकृति) के ऐश्वर्य जीवन उपभोग, उसके त्याग और कठिन जीवन का अनुसरण करे,.. हरेक आदमी को अपने हिस्से का बोझा ढोना होता है। उसे उतना ही भार उठाना चाहिये, जितना वह सहर्ष ढो सके," हैवलाक एलिस के उक्त शब्दों में चारवाक दर्शन कूट कूट कर भरा है। मनुष्य जीवन सार्थक करने के लिये और मानव जीवन से पूरा पूरा काम लेने या उसका उपभोग करने के लिये मनुष्य को एलिस और चारवाकों के सिद्धान्तों के अनुसार इस जीवन को सार्थक और उसका उचित प्रयोग करना चाहिये। मनुष्य जीवन यात्रा में पीछे नहीं हटता है। वही अवसर फिर कभी हाथ आता है, जो एक बार हाथ से चला जाय। इसीलिये कहा गया है :—

काल करे सो आज कर, आज करे सो अब।
पल में परलय होयगी, बहुरि करैगे कब॥

अस्तु, मनुष्य को इस शरीर व जीवन से पूरा पूरा फायदा उठाना चाहिये। यह शरीर हमारा किस लिये बना है। सुख भोग और ऐशो आराम के लिये या उपासना अथवा वैराग्य के लिये? जीवन का सुख भोग समाज सेवा, देश सेवा करते हुए संयम और दमन के साथ आनन्द और सुख भोग बिना यह जीवन सफल नहीं। हमें प्रकृति की तरह उचित समय पर प्रत्येक ऋतु का उपभोग करना चाहिये। अपनी इन्द्रियों तथा इच्छा का ग़ुलाम न बनकर संसार यात्रा में क़दम आगे बढ़ाये चलना चाहिये। हरेक कार्य जो हम करें उसे ख़ुशी के साथ करते हुये कर्म करने से जो आनन्द प्राप्त होता है, उसका रसास्वादन करना चाहिये। मेरी तरह प्रायः सभी का यह निजी अनुभव होगा कि किसी की सहायता या उपकार करने में, किसी से मृदु वचन कहने में, अच्छा लेख लिखने में, अपने विचार औरों पर प्रकट करने में, कितना आनन्द मिलता है। यह जीवन की सार्थकता है। यह तो जीवन कला का उपभोग है।

एलिस ने ठीक कहा है हमें वर्तमान में रहना चाहिये। अर्थात् हर रोज प्रत्येक दिन काम को सुचारु रूप से करना चाहिये। जो काम हम वर्तमान में कर सकें, उसे अच्छी तरह उसी समय कर दें। जीवन में जो सुख या फल मिले उसका उपभोग करें। उसको आइन्दा के लिये न टालें।

हमको यह भी स्मरण रखना चाहिये कि जो कुछ इस संसार में होता या गुज़रता है वह भले ही के लिये। जो कुछ होता है वह प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अन्त में किसी न किसी प्राणी के लिये लाभदायक सिद्ध होता है या अन्य किसी दृष्ट अथवा अदृष्ट व्यक्ति के लिये उस कार्य, कर्म या घटना का परिणाम अच्छा साबित होता है।

मुझे अच्छी तरह याद है कि जब निर्वासित, देशभक्त, लाला लाजपतराय, सन् १९०८ में माडले के बन्दीगृह में निवास करते थे, तो उन्होंने अपने वृद्ध पिता को एक पत्र में अपने देश निर्वासन के लिये चिन्ता न करने को लिखा कि—"इस संसार में जो कुछ होता है भले ही के लिये होता है।" मैंने स्वयम् अपने जीवन में इस युक्ति को सदैव बहुत ही शान्ति और सुख तथा सान्त्वनादायक पाया है। जब कभी कोई आपत्ति आई, या नुक़सान पहुंचे, या घोर कष्ट मिले, उस समय इस महत्वपूर्ण सिद्धान्त को याद कर चित्त को शान्ति मिलती है।

स्पिनोज़ा दार्शनिक ने कहा है, "मनुष्य जिस आनन्द का उपभोग एक बार कर चुके, उसे फिर उसी तरह अथवा उसी साधन के द्वारा प्राप्त करना चाहता है।" इस पर एक दार्शनिक गूरमो ने लिखा है, "स्थिति सदैव वही नहीं रहती, हालत या घटना बदलती रहती हैं।" इसी तरह एलिस भी कहता है, "कोई भी अनुभव दुबारा उसी तरह प्राप्त नहीं होता।" याने अनुभव की पुनरावृत्ति नहीं होती। जैसे किसी और ने कहा है, "कोई भी उसी बहते पानी में दूसरी बार नहीं नहा सकता।" अस्तु जैसा मैं ऊपर कह चुका हूं मनुष्य को कोई मौक़ा शुभ कार्य करने का अथवा सुख व आनन्द उपभोग का, हाथ से नहीं जाने देना चाहिये। वरना वह हाथ मलते रह जायेगा। क्योंकि वह अवसर फिर हाथ नहीं आयेगा।

प्रत्येक युग के जुदा जुदा शिष्टाचार और आदर्श

एलिस ने एक और मार्के की बात अपने निबन्ध संग्रह में एक जगह कही है, "प्रत्येक युग का शिष्टाचार जुदा जुदा होता है।" यह बात भूत व वर्त्तमान सामाजिक परिवर्तनों व आदर्शों का निरीक्षण करने से साफ़ ज़ाहिर होती है। वह समय भी अभी बहुत पीछे नहीं छूटा, जब भद्र लोग अपनी स्त्रियों को परदे के अन्दर रखना अपने बड़प्पन का चिन्ह समझते थे। किन्तु अब शिक्षित समाज इसी में शिष्टाचार और आदरणीय व माननीय बात समझता है कि उनके घर की स्त्रियां पढ़ी लिखी हों, मित्रों से मिल सकें, और बाहर आकर सार्वजनिक जीवन में भाग लें। वह भी एक समय था जब लोग अंग्रेज़ी लिबास पहनना और खान पान के बन्धन तोड़ना धर्मच्युत होना समझते थे। किन्तु यह अब सभ्यता का चिह्न माना जाता है कि जात-बन्धनों की परवाह न की जाय। अब तो बड़े बड़े भोज (डिनर्स) और पार्टियों में खुल्लम खुल्ला सब लोगों के साथ बैठकर खाना खाते हैं। एक समय था जब स्त्रियों का जूता पहनना निन्दनीय व्यवहार माना जाता था और अब साधारण जूता ही नहीं वरन् चार अंगुल ऊंची एड़ी वाला बूट पहन कर खटखट खटपट करके चलना सभ्यता में दाख़िल है। पहले विलायत में भी स्त्रियों के लिये तमाखू सिग्रेट पीना निषिद्ध था। अब पाश्चात्य देशों, व हमारे देश में भी, महिलाओं के लिये भी सिग्रेट पीने की मुमानियत नहीं।

प्राचीन काल में विद्यार्थी गुरुकुल में ब्रह्मचारी के रूप में रहते थे। गुरु के साथ खाना भी खाते थे, गुरु के लिये भिक्षा मांग कर लाते थे और एक से वस्त्र धारण करते थे। पहले बेटा बाप के सामने ज़बान नहीं हिलाता था और अब बाप बेटे के बीच बराबरी के मित्रों का सा व्यवहार होता है। सयाने

पुत्र से पिता कोई बात नहीं छिपाता है। वे आपस में एक दूसरे से सलाह लेते हैं। खुले दिल से बात करते हैं। आपस में हंसी मज़ाक करते हैं। पर अब भी कुछ ऐसे घर हैं, जहां स्त्रियां मुंह खोलकर मर्दों से बात नहीं करतीं। नज़र उठाकर अपने घर के किसी भी पुरुष को नहीं देखतीं। मेरे एक डाक्टर मित्र, जिनके आधे दर्जन बच्चे पैदा हो चुके थे, कहते थे कि उनकी स्त्री ने अब तक उनकी ओर नज़र उठाकर नहीं देखा। कभी उनकी चार आंखें नहीं हुईं। जब वे घर में एक कमरे से दूसरे में जाती हैं—दबे दबे। बड़ी होकर घर के अन्दर अब तक किसी पुरुष, पति, या ससुर इत्यादि के सामने नहीं चलीं, घूंघट खोलना तो दरकिनार रहा। इसी तरह हिन्दुओं में यह प्रथा है कि पुत्रवधू और छोटे भाई की स्त्री ससुर व जेठ जिस फ़र्श पर हों, उस फ़र्श को स्पर्श नहीं करतीं। उनको उनसे दूर रहना पड़ता है। किन्तु अब शिक्षित घरों में यह बात नहीं रही। अब तो ससुर और जेठ से बातें करती हैं और तर्क करती हैं। किसी किसी वेस्टर्नाइज़्ड घर में तो वन्दना के लिये हाथ भी मिलाती हैं। कई जेठ के साथ डांस करती हैं। यह सब परिवर्तन आधुनिक सामाजिक आदर्श में अनिवार्य व आवश्यक है।

साराश यह है कि समयानुकूल सारे ही देशों में मनुष्य के सामाजिक जीवन व रहन-सहन का आदर्श व तरीक़ा बदलता रहता है। लकीर की फकीरी लोप होती जा रही है। अब किसी का धर्म रसोईघर या खाने पीने में नहीं है। विज्ञान और विद्या प्रचार के साथ भूत प्रेत, झाड़ फूंक, तन्त्र मन्त्र, और मूढ़ धार्मिकता लोप होती जा रही है।

संघर्ष संसार में चिरस्थायी है

उक्त पुस्तक में एलिस का एक और निबन्ध "संघर्ष दर्शन" (Philosophy of conflict) पर है। उसमें उसने कहा है कि संग्राम मनुष्य जीवन में चिरस्थायी है। युद्ध कभी मानव जीवन से पृथक् नहीं किया जा सकता है। अर्थात् संघर्ष का इस संसार में लोप नहीं हो सकता है।

सन् १८८० में एक जर्मन प्रोफ़ेसर ब्लन्ट्श्ली ने लिखा था "चिरस्थायी शान्ति स्वप्न मात्र है। लड़ाई ईश्वर की सृष्टि की साधारण वस्तु है। लड़ाई में आदमी की सबसे अच्छी ख़ासियतों का विकास होता है। युद्ध में साहस, आत्म त्याग, देश व स्वामिभक्ति, आज्ञा पालन की कामना, सहसा उत्पन्न हो जाती हैं। लड़ाई न हो तो मनुष्य सांसारिक सुख व स्वार्थ में लिप्त रहें।"

मोल्ट्के इत्यादि युद्ध समर्थकों ने युद्ध को संसार का सर्वव्यापी चिरस्थायी संघर्ष माना है। युद्ध के द्वारा एक व्यक्ति या जाति अपने विचार अथवा आदर्शों को दूसरे देश या व्यक्ति से ग्रहण कराना चाहती है। वर्तमान समय के संग्राम में यही देखने में आ रहा है। जापान चीन से अपना नेतृत्व स्वीकार करने को बाध्य करने के लिये उसके सर पर सवार है। जर्मनी चाहता है कि यूरोप उसके प्रभुत्व को स्वीकार करे। इङ्गलैण्ड चाहता है कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता क़ायम रहे। प्रत्येक देश अपने आदर्श और सभ्यता के अनुसार आज़ादी से सुख भोग करे। रूस चाहता है कि सारे संसार में साम्यवाद का प्रसार हो और भूमण्डल से दरिद्रता राक्षसी निकाल बाहर करदी जाय। सबको पेट भर खाना मिले। अस्तु। अपने अपने सिद्धान्तों व आदर्शों को लेकर सब लड़ रहे हैं। इसी तरह १६-११-४० के अग्रलेख में दैनिक "स्टेट्समैन" ने लिखा था "लालच, अमित धन सञ्चय करने की ख़्वाहिश, अन्य देशवासियों से अपने फ़ायदे के लिये काम लेने की कामना ही वर्त्तमान युद्ध का कारण है।"

यह कोई भी नहीं कह सकता कि लड़ाई से किसी को लाभ नहीं पहुंचता और कि सभ्यता पर युद्ध का अच्छा असर नहीं पड़ता। संसार के प्रत्येक युद्ध का परिणाम किसी न किसी रूप में अच्छा ही रहता है। पिछले यूरोपियन महायुद्ध के बाद या उसके

कारण बड़े बड़े परिवर्तन संसार के कई देशों मे हुये। और उसी तरह वर्त्तमान महायुद्ध के अन्त में बहुत बड़े बड़े भारी परिवर्तन समार के कई देशों मे होंगे। सोरेल ने कहा है, "पुराने ज़माने मे लड़ाई ने दुनिया को असभ्यता से बचाया है।" इस विषय पर 'गीज़ो' ने लिखा है। "यह यूरोप की ख़ुशनसीबी थी कि पुराने ज़माने मे वहा कई लड़ाइया हुई हे। वरना अन्य देशों की तरह यूरूप भी अन्धकार मे डूबा रहता।"

शान्ति

इसके साथ ही एलिस जैसे बड़े बड़े विचारवान पुरुष यह मानते हैं, और इसका प्रचार भी करते हैं कि ज्योंही वास्तविक मनुष्यत्व का विकास होगा, त्यों ही "मेरा देश" और युद्ध की घोषणा उसी तरह लुप्त होती जायगी, जिस तरह धार्मिक आडम्बर ज्ञान रूपी सूर्य के सामने लुप्त होता जा रहा है। एलिस के कथनानुसार वह समय तब आयगा जब वेदान्त दर्शन सिद्धान्त के अनुसार हम लोगों को यह ज्ञान प्राप्त होगा कि प्रत्येक मनुष्य हमारा ही अंश है। हम दूसरे मनुष्य के हनन करने मे अपना ही ख़ून करते हैं। एलिस ने ७ नवम्बर १९१४ को, जब पिछला महायुद्ध जारी था, अपनी डायरी में लिखा था "जिन लोगों को हम अधिक सभ्य समझते थे, वही आज ख़ूंख़ार जानवरों की तरह संसार के अधिकाश भाग में एक दूसरे को मार रहे हैं। ये सभ्य लोग एक दूसरे का संहार उन यन्त्रों के द्वारा कर रहे हैं, जिनको मनुष्य की तीव्र बुद्धि ने आधुनिक विज्ञान की सहायता से तैयार किया है। वे भूमि को ख़ून व लाशों से लथड़ पथड़ कर रहे हैं।" यही आज भी सभ्यता के नाम पर हो रहा है। यही आधुनिक सभ्यता है।

आवश्यकता इस बात की है कि हम प्रेम का सम्पादन करें और प्राणिमात्र से प्रेम करें। सब मनुष्यों को अपना अङ्ग समझें। व्यक्तिगत व जातीय स्वार्थ-परता का त्याग करने से ही मानव जाति का हनन रुक सकता है। अन्यथा जातीय स्पर्द्धा और अन्य राष्ट्रों को दबा कर अपनी क़ौम की उन्नति करने की जो आधुनिक भावना है, वह वर्त्तमान सभ्यता को नष्ट कर देगी। इसलिये एलिस को सहसा कहना पड़ा—

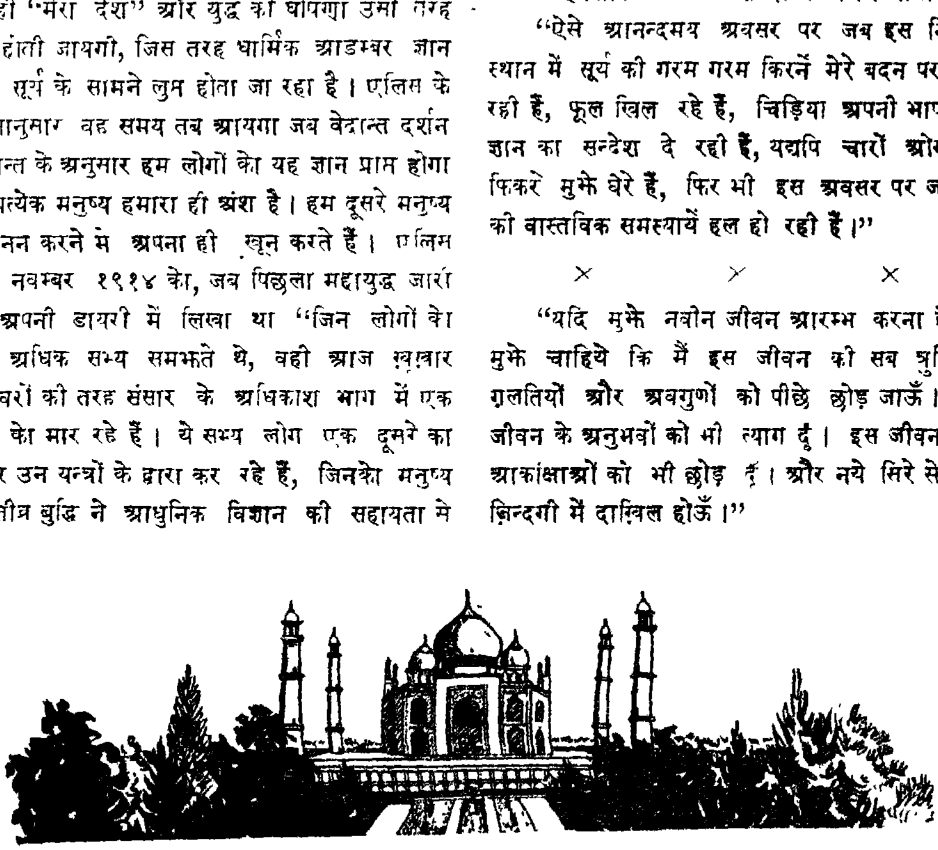
'सभ्यता का प्रत्येक कार्य प्रकृति के विरुद्ध एक विप्लव है जो सभ्यता को ही नष्ट कर देगा।"

मैं हैवलाक एलिस के शब्दों में सोचने लगा—

"ऐसे आनन्दमय अवसर पर जब इस निर्जन स्थान में सूर्य की गरम गरम किरनें मेरे बदन पर पड़ रही हैं, फूल खिल रहे हैं, चिड़िया अपनी भाषा में ज्ञान का सन्देश दे रही हैं, यद्यपि चारों ओर की फ़िकरें मुझे घेरे हैं, फिर भी इस अवसर पर जीवन की वास्तविक समस्यायें हल हो रही हैं।"

× × ×

"यदि मुझे नवीन जीवन आरम्भ करना है तो मुझे चाहिये कि मैं इस जीवन की सब त्रुटियों, ग़लतियों और अवगुणों को पीछे छोड़ जाऊँ। इस जीवन के अनुभवों को भी त्याग दूं। इस जीवन की आकांक्षाओं को भी छोड़ दूं। और नये सिरे से नई ज़िन्दगी में दाख़िल होऊँ।"



नौकरों का शहर

श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार



श्री चन्द्रगुप्त विद्यालङ्कार

काश्मीर की राजधानी श्रीनगर से सिर्फ़ २७ मील दूर ९,००० फ़ीट की ऊंचाई पर, क़रीब १२ वर्ग मील का, लम्बे प्याले के आकार का एक अत्यन्त सुन्दर और हरा-भरा मैदान है, जिसे गुलमर्ग कहते हैं। गुलमर्ग का शाब्दिक अर्थ है—'फूलों का मैदान'। जून के महीने में यह मैदान सचमुच फूलों का मैदान बन जाता है। गुलमर्ग के उत्तर में काश्मीर की काठी, गुलमर्ग से क़रीब ४,००० फ़ीट नीचे, लेटी हुई सी प्रतीत होती है। पूर्व में १५,००० फीट ऊंची अलपत्थर कीपर्वत श्रेणी एक गगन चुम्बी बरफ़ीली दीवार के समान खड़ी है।

गुलमर्ग का मौसम सिर्फ़ ५ महीनों का होता है। मई से सितम्बर तक। बल्कि असली मौसम तो सिर्फ़ ३ ही महीनों का है। सरदियों में यह ऊंचा मैदान बीस बीस फ़ीट ऊंची बरफ़ से ढक जाता है। कोठियों की सिर्फ़ छतें ही बाहर रह जाती हैं। सरदी और बरफ़ का यह हाल है कि आज ३ सितम्बर के दिन, जब मैं ये पंक्तियां लिख रहा हूं, यदि मैंने सुबह से अपने पढ़ने के कमरे में धधकती हुई भट्ठी न जलवा रक्खी होती, तो उंगलियों का सीधा रहना तक असम्भव हो जाता। इस समय दोपहर के १२ बजे हैं, और यहां से सिर्फ़ ५ मील दूर, अलपत्थर की चोटी पर खूब ज़ोरों की बरफ़ पड़ रही है, और यहां वर्षा के साथ-साथ ओलों की बौछार हो रही है। कल और परसों सैकड़ों यात्री सरदी से घबरा कर नीचे, यानी श्रीनगर, चले गए हैं। मैं मानता हूँ कि इतनी जल्दी इतनी बरफ़ पड़ना यहां भी अपवाद है। मैं पिछले दस बरसों से प्रतिवर्ष गुलमर्ग आता हूं। पिछले साल इतनी बरफ़ ११ सितम्बर को जाकर पड़ी थी, और उसे भी हम लोग ज़रा जल्दी मान रहे थे।

इस बारह वर्ग मील के सुन्दर मैदान में क़रीब ७०० कोठियां फैली हुई हैं। प्रत्येक कोठी के साथ लम्बा चौड़ा सहन है। इन्हीं सहनों में फर तथा पाइन (चीड़ तथा कैल) के जंगल, फूलों के उपवन, खेत और चश्मे व्याप्त हैं। गत वर्ष २८ अगस्त को गुलमर्ग की जन गणना हुई थी। उस दिन यहां की ७०० कोठियों में ४,००० अंग्रेज़ तथा २८० हिन्दोस्तानी रहते थे। इनके अतिरिक्त यहां १२,००० नौकर (कुली, खानसामे, बैरे, भङ्गी, चौकीदार आदि) थे। बाज़ार के इलाक़े की आबादी भी १,००० के लगभग थी।

इस वर्ष आबादी के लिहाज़ से गुलमर्ग का रिकार्ड-वर्ष है। महायुद्ध के कारण हिन्दोस्तान में अंग्रेज़ों की संख्या बढ़ गई है। इस वर्ष अन्दाज़ा है कि गुलमर्ग की आबादी (अगस्त में) ३० हज़ार

तक जा पहुंची थी। कोठियों में अब के खूब भीड़ रही। उनके अतिरिक्त लगभग ३, ४ सौ तम्बू भी लगाने पड़े। अब के सम्भवतः ८,००० अंग्रेज़, २,००० हिन्दोस्तानी, ३,००० बाज़ार की आबादी और १७,००० नौकर चाकर गुलमर्ग में रहे होंगे।

इस लेख में गुलमर्ग के प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन करना मुझे अभिप्रेत नहीं। गुलमर्ग की लगभग ६५ प्रतिशत आबादी, यानी यहां के नौकर-चाकरों की दशा के सम्बन्ध में कुछ बातें मैं इस लेख में लिखना चाहता हूं।

निवासियों की स्थिति की दृष्टि से गुलमर्ग एक निराला स्थान है। यहां जो लोग आकर कोठियां लेते हैं, माना जाता है कि उनकी न्यूनतम आय १०,००० रुपया वार्षिक होनी चाहिए यद्यपि इसमें मेरे जैसे अनेक अपवाद हो सकते हैं। कोठियों का न्यूनतम किराया १२५) मासिक है और प्रत्येक कोठी के साथ कम से कम ४ नौकरों का रहना आवश्यक है। घी और दूध को छोड़कर बाक़ी सभी कुछ गुलमर्ग मे बहुत मंहगा है। गुलमर्ग में आकर ३, ३ या ४, ४ हज़ार रुपया प्रति मास व्यय करने वाले अनेक भारतीय तथा कतिपय अंग्रेज़ परिवार आपको मिलेंगे। शराब, परेल (जूआ), शर्तों (Bids) आदि पर हज़ारों रुपया यहां प्रतिदिन इधर-उधर होता है।

दूसरी ओर गुलमर्ग की बहु संख्या, यहां के नौकर चाकर, दासत्व प्रथा की याद दिलाते हैं।

नौकर-चाकरों में जो लोग १५ रु० मासिक, यानी ८ आना प्रतिदिन, पाते हैं, वे ख़ुशहाल गिने जाते हैं। यह मानना चाहिए कि गुलमर्ग में अधिकांश घरेलू नौकर १५) मासिक से कम वेतन नहीं पाते। उन्हें खाने-पीने को भी अच्छा मिल जाता है और उनके अधिकांश मालिक उनसे कठोरता या क्रूरता का व्यवहार नहीं करते। खानसामे, बैरे, चौकीदार, माली, धोबी और आया (अधिकांश परिवारों के साथ आयाएं हैं) इस श्रेणी में आती हैं।

दूसरी श्रेणी है घोड़े वालों और कुलियों की। गुलमर्ग में कार, टांगा, रिक्शा आदि कोई भी सवारी नहीं है। डांडियां हैं, जिन्हें सिर्फ़ अपाहिज या बीमार ही इस्तेमाल करते हैं। गुलमर्ग की सभ्यता में स्वस्थ आदमी का डांडी पर सवार होना हास्यास्पद गिना जाता है। सवारी के लिए यहां एक मात्र सवारी है घोड़ा हज़ारों की तादद मे। सामान उठाने के एक मात्र साधन हैं कुली, वे भी हज़ारों की तादाद में हैं।

हाल में मेरे एक अंग्रेज़ मित्र ने मुझे बताया था कि गुलमर्ग में इन दिनों ३,००० के लगभग पालतू कुत्ते हैं। इन कुत्तों का औसतन व्यय एक रुपया प्रतिदिन के हिसाब से ३,००० रुपया प्रतिदिन है। दूसरी ओर गुलमर्ग के कुलियों की आमदनी ६ आना दैनिक से अधिक नहीं। अधिकांश कुली तो साढ़े चार आना प्रतिदिन ही कमा पाते हैं। टनमर्ग से जो कुली एक मन बोझ उठा कर दो हज़ार फीट की कड़ी चढाई चढ़कर और ४ मील चल कर गुलमर्ग पहुँचते हैं, उन्हें साढ़े चार आना देने का सरकारी नियम है। यह साढ़े चार आने की मज़दूरी भी सब कुलियों को प्रतिदिन नहीं मिलती।

यदि बहुत उदारता पूर्वक भी हिसाब लगाया जाय, तो इन कुलियों की दैनिक औसतन आय पाच आना प्रतिदिन से अधिक नहीं है। इसका सीधा अभिप्राय यह है कि गुलमर्ग के एक पालतू कुत्ते पर यहां के ३ कुलियों की कुल आमदनी से भी अधिक व्यय किया जाता है और फिर कुली अकेले नहीं होते, उन्हें अपनी आय से अपने परिवारों का पालन करना होता है। ये हज़ारों मनुष्य यहां के कुत्तों से बहुत अधिक मेहनत करते हैं, बहुत अधिक चिन्ता करते हैं और उनकी अपेक्षा एक तिहाई से भी कम आमदनी पाते हैं।

गुलमर्ग जैसे समृद्ध हिल-स्टेशन का यह बहुमत सौ फ़ीसदी अशिक्षित है। इन हज़ारों कुलियों में परस्पर किसी तरह के संगठन अथवा सहयोग का नितान्त अभाव है। गोरी चमड़ी से जितना भय यहां के इन अत्यन्त अशिक्षित और अत्यन्त दरिद्र कुलियों को है, उतना दुनियां भर में शायद ही कहीं

होगा। गुलमर्ग के कुली चोरी नहीं करते, गुस्ताखी नहीं करते, मुक़ाबले की कोशिश कभी नहीं करते, फिर भी, गाली, यहां तक कि मार भी चुपचाप अथवा ऊंचा-ऊंचा रोकर बरदाश्त कर लेते हैं। परन्तु इस सबका कारण उनकी भलमनसाहत अथवा उनकी अथाह सहिष्णुता नहीं है, इसका एक मात्र कारण है उनके दिलों का असीम भय। जिस दिन काश्मीरी कुलियों का यह भय दूर हो जायगा, उस दिन से दुनिया काश्मीर में भयंकर से भयंकर काण्डों की कहानियां सुना करेगी।

आप कार या बस से टनमर्ग पहुँचिए। कार के खड़े होते ही एकदम से कुलियों और घोड़े वालों की एक फ़ौज आप को घेर लेगी। 'साहब, मेरा नम्बर ले लीजिए!'; साहब, मेरा घोड़ा बहुत अच्छा है!'; 'हुज़ूर, मैं दिन भर से भूखा हूं; मुझे सामान उठाने दीजिए!' इत्यादि, इत्यादि। टनमर्ग से गुलमर्ग तक सख्त चढ़ाई है। सरकारी रेट (साढ़े चार आना फी कुली, पहले ही बहुत कम है। आपस में प्रतिस्पर्धा कर ये कुली अपने रेट और भी गिरा देते हैं। आप इस शोर शराबे में कुछ भी सुन या समझ नहीं सकेंगे। स्वभावत: आप के मुंह से गुस्से या नाराज़गी के दो एक शब्द निकलेंगे। काश्मीर में पोलीस को हिदायत है कि वह यात्रियों को सुविधा का पूरा ध्यान रक्खे। आप के मुंह से नाराज़गी सूचक शब्द निकलते ही दो-एक कान्स्टेबल वहां पहुँच जायंगे और उन कुलियों पर कोड़ों या डण्डों की मार करने लगेंगे।

आजसे दस साल पहले, जब मैं पहली बार गुलमर्ग आया था, यह दृश्य देखकर मैं सन्न-सा रह गया था। परन्तु अब तो दस साल से लगातार यह दृश्य देखते-देखते कुछ अभ्यास-सा हो गया है। आश्चर्य की बात तो यह है कि यह कोड़ों या डण्डों की मार कुलियों के लिये जैसे उनके दैनिक रोटीन (routine) की भाग बन गई है। नई कार या नई बस के पहुँचते ही आप को फिर से वही नज़ारा दिखाई देगा।

घोड़े वालों का भी लगभग यही हाल है। उन की आत्मा का तो कुलियों की अपेक्षा भी अधिक पतन हो चुका है। बात बात में झूठ बोलना और गोरी चमड़ी से बेहद डरना उनके स्वभाव का अंग बन गये हैं।

गुलमर्ग के धोबियों, भंगियों और चमारों का सब से बड़ा अभिमान यह है कि 'साहब अब तक हमने किसी देसी के कपड़े नहीं धोए!'; "जनाब, मैंने आज तक सिर्फ़ अंग्रेज़ साहबों की टट्टी साफ़ की है'; 'हज़ूर हम सिर्फ़ चिट्टे साहबों के जूते बनाते रहे हैं।' मज़ेदार बात यह है कि इस तरह की बातें कह कर वे आप के सामने गिड़गिड़ाएंगे कि आप भी उनसे काम लें।

यों तो नाई हिन्दोस्तान भर में मशहूर हैं, परन्तु गुलमर्ग के नाई तो सचमुच नुमाइश के लायक़ हैं। नीचे तंग सलवार, ऊपर झक-झक करता हुआ सफेद लम्बा अंगरखा, सिर पर पगड़ी, मुंह पर फ्रेञ्च कट दाढ़ी और हाथों में चमड़े के बैग। मुझे तो गुलमर्ग के नाइयों को देखकर अमीर अली के ज़माने के ठगों की याद हो आती है। राह चलते दो-एक नाई आप से ज़रूर पूछेंगे, चाहे आपने उसी दिन सिर के बाल क्यों न कटवाए हों,—"हज़ूर, कल किस वख्त हाज़िर होने का हुक्म होता है?" आपके इन्कार करने पर वह नाई आप को अपना नाम, अपने बाप का नाम, अपने सार्टिफिकेट आदि सुनाने लगेगा और आप से विनती करेगा कि आप उसका नाम भूलें नहीं।

यों तो ये सब नाई मुझको अनेक बार एक साथ बैठे हुए मिल जायंगे, परन्तु परस्पर जितनी ईर्षा इस जमात में है, उतनी और शायद ही किसी जमात में हो। पिछले ३ सप्ताहों से एक नाई मेरे यहां रोज़ चक्कर काट रहा था। वह अपना और अपने बाप का नाम मुझे इतनी बार सुना गया था कि वे दोनों नाम बरबस मेरे मुंह पर चढ़ गए थे। कल जब सचमुच मेरी बाल कटवाने की इच्छा हुई, मेरा चौकीदार नज़दीक ही से किसी और नाई को बुला लाया। इन नए नाई से जब मैंने कहा कि मैं तो

रहमाना से ही बाल कटवाऊंगा, तो वह बड़ी व्यंग भरी मुस्कान के साथ बोला—"अभी साहब, रहमाना से तो भेड़ के बाल कटवाना भी ग़ल्ती है !" मैंने उसे डांट न दिया होता तो वह इसी तरह की और भी बहुत-सी बातें कहता।

थोड़ी देर के बाद अचानक रहमाना साहब भी आ निकले। उसने शायद सुल्ताना को उधर जाते हुए देख लिया होगा। मेरे बाल काटते-काटते रहमाना बोला—"साहब, सुल्ताना अभी यहां से हो कर गया है न ?"

मेरे 'हां' कहने पर वह बोला—"हुज़ूर आप तो बच गए। कल साथ वाली कोठी के साहब ने सुल्ताना को जूतों से मारा था। नालायक़ ने उनके साहबज़ादा के सारे बाल बिगाड़ दिए।"

रहमाना को बहकता हुआ देखकर मैंने उसे भी डांटा। मैंने उससे कहा—"तुम लोगों की आदत ही है कि एक दूसरे की निन्दा करो। सुल्ताना कहता था कि तुम तो भेड़ के बाल भी नहीं काट सकते।"

रहमाना बहुत ही गम्भीर होकर बोला—"जनाब, सुबः-सुबः (उस वक़्त ११ से कम नहीं बजे होंगे) ख़ुदा झूठ न बुलाए। उस ऊपर की कोठी में उस दिन राजा साहब सुल्ताना को पोलीस के हवाले करने लगे थे। नालायक़ ने उनके सारे बाल बिगाड़ दिए। सुल्ताना ने राजा साहब के सामने नाक से सत्रह लकीरें निकालीं, तब जाकर उन्होंने छोड़ा। कल का छोकरा अंगरखा पहनकर नाई बन गया है !"

गुलमर्ग के नौकर-चाकरों में सब से शरीफ़ जमात है, यहां के चौकीदारों की। वे प्रायः बहुत मेहनती, काफ़ी सच्चे और ईमानदार होते हैं। चौकीदारों को छोड़कर गुलमर्ग की सारी आबादी, सब सैलानी और सब नौकर चाकर फ़सली हैं। ये चौकीदार, बारी-बारी उन दिनों भी यहां बने रहते हैं, जिन दिनों सारा गुलमर्ग बीस-बीस फ़ुट बर्फ़ में दब जाता है।

भिन्न भिन्न धर्मों की विशेषताएं

आचार्य विनोबा भावे

आचार्य विनोबा भावे ने नागपुर जेल में अपने जेल जीवन के समय जो महत्वपूर्ण प्रवचन दिये थे उनके विस्तृत नोट जबलपुर के श्री व्योहार राजेन्द्रसिंह ने लिये थे। उन्हीं नोटों के आधार पर व्योहार जी ने हमें यह लेख भेजा है

विद्यार्थी अवस्था में मैंने संस्कृत का अभ्यास किया है। उसके बाद स्वतंत्र रूप से उसका अभ्यास और बढ़ाया। गीता, उपनिषद् और वेद के बाद पुराण और साम्प्रदायिक भाष्य भी पढ़े। फिर मागधी पढ़कर जैन शास्त्रों का भी अभ्यास किया और पाली पढ़कर बौद्ध साहित्य भी पढ़ा। उसके बाद बाइबिल और अंग्रेजी मे क़ुरान पढ़ा। किन्तु इससे सन्तुष्ट न होकर मूल अरबी में क़ुरान पढ़ना शुरू किया और डेढ़ दो साल से यह अभ्यास चल रहा है, जिससे मेरी आंखें भी खराब हो गईं।

संसार में मुसलमानों की संख्या ३५, ४० करोड़ मानी गई है। तुर्की, ईरान, चीन, भारत, अरब, मलाया, मिश्र आदि सभी देशों में वे फैले हुए हैं। इतनी बड़ी जन-संख्या में यही एक ग्रंथ माना जाता है। वह भी इतने आदर से कि जितनी बाइबिल भी न मानी जाती होगी। हिन्दू धर्म में तो अनेक ग्रंथ व देवता हैं। किन्तु प्रत्येक पढ़े या अनपढ़े मुसलमान के घर में केवल क़ुरान ही पाया जाता है। इससे उनमें अद्भुत एकता और संगठन के भाव जाग्रत होते हैं।

हिन्दू धर्म में ईश्वर कई रूप से माना जाता है। पहिले तो उसका ब्रह्म निर्गुण निराकार है, जो कि संसार के सब व्यवहारों से दूर है; अतः वह केवल अनुभव किया जा सकता है। संसारी बातों में वह काम नहीं देता; इसलिये एक सृष्टिकर्त्ता ईश्वर की कल्पना की गई, जो सगुण होकर भी निराकार है। रामानुज तक इसी कल्पना को मानते हैं। आर्य समाज, ब्रह्म समाज आदि इसी को मानते हैं। क़ुरान में भी ऐसा ही एक उपास्य ईश्वर माना गया है।

किन्तु हिन्दू धर्म के सन्तों ने ईश्वर को सगुण, साकार मानकर ईश्वर को बहुत ही समीप ला दिया है। इसमें गुण के साथ बुराइयां भी हमारे में आ गईं। सूर्य चन्द्र आदि में ईश्वर की कल्पना कर हमने उसे मर्यादित कर लिया है। फिर भिन्न भिन्न देवताओं को अलग अलग कार्यों के लिये पूज कर समानता का प्रवेश कर दिया। भिन्न भिन्न देवताओं को पूज कर हमारी उपासना भी छिन्न भिन्न हो गई, उसमें एकाग्रता नहीं रही। उनकी पूजा, पद्धति, आकार, प्रकार सभी भिन्न भिन्न हो गये, जिससे समाज में भेद भाव बढ़ गये।

क़ुरान में एक सगुण ईश्वर की कल्पना की गई है। उस एक के प्रति उनका जितना आदर है, उतना किसी अन्य के लिये नहीं है। वे उसके सामने जिस ढङ्ग से झुकते हैं, उस ढङ्ग से दूसरे के सामने नहीं झुकते। उसके आदर में पञ्चवक्ता नमाज़ पढ़ते हैं और एक ही प्रणाली से दुनिया भर में एक ही समय सामूहिक रूप से उसकी उपासना करते हैं। इससे अद्भुत एकता और सामाजिक भावना का उदय होता है।

संसार के सभी धर्मों में मुख्यतया पांच बातें प्रधान हैं :—

(१) *तत्व विचार या श्रुति।*

(२) सामाजिक क़ानून या स्मृति।

(३) भक्ति या उपासना पद्धति।

(४) पुराण या प्राचीन ऐतिहासिक कथाएं।

(५) नीति शास्त्र या नैतिक नियम।

अन्तिम (५) वीं बात से प्रारम्भ करने से मालूम होगा कि सभी धर्मों में नैतिक नियम प्रधान हैं। इस्लाम धर्म में सत्य को पूरा महत्त्व दिया गया है। उसमें अपवाद आदि नहीं हैं, जैसे कि हिन्दू धर्म में कुछ लोगों ने कल्पित किये हैं।

अहिंसा को सर्वोत्तम सिद्धान्त माना गया है, किन्तु जब धार्मिक विश्वास खतरे में हों और शान्तिमय उपाय काम न आवें और कायरता का भय हो, तो हिंसा की जा सकती है।

(४) प्राचीन कथाओं को भी इस्लाम में स्थान है किन्तु वह हाल का धर्म है और हिन्दू धर्म हज़ारों वर्ष प्राचीन है अतः उसमें ऐतिहासिक आख्यायिकाओं की बहुतायत है। उतनी इस्लाम मे नहीं है, किन्तु हरिश्चन्द्र के साथ इब्राहीम की कथा को भी स्थान देने से हिन्दू मुसलिम एकता बढ़ सकती है।

(३) भक्ति के विषय में मुझे ऐसा लगता है कि इस्लाम की भक्ति में अधिक जोश है, क्योंकि उसमें सगुण निराकार की उपासना बतलाई गई है। इसी प्रकार की भक्ति रामानुज और दयानन्द ने भी प्रतिपादित की है। यदि हम निराकार की अचिन्त्यता तथा साकार की सकामता से बचना चाहते हैं, तो यही भक्ति आदर्श है। यदि ईश्वर निर्गुण होगा तो हम उसकी चिन्तता ही नहीं कर सकते और यदि साकार होगा तो अनेक देवों, मूर्तियों तथा प्रतीकों आदि की विविधता में पड़ जाते हैं।

हिन्दू धर्म में तीन प्रकार से उपासना की गई है :—

(१) निर्गुण निराकार ब्रह्म—उपनिषदों आदि में।

(२) सगुण निराकार की उपासना—दयानन्द, रामानुज आदि के द्वारा।

(३) सगुण साकार सन्तों की वाणियों में।

इनमें तीन प्रकार की विशेषताएं हैं। निर्गुण निराकार चिन्तन-मनन के लिये बहुत है। सगुण निराकार भक्ति के लिये उपयुक्त है और सगुण साकार सेवा के लिये सबसे अधिक उपयुक्त है। बिना व्यक्तित्व के सेवा नहीं हो सकती; साकार मनुष्य में हमें सेवा के साधन मिल जाते हैं। पर हम उसे ईश्वर समझ कर न करें और यह भी न समझें कि उसके सिवा ईश्वर है ही नहीं। हम सेवा; उपकार और दया की भावना से करें, किन्तु गौरक्षा कर बकरी को न मारें, गौ में सब देवों का वास मानकर बकरी की हत्या न करें।

जिस प्रकार इस्लाम में न्याय और बन्धुत्व की भावनाओं पर ज़ोर दिया गया है, उसी प्रकार हिन्दू धर्म में भूत दया पर ज़ोर दिया गया है और ईसाई धर्म ने मानवता पर। Fraternity, Compassion and Humanity इन तत्वों से हम इन्हें सम्बोधन कर सकते हैं।

भूत दया बहुत ऊंची भावना है, किन्तु वह इतनी व्यापक होगई कि उसमें मानव सेवा पर ध्यान नहीं रखा गया। वह आकाश के समान इतनी अधिक व्यापक होगई कि मनुष्यता उसमें विलीन होगई। भूत दया की भावना को स्थिर रखते हुए भी हम मानव सेवा को स्थिर रख सकते हैं। सेवा भाव को महत्व देने ही के कारण जहा भी सेवा की ज़रूरत होती है—आफ्रिका, चीन या भारत में—वहा जंगली जातियों, कोढ़ियों और बीमारों की सेवा के लिये ईसाई लोग चले जाते हैं। भूत दया से प्रेरित होकर ही भारत ने मांसाहार परित्याग का प्रयोग किया था।

हिन्दू धर्म ने समाज के संगठन तथा प्रेम भाव के लिये वर्णाश्रम धर्म की जो सुन्दर व्यवस्था की थी, उसमें ऊंच नीच का भाव या मज़दूरी का भेद भी नहीं था। किन्तु आगे चलकर यह ऊंच नीच की भावना में बंध गया और ६, ७ सौ साल से हम इसी के कारण जातियों उप-जातियों में भेद भाव का दृश्य देखते आते हैं। हमको इस्लाम के बन्धुत्व तथा समाज भावना और लोकशाही से बहुत कुछ सीखना है। हम इन धर्मों की अच्छी बातों का आदान प्रदान कर सकते हैं।

(२) सामाजिक नियम देशकाल की अवस्था के अनुसार अलग अलग बनते हैं। इस्लाम तथा हिन्दू

धर्म दोनों में सामाजिक नियम पूर्ण नहीं हैं। इसलिये वर्तमान समय में प्राचीन शास्त्रों के आधार पर नहीं, किन्तु सामाजिक उपयोगिता के आधार पर नियमों का निर्णय होना चाहिये। स्त्रियों की स्थिति के विषय में इस्लामी नियम अच्छे हैं, किन्तु दूसरी दृष्टि से अपूर्ण भी हो सकते हैं।

(१) तत्व निरूपण की दृष्टि से हिन्दू धर्म जितनी गहराई और सूक्ष्मता में गया है, उतना संसार में कोई धर्म नहीं गया। इस्लाम से इस विषय में कोई तुलना नहीं हो सकती है। उसने तो निर्गुण निराकार को माना ही नहीं। हिन्दू धर्म में तो सभी प्रकार से ईश्वर की कल्पना की गई है। शंकर में विचारों की जितनी गहराई है, उतनी हम रामानुज में नहीं पाते। रामानुज के शिष्य ही रामानन्द थे, जिन्होंने कबीर और तुलसी को प्रेरणा दी। तुलसीदास ने राम के रूप में एक ब्रह्म की उपासना का प्रयत्न किया और अन्य देवताओं की वन्दना भी की।

मातृवाणी

मातुः श्री (पांडीचेरी)

- भगवान् के बिना जीवन एक दुःखमय धोखा है। भगवान् के साथ सब कुछ आनन्द ही आनन्द है। भगवान् के बाहुओं में आश्रय ग्रहण कर लेने से सब कठिनाइयां हल हो जाती हैं। कारण उनके बाहु प्रेम के साथ हमें अपनी शरण में ले लेने के लिये सदा खुले हुए हैं।
- भगवान् की ओर मुड़ो, तुम्हारे सब दुःख दर्द विलीन हो जायंगे।
- भगवान् के चरणों में अपने-आपको सच्चे भाव से अर्पित कर देने से ही हम अपने अनगिनत मानवीय दुःख दर्दों से छुटकारा पा सकते हैं।
- शांति अप्रमेय होनी चाहिये, अचंचलता गहरी और प्रशांत, स्थिरता अटल और भगवान् में भरोसा सदा बढ़ने वाला।
- भगवान् के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकाशित करने का इससे अधिक अच्छा और कोई तरीका नहीं कि, शांत भाव से प्रसन्न रहा जाय।
- भगवान् जो कुछ दें उसे सदा हर्ष पूर्वक स्वीकार करना चाहिये।
- सब कुछ सुवर्णमय, सुवर्ण ही था, सुनहली ज्योति का एक प्रवाह निरवच्छिन्न धारा में ऊपर से निरन्तर बह रहा था और इस चेतना को ला रहा था कि देवताओं का मार्ग सूर्य ज्योति से आलोकित एक ऐसा मार्ग है, जिसमें कठिनाइयों की सब वास्तविकता विलीन हो जाती है।
- ऐसा वह मार्ग हमारे सामने खुला हुआ है, यदि हम उसको ग्रहण करना पसंद करें।
- एक मुसकान का कठिनाइयों पर वही असर होता है, जैसा कि सूर्य का बादलों पर—ये उन्हें भिन्न-भिन्न कर देते हैं।
- किसी शत्रु पर मुसकराने का अर्थ है, उसे निरस्त्र कर देना।
- आत्म-जय से बढ़कर विजय नहीं है, यही है समस्त स्थायी सुखों का आधार।
- अपने सुख के लिये चिंता करना दुःखी होने का अव्यर्थ उपाय है।
- सुख जीवन का लक्ष्य नहीं है।
- साधारण जीवन का लक्ष्य है अपने कर्त्तव्य का संपादन। आध्यात्मिक जीवनका लक्ष्य है भगवान् की उपलब्धि।
- यदि हम चाहते हैं कि हमारी सुखं अक्षुण्ण और पवित्र बना रहे, तो हमें इस बात के लिये भरपूर प्रयत्न करते रहना चाहिये कि इस पर किन्हीं अमैत्रीपूर्ण विचारों की दृष्टि न पड़े।



(१)

एक दिन मैं स्थानीय कॉलेज के एक ईसाई प्रोफ़ैसर मित्र के कमरे में बैठा हुआ था। तरह तरह की चर्चाएं चल रही थीं। इतने में प्रोफ़ैसर को प्यास लगी। उन्होंने दफ़्तर के चपरासी से पानी मागा। पानी पीकर जूठा गिलास उन्होंने चपरासी को देना चाहा। चपरासी ने दीन भाव से जवाब दिया—

"सरकार भुंइमा धर देव।"

"हैं क्या मतलब ?" ईसाई मित्र ने हैरत से पूछा। फिर कहा "अरे भाई! अब तुमको क्या एतराज़ ? अब तो तुम ईसाई हो गए हो।"

"तो सरकार! इसाई भयेन हन, तो का आपन धरम दीन है ?" चपरासी ने अनिच्छित भाव से जवाब दिया।

प्रोफ़ैसर ने झेंपी हुई मुस्कराहट के साथ गिलास ज़मीन पर रख दिया।

(२)

स्वर्गीय मेजर बामन दास बसु अपने एक प्रतिष्ठित मुसलिम मित्र सर…बेग का एक क़िस्सा सुना रहे थे। सर…बेग विलायत जा रहे थे। जहाज़ जब कैरो पहुंचा यात्रीगण सैर के लिये नीचे उतरे। बेग साहब भी उतरे, लेकिन कहीं जाने से पहले उन्होंने नमाज़ पढ़ लेना मुनासिब समझा और वहीं रेत पर मग़रिब की ओर मुंह करके नमाज़ पढ़ने लगे। धीरे-धीरे अनेक मिस्री उनके चारों ओर इकट्ठा होकर उन्हें कौतूहल से देखने लगे। बेग साहब को बड़ी परेशानी हुई। जल्द से जल्द नमाज़ ख़त्म करके पूछा—

"आप लोग इस हैरत से मुझे क्यों देख रहे हैं ?"

मिस्रियों ने कहा—"तू कर क्या रहा था ?"

"नमाज़ पढ़ रहा था," उनका सीधा सा जवाब था।

"किधर मुंह करके नमाज़ पढ़ रहा था ?" फिर फटकार पड़ी।

"मग़रिब की तरफ़ मुंह करके, काबे की तरफ़," इन्होंने ग़ुस्से से कहा—

"काफ़िर! क्या काबा मग़रिब में है ? कैसा मुसलमान है तू ?" सब मिस्रियों ने एक स्वर में कहा।

बेग मर्माहत से हो गये, फिर किसी ने उन्हें समझाया कि काबा मिस्र के उत्तर में है, पश्चिम में नहीं।

(३)

लेकिन काबे की दिशा ही क्या ? इस सम्बन्ध में गुरु नानक का एक क़िस्सा है। गुरु नानक एक बार मक्के के लिये रवाना हुए। सफ़र में रास्ते में वे एक जगह लेटे हुए थे। उनके पैर काबे की तरफ़ थे। किसी ने एतराज़ किया। गुरु नानक ने जवाब दिया कि फिर पैर उधर कर दे जिधर काबा न हो। मशहूर है कि वह शख़्स जिधर गुरु नानक के पैर कर देता था काबा उधर ही घूम जाता था। अन्त में उसके दिल में ज्ञान उदय हुआ और वह गुरु के चरणों पर गिर पड़ा।

(४)

सर चार्ल्स नेपियर अपनी एक पुस्तक में लार्ड डलहौज़ी के पिता की एक बड़ी दिलचस्प घटना सुनाता है। उन दिनों लखनऊ में नवाब आसफुद्दौला तख़्तनशीन थे। लार्ड डलहौज़ी का पिता उन दिनों कम्पनी की भारतीय सेना का कमाण्डर इन चीफ था। एक बार वह अपनी पत्नी को नवाब से मिलाने लखनऊ लेगया। विलायत में सम्राट के सामने इस तरह किसी को पेश करने को 'प्रेज़ेण्ट' (Present) करना कहा जाता है। प्रेज़ेण्ट का शाब्दिक अर्थ है—'उपहार'। जब नवाब को मालूम हुआ कि कमाण्डर इन चीफ अपनी बीवी को प्रेज़ेण्ट करना चाहता है तो वह बहुत परेशान हुए। उन्होंने नम्रता से कहला दिया—"किसी की बीवी को उपहार में स्वीकार करना मैं नैतिक नहीं समझता।"

मेजर बसु ने अपने इतिहास में लिखा है कि लार्ड डलहौज़ी को यह घटना याद थी और उसके अवध अपहरण की एक यह भी वजह थी।

(५)

स्वर्गीय स्वामी दयानन्द सरस्वती अपने मत का प्रचार करते हुए एक बार पटना पहुंचे। पहले दिन स्वामी जी का व्याख्यान हुआ सनातन धर्म के खण्डन पर। हिन्दुओं में काफ़ी बेचैनी फैली मगर सन्यासी का आदर तो हिन्दू की नस नस में है। धैर्य के साथ स्वामी जी का हमला सह लिया गया। उसी सभा में स्वामी जी ने ऐलान किया कि आज सनातन धर्म का खण्डन किया गया है, कल इसलाम मत का खण्डन होगा। लपटों की तरह यह ख़बर चारों ओर के मुसलमानों में फैल गई। दूसरे दिन सुबह से ही मुसलमानों के दल के दल लाठी ले लेकर पटने में इकट्ठा होने लगे। चारों तरफ़ चर्चा थी—हिन्दुओं ने सह लिया किन्तु मुसलमान यह अपमान न सहेंगे। देखें स्वामी इसलाम मत का खण्डन कैसे करते हैं ? लोगों में निश्चय हो गया कि दङ्गा होकर रहेगा। अधिकारियों ने स्वामी जी से व्याख्यान स्थगित करने के लिये कहा; मगर स्वामी जी टस से मस न हुये। जिन सब जज महोदय के यहां स्वामी जी ठहरे थे, उन्होंने स्वामी जी से बहुत अनुनय-विनय की किन्तु बेकार। आख़िर यही तय रहा कि स्वामी जी व्याख्यान देंगे और अधिकारी उनकी रक्षा का प्रयत्न करेंगे। शाम होते होते बांकीपुर के मैदान में हज़ारों मुसलमान सभास्थल पर इकट्ठा हो गये। स्वामी जी जिस वक्त बोलने के लिये खड़े हुए एक अजीब सन्नाटा छा गया। स्वामी जी ने शुरू किया—

"मैं जानता हूं आज आप इस इरादे से आये हैं कि स्वामी की ज़बान से बात निकली नहीं कि आप ने उसके टुकड़े टुकड़े कर डाले। लेकिन कल के निश्चय के अनुसार आज मैं इसलाम मत का खण्डन करूंगा, चाहे आप मेरे टुकड़े टुकड़े कर डालें। दुनिया को कहने को रह जायगा कि मुसलमान स्वामी की बात का जवाब न दे सके तो उसे मार दिया।"

कानों ही कानों में कुछ फुस फुस हुई और उसके बाद सब ख़ामोशी। उस दिन तीन घण्टे स्वामी जी इसलाम मत के खण्डन पर बोले।

(६)

तब महामहोपाध्याय पंडित शिवकुमार शास्त्री ज़िन्दा थे। बङ्गालियों में त्रिपुरा के राजा को लेकर विवाद चल रहा था कि वे द्विज हैं या शूद्र। आख़िर तय हुआ कि काशी चलकर पंडित शिवकुमार जी से व्यवस्था ली जाय। दोनों दल काशी में एक वृहत् शामियाने के नीचे इकट्ठा हुए। ऐसे उत्सवों की आवश्यक अङ्ग पुलिस भी मौजूद थी। महामहोपाध्याय शास्त्रीजी ने जैसे ही सभापति का आसन ग्रहण करके व्यवस्था की कार्यवाही आरम्भ की कि दूर बैठे हुए एक सन्यासी महोदय ने खड़े होकर सभापति से कहा—

"अध्यक्ष महोदय सुनिये ! जगद्गुरू ब्राह्मण, ब्राह्मण गुरू सन्यासी और तिनके गुरू हम दण्डी स्वामी। सो इस सभा में हमें यह निम्न स्थान क्यों

दिया गया ? पहले इसका फ़ैसला हो जाय, तब सभा की कार्यवाही प्रारम्भ हो।"

अध्यक्ष महोदय चतुर थे, फ़ौरन हाथ जोड़कर खड़े हो गये और कहा—"भगवन्! आप जैसे पूज्य महानुभाव सभा में जिस जगह बैठें हमारे लिये वही उच्च स्थान है।"

दण्डी स्वामी ने सन्तुष्ट होकर कहा—"हम प्रसन्न हुए। अब सभा की कार्यवाही आरम्भ करो।"

कहना न होगा कि व्यवस्था की कार्यवाही मे दस मिनट के भीतर ही लाठियों ने प्रमुख हिस्सा लेना शुरू कर दिया और पुलिस ने सभा विसर्जित कर दी।

(७)

उस समय पण्डित सतवलेकर गुरुकुल कागड़ी में संस्कृत के अध्यापक थे। स्वामी श्रद्धानन्द जीवित थे और उन्होंने लार्ड चेम्सफोर्ड को गुरुकुल आने का निमंत्रण दिया। स्वामी जी की इच्छानुसार बड़े लाट महोदय गुरुकुल कागड़ी आये। स्वामी जी लार्ड चेम्सफ़ोर्ड को लेकर निरीक्षण के लिये निकले। विविध दरजों में पढ़ाई देखते हुए लार्ड चेम्सफ़ोर्ड पंडित सातवलेकर के दरजे में पधारे। स्वामी जी ने लाट साहब से पंडित सातवलेकर का परिचय कराया। बड़े तपाक से लाट साहब ने पंडित जी से शेक हैण्ड करने के लिये अपना हाथ बढ़ाया। पंडित जी शुद्ध सनातनी थे, किन्तु वेदों के बहुत बड़े विद्वान होने के नाते उन दिनों गुरुकुल में स्वामी जी के आग्रह से अध्यापन कार्य करते थे। भला वे म्लेच्छ चेम्सफ़ोर्ड से कैसे हाथ मिलाते! लाट साहब के हाथ बढ़ाते ही पंडित जी एक क़दम पीछे हट गये। लाट साहब की कुछ समझ में न आया। वे हाथ फैलाए हुए एक क़दम और आगे बढ़े। पंडित जी एक क़दम और पीछे हटे। स्वामी जी परेशान होगए कि लाट साहब का व्यर्थ अपमान हो गया। मगर चेम्सफ़ोर्ड उस अपमान को यों ही जेब में डालने वाले न थे। भस्मासुर जैसा हाथ फैलाए हुए वे एक क़दम और आगे बढ़े। पंडित जी पीछे हटे, मगर स्टालिन लाइन की तरह दीवार पीछे आ गयी, वे मजबूर हो गये। लाट साहब ने ज़बरदस्ती उनका हाथ पकड़ कर शेक हैण्ड किया और झेंपी हुई मुसकान के साथ कमरे के बाहर हो गये।

पं० सातवलेकर के विद्यार्थी अब भी उस घटना का ज़िक्र करते हैं कि पंडित जी म्लेच्छ को इस प्रकार छूने से बेहद क्षुभित हुए और बाद में गङ्गा जी के तट पर जाकर उन्होंने गाय के गोबर से ७२ बार शुद्धि क्रिया की।





विज्ञान और संकट ग्रस्त सभ्यता

यह बताना कठिन है कि भविष्य में जीवन की धारा कैसी होगी पर एक बात तो निश्चित है कि वह आज की सी 'महाजनी' और स्वाधीनता का नाश करने वाली न होगी। उस समय व्यक्तिगत स्वाधीनता का विकास अधिक सहज होगा और वह विकास एकांगी न होकर सर्वाङ्गीण होगा। उस समय विज्ञान से मनुष्य को परम आन्तरिक तृप्ति मिल सकेगी। उस आने वाले ज़माने में फ़ुर्सत के समय लोग अपना वक्त पक्षियों के पालने में नहीं लगावेंगे; बल्कि तरह तरह के वास्तविक विचार उस समय लोगों को अपनी ओर आकर्षित करेंगे। जो कलाकार आज विज्ञान से परिचित नहीं हैं, वे भी उस समय उसे जानेंगे और सामाजिक तथा राजनैतिक अग्र गति की ओर ध्यान देंगे। उस समय विज्ञान दुनिया का जो रूप हमारे सामने पेश करेगा, उसमें मानव शक्ति का ह्रास नहीं होगा; बल्कि उसके द्वारा जीवन संघर्ष में सहारा और नए नए महान कार्यों के लिये उत्साह मिलेगा।

विचारशील लोग इस बात को जानते हैं कि आज के सामाजिक संघर्ष में वह आने वाला भविष्य छिपा है। यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है कि आज का यह भीषण युग कब ख़त्म होगा? इसी के जवाब पर बहुत कुछ हमारी कार्य-प्रणाली निर्भर करती है; इसी से उसको निर्देश मिलेगा। भूतकाल के विश्लेषण में ही आने वाला भविष्य है।

आज विज्ञान पर जिस पाशविक शक्ति का ताण्डव हो रहा है; पूंजीवाद से पैदा होने वाली विकृत राजनीति और समाजनीति का उसमें घनिष्ठ सम्बन्ध है—उस सम्बन्ध का ही यह परिणाम है। पूंजीवाद के जीवित रहते किसी प्रकार के स्वतन्त्र (माननीय) और क्रियाशील विज्ञान का जन्म लेना और पनपना सम्भव नहीं।

परिस्थिति संगीन हो गई है। पूंजीवाद के इस चरम उत्कर्ष के साथ ही साथ विज्ञान भी संकटग्रस्त हो गया है। विज्ञान का विनाश शुरू हो गया है। उसे युद्ध के संहारक कार्यों में लगाया जाता है; भिन्न राजनैतिक मतवाद में विश्वास रखने के कारण वैज्ञानिकों पर ज़ुल्म किया जाता है। इस तरह विज्ञान पर भीषण प्रहार किया जा रहा है। पर फिर भी विज्ञान का नाश नहीं होगा। शायद किसी दिन दुनियां के लोग इसका हिसाब लगावेंगे कि जर्मनी ने स्वरचित विज्ञान को किस अनुपात में अपने ही हाथों नष्ट किया।

फैसिज़्म विज्ञान की प्रगति को वर्षों पीछे घसीट ले जाता है। इसीलिए अब विज्ञान की दूसरी समस्याओं के साथ उसकी आत्मरक्षा का प्रश्न भी उठेगा। फ्रांसीसी वैज्ञानिक प्रोफ़ैसर लैंगेविन ने वर्तमान अवस्था का वर्णन इस प्रकार किया है। कोई वैज्ञानिक गवेषणा, आज अगर किसी कारण से नहीं दिखाई पड़ती है, तो कोई विशेष हानि नहीं, कुछ दिनों बाद कोई दूसरा उसे कर डालेगा। लेकिन यदि

विज्ञान की रक्षा का सामूहिक प्रयत्न नहीं किया जाता है, तो कई वर्षों के बाद देखा जायगा कि शताब्दियों के लिये विज्ञान की प्रगति रुक जा सकती है। मुझे आशा है कि अवसर बीत जाने के पहले ही हम इस बात को समझेंगे। विराट सामाजिक और आर्थिक समस्याओं से विज्ञान के भविष्य का घनिष्ट सम्बन्ध है। इस समस्या के समाधान के लिये पहला काम है मनुष्य के जीवन धारण के लिए ज़रूरी वस्तुओं के वितरण का काम राष्ट्र के हाथों में सौंप देना।

वर्तमान व्यवस्था की जगह उपर्युक्त व्यवस्था के प्रतिष्ठित हो जाने पर विज्ञान की उन्नति का रास्ता साफ हो जायगा। सोवियत् यूनियन की तरफ एक नज़र डाल कर हम देख सकते हैं कि वहा पर क्या हो रहा है, किस तरह से हो रहा है। शुरू से ही वहा पर विज्ञान को राष्ट्र के साथ स्थापित कर दिया गया है। उसे विभिन्न प्रकार के उत्पादनशील कामों मे लगाया गया है। अन्तिम रूप से निचले स्तर से लेकर ऊचे से ऊचे कामों के लिए विज्ञान को भली भांति संगठित किया जा रहा है। विज्ञान का ऐसा उपयोग आज तक संसार मे कहीं नहीं देखा गया। अभी तक तो अपेक्षित रूप से कम शिक्षित लोगों को लेकर कुछ कठिनाई से काम चलाया जा रहा है; लेकिन ऐसी हालत पर भी कुछ दिशाओं मे वहा आशातीत सफलता प्राप्त हुई है। जैसे Aero Dynamics कठिन पदार्थ तथा कृषि-विज्ञान की गवेषणा में।

सोवियत् यूनियन में विज्ञान की उन्नति के लिये तीन महान सुविधाएं हैं। पहली यह कि वहा पर जन सामान्य के लिये विज्ञान की सेवा करने की सुविधा प्राप्त है। दूसरे देशों मे ग़रीबी के कारण पंचानवे प्रतिशत प्रतिभाशाली विद्यार्थी विज्ञान की सेवा मे वंचित रह जाते हैं। जिनके पास धन रहता है, वही विज्ञान में लग पाते हैं। दूसरी ख़ास बात यह है कि सोवियत् यूनियन में विज्ञान की गवेषणा को बहुत मूल्यवान समझा जाता है और उस के लिए आवश्यकता के अनुसार अधिक से अधिक धन ख़र्च किया जाता है। वहां विज्ञान के कार्यकर्ताओं पर दायित्वपूर्ण महान सामाजिक मर्यादा का काम सौंपा गया है। विज्ञान की उन्नति के लिए सोवियत् एक सौ करोड़ रूबल ख़र्च करता है—यह रक़म ब्रिटेन द्वारा विज्ञान पर ख़र्च होने वाली रक़म से दस गुना ज़्यादा है; और जब कि दोनों की सालाना आमदनी बराबर बराबर है। वहां पर विज्ञान की उन्नति का तीसरा कारण है अच्छी व्यवस्था के साथ उद्योग धन्धों खेती-बारी का जन स्वास्थ के लिए नियन्त्रित किया जाना। इसका नतीजा यह हुआ है कि वहां एकान्त रूप से विज्ञान की ही उन्नति हुई है, बल्कि उसके साथ विज्ञान को मानव-कल्याण के कामों में नियोजित करने की अथक् चेष्टा से वास्तविक जीवन के विषय में वैज्ञानिकों को बहुत सी नई बातें मालूम हुई हैं। वास्तविक जीवन की अनेक समस्याओं से गवेषणा के योग्य बहुत सी बातों का सकेत मिलता है। सोवियत् यूनियन में इस सत्य का प्रयोग किया गया है, इसीलिये एक ओर तो उसको वास्तविक जीवन से छोटी-बड़ी समस्यायें मिल रही हैं, और दूसरी ओर गवेषणा से उनके समाधान तथा नवीन आविष्कार हो रहे हैं।

साम्यवादी समाज व्यवस्था से दुनिया के लिये जितनी सम्भावनाएं हैं, उनमें जो शीघ्र ही और सहज ही किया जा सकता है, वह है विज्ञान की साधना में सुव्यवस्था। विज्ञान की धारा ही बदली जा सकती है। उसे हम दूसरी ही दृष्टि से देखना सीख सकते हैं। आज तीन सौ वर्ष की विज्ञान की साधना के बाद भी यह बात कही जा सकती है कि विज्ञान को अच्छी तरह नहीं समझा गया है। केवल विश्लेषण की दिशा में ही इसकी विराट वृद्धि हुई है; इसका फल जनता को नहीं मिला है। इसके महा ज्ञानियों ने जीवन मे विज्ञान के प्रयोग की ओर कभी ध्यान नहीं दिया।

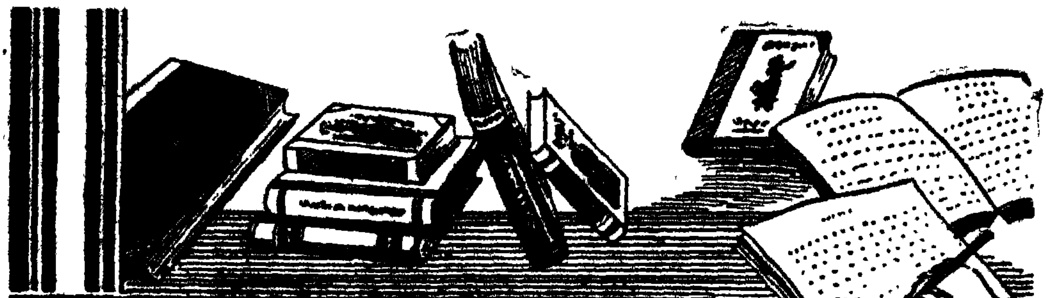
विज्ञान को यथार्थ रूप मे समझने की कोशिश नहीं की जा रही है; इसका कारण यह है—हम

विज्ञान-क्षेत्र में उसके कार्यकर्ताओं के मनस्तत्व को देखना भूल जाते हैं। इसके लिये मार्क्स और एञ्जेल्स ने जो दृष्टि दी है, उसके लिए हम उनके ऋणी हैं। गवेषणा के समय हमारे सामने दो प्रश्न दिखाई पड़ते हैं, पहला—"क्या यह सच है?" दूसरा—"हम क्यों जानना चाहते हैं?" विज्ञान के पत्रों में हमें पहले प्रश्न का ही उत्तर मिलता है। पर विज्ञान की गति निर्धारित होती है दूसरे प्रश्न के उत्तर से। गवेषणा के उस रास्ते को कोई नहीं चुनता जिससे गुज़र बसर का प्रश्न नहीं हल होता। अतएव गवेषणा का किसी काम में उपयोग होना आवश्यक है—चाहे वह वास्तविक हो या काल्पनिक। विज्ञान का कोई आविष्कार जब प्रयोग का रूप लेता है, तभी उसमें अभूतपूर्व उन्नति देखी जाती है, जैसे रंगने की चीज़ों से रसायन विज्ञान का, सिनेमा-रेडियो से आलोक विज्ञान का।

विज्ञान के सूक्ष्मतम गम्भीर प्रान्त में, जहां भौतिक विज्ञान का मूल ब्रह्माण्ड-ज्ञान से मिल गया है, प्राणी-विज्ञान जहां जीवन के मूल की खोज करता है, मनस्तत्व, समाज तत्व जिस आधार पर प्रति दिन का मानव इतिहास बना रहा है; जहां तक नज़र जाती है, इन राज्यों में बहुत ज़रूरी और कितने ही कठिन प्रश्नों के उत्तर हमें मिल सके हैं। इनके अलावा विज्ञान की अग्रगति के साथ ही साथ कितनी ही नवीन समस्याएं इकट्ठी होती जा रही हैं; जिनके शीघ्रता से शमन करने की क्षमता विज्ञान में अभी तक नहीं आई है। आशंका इस बात की नहीं है कि विज्ञान खेल की चीज़ बन जायगा; बल्कि मूर्खों के हाथों इसके ध्वंस होने का ख़तरा है। १७ वीं सदी में विज्ञान के जन्म काल में विद्वानों का सांसारिक ज्ञान अधिक था; अपने कामों के सामाजिक अभिप्रायों को वे समझते थे और उस तरफ़ नज़र रखकर उसका नियंत्रण करते थे। उसी दृष्टिकोण से उन समस्याओं की छोटी मोटी बातों पर विचार करते थे। पूंजीवाद के कोप से विशेषज्ञों की सामाजिक दृष्टि बहुत अंशों में नष्ट हो चुकी है। उन्होंने अन्य शक्तियों की तरह विज्ञान की शक्तियों को भी दानव शक्ति के हाथ में खिलौना बना दिया है।

विज्ञान की साधना और शोषित वर्ग के आन्दोलन दोनों का उद्देश्य क़रीब क़रीब एक है और वह है किस प्रकार संघर्ष के भीतर से मानव-समाज सार्थक रूप ग्रहण करेगा।





पुस्तक परिचय

हिन्दी साहित्य की भूमिका—लेखक—श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी शास्त्राचार्य [विश्व भारती, शान्तिनिकेतन के संस्कृत-हिन्दी के अध्यापक], प्रकाशक—श्री नाथूराम प्रेमी, हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई; मूल्य दो रुपया; पृष्ठ संख्या १४ + २७५; १४२ पृष्ठों में मूल पुस्तक के १० अध्याय हैं और ११३ पृष्ठों में ८ परिशिष्ट हैं तथा १७ पृष्ठों में पुस्तक में उल्लिखित ग्रन्थों और नामों की अनुक्रमणिका है; काग़ज़ छपाई बढ़िया।

लेखक ने अपने 'निवेदन' में कहा है कि 'विश्वभारती' के अहिन्दीभाषी साहित्यिकों को हिन्दी साहित्य का परिचय कराने के बहाने इस पुस्तक का आरंभ हुआ था। बाद में कुछ नये अध्याय जोड़कर इसे पूर्णरूप देने की चेष्टा की गई है। मूल व्याख्यानों में से ऐसे बहुत से अंश छोड़ दिये गये हैं, जो हिन्दी-भाषी साहित्यिकों के लिये अनावश्यक थे। फिर भी इस बात का यथासंभव ध्यान रखा गया है कि प्रवाह में बाधा न पड़े। इसके लिए कभी कभी कोई कोई बात दो जगह भी आजाने दी गई है। ऐसा प्रयत्न किया गया है कि हिन्दी साहित्य को सम्पूर्ण भारतीय साहित्य से विच्छिन्न करके न देखा जाय। मूल पुस्तक में बार बार संस्कृत, पाली, प्राकृत और अपभ्रंश के साहित्य की चर्चा आई है, इसीलिए कई लम्बे परिशिष्ट जोड़कर संक्षेप में वैदिक, बौद्ध और जैन साहित्यों का परिचय करा देने की चेष्टा की गई है। रीति-काव्य की विवेचना के प्रसंग में कविप्रसिद्धियों और स्त्री-अंग के उपमानों की चर्चा आई है। मध्य काल की कविता के साथ संस्कृत कविता की तुलना के लिये आवश्यक समझ कर परिशिष्ट में इन दो विषयों पर भी अध्याय जोड़ दिये गये हैं।"

ऊपर उद्धृत वक्तव्य से पुस्तक की प्रेरणा और तदनुसार उसके स्वरूप का पता चलता है। यद्यपि इसका आरम्भ अहिन्दी भाषी साहित्यिकों को हिन्दी साहित्य का परिचय कराने के लिये दिये गये व्याख्यानों के रूप में हुआ था, किन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि इसके अध्याय परस्पर असम्बद्ध हैं। एक पूर्ण विषय के निरूपण के लिए दिये हुये इन व्याख्यानों में प्रस्तुत विषय क्रमशः विकास को प्राप्त हुआ है और पुस्तक आधुनिकतम काव्य प्रवृत्तियों के निरूपण से समाप्त हुई है। अतएव इसे हिन्दी साहित्य का इतिहास तो नहीं, पर उसकी रूप रेखा अवश्य कह सकते हैं। बाद को इन व्याख्यानों में से हिन्दी भाषी साहित्यिकों के लिये अनावश्यक अंश निकाल दिये गये हैं। फिर भी प्रवाह की समरसता अक्षुण्ण है।

पंडित रामचन्द्र शुक्ल की तात्विक विवेचनाओं के बाद ज़माने की रफ़्तार ने इसी ऐतिहासिक दृष्टिकोण को हिन्दी साहित्यिक आलोचना के विकास की दूसरी मंज़िल के रूप में उपस्थित किया है।

पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी इस दृष्टिकोण के श्रेष्ठ प्रतिनिधि हैं। इस क्षेत्र मे वे जितना काम कर चुके हैं, उसके बाद इस बात में सन्देह की गुंजाइश नहीं है। शान्तिनिकेतन में उन्होंने आधुनिक तम वायु-मण्डल में भारत की सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक परम्परा को आत्मसात् किया है, इतना नहीं; ही उनकी योग्यता भी हिन्दी प्रेमियों से छिपी नहीं है। उनके अब तक के काम से हिन्दी आलोचना क्षेत्र में उनका स्थान निश्चित हो गया है।

प्रस्तुत पुस्तक में पं० हजारी प्रसाद की विद्वत्ता और नवीन दृष्टिभगी का प्रचुर मात्रा मे परिचय मिलता है। पुस्तक में मूलतः हिन्दी साहित्य (भाषा और विचार दोनों) के विकास के उपादानों, उसकी मौलिक प्रवृत्तियों और उनके मूल स्रोतो का दिग्दर्शन है। यह अध्ययन संस्कृत, पाली, प्राकृत और अपभ्रंश के साहित्य की भित्ति से अलग रहकर नहीं बन सकता था, यह तो स्पष्ट ही है। 'भौगोलिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक और वैयक्तिक' कारणोके दिग्दर्शन के लिये दर्शन, नृतत्त्व, समाज विज्ञान आदि अनेक विद्याओं का उपयोग भी अनिवार्य है। सब से बड़ी कठिनाई सामग्री के चुनाव और समीचीन प्रयोग की होती है। हर शास्त्र के मतभेद और सत्य मिथ्या के बीच से रास्ता निकालने के लिये इन शास्त्रों में पर्याप्त प्रवेश और प्रचुर विवेक की अपेक्षा होती है। यह देखकर बड़ा हर्ष होता है कि पं०हजारी प्रसाद जी ने इन सभी क्षेत्रो में बड़ी योग्यता दिखलाई है और पुस्तक आदि से अन्त तक प्रथम श्रेणी के प्रमाणों पर अवलम्बित है। साहित्य के दार्शनिक उपादानों के दिग्दर्शन के प्रसग में नाना प्रकार के गूढ़ और रहस्यमय योग सम्बन्धी और दार्शनिक मतों का विवेचन अत्यन्त मार्मिक रीति से किया गया है। इस सर्वांगीण दृष्टि से वर्तमान छायावादी और रहस्य वादी कविताओं की व्याख्या में जो मनमानी, वैचित्र्य अव्यवस्था दिखाई देती है, उसकी शान्ति हो जाती है और इस प्रकार की कविता की प्रामाणिक व्याख्या सम्भव हो जाती है। इतना ही नहीं; प्रमाणों के उपयोग में लेखक का दृष्टिकोण भी अत्यन्त समीचीन है। भारतीय परम्परा की अन्तरंग सहानुभूति के साथ व्याख्या करने में उसके प्रति पूरा न्याय करने पर भी उन्होंने कहीं भी मिथ्या देशाभिमान या रूढ़ियों के प्रति अतिरिक्त राग नहीं दिखलाया है। रूढ़ियों को रूढ़ियों के रूप मे ही ग्रहण किया गया है और उनकी वैज्ञानिक व्याख्या में पूरे साहस और सत्यनिष्ठा से काम लिया गया है। प्रचलित सामाजिक अहंकार की सर्वथा उपेक्षा की गई है। कवि प्रसिद्ध सम्बन्धी परिशिष्ट में 'वृक्षदोहद' की बड़ी मार्मिक व्याख्या की गई है, जिससे मनोवैज्ञानिकों और समाज शास्त्रियो को भी बहुत सा मसाला मिलता है।

पुस्तक के प्रारम्भ मे ही दृष्टिकोण की एक और विशेषता दिखाई देती है। वह है उसकी अन्तरंगता और गम्भीरता। किसी भी प्रवृत्ति को सर्वथा बाहर से आकर ऊपर से जुड़ गई हुई नहीं बताया गया है। ऐतिहासिक प्रवृत्तियों की इस यान्त्रिक कल्पना में अब कोई विश्वास नहीं करता। इस कल्पना मे सामाजिक जीवन की शक्तियों और नियमों के अज्ञान के कारण उसकी गम्भीरता के प्रति अन्याय किया जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि इतिहास मे विभिन्न देशों और समाजों का पारस्परिक आदान-प्रदान एक सिद्ध बात है। और प्रस्तुत पुस्तक मे इस तथ्य का पूरा लिहाज़ ही नहीं रक्खा गया है, बल्कि उसका पूरा उपयोग किया गया है। किन्तु कहीं से भी और किसी प्रकार से आई हुई कोई प्रवृत्ति किसी समाज का स्थायी अंग नहीं बनती जब तक कि उस समाज की ऐतिहासिक आवश्यकता के रूप में वह प्रवृत्ति उसके अन्दर ही न मौजूद हो। यह दूसरी बात है कि थोड़े दिनों तक उस समाज की प्रकृति से सर्वथा विजातीय प्रवृत्ति उसकी सतह पर खेल जाय। किन्तु ऐसी अनेक बाह्य प्रवृत्तियों को अन्तरंग बनने के लिये पारस्परिक संघर्ष की छलनी से गुज़रना पड़ता है, जिसमें अन्ततो-गत्वा 'सजातीयता और परम्परानुकूलता' ही निर्णायक होती है। अपनी आवश्यकता और विकास की मात्रा से प्रतिकूल प्रवृत्ति को लेकर कोई समाज जीवित

और विकसित नहीं रह सकता। अतएव ऐसी प्रवृत्ति सामाजिक विकास की एक मंज़िल के रूप में कभी दिखाई नहीं देती। और ऐसी प्रवृत्तियो के आधार पर लिखा हुआ इतिहास कोई इतिहास नहीं होता। फिर भी हिन्दी साहित्य के इतिहास के बारे में ऐसी धारणायें बहुत प्रचलित हैं। ऊपरी दृष्टि से देखने वालों को हिन्दी साहित्य की रहस्य, भक्ति आदि बहुत सी प्रवृत्तियों की व्याख्या इसलाम, ईसाइयत आदि के आगमन मात्र से हो जाती है। पं० हजारी प्रसाद जी ने बड़ी पूर्णता के साथ ऐसे तर्कों का खण्डन किया है। और भारतीय समाज मे गृहीत प्रवृत्तियों और उनके अभिव्यञ्जन की शैलियों तक के उपादान प्राचीन भारतीय परम्पराओं से असन्दिग्ध रूप से दिखलाये हैं। इसी दृष्टिकोण का दूसरा पहलू इतिहास को व्यष्टिशः न देख कर उसे एक अखण्ड समष्टिगत आन्दोलन के रूप मे देखना है" 'जिसे गति देने मे भौगोलिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक और वैयक्तिक कारण काफी हिस्सा लेते हैं।' इन अनेक प्रकार के कारणो का ही पुस्तक के अनेक अध्यायों मे निरूपण है। पुस्तक मे अगर कोई कमी मालूम होती है, तो यही कि कुछ स्थलों पर इस मौलिक दृष्टि को आख़ीर तक नहीं पहुँचाया गया है। उदाहरण के लिए एक जगह प्रो० मैक्समूलर का एक उदाहरण देकर लेखक ने इस विचार से अपनी सहमति प्रकट की है कि वैदिक साहित्य का स्वरूप निर्देश 'अतीत, परे!' इस एक शब्द से किया जा सकता है, वैदिक युग के कवि के लिए यह जीवन एक सपना है, उसे निश्चय है कि उसका घर इस दुनिया मे नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि लेखक के कथनानुसार "सन् ईसवी के आरम्भ मे यह विचार भारतीय समाज मे निश्चित सत्य के रूप में स्वीकार कर लिए गए थे,... जन्मान्तर-व्यवस्था और कर्मफलवाद के सिद्धान्त ने ऐसी ज़बरदस्त जड़ जमा ली थी कि परवर्ती युग के कवियों और मनीषियों के चित्त में इस जागतिक व्यवस्था के प्रति भूल से भी असन्तोष का आभास नहीं मिलता।......कवि एक शान्तिमय जगत् मे निवास करते थे,...इसीलिए संस्कृत के इस युग के कवियो मे समाज-व्यवस्था के प्रति किसी प्रकार के विद्रोह की भावना, पीड़ित-जन समुदाय के प्रति सहानुभूतिमय असन्तोष का भाव एकदम नहीं पाया जाता।......व्यक्तित्व की इतनी ज़बरदस्त उपेक्षा संसार के साहित्य मे दुर्लभ है।" किन्तु समूचे वैदिक साहित्य का यह स्वरूप स्वीकार करना इतिहास की उस कल्पना का अवशेष है, जो भौगोलिक अवस्थाओं का अन्य सारी ऐतिहासिक प्रेरणाओं पर अनन्य प्रभुत्व मानता है, और जिसके अनुसार हिन्दुस्तानियों के ख़ून में ही ऐहिक अभ्युदय की उपेक्षा ओतप्रोत है। इतिहास की इस व्याख्या के साथ साथ अभ्युदय की उपेक्षा और आमुष्मिक निःश्रेयस की पूजा की प्रशंसा शोषक वर्ग के साम्राज्यवादी इतिहासकारों के लिए विशेष उपयोगी रही है। स्पष्ट है कि पं० हजारी प्रसाद जी इस प्रवृत्ति के प्रशंसक नहीं हैं और न वे यह मानते हैं कि भारतवासियों के लिए इस मनोवृत्ति से निकलना असम्भव है। वैदिक साहित्य की किन्हीं मंज़िलों पर संसार के प्रति पूर्ण आग्रह दिखाई देता है, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता; अन्यथा इस साहित्य के बहुत से अंशों की अकारण उपेक्षा करनी होगी।

यहा पर लेखक ने एक बात का और स्मरण दिलाया है। वह यह कि संस्कृत आलंकारिकों की दृष्टि मे कविता की रचना के लिए शास्त्राभ्यास का अत्यधिक महत्त्व है, प्रतिभा पर ज़ोर नहीं दिया गया है। उनकी राय मे 'ग्रामीण गीतों और सन्तों की बानी में कवित्व हो नहीं हो सकता। इस मनोवृत्ति का परिणाम पिछले खेवे के हिन्दी समालोचकों की आलोचनाएं हैं, जिनमें देव, बिहारी आदि आलोच्य कवियों को सर्व शास्त्रों से परिचित सिद्ध करने की चेष्टा की गई थी।' साथ ही लेखक ने यह भी कहा है कि "मध्य युग मे जब नये सिरे से हिन्दी-कविता सिर उठाने लगी, तो उसमें शास्त्राभ्यास का स्थान गौण था।...पर शीघ्र ही शास्त्राभ्यास ने इस क्षेत्र में भी प्रवेश किया और बाद की कविताएं जीवन से

विच्छिन्न हो गई। संस्कृत के उत्तर कालीन साहित्य का प्रभाव ही उसे चालित कर रहा था।

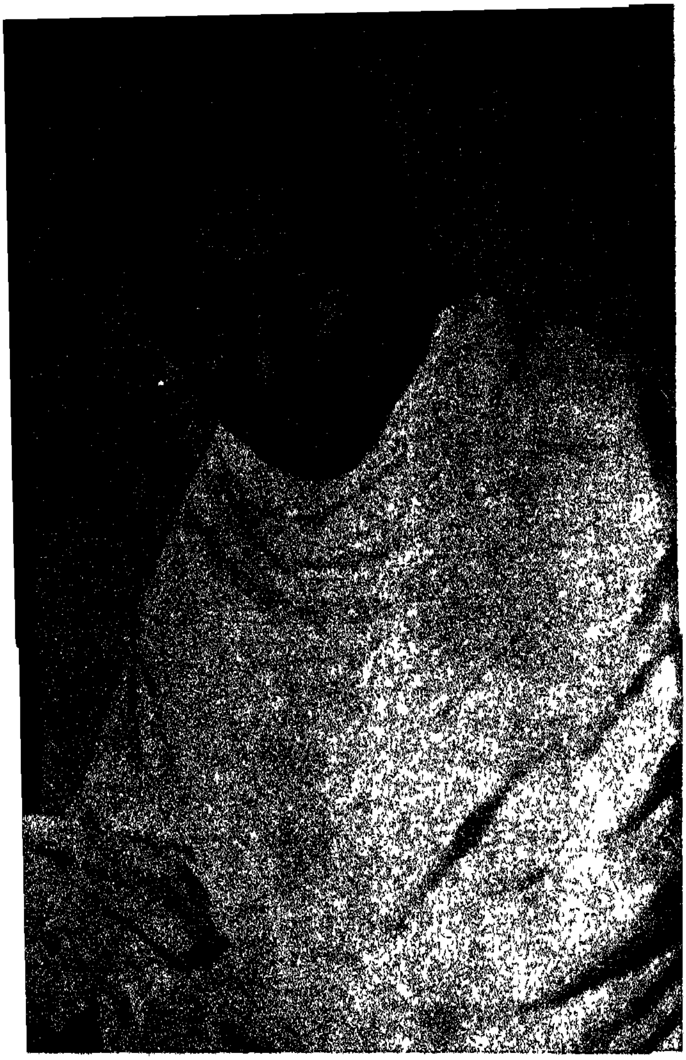
इस विवेचन का सारांश यह निकलता है कि हिन्दी साहित्य की पैतृक सम्पत्ति की खोज में चलने पर हम मोक्षपरक वैदिक साहित्य पर पहुँचते हैं। किन्तु हिन्दी साहित्य में हमें दो विभिन्न युगों में दो विभिन्न प्रवृत्तियां दिखाई देती हैं। इन प्रवृत्तियों के उपजीव्य संस्कृत साहित्य की तलाश करने पर संस्कृत साहित्य भी दो भागों में विभक्त हो जाता है। पिछले खेवे की प्रवृत्ति का उपजीव्य तो उत्तर कालीन संस्कृत साहित्य हो जाता है, जो शास्त्राभ्यास पर ज़ोर देता है। किन्तु मध्य युग की प्रवृत्ति का, जो लोक जीवन के साथ घनिष्ट भाव से जड़ित थी, उपजीव्य संस्कृत साहित्य में नहीं है। किन्तु एक जटिलता यहां पर और पैदा होती है। मध्य युग में भी हिन्दी की सुसंस्कृत समझी जाने वाली कविता में संस्कृत के उत्तर कालीन साहित्य की परमुखापेक्षिता ही दिखाई देती है। यह बात उसमें मध्य युग के आरम्भ में नहीं थी। बाद को पैदा हुई। किन्तु गावों में प्रचलित गीतों और कथानकों की धारा शास्त्राभ्यास से अलग चलती रही। यह सब समझ लेने पर भी हम इस युग-भेद और एक ही युग में वर्ग-भेद के किसी सामाजिक कारण पर नहीं पहुंचते।

इसके बाद सन् ईसवी के बाद के सस्कृत साहित्य के उज्ज्वल पक्ष का भी उल्लेख है। इसका पूर्व पक्ष से पृथक् कोई काल या वर्ग निर्देश भी नहीं है। "ऊपर जो कुछ कहा गया है, वह चित्र का एक पहलू है। उसका दूसरा पहलू इससे कहीं अधिक उज्ज्वल और महत्वपूर्ण है। पिछले दो हज़ार वर्षों में भारतीय साहित्य ने कुछ ऐसी बातें संसार को दी हैं, जो अनुपम हैं। विशेषज्ञ पंडितों ने समसामयिक ग्रीक, रोमन तथा अन्य समृद्ध समझे जाने वाले साहित्यों के साथ तुलना करके देखा है कि कालिदास तो कालिदास, माघ और भारवि के साथ भी जिनका नाम लिया जा सके, ऐसे कवि भी समसामयिक साहित्य में नहीं हैं।" इन प्रवृत्तियों के विरोध को लेखक ने स्वीकार किया है। किन्तु जब हम इस जैसी व्यक्तिगत और गोल चीज़ से आगे नहीं बढ़ पाते। लेखक की राय में वह "कारण यह है कि विविध बन्धनों के भीतर रह कर संस्कृत के कवि ने एक अपूर्व संयम का अभ्यास किया है, अपने आपको मिटा कर वह सहजही सर्व साधारण का प्रतिनिधि हो सका है..." इतने महान कवियों के प्रादुर्भाव को संयोग मान लेने से इतिहास की सामाजिक दृष्टि कभी सन्तुष्ट नहीं हो सकती, विशेष कर जब कि वे सर्व साधारण के प्रतिनिधि स्वीकार किये गये हैं। इस व्याख्या से हमारा ज्ञान एक क़दम भी आगे नहीं बढ़ता। और ये विरोधी प्रवृत्तियां रहस्य ही रह जाती हैं।

स्पष्ट है कि सामाजिक दृष्टि के इस संकोच का कारण बहुत कुछ तो हमारे इतिहास का अन्धकार है। इसके लिये हम लेखक को दोष नहीं दे सकते। जब तक भारतीय इतिहास का अध्ययन किसी हद तक पूर्णता को न प्राप्त हो, तब तक हमारी सभी सांस्कृतिक कृतियों की व्याख्या बहुत कुछ अधूरी रहेगी; तब तक कोई भी क्षेत्र इतना प्रकाशित नहीं हो सकता कि उसकी सारी समस्यायें सुलझ जाय। वर्तमान अवस्था में यह अनिवार्य ही है। इसके अतिरिक्त लेखक के विषय की भी सीमा होती है। पं० हजारी प्रसाद ने हिन्दी साहित्य के मूल स्रोतों का उसके आरम्भ काल के कुछ पहिले से ही दिग्दर्शन करके सन्तोष किया है।

हमारे सामाजिक ज्ञान की वर्तमान अवस्था में ऐतिहासिक दृष्टि जहां तक जा सकती थी, लेखक ने उसे वहां तक पहुँचाया है। पुस्तक हिन्दी साहित्य के अध्येताओं के लिए अनिवार्य पाठ्य ग्रन्थ है। हिन्दी साहित्य के अध्ययन के लिए यह आवश्यक आधार प्रस्तुत करके लेखक ने अध्येताओं का बड़ा उपकार किया है। हमें पूरी आशा है कि पं० हजारी प्रसाद की योग्यता हिन्दी साहित्य के विस्तृत अध्ययन के लिए और सामग्री प्रस्तुत करेगी।

—राजाराम शास्त्री (प्रो० काशी विद्यापीठ)



[ाइट, कनु गांधी]

वह मधुर हास।

सम्पादकीय-विचार

चिर जियो बापू

बापू, तुम्हारी ७३ वीं जन्म तिथि आगई।

सारा संसार आज एक भयकर और डरावना स्वप्न देख रहा है। पाशविक शक्ति को पश्चिम ने अपने जीवन का मूल मंत्र बनाया है। काली, पीली और लाल क़ौमों का सारा रक्त चूस कर उसने उन्हें क़रीब क़रीब मुर्दा बना दिया है। शोषण का मारण मंत्र अपना काम करके अब स्वयं उसी के ऊपर टूट पड़ा है। पश्चिमीय संस्कृति और सभ्यता के सारे पहलू सतह पर आ रहे हैं और उसके सारे जीवन को छिन्न भिन्न करते दिखाई दे रहे हैं। यूरोप के कल कारखाने, उसका उद्योगवाद, उसका पूंजीवाद, उसके टैंक और हवाई जहाज़, उसका सारा साम्राज्यवाद और सैनिकवाद सब इस समय अपनी अपनी क़बरें खोद रहे हैं। कम्यूनीज़्म, फासीज़्म, नाज़ीज़्म और इम्पीरियलीज़्म तोपों की आवाज़ों और फौजी बाजों की ध्वनियों के साथ रंग मंच पर आ रहे हैं और परदे की ओट लोप होते हुए दिखाई दे रहे हैं। साम्राज्य टुकड़े टुकड़े हो रहे हैं। बादशाह अपने अपने तख़्त सूने छोड़कर भाग रहे हैं। यूरोप की क़ौमें एक दूसरे को जंगल के हिंसक पशुओं की तरह निगल रही हैं।

यह युग दुनिया मे हिंसा की पराकाष्ठा का युग है। और यूरोप की परिस्थिति साफ़ इस ओर इशारा करती हुई दिखाई दे रही है कि संसार की भावी रचना अहिंसात्मक नैतिकता की बुनियादों पर ही क़ायम होगी। आज गान्धी जी ने हमें वह बल दिया है कि हम गर्व से कह सकें कि हिन्दुस्तान ही एक ऐसा मुल्क है जो संसार के नव निर्माण में पथ प्रदर्शन का काम कर सकता है। हिंसा के इस युग में भी भारत बुद्ध, महावीर और ईसा के समय का दृश्य फिर से दुनिया के सामने पेश कर रहा है। राजनीति में पाशविक शक्ति को ही लोग सबसे बड़ा सहारा मानते हैं। किन्तु हिन्दुस्तान ने राजनीति ही के मैदान में एक आध्यात्मिक और अहिंसात्मक आन्दोलन की बुनियाद डाली है। इतिहास में यह एक नया प्रयोग है। इस क्रान्तिकारी युग का यही सबसे अधिक क्रान्तिकारी दृश्य है।

सन् ५७ के प्रयत्न के बाद हम हार खा कर बैठ रहे थे। विदेशियों की पाशविक शक्ति और कूटनीति ने सारे देश की जीवन व्यवस्था को उलट पलट दिया, हमारा धन लूट लिया और हमे निःशस्त्र कर दिया। किन्तु इसके दो तीन पीढ़ियो के ही भीतर भारत ने अपनी आत्मा के अन्दर ग़ोता लगाया, अपनी पुरानी आध्यात्मिक पूंजी से काम लेना शुरू किया और वह दृश्य संसार के सामने पेश किया जिसकी महानता और जिसकी भावी सम्भावनाओं को संसार अभी तक पूरी तरह नहीं समझ पाया। जिस समय यूरोप स्टालिन, हिटलर, मुसोलिनी जैसे शक्तिशाली निरंकुश शासक पैदा करके उन्हे टैंकों और बमों से सन्नद्ध कर रहा था ठीक उसी समय हिन्दुस्तान ने एक ऐसा महात्मा पैदा किया जिसे अहिंसा और आध्यात्मिक शक्ति का पैग़म्बर या सन्देश वाहक कहा जा सकता है। उसने बिना शस्त्रों के उस ब्रिटिश साम्राज्य की बुनियादों को हिला दिया जिससे बढ़कर अभिमानी, शक्तिशाली और संगठित साम्राज्य यूरोप ने आज तक पैदा नहीं किया।

अहिंसा का सिद्धान्त एक महान सिद्धान्त है। सत्याग्रह इसका साधन है। थोड़े ही दिनों के अन्दर इसने हिन्दुस्तान में नई रूह फूंक दी। हिन्दुस्तान को आत्म त्याग का पाठ पढ़ाया। हममें वह ज़बरदस्त संकल्प शक्ति भर दी जिसे देश भर में कई बार परखा जा चुका है और परखा जा रहा है। प्रयोग अभी जारी है। उसकी शक्ति और तीक्ष्णता बढ़ती जा रही

है। किन्तु संसार व्यापी युद्ध की पाशविकता ने दुनिया की अनुभव शक्ति को कुण्ठित कर रखा है। पाशविक विजयों की चकाचौंध ने दुनिया की आँखों पर आज परदा डाल रखा है। लेकिन वह दिन निश्चय ही आवेगा जब दुनिया इस अहिंसात्मक आन्दोलन के रूप को ठीक ठीक देख सकेगी और समझ सकेगी कि पाशविक शक्ति के नाशकर व्यूह को तोड़ने के लिये अहिंसा ही एक मात्र उपाय है।

निश्चय ही मनुष्यों के परस्पर सम्बन्ध के नियम बदलेंगे। किसी क़ौम की क्षमता की कसौटी अब उसके नाखून और पंजे न होंगे बल्कि प्रेम की भावना होगी। परिणामों ने यह साबित कर दिया कि जिस प्रतिस्पर्धा का मानव प्रेम और सहानुभूति से सम्बन्ध न हो उसके होते मनुष्य समाज का जीवित रहना और बढ़ सकना असम्भव है। यह प्रतिस्पर्धा देर तक नहीं चल सकती। इसकी जगह परस्पर सहकारिता को देनी होगी। राजनीति में यूरोप का दावा था कि एक दूसरे से लड़ने के लिये नहीं बल्कि शान्ति की स्थापना के लिये हर राष्ट्र को अनन्त अस्त्र शस्त्रों से सन्नद्ध करते जाना ज़रूरी है। इस प्रयोग का ग़लत और हानिकर साबित होना लाज़िमी था। उसके नतीजे इतने भीषण हुए कि अब इसके दोहराए जाने की कोई ज़ाहिरा सम्भावना दिखाई नहीं देती। इस बात के साफ़ लक्षण दिखाई दे रहे हैं कि मौजूदा तूफ़ान के शान्त होते ही, ज्योंही लोगों की भावनाओं और उनके विचारों को फिर से स्थिर होने का मौक़ा मिला, पाशविक लड़ाइयों और विनाश का वर्तमान युग समाप्त हो जावेगा और उसकी जगह अहिंसात्मक और फल प्रद रचना का नया युग शुरू होगा।

इस नाज़ुक वक़्त में तोपों की गरज और बम के गोलों की भयंकर आवाज़ के बीच में बापू, तुम्हारी ७३ वीं जन्म तिथि मनाई जा रही है। और जब तक सत्य अहिंसा का यह प्रयोग सफल न उतरे तब तक दुःखित मानव आत्मा की यह करुण पुकार है कि 'तुम चिर जियो बापू।'

'गांधीवाद' एक प्रयोग है

एक बार पण्डित जवाहरलाल जी से गान्धी जी के "वाद" के सम्बन्ध में बातें हो रही थीं। पण्डितजी कहने लगे "गान्धी जी समाजवादी नहीं बल्कि अराजकवादी हैं। समाजवादी तो समाजवादी नियमों के अनुसार शासन चलने पर सन्तुष्ट हो जायगा किन्तु अराजकवादी के पास सन्तोष नाम की कोई वस्तु नहीं। वह समाजवादी शासन की बुराइयों को दूर करने में भी उतना ही प्रयत्नशील होगा जितना साम्राज्यवादी शासन की बुराइयां दूर करने में।

पण्डित जी कहते गये "गान्धी जी बेहद अमली आदमी है। वे सपनों की दुनिया में नहीं रहते। परिस्थितियां उनके कार्यक्रम को आगे बढ़ाती रहती हैं। और एक ऐसी स्थिति भी आ सकती है कि समाजवादी प्रतिगामी हो सकता है किन्तु गान्धी जी निरन्तर प्रगतिशील रहेंगे।"

सन् १९३४ में पटने में पहली बार ग़ैर क़ानूनी प्रतिबन्ध उठने के बाद जब आल इण्डिया कांग्रेस कमेटी की बैठक हुई तो उसमें गान्धी जी भी गये। शाम को थोड़ी देर के लिये बैठक स्थगित हुई तो समाजवादी कार्य कर्त्ताओं का एक दल गान्धी जी से राधिका सिन्हा इन्स्टिट्यूट हाल में मिला। दल के लोगों ने गान्धी जी से प्रार्थना की कि कांग्रेस कमेटियों में समाजवादियों का भी यथेष्ट संख्या में प्रतिनिधित्व रहे और गान्धी जी भी समाजवादी दल में शामिल हो जाय। इस पर गान्धी जी ने उन्हें उत्तर दिया कि "आप लोग कांग्रेस कमेटियों पर क़ब्ज़ा करने की बात न सोचिये बल्कि जनता पर क़ब्ज़ा करने की सोचिये। जब आप जनता पर क़ब्ज़ा कर लेंगे तो कांग्रेस कमेटियां स्वतः आपके क़ब्ज़े में आ जायगी। और फिर जनता ही आपके क़ाबू में आ जायगी तब गान्धी कोई उससे बाहर थोड़े ही रहेगा।"

गान्धी जी परिस्थिति के साथ चलते हैं इसीलिये परिस्थिति उन्हें सदा प्रगतिशील पाती है। दृढ़ता उनमें इतनी है कि चाहे वे अकेले हों सिद्धान्त के

साथ वे कभी समझौता नहीं करते। गत वर्ष पूना में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने सरदार पटेल और चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य के नेतृत्व में कांग्रेस के २० वर्ष के सिद्धान्तों की हत्या करने का श्रेय लिया। गान्धी मौन सारा तमाशा देखते रहे। वह उनकी परीक्षा का सब से बड़ा दिन था और अकेले वह उस परीक्षा में खरे उतरे। समाजवादी नौजवान गान्धीवाद के नाश के चाहे जितने नारे लगायें लेकिन गान्धी सत्य और अहिंसा की जिन बुनियादों पर खड़े हैं उन्हें हज़ार कार्ल मार्क्स भी नहीं हिला सकते।

यह सही है गान्धी जी में हम व्यक्तिगत कमज़ोरियां भी पाते हैं, किन्तु क्या उन्होंने सैकड़ों बार इसका ऐलान नहीं किया कि वे एक अत्यन्त तुच्छ मानव हैं। उनके उच्चतम अनुयाइयों का यदि वश चलता तो वे निकृष्ट अधिकारों के लिये गान्धी जी को डाउनिङ्ग स्ट्रीट के हाथों बेंच देते! मगर क्या खुद हज़रत मसीह को उन्हीं के एक अनुयायी ने धोखा देकर सूली पर नहीं चढ़वाया? ईश्वर बचावे इन अनुयाइयों से! और गान्धी जी भी इन्हीं अनुयाइयों को लेकर देश का नव निर्माण करने के लिये विवश हैं। आश्चर्य तो यह है कि इन्हीं दुर्बल अनुयाइयों को लेकर उन्होंने बड़े से बड़े कामों को पूरा किया है।

सन् ३० के पहले कोई कल्पना तक न कर सकता था कि भारत की अबला स्त्रियां पुलिस की लाठियों का मुक़ाबला इस साहस के साथ कर सकेंगी! क्या आज़ाद मैदान के वे दृश्य कभी स्मृति से भुलाये जा सकते हैं! मालूम होता था भारत के समूचे नारी वर्ग में लक्ष्मी बाई का अनुपम शौर्य भर गया हो। गान्धी जी के तरीक़े से अबला अपूर्व बलवती होने में समर्थ हो सकी। गान्धी जी के सत्य और अहिंसा ने हमारे बुझते प्राणों में नयी जीवन ज्योति जलाई है। ऐसा लगता है मानों जादू की छड़ी से उन्होंने मिट्टी के पुतलों में बेचैन प्राण भर दिये हों। गान्धी जी को पाकर भारत का ऐश्वर्यमय पुरातन इतिहास अपने सम्पूर्ण वैभव के साथ आज फिर सजग हो उठा है।

बहुत दिन हुए फ्रान्स के मनीषी रोमां रोलां ने गान्धी जी की हृदय-शक्ति को व्यक्त करते हुए एक छोटा सा क़िस्सा लिखा था—

किसी विधवा स्त्री का एक ही बेटा था जिसे उसने अनेक कष्ट सहकर पाला पोसा। लड़का जब जवान हुआ तो मां को उससे बहुत सी उम्मीदें बंधीं। मगर लड़के का एक वेश्या स्त्री से प्रेम हो गया। अपनी वेश्या प्रेयसी को वह बार बार विश्वास दिलाता था कि वह उसे बेहद प्यार करता है। एक दिन वेश्या ने उससे पूछा—"क्या सचमुच तुम मुझे बहुत प्यार करते हो? और यदि करते हो तो जाओ अपनी मां को मारकर उसका कलेजा निकाल कर लाओ तब मुझे तुम्हारे प्यार पर विश्वास होगा।" लड़का मा के पास पहुंचा। बूढ़ी मां को मारकर उसने उसका कलेजा निकाला और उसे मुट्ठी मे दाब-कर चलने लगा। चारों तरफ़ ख़ून फैला हुआ था। लड़के का पैर फिसला, वह गिर गया और कलेजा उसके हाथ से दूर जा पड़ा। इतने में दूर पड़े कलेजे में से आवाज़ आई—"बेटा, कहीं चोट तो नहीं लगी?"

और रोमा रोला कहते हैं कि गान्धी जी ने भी इतना ही कोमल हृदय पाया है। किन्तु यदि वे एक ओर मा से कोमल हैं तो दूसरी ओर बज्र से दृढ़ हैं। उनके निश्चय को दुनिया की कोई ताक़त नहीं हटा सकती। दूसरी राउण्ड टेबुल कान्फ्रेन्स में लन्दन में उन्होंने अपने अन्तिम व्याख्यान में कहा था—"मैं शान्ति का उपासक हूं; किन्तु यदि आवश्यकता पड़ी तो मैं अपने ही भाइयों के रक्त की गङ्गा को पार कर स्वराज्य के निकट पहुंचने को श्रेयस्कर समझूंगा।"

हमारे समाजवादी मित्र अर्थशास्त्र की दंढ़ किताबें पढ़कर गान्धीवाद की शव परीक्षा करते हुए चरखे और खादी का मज़ाक़ उड़ाकर भले ही उस दिन का इन्तज़ार करें जब श्रीनगर

से तूतीकोरिन तक ३२ हज़ार मिलें क़ायम होंगी, मगर देश गवाह है कि यही चरखा हर साल बीस लाख भूखी मरती हुई बहिनों के मुंह में रोटी के कौर डाल रहा है। चरखा आज हमारे राष्ट्र का प्रतीक है और खादी हमारी राष्ट्रीय वर्दी है। गान्धी जी के इस जन्म दिवस पर हम कम से कम इतना तो अवश्य कर सकते हैं कि अपने शहर के खादी भण्डार में जाकर इस पुण्य पर्व में अपने और अपने परिवार के पहनने के लिये खादी अवश्य खरीदें। यह भारत के कल्याण का पहला मूलमंत्र है और आज़ादी की लड़ाई की पहली सीढ़ी है।

मिस्टर चर्चिल की साफ़गोई

चर्चिल और रूज़वेल्ट का अतलान्तिक से जो सम्मिलित वक्तव्य प्रकाशित हुआ उससे ग़ुलाम और पददलित राष्ट्रों के दिलों मे बहुत बड़ी आशा का संचार हुआ था। कुछ लोग सोचने लगे थे कि युद्ध की समाप्ति पर भारत के भाग्य भी पलटेंगे। किन्तु अभी अतलान्तिक घोषणा की स्याही सूखने भी न पाई थी कि मिस्टर चर्चिल ने ऐलान कर दिया कि अतलान्तिक घोषणा से सिर्फ़ यूरोप के देशों की स्वाधीनता का ही सम्बन्ध है; भारत को स्वाधीन करने का उससे कोई ताल्लुक़ नहीं।

जिस आदमी को सत्य की ज़रा भी तलाश है, वह इससे इनकार नहीं कर सकता कि जर्मनी और ब्रिटेन सिर्फ़ यूरोप की डिक्टेटरी के लिये लड़ रहे हैं। यूरोप के तमाम मुल्कों की हमेशा की यह नीति रही है और आजकल भी है कि वह एक दूसरे के ख़िलाफ़ कोई ऐसा काम न करें कि जिसमें काले आदमियों पर गोरी क़ौम की प्रभुता मे कोई ख़ास फ़र्क़ पड़े। इसी का नतीजा है कि उनके आपस के ज़बर्दस्त मतभेदों के होते हुए भी वे समस्त एशिया और अफ़रीका को अपने पैरों के नीचे रखने में सफल हुए हैं। यहां तक कि पिछले महायुद्ध ने भी ग़ुलाम मुल्कों पर उनके साम्राज्यवादी देशों के बन्धनों को बजाय ढीला करने के कसा ही है और इतिहास इस बात का साक्षी है कि इस सारे ज़माने में लड़ाई के दबाव की वजह से किसी भी यूरोपियन देश ने अपने एक भी आश्रित ग़ुलाम देश को स्वाधीन नहीं किया। और न किसी भी यूरोपियन देश ने अपने दुश्मन के ग़ुलाम आश्रित देश को आज़ाद होने में मदद दी। लड़ाई के दौरान में मालिक ज़रूर बदले हैं, ग़ुलामी नहीं बदली। इस मौजूदा युद्ध में भी हर जगह वही नीति बरती जा रही है। इङ्गलैण्ड इस संकट की घड़ी में भी इस बात का कोई मौक़ा देना नहीं चाहता कि हिन्दुस्तान सैनिक दृष्टि से किसी क़िस्म की स्थायी और सच्ची ताक़त हासिल करले। जर्मनी आज बार बार चीख चीख कर इस बात का ऐलान कर रहा है कि वह अपने दुश्मन के ग़ुलाम मुल्कों को छुयेगा तक नहीं। स्पष्ट है कि इस लड़ाई के नतीजे से एशिया और अफ़्रिका की क़ौमों को कोई मुक्ति नहीं मिलती। यदि उन्हें ग़ुलामी से मुक्ति मिलेगी तो वह उनके अपने संगठन से, अपने साधनों से और अपनी शक्ति से।

हम मिस्टर चर्चिल की साफ़गोई के आभारी हैं, किन्तु हम उन्हें स्पष्ट बता देना चाहते हैं कि यूरोप के छोटे छोटे मुल्कों की उम्र अब ख़त्म हो चुकी। उनकी मौत को स्वाभाविक ही कहना चाहिये। इनके मिटने का यूरोप पर ज़रूर असर पड़ेगा। यूरोप के कुशल राजनीतिज्ञ इन्हीं छोटे छोटे मोहरों को लेकर अपनी राजनैतिक शतरंज के कुशल दांव पेंच खेल कर अपनी शक्ति बढ़ाते और सारे यूरोप की शान्ति को वक़्तन फ़वक़्तन ख़तरे में डालते रहते थे। इन छोटे छोटे मुल्कों में लगातार विरोध, अराजकता और फ़ौजकशी का कोलाहल मचा रहता था और ये मुल्क यूरोप की आन्तरिक शान्ति को सदा ख़तरे में डाले रहते थे।

जर्मनी में आज जो कुछ दिखाई दे रहा है वह यूरोप की ही भावनाओं और उसी की उम्मीदों का ही प्रतिबिम्ब है। यूरोप ने हमेशा 'गोरे आदमियों' की निगाहों से ही सोचा और अमल किया है। उसकी नज़रों में सिर्फ़ गोरा आदमी है। उन्हीं के फ़ायदे

और उन्हीं से हमदर्दी की बात वह सोचता है। यूरोप की मौजूदा लड़ाई का ध्येय यही है कि काले आदमियों के मुल्कों का फिर से बटवारा किया जाय, काले आदमियों को चूसने का हर गोरी क़ौम को बकसां मौक़ा दिया जाय। इसलिये ज्योंही यूरोप ने अपनी इस आपसी लड़ाई से फ़ुरसत पाई वह अपना सारा ध्यान और अपनी सारी शक्ति अपने इसी मक़सद को हासिल करने में लगा देगा। अमरीका भी या तो लड़ भिड़ कर या सुलह से, चूसने वालों के इसी गिरोह में शामिल हो जायगा। फिर इस महा विकराल दानव का बोझ दुनिया की अगोरी क़ौमों को सम्हालना होगा। मध्य पूर्व की दूसरी क़ौमें जो अब तक आज़ाद थीं शोषितों की टोली में आजायंगी और एशिया और अफ्रीका के विशाल महाद्वीप इन गोरी क़ौमों के शिकार गाह का काम देंगे।

मिस्टर चर्चिल के वक्तव्य का यही स्वाभाविक परिणाम होगा।

मिस्टर अमेरी भी बोले

चर्चिल साहब के वक्तव्य के बाद मिस्टर अमेरी ने फिर एक बार हमें याद दिलाई है कि चूंकि भारत में साम्प्रदायिक मतभेद ज़ोरों पर है इसलिये भारत को स्वराज्य के अधिकार नहीं दिये जा सकते। इसके जवाब में हम रायटर की भेजी हुई एक छोटी सी ख़बर मिस्टर अमेरी को उपहार में देना चाहते हैं—

लन्दन, ६ सितम्बर

ग्लासगो के इब्रो पार्क में ग्लासगो रेञ्जर्स और ग्लासगो सेल्टिक क्लबों का फ़ुटबाल मैच देखने के लिये चालीस हज़ार प्राटेस्टेण्ट्स और कैथालिक इकट्ठा हुए। रेफ़री ने सेल्टिक क्लब के हक़ में एक पेनल्टी किक दिया। इस चीज़ को लेकर प्राटेस्टेण्टों और कैथालिकों में साम्प्रदायिक झगड़ा होगया। दोनों सम्प्रदायों ने एक दूसरे पर सोडा वाटर की बोतलें बरसाईं। दंगे को शान्त करने के लिये पुलिस को लाठी चलानी पड़ी। बहुत से आदमियों को चोटें लगीं और कई आसामियों को स्ट्रेचर पर लाद कर ले जाना पड़ा।

हमारा ख़याल है ग्लासगो इङ्गलैण्ड का ही एक शहर है!

चार बरस के युद्ध के बाद चीन

चीन की राष्ट्रीय सरकार के युद्ध मन्त्री जनरल हो यिङ्ग-चिन ने एक वक्तव्य देते हुए चीन की सैनिक शक्ति पर प्रकाश डाला है। चीनी कौन्सेल जनरल के सौजन्य से उस वक्तव्य से हम यहां कुछ अंश दे रहे हैं—

"चीन जैसा विशाल और आबाद देश अपने नव-निर्माण के दौर में अनेक कठिनाइयों का सामना कर रहा है। उसे नव-निर्माण और युद्ध-संचालन दोनों एक साथ करने पड़ रहे हैं। वह आधुनिक देश बनने पर कटिबद्ध है। किन्तु बावजूद इसके ३०० डिवीज़नों में हमारे पचास लाख सैनिक इस समय मैदान में हैं और एक करोड़ व्यक्ति या तो रिज़र्व में हैं और या सैनिक शिक्षा पा रहे हैं। लगभग आठ लाख गुरेला फ़ौजें हैं और कमोबेश छै लाख ज़ाब्ते के सैनिक जापानी क़तारों के पीछे शत्रु को निरन्तर परेशान कर रहे हैं।

"उत्तर से दक्षिण तक २८०० मील के विस्तार में जापान के साथ हमारी लड़ाई चल रही है। हम इतनी अच्छी तरह अपनी जगह पर पुख़्तगी से क़ायम हैं कि पिछले महीनों में जापानियों की आगे बढ़ने की तमाम कोशिशों को हमने बेकार कर दिया। दक्षिण होनान, पश्चिमी हुपे और उत्तर कियांगसी में जापानियों ने तीन बार कटिबद्ध होकर हमला किया और तीनों बार हमने उन्हें हराकर पीछे खदेड़ दिया। जब हमारे पास अधिक हथियार हो जायंगे तो हम बड़े पैमाने पर शत्रु के ऊपर स्वयं हमला करेंगे।

"इस समय हमें आत्म रक्षा और हमला दोनों के लिये हवाई जहाज़ों की ज़रूरत है। हमें और

अधिक तोपों की ज़रूरत है। हमें मोटरों की ज़रूरत है और डाक्टरी सामान की ज़रूरत है। फिर भी इस बीच हमने दस लाख जापानी सैनिकों को सफलता पूर्वक चीन में उलझा रखा है। जापान इससे आगे अब एक इञ्च चीनी ज़मीन पर भी क़ब्ज़ा नहीं कर सकता। जैसे जैसे लड़ाई चलती जाती है वैसे वैसे जापान कमज़ोर पड़ता जाता है। चीन में इस समय जापान के लगभग दो हज़ार सैनिक रोज़ मारे जा रहे हैं। लड़ाई के शुरू में जापानियों ने कहा था कि वे फ़ौज की तीन डिवीज़नों से चीन को जीत लेंगे। इस समय जापान की लगभग ५५ डिवीज़नें चीन में फसी हुई हैं। मई १९३९ से अप्रैल १९४१ तक बड़ी लड़ाइयों के अतिरिक्त ७९६४ घमासान संग्राम हुए और ६१५१ गुरेला हमले किये गये। इनमें ८० फ़ीसदी चीनियों द्वारा किये गये। अब तक जापान के हताहतों की संख्या लगभग १६ लाख तक पहुँच चुकी है और जापानी आबादी के सैनिक उम्र के लगभग ८३ फ़ीसदी व्यक्ति फ़ौज में भरती हो चुके हैं।"

जनरल हो का यह वक्तव्य बेहद आशाप्रद है। समस्त भारत चीन के इस राष्ट्रीय सङ्कट मे चीन के साथ है। हम अपने इन बहादुर चीनी पड़ोसियो की हृदय से विजय कामना करते हैं।

अलविदा रज़ाशाह !

ईरान एक प्राचीन सभ्यता और महान ज़रथुस्त्री संस्कृति का उत्तराधिकारी है। एक दिन था जब सिन्धु से लेकर एड्रियाटिक और लीबिया तक महान ईरानी सम्राट शासन करते थे। सम्राट दारा और आर्तक्षत्र दुनिया के महान से महान सम्राटों मे गिने जाते हैं। पिछले तीन हज़ार बरस के इतिहास में ईरान ने कई मर्तबा मौत देखी है। मगर उसने मिटना नहीं जाना। हर ज़िल्लत के बाद वह अपनी ही ख़ाक से उभरा है और उसके उभरने में भी एक शान रही है।

पिछले महायुद्ध के दिनों में जब विल्सन ने राष्ट्रों की स्वतन्त्रता का ऐलान किया था, तब ईरान को अपने सौभाग्य की थोड़ी बहुत उम्मीद हुई थी। किन्तु अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण वह युद्ध की परिस्थिति से लाभ न उठा सका। युद्ध के अन्त में यह प्रश्न तो था ही नहीं कि ईरान को दुनिया के स्वतन्त्र राष्ट्रों की श्रेणी में जगह मिले, बल्कि प्रश्न यह था कि ईरान को उपनिवेश बनाने के बाद उस पर किस यूरोपियन राष्ट्र की सत्ता प्रधान हो ?

सन् १९१९ में कौशल और बल से अङ्गरेज़ों ने एक अपमानजनक सन्धिपत्र पर ईरान से हस्ताक्षर करा लिये जिसके अनुसार ईरान क़रीब क़रीब लन्दन का एक मातहत मुल्क होगया। देशभक्त ईरानी अन्दर ही अन्दर इस अपमान को महसूस करते रहे। २१ फ़रवरी सन् १९२१ की क्रान्ति से ईरानी राष्ट्रीय दल ताक़त में आया। इस दल ने अङ्गरेज़ों के सुलहनामे को फाड़कर फेंक दिया। ईरानी स्वतन्त्रता का यह पहला बिगुल था। रज़ा ख़ां ईरानियों का नेता बना। एक साधारण सैनिक की हैसियत से बढ़ते बढ़ते वह युद्ध मन्त्री और प्रधान मन्त्री हुआ। १९२५ में उसे शहन्शाह बनाकर ईरान के तख़्त पर बैठाया गया। वह सारे ईरानी राष्ट्र का हृदय सम्राट था। रज़ा ख़ां में ही ईरान ने अपने स्वाभिमान को विकसित होते देखा।

रज़ाशाह ने तख़्त पर बैठते ही केन्द्रीय सत्ता को मज़बूत किया, ईरानी सेना का संगठन किया, न्याय के मोहकमे में सुधार किये, शासन और शिक्षा की व्यवस्था बदली, कालेज और रात्रि पाठशालाएं खोलीं, उद्योग धन्धों को उन्नति दी, नई सड़कें बनाईं, रेलवे लाइनें बिछाईं, सामाजिक सुधार किये और इसलाम की जगह देश-भक्ति को सामाजिक एकता का आधार बनाया। एक सी पोशाक का रिवाज पड़ा और औरतों में परदा कम हुआ।

रज़ाशाह ने इस बात का फ़रमान जारी किया कि कोई ईरानी विदेशियों से राहो रस्म न रखे।

रज़ाशाह का कहना था कि इन विदेशियों के ही कारण ईरान की दुर्गति हुई। तेहरान में हर विदेशी शक और शुबहे की नज़र से देखा जाता था। धीरे धीरे तमाम विदेशी विशेषज्ञों को मुल्क के बाहर निकाल दिया गया। इस समय कुछ थोड़े से फ्रान्सीसी शिक्षा-विशेषज्ञ और जर्मन कृषि विशेषज्ञ वहां रह गये थे।

ग़रज़ यह कि रज़ाशाह के शासन में ईरान ने बेहद उन्नति की। रज़ाशाह आधुनिक ईरान के जन्मदाता कहे जा सकते हैं। आज यूरोपीय शतरंज की चालों ने रज़ाशाह को तख़्त से उतरने के लिये मजबूर कर दिया; किन्तु राजनीति का कोई विद्यार्थी रज़ाशाह का उपहास करने वाली रायटर की ख़बरों पर विश्वास नहीं कर सकता। ईरान के इस महान देशभक्त निर्वासित सम्राट के प्रति हम आदर से मस्तक झुकाते हैं और दुआ मांगते हैं कि "ग़ुलाम ईरान तेरी ख़बर ख़ुदा ले!"

शाबास लाल सेना

रूस जर्मन युद्ध के १५ सप्ताह बीत चुके। युद्ध



स्टालिन

जिस भयंकर गति से चल रहा है उसकी मिसाल



हिटलर

दुनिया के इतिहास में कोई दूसरी नहीं है। एक एक इंच ज़मीन के लिये रूसी सैनिक टिड्डी दल की तरह अपने प्राणों को होम रहे हैं। जर्मन सैनिक लाशों से पटे हुए मैदान और खण्डहरों पर ही क़ब्ज़ा कर पाते हैं। अब तक रूस के जितने हिस्से पर हिटलर का क़ब्ज़ा हुआ है उसकी अपरिमित क़ीमत जर्मनी को चुकानी पड़ी है। और यदि इस क़ीमत पर हिटलर श्मशान का चौधरी बना तो उससे क्या हासिल होगा? हिटलर का रूसी युद्ध जुआड़ी का अन्तिम दांव है, या तो सब कुछ गया या फिर पौ बारह। लाल सेना की महान क़ुर्बानियों ने सोवियत् रूस को सदा सदा के लिये अमर बना दिया।

मोहर्रम के दिनों में मुसलमान गाते हैं—"इसलाम ज़िन्दा होता है हर क़रबला के बाद"। रूस का महान करबला कीव, जहां हज़ारों घायलों तक के लिये पानी की एक बूंद न थी सोवियत् रूस को क्या अमर न रखेगा?

जर्मन सेना दक्षिण में प्रबल वेग से आक्रमण कर रही है। वह जल्द से जल्द काकेशश पहुंच कर बाकू के तेल के ख़ज़ाने पर क़ब्ज़ा करना चाहती है। वहां से दक्षिण की ओर मुड़कर ईरान, इराक़, सीरिया

और फ़िलस्तीन को वह अपने पैशुर पाश में लपेटने की कोशिश करेगी। रूस को आज टैंकों, हवाई जहाज़ों और पेट्रोल की बेहद ज़रूरत है। साहू रूज़वेल्ट जितनी अधिक तादाद में रूस को सैनिक सामान की यह मदद पहुँचा सकेंगे उतनी ही कीलें हिटलर के कफ़न में ठुकती जायगी। वरना वह दिन दूर नहीं जब जर्मन फौजें क्वेटा के फाटक पर दिखाई देंगी। और हमारी क्या हैसियत! हम तो अपने ही देश में तमाशबीन हैं !!

एकता दल

युक्त प्रान्तीय स्टूडेण्ट्स फ़ेडरेशन ने इलाहाबाद में अपनी एक हाल की बैठक में एकता दल (Unity Squads) बनाने का प्रस्ताव पास किया। हमें ख़ुशी है कि फ़ेडरेशन का ध्यान इस ओर आख़िर गया तो। हमारे विद्यार्थी कल निर्माण होने वाले देश के नेता हैं और यदि वे पूरी तरह यह इरादा करलें कि साम्प्रदायिक ज़हर को वे कम से कम विद्यार्थी समाज से तो निकाल कर दूर कर देंगे तो समझो उन्होंने देश का महान उपकार किया। हमारे राष्ट्रीय जीवन के अङ्ग प्रत्यङ्ग में यह साम्प्रदायिक ज़हर प्रवेश करता जा रहा है। इसका एक ही उपाय है अधिक से अधिक मिले जुले जीवन की बुनियादें डालना। हम वह दिन भूले नहीं जब सन् १९३४ में अलीगढ़ यूनिवर्सिटी यूनियन में नवाब छतारी, सर सिकन्दर हयात और सर मोहम्मद उसमान के स्थानापन्न गवर्नर होने पर बधाई देने का प्रस्ताव बहुमत द्वारा अस्वीकार कर दिया गया था। विद्यार्थी वक्ताओं ने अपने व्याख्यानों में इन गवर्नरों पर शर्म और लानत भेजी कि जब देश में सत्याग्रह चल रहा था उस समय ये मुसलमान गवर्नर भारतीय महिलाओं पर लाठी चार्ज करवा रहे थे। और फिर उन्हीं विद्यार्थियों के बीच में मुसलिम स्टूडेण्ट्स फ़ेडरेशन की बुनियाद पड़ी। विद्यार्थियों के बीच में ऐसी घटना होना दुख का विषय है। किन्तु अब भी कुछ नहीं बिगड़ा। हिन्दू मुसलमान विद्यार्थियों को एक दूसरे के क़रीब आना चाहिये। एक दूसरे की संस्कृति और धर्म का अध्ययन करना चाहिये। एक दूसरे के महापुरुषों की जीवनी पढ़नी चाहिये। एक दूसरे के इतिहास से परिचित होना चाहिये। दुख का विषय है कि हमारे नौजवान कार्ल मार्क्स और लेनिन की जीवनी पढ़ने और रूसी इतिहास के सफे उलटने में एक दूसरे की प्रतिस्पर्धा करते हैं, किन्तु कृष्ण, बुद्ध, महावीर, मोहम्मद, अशोक, अकबर आदि के बारे में नहीं के बराबर जानते हैं। 'दास कैपिटल' के सफ़े उन्होंने उलटे हैं मगर गीता और क़ुरान के ऐतिहासिक पहलू का उन्हें कोई पता नहीं। क्रोपाटकिन की जीवनी की एक एक घटना उन्हें याद है लेकिन लाला हरदयाल जैसे अराजकवादी के बारे में वे उदासीन हैं। कितनी ही ऐतिहासिक घटनाएं अभी बिला खोजी पड़ी हुई हैं। हर मुल्क का एक सांस्कृतिक आधार होता है। उसे नज़रअन्दाज़ करने से हम जनता के मन-प्राण तक नहीं पहुँच सकते। बक़ौल डाक्टर अशरफ़ और डाक्टर जेड० ए० अहमद के भारतीय नौजवान की आज यह कसौटी नहीं है कि वह एक समाजवादी है बल्कि यह है कि वह सम्प्रदायवादी नहीं है। अनेकों समाजवादी मित्रों को हमने ज़रा सा छील कर देखा है तो वहां भी साम्प्रदायिक समुन्दर भरा नज़र पाया। और अपने दिल के उस ज़हर को ढंकने के लिये वे फ़ौरन कह बैठते हैं कि "हटाओ नैतिकता के पचड़े को और रोटी के आईने में अपनी शक्ल देखो।" मगर इस रोटी के आईने में भी दाढ़ी चोटी से उलझी हुई और उर्दू हिन्दी से भिड़ी हुई नज़र आती है।

देश की इस परिस्थिति में जब हमने यू० पी० स्टूडेण्ट्स फ़ेडरेशन का एकता दल का प्रस्ताव पढ़ा तो बड़ा सन्तोष हुआ कि आख़िर विद्यार्थियों ने एक क़दम तो सही उठाया। हम उनकी सफलता की कामना करते हैं।

OFFICE OF THE DIRECTOR OF PUBLIC INSTRUCTION, U P

Dated July 28, 1941

No B-419-XVIII—7 (3)-41-42

Vishwa-Vani (Hindi Monthly Magazine) Edited by Bishambhar Nath, 142, South Malaka, Allahabad, Published by the editor, Annual Subscription Rupees Six, is approved for—

I Libraries and Teachers' use in

(a) English High Schools

(b) English Intermediate Colleges

(c) Normal Schools and Training Classes

II For teachers' use only in—English Middle Schools

(Sd) Parmanand

Personal Assistant to the Director of Public Instruction, U P

No 19714—C dated 22nd September 1941

FROM

W H F ARMSTRONG, Esq, M A,
DIRECTOR OF PUBLIC INSTRUCTION PUNJAB

To

THE EDITOR
"VISHWA VANI"
142, South Malaka, Allahabad

SIR,

With reference to the correspondence ending with your letter No A-14-36, dated the 21st May, 1941, I have the honour to inform you that the monthly journal entitled "Vishwa Vani" published by you has been approved for use in high classes of schools in the Punjab and that its name will be included in the next issue of the list of journals, etc appoved for use in schools in the Punjab

I have the honour to be,
Sir,
Your most obedient servant
(Sd) B. A. HASHMI
Inspector of Vernacular Education
for, Director of Public Instruction, Punjab.

OFFICE OF THE DIRECTOR OF PUBLIC INSTRUCTION, U. P.

Dated July 28, 1941

No. [illegible] XVIII-7 (c) [illegible]

Vishwa Vani (Hindi Monthly Magazine) Edited by Vishwambhar Nath, 142, South Malaka, Allahabad, Published by the Editor. Annual Subscription Rupees Six, is approved for —

I. Libraries and Teachers' rooms

(a) [illegible] High Schools

(b) Intermediate Colleges

(c) Normal Schools and Training Classes

II. [illegible] English Middle Schools

(Sd.) Ram [illegible]

Personal Assistant to the Director of Public Instruction, U. P.

No. [illegible] (Gen.) [illegible] dated [illegible] September 1941

From

W. H. F. ARMSTRONG, Esq., M.A.,

DIRECTOR OF PUBLIC INSTRUCTION, PUNJAB.

To

THE EDITOR,

VISHWA VANI,

142, South Malaka, Allahabad.

Sir,

With reference to the correspondence ending with your letter No. V.V. 36, dated the 31st May 1941, I have the honour to inform you that the monthly journal entitled "Vishwa Vani" published by you has been approved for use in high classes of schools in the Punjab and that its name will be included in the next issue of the list of journals, etc., approved for use in schools in the Punjab.

I have the honour to be,

Sir,

Your most obedient servant,

(Sd.) B. A. HASHMI,

Inspector of Vernacular Education

for Director of Public Instruction, Punjab.

विश्ववाणी की महान योजना

आगामी जनवरी अङ्क विश्व और भारतीय संस्कृति का विशेषाङ्क

हमारा दावा है किसी भारतीय पत्रिका ने इतना सुन्दर विशेषाङ्क अब तक नहीं निकाला

यह विशेषाङ्क छै महीने के परिश्रम का परिणाम होगा

विशेषाङ्क के कुछ लेखक

[illegible] (13 names, left column)

[illegible]
सर एस० राधाकृष्णन
सर सी० वी० रमन
[illegible] (10 names)

आचार्य क्षितिमोहन सेन
श्री राजगोपालाचार्य
पण्डित सुन्दरलाल
भदन्त आनन्द कौशल्यायन
आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी
श्री जैनेन्द्र कुमार
श्री सुमित्रानन्दन पन्त
डाक्टर भूपेन्द्रनाथ दत्त
डाक्टर ताराचन्द
श्री धर्मानन्द कौसाम्बी
डाक्टर डी० आर० भण्डारकर
महापण्डित राहुल सांकृत्यायन

लेखों के अतिरिक्त दर्जनों कविताएं, कहानियां, एकांकी नाटक आदि होंगे।

इस महान और वृहत विशेषाङ्क की कीमत होगी केवल दो रुपया।

किन्तु स्थायी ग्राहकों को यह अङ्क मुफ्त में मिलेगा।

२० नवम्बर तक विशेषाङ्क की प्रति रिजर्व करा लीजिये।

[illegible] दिसम्बर में समाप्त होता है वे भी १५ दिसम्बर तक छः रुपया मनीआर्डर से भेज दें।

विशेषाङ्क की कापी रिजर्व न करेंगे [illegible] निराश होना पड़ेगा

[illegible]
[illegible]

मैनेजर, विश्ववाणी,
इलाहाबाद

सम्पादक, मुद्रक और प्रकाशक—विश्वम्भरनाथ, विश्ववाणी प्रेस, साउथ मलाका, इलाहाबाद।

VISHWA VANI Registered No A—704.

सम्पादक, मुद्रक और प्रकाशक—विश्वम्भरनाथ, विश्ववाणी प्रेस, साउथ मलाका, इलाहाबाद।



इस अङ्क के प्रमुख लेख

इनके अतिरिक्त श्री वात्स्यायन, श्री चन्द्र गुप्त विद्यालङ्कार, श्री विष्णु, महात्मा भगवानदीन
ओहार राजेन्द्रसिंह आदि की रचनाएं हैं।

मैनेजर, विश्ववाणी कार्यालय, इलाहाबाद

वार्षिक मूल्य छै रुपया Single Copy As -10 एक अङ्क के दस आने

VISHWA VANI THE BEST HINDI MAGAZINE

HINDUSTHAN STANDARD

Calcutta Sunday September 14, 1941

Vishwa-Vani (Hindi Monthly)—Edited by Vishwambhar Nath from Vishwavani Press, Allahabad

Some months back we reviewed the [illegible] in our column. We are glad to see that it has made an all round improvement. We have no hesitation to announce that it has left all other Hindi journals long behind and today occupies the first place in the world of Hindi journalism. It has rightly fulfilled the expectations of Gurudev Dr Tagore who christened it and many sons and lovers of Hindusthan who blessed it.

The September issue is full of solid collection of articles on outstanding problems of today. It contains many articles on Kavindra Ravindranath. Prof Kabir, Sri Satyendra Mazumdar and Shri Kshiti Mohan Sen's articles on different aspect of Tagore's life and works are first of its kind so far as Hindi journalism is concerned. Besides it contains articles on Kurukshetra by Yogi Aurobindo, Essence of Gita by Sri Sundarlal, Art in Ancient Indian Life by Hazari Prasad Dwivedi and many other articles on Soviet-German War, Indian Civilization, etc. Poem on Tagore by Saraswati Kapoor befits the occassion. It contains many pictures of Tagore at various stages. We take this opportunity to thank the Vishwa-Vani on its glorious achievement in such a short period of eight months and wish success in its mission of striving for communal unity and diffussion of the knowledge of national and international politics, History and Culture in India.

THE LEADER

Allahabad Sunday September 14, 1941

The September issue of the 'Vishwavani' pays rich tributes to the memory of the late Dr Rabindranath Tagore by means of valuable articles throwing light on various aspects of the Poet's life and mission. Special mention may by made of a contribution by Prof Humayun Kabir in which is given a comprehensive idea of the evolution of the World Poet as the writer calls Dr Tagore. The 'VishwaVani' has nobly acquitted itself of its sense of gratitude to the Poet who was the god-father of the journal. The number opens with a highly philosophical article by Sri Aurobindo and contains, among others, a contribution on the Gita by Pandit Sunderlal and an informative article on Soviet Russia by Sri Mahadev Prasad Saha

VISHWA VANI THE BEST HINDI MAGAZINE

HINDUSTHAN STANDARD

Calcutta, Sunday, September 14, 1941.

Vishwa-Vani (Hindi Monthly)—Edited by Vishwambhar Nath from Vishwavani Press, Allahabad

Some months back we reviewed this journal in our coloumn we are glad to see that it has made an all round improvement We have no hesitation to announce that it has left all other Hindi journals long behind and to-day occupies the first place in the world of Hindi journalism It has amply fulfilled the expectations of Gurudev, Dr Tagore who chirstened it and many sons and lovers of Hindutan who blessed it

The September issue is full of solid collection of articles on outstanding problems of to-day It contains many articles on Kavindra Ravindranath Prof. Kabir, Sri Satyendra Mazumdar, and Shri Kshiti Mohan Sen's articles on different aspect of Tagore's life and works are first of its kind so far as Hindi journalism is concerned Besides it contains articles on Kurukshetra by Yogi Aurobindo, Essence of Gita by Sri Sundarlal, Art in Ancient Indian Life by Hazari Prasad Dwivedi and many other articles on Soviet-German War, Indian Civilization, etc. Poem on Tagore by Saraswati Kapoor befits the occassion It contains many pictures of Tagore at various stages. We take this opportunity to thank the Vishwa-Vani on its glorious achievement in such a short period of eight months and wish success in its mission of striving for communal unity and diffussion of the knowledge of national and international politics, History and Culture in India.

THE LEADER

Allahabad Sunday, September 14, 1941.

The September issue of the 'Vishwavani' pays rich tributes to the memory of the late Dr. Rabindranath Tagore by means of valuable articles throwing light on various aspects of the Poet's life and mission. Special mention may by made of a contribution by Prof. Humayun Kabir in which is given a comprehensive idea of the evolution of the World Poet as the writer calls Dr. Tagore. The 'VishwaVani' has nobly acquitted itself of its sense of gratitude to the Poet who was the god-father of the journal The number opens with a highly philosophical article by Sri Aurobindo and contains, among others, a contribution on the Gita by Pandit Sunderlal and an informative article on Soviet Russia by Sri Mahadev Prasad Saha.





वम्बर
१९४१



इस अङ्क के प्रमुख लेख

मैनेजर, विश्ववाणी कार्यालय, इलाहाबाद

सम्पादक की बात

इस अङ्क में ४७३ पृष्ठ पर प्रकाशित श्री महादेवी वर्मा का गीत उनकी किताबिस्तान द्वारा शीघ्र प्रकाशित होने वाली पुस्तक 'दीपशिखा' में है। गीत के सामने के चित्र की शिल्पी स्वयं कवियत्री महादेवी जी हैं। 'दीपशिखा' उनके इसी तरह के ५१ चित्रों और गीतों का संग्रह होगा।

इसी अङ्क में अन्यत्र प्रकाशित सेठ गोविन्द दास जी का एकाकी नाटक 'विटेमिन' उनके जेल जीवन के समय लिखा गया है और शीघ्र ही उनके सामाजिक एकांकियों के संग्रह 'अष्टदल' में पुस्तकाकार प्रकाशित हो रहा है।

पंडित माखनलाल जी चतुर्वेदी की कविता 'छिप किसमें' उनके शीघ्र प्रकाशित होने वाले संग्रह 'हिम-किरीटिनी' में है।

पिछले तीन हफ्ते लगातार ज्वर से पीड़ित होने के कारण मैं 'विश्ववाणी' के प्रेमी लेखकों और कवियों और पाठकों के पत्रों का उत्तर न दे सका, इसके लिये क्षमा प्रार्थी हूं। आशा है शीघ्र ही पूरी तरह स्वस्थ होकर मैं अपनी जिम्मेवारी सम्हाल सकूंगा।

विनीत

विश्वम्भर नाथ

मैनेजर का निवेदन

विश्ववाणी के अंक हर महीने की ठीक पहली तारीख को कार्यालय में तीन बार चेक करके तब ग्राहकों के पास रवाना किये जाते हैं। जिन ग्राहकों को १० तारीख तक उस महीने की विश्ववाणी का अंक न मिले, वे फौरन अपने यहां के डाकखाने में लिखकर पूछ ताछ करें; और पोस्टमास्टर के जवाब के साथ उसी महीने की २० तारीख तक हमारे कार्यालय को शिकायत मिले, तब हमें ऐसे ग्राहकों की शिकायत पर ध्यान देना सुविधाजनक होगा। पत्र व्यवहार करते समय अपनी ग्राहक संख्या लिखना आवश्यक है। ग्राहक संख्या विश्ववाणी के रैपर पर लिखी रहती है। अन्यथा हजारों नामों में एक नाम ढूंढ निकालना बड़ा मुश्किल काम है।

हज़रत मुहम्मद और इसलाम

लेखक—पंडित सुन्दरलाल जी

१५ नवम्बर सन् १६४१ तक प्रकाशित हो जायगी, मूल्य १।) डेढ़ रुपया, डाक खर्च अलग, किन्तु विश्ववाणी के स्थायी ग्राहकों को यह पुस्तक केवल पौने मूल्य में ही मिलेगी।

विनीत

शिवकुमार मिश्र

मैनेजर



सम्राट समुद्र गुप्त के दरबार में ईरानी प्रतिनिधि

[पुस्तक-भण्डार लहेरिया सराय के सौजन्य से]

विश्ववाणी

युक्तप्रान्त, पञ्जाब, बम्बई, मद्रास, होलकर राज्य, मेवाड़ [उदयपुर], जोधपुर, मैसूर और काश्मीर के शिक्षा विभागों द्वारा स्कूल और कालेज लाइब्रेरियों के लिए स्वीकृत

संचालक

सम्पादक
विश्वम्भरनाथ

आपका चंदा दिसम्बर में समाप्त होता है

६ ५, पूरे अङ्क ११

श्री मञ्जरअली सोख्ता

श्री मंजरअली सोख्ता के पांच लेख 'आज़ाद हिन्दुस्तान में न फ़ौज होगी न हथियार' शीर्षक से 'विश्ववाणी' में प्रकाशित हो चुके हैं। वह लेखमाला अभी खतम नहीं हुई। इस बीच श्री योगी अरविन्द के दो लेख एक 'कुरुक्षेत्र' शीर्षक से सितम्बर की 'विश्ववाणी' में और दूसरा 'मनुष्य और जीवन संग्राम' शीर्षक से अक्तूबर की 'विश्ववाणी' में इसी विषय पर निकले। हमने श्री मंजरअली सोख्ता का ध्यान श्री योगी अरविन्द के लेखों की ओर दिलाया। वर्तमान लेख उसी का फल है। सत्याग्रह संग्राम, उसके असूलों, तरीक़ों, सम्भावनाओं और गीता के उपदेश के साथ उसके सम्बन्ध पर इस लेख से गहरी रोशनी पड़ती है—सम्पादक

[१]

अर्जुन—हे कृष्ण! मेरा स्वर्ग सुख समाप्त हो गया। मैं बेचैन हो रहा हूं। संसार के दुःख मुझसे सहे नहीं जाते। आजकल के महायुद्ध की घनघोर घटाएं, सैनिकों के दल, अनन्त रणक्षेत्र, मुझे अपनी ओर खींचते हैं। ये सब मुझे महाभारत की याद दिलाते हैं। मैं फिर जन्म लेना चाहता हूं। मैं इन अत्याचारी आततायियों को, जिन्होंने संसार के प्राचीन नरेशों के सिंहासन छीन लिए हैं, नष्ट कर देना चाहता हूं। इनके अत्याचारों से संसार की रक्षा करना चाहता हूं। और संसार पर फिर से पुराने क्षात्र-धर्म का साम्राज्य जमाना चाहता हूं। हे कृष्ण! मुझे आज्ञा दो। मैं चाहता हूं कि महाभारत की तरह इस महायुद्ध में भी आप ही मेरा पथ प्रदर्शन करें।

कृष्ण—अर्जुन! मेरी एक शर्त है। वह यह कि तुम अपने अस्त्र शस्त्र स्वर्ग ही में छोड़ चलो। अपने दुश्मनों का मुक़ाबला इस बार क्षमा, दया और शील से करो, और वे तुम्हें कितनी भी हानि पहुँचावें तुम स्वयं हिंसात्मक साधनों से उनका जवाब न दो।

अर्जुन—हे कृष्ण ! आपकी महिमा अपार है। अभी कल की सी बात है कि कुरुक्षेत्र के मैदान में आपने मेरे कांपते हुए हाथों में तलवार दी थी और इन्हीं हाथों से मेरे गुरुजनों और सम्बन्धियों का ख़ून करवाया था। और आज आप ही मेरे हाथों से तलवार छीन रहे हैं, और कहते हैं कि अपने शत्रुओं के आगे सर झुका दे। हे जनार्दन ! आपकी यह नई शर्तें मेरी समझ में नहीं आतीं और न इन्हें मानने की मुझे अपने में सामर्थ्य दिखाई देती है। आज मेरा फिर वही हाल हो गया जो कुरुक्षेत्र में था। मैं कर्त्तव्यविमूढ़ हो गया। हे कृष्ण ! मेरी सहायता कीजिए।

कृष्ण—अर्जुन ! उस दिन भी तुमने अपने स्वभाव, अपनी प्रवृत्तियों और संसार की गति से विवश हो कर कर्म किया था। आज भी तुम ऐसा ही करोगे मैंने उस दिन भी तुम्हारे सामने मनुष्य के विकास के अटल नियम रख दिये थे। वही आज भी कर रहा हूं।

अर्जुन—हे यादव ! क्या ये अटल नियम बदलते रहते हैं ?

कृष्ण—नहीं, ये कभी नहीं बदलते।

अर्जुन—जनार्दन ! यह क्या अन्धेर है ? क्या आपने कुरुक्षेत्र के मैदान में मुझे अपने शत्रुओं का विध्वंस कर देने की शिक्षा नहीं दी थी ? आपकी वह दिव्य और मधुर ध्वनि आज तक मेरे कानों में गूंज रही है। सुनिये, मैं आप को आप के पुराने शब्द याद दिलाता हूं—

"जिन चीज़ों का ग़म नहीं करना चाहिये उनका ग़म करता है, और अक़्लमन्दों की सी बातें करता है। जो लोग सचमुच पण्डित हैं, वे न उन चीज़ों की फ़िक्र करते हैं जो मिट गईं और न उनकी जो अभी बाक़ी हैं" (२-११]

"इस देह के अन्दर रहने वाली आत्मा नित्य है। और ये सब देह नाशमान हैं। वह आत्मा अविनाशी और अचिन्त्य है। इसलिये हे भारत ! युद्ध कर।" [२-१८]

"क्षत्री की हैसियत से अपने धर्म को देखते हुए भी तुझे युद्ध से कांपना नहीं चाहिये। किसी भी क्षत्री के लिये धर्म युद्ध से बढ़कर श्रेयस्कर और कोई चीज़ नहीं हो सकती।" [२ ३१]

"हे पार्थ, वे क्षत्री बड़े ही धन्य हैं जिनके सामने इस तरह का युद्ध, जो उनके लिये मानो खुला हुआ स्वर्ग का दरवाज़ा है, ख़ुद ब ख़ुद आ जाता है।" [२ ३२]

"और यदि तू इस धर्म युद्ध में भाग नहीं लेगा तो अपने धर्म और अपनी कीर्त्ति दोनों को नष्ट कर के पाप का भागी होगा।" [२ ३३]

"यदि तू इस युद्ध में मारा गया तो स्वर्ग प्राप्त करेगा। और यदि तेरी विजय हुई तो दुनिया के सुख भोगेगा। इसलिये, हे कुन्ती के पुत्र ! युद्ध का निश्चय करके खड़ा होजा।" [२-३७]

कृष्ण—हे अर्जुन, ! इस अन्तिम श्लोक से आगे के दो श्लोक और पढ़ो।

अर्जुन—"सुख दुख, लाभ हानि, हार जीत, इन सब में एक समान रहते हुए युद्ध में हिस्सा ले। ऐसा करने से तू पाप का भागी नहीं होगा।" [२-३८]

'यह जो कुछ मैंने तुझसे कहा है वह सांख्य शास्त्र के अनुसार कहा है अब इसी को तू योगमार्ग के अनुसार सुन। योग मार्ग के अनुसार जब तू इसे समझ जावेगा तो फिर कर्म तुझे नहीं बांध सकेंगे।" [२-३९]

कृष्ण—क्यों अर्जुन ! अब तुमने देख लिया कि इन दोनों श्लोकों से पहिले तुमने जो कुछ भी दुहराया था वह मेरे शब्द ज़रूर हैं किन्तु वह मेरी वास्तविक शिक्षा नहीं है। सांख्य और वेदों के आधार पर तुमने बहुत सी ग़लत दलीलें दी थीं। मैंने तुम्हारे इस भ्रम को दूर करने के लिये सांख्य और वेदों के असली रूप को तुम्हारे सामने रख दिया था। मेरी वास्तविक शिक्षा तो तुम्हें कर्मयोग की अर्थात् स्थितप्रज्ञ बन जाने की थी जो सांख्य और वेदों की शिक्षा से कुछ भिन्न है।

अर्जुन—कैसे ?

कृष्ण—इन दोनों में मौलिक अन्तर यह है कि सांख्य केवल कर्म के त्याग की शिक्षा देता है और फल के त्याग पर ज़ोर नहीं देता। और मैंने फल के त्याग को ही असली त्याग और उसी को कर्मयोग का सार बताया था। मेरी शिक्षा का वेद मे यह अन्तर है कि वेद की शिक्षा मनुष्यो को कर्मकाण्ड में और ससार की सुख संपत्ति और स्वर्ग प्राप्ति की कामनाओं में उलझाये रखती है। मैने तुम्हें इस जजाल से मुक्त होकर निष्काम कर्म करने का उपदेश दिया था।

अर्जुन—हे कृष्ण ! "अर्जुन, अगर तू मारा गया तो स्वर्ग प्राप्त करेगा और जीत गया तो दुनिया का सुख भोगेगा" (हतोवा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे मर्हीम्) ये आपके शब्द हैं या नहीं ? और गीता मे तरह तरह से और बार बार आपने मुझे यही समझाया था या नहीं ?

कृष्ण—क्यों अर्जुन ! क्या वास्तव में गीता की यही शिक्षा है कि तुम ससार के सुख भोगने के लिये कर्म करो और स्वर्ग प्राप्ति को अपने जीवन का उद्देश्य बनाओ ?

अर्जुन—नहीं, जनार्दन ! नहीं, गीता की वास्तविक शिक्षा तो यह नहीं है। वेद और स्वर्ग के सम्बन्ध मे जो कुछ आपने कहा था वह मुझे याद आ गया। आपने कहा था—"हे पार्थ ! नासमझ लोग जो वेद की बातों में मस्त हैं और कहते हैं कि इसके सिवाय और कुछ है ही नहीं लच्छेदार बाते करते हैं।" (२-४२)

'इन लोगों के अन्दर वासनाएं भरी हुई हैं। वे स्वर्ग के सुखों को भोगने के लिये लालायित हैं। उनकी बातें कर्मों के फलरूप दूसरे जन्मों की देने वाली हैं। भोगों और ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये वे तरह तरह के कर्मकाण्ड बताते हैं। (२-४३)

"जिस तरह ऐसी जगह पर जहां चारों ओर पानी ही पानी हो एक कुआ बिलकुल निकम्मा है, उसी तरह जिस ब्राह्मण अर्थात् विद्वान ने असलियत को समझ लिया है उसके लिये सब वेद बेकार हैं।" (२-४६)

जब तेरी बुद्धि इस मोहजाल को पार कर जायगी तब तू उन सब बातों की तरफ से बेपरवाह हो जायगा जो तू अब तक सुनता आया है और जो तेरे लिये श्रोतव्य हैं यानी जो तू आगे सुनेगा।"—(२-५२)

"वेदों की शिक्षा ने तेरी बुद्धि को उलट दिया है। जब तेरी यह बुद्धि फिर से निश्चित होकर समाधि में लगेगी तब तू योग को प्राप्त करेगा" (२-५३)

कृष्ण—फिर हे अर्जुन ! 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं' इत्यादि को तुम मेरी शिक्षा क्यों कहते हो ?

अर्जुन—लेकिन कृष्ण ! इससे मेरा संतोष नहीं होता। मुझ पर यह असर है कि उस दिन आपने तरह तरह की युक्तिया देकर मुझे अपने सम्बन्धियों की हत्या पर आमादा कर दिया था। और आज आप मुझे बिलकुल दूसरी शिक्षा दे रहे हैं ! मेरी समझ में नहीं आता कि यदि उस दिन हत्या करना मेरा धर्म था तो आज वह पाप कैसे हो गया ! विशेषकर ऐसी दशा में जबकि गीता के सिद्धान्त अटल हैं और उनमें कोई परिवर्तन नहीं होता।

कृष्ण—हे अर्जुन ! हमें किसी भी कर्म के विषय में यह निश्चय करने के लिये कि वह अच्छा है या बुरा, चाहे वह हत्या हो या चोरी, दान हो या तप, उसके बहुत से पहलुओं पर विचार करना होता है। मैंने हर कर्म को परखने के लिये एक कसौटी तुम्हें दे दी थी। अपने इस कर्म को तुम स्वयं उस कसौटी पर कस कर क्यों नहीं देखते ?

अर्जुन—कौनसी कसौटी ?

कृष्ण—तुम्हें याद है मैंने तुम्हे कितने प्रकार के कर्म गिनाये थे, ?

अर्जुन—हा, तीन प्रकार के—

"जिस कर्म का करने वाला मनुष्य फल की इच्छा न रखता हो, जिस कर्म से उसको किसी प्रकार का मोह न हो, जिसमें उसके अन्दर किसी प्रकार का राग द्वेष न हो, इस तरह का नियुक्त किया हुआ कर्म सात्विक कर्म कहलाता है।" (१८-२३)

"और जो कर्म फल की इच्छा से या अहंकार के साथ और बहुत परिश्रम के साथ किया जावे वह राजस कर्म कहा जाता है।" (१८-२४)

"और जिस काम में उस काम के नतीजे को या उससे होने वाली हानि को, या हिंसा को, अपने पौरुष यानी सामर्थ्य को बिना बिचारे केवल मोह से किया जावे उसे तामस कर्म कहते हैं।" (१८-२५)

कृष्ण—हे अर्जुन ! तुम इस कसौटी पर अपने कर्म को कस कर देखो। तुम उस स्थिति पर विचार करो जिस स्थिति में मैंने तुमसे लड़ने को कहा था। तुम क्षत्री होकर धर्म-युद्ध से भाग रहे थे। तुम्हारा यह भागना तामस था और तुम्हें पतन की ओर ले जाने वाला था। हर व्यक्ति का असली धर्म यह है कि वह सदा अपनी आत्मा की उन्नति अर्थात ऊर्ध्व गति की ओर निगाह रखे। तुम अपने हृदय की दुर्बलता के कारण भयभीत होकर अपने धर्म से हट रहे थे। मैंने तुम्हें उस पतन से बचा लिया। फिर तुम स्वयं बताओ कि मानव विकास की जो सीढ़ी मैंने तुम्हारे सामने रखी थी और मनुष्य के कर्मों को परखने की जो कसौटी मैंने तुम्हें बताई थी उसके अनुसार मेरी वह सलाह ठीक थी या नहीं ?

अर्जुन—हे कृष्ण ! यह तो मैं खूब समझ गया आपकी सलाह ठीक थी। किन्तु अब एक प्रश्न और उठता है। योग का मार्ग और सन्यास का मार्ग ये दोनों ही तो सात्विक मार्ग हैं। मैं तो राजपाट सभी छोड़ना चाहता था फिर भी आपने मुझे हत्या करने के लिये उत्साहित किया, इसमें क्या रहस्य था ?

कृष्ण—अर्जुन ! यह तुम्हारा भ्रम है। क्रोध, घृणा, द्वेष और मोह की प्रबल अग्नि तुम्हारे हृदय में धधक रही थी। राज पाट और धन ऐश्वर्य, की लालसा तुम्हारे दिल में भरी हुई थी। ऐसी अवस्था में, तुम्हारा वह विरक्तिभाव तुम्हारी बुद्धि का केवल एक छलरूप था। यदि उस समय इस झूठे वैराग्य में आकर तुम युद्ध से हट भी जाते तो भी अन्त में तुम युद्ध से बच नहीं सकते थे। तुम्हारी प्रबल राजस वृत्तियां तुम्हें लड़ाकर ही छोड़तीं। और इस प्रकार इस लोक और परलोक दोनों को तुम खो बैठते।

अर्जुन—हे जनार्दन ! यदि आप चाहते तो क्या जैसे आपने मुझे हत्या करने पर तय्यार कर दिया था वैसे ही मुझे सन्यास मार्ग पर स्थिर नहीं कर सकते थे ?

कृष्ण—अर्जुन, यह असम्भव था। मेरी एक मात्र शिक्षा यह थी कि तुम अपनी बुद्धि को स्थिर करो। अपनी इन्द्रियों और आत्मा को वश में करो। कर्मों के फल को त्याग दो। इस दुनिया के या स्वर्ग के सुख भोगने की लालसा को छोड़ दो और जब तुम इस स्थिति को प्राप्त कर लोगे तो जो कर्म भी तुम करोगे वह सात्विक ही होगा। किन्तु फिर भी मैं तुम्हें इस मार्ग पर न जमा सका। तुमने यह कर्म मेरी शिक्षा के अनुसार नहीं परन्तु अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों के आधीन होकर ही किया था।

अर्जुन—हे जनार्दन ! यह आप क्या कह रहे हैं ? मैंने तो आपकी बात मानी थी और अपनी समझ में आप ही के बताये हुए मार्ग पर चला था।

कृष्ण अर्जुन ! तुम्हारी बुद्धि न उस दिन स्थिर थी और न आज स्थिर है। इसीलिये तुम अपनी वास्तविक आन्तरिक अवस्था को नहीं समझ पाते। अर्जुन, ज़रा सोचो कि यदि तुम मेरे बताये हुए मार्ग पर चले होते तो आज इस तरह स्वर्ग में क्यों पड़े होते। तुम्हारा स्थान तो इससे कहीं ऊंचे धामों में था। इसके अतिरिक्त अपनी वर्त्तमान स्थिति को देखो। संसार के इस घोर संग्राम में भाग लेने की प्रबल कामनाएं आज तुममें उत्पन्न हो रही हैं और ये ही कामनाएं आत्मा को अधोगति की ओर ले जाने वाले आधुनिक युद्ध के तामस क्षेत्रों की ओर तुम्हें ले जा रही हैं। तुम्हें यह अनुभव नहीं होता कि तुम अपने राजस पद से गिर कर सत्व की ओर जाने के बजाय तामस की ओर चले जा रहे हो। अर्जुन ! यह सच है कि तुम्हारे जीवन में फिर वही धर्म संकट आ उपस्थित हुआ है जो कुरुक्षेत्र में

उपस्थित था। इसीलिये आज मैं फिर पहले की तरह तुम्हें सावधान करने और बचाने आया हूं।

अर्जुन—हे जनार्दन! मुझे अब अपनी भूल कुछ कुछ नज़र आ रही है। मालूम होता है कि मैं अपने अच्छे कर्मों के सुख भोग चुका और मेरे पुराने संस्कार अब मुझे पाताल की ओर ले जा रहे हैं। हे जनार्दन! मुझे बचाओ!

[२]

कृष्ण—हे अर्जुन! अब तुम मुझे यह फिर से बताओ कि तुम संसार में जाना क्यों चाह रहे हो?

अर्जुन—मैं आपसे कह चुका हूं कि संसार का दुःख मुझसे देखा नहीं जाता। मेरा धर्म मुझे उधर खींचता है। मैं इस महायुद्ध में भाग लेना चाहता हूं। मैं इस अन्याय और अन्धेर के साम्राज्य को मिटाकर मानव समाज में सुख और शान्ति स्थापित करना चाहता हूं। हे जनार्दन, आप जब शस्त्र फेंक देने की और शत्रु के सामने सर झुका देने की बात करते हैं तब मेरा दिल घबराता है। मुझे यह अहिंसा का पाठ अप्राकृतिक, अस्वाभाविक और भीरुताजन्य मालूम होता है। मुझे इस नए धर्म के पालन में संसार के क्षात्रधर्म का विनाश दिखाई देता है। फिर मैं क्या करूं?

कृष्ण—अर्जुन! तुम अभी अपनी स्वर्गनिद्रा में हो। आंखें खोलो। भारत पर नज़र डालो। अपने क्षात्रधर्म और क्षत्रीकुलों का हाल तो देखो। वह धर्म कहां है? देखो तो, भारत की रक्षा कौन कर रहा है? वहां का राज्य किसके हाथों में है? वे पुराने राजा कहां हैं? उनके तो कहीं चिन्ह भी दिखाई नहीं देते। अर्जुन, ज़रा इन कठपुतलियों पर तो निगाह डालो जिन्होंने उन भारत नरेशों की जगह ली है। ये कठपुतलियां निर्जीव हैं, निःसत्व हैं। इन बेचारियों को दूसरों के तारों पर नाचना पड़ता है। क्यों अर्जुन, क्या तुम इन्हीं को जिलाने के लिये संसार में जाना चाहते हो?

अर्जुन—नहीं, नहीं, मैं यह तो देख रहा हूं कि पुराने राजकुलों का अन्त हो चुका और अब ये फिर से ज़िन्दा नहीं किये जा सकते। किन्तु किसी कुल या श्रेणी विशेष के अन्त हो जाने से उसके कार्यक्षेत्र का ख़ात्मा नहीं होता। हे जनार्दन! मेरा यह विश्वास है कि जब तक मानव समाज जीवित है उसे अपनी रक्षा के लिये क्षात्रधर्म और क्षात्रमनोवृत्तियों की आवश्यकता रहेगी। वीरता का नाश हो जाने से मानव समाज का नाश हो जायगा। इसलिये हे जर्नादन! मैं भारत में जाकर इन क्षत्री कुलों को नहीं, वरन् क्षात्रधर्म को पुनरुज्जीवित करना चाहता हूं और संसार में उस भारतीय वीरता के बीज फिर से बोना चाहता हूं जो पुराने क्षत्रीकुलों का अलौकिक श्रृङ्गार थी।

कृष्ण—अर्जुन! तुम यह क्या स्वप्न देख रहे हो? संसार की इस दशा को देखो। अब वह पुरानी वीरता कहां है? उसका तो महाभारत के युग के साथ ही अन्त हो गया। दुनिया बिलकुल बदल चुकी है। न वे वीर हैं, न वे युद्ध के ढंग, न वे पुराने रणक्षेत्र हैं और न वे अस्त्र शस्त्र। हे अर्जुन, इन सब चीज़ों की काया पलट चुकी है। इनमें वीरता का कोई स्थान ही नहीं रह गया। वर्तमान युद्ध में भाग लेकर तुम उस पुरानी वीरता को जीवित नहीं कर सकते। यह युद्ध मनुष्य की मानसिक, नैतिक और आत्मिक उन्नति का नाश करने वाला है। ज़रा इन सैनिकों को देखो। लोमड़ियों और चूहों की तरह, ज़मीन में गढ़े बना कर वे उनमें छिपे हुए हैं। इनकी आत्माएं भयभीत हैं। इनके दिल धड़क रहे हैं। न शत्रु इन्हें देखता है न ये अपने शत्रु को देख पाते हैं। इन पर अचानक गोले बरस पड़ते हैं और ये ही गढ़े इनकी क़बरें बन कर रह जाते हैं। उधर देखो। वह देखो, वे नए सूरमा चिड़ियों और गिद्धों की तरह हवा में उड़ उड़ कर औरतों, बच्चों, बूढ़ों, बीमारों, निहत्थी जनता और असहाय शहरों पर गोले बरसा रहे हैं। युद्ध की नई नीति का यह अन्तिम विकास है। इसका मौलिक सिद्धान्त यह है कि समस्त निःसाहस जनता का विध्वन्स कर डालो तो सैनिकों का विध्वन्स आप ही हो जायगा। क्यों अर्जुन! तुम संसार में जाकर क्या

इस पैशाचिक युद्ध प्रणाली को बदलकर पुराने सूरमा और पुराने लड़ने के ढंग फिर से जिला सकोगे ? नहीं अर्जुन ! यह स्वप्न बेकार है। बीता हुआ काल फिर से नहीं लौट सकता। खूब समझ लो। यदि तुम संसार में सैनिक का जन्म लोगे तो संसार की वर्तमान गति तुम्हें अपने ही सांचे में ढाल लेगी। तुम्हारा स्वभाव पाशविक बन जायगा और अनन्त काल के लिए तुम अपनी आत्मोन्नति के मार्ग से हट जाओगे।

अर्जुन—हे जर्नादन ! मैं अपना पतन नहीं चाहता। पर क्या करूं मेरी समझ में नहीं आता कि क्षात्र धर्म मिट जाने के बाद संसार की निस्सहाय जनता की रक्षा कौन करेगा !

कृष्ण—अर्जुन ! तुम संसार की ऊपरी स्थिति को देखते हो। इसीलिये तुम उसकी असलियत को नहीं समझ पाते। यदि तुम गहरी नज़र डालो तो तुम देखोगे कि क्षात्रधर्म जिसके पीछे तुम इतने दीवाने हो, वह वास्तव में समाज सेवक नहीं समाज शासक था, और उसने सदा जनता की रक्षा की ओट में अपने ही ऐश्वर्य और समृद्धि को प्रमुख रखा। इसी से उसका अन्त हो गया। और इसी से भारत ने आज सदा के लिये शस्त्र फेंक दिये हैं। अर्जुन, इस क्षात्रधर्म की वर्त्तमान अवस्था पर नज़र डालो। जिसे तुम जनता का रक्षक बताते हो वही मानव समाज का भक्षक बना हुआ है। हे अर्जुन ! यह तुम्हारे पुराने क्षात्र धर्म का ही अन्तिम विकास है। इसे देखो, इस पर गहरी निगाह डालो। यदि मानव समाज शीघ्र ही इस भयानक आपत्ति से मुक्त न हो सका तो निस्सन्देह इसका सर्वथा नाश हो जायगा।

अर्जुन—हे कृष्ण ! आपके इन शब्दों से मेरी आंखें खुलती जा रही हैं। वर्त्तमान युद्ध में भाग लेने की जो आग मेरे दिल में दहक रही थी अब कुछ शान्त हो रही है। परन्तु, हे जर्नादन ! मेर समझ में यह किसी तरह नहीं आता कि युद्ध और क्षात्रधर्म मिट जाने के बाद जनरक्षा का प्रबन्ध कैसे हो सकेगा। क्यों जर्नादन, क्या युद्ध की प्रथा ने, मानव जाति का कभी कोई उपकार नहीं किया ?

कृष्ण—अर्जुन ! तुम स्वयं सोचो, क्या तुम यह नहीं देखते कि ये युद्ध और ये सेनाएं मनुष्य समाज के अन्दर विवेक और मानवता की हार और उनकी बिफलता की ज़िन्दा मिसालें हैं ! अर्जुन, इनका समाज से वही सम्बन्ध है जो रोग का शरीर से होता है। युद्ध मानव संसार के लिये सदा एक वैसी ही भयंकर आपत्ति रहा है, जैसी महामारियां, अकाल और प्रचण्ड तूफान ! फ़र्क़ केवल यह है कि अकाल और महामारियां मनुष्य समाज को केवल भौतिक हानियां पहुंचाती हैं। उसकी आत्मा पर कोई बुरा असर नहीं डालतीं। किन्तु युद्ध मानव समाज की नैतिक और आध्यात्मिक नींवों को हिला देता है। इससे समाज में क्रूरता, द्वेष, स्वार्थ, व्यभिचार, लोलुपता और तरह तरह के अन्य रोग पैदा हो जाते हैं, जिन्हें दूर करना समाज के लिये अत्यन्त कठिन हो जाता है। हे अर्जुन ! तुम स्वयम् बताओ कि महाभारत का प्रभाव भारतवर्ष पर क्या पड़ा था ? इसे तो तुम अपने ही अनुभव से कह सकते हो। बताओ कि उससे राजा और प्रजा, सब में सुख की वृद्धि हुई थी या दुख की ?

अर्जुन—हे जर्नादन ! मुझसे यह न पूछिये। महाभारत के बाद जो हाल भारतवर्ष का हुआ उसे याद करके आज भी मेरे रोंगटे खड़े हो जाते हैं, मेरा दिल भर आता है। महाभारत वह प्रचण्ड अग्नि थी जिसने सारे भारतवर्ष को झुलसा दिया। हमारा सुख, हमारी सम्पन्नता, हमारी संस्कृति, हमारी सभ्यता, हमारा धर्म और हमारी आत्मा का विकास सब इसी अग्नि में जलकर भस्म हो गए। और उसी विपत्ति के कारण देश में चारों ओर ऐसा दुख और कलह फैल गया जो किसी से सहा नहीं जा सकता था। इसी कलह से पीड़ित होकर हम सब हिमालय में गलने के लिये चले गये थे।

कृष्ण—अर्जुन, अब तुम सोचो कि इसी महाभारत को पुनरुज्जीवित करने के स्वप्न अब भी तुम देख रहे हो। उसी क्षात्रधर्म को जिलाने के लिए तुम संसार में जाना चाहते हो जो उस सारे महा-

भारत का मूल कारण था। और यह भी ऐसे विकट समय में जब युद्ध की संस्था और क्षात्रधर्म दोनों की पराकाष्टा को पहुँच चुके हैं। हे अर्जुन ! याद रखो कि इन विनाशकारी शक्तियों का अन्त करके ही तुम मानव समाज के सच्चे सेवक और रक्षक बन सकते हो। क्योंकि यदि ये जीवित रहीं तो संसार की कोई शक्ति मानव समाज को ज़िन्दा नहीं रख सकती।

[३]

अर्जुन—ऐ जनार्दन ! यह तो मेरी समझ में आगया कि युद्ध और सेना की वर्त्तमान प्रणाली समाज के लिये हितकर नहीं है और इनको बदले बिना मानव समाज का वास्तविक उद्धार नहीं हो सकता। मैं यह भी मानता हूं कि एक दिन निश्चित ही आवेगा कि मनुष्य जाति आध्यात्मिक, नैतिक और सामाजिक रूप से इस बात के लिये तैय्यार हो जावे कि सर्वत्र शान्ति का राज्य हो, किन्तु जनार्दन ! जब तक यह नहीं हो पाता तब तक हमे युद्ध के समाज का अङ्ग मानना ही पड़ेगा और इसकी कोई न कोई विधि बैठानी पड़ेगी।

कृष्ण—अर्जुन ! तुमने जिस दिन कुरुक्षेत्र की रणभूमि मे हथियार डाल दिये थे उसी दिन यह स्पष्ट हो गया था कि बाहुबल और बुद्धिबल द्वारा मानव समाज की रक्षा नहीं की जा सकती और इसीलिये मैंने उसी समय युद्ध की एक नई विधि की बुनियाद डाल दी थी। अर्जुन ! गीता केवल उसी नई युद्ध-विधि का विधान है जो संसार में पुरानी युद्ध-विधि का स्थान लेगा।

अर्जुन—जनार्दन ! मैं यह नहीं समझ सका।

कृष्ण—सुनो अर्जुन ! कुरुक्षेत्र के मैदान में तुम्हारा हथियार डाल देना कोई साधारण घटना न थी। तुम वीरों में वीर थे। तुम क्षत्रीकुल के गौरव थे। तुम उस बाहुबल और उस युद्ध-विद्या के अतुल आदर्श थे जिनके आधार पर मानव समाज ने न्याय और धर्म की रक्षा की नींव रखी थी। तुम्हारा हथियार डाल देना मानो इस आधार शिला का टूट जाना था। इस घटना ने यह सिद्ध कर दिया कि केवल बाहुबल और बुद्धिबल द्वारा मानव समाज की रक्षा नहीं की जा सकती। इसीलिये कुरुक्षेत्र की भीषण रणभूमि में मैंने संसार के सब से बड़े सैनिक के संसार के युद्ध के सफलता के साथ लड़ने के लिये आत्मबल प्राप्त कर लेने की शिक्षा दी थी।

अर्जुन—यह तो आप सच कहते हैं। किन्तु आज उस शिक्षा के आप नया विधान क्यों कह रहे हैं। कुरुक्षेत्र में आपने बताया था कि जो शिक्षा आप दे रहे हैं वह संसार निवासियों के बारम्बार दी जा चुकी है। फिर आप इसे नया क्यों कहते हैं ?

कृष्ण—अर्जुन ! शिक्षा वही है। क्षेत्र और पात्र का अन्तर है। अगर सदा से यह शिक्षा क्षत्रीकुलों के और सैनिकों के दी जाती तो तुम्हारे समान शूर-वीर के रणक्षेत्र में इसके देने की आवश्यकता कैसे पड़ सकती थी ? पहले यह शिक्षा विरक्तों और धार्मिक पुरुषों के लिए थी, मैंने इसे सब व्यक्तियों और संसार के सैनिकों के लिए भी आवश्यक कर दिया।

अर्जुन—हे कृष्ण ! मुझे अपना यह नया विधान पूरी तरह समझाइये।

[४]

कृष्ण—अर्जुन ! इस नए विधान के समझने के लिए तुम्हें अपनी आन्तरिक स्थिति की ओर ध्यान देना होगा। इस बाहरी युद्ध का ख़याल छोड़कर तुम उस आन्तरिक संघर्ष की ओर ध्यान दो जो हर व्यक्ति के अन्दर और हर समाज के जीवन में निरन्तर होता रहता है। मैंने तुम्हें बताया था कि इस लोक में दो प्रकार के प्राणी दो अलग अलग तरह की सम्पद लेकर उत्पन्न होते हैं, एक दैवी सम्पद और दूसरी आसुरी। इनमें दैवी सम्पद से मनुष्य के मुक्ति प्राप्त होती है और आसुरी सम्पद उसे बन्धनों में फंसाए रखती है।

अर्जुन—मुझे याद है।

कृष्ण—इनमें से दैवी सम्पद के क्या क्या गुण हैं ?

अर्जुन—"निडर होना, दिल की सफ़ाई, ज्ञान हासिल करने की कोशिश, दान देने की आदत,

इन्द्रियों पर क़ाबू, दूसरों का उपकार करना, अच्छी चीज़ें पढ़ना, कपट न करना, अहिंसा, सच्चाई, त्याग, शान्ति, किसी की चुग़ली न करना, ग़ुस्सा न करना, सब पर दया करना, लोभ न करना, दीनता, शराफ़त, गम्भीरता, तेज, क्षमा, धीरज, पवित्रता, किसी से दुशमनी न करना, और घमण्ड न करना।" (१६–१,२,३)

कृष्ण—और आसुरी सम्पद के क्या लक्षण हैं ?

अर्जुन– "ढोंग, ग़ुरूर, अपने को बड़ा मानना ग़ुस्सा, सख़्ती और बर्बरता ये आसुरी सम्पद के लक्षण हैं।" (१६–४)

आसुरी सम्पदवाले मनुष्य का चित्र आपने विस्तार से खींचा था जिसमें आपके नीचे लिखे शब्द मैं कभी नहीं भूलता—

"आसुरी सम्पद वाले यही सोचा करते हैं कि आज मैंने अपना यह मनोरथ पूरा कर लिया, कल वह पूरा कर लूंगा, यह धन भी मेरा हो जायगा, उस दुश्मन को मैंने मार डाला और दुश्मनों को भी मैं मार डालूंगा, मैं मालिक हूं, मैं भोगने वाला हूं, मैं कामयाब हूं, मैं ताक़तवर हूं, मैं सुखी हूं, मैं धनी हूं, मैं ऊंची नसल का हूं, मेरे बराबर दूसरा और कौन है, मैं दुनिया का भला करूंगा, मैं जिसे चाहूंगा दूंगा, मैं आनन्द मनाऊंगा, अज्ञान से अंधे हुए वे इसी तरह की बातें सोचा करते हैं।" (१६–१३-१५)

कृष्ण– ये विरोधी गुण हमारे अन्दर बराबर लहरें लेते रहते हैं। इन दोनो प्रकृतियों की सदा आपस में टक्कर होती रहती है। हे अर्जुन ! यही आन्तरिक संघर्ष हमारे छोटे बड़े झगड़ों, संग्रामों और युद्धों की शकल में समय समय पर बाहरी रूप धारण करता रहता है। और इन झगड़ों में हर व्यक्ति या समूह दूसरे को तरह तरह के दुःख और हानि पहुंचाता रहता है। और समय समय पर यही आन्तरिक संघर्ष वह विशाल विध्वन्सकारी रूप धारण करता है जिसे हम महाभारत कहते हैं। हे अर्जुन ! यदि तुम इस आन्तरिक संग्राम के असली रूप में समझ लोगे तो तुम्हें मालूम हो जायगा कि जब तक यह संग्राम जारी है तब तक हम इस के बाहरी नतीजों को किसी हालत में भी रोक नहीं सकते। और न इसकी भीषणता को कम किया जा सकता है। और जिस मात्रा में हम इस आन्तरिक संग्राम को कम कर सकेंगे उसी मात्रा में हमें अपने बाह्य जीवन को शान्त और सुखमय बनाने में सफलता प्राप्त होगी।

अर्जुन—हे जनार्दन ! मैं यह ख़ूब समझ गया। मुझे मानव जीवन की यही मौलिक सच्चाई मालूम होती है।

कृष्ण—किन्तु अर्जुन, संसार का सब से बड़ा आश्चर्य यह है कि मानव समाज इस आन्तरिक संग्राम को मिटाने का इतना भी प्रयत्न नहीं करता जितना इसके बाहरी स्वरूप के मिटाने का करता है। और जो प्रयत्न करता भी है वह इस तरह का होता है जिससे इसकी आसुरी शक्तियां घटने के बजाय और भी बढ़ती रहती हैं। हे अर्जुन ! जब तक मानव समाज अपनी सारी शक्ति इस आन्तरिक महाभारत को शान्त करने की ओर नहीं लगायेगा उस समय तक वह उन्नति के पथ पर शान्ति और स्थिरता के साथ क़ायम नहीं रह सकता। जिस नए विधान का मैंने ऊपर ज़िक्र किया है उसका यही सार है। अर्जुन, याद रखो बिना इस सत्य को समझे और बिना मनसा, वाचा, कर्मणा और दृढ़ आग्रह के साथ उस पर जमे हुए न कोई इस नए विधान को समझ सकता है और न इस युद्ध की नई विधि में सफलता के साथ भाग ले सकता है।

अर्जुन—हे जनार्दन ! मैं समझ गया। किन्तु मुझे आप एक बात बताइये। क्या हम आसुरी वृत्तियों और शक्तियों को आसुरी साधनों द्वारा निर्मूल नहीं कर सकते ?

कृष्ण—अर्जुन ! अगर तुम एक आसुरी शक्ति को निर्मूल करने के लिये एक नई आसुरी शक्ति की रचना करते हो तो फिर एक की जगह दो आसुरी शक्तियां उत्पन्न हो जाती हैं और इनका निर्मूल करना और भी कठिन हो जाता है। इसलिये आसुरी शक्तियों

का आसुरी शक्तियों से मुक़ाबला करने का प्रयत्न इन्हें अनन्त जीवन प्रदान कर देने का सबसे अच्छा साधन है।

अर्जुन—फिर, हे कृष्ण! ये आसुरी शक्तियां कैसे निर्बल हो सकती है?

कृष्ण—अपनी आसुरी वृत्तियों को दैवी वृत्तियों में परिवर्तित कर देने से। अपने आत्म बल को बढ़ाने और उसका उपयोग करने से। हे अर्जुन! इसके सिवाय मानव समाज के इन भीतर और बाहर के संग्रामों का, इसके इस घातक राजरोग का संसार में कोई दूसरा इलाज नहीं है।

अर्जुन—हे जनार्दन! क्या इन विरोधी वृत्तियों में कोई सामजस्य, कोई समन्वय नहीं हो सकता?

कृष्ण—हे अर्जुन! दो चीज़ों में से जब एक के विनाश में दूसरे का जीवन और एक के जीवन में दूसरे का विनाश हो तो इसमें कोई समन्वय कैसे हो सकता है? समाज शास्त्र के अनेक पण्डित इस तरह के सामजस्य और समन्वय के ढङ्ग अकसर बताते रहते हैं। किन्तु इस तरह के प्रयत्नों का असली नतीजा आसुरी वृत्तियों को बढ़ाने और दैवी वृत्तियों को कम करने के सिवाय और कुछ नहीं होता।

अर्जुन—यह आप क्यों कहते हैं? भारत की सभ्यता ने तो इस प्रकार का समन्वय उत्पन्न कर दिया था।

कृष्ण—अर्जुन! तुम्हारा यह भ्रम है। भारत और सब देशों में इस तरह के महान कार्य जैसे राज शासन, समाज में सुख शान्ति क़ायम रखना, धन और न्याय की रक्षा, दुर्बलों और पीड़ितों की सहायता, ये सब समाज की राजस वृत्तियों वाली श्रेणियों के हाथों में दे दिये गये थे। मानव समाज का यह ही सब में बड़ा दोष था। भारत की सभ्यता ने इस दोष को यथा शक्ति मिटाने का प्रयत्न किया। किन्तु भारतीय सभ्यता भी इन महान कार्यों को केवल सात्विक मनुष्यों को सौंपने का साहस न कर सकी। किन्तु अर्जुन, ये महान कार्य भी सात्विक वृत्तियों द्वारा ही ठीक ठीक किये जा सकते हैं। इस सत्य को तुम्हें समझाने और तुम्हें उस पर चलाने की कोशिश करना गीता के नये विधान का पहिला क़दम था। इसका वास्तविक उद्देश्य यह था कि समाज का राज शासन उन श्रेणियों के हाथों में जावे जो अपने गुण, कर्म और स्वभाव से सात्विक हों। अर्जुन, तुम्हारी मनोवृत्तियों में सात्विकता का बड़ा अंश था। किन्तु तुम अपने पुराने संस्कारों, जातिधर्मों और कुलधर्मों के प्रपंच में ऐसे फसे हुए थे कि इनसे ऊपर न उठ सके। इस प्रकार के परिवर्तन समाज और व्यक्ति दोनों में धीरे धीरे ही हो सकते हैं। विलम्ब कितना भी हो, जो विधान मानव जीवन के लिये आवश्यक और महान अमृत है वह कभी न कभी समाज में प्रधानता पाए बिना नहीं रह सकता।

अर्जुन—हे कृष्ण! मैं पूछना चाहता हूं कि आपने कुरुक्षेत्र की रंगभूमि को इस नये विधान का बुनियाद डालने के लिये किसलिये चुना था?

कृष्ण—अर्जुन, मैं जानता था कि महाभारत वह भूकम्प है जो भारत की संस्कृति को ढहा देगा। इस भूकम्प का असर समस्त संसार पर पड़ना अनिवार्य था, क्योंकि भारतवर्ष संसार के आत्मिक और नैतिक विकास का सदा से जीवनश्रोत रहा है। इस प्रकार के भूकम्प धर्म की रक्षा करने वाली शक्तियों और संस्थाओं को बरबाद कर देते हैं, और इनसे रजस और तमस जीवन के हर क्षेत्र में प्रधान हो जाते हैं। राजस और तामस वृत्तियों के प्रधान हो जाने से बाहुबल और कूटबुद्धि का आतंक चारों ओर छा जाता है यह आतंक समाज की नैतिक और आत्मिक बुनियादों को और भी खोखला कर देता है। समाज की आत्मिक और नैतिक बुनियादों का कमज़ोर हो जाना व्यक्तियों और समाज दोनों की सुख शान्ति का अन्त कर देता है। हे अर्जुन! स्थिति उस समय तक बराबर बढ़ती रहती है जब तक कोई आत्मिक और नैतिक भूकम्प फिर से इस बढ़ते हुए आसुरी तूफान का मुक़ाबला नहीं करता। ऐसे अवसरों पर मैं स्वयं आकर वह धार्मिक भूकम्प उत्पन्न कर देता हूं जो समाज को विनाश से बचा कर उन्नति

के मार्ग पर डाल देते हैं। महाभारत, अर्जुन, एक ऐसा ही अवसर था आज फिर संसार पर राजस और तामस वृत्तियों का आतंक चारों ओर छा गया है। यदि यह आतंक नहीं मिटता तो मानव जाति का विनाश अवश्यम्भावी है। इसको इस संकट से बचाने का एक मात्र साधन युद्ध की काया पलट कर पापयुद्ध को धर्मयुद्ध और कुरुक्षेत्र को धर्मक्षेत्र में पलट देना था। यही इस नए विधान का वास्तविक उद्देश्य था और इसीलिये मैंने वह शिक्षा तुम्हें कुरुक्षेत्र के मैदान में दी थी। इसीलिये आज भी मैं वर्तमान युद्ध को धर्म युद्ध में बदल देने की सलाह मैं तुम्हें दे रहा हूं।

[५]

अर्जुन—हे जनार्दन! मैं समझ गया। युद्ध की सेना और संस्था राजस वृत्तियों को समाज पर प्रभुत्व देने का साधन हैं। इस लिये आप इन संस्थाओं को सात्विक सांचों में ढाल देना चाहते हैं। मैं यह तो साथ समझ गया कि राज शासन को आप एक नैतिक और सात्विक क्षेत्र बना देना चाहते हैं। अब मुझे बताइये कि इस नये विधान के सैनिक किस प्रकार के होंगे और उन सैनिकों की विशेषताएँ क्या होंगी?

कृष्ण—अर्जुन! मैंने तुम्हें अपने प्यारे भक्त की कुछ विशेषताएँ बताई थीं। वे तुम्हें याद हैं या नहीं?

अर्जुन—मुझे याद हैं। आपने कहा था—

"जिसे किसी भी प्राणी के साथ द्वेष न हो, जो सबके साथ मित्रभाव रखता हो, जो सब पर दया करता हो, जिसमें ममता और अहंकार न हो, जो सुख और दुख में एक समान रहता हो, जो सब को क्षमा कर देता हो जो सदा सन्तुष्ट रहता हो, जो अपने फर्ज के पूरा करने में लगा रहता हो जिसे अपनी आत्मा पर काबू हो जिसका निश्चय पक्का हो और जिसने अपना मन और अपनी बुद्धि मेरे अर्पण कर रखी हो, वही मेरा भक्त मुझे प्यारा है। (१२-१३-१४)

"जिससे न किसी दूसरे को तकलीफ़ पहुँचती हो और जो न दूसरों से किसी तरह की तकलीफ अनुभव करता हो, जो हर्ष, क्रोध और भय इनके उद्वेग से मुक्त हो वही मुझे प्यारा है। (१२-१५)

"जो तमाम पाक साफ और होशियार है, जो फल की ओर से उदासीन है, जिसे कोई पीड़ा नहीं हो सकती, जिसने हर तरह की कामनाओं को त्याग दिया है, वह मेरा भक्त मुझे प्यारा है। (१२-१६)।

"जो खुशी से फूलता है और न किसी से द्वेष करता है न रंज करता है और न इच्छा करता है, शुभ और अशुभ फलों की ओर से बेपरवाह है वही भक्त प्यारा है। (१२-१७)

"जो शत्रु और मित्र दोनों को एक भाव से देखता है, जो मान, अपमान में एक समान रहता है, जो सरदी गरमी, सुख दुख सब में एक समान है, जिसे किसी से मोह नहीं, जिसके लिये निन्दा और स्तुति एक बराबर हैं, जो मौन धारण करता है, जो जो कुछ उसे मिल जाता है उसी में सन्तुष्ट रहता है, जो किसी घर को अपना घर नहीं समझता जिसकी बुद्धि स्थिर है जिसके हृदय में भक्ति है, वह मनुष्य मुझे प्यारा है। (१२-१८-१९)

"जो लोग इस अमृत समान धर्म को जैसा कहा गया उसी तरह पालन करते हैं, जिनमें श्रद्धा है, जो मेरी तरफ लौ लगाए हैं वे भक्त मुझे सब से अधिक प्यारे हैं" (१२-२०)

कृष्ण—अर्जुन! अब तुम संसार के सैनिकों और शूरवीरों को देखो और गीता के इस आदर्श सैनिक, स्थितप्रज्ञ कर्मयोगी को देखो। इनमें दोनों में आकाश पाताल का अन्तर है या नहीं?

अर्जुन—हे कृष्ण! यह तो आपने अपने भक्त का चित्र खींचा है। इसमें सैनिक जीवन का कौनसा अंश है?

कृष्ण—अर्जुन, यदि इस चित्र का सैनिक जीवन से कोई सम्बन्ध न होता तो मैंने कुरुक्षेत्र की भूमि में संसार के सबसे बड़े योद्धा के सामने यह आदर्श क्यों रखा होता? हे अर्जुन! यही गीता का

सब से बड़ा रहस्य है जिसे संसार ने आज तक नहीं अपनाया।

अर्जुन—क्यों जनार्दन ! नया सैनिक बनने के लिये मनुष्य को क्या करना चाहिये ?

कृष्ण—अर्जुन, वही जो स्थितप्रज्ञ बनने के लिये करना होता है। मैं तुम्हें बार बार बता चुका हूं। इसे फिर सुन लो—

"हे कुन्ती के पुत्र, समझदार आदमी के प्रयत्न करने पर भी उसकी प्रबल इन्द्रियां जबरदस्ती उसके मन को हर ले जाती हैं (२-६०)

"उन सब इन्द्रियों को रोक कर, मुझ पर भरोसा करके अपने कर्त्तव्य में लगना चाहिये। क्योंकि जिसकी इन्द्रियां उसके वश में हैं उसी की बुद्धि प्रतिष्ठित है (२-६१)

"मनुष्य विषयों का ख्याल करता है, इस ख्याल करने से विषयों की ओर उसमें मोह पैदा होता है, मोह से इच्छा पैदा होती है, इच्छा से क्रोध पैदा होता है, क्रोध से सम्मोह पैदा होता है, सम्मोह से याददाश्त मिट जाती है, इस तरह जब उसकी स्मृति मिट जाती है तो उसकी बुद्धि का नाश हो जाता है और बुद्धि के नाश से मनुष्य स्वयम नाश को प्राप्त होता है (२-६२,६३)

"किन्तु जिसकी आत्मा उसके वश में है और जिसकी इन्द्रियां उसके क़ाबू में और राग और द्वेष से खाली हैं, वह इस तरह की इन्द्रियों से इन्द्रिय विषयों में रहता हुआ भी शान्ति को प्राप्त करता है (२-६४)

अर्जुन—हे जनार्दन ! जब राग द्वेष आदि ये आसुरी वृत्तियां हमारी प्रकृति में हैं तो इन्हें निर्मूल करना कैसे सम्भव है ?

कृष्ण—अर्जुन, इन्हें निर्मूल कर डालने की इच्छा और भावना भी तो हमारे स्वभाव और प्रकृति में है। जब ये दोनों ही वृत्तियां प्राकृतिक हैं तो मानव जीवन के विकास के नियमों के अनुसार उनमें से उन वृत्तियों का बढ़ना स्वाभाविक और आसान है जो मानव समाज के जीवित रहने और उन्नति करने के लिए अनिवार्य हों, हर प्राणी की वे वृत्तियां जो उसके जीने में सहायक नहीं होतीं बराबर घटती रहती हैं। अगर ये बढ़ती हैं तो यह समझ लेना चाहिये कि उस का विनाश क़रीब है।

अर्जुन—हे कृष्ण ! यह तो मैं समझ गया कि इस तरह की वृत्तियों को क़ाबू में किया जा सकता है और कर लेना चाहिये, किन्तु इन्हें क़ाबू में कर लेने के बाद हमारे युद्ध का क्या स्वरूप होगा ? अगर कोई सैनिक निःस्वार्थ प्रेम से प्रेरित होकर वर्तमान हिंसात्मक साधनों के द्वारा युद्ध करे तब तो कोई आपत्ति नहीं है ?

कृष्ण—सैद्धान्तिक आपत्ति हो या न हो, किन्तु इसमें व्यावहारिक असंगतता ज़रूर है। और इतनी गम्भीर है कि जिससे सारा नक़शा बदल जाता है। क्रोध, घृणा और द्वेष मिटा देने के बाद और "वसुधैव कुटुम्बकम्" सारी दुनिया एक छोटा सा कुटुम्ब है, को साक्षात कर लेने के बाद हम युद्ध के हिंसात्मक साधनों का उपयोग करने के स्वभावतः नाक़ाबिल हो जाते हैं। कोई माता अपने बच्चे के सुधार के लिए इस प्रकार के साधन नहीं बरत सकती। हे अर्जुन ! मानसिक हिंसा का स्वरूप वही है जो माता के प्रेम का।

अर्जुन—हे जनार्दन ! क्या हिंसा हमारे जीवन से निर्मूल की जा सकती है ?

कृष्ण—नहीं अर्जुन, हिंसा निर्मूल नहीं की जा सकती। हमारा सारा जीवन हिंसा पर क़ायम है। अपनी हर सांस के साथ हम लाखों जीवनों का खून करते रहते हैं। चलने फिरने, खाने, पीने और सब पेशों में चाहे वह किसानी हो या दस्तकारी, हमें तरह तरह से हिंसा करनी पड़ती है। यह हिंसा प्राकृतिक और अनिवार्य है। इसलिये कोई मनुष्य हिंसा को निर्मूल नहीं कर सकता। किन्तु दरख़्तों और जानवरों के साथ जो हम हिंसा करते हैं उसमें से भी बहुत कुछ अनावश्यक और कठोर अंश निकाला जा सकता है। और जहां तक मानव क्षेत्र का सम्बन्ध है उसमें से भी राजस और तामस वृत्तियों वाली हिंसा निर्मूल

हो सकती है। केवल सात्विक हिंसा बाकी रह जावेगी जिसका वास्तविक और मौलिक रूप निःस्वार्थ प्रेम है। जो डाक्टर किसी रोगी का कोई अंग काटता है उसका यह कार्य प्रेम और सेवा का कार्य है।

अर्जुन—अब मैं गीता का नया विधान समझ गया। नए सैनिक की विशेषताएं क्या हैं यह भी आपने मुझे बता दिया और नये सैनिक बनने का रास्ता भी मुझे मालूम हो गया। अब मैं आप से यह और पूछना चाहता हूं कि इस नये युद्ध में वीरता का क्या स्थान है और उसका क्या स्वरूप है?

कृष्ण—हे अर्जुन! वीरता भी बुद्धि, कर्म, तप, दान, धैर्य की तरह तीन तरह की होती है सात्विकी, राजसी और तामसी। इनमें राजसी और तामसी वीरता से नए युद्ध का कोई सम्बन्ध नहीं। इसका सम्बन्ध केवल सात्विकी वीरता से है।

अर्जुन—सात्विक वीरता का क्या स्वरूप है?

कृष्ण—जो मनुष्य निष्काम है, जिसकी इन्द्रियां उसके वश में हैं और जिसकी बुद्धि स्थिर है, ऐसा मनुष्य जब अपनी अन्तरात्मा की आज्ञा पर शुद्ध निःस्वार्थ भाव से, सबका भला चाहते हुए, दूसरे के हित या न्याय की रक्षा के लिये अपने तन मन और धन अर्थात् अपने सर्वस्व को खतरे में डाल देता है, तो उसके इस कार्य को सात्विक वीरता कहते हैं। हे अर्जुन! द्रोणाचार्य और भीष्म पितामह दुनिया के सब से बड़े वीरों में थे किन्तु महाभारत में उनका भाग लेना सात्विक वीरता नहीं थी। वह राजसी वीरता थी।

अर्जुन—इनके स्वार्थ ने इन्हें अन्धा कर दिया था।

कृष्ण—वह वीर जो अपने स्वार्थ के लिये अपनी वीरता को बेच सकता है मानव समाज के लिये साधारण मनुष्य से ज्यादा ख़तरनाक है। इस दृष्टि से तुम वर्तमान सैनिक और सेनाओं को देखो तो तुम पर आजकल की आपत्ति का सारा रहस्य खुल जायगा। जब वीरता धर्म से अलग हो जाती है तो वह एक विनाशक शक्ति का रूप धारण कर लेती है। आजकल की सारी सेनाएं केवल अधर्म की बुनियादों पर खड़ी की जाती हैं। इसलिये वे एक ज्वालामुखी पहाड़ की तरह समस्त मानव समाज को भस्म किये डालती हैं।

अर्जुन—यह तो मैं मानता हूं इन सेनाओं और सैनिकों में तो राजसी वीरता भी नहीं दिखाई देती। ये तो केवल संहार के महायंत्र बन गये हैं।

कृष्ण—अर्जुन, यह अनिवार्य था। क़साई का पेशा आदमी के दिल को सख्त बना देता है। सैनिकों को मनुष्यों की हत्या करने का, शहर के शहर जला डालने का और धन धान्य को बरबाद कर देने का पाठ पढ़ाया जाता है। यही इनकी मौलिक शिक्षा है। इनके आचार, विचार, भाव सब इसी सांचे में ढाले जाते हैं। फिर अगर ये संसार के लिये एक बड़ी आपत्ति सिद्ध न हों तो और होही क्या सकते हैं?

अर्जुन—हे जनार्दन! ज्यों ज्यों मैं वर्तमान युद्ध को देखता हूं, इसके सैनिकों की मुझे अजब दशा दिखाई देती है! ज़रा देखिये तो दस दस और बीस बीस लाख सैनिक एक बारगी गिरिफ़ार हो रहे हैं। इतनी तो भेड़ें भी आसानी से पकड़ी नहीं जा सकतीं। इनकी वीरता और इनका स्वाभिमान देखिये! गुलामों की तरह यह अपने विजेता की चाकरी कर रहे हैं! ज्यों ज्यों मैं इनके जीवन पर नजर डालता हूं मुझे इसमें पाशविकता और पतन के सिवाय और कुछ दिखाई नहीं देता! हे कृष्ण! इस तरह का सैनिक बनने की कामना मेरे दिल में नहीं है और वर्त्तमान युद्ध में और किसी तरह का सैनिक बनने का स्थान मुझे दिखाई नहीं देता।

कृष्ण—हे अर्जुन, सात्विकों की वीरता ही संसार का सब से बड़ा जौहर है। इसलिये सात्विक वीरता को ही तुम अपना एक मात्र आदर्श बना लो, इसमें ही तुम्हारा और संसार दोनों का कल्याण है।

अर्जुन—परन्तु हे जनार्दन! शत्रु के सामने सर झुकाना और उसकी ठोकरें खाना इसमें भी तो मुझे कोई वीरता दिखाई नहीं देती।

कृष्ण—अर्जुन तुम यह बताओ कि वीरता का सार अपने तन मन धन को खतरे में डालने में है या दूसरों के तन मन धन को नुकसान पहुंचाने में ?

अर्जुन—अपने तन मन धन को खतरे में डालने में।

कृष्ण—अर्जुन, असली वीरता अपने आत्माभिमान को कायम रखने में है या दूसरों के आत्माभिमान को मिटाने में ?

अर्जुन—अपने आत्माभिमान को कायम रखने में।

कृष्ण—हे अर्जुन, बाहुबल और बुद्धिबल हमारे आत्माभिमान की रक्षा नहीं कर सकते। आत्माभिमान की रक्षा केवल आत्मबल ही कर सकता है। जिस बल ने तुम जैसे वीर को पतन से बचा लिया उसमें तुम्हें वीररस क्या नहीं दिखाई देता ?

अर्जुन मैं समझ गया। आत्माभिमान की रक्षा के लिये आत्मबल जरूरी है। इस महायुद्ध में अनेक जातियों और देशों की स्थिति, इन असंख्य सैनिक कैदियों की यह दशा मुझे इस बात का और भी विश्वास करा देती है कि बिना आत्मबल के हम अपने आत्माभिमान को सुरक्षित नहीं रख सकते। परन्तु हे जनार्दन, इससे इतना तो अवश्य सिद्ध हो जाता है कि आत्मबल संसार का सब से प्रबल कवच है। पर इससे यह सिद्ध नहीं होता कि इसके शस्त्र की तरह इस्तेमाल किये जाने की भी सम्भावना है। इससे हम अपने आत्माभिमान को तो अवश्य बचा सकते हैं, लेकिन सवाल यह है कि इसके द्वारा आततायियों के अन्याय और अत्याचार से अपने तन मन धन की या निस्सहाय जनता की रक्षा हम कर सकते हैं या नहीं और हे जनार्दन, बिना आततायियों को काबू में किये मानव समाज पर से उनका आतंक हटाना और सात्विकता को प्रधानता देना कैसे सम्भव हो सकता है ?

कृष्ण—अर्जुन, यही संसार की प्रधान समस्या और मूल कठिनाई है। कारण यह है कि राजस दृष्टिकोण और मनोवृत्ति द्वारा सात्विक सिद्धान्तों की मौलिकता को समझने में बड़ी कठिनाई होती है। अर्जुन, यदि हम सात्विक दृष्टिकोण से देखें तो यह प्रश्न ही नहीं उठता और राजस दृष्टिकोण से इसका कोई सन्तोषजनक उत्तर मिलना असम्भव है।

अर्जुन—यह क्यों ?

कृष्ण—जब नए सैनिक को न किसी को नुकसान पहुंचाना है, और न किसी का संहार करना है तो उसे शस्त्रों की क्या जरूरत है ? शस्त्र तो दूसरों पर हमला करने के ही साधन हैं। इनके पीछे तो घृणा, क्रोध, मोह, और क्रूरता की विनाशक शक्तियों का होना लाजिमी है, नहीं तो ये चल नहीं सकते। और घृणा क्रोध, मोह और क्रूरता को मिटाना ही नए सैनिक की विशेषता है। अर्जुन, वह क्या चीज है जो मनुष्य को जबरदस्ती उसकी इच्छा के खिलाफ पाप की तरफ ले जाती है ?

अर्जुन—आपने काम और क्रोध को इसका कारण बताया था—

"ये काम और क्रोध ही हैं जो रजोगुण से पैदा होते हैं, जो सबको खा जाने वाले महापापी और इस दुनिया में मनुष्य के दुश्मन हैं।" (३-३७)

"इसलिये हे भरतर्षभ, तुम पहिले अपनी इन्द्रियों को काबू में करके ज्ञान विज्ञान का नाश करने वाले इन पापियों का विध्वंस करो।" (३-४१)

कृष्ण—अब तुम खुद बताओ कि काम और क्रोध को नाश कर देने के बाद कोई दूसरे पर शस्त्र कैसे चला सकता है ? स्वभावतः यह असम्भव हो जावेगा।

अर्जुन परन्तु अन्याय और अत्याचार को रोकने के इसके पास कोई न कोई साधन होने चाहिये। बिना शस्त्र चलाये समाज रक्षा का काम कैसे हो सकता है ? आततायी अपने कुकर्मों से कैसे रोके जा सकते हैं !

कृष्ण—हे अर्जुन ! क्षमा, दया, सुशीलता प्रेम ये सब केवल कवच ही नहीं हैं, ये महाशस्त्र महाशक्तियां भी हैं, और इन्सानों को वश में करने के प्रबल और

अमोघ साधन हैं। हमारे हिंसात्मक शस्त्र आततायियों के क्रोध, घृणा, मोह और क्रूरता के श्रोतों को और भी बढ़ाते हैं। किन्तु ये सात्विक शस्त्र, हे अर्जुन, इनही श्रोतों को सुखा देते हैं। हे अर्जुन, यदि तुमने स्वयम् आततायी बनकर दूसरे आततायी को बाध भी लिया तो इससे क्या लाभ हुआ? इससे समाज की रक्षा की समस्या हल नहीं होती। इससे तो तुम केवल आततायियों की संख्या बढ़ाते हो, और मानव समाज की बरबादी के वे बीज बोते हो जिनसे वे सारी भीषण फसलें पैदा हुई हैं जिन्हें आज दुनिया काट रही है। आखिर सोचो, जो प्रयोग तुम बार बार कर चुके हो, उन्हें कबतक दुहराते रहोगे? अपनी इस घातक दवा से रोग को कहां तक बढ़ाओगे? हे अर्जुन! आज इसी दवा से सारे मानव समाज की सभ्यता खतरे में है और कल तुम्हारी इसी दवा से मानव समाज का जीवन खतरे में पड़ेगा और मानव जाति नष्ट हो जायगी। गीता के इन नए [illegible] के सिवा। इस संसार को निर्मल कर देने का और भी दूसरा उपाय नहीं हो सकता।

अर्जुन—किन्तु हे कृष्ण! आततायी रोके न गये तो भी तो मानव जाति का विनाश हो जायगा।

कृष्ण—अर्जुन! क्षमा, दया, सुशीलता और प्रेम सब अदम्य शक्तियां हैं। संसार ने अभी इनका ठीक ठीक प्रयोग नहीं किया, वास्तविक और मौलिक रूप में इन्हें समाज रक्षा का एक मात्र साधन नहीं बनाया। यदि ऐसा किया होता तो आततायी कभी के निर्मूल हो गये होते और मानव समाज की सबसे भयंकर समस्या कभी का हल हो गई होती।

अर्जुन—इसका मुझे कैसे विश्वास हो! हे कृष्ण दिल नहीं मानता। बुद्धि इसके खिलाफ़ आवाज़ उठाती है।

कृष्ण—स्थिरता के साथ इन शक्तियों का प्रयोग ही इनकी उपयोगिता को साबित कर सकता है, और इनमें हमारा विश्वास पैदा कर सकता है।

अर्जुन—हे कृष्ण! जब विश्वास ही नहीं तो स्थिरता के साथ प्रयोग कैसे किया जा सकता है?

कृष्ण—ऐसी अवस्था में अर्जुन तुम्हारे सामने दो ही रास्ते हैं। यदि तुम्हें विश्वास है कि तुम हिंसात्मक साधनों द्वारा संसार का और अपना वास्तविक उपकार कर सकते हो तो उठो, तलवार हाथ में लो, अपने दुश्मनों पर टूट पड़ो और उनका संहार कर डालो। मैंने पहिले भी तुम्हें यही सलाह दी थी। और आज भी यदि तुम अपनी राजस वृत्तियों और बुद्धि को प्रधान पाते हो और इसी मार्ग को उन्नति का मार्ग समझते हो तो इस रास्ते पर चलना तुम्हारा धर्म हो जाता है। अर्जुन! महाभारत के नतीजों को तुमने स्वयम् अपनी आत्मा में देखा है। अब फिर उठो, इस नई महाभारत में भाग लेकर इसके क्षेत्र को, इसकी भीषणता को और भी बढ़ा दो। क्रोध घृणा के इस महाकुण्ड में मानवजाति की आहुति चढ़ा दो। इसकी प्रचण्ड अग्नि को उस समय तक जलाते और भड़काते रहो जब तक यह तुम्हारा और समस्त मानव जाति का सर्वनाश न करदे। हे अर्जुन! हर एक व्यक्ति अपनी उन्नति और अवनति का आप मालिक है। हर व्यक्ति का फर्ज है कि वह अपने स्वभावज धर्म के अनुसार काम करे। मेरा काम तो सिर्फ रास्ता दिखाना और नेक और बद समझाना है।

अर्जुन—हे जनार्दन! मैं महाभारत के प्रयोग को दुहराना नहीं चाहता। वह प्रयोग भयंकर और विनाशक था।

कृष्ण—अर्जुन! सुन तो! मैं फिर दुहराता हूं

"मनुष्य को चाहिये कि अपने आप को उत्तरोत्तर ऊंचा उठाता रहे और अपनी आत्मा को नीचे न गिरने दे, इसलिये कि मनुष्य खुद ही अपना मददगार और खुद ही अपना दुशमन होता है।" (६-५)

अर्जुन—जनार्दन! मैं अपनी आत्मा को ऊंचा उठाना चाहता हूं। मैं पतन की ओर जाना नहीं चाहता।

कृष्ण—तो फिर, जिस पथ को तुम ऊपर उठाने वाला समझते हो उस पर चलो। मैंने तुम्हें बताया था और फिर सुन लो—

"मनुष्य का अपना स्वधर्म चाहे गुण रहित भी क्यों न हो दूसरे के धर्म की अपेक्षा चाहे वह गुणयुक्त भी क्यों न हो उसके लिये कल्याणकर है, जो आदमी अपने स्वभाव द्वारा नियत किये हुए कर्म को करता है वह पाप का भागी नहीं होता।" (१८-४७)

अर्जुन! याद रखो, दूसरे के बताए हुए धर्म को अपने विश्वास और अपनी मनोवृत्तियों के विरुद्ध ग्रहण कर लेना मनुष्य को ऊपर नहीं उठाता, नीचे गिराता है। हे अर्जुन, हर बुरा काम एक पाप है। किन्तु हर बुरे काम में अमृत का भी एक अंश होता है। वह अंश अनुभव है। हर बुरे काम का नतीजा दुःख, हानि और पीड़ा है। और इन दुःख हानि और पीड़ा से हमारी आंखें खुलने में मदद मिलती है। मानव बुद्धि के विकास का और कोई रास्ता नहीं है। इसलिये अर्जुन, तुम [illegible] हो। मैंने तुम्हें एक बार सच्ची आत्मिक उन्नति का सर्वोत्तम पथ दिखलाया [illegible] और अब [illegible] उस पर चलो या न चलो।

अर्जुन—मैं अपने आप को ऊपर उठाना चाहता हूं। हे कृष्ण, मेरा विश्वास कीजिये मैं सर्वोत्तम पथ पर ही चलना चाहता हूं।

कृष्ण—अपनी मनोवृत्तियों के पीछे चलते हुए तुम्हें फिर यह भ्रम न रहे कि तुम सर्वोत्तम पथ पर चल रहे हो, इसलिये हे अर्जुन, मैं गीता के सर्वोत्तम पथ को विस्तार के साथ फिर तुम्हें बताता हूं। सुनो। वह पथ यह है—

"मनुष्य को चाहिये कि खुद अपने से अपनी आत्मा को ऊंचा उठावे और अपनी आत्मा को नीचे गिरने न दे। क्योंकि मनुष्य खुद ही अपना मददगार और खुद ही अपना दुश्मन है (६-५)

"उस मनुष्य की आत्मा उसकी मददगार है जिसने खुद अपनी आत्मा को जीत लिया है और जिसकी खुदी उस पर हावी है वह खुद अपना दुश्मन है। (६-६)

"जिसने अपनी खुदी को जीत लिया है, जो शान्त है, जो सरदी गरमी, सुख दुख, मान अपमान में यकसा रहता है उसकी आत्मा ही परमात्मा है। (६-७)

"ज्ञान और विज्ञान से जिसकी आत्मा संतुष्ट है, जो अपने अन्दर कायम है, जिसने अपनी इन्द्रियों को जीत लिया है, जिसके लिये मिट्टी, पत्थर और सोना सब एक समान हैं, वही योगी 'युक्त' कहलाता है (६-८)

"अपना भला चाहने वालों, अपने दोस्तों, अपने दुश्मनों, परायों, निष्पक्ष लोगों, बुरे लोगों अपने रिश्तेदारों, साधुओं और पापियों इन सबको जो एक निगाह से देखता है, ऊंचा उठता है (६-९)"

अर्जुन! अब तुमने सुन लिया। अब समझ लो, यह अहिंसा का मार्ग [illegible] मार्ग नहीं है। यह सत्य और प्रेम का रास्ता है। घृणा, काम, क्रोध, और [illegible] का रास्ता नहीं है। [illegible] अगर तुम इसे [illegible] और भीरुता का रास्ता समझकर [illegible] रास्ते पर चलो। याद रखो, यदि इन भावनाओं के साथ तुम मेरे पथ पर चलोगे तो तुम भी उन्नति नहीं कर सकोगे। बल्कि इसमें तुम्हारा पतन ही होगा। अर्जुन जब हमारी बुद्धि स्थिर नहीं होती और हम अपने वास्तविक भले बुरे का ज्ञान नहीं होता तो उस अवस्था में जीवन के कठोर अनुभव ही हमें ठीक मार्ग पर लाते हैं। यही कारण है कि युद्ध मानसिक, नैतिक और आत्मिक उन्नति का विनाशक होते हुए भी मानव समाज के लिये अनिवार्य हो रहा है। अर्जुन, अब मैं तुम्हें समझा चुका। तुम स्वतन्त्र हो। इनमें से तुम जो रास्ता चाहो उस पर चल सकते हो।

अर्जुन—मैं कह चुका हूं। महाभारत का रास्ता मेरा देखा हुआ है। वह भयंकर है। वह विनाशक है। मैं उस रास्ते का फिर ग्रहण नहीं कर सकता। हे जनार्दन! मैं ऊपर उठना चाहता हूं। मैं अब इस रास्ते का ग्रहण करना चाहता हूं जिसे आप सर्वोत्तम बता रहे हैं। हे जनार्दन! मैंने यह निश्चय कर लिया है कि मैं गीता के इस नए विधान में भाग लूं। मैं आपका सैनिक बनूं। परन्तु हे जनार्दन! मैं इस मार्ग

से सर्वथा अपरिचित हूं। यूं तो गीता के सब श्लोक मुझे कण्ठ हैं। किन्तु मैं अब देखता हूं कि गीता केवल एक अलौकिक और मधुर गान ही नहीं है। वह केवल मात्र दर्शनशास्त्र नहीं है। वह एक दुर्गम और विकट कर्मशास्त्र है। अब मैं इसके सिद्धान्तों को अपने जीवन में साक्षात करने का प्रयत्न करूंगा। मालूम नहीं कि इस कठिन मार्ग की घाटियों को मैं कहां तक पार कर पाऊंगा। किन्तु हे जनार्दन! मैं आपही को साक्षी बना कर प्रतिज्ञा करता हूं कि मैं सच्चे हृदय और नेकनीयती के साथ इस सर्वोत्तम पथ पर चलूंगा। अब सफलता और निष्फलता का भय भी मुझे नहीं रहा, मैं इन दोनों को आपके समर्पित करता हूं।

कृष्ण - अर्जुन, तू मेरा प्यारा है, तू वीर है, तू सात्विकी वृत्तियों वाला है। अर्जुन, उठ। मै तुझे आशीर्वाद देता हूं। देख! अपने नेक और पाक इरादे पर अटल रहना। अपने कर्मों के फलों को मुझ पर छोड़ दे। निष्काम होजा, इस महान यज्ञ में अपनी आहुति दे। जा अब तू अपने उद्देश्य में सफल होगा! तुझसे यह वादा करता हूं।

अर्जुन—मेरे कृष्ण, मेरे गुरु! मेरे कर्त्ता! जब तुम वादा करते हो तो फिर मुझे और क्या चाहिये?

कृष्ण—अर्जुन, निस्स्वार्थता के साथ, निर्भीकता के साथ, त्याग के साथ, प्रार्थना और तपस्या के साथ तू इस मार्ग पर चल। मैं तेरे साथ हूं। आसुरी शक्तियों के भय को दिल से निकाल दे। इनकी बुनियादें खोखली हो चुकी हैं। मैं पग पग पर तेरी मदद करूगा। किन्तु हे अर्जुन, इस रास्ते में दो बड़ी घाटियां हैं। पहिली घाटी वह है जो मेरे भक्तों ने ही कर्म और धर्म के बीच में पैदा कर दी है। इसे पार करना बड़ा कठिन होगया है। अर्जुन, ज़रा नीचे देखो। वह देखो। वह योगी अपना दाहिना हाथ सुखाये दे रहा है। उस दूसरे को देखो, कीलों पर बैठा है। वह तीसरा आग पर झूल रहा है। ये इनके तप हैं। ये इनके आत्मदर्शन के साधन हैं। अर्जुन, और देखो। इन असंख्य गुफ़ाओं, कन्दराओं, टीलों, गड्ढों, झोपड़ियों, अंधकोठरियों को देखो जो इन जंगलों, पहाड़ों और जज़ीरों मे फैली हुई हैं। इन सबमें मेरे ही भक्त हैं। किन्तु हे अर्जुन, वास्तव में ये सब कुरुक्षेत्र से भागे हुए सैनिक हैं।

अर्जुन—हे जनार्दन! यह आप क्या कहते हैं? क्या ये बुद्धि को स्थिर करने और आत्मदर्शन के उपाय नहीं हैं?

कृष्ण—नहीं अर्जुन, यह खूब समझ लो। जो लोग जंगलों और गुफाओं में जाते हैं उनकी बुद्धि कभी स्थिर नहीं होती। पानी से भाग कर तुम तैरना नहीं सीख सकते। अर्जुन, अपने साधारण जीवन को बनाए रखते हुए हंसते बोलते, खाते पीते, नेकी, त्याग, और सेवा के कार्य करते हुए, तुम इस मार्ग पर चलो। जीवन-संग्राम से भाग कर अपनी बुद्धि को स्थिर बनाने का प्रयत्न ग़लत और निस्सार है। जो ऐसा करते हैं वे नासमझ और बदनसीब हैं। अर्जुन, इस जीवन-संग्राम ही में मनुष्य को अपनी असली परीक्षा का अवसर मिलता है। उसका आत्म-बल बढ़ता है। उसे अपनी इंन्द्रियों पर वास्तविक काबू रहता है और वह नेक कामों और सची सेवा से अपनी आत्मा को शुद्ध कर अपने अन्दर आत्म-बल की वृद्धि कर सकता है। कर्मों का त्याग आत्मा के विकास के लिये वैसा ही है जैसा शरीर पर फालिज का गिरना। जो लोग मुझे इस मार्ग से ढूंढ़ने आते हैं उन्हें बहुत भटकना पड़ता है।

अर्जुन—नहीं जनार्दन! मैं उधर नहीं भटक सकता। मैं तो केवलमात्र एक सैनिक हूं। बिना हिंसा का आतंक इस संसार मे मिटाए मुझे अब चैन नहीं पड़ सकता।

कृष्ण—वह दूसरी घाटी, अर्जुन, जिसका मैंने ज़िक्र किया इससे भी अधिक ख़तरनाक है। वह अश्रद्धा और अहंकार की घाटी है। हमारी असंयमित और अनस्थिर बुद्धि क़दम क़दम पर इस मार्ग के चलने वालों की राह मे रुकावटें डालती है और उसे उन्हें अपने ध्येय की ओर बढ़ने नहीं देती। वे

अर्जुन ! यही आत्म विकास के मार्ग की सब से बड़ी कठिनाई है ।

अर्जुन—हे मेरे कृष्ण ! इस बुद्धि का मैं क्या करूं ? यह तो मुझे सदा अनस्थिर रखती है ।

कृष्ण—तुम मुझे अपना प्रिय, अपना गुरु और अपना कर्त्ता कहते हो। तुम जानते हो, मेरे भक्त मुझ पर तरह तरह की नजरें चढाया करते हैं। कोई फूल, कोई फल कोई जल और कोई अपना अंग काट कर मुझे भेंट कर देता है। हे अर्जुन, मैं तुम से एक भेंट मांगता हूं। क्या तुम मुझे यह भेंट दोगे ?

अर्जुन—मुझे न शरमाइये। वह कौनसी चीज़ ऐसी है जिसे आप मांगें और मैं देने से इन्कार कर सकूं ?

कृष्ण—तो फिर अर्जुन, तुम अपनी बुद्धि मुझे समर्पित कर दो।

अर्जुन—बुद्धि ! हे जनार्दन ! बुद्धि ! किन्तु नहीं, मैं यह क्या सोच रहा हूं। हे जगत गुरु, जब मैंने आपको अपना गुरु मान लिया तो फिर सोचने का कोई स्थान ही नहीं रहा, मेरे गुरु ! मैं अपनी बुद्धि आपके समर्पण करता हूं।

कृष्ण—जा अर्जुन ! तेरा कल्याण होगा ! तेरे बहकने का भयंकर दरवाज़ा बन्द हो गया ! अर्जुन जा ! जो सिद्धान्त मैंने गीता में बताए हैं उन्हीं की बुनियादों पर अपने सांसारिक और आत्मिक जीवन को क़ायम कर। वे नियम तेरी बुद्धि को विशाल और दिव्य बनायेंगे। तेरी सारी कठिनाई दूर हो जावेगी। अर्जुन घबराना नहीं। जो कुरुक्षेत्र में तेरा सारथी था वही इस धर्मक्षेत्र में भी तेरा सारथी रहेगा।

अर्जुन—हे कृष्ण ! एक बात मैं भूल ही गया। मैं नया सैनिक तो बन गया किन्तु इस नये युद्ध के नियम अभी मुझे कुछ भी मालूम नहीं हैं। मेरे पास न इसके शस्त्र हैं न उन्हें चलाने का अभ्यास है। अब मैं क्या करूं ?

कृष्ण—अर्जुन, इस अहिंसात्मक युद्ध के तरीके बुद्धि के स्थिर होने और इन्द्रियों के वश में आजाने के बाद मौके के अनुसार सैनिक ... आप खुलते जाते हैं। वह देख इस तरह का युद्ध भारत में आरम्भ हो गया है। इस युद्ध का महारथी मैदान में खड़ा है। अर्जुन आखें खोल। इस नये युद्ध की विशेषता को देख। इस भीषण अन्धकार में इस विकराल हिंसात्मक भूकम्प में यह सत्याग्रही अकेला खड़ा है। इसके सैनिकों को देख। मेरे भक्तों की तरह इन सैनिकों का भी विचित्र हाल है ! किन्तु इनका इस पर कोई असर नहीं ! अर्जुन इस आत्मबल की शक्ति को देख ! इस अकेले हड्डियों के पिंजर ने संसार की सब से बड़ी हिंसात्मक शक्ति की बुनियादों को हिला दिया है। अर्जुन तू भी जा ! संसार के इसी अहिंसात्मक युद्ध में तुझे भी भाग लेना होगा। मैं मानव जीवन के समुद्र को मथ रहा हूं। देख ! इसमें से हलाहल और अमृत दोनों ऊपर आ रहे हैं। यह भयंकर हिंसात्मक जग के साधन, ये पैशाचिक हिंसात्मक आत्माएं मेरे इस मथन के भंवरों में अपना ताण्डव नृत्य नाच रही हैं। मैं शिव की तरह इस सारे हलाहल को अपने कण्ठ में रख लूंगा। अर्जुन देख, ये सारी शक्तियां अपने ही हाथों से अपना संहार कर रही हैं। मैं इन्हें खा चुका। ये पहिले ही मर चुकीं। अर्जुन, हिंसा का यही अन्त है। यह स्वयम् अपने ही हाथों अपना नाश कर लेती है। इसलिये बढ़ ! तू कामयाब होगा। दूसरी ओर देख अहिंसा का सूर्य उदय हो रहा है। उन अनेक अमृत धाराओं को भी देख जो युद्ध विरोधी भावों और आन्दोलनों के रूप में चारों ओर से उमड़ रही हैं। अभी ये अदृश्य हैं। अहिंसा का घोर अंधकार इन्हें छिपाये है। परन्तु इन अमृत धाराओं ने हिंसा की बुनियादों को खोखला कर दिया है। अर्जुन, यह महल गिरने वाला है। देख ! यह नया आन्दोलन एक प्रेम का बादल बना हुआ संसार पर छा रहा है। इसमें से प्रेम और दया इस पीड़ित धरती पर बरसेगी इसकी अग्नि को शान्त करेगी, इसके सूखे हुए बागों को फिर से हरा भरा करेगी, पीड़ित मानव समाज की निगाहें इसकी ओर लगी हुई हैं। संसार के धर्मक्षेत्र अपनी प्राचीन निद्रा से जाग रहे हैं। इस शान्तिमय

आन्दोलन के महारथी का शंखनाद संसार में गूंज रहा है। यह संसार की शान्तिमय और अहिंसात्मक शक्तियों को केन्द्रित कर रहा है। अर्जुन, सुनले, इस शंख की आवाज़ ही गीता की दिव्य ध्वनि और उसका अलौकिक गान है। यह गान संसार को बिना हिलाये और पाशविकता को बिना मिटाए नहीं रह सकता। अर्जुन देख! मैं तुझे दिव्य दृष्टि देता हूं। मैंने कुरुक्षेत्र में अपना विराट रूप, अपना संहारक स्वरूप तुझे दिखाया था। आज तू यह मेरा शिवरूप मेरा सौम्यरूप, मेरा रचनात्मक स्वरूप देख। बढ़, अर्जुन बढ़। इस धर्म युद्ध में भाग ले! इसी में तेरा और संसार का कल्याण है।

पुर पर

श्री बालकृष्ण बलदुवा, बी० ए०, एल-एल० बी०

शहर में—हिन्दू हैं, मुसलमान हैं और हैं इनके नेता, जो इनमें मेल-जोल न बढ़ाकर झगड़ा बढाते हैं।

आज, इस गांव में, अपने सामने, पुर में बैल जुते हुए देखकर सोच रहा हूं—

यदि इन नेताओं को गांवों में नज़रबन्द कर दिया जाये और इनकी ज़बान पर लग जाये प्रकृति की दफा १४४, जिससे ये अपने विषैले विचार न फैला सकें, तो ये देख पायेंगे—अनुभव कर पायेंगे कि हिंदू मुसलमान के अलग अलग अधिकार नहीं। सब की एक सी ज़रूरतें हैं; एक से सुख-दुःख हैं।

इस पुर का पानी सभी खेतों में जा सकता है और उन्हें एक सा ही सींच भी सकता है। इसमें दुराव नहीं।

और पानी में ही क्या, प्रकृति और ईश्वर की किसी भी देन में दुराव नहीं—भेद-भाव नहीं। वह सबके लिये एकसा सुलभ है।

उसे दुर्लभ किया है, तो स्वयम् आदमी ने। आदमी ने आदमी का—भाई ने भाई का—आराम छीना और उस आराम को अपने जीवन और रक्त-मांस के लिये सदैव सुलभ रखने की मृग-तृष्णा में उसने दूसरों को उनसे दूर रखने की राक्षसी योजनाओं के आविष्कार किये।

कहीं उन्हें धर्म का रूप दिया गया—छुआछूत का, ऊंच नीच का, वर्ण-भेद का; कहीं उन्हें साम्राज्य का रूप दिया गया—शासक-शासित, गोरा-काला का रंग भेद का और कहीं उसे धन का रूप दिया गया—व्यापारी ज़मींदार किसान-मज़दूर के बीच गहरी खाई खोदकर।

आज सहस्रों वर्ष बाद सभ्यता विकास से चरमोत्कर्ष पर पहुँच सकी है और इस चरमोत्कर्ष में हुआ है यह कि आज सबसे कम मनुष्यों को अधिक से अधिक सुख उपलब्ध हैं—आलीशान महलों, मोटरों, हवाई जहाज़ों के रूप में और सबसे ज़्यादा मनुष्यों को सबसे अधिक यंत्रणायें सहनी पड़ रही हैं—बेकारी, भूख और नौकरी के रूप में।

मेरे भाई! तुम हिन्दू नहीं हो, मुसलमान नहीं हो; अंगरेज़ भी नहीं हो।

तुम जब तक ये बने हुए हो, तभी तक तो तुम्हारी आपदाओं का अन्त नहीं है।

तुम सबसे पहले आदमी बनो—आदमी। सबको अपने-सा ही प्राणी समझो और जो आराम अपने लिये चाहो, वह सबके लिये चाहो—सुलभ करो।

ऐसा करने पर देखोगे—न कोई हिन्दू है, न कोई मुसलमान; न कोई काला है, न कोई गोरा; न कोई शासक है, न कोई शासित; न कोई धनवान है, न कोई ग़रीब।

आज, इस गांव में, अपने सामने, पुर में बैल जुते हुए देखकर ये सब विचार उठ रहे हैं।

इस पुर का पानी सभी खेतों में जा सकता है और उन्हें एक सा ही सींच भी सकता है।

काश! वर्तमान मानवता के ये झगड़े बढ़ाने वाले नेता भी यहां—गांव में—आते और यह सब अनुभव करते।

पांच हज़ार वर्ष पूर्व ईरान की वैदिक सभ्यता

पण्डित सुन्दरलाल

पण्डित सुन्दरलाल जी का यह लेख उनके बृहत ग्रन्थ 'विश्व का सांस्कृतिक इतिहास' के ईरान के अध्याय का एक अंश है। पुस्तक अभी तक अप्रकाशित और अपूर्ण है। अब तक उसके लगभग ३००० पृष्ठ लिखे जा चुके हैं। इसी पुस्तक का एक अध्याय 'हजरत मुहम्मद और इसलाम' हम पण्डित जी की अनुमति से अलग पुस्तकाकार प्रकाशित कर रहे हैं जो लगभग १५ नवम्बर तक निकल जायगा। प्रस्तुत लेख में पण्डितजी ने प्राचीन ईरानी सभ्यता और वैदिक सभ्यता का साम्य दिखाया है। पुस्तक लिखने में पूरे १३ वर्ष लग चुके हैं और पूरी पुस्तक समाप्त होने में अभी ३-४ वर्ष और लगेंगे—सम्पादक

हज़रत ईसा से तीन हज़ार साल पहले वैदिक आर्यों की कई शाखें सिन्धु नदी से लेकर रूम सागर और एशिया कोचक तक फैली हुई थीं। वेदों के देवता असुर, मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्यों की पूजा सब जगह होती थी। खत्ती, मित्तन्नी जैसी आर्य जातियों के ईसा से कई हज़ार साल पहले एशिया कोचक और सुरिया में बड़े बड़े राज थे। कब, कहां से और कैसे आर्यों की यह शाखें एक दूसरे से अलग हुईं, यह ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता। पर इसमें शक नहीं धार्मिक विश्वास, आचार विचार और वेश भूषा को देखते हुए ये सब जातियां एक ही सोते से निकली थीं। इनमें ईरानी और हिन्दुस्तानी सब के बाद में एक दूसरे से अलहदा हुए और इसीलिए इन दोनों की सभ्यता में बहुत बड़ी समानता है। अवस्ता और वेद में जिन जिन देशों को बयान किया गया है, उसे देखते हुए यह साफ़ मालूम होता है कि एक दूसरे से अलग होने के समय में दोनों बख्तियार (Bactria) और सिन्धु नदी के बीच के हिस्से में रहते थे और दोनों एकही दादा की सन्तान हैं। वैसे तो यूरोप की क़रीब क़रीब सब जातियां उसी पुरानी आर्य जाति से अपना निकास मानती हैं, लेकिन भारतवासियों और ईरानियों में जितना ज़्यादह पास का सम्बन्ध है उतना इनमें और किसी यूरोपियन जाति में नहीं है। ईरानियों और हिन्दुस्तानियों के पूर्वज एक ही जगह रहते थे, एक भाषा बोलते थे, एक धर्म को मानते थे और अपने को आर्य जाति कहते थे। अलग अलग होने के पहले हज़ारों बरस तक साथ रहकर वे एक सुन्दर सभ्यता को गढ़ चुके थे।

सब से पहले आर्यों की एक शाख़, जो खत्ती कहलाती थी, पच्छिम की ओर बढ़कर एशिया कोचक (तुर्की) में जाकर बसी। उसके बाद एक दूसरी शाख़ जिसका नाम मित्तन्नी था सुरिया (सीरिया) और फ़िलस्तीन में जाकर बस गई। फिर आज से कम से कम पांच हज़ार साल पहले इसी आर्य जाति की

एक शाख दक्खिन की ओर चलकर पञ्जाब में आकर बसी और धीरे धीरे गुजरात, काठियावाड़ और विन्ध्या के उस पार तक फैलने लगी। अन्त में एक शाख यानी ईरानी शाख पच्छिम की ओर बढ़कर मादा (मीडिया) के पहाड़ों और पर्स के मैदानों में जाकर रहने लगी जो आजकल का ईरान है।

ईरानी

ईसा से एक हज़ार बरस पहले के ईरानी अपने के 'आर्य' कहते थे। उनके सबसे पुराने धर्मग्रन्थ 'अवस्ता' में और उसके बाद के ग्रन्थों में जगह जगह उस जाति का नाम 'आर्य' जाति ही लिखा है और कई जगह उनकी 'अनार्यों' से लड़ाई का ज़िक्र आता है। मशहूर ईरानी सम्राट दारा (५२१–४८५ ई० पू०) ने अपनी समाधि पर जो शिलालेख अंकित करवाया, उसमें अपने को "आर्य जाति का एक आर्य" लिखा है। ठीक इसी तरह के शब्द छटी सदी ईस्वी तक के कई सासानी सम्राटों के फरमानों शिलालेखों वग़ैरह में मिलते हैं। अपनी बोली को वे 'अर्यन' या 'अर्यन' बोली और अपने देश को 'आर्याना' या 'आइर्याना' यानी 'आर्यों के रहने की जगह' कहते थे। आजकल का 'ईरान' शब्द इसी आर्याना से बिगड़ कर बना है।

अवस्ता की भाषा और संस्कृत

ईरानियों के सब से पुराने ग्रन्थ अवस्ता की भाषा और संस्कृत दोनों में इतनी ज्यादह समानता है कि मशहूर फ्रान्सीसी विद्वान ऐङ्कतिल (Anquetil) ने जो संस्कृत बिलकुल न जानता था १८ वीं सदी ईस्वी में अवस्ता की भाषा का एक शब्दकोष तय्यार किया था, जिसे पढ़कर रायल ऐशियाटिक सोसायटी के विद्वान संस्थापक और पहले प्रेज़ीडेण्ट सर विलियम जोन्स ने कहा था,—

"जब मैंने इस शब्दकोष को पढ़ा तो मैं बयान नहीं कर सकता कि मैं इस बात को देखकर कितना हैरान रह गया कि हर दस शब्दों में से छै या सात शुद्ध संस्कृत हैं, यहां तक कि उनके कुछ रूप भी संस्कृत व्याकरण के ही क़ायदों से बनते हैं। जैसे 'युष्मद' शब्द का षष्ठी बहुवचन उनके यहां भी 'युष्माकम्' है।……इससे नतीजा निकलता है कि अवस्ता की भाषा कम से कम संस्कृत का रूप थी, जो शायद संस्कृत से उतनी ही मिलती जुलती थी, जितनी 'प्राकृत' या कोई और ऐसी भाषा जो दो हज़ार साल पहले भारत में बोली जाती थी।"[1]

कुछ समय बाद एक दूसरे विद्वान् फ़ादर बारथेलोमी ने अपनी खोजों से नतीजा निकाला कि "बहुत पुराने ज़माने में ईरान में संस्कृत ही बोली जाती थी और उसी से अवस्ता की भाषा पैदा हुई।"

उन्नीसवीं सदी के शुरू में जान लेडन ने अवस्ता की भाषा को "एक तरह की प्राकृत और सौरसेनी भाषा" बतलाया।[2]

तब से अब तक इस विषय की काफी खोज हो चुकी है। संसार के विद्वानों की अब पक्की राय है कि "अवस्ता और वेद दोनों एक ही आवाज़ की दो गूंज हैं, एक ही विचार का अक्स हैं। इसलिये अवस्ता के शब्दों के लिये सब से अच्छा कोष और उसे समझने के लिये सब से अच्छा भाष्य वेद है।"[3]

ऋग्वेद की भाषा और उसके विचार और अवस्ता की भाषा और उसके विचार दोनों पर एक सरसरी निगाह डालने से भी ऊपर की बात की सचाई क़दम क़दम पर साफ़ दिखाई देने लगती है। 'अवस्ता' शब्द अ+विद् धातु से बना है और उसका अर्थ वही है जो 'वेद' शब्द का है। अवस्ता की भाषा और वैदिक संस्कृत दोनों एक मां की बेटी और सगी बहनें हैं। जिस तरह आजकल की हिन्दुस्तान का

१ Asiatic Researches II, 3

२ Ibid, X

३ The Sacred Books of the E. t. Vol XIV— The Z nd A ·st · " by Games Darmestter, Part I

ज़बानें संस्कृत की पोतियां पड़पोतियां हैं, उसी तरह आजकल की पारसी अवस्ता की भाषा की प्रपौत्री है।[1]

शुरू के ईरानियों और हिन्दुस्तानियों दोनों के देवताओं, राजाओं वग़ैरह के नाम बिलकुल एक दूसरे से मिलते हैं। यह उस ज़माने का ज़िक्र है जब कि आर्य कौम की ये दोनों शाख़ें एक दूसरे से अलग हो चुकी थीं और दोनों की ज़बानें अलग अलग रूप ले रही थीं। इसी ज़माने के आस पास पाणिनि ने गान्धार (क़न्धार) में अपनी मशहूर 'अष्टाध्यायी' लिखी। ऋग्वेद की ज्यादहतर ऋचाएं भी, चाहे जब लिखी गई हों, अफ़ग़ानिस्तान या पञ्जाब ही में लिखी गईं।[2]

वेद और अवस्ता

"पुराना ईरानी धर्म यानी अवस्ता का धर्म उसी सोते से निकला है, जिससे हिन्दुस्तान के ऋषियों का धर्म, यानी दोनों उस धर्म से निकले हैं, जिसका ईरानियों और हिन्दुस्तानियों दोनों के पूर्वज—और दोनों के एक ही पूर्वज थे—पालन करते थे।"[3]

तीन हज़ार साल पहले के ईरानी वरुण, इन्द्र, अग्नि, वायु सोम, मित्र जैसे वैदिक देवताओं की पूजा करते थे। नामों में कहीं कहीं थोड़ा बहुत फरक पड़ चला था। जैसे अवस्ता में 'वरुण' का नाम 'वरण' है। अवस्ता और ऋग्वेद दोनों में वरुण को देवताओं का सरदार माना गया है। वेदों में उसे 'असुर विश्ववेदस्' या 'असुर मेधा' कहा गया है। अवस्ता में 'अहूर मज्द' नाम से पुकारा गया है। अवस्ता का 'अहुर' वेदों का 'असुर' है। 'असुर' बाद की वैदिक ऋचाओं और बाद के संस्कृत साहित्य में बुरे अर्थों में आने लगा, पर ऋग्वेद के शुरू के हिस्सों में 'असुर' ईश्वर के अर्थ में आया है।[1] ईरानी 'मज्दा' का वही अर्थ है, जो संस्कृत 'मेधा' का। ऋग्वेद के अनुसार 'मेधा' की वैदिक काल में 'देवगण' और 'पितृ' सभी उपासना करते थे। 'मित्र' का नाम अवस्ता में 'मिथ्' है। दोनों शब्दों का दोनों भाषाओं में एक ही अर्थ है। अवस्ता में ठीक उन्हीं शब्दों में मिथ् की स्तुति की गई है, जिन शब्दों में ऋग्वेद में मित्र की। संस्कृत में 'मित्र' का अर्थ 'सूर्य' भी है। ईरानी भी सूरज के रूप में मिथ् की पूजा करते थे। अवस्ता और ऋग्वेद दोनों में मित्र को 'सत्य' (हक़) और 'ज्योति' (नूर) का देवता माना गया है। अवस्ता में एक देवता का नाम 'अमेरेतात्' है, जिसका अर्थ 'अमरत्व' है। वेदों में भी 'अमरत्व' का आह्वान मौजूद है। वेदों का 'सुवार्त्त' अवस्ता का 'हौर्वतात' है। वैदिक 'अरमति' अवस्ता की 'आरमैति' है। वैदिक 'क्षत्रवीर्य' अवस्ता का 'क्षथवेर्इय' है। वैदिक 'सुमति' अवस्ता में जाकर 'वो हुमनो' हो गया। 'वायु' का ईरानी नाम 'वयु' है और दोनों जगह एक ही रूप में इसका आह्वान किया गया है। वायु का एक ईरानी नाम 'राम हास्त्र' भी है। अग्नि का ईरानी नाम 'आतर' है। इन तमाम देवी देवताओं की उत्पत्ति और अलग अलग दैत्यों के साथ उनकी लड़ाइयां, विजयों वग़ैरह के क़िस्से दोनों ग्रन्थों में बिलकुल एक से हैं। मिसाल के लिये दोनों में अग्नि देवता की उत्पत्ति मेघों के अन्दर की बिजली से बताई गई है। ऋग्वेद में लिखा है कि 'त्रैतान' ने 'त्रे अहि' नाम के सर्प को मारकर 'गौओं' यानी मेघों की रक्षा की। अवस्ता में लिखा है कि 'थ्रईत ओन' ने उसी तरह 'अज़िदहाक' नाम के सांप को मारकर मेघों को बचाया। 'इन्द्र' का एक नाम ज्यू का त्यू अवस्ता में 'इन्द्र' मौजूद है। उसका दूसरा नाम वेदों में 'वृत्रहन' है और अवस्ता में 'वेरेथ्रघ्न'।

1 The Mainyo-i-Khard by E W West

२ अनेक विद्वान अम्बाला ज़िले के आस पास के प्रदेश को इसके लिये निश्चित करते हैं।

3 The Zend-Avesta Part I, Introduction, by James Darmestdter, P Lvii

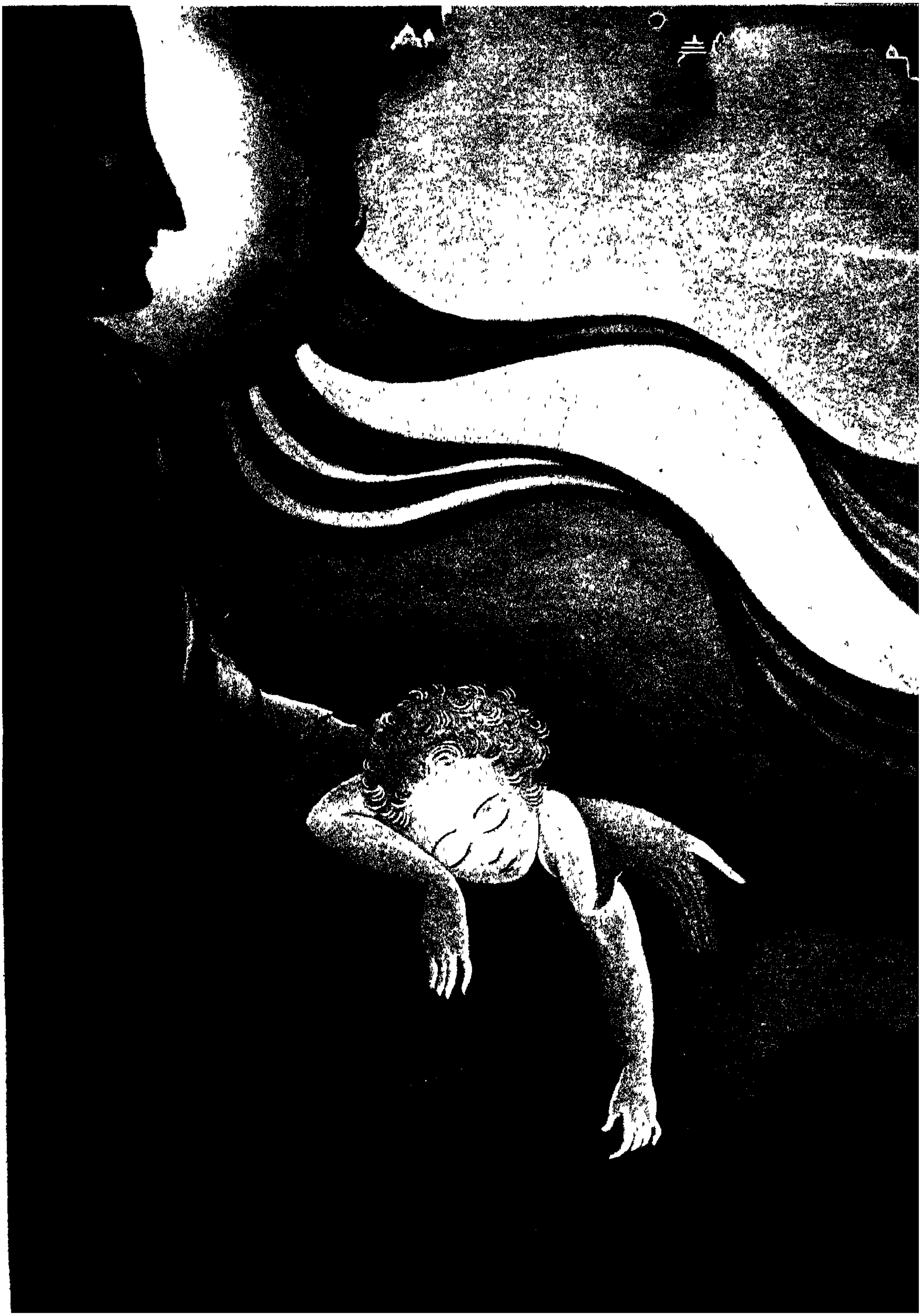
1 Sacred Books of the East Vol IV P Lxxx

दोनों का एक ही काम और एक ही रूप है। 'व्योम' का ईरानी नाम 'वाइ' है। यम का नाम 'यिम' है। 'यिम क्षाएत' का आजकल का रूप 'जमशेद' है। वेदों में यम का बाप विवस्वत् था, ईरान में यिम का बाप 'वीवहन्त' था। वैदिक दानव 'यातुः' अवस्ता में ठीक 'यातु' बना रहा। लेकिन हिन्दुस्तान की 'अप्सरा' ईरान में 'पैरिका' हो गई। जिस तरह बाद के संस्कृत साहित्य में लोगों को योग भ्रष्ट कराने का काम अप्सराओं से लिया गया है, ठीक उसी तरह का काम ईरानी धर्मग्रन्थों में पैरिकाओं से लिया गया है। मृत्यु के ईरानी नामों में से एक 'इपुः ह्वाथख्नो' यानी 'स्वयं चलने वाला तीर (सं०इषु)' और दूसरा 'अस्तो वीदोतुः' यानी 'अस्थियां विदीर्ण (चूर) कर देने वाला' है। यज्ञ में आहुतियां देने का मतलब दोनों जगह देवताओं की पूजा के साथ साथ उन्हें खाना पहुँचाना बताया गया है। दोनों जगह आहुतियां मंत्रों के साथ दी जाती थीं। 'सोम' का ईरानी नाम 'हओम' है और दोनों एक ही चीज़ हैं। वेदों में अग्नि को देवताओं और आदमियों के बीच का दूत माना गया है और उसका एक नाम 'नराशन्स' है। अवस्ता में अहुरमज़्द के दूत का नाम 'नैर्योसंघ' है। वैदिक 'पुरन्धि' अवस्ता की 'पारेन्दि' है। वैदिक 'पितृ' अवस्ता के 'फ्रवशी' हैं। 'गो मूत्र' को अवस्ता में 'गो मेज़' कहा गया है। अवस्ता की भाषा और संस्कृत दोनों के नीचे लिखे कुछ शब्दों की फ़हरिस्त से दोनों की समानता पर काफ़ी रोशनी पड़ती है--

अवस्ता की भाषा	संस्कृत
पितर	पितृ (पिता)
अस्प	अश्व (घोड़ा)
अज़	अज (बकरी)
आप	आप (पानी)
अस्मि	अस्मि (मैं हूं)
बन्द	बन्ध—?
बु	भू (ज़मीन)
बूमि	भूमि
ब्रात्	भ्रातृ (भाई)
द्वार	द्वार
तुम	त्वम
पद	पाद (पैर)
फ़दम	प्रथम
जीव	जीव
उत	उत (ऊपर)
मधु	मधु
हुरा	सुरा, आदि।

असंख्य और समानताएं, वेद और अवस्ता दोनों के शब्दों, दोनों की कथाओं, पूजा-विधियों आदि में भरी हुई हैं। ये पुरानी धार्मिक कथाएं चाहे रूपक मात्र हों और चाहे उस ज़माने के लोगों के सच्चे विश्वास हों—और एक दरजे तक ये दोनों बातें ठीक हैं—लेकिन इसमें कोई शक नहीं कि वेद और अवस्ता दोनों "एक ही आवाज़ की दो गूंज हैं," दोनों "एक ही खान के सोने से निकले हैं।" यहां तक कि अवस्ता के अन्दर कई वैदिक ऋचाएं बिलकुल ज्यों की त्यों मिलती हैं, जिन्हें उस ज़माने के ईरानी अपनी पूजा में इस्तेमाल करते थे। इससे मालूम होता है कि या तो वेद की बहुत सी ऋचाएं आर्य क़ौम की इन दोनों शाखों के अलग अलग होने से पहले बन चुकी थीं और या एक बार अलग होने के बहुत दिनों बाद तक इनमें मेल जोल जारी रहा।

बहुत से विद्वानों की राय है कि ज़्यादह शुरू के ज़माने में यानी हिन्दुस्तानियों और ईरानियों के एक दूसरे से अलग होने के पहले वरुण, इन्द्र, अग्नि, सोम, मित्र वग़ैरह देवता अलग अलग समूहों या क़बीलों के अलग अलग देवता थे और बाद में जब इन सब क़बीलों के लोग एक जगह आकर बस गए, तो ये सब देवता भी एक मिली हुई क़ौम के सब लोगों के देवता बन गए।



गीत

श्री महादेवी वर्मा

तू धूलभरा ही आया !
ओ चञ्चल जीवन - बाल ! मृत्यु - जननी ने अंक लगाया !

साधों ने पथ के कण मदिरा से सींचे,
झञ्झा आंधी ने फिर फिर आ दृग मींचे,
आलोक-तिमिर ने क्षण का कुहक बिछाया !

अंगार - खिलौनों का था उर अनुरागी,
पर रोमों में हिम - जड़ित अवशता जागी,
शत शत प्यासों की चली लुभाती छाया !

गाढ़े विषाद ने अंग कर दिये पंकिल,
बिंध गये पगों में शूल व्यथा के दुर्मिल,
कर क्षार साँस ने उर का स्वर्ण उड़ाया !

पाथेयहीन जब छोड़ गए सब सपने,
आख्यानशेष रह गए अंक ही अपने,
तब उस अज्ञात ने दे संकेत बुलाया !

जिस दिन लौटा तू चकित थकित सा उन्मन,
करुणा से उसके भर भर आये लोचन,
चितवन छाया में दृगजल से नहलाया !

पलकों पर धर धर अगणित शीतल चुम्बन,
अपनी सांसों से पोंछ वेदना के कण,
हिम - स्निग्ध करों से बेसुध प्राण सुलाया !

नूतन प्रभात में अक्षय गति का वर दे,
तन सजल घटा सा तड़ित-छटा सा उर दे,
हँस तुझे खेलने फिर जग में पहुँचाया !
तू धूलभरा ही आया !

क्या सदा जन्म से ही हिन्दू होने का विधान रहा है?

डाक्टर, देवदत्त रामकृष्ण भण्डारकर, एम० ए०, पी० एच० डी०, डी० लिट्

ऋग्वेद से यह बिलकुल स्पष्ट है कि आर्य ब्राह्मण हमेशा इस बात के प्रयत्न करते रहते थे कि भिन्न भिन्न मतों के मानने वाले आर्य धर्म को स्वीकार करें। किन्तु आज जब हम बौद्ध भिक्खु और जैन मुनियों को शुद्धि करके लोगों को बौद्ध और जैन बनाते हुए देखते हैं, तो हम यह सोचते हैं कि ब्राह्मणों में यह पादरीपन कभी नहीं रहा। किन्तु हमें यह बात गांठ बाध लेनी चाहिये कि प्राचीन ऋषि केवल आत्मचिन्तनशील व्यक्ति ही न थे। वे अपने धर्म के प्रचार में सतत उद्योगशील रहते थे। हालाकि उनके धर्म प्रचार मे वह उद्विग्नता न थी, जो आज दूसरे धर्म प्रचारकों में दिखाई देती है। ऋषि बड़ी बड़ी तादादों में दूर दूर चल कर जाया करते थे। दक्षिण भारत में उनके इस तरह जाने के अनेकों उदाहरण मिलते हैं। विन्ध्या के दक्षिण में चित्रकूट से लेकर तुङ्गभद्रा की सहायक नदी पम्पा तक रामचन्द्र के दण्डकारण्य प्रवेश के समय सैकड़ों आर्य सन्यासी आश्रम बनाकर तप, होम और अपने धर्म का प्रचार करते थे। 'राक्षस' नाम की एक अनार्य जाति ब्राह्मणों के इस धर्म प्रचार में बाधा पहुंचाती और उनके यज्ञों को विध्वंस करती रहती थी।

इनके मुकाबले में 'वानर' नाम की एक दूसरी जाति थी, जो ब्राह्मणों से मित्रता रखती थी। इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं कि ये जातियां ऐतिहासिक हैं। पाणिनि पर्सु (ईरानियों) और असुरों (असीरियनों) के बाद फ़ौरन राक्षसों का ज़िक्र करता है। वानरों में किष्किन्धा के शासक बालि और सुग्रीव सब में प्रमुख थे। बाद के ज़माने में भी इस बात के उल्लेख मिलते हैं कि मुम्बई प्रान्त के धारवाड़ के पास शासकों का एक ऐसा परिवार मिलता है, जो अपने को बालि का वंशज कहते थे और उनके रथों की ध्वजा पर कपि का चिह्न बना होता था। इस कपि के चिन्ह से यह स्पष्ट है कि वे अपने को कपि या वानर क्यों कहते थे। यह कहा जा सकता है कि महाभारत और रामायण में जो कुछ लिखा है, वह केवल कल्पित पौराणिक कथाएं हैं। किन्तु यह समझना बड़ी भूल है कि पौराणिक कथाएं हमें कोई ऐतिहासिक शिक्षा नहीं देतीं। पर यदि इस बात के समर्थन के लिये कोई ऐतिहासिक प्रमाण ही चाहिये, तो वह 'सुत्त-निपात' में ब्राह्मण गुरु बवारिन के उदाहरण मे मिल सकता है। बवारिन पहले कोसल के राज पसेनादि का शिक्षक था, जो बाद मे दक्षिण के अस्माक प्रान्त में गोदावरी के तट पर एक गांव में जाकर बस गया। उसके बारे में लिखा है कि वह तीनों वेदों में पारङ्गत था। उसके सोलह ब्राह्मण चेले थे। उन चेलों के भी अपने चेले थे। वे मृगचर्म पहनते थे, जटायें रखते थे और ऋषि कहलाते थे।

आजकल लोगों का यह दृढ़ विश्वास है कि हिन्दू वही है, जो हिन्दू माता पिता के संयोग से पैदा हुआ है और जो शुद्ध होकर हिन्दू नहीं बना है। इसी विश्वास के कारण बहुत सी विदेशी जातियां हिन्दू सम्प्रदाय मे शामिल नहीं हो सकीं। हमें सबसे पहले यह देखना होगा कि इस विचार के प्रतिवाद में संस्कृत साहित्य में क्या कोई प्रमाण मिलता है? शान्ति पर्व में ऐसे उद्धरण हैं, जिनसे यह साबित होता है कि हिन्दुस्तान के रहने वाले यह जानते थे कि ऋषियों में अनेक छोटी जाति के हैं, जो बाद में वेदों के पण्डित हुये और जिन्होंने अपने अपने सम्मानित गोत्र चलाये। वन पर्व के एक श्लोक से पता चलता

है कि व्यास धीवर स्त्री से पैदा हुए थे और पाराशर एक चाण्डाल स्त्री की सन्तान थे। प्राचीन हिन्दू समाज में जातियों का कोई कठोर विधान न था। अपने कर्मों से ही किसी व्यक्ति का शुमार ऊंची या नीची जाति में होता था।

अब हमें यह देखना चाहिये कि उस ज़माने में ब्राह्मणों द्वारा संचालित समाज विदेशियों के साथ कैसा बर्ताव करता था। शान्ति पर्व के ६५ वें अध्याय में इस विषय पर मान्धाता और इन्द्र में जो विवाद हुआ था, वह दिया गया है। मान्धाता ने इन्द्र से पूछा कि वह यवन, किरात, गान्धार, चीना, शबर, बर्बर, शक आदि विदेशी जातियों के प्रति, जो उसके राज्य में दस्युओं या विदेशियों की हैसियत से रह रहे हैं, किस तरह का बर्ताव करे ? इन्द्र ने जवाब दिया कि इन सब विदेशियों को ब्राह्मणोचित कर्मकाण्ड, होम और बलिदान करने का आग्रह किया जाय और यदि वे इन्हें स्वीकार कर लें, तो उन्हें हिन्दू समाज का अङ्ग बना लिया जाय। यह पातञ्जलि के उस कथन से मिलता है, जब उसने यह कहा कि शक और यवन ब्राह्मणोचित कर्मकाण्ड और रूढ़ियों का पालन कर सकते हैं; वे आर्य गृहस्थ के बर्तनों में भोजन कर सकते हैं और उनके इस तरह भोजन से ये बर्तन अपवित्र न समझे जायंगे। प्रश्न किया जा सकता है कि क्या महाभारत के इन बयानों के समर्थन में उस काल की कोई विशेष घटना मिलती है ? इस काम के लिये हमें शिलालेखों का सहारा खोजना पड़ेगा।

यवनों के धार्मिक विश्वास के सम्बन्ध में एक ही उदाहरण काफी होगा। ग्वालियर राज्य में बेसनगर की खुदाई करते हुए एक शिलालेख मिला है। इस शिलालेख में दिय के पुत्र हेलियोदोर के वासुदेव के सम्मान में गरुड़ध्वज स्थापित करने का ज़िक्र है। हेलिओदोर राजा भागभद्र के दरबार में राजा अन्तलिक्त का प्रतिनिधि बनकर आया था। हेलिओदोर को यवनदूत (ग्रीक-प्रतिनिधि) कहा गया है। बहरहाल उसका वासुदेव की भक्ति में गरुड़ध्वज की स्थापना साबित करता है कि वह जन्म से यवन होते हुए भी हिन्दू और वैष्णव हो गया। उस शिलालेख में वह अपने को 'भागवत' कहता है। इससे तो किसी तरह का सन्देह रह ही नहीं जाता। जब सुसभ्य और सुसंस्कृत यवन हिन्दू धर्म इस या उस मत में शामिल होने का लालच न रोक सके, तो इसमें कौन सा आश्चर्य है कि शक, या आभीर या इसी तरह की दूसरी जातियों ने ब्राह्मण धर्म स्वीकार कर लिया !

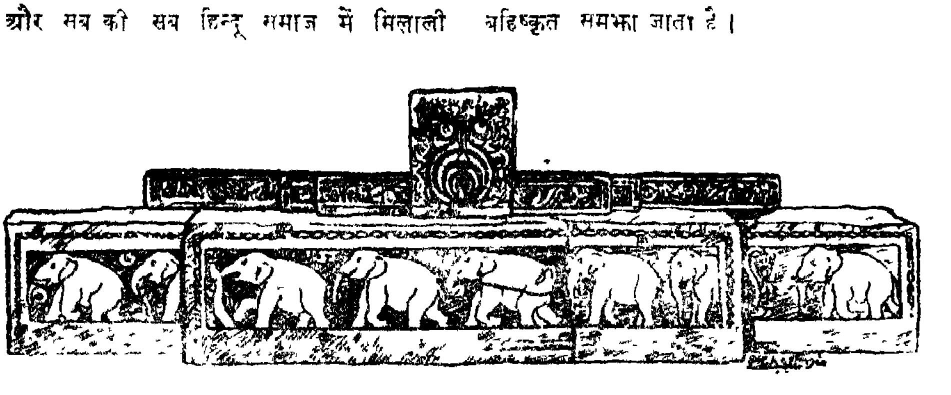
आभीर और गुर्जरों जैसी दूसरी जातिया भी बाहर से भारत में आईं। किन्तु वे इतनी अधिक संख्या में आईं कि हिन्दू समाज में शामिल होने पर भी उनका स्वतन्त्र अस्तित्व क़ायम रहा। जैसे साधारण सुनार और आभीर तथा गुर्जर सुनार, साधारण बनिया और आभीर तथा गुर्जर बनिया आदि।

किन्तु मुसलमानों के भारत आगमन के साथ साथ परिस्थिति बदल गई। हिन्दू समाज की उस समय वास्तविक परीक्षा थी। फिर भी उसने अपने को परिस्थिति के बहुत कुछ योग्य बनाया। अनेक ऐसे हिन्दुओं को, जो मुसलमान बन गये थे, उसने हिन्दू समाज में वापस मिलाया। भारत में शुद्धि आन्दोलन कोई आर्यसमाजियों का शुरू किया हुआ नहीं है, बल्कि १० वीं ईसवी में शुद्धि आन्दोलन की काफी चर्चा मिलती है। उस समय शुद्धि आन्दोलन के पक्ष में देवलस्मृति और अत्रि संहिता नामक ग्रन्थों की रचना हुई। कहा जाता है कि एक बार जब देवल ऋषि सिन्धु नदी के तट पर बैठे हुए थे, उस समय कुछ साधु सन्यासी उनके पास आये और उनसे पूछे—"हे महात्मा ! अनेक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों को जिन्हें म्लेच्छ उठा ले गए हैं, फिर से कैसे शुद्ध करके हिन्दू समाज में शामिल किया जाय ? म्लेच्छों द्वारा बलपूर्वक दस्यु बनाए जाने के कारण उनसे कुछ अपवित्र काम हुए हैं - जैसे (१) गो हत्या, (२) म्लेच्छों का जूठन खाना और उनके जूठे पात्र धोना, (३) गधे और ऊंट का मांस खाना,

(४) म्लेच्छ स्त्रियों के साथ सम्भोग करना या उनके साथ भोजन करना।" ऋषि देवल ने साफ़ साफ़ शब्दों में ११ और ८० वर्ष के बीच के हर स्त्री या पुरुष, तन्दुरुस्त या बीमार की शुद्धि का विधान बताया है।

देवलस्मृति में इतनी बड़ी संख्या में दिये हुये शुद्धि के इस विधान का खुद मुसलमान इतिहासकार भी समर्थन करते हैं। मुसलमान इतिहासज्ञ लिखते हैं कि सिन्ध के ऐसे बहुत से हिन्दू, जो मुसलमान होगये थे; फिर मूर्ति पूजा करने लगे। केवल 'कम्सा' जाति ही मुसलमान बनी रही। सर डेनमन रोस लिखता है—"वे इतनी थोड़ी तादाद में मुसलमान हुए थे कि धीरे धीरे फिर से हिन्दू समाज में मिल जुल गये। सिन्ध की राजधानी मंसूर से तो लोग जल्दी से शुद्धि करके फिर से हिन्दू सम्प्रदाय में शामिल हुए। महान अरब इतिहासज्ञ और संस्कृत का पण्डित अलबेरूनी लिखता है—"मुझे बार बार यह बताया गया है कि जब मुसलिम देशों से हिन्दू दस्यु भागकर अपने देशों में आते हैं, तो उनसे उपवास कराकर उन्हें फिर से हिन्दू धर्म में शामिल कर लिया जाता है।" देवलस्मृति में स्त्रियों की शुद्धि का विधान है। तवारीखे फरिश्ता में लिखा है—"१२०८.९९ ई० में विजयनगर के देवराय ने अपने मुसलिम पड़ोसी राजा के देश पर हमला किया। मुसलिम राजा फीरोज़ शाह बहमनी ने देवराय को हरा दिया और दो हज़ार ब्राह्मण लड़कियों को क़ैद कर लिया। अन्त में सुलह हो गई। वे ब्राह्मण लड़कियां मुक्त कर दी गईं और सब की सब हिन्दू समाज में मिला ली गईं। क्या आज यह बात सम्भव है? देवलस्मृति में उन स्त्रियों की भी चर्चा है, जो म्लेच्छों द्वारा गर्भवती हुई हों। इस मामले में देवल ऋषि सन्त विज्ञेश्वर से सहमत हैं। दोनों की यह व्यवस्था है कि इस तरह की स्त्रियों को भी फिर से समाज में शामिल कर लेना चाहिये।

एक समय ऐसा था जब कोई भी विदेशी हिन्दू समाज में दाखिल हो सकता था। जब भी विदेशी जातियां हिन्दुस्तान में आई हैं, उन्होंने हिन्दू धर्म को स्वीकार किया है और धीरे धीरे वे हिन्दुओं में घुलमिल गईं। ऐसे ग्रीक जिन्हें अपने धर्म का पक्का अभिमान था और जो हर विदेशी कौम को जंगली समझते थे, भारत में आकर या तो बौद्ध बन गये और या फिर वैष्णव धर्म को स्वीकार कर लिया। यह परिस्थिति ७ वीं ईसवी अर्थात् मुसलमानों के हमले के समय तक चलती रही; जब कि हिन्दू स्वयं इसलाम धर्म में दीक्षित होने लगे। उस समय तक हिन्दुओं की सामाजिक स्थिति इतनी गिर चुकी थी कि उनमें किसी तरह की ज़िन्दादिली बाक़ी न रही थी। हिन्दुओं के धर्म प्रचार की भावना, जो किसी समय अपने शौर्य से देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक छा रही थी; धीरे धीरे ख़त्म हो रही थी; और अब वह ज़माना आ गया कि जब ये ख़याल किया जाता है कि कोई व्यक्ति सिर्फ जन्म से ही हिन्दू हो सकता है! और यदि ग़लती से किसी से सामाजिक पाप बन पड़े, तो वह सदा सदा के लिये हिन्दू धर्म से बहिष्कृत समझा जाता है।



कैसा मरण-सँदेसा आया ?*

श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

कैसा मरण-सँदेसा आया ?
किसके कण्ठाभरण स्वरों ने यह संगीत सुनाया ?
कैसा मरण-सँदेसा आया ?

(१)

देह थकी, जर्जरित हो गई, बिगड़ गया कुछ खटका,
संज्ञाशून्य शरीर हो गया, लगा मृत्यु का झटका,
देख लुप्त होते जीवन को, मन सम्भ्रम में अटका,
जीवन का रहस्य यह क्या है ? क्या यह मृण्मय माया ?
कैसा मरण-सँदेसा आया ?

(२)

दो विभिन्न गतियाँ जगती में, इक जड़मय, इक चेतन,
जड़ गति है घूर्णित आन्दोलन, चेतन है उद्वेलन,
जब जड़-कण-समूह बन आया, चेतन का सुनिकेतन,
तब उसमें विकास गति आई, जड़ ने जीवन पाया।
अभिनव मरण-सँदेसा आया।

(३)

जिनने मरकर चिर जीवन का रुचिर रूप पहिचाना,
जिनने निज को खोने ही में शुचि त्रिजरत को जाना,
वे बोले कि मरण है जीवन का ही एक बहाना,
है त्रिजत्व का द्वार, मृत्यु तो, है जीवन की छाया।
ऐसा मरण-सँदेसा आया।

(४)

जीवन का अखण्ड वैश्वानर हहर-हहर कर चमका,
भय भागा, संदेह हट गया, छूटा संशय तम का,
अपने 'स्व' को 'स्वधा' सम होमा, टूटा फँदा यम का,
अपनेपन की हुई मृत्यु, तब चिर जीवन लहराया।
नव नव मरण-सँदेसा आया।

---

* स्वर्गीय गणेश शङ्कर जी विद्यार्थी की स्मृति में लिखित 'प्राणार्पण' नामक काव्य-ग्रन्थ के अन्तिम सर्ग का एक अंश।

रोशनी और आग

[एकांकी नाटक]

श्री भुवनेश्वर प्रसाद

पात्र:—

मिर्ज़ा रफीक, मिर्ज़ा तुफैल, बब्बन मिर्ज़ा (मिर्ज़ा रफीक का नाबालिग बच्चा), मन्ना जाट, काले सैयद, शरीफ़ एक बादले रईस। बेगम हिम्मत क़द्र मिर्ज़ा रफीक की बीवी, बेगम गुल नवाज़, उनकी लड़की।

वक्त: गदर के ३ दिन पहले।

ये लोग क्रांति चाहते थे, फिर भी वह परिवर्तन नहीं चाहते थे; क्यों कि उनके अंदर मौत बसी थी। यह रोशनी मौत की सी ठंडी थी और इस नाशकारी आग मे रोशनी न थी।

[परदा सफेद और पतला है जिस पर बीचो बीच मे धुंधली कुतुब की लाट बनी है। पीछे की रोशनीयो की तरतीब से बराबर यह लाट उठती-गिरती दिखलाई जा सकती है। एक क़ीमती दस्तरख़ान पर रफीक मिर्ज़ा खाना खा रहे हैं और उनकी लड़की बेगम गुलनवाज उनके सामने खड़ी है। रफीक मिर्ज़ा के आगे प्यलियो और रकाबियोका ढेर लगा है और दोनों के चेहरों पर घातक परेशानी झलक रही है]

गुल - (रुआसी) बाबा अब न खाओ।

[मिर्ज़ा रफीक़ एक बार अपनी डरी हुई आखों से उसकी तरफ देखते है और फिर खाने मे मशगूल हो जाते हैं]

गुल—(और भी रुआसी) मैं कहती हूं अब्बा अब न खाओ।

मिर्ज़ा रफीक़ (चमक कर) मै कहूं हूं तू—ज़नानख़ाने मे क्यों नहीं रहती यहा ड्योढ़ियों पर क्या झमक रही है ?

गुल - मैं ड्योढ़ियो पर क्या मैं तो तौज मारी सड़कों पर रहूंगी, लेकिन हज़ूर पाक की क़सम तुम इस तरह जान मत दो, तुम कितनी देर मे खा रहे हो ?

मिर्ज़ा रफीक (उठते हुये) मैं जा रहा हूं। मुझे तेरी मगनी पक्की करना है, बादशाह सलामत के कितने पैग़ाम आ चुके हैं।

[गुलजमानी एक हताश सा इशारा करती है]

मिर्ज़ा रफीक़—(जैसे यह सब एक सास मे कह डालना चाहते हैं) मैंने पीरोमुर्शिद से कहा कि यह सब चाल रहने दीजिये। मैंने उनसे कहा कि तरदामानी से बचिये, लेकिन वह कहते हैं कि काले सैयद को बशारत हुई है। तैमूर का चिराग़ एक बार फिर चमकेगा। अल्लाहो अकबर! तैमूर का चिराग़ शोले की तरह भड़क उठे।

गुल—(बिलकुल बच्चो की तरह) बाबा यह काले सैयद कौन हैं ?

मिर्ज़ा रफीक़—यह काले सैयद कौन हैं ? (सोचते हुये) यह कौन हैं, यह तो कोई भी नहीं जानता। कोई कोई तो उनकी उम्र एक हज़ार साल से भी ज्यादा बतलाते हैं। वह हम कुत्तों से बरतर हैं मै तो यह जानता हूं। मुझे उनकी आंखों की तरफ देखने से डर लगता है, बेशक उन्हें बशारत हुई है, बेशक भावी उनके क़दमों पर लोटती है—

(एक बारगी जोश में आजाते हैं)

गुल—आप को तो पीरोमुर्शिद के यहा जाना था। आप उठते क्यों नहीं ?

मिर्ज़ा रफ़ीक़—सुनते हैं एक बार साल भर तक काले सैयद सिर्फ़ ग़लीज़ खा कर ज़िन्दा रहे हैं।

गुल—(हाथ पकड़ कर झकोरते हुये) बाबा आप यहां से उठते क्यों नहीं, मन्ना जाट का आदमी आया था आप भूल गये, लोग आपका इन्तज़ार कर रहे होंगे।

रफ़ीक़—मैं जानता हूं मैं भूल नहीं गया, बल्कि मैं इससे ज्यादा जानता हूं। मैं जानता हूं कि मन्ना जाट और यह सब काफ़िर अपनी हुकूमत के सपने देख रहे हैं—मुझे पंज तन की क़सम है मैं... ..

गुल—(घबरा कर) आप क्यों यह बार बार तैश में आ जाते हैं, आप को कहीं जाना है ..और आप तो कहते थे कि मन्ना जाट आप का सब से वफ़ादार दोस्त है।

रफ़ीक़—वफ़ादार दोस्त, वह मेरा भाई है; वह मुझे भाई से भी ज्यादा अज़ीज़ है, लेकिन वह ग़रीब क्या करे, वह क्या करे जब हमारी ताक़त खुद हमी को सांप बनकर डस रही हो।

गुल—लेकिन इस खून ख़राबे की क्या ज़रूरत है ?

[इतने में शरीफ़ २१, २२ साल का ख़ूबसूरत जवान ज़नाने कपड़े पहने कुछ ज़नाने अन्दाज़ से दीवानख़ाने के बीचोंबीच से गुज़र जाता है।]

रफ़ीक़ (उसे रोकते हुये) शरीफ़ यहां आओ इस मुर्दे की आंख की बात सुनो। यह कहती है इस अब ख़ून ख़राबे की क्या ज़रूरत है। इसकी ज़रूरत हर एक आदमी को अलग अलग है, (शरीफ़ भौचक्का सा खड़ा रह जाता है) शरीफ़ को ज़रूरत है कि वह इतमीनान से अपनी जायदाद बदफ़ेलियों में फूंक सके, मुझे कि मैं वह जायदाद इसके गंदे पंजों से बचा सकूं (शरीफ़ दहल सा गया है)।

बेगम हिम्मत क़दर—(जो अभी अभी किमख़ाब के परदे को हटा कर कोने के दरवाज़े के पास आकर खड़ी हो गई हैं, भर्राई हुई आवाज़ में) या इलाही! क्या क्या दिन नसीब में लिखा था! यह आज़ादी कौन सी बला है ? आज तक तो इसका नाम नहीं सुना गया था। क्या हमारे पीरोमुर्शिद अब हमारे बादशाह नहीं रहे ? क्या हमारी छातियों में अब अपने बच्चों के लिये दूध के बदले ख़ून उतरता है ? यह कहां का फ़िसाद है कैसे पंजे लुकके लिये हैं तुमने ..?

शरीफ़—(हिम्मत बांध कर) आप तो कहा करते थे कि अंगरेज़ों ने आ कर हमें मर्दूद हिन्दुओं की ग़ुलामी से बचा लिया......

रफ़ीक़—(पैर पटकते हुये) मैं कहता हूं कि तुम चुप रहो। हम आज़ादी चाहते हैं क्योंकि पीरो, मुर्शिद तैमूर की औलाद हैं, क्योंकि हमारा पोरा पोरा रोयां रोयां आज एक आदमी का नहीं एक मुल्क का, मुल्क के करोड़ आदमियों का ग़ुलाम है।

शरीफ़—क्या हमारे पैरों में ज़ंजीरें पड़ी हैं ?

रफ़ीक़—बदनसीब ज़ंजीरें होतीं तो बदरजहां बेहतर था। हमारे अन्दर आज़ादी का शौक़ भी न होता।

बेगम हिम्मत क़दर—मुझे यह सिरफिरी बातें अच्छी नहीं लगतीं, ख़ुदा को यही मंज़ूर है तो होगा। या अल्लाह ! तुम्हारे वह पुरज़े लोगों तक न पहुँचे हों और या रसूल ! तुम्हारी बन्दूकों को लकवा लग जाय,।

[मिर्ज़ा रफ़ीक इस बीच में चुपके से खिसक जाते हैं। ये लोग पहले तो बौखलाये से इधर उधर देखते हैं और बाद में ज़मीन पर सिर पटक कर सुबक सुबक कर रोने लगते हैं। स्टेज पर की रोशनी धुंधली हो जाती है और विंगज में से काले काले डैन निकल कर स्टेज पर चारों तरफ़ से छा जाते हैं]

एक आवाज़ (तेज़ घनघनी आवाज़ में शुरू में रोती है) मैं मशीन की आवाज़ हूं, मैं मौत की आवाज़ भी हूं। मैं उन्हीं लोगों को जो अपने बाहुबल से ज़मीन से धातुयें उगलवा लेते हैं, जिनसे मेरा शरीर और आत्मा बनती है, ग़ुलाम बनाती हूं

दूसरी आवाज़—(गंभीर बूढ़ी आवाज़) मैं अक़्ल की आवाज़ हूं, मैं ताक़त की आवाज़ भी हूं, मज़हब की भी। मैं अपनी दिलफ़रेबियों से लोगों के बुनियादी विवेक को ग़ारत कर देती हूं कि वह मुट्ठी भर लोगों के ग़ुलाम बने रहें, उनकी आराम और आसायश के सामान पैदा करें। उनके लिये लड़ाइयां लड़ें और दूसरों को, दूर दूर के मुल्क के लोगों को, हम अपना सा ही ग़ुलाम बना लें।

तीसरी आवाज़—(बहुत धीमी) मैं जग की आवाज़ हूं, मैं कभी इन्साफ़ की आवाज़ भी थी, आज़ादी की आवाज़ भी; लेकिन अब एक खून में डूबी हुई, बदनसीब बदसूरत हक़ीक़त हूं, मुझे बचाओ, मुझे फिर से इन्साफ़ और आजादी की आवाज बना दो।

क्लाइव की आवाज़—मैं क्लाइव की आवाज़ हूं, मैं सारे यूरप की आवाज़ हूं। हिन्दोस्तान का एक अकेला मसला है कि वह एक हो, पूरा नक़्शा एक हो, पहाड़ आरी से चीरे जाय, नदियों पर स्टील की काठियां कसी जाय। आज हिन्दोस्तान एक ठोकर हमारी मुख़ालफ़त कर रहा हो- सीधे सिर पर वार करो। ऐ मेरे प्यारे हिन्दोस्तानियो सीधे सिर पर वार करो।

[रोशनी हो जाती है। मिर्ज़ा रफ़ीक़, काले सैय्यद, मन्ना जाट, और बावले रईस घबराये हताश नज़र आते हैं। औरतें उनको देख कर दुबक कर हट जाती हैं। रफ़ीक़ घबराये हुये से अन्दर जाते हैं और अपने ३ बरस के बच्चे, बख्यन मिर्ज़ा को ऊंघता हुआ बाहर ले आते हैं। उसे सिर से ऊपर उठा कर—एलान करते हैं]

रफ़ीक़—भाइयो आप को कलामपाक की क़सम यह मेरे ख़ान्दान का चराग़ है। मैंने इन्तज़ाम किया है कि हमारे सब के लुट जाने मर जाने पर भी यह ज़िन्दा रहे। आप में से जो कोई ज़िन्दा रहे उसे कलामपाक की क़सम है कि वह इसे बड़ाले की। दीवानी दिला दे। (भीतर से मातम की आवाज़ आती है)

मन्ना जाट—(भीतर देखते हुये) बेगम साहब आज़ादी की फौज़ मेरठ से चल दी है, हम सब को दुआ दीजिये कि हम मुल्क को आज़ाद कर के मरें। हम अपने घरों को फिर भरा पुरा देखें।

काले सय्यद—हम तैमूर का चराग़ फिर से रोशन करेंगे।

रफ़ीक़—हम ज़िन्दगी को फिर जिन्दगी बना देंगे।

काले सैय्यद—हम एक नया तख़्त ताऊस बनायेंगे। हम हम सरकश मुल्क को सर करेंगे। हम तैमूर के ख़ान्दान के एक अपाहिज के लिये भी वह ताक़त हासिल करेंगे कि मुल्क के ३० करोड़ लोगों की जानें और ख़ुशियां उसके पांवों पर होंगी।

[सब एक साथ ज़ोर से अलहम्दोलिल्लाह' का नारा उठाते हैं सिर्फ़ वह बूढ़े बावले रईस चुप रहते हैं]

बावले रईस—(कुछ रुक कर एकाएक) जी चाहता है मैं इन कपड़ों को फाड़ डालूं, ख़ुदा को गालियां दूं, हवा को मुट्ठियों में भर लूं, वक़्त को पीछे लौटा लूं, ज़ोर से नगा सड़क पर भागूं कि मैं यह तुम्हारा होश नहीं चाहता मुझे पागल रहने दो।

काले सैयद—(हुक्म के लहज़े में) क्यों ?

बावले रईस—क्योंकि तुम आज़ादी के बावले हो, तुम ज़ुबान खुलते ही सुकरात की सी बातें कर रहे हो, तुम ज़िन्दगी का खेल नहीं समझते—

(सब लोग उनकी तरफ़ हिक़ारत से देखते बाहर चले जाते हैं और वह ज़ोर का अट्टहास करते हैं)

परदा

मध्यकालीन भारत में हिन्दुओं की स्थिति

डाक्टर महदी हुसेन, एम० ए०, पी-एच० डी० (लन्दन), डी० लिट् (पेरिस)

आमतौर पर यह ख़याल किया जाता है कि मुसलमानी हकूमत में हिन्दुओं की हालत बहुत ख़राब थी। मुसलमान हुकमराओं की निगाह में हिन्दुओं की इज़्ज़त लकड़हारों और कहारों से बेहतर न थी। मुसलमान शासक आमतौर से मुसलमान उलेमाओं के असर में रहते थे और उलेमा हिन्दुओं को ज़लील करना अपना धार्मिक कर्तव्य समझते थे।

लेकिन यह अकसर भुला दिया जाता है कि धार्मिक मामलों में हिन्दुस्तान के मुसलमान बादशाह १७ वीं सदी के जर्मनी की तरह कभी इस उसूल पर नहीं चले कि राजा के मज़हब पर ही देश भर के लोगों को चलना चाहिये। मैं इस बात को दावे के साथ कहता हूं कि इस उसूल का, (Cujus regio ejus Religio) जिस पर इङ्गलैण्ड के ट्यूडर राजाओं और जर्मनी के बादशाहों की मज़हबी नीति की बुनियाद थी, हिन्दुस्तान के मध्यकालीन इतिहास में ज़िक्र तक नहीं है। सन् १३९२ ईस्वी में फ़ौज के मुसलमान अफ़सरों ने कंस नाम के एक हिन्दू को अपना राजा चुना। उसके लड़के जैतमल ने राज के सभी अफ़सरों की सभा में इसलाम धर्म को स्वीकार करने की इच्छा प्रकट की। उसने यह भी कहा कि अगर आप लोग मुसलमान हो जाने पर मुझे अपना बादशाह मानने को राज़ी न हों, तो मैं यह गद्दी अपने छोटे भाई को सौंप देने के लिये तैयार हूं। उनके अफ़सरों ने यह जवाब दिया कि बिना इस बात का तनिक भी ख़्याल किये हुये कि आप कौन सा मज़हब क़बूल करने जा रहे हैं, हम लोग आपको अपना राजा मानने को तैयार हैं।

बर्नियर और एलफिंस्टन ने इस बात को साबित किया है कि मध्यकालीन हिंदुस्तान में हिन्दुओं को अपने धार्मिक नियमों के पालन करने की पूरी आज़ादी थी।

बर्नियर ने मुसलमानी हकूमत मे प्रचलित प्रथा, सूर्यग्रहण के मेलों और घाट के स्नानों का ज़िक्र किया है। एलफिंस्टन ने इसी बात को इस तरह साबित किया है कि हिन्दुओं को उनके धर्म-पालन मे बाधा नहीं पहुँचाई जाती थी। मन्दिर और धर्मशालायें बनी हुई थीं और उनकी हिफ़ाज़त की जाती थी। वृन्दावन, गोवर्धन, गया और रनपुर में इनमें से कुछ मन्दिर अब भी सुरक्षित हैं। वृन्दावन क़स्बे के चार वर्तमान मन्दिर लगभग १६ वीं सदी के बने हुये हैं। मथुरा ज़िले के गोवर्धन नामक क़स्बे में श्री हरिदेव जी का एक मन्दिर है। यह लगभग १५०० ई० में बना था। शहन्शाह अहमदशाह की मुहर लगी हुई एक तहरीर से यह मालूम होता है कि कुछ मुसलमान शासक मन्दिर के ख़र्च के लिये रुपया भी देते थे। (१७४८-१७५४ ई०)।

अकबराबाद सूबे के अछनेरा नामक क़स्बे के किसानों और ज़मींदारों के नाम शहन्शाह अहमदशाह का फ़रमान :—

"इस फ़रमान के ज़रिये १७ बीघा ज़मीन बिला लगान (माफ़ी) (मन्दिर के पुजारी) शीतलदास बैरागी के नाम धर्मादे में दी जाती है, जिससे वह देवता के भोग और श्री ठाकुरजी का ख़र्च संभाल सकें। इस ज़मीन की मालगुज़ारी बैरागी जी के लिये मंज़ूर की जाती है, जिससे वह श्री ठाकुर जी के लिये ज़रूरी चीज़ें ख़रीद सकें। अछनेरा बाज़ार के चौधरी को यह मालूम होना चाहिये कि हर एक गाड़ी अनाज पर पाव सेर ठाकुर जी के लिये रख लिया जाय और यह बैरागी जी को ज़रूर मिल जाय।"

"फ़रमान बतारीख़ एक्कुम रमज़ान, ११३९ हिजरी—शहन्शाह की बलंदबख्त हकूमत का छठा साल। फ़रमान ज़िला आगरा अछनेरा के नरसिंह मन्दिर के लिये ११६७ हिजरी (१७५४ ई०), मुहर—अहमदशाह बादशाह।"

फ़रिश्ता की तरह बटाला के सुजान राय ने, जो 'ख़ुलासतुल तवारीख़' के लेखक हैं, थानेश्वर के सालाना हिन्दू मेले और नहान के सम्बन्ध में एक बड़ी दिलचस्प घटना बयान की है। जब सिकन्दर लोदी ने इस मेले को बन्द करने का इरादा ज़ाहिर किया, तो दरबार के एक मशहूर मौलवी और आलिमफ़ाज़िल मियां अब्दुल्ला अजोधी ने इस बात का ज़ोरदार विरोध करते हुये कहा कि मन्दिरों का गिरवाना और नदी या तालाब के किनारे पुराने ज़माने से होने वाले नहान को बन्द कराना, बिलकुल ग़ैरक़ानूनी और शरीयत के ख़िलाफ़ है। सिकन्दर लोदी ग़ुस्से से लाल होकर एक नंगी तलवार लेकर यह कहता हुआ उसके ऊपर झपटा "तू काफ़िरों की तरफ़दारी करता है।" उस आलिम ने हिम्मत के साथ यह जवाब दिया, "मैं बादशाह सलामत को शरीयत का फ़तवा बता रहा था, अब आपकी मरज़ी है चाहे मानें या न मानें।" बादशाह के ऊपर इस बात का बड़ा असर पड़ा। उसका ग़ुस्सा शांत हुआ और फिर कभी उसने हिन्दू मेले को बन्द करने का इरादा न किया।

पाठक ग़ैरमुस्लिम प्रजा के लिये शरीयत की इस व्यवस्था से 'इसलाम या मौत' या जज़िया के नाम से मशहूर क़ानून की ज़रा तुलना करें। "जज़िया देने पर मानो हिन्दुओं को याद दिलाया जाता था कि अगर जज़िया वसूल करने वाले उनके मुंह पर थूक दें, तो उन्हें इस चीज़ को बतौर मेहरबानी समझना चाहिये और मुंह फेर कर तहसीलदार के रास्ते में अड़ंगा न डालना चाहिये।"

यह लेकिन क़ाज़ी मुग़ीसुद्दीन की राय थी, जो उन्होंने अलाउद्दीन ख़िलजी के सामने ज़ाहिर की थी। मुग़ीसुद्दीन ख़ुद हर तरह से गये गुज़रे आदमी थे और क़ुरान की नसीहत देने के लिये वे सबसे नाक़ाबिल थे।

यह क़ाज़ी मुग़ीसुद्दीन की ज़ाती राय थी। उन्होंने सोचा था कि राजनैतिक अविश्वास के उस ज़माने में ऐसी राय रखना और बादशाह के दिल पर उसे जमा देना बड़ा आसान होगा। मगर अलाउद्दीन चतुर राजनीतिज्ञ था। उसके ऊपर इसका कोई असर न हुआ। उसने तुरन्त अपनी राजनैतिक नीति की घोषणा करते हुये कहा—"मौलाना! तुम एक बहुत बड़े विद्वान् हो, मगर तुम्हारे पास दुनिया का तजुर्बा नहीं है। मैं बिलकुल पढ़ा-लिखा नहीं हूं, पर मैंने दुनिया ख़ूब देखी है। इस बात को तय समझो कि हिन्दू तब तक कभी भी नहीं झुक सकते और न हमारा हुक्म मान सकते हैं, जब तक वे बिलकुल मुफ़लिस न बना दिये जाय। हालांकि मैंने कोई किताब नहीं पढ़ी है, फिर भी मैं मुसलमान ख़ानदान का एक पक्का मुसलमान हूं। ऐसी बग़ावतों को बन्द करने के लिये, जिनमें हज़ारों का ख़ून होता है, मैं ऐसे हुक्म जारी करता हूं, जिन्हें मैं हकूमत और प्रजा के लिये मुफ़ीद समझता हूं। मैं यह नहीं जानता कि आया यह बात शरीयित के मुआफ़िक़ है या ख़िलाफ़ मैं वही हुक्म देता हूं जो मैं हकूमत के लिये अच्छा और मौक़े के मुआफ़िक़ समझता हूं।" इससे यह साफ़ साफ़ ज़ाहिर हो जाता है कि हिन्दुओं को धन इकट्ठा न करने देने और उनके जीने भर के लिये मालियत छोड़ने में अलाउद्दीन का क्या मक़सद था। यह हुक्म लोगों को मुसलमान होने को मजबूर करने या बढ़ावा देने के लिये हरगिज़ जारी नहीं किया गया था। क्योंकि इस तरह कोई मज़हब नहीं फैलाया जा सकता। अला-उद्दीन कोई मिशनरी (धर्म-प्रचारक) भी नहीं था। यह साफ़ साफ़ ज़ाहिर है कि कुछ ख़ास मौक़ों के लिये अलाउद्दीन ने यह एक राजनैतिक अस्त्र निकाला था। जैसे आजकल कभी कभी मार्शल लॉ जारी कर दिया जाता है या फ्रांसीसी क्रान्ति के समय इन्क़लाबी ट्रिब्यूनल के साथ 'लॉ आफ़ मैक्ज़िमम' जारी किया गया था।

अलाउद्दीन के हुक्म का बिलकुल ग़लत मतलब लगाकर उसकी बुनियाद पर "अलाउद्दीन ख़िलजी के हिन्दू-विरोधी क़ानून बनाने का" उसूल क़ायम किया गया है। पर अलाउद्दीन के क़ानून का मक़सद साफ़ करके मि० मोरलैंड ने बड़ा उपकार किया है। उन्होंने यह दिखलाया है कि किस तरह आजकल के इतिहासकारों ने ग़लतफ़हमी में बरनी के हिन्दू शब्द के इस्तेमाल को अलाउद्दीन और हिन्दू रिआया में विरोध होने का सबूत माना है।

मोरलैंड का यह विचार है कि बरनी हिन्दुओं का ज़िक्र करता है, पर जहां कहीं वह इस शब्द को इस्तेमाल करता है, वह सिर्फ़ ऊंचे दर्जे के (ज़्यादा अमीर) हिन्दुओं के लिये ही इस्तेमाल करता है, किसानों के लिये नहीं। उसकी पूरी किताब पर एक निगाह से ग़ौर करने पर यह मालूम होता है कि वह हकूमत को दो नहीं बल्कि तीन तबक़ों यानी मुसलमान, हिन्दू और किसानों के गिरोहों से बना हुआ मानता था। इस सिलसिले में और लम्बे चौड़े बयानों से यह साबित होता है कि असली मसला यह था कि परगनों और गावों के मुखियों, जागीरदारों और गाव के सरदारों की ताक़त को ख़तम किया जाय। असलियत मे यह क़ानून छोटे किसानों के लिये उपयोगी था। क्योंकि इससे सरदारों को अपने ख़र्चे का ज़्यादा हिस्सा ख़ुद संभालना पड़ता था। ग़रीबों को धनी लोगों के लिये टैक्स नही देना पड़ता था। यह साफ़ है कि इसका ग़लत अर्थ लगाया गया है और इतिहास की हालकी किताबों में इसे हिन्दू-विरोधी क़ानून कहा गया है।

इसलामी क़ानून के बारे मे भी एक ऐसा ही ग़लत ख़्याल फैला हुआ है कि इसमें कभी कोई तब्दीली नहीं होती। मगर यह बात नहीं है। राजनीति और मज़हबी मामलों को अच्छी तरह जानने वाले हुक्मरां ज़माने की ज़रूरतों के मुताबिक़ इसे बदल सकते हैं। मुसलिम शासक हकूमत और मज़हबी मामलों, दोनों का मालिक होता है। और वह मज़हबी और सियासी मामलों में क़ुरान के मुताबिक़ अपनी राय से काम कर सकता है। यह बात शेख़ मुबारक नाम के एक मशहूर मौलवी के सन् १५७९ ई० के सम्राट अकबर को दिये हुए फ़तवे से साबित होती है, जिसके मुताबिक़ अकबर अपनी इच्छानुसार स्वतन्त्रता के साथ कोई काम कर सकता था, जो एक शहंशाह की हैसियत से उसके लिये ज़रूरी होता।

यह कहा जाता है कि मुसलमानी हकूमत में हिन्दुओं को 'काफ़िर' कह कर सताया जाता था और उन्हें 'ख़िराज' और 'जज़िया' देना पड़ता था। रोमन साम्राज्य में भी Tributum soli और Tributum capitis के नाम से ये टैक्स प्रचलित थे। जज़िया टैक्स ईरानी साम्राज्य में सासानी बादशाहों के ज़माने में हर जगह लगा हुआ था। क़ुरान में ख़िराज का कोई ज़िक्र नहीं आया है। जज़िया का इस्तेमाल क़ुरान में उपहार के लिये हुआ है, जो मुसलमानों के अलावा दूसरी जाति की प्रजा बादशाह को देती थी। बाद में जज़िया शब्द ख़िराज के स्थान पर प्रयोग मे आने लगा।

मगर यह टैक्स हिन्दुओं या ग़ैर मुसलमानों पर इसलिये नहीं लगाया जाता था कि वे इसलाम मज़हब को क़बूल करने से इनकार करते थे; बल्कि इसलिये लगाया जाता था कि फौज में भरती होकर हकूमत की सेवा करने के लिये उन पर कोई मज़हबी पाबन्दी न होने की वजह से मुसलिम फ़ौज के हथियारों से उनकी हिफ़ाज़त के लिये इन्तज़ाम किया जा सके। उसमानी साम्राज्य में भी ऐसा टैक्स लगा था। तुर्की के दूसरे सुलतान आर्शलान का ज़िक्र करते हुये (१३२६-१३५९) लार्ड एवरलो ने बयान किया है कि पैदल या घुड़सवार सेना में केवल मुसलमान ही भरती हो सकते थे। ईसाइयों को, जो फ़ौज की नौकरी से बरी थे, यह टैक्स देना पड़ता था; हिन्दुस्तान मे हिन्दू सुलतान की फ़ौज में भरती होते थे। हिन्दू ज्योंही शाही फ़ौज में भरती हो जाते थे, त्यों ही वे जज़िया टैक्स से बरी कर दिये जाते थे। मैंने अपनी "मुहम्मद बिन तुग़लक की उन्नति और

अवनति" नाम की किताब में यह दिखाया है कि पहले के मुसलमान बादशाहों की फौज में काफ़ी तादाद में हिन्दू भरती होते थे। शेरशाह की फ़ौज में तोप चलाने वाले और पैदल सिपाही हिन्दू ही थे। अकबर के ज़माने में तो आधी शाही फ़ौज हिन्दुओं की ही थी और तभी से मुग़ल साम्राज्य के टुकड़े टुकड़े होजाने के समय तक शाही सेना में हिन्दू बराबर क़ायम रहे।

फरिश्ता ने यह लिखा है कि बंगाल के एक सुलतान ने ५००० पैदल हिन्दू सिपाहियों को फ़ौज में अंगरक्षक के तौर पर भरती किया था। मुग़लों की हकूमत में दो चार बार जज़िया टैक्स हटा दिया गया था—पहले अकबर की हकूमत में और फिर मुहम्मद शाह के वक्त में—और यह इसलामी रू से किसी तरह भी बुरा नहीं समझा गया।

डाक्टर लॉ ने लिखा है कि अकबर के शासन में हिन्दुओं और मुसलमानों के सामाजिक और राजनैतिक अधिकार बराबर थे।* ज़ाती तौर पर हर एक हिन्दू अकबर की किसी भी रिआया के बराबर आज़ाद था। रियासत की बड़ी से बड़ी फ़ौजी या सरकारी नौकरियों का दरवाज़ा उनके लिये खुला था। हिन्दू और मुसलमान बिना किसी तरह की रुकावट के भरती होते और साथ साथ एक ही मदरसे में पढ़ते थे। तभी से हिन्दुओं और मुसलमानों के साथ साथ पढ़ने का रिवाज हो गया। शाह अमानुल्लाह के ज़माने में अफ़ग़ानिस्तान में भी यही कैफियत थी।

अपनी हिन्दू रिआया को मुसलमानों की बराबरी का दर्जा देने में उन्होंने किसी इसलामी क़ानून को नहीं तोड़ा। फ़ारस के कट्टर बादशाह शाह तहमस्प ने भी हुमायूं को हिन्दुओं के प्रति दयालु होने और इन्साफ़ करने की नसीहत दी थी। बेशक हुमायूं हिन्दुओं की बड़ी क़दर करता था। वह चित्तौड़ की राजकुमारी कर्णवती का राखी-भाई बना था और इस व्रत का उसने अच्छी तरह पालन किया था। वह राजकुमारी को हमेशा 'प्रिय बहिन' कहता था। वह अम्बर के राजा बिहारीमल का भी दोस्त था। बाद में इन्हीं की लड़की की शादी अकबर से हुई थी। हिन्दुओं को जो कुछ भी तकलीफ़ दी गई थी, वह इसलिये कि वे राजनैतिक मामलों में कभी किसी मुसलमान शासक के ख़िलाफ़ थे, न कि इसलिये कि वे इसलाम को न मानते थे। और इसी वजह से अलाउद्दीन ख़िलजी, मुहम्मद बिन तुग़लक और अकबर ने सय्यदों, सूफ़ियों और उलेमाओं को ख़त्म कर डाला या देशनिकाला दे दिया था। क़ानून को मानने वाले और उदार विचार के हिन्दू और मुसलमान सभी को नागरिकता के पूरे अधिकार प्राप्त थे। ज़मीन्दारों के मालिकाना अख़्तियारों की पूरी क़द्र की जाती थी और अगर उनसे कोई ज़मीन ली जाती थी, तो उसका मुआविज़ा दिया जाता था, जैसे ताज के लिये ली गई ज़मीन का मुआविज़ा दिया गया था। जब हिन्दुओं के मुक़दमे मुसलमानों की कचहरी में जाते थे, तो उनका फ़ैसला प्रचलित क़ानून के अनुसार किया जाता था। इन्साफ के मामले में हिन्दू और मुसलमानों में कोई फ़र्क़ नहीं था। इसको बलबन, मुहम्मद बिन तुग़लक शेरशाह, अकबर और जहांगीर की हकूमत से साबित किया जा सकता है। जहांगीर के शासनकाल में दक्षिण में एक हिन्दू दूकानदार और एक सय्यद मुसलमान में किसी सामान के दाम या किसी मज़दूर की मज़दूरी के बारे में झगड़ा हो गया। थोड़ी ही देर में राजपूतों और सय्यदों में होने वाले झगड़े ने साम्प्रदायिक बलवे का रूप धारण कर लिया। दोनों तरफ़ के कुछ लोग मारे गये, जिनमें राजा गिरिधर कछवाह नामक एक सरदार भी थे। बरहा के सय्यद कबीर पर मुलज़िम होने का शक किया गया। तुरन्त क़ैद करके वे जेल भेज दिये गये और मुनासिब जांच पड़ताल के बाद १०१८ हिजरी में उनको फांसी दे दी गई। टी० डबल्यू० बील ने

* Law, N N. "Promotion of Learning under Muslim Rule."

'मिफ़्ताउत तवारीख़' के इस आशय के एक लेख से यह बात सिद्ध की है। उसमें लिखा है—

"अध्यात्म का दाता, कबीर, जो इस दुनिया की महान आत्माओं में से एक था, इस दुनिया से कूच कर गया और उसने अपनी जगह स्वर्ग के बीच में पाई।

"जब वह इस नाशवान दुनिया से विदा हुआ अक्षय स्वर्ग उसका निवास स्थान बना।

"जब मैंने उसकी बिदाई की तारीख़ पर ग़ौर किया तो बुद्धि ने कहा कि वह सन् १०१८ हिजरी है।"

हिन्दुस्तान के तमाम बादशाहों में मुहम्मद बिन तुग़लक के बारे में सबसे ज़्यादा ग़लतफ़हमी फैली हुई है। एक ओर हिन्दू धर्म की ओर उसका रुख़, हिन्दू रिआया और साधुओं के साथ उसका व्यवहार और दूसरी ओर मुसलमान क़ाज़ी, उलेमा, सय्यद, सुन्नी, सूफ़ी, शेख़ों वग़ैरह के साथ उसका सलूक, हिन्दुस्तान के इतिहास का एक मशहूर और पुरनसीहत हिस्सा रहा है।

मुहम्मद बिन तुग़लक की तक़दीर ख़राब थी। उसे अपनी आज़ाद ख़यालो और फ़लसफ़े की वजह से काफ़ी तकलीफ़ उठानी पड़ी। मगर उसने अपने को एक इनक़लाबी ख़्याल का बादशाह साबित किया। उसके कामों से बरनी को यह महसूस करने में मदद मिली कि उसके पहले के बादशाहों पर फ़ुक़ाहों (व्यवस्थापकों) का कितना कम असर पड़ा है। बरनी ने उन सब व्यवस्थापकों को ग़लत मानकर फीरोज़शाह को मुसलिम-हिन्दुस्तान का पहला सच्चा बादशाह माना है। उसके इस ख़याल को ग़लत नहीं कहा जा सकता। इतिहास से यह मालूम होता है कि क़ाज़ी मुग़ीसुद्दीन, मौलाना शमशुद्दीन और मशहूर अरब क़ाज़ी मावर्दी का भी दिल्ली के मुसलमान बादशाहों पर कोई असर नहीं था। डा० ट्रिटन ने ख़लीफ़ाओं के बारे में यह राय ज़ाहिर की है कि हुक्मराओं का सलूक क़ानून की रू से बेहतर और नरम था। यह बात मध्यकालीन हिन्दुस्तान के बादशाहों के बारे में और ज़्यादा लागू होती है।

बरनी ने इल्तमश की ज़बानी इस उसूल को बयान किया है; लेकिन इल्तमश ने उसे बिलकुल नामुमकिन साबित किया है, और बलबन वग़ैरह उसके उत्तराधिकारियों ने भी नामुमकिन माना है। इसके मुताबिक़ मुसलमान हुक्मरां का यह फ़र्ज़ होता है कि वह हमेशा इसलाम मज़हब को तरक़्क़ी दे। मूर्तिपूजा (बुतपरस्ती) का ख़ात्मा करे और हिन्दुओं को ज़लील करे।

उसे मुसलमानों में फैले हुए किसी भी तरह के मज़हबी विरोध को दबाना चाहिये और तमाम बड़े और ज़िम्मेदार ओहदों ख़ासकर इन्साफ़ के मुहकमे के ओहदों पर इसलाम मज़हब के बड़े बड़े उलेमाओं को मुक़र्रर करना चाहिये। और उसे बिना किसी तरफ़-दारी के अच्छा इन्साफ़ करने का इन्तज़ाम करना चाहिये। मध्यकालीन हिन्दुस्तान के किसी मुसलमान बादशाह ने इस उसूल को नहीं माना, क्योंकि इसके मुताबिक़ इसलाम में विश्वास न रखने वालों पर सख़्ती करनी पड़ती। औरङ्गज़ेब भी दूसरों को ज़बर-दस्ती मुसलमान बनाना पसन्द नहीं करता था। 'मासरये आलमग़ीरी' में उसकी हकूमत में मुसलमान बनाये हुये लोगों की फ़िहरिश्त हमारे सामने है। इस से अकसर किये हुये बयान, कि औरङ्गज़ेब हिन्दुओं को कड़ी से कड़ी सज़ा देकर, तलवार के बल पर मुसलमान बनाता था, सही नहीं साबित होते। यह ख़्याल करने की बात है कि मज़हबी मामले में किसी तरह की ज़बरदस्ती क़ुरानशरीफ़ के मुताबिक़ मना है।

"मज़हबी मामलों में किसी तरह की ज़बरदस्ती न करो", यह क़ुरान की मशहूर आयत है। इसलाम ने दूसरे मज़हबों की हस्ती को क़बूल किया है। "पहले इन्सान एक मज़हब को मानता था; फिर उसमें फ़र्क़ पड़ गया। अगर ख़ुदा की यह ख़्वाहिश होती, तो दुनिया के सभी इन्सान एक ही मज़हब में ईमान लाते, तो क्या तू उन्हें ज़बरदस्ती इसलाम में विश्वास करायेगा ?" (क़ुरान)

तमाम ज़ुल्म और ज़्यादती को मना करनेवाली क़ुरान की इन आज्ञाओं के होते हुये भी अगर

औरङ्गज़ेब ने ज़ुल्म किया, तो उसने ज़रूर ही बुरा किया। और उसका यह बुरा काम इसलाम के बिलकुल ख़िलाफ़ है। मगर अफ़सोस की बात है कि उसकी वजह से इसलाम की भी शिकायत की जाती है। उसकी भी बुराई से हम बाज़ नहीं आते। सर जदुनाथ सरकार ने अपनी 'औरङ्गज़ेब की तारीख़' नाम की किताब में यह लिखा है कि—"मुसलमानों में काफ़िर को क़त्ल कर देना एक सवाब (पुण्य) समझा जाता है। यह ज़रूरी नहीं है कि मुसलमान अपनी वासनाओं को दबाये या अपने शरीर को सुखाये—उसके लिये यह भी ज़रूरी नहीं है कि वह रूहानी ताक़त बढ़ाये—उसके लिये केवल अपने देशवासियों के एक गिरोह को मारडालना या उनकी ज़मीन और मालियत को लूट लेना ही काफी है। और सिर्फ़ यही काम उसे बहिश्त में पहुँचा देगा। जिस धर्म के लोग क़त्ल और डाके को अपना धार्मिक कर्तव्य समझते हैं, वह धर्म दुनिया की शांति और मानवता की उन्नति का विरोधी है।"

ऊपर बयान किया हुआ उसूल हर हालत में झूठा साबित होता है। जलालुद्दीन ख़िलजी जैसे नम्र बादशाह ने भी इस तरह का उसूल चलाने वालों का विरोध करके उन्हें बहस में हरा दिया। उसने इस उसूल को बिलकुल नामुमकिन और ग़लत साबित किया और मुस्लिम हकूमत में हिन्दुओं को जो अख़्तियारात और सहूलियतें मिली हुई थीं उनका भी उसने सविस्तार वर्णन किया।

उसने कहा—"हमेशा से हिन्दू खुलेआम मूर्ति-पूजा करते आ रहे हैं। और अपने मज़हबी काम आज़ादी से करते आ रहे हैं। मैं हमेशा अपने महल के पास ही जमुना के किनारे उन्हें गाते बजाते सुनता हूं।"

इन वजहों से सुलतान जलालुद्दीन ने हिन्दुओं की तरफ़ अपने नरम रुख़ को बदलने से साफ़ इनकार कर दिया। बरनी ने लिखा है कि गद्दी पर बैठने के पहले एक हिन्दू (मन्दहार) ने जलालुद्दीन ख़िलजी पर वार करके उसे चोट पहुंचाई, पर उसने उससे कोई बदला न लिया और गद्दी पर बैठने के बाद जलालुद्दीन ने अपने ऊपर हमला करने वाले इस हिन्दू को मलिक ख़ुर्रम के मातहत एक लाख जीतल तनख़्वाह पर वकीलदार मुक़र्रर किया।

बरनी की लिखी हुई 'तारीख़-ए-फ़ीरोज़शाही', फ़तावा-ए-जहांगीरी', रिहला और मसालिकुल अबसार के ग्रन्थों को ग़ौर से पढ़ने पर यह मालूम होता है कि यह बात इतिहास की दृष्टि से बिलकुल ग़लत है कि मुसलमानी हकूमत में हिन्दुओं की हालत लकड़-हारों और पानीभरने वालों की सी थी। रिहला ने इसे बिलकुल ग़लत साबित किया है। इब्न बतूता ने लिखा है कि एक हिन्दू सरदार ने क़ाज़ी की अदालत में सुलतान मुहम्मद बिन तुग़लक के ख़िलाफ़ मुक़दमा दायर किया। मुहम्मद बिन तुग़लक बुलाया गया और मुक़दमे की बाक़ायदा सुनवाई के बाद हिन्दू के पक्ष में फ़ैसला हुआ और सुलतान मुहम्मद बिन तुग़लक ने फ़ैसले के मुताबिक़ वादी को सन्तुष्ट किया। इससे यह साबित होता है कि मुसलमानी हकूमत में हिन्दू अपनी शिकायतों को दूर करा सकते थे। इब्न बतूता के ज़रिये हमें मालूम होता है कि क़ायदे क़ानून को मानने वाले हिन्दुओं और मुसलमानों में अच्छा रिश्ता रहता था। लाहौर के मुसलमान नवाब अमीर हुलाजन की गुलचन्द नाम के एक हिन्दू से दोस्ती थी। मुहम्मद बिन तुग़लक ने एक दूसरे हिन्दू रतन को सिन्ध के सूबे का सूबेदार मुक़र्रर किया था। सुलतान ने बहुत से हिन्दुओं को इसी तरह मदद दी थी। फ़रिश्ता ने लिखा है कि गुलबर्गा क़िले के रक्षक भीरन राय शाही फ़ौज के बहुत विश्वासपात्र अफ़सर थे। बरनी से मालूम होता है कि हिन्दू सरदार मुसलमान अमीरों से कन्धे से कन्धा भिड़ाकर चलते थे। हिन्दू सरदारों के पास घोड़े होते थे, वे शानदार मकानों में रहते थे, भड़कीले कपड़े पहनते और ग़ुलाम रखते थे। उनकी ख़िदमत में मुसलमान नौकर भी रहते थे। इस बयान में मुबालग़ा (अतिशयोक्ति) है कि हिन्दू रईसों के दरवाज़ों पर ग़रीब मुसलमान भीख मांगते दिखाई

देते थे। राजधानी में भी हिन्दू सम्मान और इज़्ज़त से देखे जाते थे और उन्हें 'राय', 'ठाकुर', 'साहू', 'महन्त' और 'पण्डित' आदि कहकर आदर से पुकारा जाता था। उन्हें अपने धार्मिक ग्रन्थ और संस्कृत पढ़ने की पूरी स्वाधीनता थी। 'मुहम्मद बिन तुग़लक' नामक अपने ऐतिहासिक ग्रन्थ में मैंने संस्कृत उल्लेखों से यह दिखाया है कि उस ज़माने में उत्सवों आदि में संस्कृत का व्यवहार होता था।

इस सब को देखते हुये इस बयान में कोई बुनियाद नहीं है कि अलाउद्दीन ख़िलजी की हकूमत में हिन्दुओं के साथ ख़ास तौर पर सख़्ती की जाती थी, या सल्तनत की यह पालिसी थी कि हिन्दुओं के पास इतना धन न रह जाय कि वे घोड़े की सवारी कर सकें, अच्छे कपड़े पहन सकें, हथियार रख सकें और आराम की ज़िन्दगी बसर कर सकें और यह कि वे चूस कर बहुत ही ग़रीब कर दिये गये।

अगर हम तमाम ऐतिहासिक सामग्री को ध्यान से पढ़ें, तो हम ऐसा कभी न सोच सकेंगे। अगर उनकी हालत बुरी से भी बुरी मान ली जाय, तब भी हम यह कह सकेंगे कि उस ज़माने में हिन्दुस्तान की तरक़्क़ी से हिन्दुओं को भी उतना ही लाभ पहुँचता था, जितना मुसलमानों को। इब्न बतूता वग़ैरह का भी यही ख़याल है।

फ़ीरोज़ शाह तुग़लक के समकालीन अफीफ नामक एक इतिहासकार ने उसकी हकूमत में रैयत की ख़ुशहाली का बयान करते हुये लिखा है:— "उनकी औरतें आमतौर से सोने और चांदी के गहने पहनती थीं। हर रैयत के यहां साफ़ सुथरी फुलवाड़ी और अच्छे पलँङ्ग होते थे।" एल्फ़िन्स्टन इस बात को कुछ हद तक मानता है। कट्टर से कट्टर लेखक इस बात को मानेगा कि फ़िरोज़शाह तुग़लक की हकूमत से हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों को यकसा फायदा था।

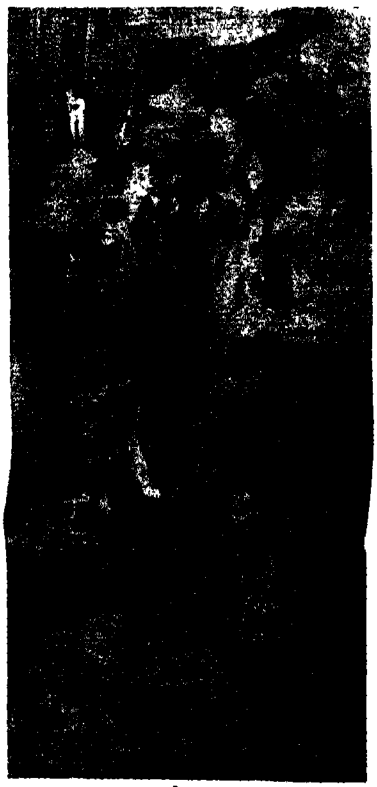
कहने की ज़रूरत नहीं कि मुहम्मद बिन तुग़लक का बर्ताव—हिन्दू राजाओं के साथ बहुत अच्छा था; मुग़ल शहंशाहों की हकूमत में हिन्दू बहुत बड़ी तादाद में ऊंचे और ज़िम्मेदारी के ओहदों पर थे और राजा लोग अकसर फ़ौजी गश्तों पर भेजे जाते थे और उन्हें बड़ी बड़ी ज़िम्मेदारी और विश्वास के काम दिये जाते थे। शाहजहां के वक़्त में नूरपुर के जगत सिंह ने १४,००० राजपूतों की फ़ौज लेकर बलख़ और बदख़्शां के उज़बेकों के ख़िलाफ़ बहुत बहादुरी से फौजकशी की। १६६१ ई० में औरङ्गज़ेब के ज़माने में जगतचंद के पौत्र राजा मान्धाता को बामियां और गौड़ का इन्तज़ाम सुपुर्द हुआ। २० वर्ष बाद फिर वह दुबारा उसी ओहदे पर तैनात किया गया और उसे दो हज़ारी मनसबदार बनाया गया। सन् १५७८ में कागड़ा का राजा धम्मादचन्द सतलज और रावी के बीच के पहाड़ी भाग और जालंधर के दोआबे का सूबेदार बनाया गया। एल्फ़िन्सटन ने लिखा है कि *इसमें कोई शक नहीं कि बहुत से हिन्दू दीवानी* मोहकमे में ख़ास कर माल और हिसाब किताब के मुहकमों में अफ़सर थे। मेदिनीराय और हेमू को अपने अपने मोहकमों पर पूरा अख़्तियार था। मुबारक शाह ख़िलजी के ज़माने में कचहरियों का और हकूमत का सारा तर्ज़ हिन्दुस्तानी था। दक्षिण में गंगू नामक ब्राह्मण अलाउद्दीन बहमनी के माल के मोहकमे का वज़ीर था। गंगू के बाद दक्षिण के ब्राह्मणों ने मुसलमान बादशाहों के माल के मोहकमे को चलाया था। गोलकुंडा, अहमदनगर और बीजापुर के सुलतानों ने हिन्दू रिआया के साथ दरियादिली से उनके लिये सभी फौज और दीवानी मुहकमों को खोल दिया था। शिवाजी के पिता शाहजी अहमदनगर और बीजापुर दोनों रियासतों में बहुत अच्छे फ़ौजी अफ़सर की तौर पर मशहूर थे। दक्षिण में मराठा राज की नीव डालने में शिवाजी ने इस बात का पूरा फ़ायदा उठाया।

उत्तर में सिकन्दर लोदी ने मुसलमानों की तरह हकूमत के ऊंचे ऊंचे ओहदों पर पहुंचने के लिये हिन्दुओं को ख़ास तौर पर मदद दी। एक बार उसने भरे दरबार में पूछा :—

"क्या ऐसा कोई हिन्दू है जो फ़ारसी जानता है ?" जवाब में ऐसा कोई हिन्दू न मिला तो उसने ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों को फ़ारसी पढ़ने के लिये कहा। परन्तु सबने यह कहकर माफ़ी चाही कि उन्हें अपने पेशे के काम से फ़ुर्सत ही नहीं मिलती। सिर्फ़ कायस्थों ने फ़ौरन फ़ारसी पढ़ना शुरू किया। उनकी तरक़्क़ी से और लोगों का भी चाव और ख़्वाहिश बढ़ी। इसके बाद से हिन्दू कारकुनन्दों की तादाद बहुत बढ़ी, जिसका सबूत बाबर के समय में भी मिलता है। बाबर लिखता है—

"जब मैं हिन्दुस्तान पहुंचा उस वक़्त माल मोहकमे के अफ़सर, सौदागर और कारीगर सब हिन्दू थे।" (बाबर)

इस तरह सिकन्दर लोदी ने जो काम शुरू किया था, उसे अकबर ने पूरा किया, जब कि फ़ारसी सरकारी और साहित्यिक भाषा हो गई तब से हिन्दुओं ने भी हकूमत के बड़े ओहदों के लिये होड़ शुरू की। जब कुछ मुसलमानों ने जलन के मारे व्यंग से अकबर से कहा कि उसने सब मुसलमानों के ऊपर एक हिन्दू अफ़सर टोडरमल को रक्खा है, तो शहन्शाह ने जवाब दिया, "आप सबों के मोहकमों में हिन्दू अफ़सर हैं; तब आप लोगों को मेरे मोहकमे में हिन्दू अफ़सर का होना क्यों बुरा लगता है ?"



जन्म-कथा

[गुरुदेव की एक कविता पढ़कर]

विश्वम्भरनाथ

"माँ मुझको कह कैसे पाया?
"किस अज्ञात देश से मुझको
कौन यहाँ पर लाया?"
हाड़, माँस औ रक्त बिन्दु में
किसने जीवन प्राण जगाया?
—अथवा घटना - क्रम - विकास ही
मुझे यहाँ अनचाहा लाया?

"इस छौने सुकुमार सलोने को
मैया कह कैसे पाया?"
ममता से प्राणों में पुलकित
माँ ने मुझको दूध पिलाया;
—मेरी जन्म - कथा मुसकाकर
अलस - भाव से मुझे सुनाया।"

अपने बचपन के कौतुक में
शैशव के भोले मेलों में;
मधुर हास, परिहास बिखेरे
गुड़ियों के अद्भुत खेलों में;
—मैं बनती थी मातु जसोदा
औ तू मेरा कृष्ण कन्हय्या।

"अपनी मधुर - कल्पनाओं में
अपनी प्रेम - जल्पनाओं में;
अपनी माता और प्रमाता
के अति प्रौढ़ पूर्ण भावों में;
—जाने किस अनन्त युग से तू
माँओं की गोदी में आया।

"शैशव में मेरा मानस - तल
खोल रहा था अपने शत-दल;
रूप, गन्ध, मुसकान समेटे
तू मेरे हीतल में आया;
—अपनी अति सुकुमार सरणि से
मेरा यौवन - वेश सजाया।"

"तू वसुधा का स्वप्न मनोहर—
तू आमरण अनश्वर वाणी
तू सजीव आशा अशेष है
तू जीवन की अकथ कहानी;
—मेरे नश्वर रूप - सरोवर
में तू सरसिज बनकर आया।

"तुझे देखती हूँ नित प्रति मै
किन्तु लाडले समझ न पाती;
अपने इस दिल के टुकड़े पर
क्यों जननी सौ सौ बलि जाती ?
—शिव-गौरी की पुण्य कथाओं
से तेरा अस्तित्व चुराया।

"तेरे अधरो ही में मै
अपने अधरों का चुम्बन करती;
तेरी तरल हंसी में अपनी
बिखरी हुई हंसी मै भरती;
—मेरे प्यारे लाल लाडले
मेरे अन्तरतम से आया।

"कहीं न तू मुझ से खो जावे
इसीलिये छाती मे रक्खा;
किस अद्भुत माया ने तुझको
मेरी इस थाती में रक्खा ?
—जाने कितने युग के तप से
तुझे आज गोदी में पाया।"

———

जड़ की बात

श्री जैनेन्द्र कुमार

उस रोज़ देखा कि सड़क के किनारे धूप में एक आदमी पड़ा हुआ है। हड्डियों का ढांचा रह गया है और मिनटों का मिहमान है। चलती सड़क, काफी लोग आ-जा रहे थे। वे उसकी तरफ देखते और बढ़ जाते थे। मैंने भी उसकी तरफ देखा और बढ गया।

उस दृश्य पर आने से कुछ पहिले उसी सड़क पर मैंने देखा कि एक मोटर चलते चलते रुकी। उसमें से दो व्यक्ति उतरे और नीचे कुछ देखते हुये पीछे की ओर गये। आखिर कुछ दूर चलने पर एक रुपया उन्हें पड़ा हुआ मिला। वह शायद उन्हें मोटर से जाते हुए दीखा होगा। उसके लिये ही वे मोटर से उतरे थे।

कल्पना कीजिये कि उस आदमी की जगह तांबे का एक पैसा पड़ा होता, तो क्या उसको पड़ा रहने दिया जाता? लखपती भी होता तो शायद उसे देखते ही उठा लेता। रुपये की तरफ़ उन मोटर वालों की सावधानता देखी ही जा चुकी है। इसी तरह धन का प्रतिनिधि एक भी सिक्का कहीं पड़ा हो, तो किसी के देखने की देर है कि वह धूल से उठाकर छाती के पास की जेब में रख लिया जायगा।

लेकिन आदमी की दूसरी बात है। आदमी मरने के लिये आदमी की ओर से छुट्टी पा गया है। कारण, पैसे की क़ीमत है। आदमी की क़ीमत नहीं है।

दया आदि की बात छोड़िये। किसी को फ़ुर्सत क्यों कि दया में पड़े। दया का दावा नहीं हो सकता। मरज़ी है कि दयावान दया करे। मर्ज़ी नहीं है तो दया न करने के लिये किसी को दोष नहीं दिया जा सकता। अर्थात् यह प्रश्न नहीं है कि दया आदमी में क्यों नहीं रही। आप मानते हैं किसी के दिल में दया होती तो वह उस अधमरे आदमी का कुछ उपचार करता। पर मुझे इससे सन्तोष नहीं है। उस आदमी के उपचार के लिये दयावान व्यक्ति की ज़रूरत हो और हममें से हर कोई उस तरह के उपचार में सचेष्ट न हो, यह स्थिति ही मेरी चिन्ता का विषय है। इस स्थिति में ज़रूर कोई बड़ा दोष है। दयालु होने के कारण ही मैं उस गरीब के काम आ सकता हूं, समझदारी के कारण नहीं, आज का यही हाल है। उस गरीब को बचाकर क्या होगा? सैकड़ों-हज़ारों मरते हैं। अजी छोड़ो, अपना काम देखो। इस फेर में लगोगे, इतने में कुछ और कमाई का काम ही न करलो। यह आदमी मर जायगा, तो किसी का क्या नुकसान होगा? इससे समझदारी यह है कि दया में न पड़ा जाय।

यह सच ही है और मैं इससे सहमत हूं। जहां दया और समझ का विरोध हो, वहां मैं समझ के पक्ष में हूं। दया कच्ची भावुकता है। समझदारी वह ज़मीन है, जहां पैर टिकता है। हम नहीं मान सकते कि हर कोई दयावान हो। पर समझदार हर किसी को होना चाहिये। दया में गिरकर लोग फ़क़ीर हो गये हैं। घर-घाट के नहीं रह गये, बारह-बाट हो गये हैं। कोई भला ऐसे बना है? सब बिगड़े ही हैं। महापुरुषता का लक्षण गहराई से देखें तो दया से अधिक अदया (निस्पृहा) है। दया वह उतनी ही पालते हैं, जितनी समझदारी में निभती है।

मैं अन्तःकरण की सचाई से कहता हूं कि दया की प्रेरणा मुझे सच्ची प्रेरणा नहीं मालूम होती। और अगर उस भूखे, कंकाल इन्सान के वहीं सड़क की धूल में और धूप में पड़े रहने का कारण सिर्फ़ इतना होना कि आदमी में दया नहीं रह गयी, तो मुझे यह

लेख लिखने की प्रवृत्ति न होती। पर आज तो मुझे इसी पर विस्मय है कि समझदारी हमें यह समझाती मालूम होती है कि हमें, ज़िन्दा आदमियों को, उस मरते हुये प्राणी के झंझट में नहीं पड़ना चाहिये। समझदार बेशक दयालु नहीं हो सकता। उसे दयालु नहीं होना चाहिये। दया का मतलब अहसान भी होता है। बेशक अहसान झूठ है। इससे दया भी झूठ है। पर समझ को तो समझदार होना चाहिये और आज का समझदार आदमी अगर अपनी राह चलता चला जाता है और मरने वाले को सड़क किनारे पड़ा रहने देता है, तो ज़रूर कोई बहुत बड़ी ख़राबी है। उस ख़राबी का नाम दया की कमी नहीं क्योंकि दया की कमी को अथवा कि उसके अभाव को हम ख़राबी नहीं कह सकते। वह क्षम्य बात है। एक तरह से वह उचित बात है। नहीं, उसमें कोई बहुत बड़ी ख़राबी मैं मानता हूं। और उसी ख़राबी को पाना चाहता हूं।

पड़ा पैसा धूल में से हर कोई उठा लेता है। बच्चे को भी कहना नहीं पड़ता, धूल झाड़ कर वह उसे जेब में रखता है। जरूरत नहीं है कि हम समझायें कि—देखो बेटा, पैसा मिले तो उस पर दया करना, उस बिचारे को धूल में पड़ा मत रहने देना। यह सब जरूरत इसलिये नहीं रहती कि पैसे से उसका हित जुड़ गया है। इसलिये एकदम स्वाभाविक है कि पैसा दीखे और उसे उठा लिया जाय।

क्या सांस लेता आदमी तांबे के एक पैसे से भी कम क़ीमती है? मैं चाहता हूं कि विज्ञानवेत्ता से पूछकर बता सकूं कि मरे आदमी तक में से कितना फॉस्फोरस और कितना क्या क्या मिल सकता है। फिर, मरे और जीते की तो तुलना क्या। चेतन आदमी में अगणित सम्भावनाएं हैं। आत्मा में क्या नहीं है? इस तरह जब कि मरता आदमी भी जाने कितने अनगिनत पैसों से ज़्यादा क़ीमती है, तब जीते इन्सान का तो पूछना क्या!

पर, आंखों देखी बात है कि पैसा उठा लिया जाता है; इन्सान को छोड़ दिया जाता है। उसकी क़ीमत पैसा नहीं है। मैं जानना चाहता हूं कि यह अनर्थ कैसे होने में आया? क्यों यह ज़रूरी नहीं है कि जैसे पैसे की तरफ़ प्रीति का हाथ बढ़ता है, वैसे ही बल्कि उससे भी अधिक इन्सान की तरफ़ हमारा प्रेम का हाथ बढ़े? क्यों यह ज़रूरी है कि आदमी दया की प्रतीक्षा करे और तब तक उस ओर से अपने को अछूता बनाये रखे? क्यों नहीं यह आदमी के स्वार्थ में शामिल हो कि वह दूसरे की मदद करे? उसे दूसरे की मदद ही क्यों समझा जाय? पैसे को उठाते हैं, तो यह हम अपनी मदद करते हैं। लेकिन अंग्रेज़ी में भी I help myself to it—यह वाक्य प्रयोग इन्सान के बारे में नहीं होता। वह मदद दूसरे की है इसलिये दया भाव से ही की जा सकती है—यह बेवक़ूफ़ी हममें क्यों घर कर गयी है। अगर पैसे को धूल में से उठाकर जेब में रखना उस पर उपकार करना नहीं है, तो रोगी को सड़क पर से उठकर अस्पताल में रखने में भी उपकार की कहां आवश्यकता आ जाती है? मैं मानता हूं कि जब तक उपकार और दया की आवश्यकता ऐसे कामों में मानी जायगी, अर्थात् जब तक उन्हें शुद्ध लौकिक हित और समझदारी का काम ही नहीं माना जायगा, तब तक हमारी समस्या हल नहीं होगी। यह हममें से हरएक के लिये स्वाभाविक होना चाहिये कि हम मृतप्राय को जीवनोन्मुख करें। एक आदमी जाता है तो क्या इससे मनुष्य जाति की पूंजी कम नहीं होती?

कहा जायगा कि मृत्यु है और रहेगी। मैं मानता हूं कि उसे रहना चाहिये। मैं आदमी की अमरता में विश्वास नहीं करता, क्योंकि आत्मा की अमरता में विश्वास करता हूं। इसलिये सचमुच इस बात पर मुझे दुख नहीं है कि कोई मर जाता है। पर मरने वाला कैसे मरता है, यह विषय मुझे अतिशय चिन्ता का मालूम होता है। हमें हक नहीं है कि किसी को द्वेष से, घृणा, क्रोध या निराशा से मरने दें। इससे मानव जाति का बन्धन बढ़ता है। एक भी आदमी हमारी उपेक्षा पर, हमसे तिरस्कार पाकर मरता है,

तो वही हमारे माथे पर कलंक का टीका बनता है। सचमुच उस बिचारे सड़क के किनारे पड़े आदमी पर दया की ज़रूरत नहीं है। वह तो मरकर छुट्टी पा जायगा, पर यह जो बड़े बड़े सरकारी दफ़्तर और सभी दफ़्तर और सभा-समाजें समितियां और महलों में बसने वाले लोग और बोलने वाले नेता और लिखने वाले लेखक और छापने वाले अखबारी—इन सब पर तरस खाने की ज़रूरत जरूर है। वह जो सड़क पर पड़ा है, ख़ुद में कुछ नहीं है। वह हम सब अहमन्यों की अहमन्यता की आलोचना है, मनुष्य पर व्यंग है। वह हमारी शर्म है। जितनी देर वह जिन्दा लाश वहां पड़ी है, उतना ही हमारा पाप बढ़ता है। उसके मर जाने से वह पाप क़ायम होता है।

मानव जाति की व्यवस्था के काम में करोड़हा करोड़ रुपया एक जगह जमा होता है और उससे फौज और अस्त्र-शस्त्र क़िले, अदालत, दफ़्तर और सरकारें बनती हैं। वह शासन की सत्ताएं सुव्यवस्था के लिये हैं। इसलिये हैं (यानी होनी चाहियें) कि सब आदमी जियें और एक दूसरे का भला चाहते हुये मरें। अर्थात् वे सत्ताएं आदमियों के लिये हैं। सत्ता के लिये आदमी नहीं है। पर आज अन्धेर है तो यही कि उस सत्ता की रक्षा के लिये आदमी के अस्तित्व को माना जाय। आदमी यहां इसलिये है कि वह मरे और सत्ता जिये। वह ईंधन है कि सत्तावालों की रोटी पके। अर्थात् उनका प्रश्न नहीं है जिनकी सुव्यवस्था के लिये सब कुछ है, बल्कि मानो व्यवस्था (Law and O der) ही वह देवी है जिस पर बलिदान होना व्यक्ति के व्यक्तित्व की सार्थकता है। सरकार ईश्वर है और आदमी उस महाप्रभु (सरकार) का सेवक होने के लिये है। फलतः सरकारी अमन सब कुछ है और आदमियों का मरना-जीना कुछ नहीं है। सुशासन के लिये आदमियों को मारा जा सकता है।

यही तो है, जहां ख़राबी है। आदमी एक गिनती हो गया है। वह आत्मा नहीं है, पवित्र नहीं है। उसमें अपने आप में कोई क़ीमत नहीं है। दफ़्तर चल रहे हों, और सरकार की मशीन चल रही हो। जब वह चीज़ ठीक चल रही है, तब दो-चार या सौ-हज़ार आदमी भूखे और नंगे मर जांय तो क्या हुआ? सुशासन की आरती तो अखंड चल रही है, उसका रिकार्ड दफ़्तर में बराबर तैयार हो रहा है। यह जो आदमी सड़क के किनारे पड़े भिनकते हुए मर रहे हैं, यह तो अपने कर्मों का फल पा रहे हैं। बाक़ी हमारा बजट देखो, हमारी रिपोर्टें देखो, हमारे कारख़ाने में चल कर उसका इन्तज़ाम देखो। तब तुम्हारी आंखें खुलेंगी कि सभ्यता और उन्नति कहां पहुंच गयी है। उस घृणित और सड़ी लाश को क्या देखते हो!

हां, मैं यही कहना चाहता हूं। मैं कहना चाहता हूं कि कीमत असल को छोड़ गयी और नक़ल पर जा चढ़ी है। आदमी का बचाना असल प्राण का बचाना है, इसी से वह निष्फल है। और पैसे का बचाना यहां सफल है। आज की क़ीमतों की यही सबसे बड़ी आलोचना है। नहीं सवाल है कि तुम्हारी छाती कितनी बड़ी है। सवाल है कि उस पर लटकी तुम्हारी जेब कितनी भरी है। अन्दर से छाती चाहे पिचकी और क्षुद्र हो तथा उसमें और किसी के लिए समाई न हो, पर उसको ढंकनेवाली जेब अगर गर्म है, और चौड़ी है और मोटी है, तो सब ठीक है। नहीं कहा जाता आज कि तुममें मनुष्यता हो। उसकी जगह तुम्हारे पास धन की पेटी है, तो अच्छा है। अर्थात् मूल्य आदि हमारे उलटे हैं। हीरा आज फिंक रहा है और कौड़ी को बटोरा जा रहा है। तभी तो देखते हैं कि पैसे पर हाथ लपकता है और आदमी पर लात चलती है।

ऊपर देखा, और वैज्ञानिक सच है, कि मुर्दा आदमी भी क़ीमत से खाली नहीं है। लोग मुर्दा हड्डियां बटोरते और बाहर भेजते हैं। व्यवसायी उनमें से लाभ लेता और आविष्कारक तथ्य निकालता है। विवेकी के हाथ क्या चीज़ उपयोगी नहीं; विष्टा भी वहां खाद है और कूड़े-करकट में से काग़ज़ बनता है। तो भी सड़क पर पड़े आदमी से सब आंख मोड़कर

चले गये, जैसे कि उसको लेकर कोई लाभ का सौदा हो ही नहीं सकता।

मैं कहना चाहता हूं कि वह स्थिति सदोष है, जहां आदमी को बचाना किसी भांति लाभ का सौदा नहीं रह जाता। वह लाभ का सौदा नहीं है, तभी तो हर कोई आदमी उस तरफ़ नहीं मुड़ता है। अगर हम चाहते हैं कि ऐसे दृश्य हमारे देखने में न आवें, तो कुछ ऐसा प्रबन्ध करना होगा कि भूखे को खाना, प्यासे को पानी और रोगी को उपचार देना हम में से हर एक के लिये लाभ का सौदा बन जाय। पुरानी क़ीमतें तो बदल गयी हैं, क्योंकि ईश्वर बदल गया है। पहिले ईश्वर भक्तवत्सल था और दूसरे जनम में नेकी का इनाम मिल जाता था। इससे नेकी हर किसी के लिये लाभ का सौदा था। पर अब सिंहासन पर सरकार है और स्वर्ग की जगह तरह तरह की सरकारी पदवियां हैं। स्वर्ग नेकी से मिलता था, पर राय-बहादुरी धन से मिलती है। ईश्वर औरों की सेवा से खुश होता था, सरकार अपनी सेवा से ख़ुश होती है। इसलिये पहिले का लाभ का सौदा अब आकर टोटे का हो गया है। इससे कोई उसके झंझट में नहीं पड़ता।

ओः, आप मोटर से उतरे हैं। आप रायसाहब हैं। अजी आपके कपड़े और शक्ल बतलाती है। आइये, आइये, धन्य भाग्य। तशरीफ़ लाइये। और तुम हटो निकलो। यह दगीले कपड़े लेकर कहां घुसे चले आ रहे हो! क्या—! बीमार, सड़क—तो मैं क्या जानूं! उस गरीब को उठाने में कपड़े मेरे खराब होंगे। बस, बस, बको मत। चलो, हटो।

हमारा व्यवहार ऊपर के मानिन्द है और उससे देखा जा सकता है कि मनुष्य के लिये मनुष्यता लाभ का सौदा नहीं है, बल्कि किसी क़दर अमनुष्यता इस वक्त सौदा है।

क्या कहा! आप नेकी की और उसके नेक फल की और ईश्वर की और जगत की भलाई की बात करते हैं! आप भोले हैं। आप ख़्वाब में रहते हैं। *युग बुद्धिवाद का है और आप में बुद्धि नहीं है।* आप भावुक हैं। भावुकता के कारण आप सीधी उन्नति की सड़क पर से हट कर किसी सेवा-बेवा के चक्कर में पड़ना चाहते हैं तो पड़िए। पर हम बताते हैं कि वह लाभ का सौदा नहीं है।

और मैं यही कहना चाहता हूं कि जब तक हमारे मानसिक और सामाजिक मूल्य ऐसे नहीं हो जायंगे कि आदमी का लाभालाभ ही मनुष्यता के पैमाने में नापा जाय, अर्थात् जब तक आदमी धन से नापा जायगा मन से नहीं, तब तक हमारी लज्जा और ग्लानि के दृश्य हमारी आंखों के सामने आते ही रहेंगे।

वह आलीशान म्युनिसपैल्टी की इमारत खड़ी है। उसके चारों तरफ बग़ीचा है और पुलिस के सन्तरी हैं। लेकिन उसके बाद मरभुखों की पांत अपने दारिद्र्य और अपने मैल को खोले पड़ी है। म्युनिस-पैल्टी के महल के लिये क्या यह दृश्य कलंक का नहीं है? और हम म्युनिसपैल्टी के उस मेम्बर को सबसे ज्यादा चाहते हैं, जो सबसे अच्छे कपड़े पहनता और सबसे अच्छा बोलता है। नगर पिता हम उसे बनाते हैं, जो सेवा की बकवास करता है कि सेवा का काम न करना पड़े।

पर सच यह है कि मनुष्य का लाभ मनुष्यता का लाभ ही है। इससे वह कुछ भी लाभ का सौदा नहीं है, जिससे मनुष्यता की पूंजी लुटती है। इस बात से आंख बचाकर जो लाभ के सौदे के फेर में पड़े हैं, वे अपने को भुलावा दे रहे हैं। वह दिन आनेवाला है कि हम देखेंगे कि धन आदमी का गौरव नहीं वह आदमी का कोढ़ है। और मालदार बनने की इच्छा मनुष्यता की निधि में नक़ब लगा कर चोरी करने की इच्छा से कम या भिन्न नहीं है। आज हम अपने लाभ को दूसरे के अलाभ में देखते हैं। हमारी जेब में जो आता है, वह दूसरे ही की जेब में से तो आता है। किसी को दरिद्र रखे या बनाये बिना हम मालदार रह या बन नहीं सकते। निपट दरिद्रता की तस्वीर से हम डरते हैं, तो अपनी धनाढ्यता की आकांक्षा से हमें डरना होगा। नहीं तो अपने ही रोग

का दूसरा पहलू हमारी आंखों के आगे आने से बच नहीं सकता। धनी धन में बन्द नहीं हो सकता। और कितना भी बन्द रहे, अपनी आत्मा के दैन्य के अनुभव से वह नहीं छूट सकता। आदमी लाचार है कि मरे और लाचार है कि जाने कि धन साथ नहीं जाता। इसी तरह वह लाचार है कि पाये कि धन बटोरना बखेड़ा ही बटोरना है और एक जगह धन का इकट्ठा होना शरीर में खून के इकट्ठा होकर गिल्टी बनने के समान है।

तो भी, हम भ्रम को पोसते हैं। क्योंकि चारों ओर से उसकी सुविधा है। आसपास हमारे सबके मनों में सोने की छड़ी बस गयी है। उससे आदमी को नापा जाता है। हममें उस रोग का बीज है ही। पड़ौसी से अपने को बढ़कर मान सकें, तभी हमें सुख मिलता है। अपने को घटकर मानने को लाचार हों, यही दुःख का कारण है। बस, इस तरह मेरे-तेरे की तराज़ू में हम लटके रहते हैं। वह तराज़ू है ही राग-द्वेष की। उसकी डंडी अहंकार के हाथ में है। उसके बाट सोने-चांदी के हैं। और बस, उन्हीं बाटों पर अपना लाभालाभ तोलकर हम चला करते हैं। पर तराज़ू ही वह खोटी है। क्योंकि मेरा-तेरा ही ग़लत है। पड़ौसी से बड़ा बनकर जो सुख मैंने माना है, वह सुख मेरे हाथ में कहां, वह तो पड़ौसी की मुट्ठी में है। अपने को वह छोटा न माने तो मेरे बड़प्पन का सुख भी किरकिरा हो जाता है। इसमें मेरा असल सुख तो पड़ौसी को सुखी बनाने में है। क्योंकि यह सुख मुझसे कोई छीन ही नहीं सकता। इस ढङ्ग से देखने पर जो जितना लाभ का सौदा समझा जाता है, वह उतना ही नुक़सान का हो जाता है। क्योंकि अहंकार का फूलना आत्मा का क्षीण होना है। अभिमान आत्मा का शत्रु ठहरा। धन अभिमान की गाठ है। धन की दुनिया में सबसे बड़ा सत्य इज़्ज़त है जो कि ख़ुद झूठ है। इज़्ज़त में तुलनात्मक भाव है। मेरी नाक ऊंची होने का मतलब ही यह है कि वह दूसरे से ऊंची है। संसार ऐसे ही चलता है। पर मुक्ति ऐसे थोड़े ही मिलती है।

मैं मानता हूं कि परस्पर की सहायता को भलाई की कोटि से उतार कर स्वभाव की कोटि तक हमें लाना होगा। भलाई मानों एक अतिरिक्त वस्तु है। मानों वह कोई उपकार है। यानी हम उस पर गर्व कर सकते हैं। पर, यह तो बड़ी भारी भूल है। मैं जानता हूं कि अभिमान की जो उसमें एक प्रकार की सेंक मिलती है, उसके कारण उपकार कर्म बहुधा किया जाता है। इसीलिये मैं यह कहता भी हूं कि भला करके दूसरे से ज़्यादा हम अपना भला करते हैं। इसमें भलाई का श्रेय कैसा?

शुरू में मैंने यही बात उठाई थी कि भलाई जब तक हमसे दूर की वस्तु रहेगी, तब तक काम नहीं चलेगा। हममें से अपने को भला आदमी कहने को शायद ही कोई तैयार हो। पर समझदार अपने को सब मानते हैं। हम सब स्वार्थी हैं कि नहीं, अपना नफा-नुक़सान देखते हैं। हम सब समझदारी में समान हैं। मैं यही कहना चाहता था कि जिसको नेकी कहकर सामान्य से ऊंची कोटि दी जाती है, समझदारी यानी (Common Sense) की बात होनी चाहिये। अर्थात् सामान्य बुद्धि की दृष्टि से नेकी का काम हमारे लिये लाभ का सौदा भी होना चाहिये।

यहां आकर मैं मानव-समाज के व्यवस्थापकों को दोष देता हूं। वे इन प्रकृत मानवीय मूल्यों के विकास में मदद नहीं कर रहे हैं। वे जिस अंश में अपने को शासक मानते हैं और सेवक की भांति व्यवहार नहीं करते हैं, उतने ही अंश में वे सदोष हैं। उतने ही अंश में वह झूठी क़ीमतों को मज़बूत करते हैं और असली क़ीमतों को उभरने से रोकते हैं। वे इन्सान को इन्सान बनने की ओर प्रेरित नहीं करते बल्कि उसे बड़ा बनने, ऊंचा और अमीर बनने की लालसा पैदा करते हैं।

मैं मानता हूं कि आदमी में आदमी के प्रति जो कुत्सा, ईर्षा उपेक्षा और अवहेलना के भाव देखने में आते हैं, वह मूलतः इसी अहंप्रेरित जीवन-नीति के पालन करने के कारण बनते हैं। सत्ता अधिकांश उसी पर खड़ी होती है। व्यक्तियों में आपाधापी की

वृत्ति को मूल से नष्ट करने में शासन-सत्ता का हित नहीं है। इससे जनता के ऐक्य से उसे डर लगता है, क्योंकि जनता का अनैक्य शासन का समर्थन है। शासन का मत्र है, भेद। फूट डालो और राज्य करो। जन-समाज मे श्रेणियां डालकर शासन चलाया जाता हैं। ऊंच और नीच, अमीर और ग़रीब इस तरह का भेद सत्ता के लिये बहुत ज़रूरी है। क्योंकि उस भेद के कारण सत्ता अनिवार्य बनती है। दो लड़े तो बीच बचाव का काम हाथ में लेने के लिये तीसरा आ ही जाता है।

इसी से हितों की अनेकता पैदा करके शासन सत्ताएं मज़बूत बनती हैं। सब को अपने अपने स्वार्थ की पड़ती है। इस स्वार्थ की वृत्ति को गहरा करके मानव जाति के व्यवस्थापक अपनी कुर्सी को निश्चिन्त बनाते हैं। पर यह भी निश्चित है कि इस तरह वह अपनी कुर्सी को कलंकित करते हैं। भेद पर बनी व्यवस्था टिकनेवाली नहीं। आदमी के भीतर स्वार्थ है तो निस्वार्थता भी है। यानी स्वार्थी आदमी में ही यह प्रतीति निवास करती है कि दूसरे की हानि पर पलनेवाला स्वार्थ मेरा सच्चा स्वार्थ नहीं है। सच्चा स्वार्थ मेरा ही वह है जो दूसरे स्वार्थ के साथ अभिन्न है।

इस तरह यह हालत बहुत दिनों तक रहनेवाली नहीं है कि लोग सड़क किनारे पड़े जीते कंकाल को देखते हुये निकल जांय। जल्दी वह समय आ जायगा कि जब अपने व्यवस्थापकों से हम पूछेंगे कि क्यों तुमसे इतनी चूक हुई कि वह आदमी सड़क पर पड़ा हुआ है? तुम हकूमत के लिए नहीं हो, व्यवस्था के लिए हो। तुमको हाथ का हुनर तो कोई आता नहीं था, तुमको निकम्मा जानकर यह काम सौंपा गया है। पर तुममें यह पुरानी बू अब तक मौजूद है कि तुम अपने को अफसर समझो और उसमें भूल जाओ। ध्यान रहे कि तुम सेवक हो, तुम मालिक के विश्वास को खो नहीं सकते। जो काम तुम्हें सौंपा गया है, उसमें चूकते हो तो जाओ, अपना रास्ता देखो।

आप सोचिए कि जब लड़ाई हो रही हो, तो बारूद को बरबाद करनेवाला आदमी कितना गुनहगार है। ईश्वर की सृष्टि में हर आदमी बारूद के गोले के मानिन्द है। उसे बर्बाद होने दिया जा सकता है; उससे मौत का काम लिया जा सकता है या उससे ज़िन्दगी का काम लिया जा सकता है। मनुष्य जाति के व्यवस्थापकों का न्याय एक दिन उसी तराज़ू पर किया जायगा कि उन्होंने ईश्वर की पूंजी का क्या बनाया। कितना खोया, कितना कमाया? आदमी आदमी में जितनी एकता, निस्वार्थता बढेगी वह कमाई है। जितना उनमें अनैक्य और स्वार्थ बढ़ेगा, वह टोटा है। अन्त में देखा जायगा कि आदमी का व्यवस्थापकों ने क्या उपयोग किया है? कितनों की सम्भावनाएं नष्ट होने दीं या प्रस्फुटित होने दी? कितनो को ईश्वर की समती मे खिलने दिया? और कितनों को अवरुद्ध रखा? आदमी के अन्दर कितनी हिंसा (स्वार्थ) को पोषण दिया और कितने उसमें अहिंसा (सेवा) की शक्ति को जगाया?

व्यक्ति एक शक्ति का पुंज है। व्यवस्थापक का काम है कि उस शक्ति का अधिकाधिक उपयोग करे। उससे इसी का हिसाब मांगा जायगा। यह जो सड़क पर आदमी पड़ा है—किस हक से उसे वहां पडा रहने दिया गया है? सदा से तो वह ऐसा न होगा। किसी मा का वह बेटा होगा, कभी जवान रहा होगा, मन में उमंग और आशा होगी। किसी के लिये उसमे प्रेम होगा। चाहता होगा कि मैं अपने को दे डालू.... वही आज यहा क्यों है? उसकी जवानी और उसका प्रेम और उसकी मनुष्यता क्यों हवा में उड़जाने दी गयी? क्यों वह आदमी सफल और सार्थक नहीं हो सका? क्यों वह यहा सड़क पर मनुष्य का तिरस्कार पाकर और अपने मन में मनुष्य के लिए तिरस्कार भर कर रोग की गांठ के मानिन्द यहा पड़ा हुआ है? जो प्रेम विकीर्ण कर सकता था, वह घृणा फैला रहा है। उसके मन की कोई जानता है? शायद लोग उसे जितने घृणा करते हैं, उससे कहीं तीव्र घृणा उनके लिए उसमें है। इस तरह उस पड़े हुए आदमी को केन्द्र बनाकर यह घृणा का चक्र सारे वायुमण्डल में फैलता जा रहा है। जब आदमी

जो प्रीति को बखेरने के लिए ईश्वर की ओर से यहां आया है, वहां गारत की गन्दोली गाड़ बनकर आग सड़क पर पड़ा हुआ है, तब हमारे व्यवस्थापक कैसी सुव्यवस्था और शासक कैसा शासन कर रहे हैं? क्यों न कहा जाय कि वे कोई व्यवस्था नहीं कर रहे हैं? बस ढोंग और आडम्बर कर रहे हैं।

नये नये अस्पताल खुल रहे हैं और टी० बी० का फण्ड हो रहा है। अच्छा है कि यह सब हो। पर महाप्रलय और महाव्याधि का बीज जो घृणा है और जिसके कीटाणु उस व्याधि से विषम रोगियों में से फूट कर चारों ओर फैल रहे हैं— उसकी ओर भी किसी का ध्यान है? लेकिन मुझे कहने दीजिए कि व्यवस्थापकों के मद के नशे में ये कीटाणु पनपते और फैलते हैं। व्यवस्थापक अभिमानी हैं और अभिमान लाचार प्राणी के आदमी में अपमान और रोष पैदा करने का कारण होता है। इस तरह व्यवस्थापक सम्पन्न हैं और वह अस्वास्थ्य पैदा करता है।

हम न जानें, पर सभ्यता के वैभव के नीचे यह कीड़ा लगा हुआ है। हम क्या इधर-उधर की बात करते हैं, छोटे मोटे रोगों के शमन का उपाय करते हैं। वह करें, पर अपने नीचे के इस महारोग को भी तो पहचान लें। वही है जो आदमियों की शक्ति को आपसी सहयोग से समृद्ध नहीं होने देता और आपसी स्पर्धा से बरबाद कर देता है। वही है कि जिससे विषमताएं पैदा होतीं; विवाद-कलह, आन्दोलन और युद्ध पैदा होते और जिसके कारण एक ओर भूख और दूसरी ओर ऐश देखने में आता है। जिसके कारण एक रंक है तो दूसरा राजा है।

मैंने कहा कि मौत से मुझे भय नहीं। वह तो ज़रूरी है। पर यदि हमारी व्यवस्था सच्ची हो तो कोई मौत घृणा का सञ्चार करने वाली न हो। बल्कि वह प्रेम का संचार करे। सड़क पर पड़ा आदमी मरेगा तो अपने चारों ओर घृणा का एक वलय छोड़ जायगा। वह कटुता लेकर जायगा और सबके लिए बद्दुआ छोड़ जायगा। मैं मानता हूं कि वह बद्दुआ हमारे सिर टूटेगी। न सोचिए कि उसमें शक्ति नहीं है। रहीम ने कहा था है कि निर्बल को न सताओ क्योंकि उसकी मोटी हाय है। मुई खाल की सांस से क्या लोहा भस्म नहीं हो जाता? और मैं मानता हूं कि इस जगत को चलानेवाली मूल शक्ति का नाम प्रेम है। जितनी प्रकार की और शक्तियां हैं, सब उसकी रूपान्तर हैं। वही शक्ति आदमी की करनी से रुद्ध और क्षुब्ध होकर घृणा बन जाती है। उसको अशक्त मानना हमारा बड़ा भारी भ्रम है। वह घृणा संघटित होकर जाने क्या नहीं कर सकती? ताज उसमें धूल में गिर गये हैं और तख्त उलट-पुलट हो गये हैं। क्रान्ति और नाम किसका है? आदमी की छाती के भीतर से जैसे मानो धरती के गर्भ में से हुंकार भरती हुई जब वह शक्ति उभर कर फूटती है, तब कौन उसके आगे टिकता है? इससे न समझा जाय कि प्रभुता की ही सत्ता है; त्रास की सत्ता ही नहीं है। रुंध कर, इकट्ठा होकर वह कभी ऐसे प्रबल और अतर्क्य वेग से फूटता है कि ठिकाना नहीं।

शक्ति नष्ट नहीं होती। नष्ट कुछ नहीं होता है। या तो वह उपयोग में आती है, नहीं तो चारों ओर को खाने दौड़ती है। आदमी सचमुच बारूद का गोला है। वह ज़िन्दगी में अगर करने लायक़ कुछ नहीं कर जाता, तो न करने लायक़ बहुत कुछ कर जाने को वह लाचार है। काम में नहीं तो सोच-विचार में करता है। वह या तो अपने जीवन से प्रकाश देता है या फिर अन्धकार और घृणा फैलाता है। प्रत्येक असफल जीवन अपनी जकड़ चारों ओर छोड़ जाता है, जो मनुष्य जाति के विकास पर बेड़ी की तरह काम करती है।

हम भोले हैं अगर जानते हैं कि सड़क पर मरने को खुले पड़े आदमी से हमारा कोई वास्ता नहीं है। हम उसको लांघ कर जा सकते हैं, यह समझना भूल है। व्यवस्था न समझे कि उस भुखमरे को भूख से मरने के लिए छोड़कर वह स्वयम् सुरक्षित रह जाती है। हम जीते होकर उसे मरने के लिए छोड़ दें, पर वह मरकर हम ज़िन्दों को नहीं छोड़ेगा। क्योंकि ईश्वर के कानून में शक्ति नष्ट नहीं होती और

उस मरनेवाले की छाती में जितनी घृणा भर गयी थी, वह भी व्यर्थ होनेवाली नहीं है।

घृणा उसी तरह शक्ति है जैसे प्रेम। उलट चला प्रेम घृणा है। दो हज़ार बरस नहीं हुए कि ईसा मरा। मरना सबको है। पर ईसा की छाती में मरते समय जो प्रेम भरा हुआ था, वह क्या व्यर्थ गया? नहीं, व्यर्थ नहीं गया। ईसाइयत उसी का नहीं तो किसका परिणाम है? ईसा की स्मृति में सेऔर उसके उपदेश में से और उसके प्रेम में से वह रौ आई कि मनुष्यता मिलती चली गयी और सत्ताएं उखड़ती चली गयीं।

हम कहते हैं कि ईसा की मृत्यु आदर्श थी। बिचारा सड़क पर मरने वाला क्या यातना पायेगा, उसके मुक़ाबिले जो कि ईसा ने पायी। फिर भी ईसा की मृत्यु आदर्श थी और उस भुखमरे की मृत्यु कलंक होगी। क्योंकि मरते समय ईसा की आत्मा मे से प्रेम के फ़ुहारे छूट रहे थे, उधर वह आवारा मरेगा तो उसमें से घृणा के छींटें ही चारों ओर उड़ रहे होंगे।

मैं चाहता हूं कि इसी बात को हम पहचानें। सड़क पर पड़े उस भिखारी को उपकार के ख़याल से बचाने के लिए हम न ठहरें। बल्कि देखें कि वह तो आग है, जिससे हमारा दामन बचा नहीं रह सकता। आग ठहरे तो सब भस्म हो जायगा। इससे हम ख़ुद बचें नहीं और न व्यवस्थापक को बचने दें। व्यवस्थापक हमारा भूला है। दफ़्तर की फाइलों में वह अपने दिल को खो बैठा है। हमारा काम है कि हम उसको चेताएं। कहें कि ओ दफ़्तर के मेरे भाई, तुम्हारा कलंक सड़क पर पड़ा हुआ तुम्हारी शर्म को उघाड़ रहा है। और नहीं तो अपनी शर्म को ढकने का प्रबन्ध करो। कहां है तुम्हारा अस्पताल और ऐम्बूलेन्स गाड़ी? फ़ौरन भेजो और फ़ौरन इन्तजाम करो। फ़ाइल थोड़ी देर के लिए छोड़ दो।

इस तुम्हारे घर में लगी आग को बुझाने में एक मिनट दे दोगे तो फिर पीछे तुम्हीं चैन से रहोगे। नहीं दोगे तो फ़ाइलों समेत अपने घर में ही तुम जल मरोगे।

जो घृणा और अपमान की आग से फुंक रहा है, उसको बुझाने में देर करना उस आग को न्यौता देना है। इसमें उपकार की बात नहीं है, एकदम स्वार्थ की बात है। सड़क पर पड़े पैसे को उठा लेने में एक क्षण हमें सोचने की ज़रूरत नहीं पड़ती। वहां हमारा स्वार्थ है। पर उससे कहीं घनिष्ठ स्वार्थ सड़क पर पड़े आदमी के साथ हमारा बंधता है। एक बार पैसे को तो न भी उठायें, पर आदमी को तो उठाने की सोचना ही पड़ेगा।

मैं व्यक्ति की दिक़्क़तें जानता हूं। व्यवस्था का दिल कागज़ी है। काम वहां का दफ़्तरी है। व्यक्ति की सद्भावना का असर वहां नहीं पड़ता, या बहुत देर से पड़ता है। अकेले आप उसे ज़िन्दा लाश को कैसे उठाइये? मदद किसकी लीजिए? ऐम्बूलेन्स कहां से मंगाइये? अस्पताल की परेशानियां और ज़िल्लत कहां तक झेलिए? इत्यादि। और यह सब सोच कर मानों मन पर पत्थर रखकर आप उस जीवित मौत को देखते हुए निकल जाते हैं। और हैल्थ-अफ़सर या सिविलसर्जन या और अधिकारी व्यवस्थापक इधर से गुज़रते हैं, तो अधिक सम्भव तो यह है कि वह मोटर में गुज़रें और किसी अरुचिकर दृश्य के लिए ख़ाली ही न हों। या आखों वह दृश्य पड़ भी जाय तो उनके सवेदन को छू न सके—क्यों कि वह आदमी सरकारी हैं।

पर मैं नहीं जानता कि बिना कष्ट उठाये कोई आग कैसे बुझ सकती है। यह सही है कि कष्ट उसी को उठाना पड़ेगा कि जिस की आख आग देखती है और जिसका मन उसकी झुलस पाता है। और जिसको झुलस लगती है वह अपनी ख़ातिर कष्ट उठायेगा ही। वह फिर उपकार और दया आदि की बातों के लिए खाली ही कहां रहेगा?

पर जो कहना है वह यह कि व्यवस्था अव्यवस्थित है और शासन वह भ्रष्ट है कि जहां ऐसे दृश्य मिलते हैं। व्यवस्थापक और शासक अगर पहिले इस तरफ़ ध्यान नहीं दे पाते हैं और अपनी अपनी तनख़्वाहों और भत्तों की बात उन्हें उससे पहिले सूझती है, तो वे अपने अधिकार के पात्र नहीं।

मूरख मन तू समझ न पाया

"विनोद"

भक्ति - भाव के तीखे मद मे बरबस खोदी मानव काया।
मूरख मन तू समझ न पाया।
जिसे देवता कहकर माना,
निशिदिन जिसका सुयश बखाना,
जिस पर सबकुछ किया समर्पण—
मुक्ति - प्रदाता जिसको जाना,
वह अब केवल ओट ठगों का जन-जीवन जिसमें भरमाया।
मूरख मन तू समझ न पाया।

जिसे देव भूदेव बखाना,
जिसकी ध्वनि जीवन-क्रम जाना,
जीवन की व्यापक गति - विधीका—
जिसको सदा नियामक माना,
वह जन - जीवन का बन्धन है धर्माडम्बर उसकी माया।
मूरख मन तू समझ न पाया।

जिसे अन्नदाता कहता था,
जिसके हित भूखों रहता था,
कहकर राजा, बाबू, मालिक—
वर्षा, शीत, तपन सहता था,
तेरे तरल पसीने से ही निर्मित उसकी कंचन काया।
मूरख मन तू समझ न पाया।

दीन - हीन अपने को जाना,
अपनी शक्ति नहीं पहचाना,
ज्ञानहीन तमलीन बना ख़ुद,
औरों को विधि व्यापक माना,
विधि तू अपना, विश्वविधाता, तूने जग-जीवन प्रकटाया।
मूरख मन तू समझ न पाया।

एकता के वे अनोखे प्रयत्न

श्री विष्णु

"हमने सुना है कि एक पापुलर मीटिङ्ग देहली में हुई थी, याना पं० दयानन्द सरस्वती के मकान पर एक कान्फ्रेन्स इसलिये हुई कि भारत के वर्तमान सुधारकों में परस्पर एकता का सम्बन्ध स्थापित किया जावे। हमारे मिनिस्टर (श्री केशवचन्द्र सेन) भी उसमें मौजूद थे। यदि भिन्न भिन्न स्थानों के सुधारकों में एकता का सम्बन्ध सच्ची और व्यवहारिक नींव पर स्थिर हो जावे, तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि बहुत भारी और नेक परिणाम पैदा होंगे। हम इसकी सफलता की प्रार्थना करते हैं।"

ये शब्द १४ जनवरी १८७७ के इन्डियन मिरर* से उद्धृत किये जा रहे हैं। जनवरी १८७१ का समय भारत के इतिहास में एक याद रखनेवाली घटना है। उस समय भारत के तत्कालीन गवर्नर जनरल तथा वायसराय लार्ड लिटन ने महान कैसरी दरबार किया था। इस दरबार में महारानी विक्टोरिया को भारत की राजराजेश्वरी की उपाधि दी गई थी। इस दरबार में भारत के सभी प्रसिद्ध व्यक्ति उपस्थित हुये थे। राजकुल और शासन से सम्बन्ध रखने वाले व्यक्तियों के अतिरिक्त भारत के प्रसिद्ध तत्ववेत्ता और सुधारक महापुरुष भी वहां आये थे। सबके आने के कारण अलग अलग थे। उस समय ऐसा जान पड़ता था कि वह दरबार ब्रिटिश भारतीय साम्राज्य के बल और वैभव का प्रदर्शन है। उस प्रदर्शन की बहुत बड़ी ज़रूरत थी। यह वह समय था जब १८५७ की याद लोगों को भूली तो नहीं थी, परन्तु भारतीय साम्राज्य के पतन के बाद जो स्वाभाविक एकता भारतीयों में पैदा हो गई थी, वह धीरे धीरे क्षीण हो चली थी। ब्रिटिश साम्राज्य के साथ ब्रिटिशधर्म (ईसाइयत) भी भारत में धीरे धीरे फैल रहा था। जनता में अकर्मण्यता और आलस्य का प्राबल्य था, मानो १८५७ की पराजय के बाद उसने अपने को भाग्य के हाथों में सौंप दिया था। भारत नैतिकता सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से शून्यप्रायः था। उसकी दशा उस रूपवती विधवा की तरह थी, जिसका स्वामी मर चुका है, परन्तु रूप के कारण अनेक लोलुप और कामी पुरुष उस पर अत्याचार करते हैं। वह व्यथा और पीड़ा के कारण किसी का सामना नहीं कर सकती और अपने को उनकी दया पर छोड़ देने को विवश हो जाती है।

उस समय हिन्दुस्तान की ठीक ऐसी ही अवस्था थी। परन्तु जहां अत्याचार होता है, वहां उसका विरोध करनेवाले भी पैदा हो जाते हैं। शुरू में उनका विरोध साधारण होता है। भारत में धीरे धीरे सुधारक पैदा हुये। उनमें विदेशी शासन का विरोध करने की शक्ति तो नहीं थी, परन्तु मुरदा जाति में जान पैदा करने में उन्होंने बहुत मदद दी।

बंगाल में ब्रह्मसमाज के नेता महर्षि देवेन्द्रनाथ टैगोर और ब्रह्मानन्द केशवचन्द्र सेन थे। बाक़ी उत्तर भारत में आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती की धूम थी। बम्बई प्रान्त में प्रार्थना समाज को लेकर श्री महादेव गोविन्द रानाडे तथा रा० ब० भोलानाथ साराभाई प्रभृति सुधारक पुरुष थे। *श्री रामकृष्ण परमहंस भी इसी काल में श्री स्वामी* विवेकानन्द का निर्माण कर रहे थे। मुसलमानों में

---

* Indian Mirror, Calcutta, Sunday Edition Vol 16, No, 11 of 14-1-1877 quoted in Swami Dayanand Biography by Pt. Lekh Ram

[सर] सैयद अहमद ने एक नया जीवन पैदा कर दिया [था]। यह सब लहरें भिन्न भिन्न स्रोतों से होकर [भा]रतियों में आत्मसम्मान की भावना पैदा कर रही थीं। अलग अलग प्रान्तों में अलग अलग कारणों से भारत का नवनिर्माण हो रहा था, परन्तु अखण्ड भारत की जो एकता थी वह अभी तक छिन्न भिन्न थी। यह बात नही थी कि ये सुधारक लोग भारत की एकता मे विश्वास नहीं रखते थे। वे रखते थे और उन्होंने इस ओर अनेक प्रयत्न भी किये थे। यह अचरज की बात है कि इस ओर सबसे अधिक प्रयत्न करने वाला व्यक्ति स्वामी दयानन्द सरस्वती था!

आरम्भ मे हमने जिन पक्तियों को उद्धृत किया है, उनका संकेत स्वामी दयानन्द के एक ऐसे ही प्रयत्न की ओर है। वे देहली दरबार में इसलिये आये थे कि किसी तरह हम सब मिलकर एक मार्ग पर चल सकें। उनका विचार था कि देश के सारे राजा लोग वहा इकट्ठे होंगे और यदि वे मेरी बात सुनेंगे, तो बहुत जल्दी देश मे एकता स्थापित हो जावेगी। सम्भवतः ऐसा सोचते समय उन्हें अशोक के राज्य काल की याद हो आई थी। परन्तु कुछ भी हो इस ओर उन्हें कुछ भी सफलता नहीं मिली। राजराजेश्वरी के दरबार के अवसर पर राजाओं को अपना वैभव प्रदर्शित करने से अवकाश कहा था कि वे एक सन्यासी की बात सुनते, जो उस समय का सबसे बड़ा विद्रोही और नास्तिक था।

उनके दरबार में आने का दूसरा कारण भारत के भिन्न भिन्न प्रान्तों के सुधारकों से मंत्रणा करना था। इसलिये दरबार मे आये हुये समस्त सुधारकों को उन्होंने अपने निवासस्थान पर आमंत्रित किया। आज के युग में एकता सम्मेलनों की धूम है, परन्तु उस समय इस प्रकार का आयोजन एक अनोखा प्रयत्न था। उसे भारत का सर्व प्रथम एकता सम्मेलन कह सकते हैं। उसमें भारत के सभी महान पुरुष सम्मलित हुये थे। उनमें निम्न लिखित व्यक्ति थे :—

१ ब्रह्मसमाज नव्य विधान के प्रवर्त्तक श्री केशव चन्द्र सेन, कलकत्ता,

२ लाहौर के प्रसिद्ध ब्रह्मसमाजी नेता श्री नवीन चन्द्र राय,,

३ मुसलमानों के प्रसिद्ध नेता श्री सर सैयद अहमद, अलीगढ़,

४ रा० ब०, रा० रा०, प० गोपालराव हरि देशमुख, पूना,*

५ प्रसिद्ध वेदान्ती नेता मुंशी कन्हैयालाल अलख-धारी, लुधियाना,

६ मुंशी इन्द्रमणि, मुरादाबाद,

७ बाबू हरिश्चन्द्र चिन्तामणि,

८ प० मनफूल, आदि सुधीगण।

इसके अतिरिक्त स्वामी दयानन्द सरस्वती थे ही। उनके साथ राजा जयकृष्ण दास सी० आई० ई० आदि अनेक थे, परन्तु यह ठीक ठीक नहीं मालूम होता कि इस सभा में भी वे लोग आये थे। इन महानुभावों के सामने स्वामी दयानन्द सरस्वती ने एक प्रस्ताव रखा था। उसमें कहा था कि यदि हम सब लोग एक मत हो जावें और एक ही रीति मे देश का सुधार करें, तो आशा है देश शीघ्र सुधर सकता है।

यद्यपि उस सभा का पूरा विवरण कहीं नहीं मिलता, परन्तु इतना निश्चय है कि उस विषय पर स्पष्टता और उदारता के साथ विचार हुआ था। देश की एकता और सुधार के सम्बन्ध में सब एक मत थे। वे नेता ही नहीं परन्तु देश का लोकमत भी उनके साथ था—यद्यपि उस समय लोकमत विशेष जागृत नहीं हो पाया था। कलकत्ते के (Indian Miror) की राय ऊपर आ चुकी है। लाहौर के 'बिरादर हिन्द' ने भी लिखा था "हम दिली मुस्सरत के साथ इस बात का इज़हार करते हैं कि देहली दरबार की तक़रीब में हिन्दुस्तान के मशहूर और लायक़ रिफ़ामर्स (इसलाह कुनन्दगान) ने

* ये दोनों सज्जन दरबार मे गये थे और स्वामी जी से मिले थे, परन्तु इस विशेष दिन सभा मे उपस्थित थे या नहीं इसमें शंका है।

पं० दयानन्द सरस्वती के मकान पर एक जलसा ख़ास इस ग़रज़ से मुनक़िद किया कि हमारी असल अलतगाई इन सब मज़हब से एक ही है। बेहतर हो कि आइन्दा से बजाय अलहदा अलहदा काम करने के कुल मुत्तफ़िक़ होकर क़ौम की इसलाह में मसरूफ हों और आपस में अगर उनके किसी क़िस्म का इख्तलाफ हो तो उसका भी बाहमी तनक़ीह के साथ फ़ैसला करलें। इस जलसे में ब्रह्मसमाज के पेशवा बा० केशवचन्द्र सेन साहेब भी शामिल थे।"[1]

इतना कुछ होते हुये भी यह सभा एक मत नहीं हो सकी। इसकी असफलता के बारे में इस सभा के एक सभासद श्रीयुत बा० नवीनचन्द्र राय ने आठ वर्ष के बाद अपने पत्र 'ज्ञानप्रदीप' में लिखा था—"फिर दूसरी बार स्वामी जी की मुलाकात हम लोगों से दिल्ली मे १८७७ में क़ैसरेहिन्द के दरबार के समय हुई थी। वहां उन्होंने हमें बा० केशवचन्द्र सेन और श्री हरिश्चन्द्र चिन्तामणि को निमंत्रित किया और हम लोगों से यह प्रस्ताव किया कि हम लोग प्रथक् प्रथक् धर्मोपदेश न करके एकता के साथ करें, तो अधिक फल होगा। इस विषय में बहुत बातचीत हुई पर मूल विश्वास में उनके साथ हम लोगों का भेद था इसलिये जैसा वह चाहते थे एकता न हो सकी।"[2]

इस असफलता का कारण क्या था और मूल-विश्वास मे कितना भेद था इसका स्पष्ट उल्लेख बा० केशवचन्द्र सेन की जीवनी में आता है—

"बा० केशवचन्द्र सेन जब फिर दिल्ली में स्वामी दयानन्द सरस्वती से मिले, तो उन्होंने कहा कि वे बहुत बातों में उनसे सहमत हैं, लेकिन एक बात उनकी समझ में नहीं आती कि बिना वेद का सहारा लिये धार्मिक शिक्षा कैसे दी जा सकती है।"[3]

[१] बिरादरे हिन्द, लाहौर जनवरी १८७७ जिल्द ३ नं० १ सफा ३२। पण्डित लेखराम रचित स्वामी दयानन्द सरस्वती के जीवन चरित से उद्धृत।

[२] ज्ञान प्रदीप भाग ४ नं० ३१-३२ जनवरी १८८५।

3 Life and works of Keshub Chandra Sen, by P S Basu p. 328

ठीक यही बात थी। उन्होंने कहा था वेदों को आधार मान कर चलना ठीक होगा। इस बात पर मतभेद पैदा हुआ और सभा किसी निर्णय पर पहुँचे बिना भंग हो गई। य बात चीत तो फिर भी कई दिन तक चलती रही थी। यह भारत का दुर्भाग्य था। अचरज है सर सैयद ने इस प्रस्ताव पर क्या कहा होगा? ज़रूर उन्होंने विरोध किया होगा, परन्तु यह बात मानने वाली है कि सर सैयद स्वामी जी का आदर तो नहीं करते थे, बल्कि यह भी मानते थे कि जिस प्रकार स्वामी जी वेदों का अर्थ करते हैं, वही रीति ठीक है। स्वामी जी के अर्थ करने की रीति पर ही उन्होंने कुरान शरीफ के अर्थ करने पर ज़ोर दिया है।

स्वामी दयानन्द जिस प्रकार की एकता चाहते थे वह नहीं हो सकती थी, क्योंकि वेदों को ईश्वरकृत मानना सबके लिये असम्भव था। इससे स्वामी जी की एकता के लिये प्रबल इच्छा तो स्पष्ट है परन्तु साथ ही यह भी स्पष्ट है कि वे व्यवहारिकता में बहुत निपुण नहीं थे। नहीं तो वेदों की मान्यता पर इतना ज़ोर नहीं देते। लेकिन अचरज तो यह है कि उनके जीवन काल मे वह समय भी आया जब उन्होंने इस पर ज़ोर नहीं दिया। तीन साल बाद दिसम्बर १८८० में उन्होंने सेंटपीटर्स चर्च आगरा के बिशप महोदय से कहा कि यदि हम और आप तथा अन्य धर्मों के बुद्धिमान नेता केवल उन बातों का प्रचार करें, जिन्हें सब मानते हैं तो एकता स्थापित हो सकती है और फिर मुक़ाबले पर नास्तिक ही रह जायेंगे। हमें विश्वास है इसी बात पर यदि स्वामी जी १८७७ वाली सभा में ज़ोर देते तो ज़रूर कामयाबी होती और यह देश साम्प्रदायिकता की ख़तरनाक चोटों से बच जाता।

अब तो यह कोरी कल्पना है और इस पर विचार करना व्यर्थ है। इन बिशप महोदय ने भी अन्य सुधारकों की भांति, स्वामी दयानन्द जी की बात स्वीकार नहीं की। स्वामी जी का यह प्रयत्न भी विफल गया। यह उनका अन्तिम प्रयत्न था, क्योंकि लगभग तीन साल के बाद उन्होंने इस संसार को

सदा के लिये छोड़ दिया। लेकिन इस घटना से बहुत पहिले उन्होंने इस प्रकार के प्रस्ताव ब्रह्मसमाज और प्रार्थना समाज के अधिकारियों के सामने रखे थे। रायबहादुर भोलानाथ साराभाई के जीवन चरित में लिखा है—

"महान सुधारक तथा आर्य समाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती अपने विस्तृत प्रचार के सिलसिले में क़रीब सन् १८७४ के अन्त में अहमदाबाद पहुँचे। वहा के प्रार्थना समाज ने इस महापुरुष को अपनी वेदी पर से बहुत से धार्मि तथा सामाजिक उपदेश करने का अवसर प्रदान किया। अपने अहमदाबाद के प्रवास-काल में स्वामी जी ने भोलानाथ जी और महीपत राम जी के सामने यह प्रस्ताव रखा कि प्रार्थना समाज का नाम बदलकर आर्य समाज कर दिया जाय। क्योंकि दोनो सस्थाओं का अन्दरूनी उद्देश्य एक ही है। उदाहरण के तौर पर—दोनों ही मूर्तिपूजा के विरोधी हैं और अद्वैतवाद के समर्थक हैं तो फिर नाम में क्या धरा है। भोलानाथ जी ने इस बात पर ग़ौर करने का वचन स्वामी जी को दिया। लेकिन उन्होंने अपनी सम्मति नही दी। वे सारी रात इस बात को घुमाफिरा कर सोचते रहे। अन्त मे स्वामी जी के प्रस्ताव को अस्वीकार करने का ही निश्चय किया।"[१]

स्वामी जी के अनेक बार इस प्रकार की बातें करने से अनेक पुरुषों को शका पैदा हुई थी कि इसमें भी कोई चाल है। भोलानाथ जी के जीवन चरित में आगे चलकर उन्हें Diplomatic Reformer कहा है। यहीं पर एक विचित्र बात भी लिखी है, जिस पर एक दम विश्वास नहीं किया जा सकता।

"एक समय भोलानाथ ने दयानन्द से कहा—स्वामी जी! आप वेद को ईश्वर प्रणीत बताने का प्रयत्न करते हो, सो बुद्धिमान लोगों के सामने तो व्यर्थ है।" उस पर दयानन्द ने कहा—"ये सब बात तो सच है परन्तु भोलानाथ जी, ऐसा समझाय सिवाय लोक सब अपनी सग कैसे आने वाले? और अपनी गाड़ी चले कैसी?"[१]

अगर इस बात मे तनिक भी सचाई हो, तो यह समझ मे नहीं आता कि दिल्ली दरबार के अवसर पर उन्होंने वेदों को लेकर अपने प्रयत्न को इस प्रकार विफल क्यों जाने दिया? वेदों को मानना ठीक है अथवा नहीं यह इस लेख का विषय नहीं है, परन्तु इतना ज़रूर निश्चित है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती वेदों को ईश्वरकृत मानते थे और वेदों में उनका विश्वास था। इसी विश्वास के कारण उन्हें इतनी सफलता मिली थी और इसी विश्वास के कारण भारत मे एकता स्थापित करने के उनके प्रयत्न बार बार असफल हुये थे। लेकिन प्रयत्नों के विफल हो जाने पर भी यह बात मानने से इन्कार नहीं किया जा सकता कि वे ईमानदारी के साथ भारत की एकता में विश्वास रखते थे। इसी कारण अन्त में उन्होंने वेदों की बात पर जोर नहीं दिया था। लेकिन किसी ने भी उनकी बात नही मानी।

उस काल के लगभग सभी महापुरुष एक दूसरे को जानते और आदर भी करते थे। स्वामी दयानन्द की महानता को सभी ने स्वीकार किया था और उनके विरोधी विद्वान गण, जिनमें काशी और महाराष्ट्र के प्रकाण्ड पंडित थे उनकी विद्वत्ता को ही नहीं मानते थे, बल्कि यह भी स्वीकार करते थे कि जो कुछ स्वामी जी कहते हैं, वह ठीक है; परन्तु दुःख तो यही है युग का विरोध करके कोई भी उनका साथ न दे सका। क्या यह सम्भव नहीं था कि विभिन्न धर्म वालों मे तनिक भी एकता स्थापित हुई होती, तो दयानन्द के लेखों में वह कटुता न पैदा होती, जो अब मिलती है। यह उनकी असफलता के स्वाभाविक

१ Life of Rao Bahadur Bholanath Sarabhai, by his son Mr Krishnanath Bholanath English portion, P 7

१ रायबहादुर भोलानाथ साराभाई का जीवन चरित, उनके पुत्र श्री कृष्णराव भोलानाथ जी द्वारा रचित गुजराती में पृष्ठ १२८।

परिणाम थे। स्वामी दयानन्द स्वयं अपने विरोधियों को पहिचानते थे और उनका बहुत आदर करते थे। उन्होंने कई बार कहा था कि अगर विशुद्धानन्द और बाल शास्त्री जैसे विद्वान मेरे साथ हो जाते तो मैं बहुत शीघ्र सफलता प्राप्त कर सकता हूं।

अगर यह मान भी लिया जावे कि स्वामी जी वेदों को केवल नीति के तौर पर मानते थे, तो उन्होंने श्री केशवचन्द्र सेन की बात क्यों नहीं मानी। केशव बाबू ने उनसे कहा बताया जाता है कि वे जनता पर यह प्रकट करें कि जो कुछ भी वे कहते हैं वह ईश्वर का संदेश है। पर स्वामी जी ने यह स्वीकार नहीं किया। उसके अतिरिक्त केशव बाबू की दो और बातें उन्होंने मान लीं।

"संस्कृत भाषी और अल्पवस्त्र प्रिय स्वामी जी ने बाबू केशवचन्द्र सेन की दो बात मान ली पहली बात यह कि वे प्रचलित देशी भाषा मे अपने उपदेश दिया करें ताकि आम जनता उसे समझ सके और दूसरी बात यह कि जब वे लोगों से मिलें और जनता मे भाषण करने जांय, तो पूरी पोशाक पहिन लिया करें।"[१]

स्वामी दयानन्द सरस्वती उचित बात मानने मे कभी इन्कार नहीं करते थे। उनके द्वारा हिन्दी भाषा का जो गौरव बढ़ा है वह केशव बाबू की प्रेरणा का फल है[२]

इसके अतिरिक्त उनके व्यक्तिगत जीवन में अनेकों ऐसी घटनायें हैं जिनसे स्पष्ट पता लगता है कि वे ऐसी कोई भी बात नहीं मानते थे, जो दो व्यक्तियों में भेद पैदा करती हो। वे मुसलमानों और ईसाइयों के साथ खाने पीने के बिल्कुल भी विरोधी नहीं थे। स्वयं उन्होंने कभी नहीं खाया और इसका कारण था। एक बार वे भोजन कर रहे थे कि कई अंग्रेज़ उनसे मिलने आये। उनमें से एक ने पूछा-स्वामी जी अगर हम आपके भोजन को छूदें तो आप खालेंगे?

स्वामी जी बोले—नहीं खायंगे। इसलिये नहीं कि इसमे कोई दोष या पाप है, बल्कि इसलिये कि लोग शोर मचा देगें स्वामी जी कृष्टान हो गया है। यही बात उन्होंने सर सैयद से कही थी कि मुसलमानो के भोजन मे सम्मलित होने और भोजन करने मे कोई दोष नहीं है, परन्तु हमारा ऐसा करने से हमारे देश वासियो मे हमारे प्रति अश्रद्धा का उदय होगा।[३]

और भी घटनायें जोड़ी जा सकती हैं, परन्तु उन घटनाओं का कुछ भी मूल्य नहीं है। इतना कुछ होते हुये भी आज के युग में बहुत से देश बन्धुओं का विचार है कि हिन्दू मुसलमानों मे इतने भेद का कारण स्वामी दयानन्द सरस्वती हैं। यह दिखाता है कि उन्हें कितना ग़लत समझा गया। एमर्सन के शब्दों में (To be great is to be misunderstood) महान होना ही ग़लत समझा जाना है। परन्तु ऐसे कथन हर समय तो ठीक नहीं होते। इस प्रकार की ग़लतफहमियों से सदा देश और जाति का नुक़सान ही हुआ है।

इसमें शक नहीं है कि उनके लिखने की शैली बार बार शास्त्रार्थ करने के कारण कटु है। कई स्थानों पर तो वे अस्वाभाविक रूप से उग्र हो उठे हैं; परन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि संसार के लगभग सभी सुधारकों को तीव्र भाषा प्रयोग करनी पड़ी है। मध्य युग के सन्त भी अपवाद नहीं हैं। स्वामी दयानन्द जब बार बार एकता के प्रयत्नों में असफल होते गये, तो स्वाभाविक रूप से उनका पक्ष वेद और वैदिक धर्म की ओर बढ़ता गया और जो कुछ भी उन्हें वेद के विरुद्ध लगा उसकी उन्होंने भरपूर कटु आलोचना की। यह ठीक है आलोचना करते समय उनमें द्वेष भाव नहीं था। उन्होंने पं० हरिश्चन्द्र से कहा था—मेरा उद्देश सबको ऐसे आपस में मिलाना

१ Life and Works of Keshab Chandra Sen, by P S Basu P 295

२ देखिये 'आम भाषा का प्रचारक' ले० विष्णु, जो 'हंस' के जुलाई १९३८ वाले अंक मे प्रकाशित है।

३-४ देखिये स्व० देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय रचित स्वामी दयानन्द का जीवन चरित्र

है जैसे जुड़े हुये हाथ। मैं कोल से लेकर ब्राह्मण में जातीयता की ज्योति जगाना चाहता हूं। मेरा खण्डन हित-सुधार के लिये है।' ४ यह बात उन्हीं के लिये ठीक थी। उन्होने गिरजे में जाकर ईसाइयों का खण्डन किया था। अनेक मुसलमान उनके अनन्य भक्त थे। लाहौर में तो आर्य समाज का जन्म ही एक मुस्लिम भद्र पुरुष के बगले पर हुआ था। उन सब बातों के होते हुये यह मानना पड़ेगा कि किसी महापुरुष को ग़लत समझा जाने का कारण उसके अनुयायी होते हैं। एक प्रसिद्ध महापुरुष से जब अन्तिम संदेश मांगा गया, तो उसने यही कहा था (Beware of my followers.) मेरे अनु-अनुयायियो से ख़बरदार रहो। इस कथन में बड़ा कटु सत्य है। किसी मत या धर्म के प्रवर्त्तक सत्य की खोज करने वाले होते हैं, परन्तु उनके अनुयायी साप की तरह पृथ्वी में गड़े धन की रक्षा करते हैं। वे न स्वयं महापुरुषों के सिद्धान्तों को परखते हैं न दूसरों को परखने देते हैं। स्वयं परखना विद्रोह है और दूसरों को परखने देना अधर्म का प्रचार है। 'दी अमरीकन स्कालर' नाम के व्याख्यान में जो एमर्सन ने हॉवर्ड में १८३७ में दिया था, एक स्थान पर आता है:--

"क्या दुनिया में हमारा अलग इकाई, अलग व्यक्तित्व और अलग चरित्र गिना जाना, अर्थात् हमारे अस्तित्व में उस विशेष फल का न लगना, जिस फल के लिये मनुष्य पैदा किया गया था, और बजाय इसके हमारा कोड़ियों, सैकड़ों और हज़ारों मनुष्यों में से एक गिना जाना, यानी किसी पार्टी या किसी दल का हमें केवल एक अंग समझा जाना, सब से बड़ी ज़िल्लत की चीज़ नहीं है? और ऐसे ही हमारी व्यक्तिगत राय को केवल इस तरह शुमार किया जाना कि वह उत्तर के लोगों की राय है या दक्खिन के लोगों की? नहीं, भाइयो और दोस्तो ईश्वर ऐसा न करे। हमारी हालत इस तरह की न हो। हम अपने पैरों पर चलेंगे अपने बाजुओं से काम करेंगे और अपने मुंह से अपने स्वतन्त्र विचारों को प्रकट करेंगे।"

प्रत्येक व्यक्ति जो इन शब्दों को आत्मा से परखता है किसी न किसी रूप में निर्माता बनता है, जो इन बातों का ध्यान नहीं रखते, उनके भाग्य में किसी महापुरुष का अनुयायी बनकर उसके उद्देश्यों की हत्या करना लिखा होता है। संसार में सदा यही होता रहा है। स्वामी दयानन्द के साथ भी यही हुआ। उनके अनुयायियों ने उनके उग्र स्वभाव, आलोचना-शक्ति, और निर्भीकता की नक़ल तो की, परन्तु इस बाहरी रूक्षता के पीछे जो प्रेम से छलकता हुआ कोमल हृदय, उदारता और चरित्र-बल था, उसे उन्होंने सदा के लिये स्वामी दयानन्द की चिता में जल जाने दिया।

और भी कारण हैं, परन्तु यहा उन कारणों पर विचार करना उचित नहीं है। यहा तो केवल यही दिखाना है कि किसी व्यक्ति और वस्तु को समझने के लिए उसे बार बार हर पहलू से देखना उचित है। तब उसका वह सब दिखाई देगा, जो सर्वथा नवीन है। स्वामी दयानन्द को समझने समय उनका जो नवीन रूप हमें नजर आया, वही इस लेख में लक्षित किया गया है और इस आशा के साथ किया गया है कि जो भी बन्धु इस लेख को पढ़ेंगे, वे ज़रूर इन बातों का ध्यान रखेंगे। वे देखेंगे कि भले ही प्रस्तावित विचार और व्यक्ति से उनका मतभेद और विरोध है, परन्तु उसकी ईमानदारी और सचाई पर वे शंका नहीं कर सकते।

टालस्टाय और गोर्की को सभी जानते हैं। टालस्टाय परम आस्तिक और गोर्की परम नास्तिक थे, परन्तु गोर्की ने टालस्टाय के लिये जो शब्द लिखे हैं, वे कितने सुन्दर और कितने सत्य हैं:—

"नास्तिक होते हुये भी मैंने किसी अज्ञात कारण वश खूब सावधान होकर लेकिन डरते डरते उन्हें देखा और देख कर सोचा—यह मनुष्य तो परमात्मा है।"

नोटः—इस लेख के लिखने में जिन पुस्तकों से हमने सहायता ली है, उनका नाम उचित स्थान पर दे दिया गया है। इसके अतिरिक्त हम अहमदाबाद प्रार्थना समाज के मन्त्री श्री भोलानाथ साराभाई के पौत्र तथा कलकत्ता नवविधान पब्लिशिंग कमेटी के मन्त्री महोदय के भी कृतज्ञ हैं। *इन बन्धुओं ने भी हमारी सहायता की है।—लेखक*

छुट्टी का समय

श्री "मौलाना"

हजारीलाल ने आज अपनी वर्षगांठ मनाई थी। क़ायदे से तो वह दो दिन पहले ही हो चुकी थी, मगर मित्रमंडली को आज ही का न्योता दिया गया था। वकीलपेशा आदमी थे और शहर के इक्केवालों को संगठित कर उनकी एक संस्था बना रहे थे, यद्यपि अभी पूरी सफलता उस काम में नहीं मिली थी। मगर कोई गाड़ी इक्के या तांगे वाला ऐसा नहीं था, जो इनका घर न जानता हो और मुक़दमे वाले जो वकील की तलाश में आते, उन्हें भटकना नहीं पड़ता था। नित्य रात के भोजन के बाद आप इक्केवालों की सभा में उपस्थित होजाया करते थे। सौभाग्य से इनकी श्रीमती भी कुछ साम्य-वादी विचारों की थीं और इनके शुभ कार्य में इनका उत्साह बढ़ाया करतीं।

शहर के साम्यवादी नेताओं से आपकी मित्रता थी, होनी ही चाहिये थी। ख़लीलउद्दीन और उनकी बेगम जहांनारा, शहरके बिजली घर के काम करनेवालों के नेता और डगलस ह्यूज छापेख़ानों की यूनियन के सदर और उनकी धर्मपत्नी सोफ़िया के अतिरिक्त कांग्रेस कमेटी के दो सदस्य शंकरलाल और चन्द्रकला देवी भी निमंत्रित थे। मेज़ पर ८ आदमियों से ज़्यादा बैठ नहीं सकते थे, इसी से कुछ मित्रों को छोड़ देना पड़ा, इसका उन्हें बहुत दुःख था, जिसका उन्होंने कई दफ़े बखान भी किया।

भोजन ख़तम होने के उपरांत श्रीमतीजी नौकरों को खाना बंटवाने के वास्ते उठ गईं। बाक़ी सबने ड्राइंगरूम में प्रस्थान किया। बिजली के पंखे पूरी स्पीड से चल रहे थे, ख़स की टट्टी थोड़ी थोड़ी देर में पानी छिड़क कर तर की जाती थी। कमरा ख़ूब ठंडा हो रहा था। कोच तथा आराम कुर्सियों पर सब आ बैठे। श्रीमती जी भी आ पहुंचीं।

श्रीमती जी—क्या बलाकी लू चल रही है उफ़! दस ही मिनट में मानों मैं तो झुलस गई।

हजारीलाल—इसी से तो मैंने पहले ही कहा था कि कम से कम आज उन्हीं मुसरों को ख़ुद बांट खाने दिया होता। तुम मानो जब न।

चन्द्रकला—भाई साहब पुरुष घर-गृहस्थी में हस्तक्षेप नहीं कर सकते।

जहानारा—इसमें कौन सी दस्तन्दाज़ी की बात है, यह तो कोरी सलाह देना था।

श्रीमती जी—अगर मैं न जाती तो थोड़ी ही देर में लठयौंगा होने लगता। मैं तो सब को बराबर का हिस्सा दे आई। मेरे सामने ही फूलचंद इतना खा गया कि मैं तो समझी पेट फट जायगा।

इस पर सब हंस पड़े।

सोफ़िया—ग़रीब आदमी को रोज़ कहां ऐसा बढ़िया खाना मिलता है......

हजारीलाल—ख़ासकर जो मालकिन ने ख़ुद बनाया हो, क्यों?

ख़लीलउद्दीन—अच्छा आपने ख़ुद इस गरमी में यह ज़हमत उठाई! हमें तो आप का मशकूर होना चाहिये।

श्रीमती जी—नहीं जी यह तो योंही मज़ाक उड़ाते हैं। मैं कभी कभी रसोई में चली जाती थी नौकर को बताने। बस इन्हें कहने को एक बात हो गई।

जहांनारा—और अगर आप न जातीं, तो हमें ऐसा लज़्ज़तदार खाना भला कैसे नसीब होता। नौकर गधे क्या जानें। जो जानते भी हैं वह दिल थोड़े ही लगाते हैं।

शंकरलाल—उन्हें तो तनख़्वाह पूरी करनेको काम करना है, मेज़ बेमेज़ से तो खानेवालों को वास्ता है। उन ग़रीबों को तो वही सूखी दाल रोटी से मतलब।

हजारीलाल—अगर यह लोग अपने काम दिल लगाकर करते होते,तो मैं पहला आदमी होता जो इनके दुःख-दर्द का वैसा ही ख़्याल रखता, जैसा मैं इक्के-वालों का रखता हूं;

ख़लीलउद्दीन—और मैं बिजली घर के मज़दूरों का।

डगलस—मैं छापेख़ानेके काम करनेवालों का।

शंकरलाल—और मैं किसानों का।

हजारीलाल—मगर यह ऐसे बदमाश होते हैं कि मालिक की ज़रा भी परवाह नहीं करते। मैं तो इनके साथ कोई रियायत करने को तैयार नहीं। नमक-हराम कहीं के!

ख़लीलउद्दीन—रियायत के मानी ही कुछ नहीं, वे काम करते हैं हम दाम देते हैं। न हम ख़ैरात लेते हैं न वे ख़ैरात देते हैं।

जहांनारा - यह तो मुआहेदे की बात है, उन्होंने एक ख़ास तनख़्वाह पर काम करने का इक़रार किया है। फिर झगड़ा ही क्या। क्यों चंद्रकला बहिन।

चन्द्रकला—सो तो ठीक है परन्तु वे ग़रीब हैं, अशिक्षित हैं, हमी को कुछ रियायत करनी उचित है।

हजारीलाल—अच्छा यह बातें रहने दो, बहस की इसमें काफी गुञ्जायश है। मेरा प्रस्ताव है कि आज ७ बजे सिनेमा चला जावे। मैं आप सब की दावत करता हूं।

डगलस—और आज के मुबारक दिन यह दावत कोई भी नामञ्ज़ूर नहीं कर सकता। इस वास्ते मैं सब के तरफ़ से मञ्ज़ूर करता हूं।

थोड़ी देर इन्हीं कोचों पर सबके सब सो रहे। जागने पर सोफिया ने पूछा।

सोफ़िया—ज़रा देखो तो क्या बजा है!

डगलस—[रिस्टवाच देख कर] चार बज के दस मिनट।

हजारीलाल—उफ़ यह वक्त आ गया कोई नौकर नहीं आया। फूलचंद ओ फूलचंद!

चन्द्रकला—वह बिचारे भी थक कर सो गये होंगे।

हजारीलाल—यह हरामज़ादा बोलता नहीं ख़र्राटे ले रहा होगा मज़े में।

हजारी लाल ने ज्योंही किवाड़ खोल कर बरामदे में झांका लूक का एक थपेड़ा मुंह पर पड़ा, वह 'उफ़' कह कर भीतर हो गये और वहीं से फिर पुकारा 'अबे ओ फ़ूलचंद' इतने में वह आ पहुंचा। पाजी, घंटे भर से आवाज़ें दे रहा हूं, सो रहा है नवाबों की तरह। और आदमियों को, खानासमा से कह चाय यहीं ले आये, उधर के कमरे से लावे।

शाम को जब मित्रमंडली सिनेमा जाने को निकली, तो हजारीलाल के दोनों माली सामने आ खड़े हुये और सलाम किया हजारीलाल क्यों क्या बात है।

माली—हजूर कल छुट्टी चाही, बड़ा सोमवार है हम दोनो मिला को अलोपी जाना है मन्नत मानी है।

हजारीलाल—हम बड़ा छोटा सोमवार नहीं मानते, सब सोमवार बराबर है।

माली—सो तो ठीक है सरकार मुदा हम हिन्दुअन मे जब मन्नत मानी जात है, तो जाय का परत है। और फिर साल भर का त्योहार है बड़ा मेला लागत है।

हजारीलाल—साल भरके सब ही त्योहार होते हैं, नौकरी करो या त्योहार मनाओ, दो बातें साथ नहीं, चले हैं नवाब साहब मेला देखने,

ख़लीलउद्दीन—मगर इस लू में मेला होगा भी।

माली—हजूर हम ग़रीबन का लूक और कड़ाके का जाड़ा सब बराबर है। यह तो अमीरन के लिये भेद है, हमें का लूक में धूप मे काम नाहीं करे का परत है।

हजारीलाल—अजी यह लोग बड़े क़ानूनी होते हैं, इनसे तुम जीत नहीं सकते, मैं छुट्टी नहीं दूंगा, जी चाहे जाव तनख़ाह कट जावेगी।

माली—हजूर मालिक हैं।

फ़ूलचन्द—सरकार हम हो का जायका है।

हजारीलाल—तेरा भी जी चाहे जा तनख़ाह कटेगी।

फूलचन्द—अच्छी बात मुदा पिछले महीना की तंख्वाह तो मिले का चाही। अम्मा कहिस है कल के खाये का घर में कुछ है नाहीं।

हजारीलाल— पाजी कहीं का सुबह शाम तक़ाज़ा करता है जैसे मैं तेरे चार पाच रुपये खाकर अमीर हो जाऊंगा। जा निकल कुछ नहीं मिलेगा, परसों तेरा हिसाब कर दूंगा।

सोफ़िया—अगर सिनेमा चलना है तो देर करने से क्या फ़ायदा।

जहानारा—मुझे भी अधूरी तसवीर देखनी अच्छी नहीं लगती।

हजारीलाल—हांजी चलो, इन पाजियों ने मज़ा सारा किरकिरा कर दिया, रासकल्स, मोटर चलदी आदमी मुंह ताकते रह गये, खानसामा बोला "ख़ुदा की क़ुदरत अमीरों का मज़ा किरकिरा हो जाता है अगर ग़रीब अपनी थोड़ी दिलबस्तगी चाहें, मानों हम नौकरों का कोई हक़ ही नहीं, हम आदमी ही नहीं वल्ला !

मानवी

श्री विद्यावती 'कोकिल'

आज से कुछ और होगा !

काल मेरी सृष्टि का क्या फ़ैसला यों कर सकेगा ?
मैं युगों से मौन जो हूँ आज कुछ होकर रहेगा ;
देखना इन बादलों मे अब न केवल शोर होगा।

कर सकेंगे जड़ न जग को बरफ़ के इतिहास घिर घिर ;
बहुत गहरे हैं धरा में नीर पा उग आयंगे फिर ;
साधना के अंकुरों में शेष यदि कुछ ज़ोर होगा।

गरल भी पीकर स्तनों में कर सुधा की धार लूंगी ;
गोद मे कङ्काल लेकर पुनः जीवन दान दूँगी ;
माप अब सुकुमारिता का और भी कुछ घोर होगा।

कब बढ़ी पग एक उसके मैं बिना अपात हेरे ;
कब न ठिठका चला है जो इङ्गितों पर और मेरे ;
रात सोने से हुई तो जागने पर भोर होगा।

तीर्थङ्कर महावीर की निर्वाण तिथि पर

श्री वीरेन्द्रकुमार

लेकर अनङ्ग-मोहन यौवन, अधरों पर बंकिम धनु ताने।
मनसिज की पुष्प-धनुष-डोरी, तुम तोड़ चले ओ मस्ताने!
वह तीस वर्ष का अरुण तरुण,—रति की शय्या भी थी प्यासी!!
त्रैलोक्य-काम्य-रमणी के परिणय को निकले तुम सन्यासी!!!
बाला-जोबन, भोली सूरत, भौंहों में सत्-सन्धान लिये।
चितवन में देश-काल पर शासन करने का अभिमान लिये॥
अधरों पर वीतराग समता की अनासक्त मुस्कान लिये।
उन अवहेलित-सी अलकों में शाश्वत यौवन का मान लिये॥
चिर मोह-रात्रि भव की अभेद्य, भेदन करने चल पड़े वीर!
भीषण जड़-चेतन युद्धों में, तुम जूझ चले जेता सुधीर॥
हिंसक पशु-सकुल बीहड़ वन, दुर्गम गभीर गिरि-घाटी में।
तुम निर्भय विचरे, हिंसा, भय, साक्षात मृत्यु की घाटी में!!
निर्वसन, दिगम्बर, प्रकृत, नग्न, ओ प्रकृति-जयन्ता क्षात्र-जात!
पृथ्वी ससागरा लिपटी थी, तव चरणों पर होने सनाथ!!!
झाड़ी, झंखड़, वनस्पतियाँ, वल्लरियाँ भरतीं परिरम्भण।
विष-धर विभोर हो बना रहे, नंगी जांघों को अवलम्बन॥
नाना विधि जीव-जन्तु कीड़े, चींटी, दीमक सब निर्भयतम।
पृथ्वी, जल, अम्बर, तेज, वायु, सब त्रस-थावर जड़ औ' जगम॥
तेरी समाधि की समता के उस वीतराग आलिङ्गन में।
सब मिलकर एकाकार हुए, निर्बन्धन! तेरे बन्धन में!!!
कैवल्य-ज्योति! आदित्य-पुरुष! ओ तपो हिमाचल शुभ्र धवल!
तेरे चरणों से बह निकली समता की गंगा, ऋजु निश्छल॥
इस निखिल सृष्टि के अणु-अणु के, संघर्ष, विषमता औ' विरोध।
कल्याण-सरित में डूब चले, हो गया वैर आमूल शोध॥
तेरे पद-नख के निर्झर-तट, सब सिंह, मेमने, मृग-शावक।
पीते थे पानी एक साथ, तेरी छाया में ओ रक्षक!!
जिन-चक्रवर्त्ति! सातों तत्त्वों पर हुआ तुम्हारा तब शासन।
तीनों कालों, तीनों लोकों पर बिछा तुम्हारा सिंहासन!!
वह विषम रात्रि इतिहासों की, संघर्ष-त्रस्त भटके भव-जन।
था जीवन, जीवन का शोषक, था जीव-जीव में संघर्षण॥
जीवन, जीवन का भक्षण कर, जीने का था प्रचलित विधान।
हिंसा से क्रन्दन-कातर था, इस निखिल लोक का आसमान॥

सत्ता के लोढ़े के नीचे, वे प्राणि - हवन के आयोजन।
निर्दोष, मूक, पशु - हत्या से था त्रस्त मनुज का अन्तरतम॥
उन क्रूर विषमतर शूलों में जन्मे समता के पैगम्बर!
ब्रह्माण्डों में भूचाल हुआ, जब तू उतरा इस धरती पर!!
ओ सिंह दिगम्बर! सत्ता की तलवारों की नोकों पर चल।
वह चिर-सुख का कल्याण-मार्ग, तू बना चला उन पर अविचल!
दुर्वृत्त भंग कर हिंसा का, तू जगम का क्रम उलट चला।
थी निखिल लोक में हुई क्रान्ति, अणु-अणु का अन्तर पलट चला॥
कर मर्यादा का उल्लंघन, सब मूढ़ रूढ़ियों तोड़ चला।
ओ तू विप्लव के झंझानिल! मिथ्यात्व-वज्र-गिरि फोड़ चला!!!
वह जीव - जीव के शोषण का, उत्पीड़न तब हो चला अन्त।
जागा विवेक, जागा चेतन, जागा जीवन का ज्ञानवन्त!!
था हुआ 'अहिंसा परम धर्म' का निखिल लोक में दिव्य घोष।
तेरे चरणों पर पिघल बहा, चक्राधीशों का भृकुटि - रोष!!
ओ विद्रोही! ओ तीर्थङ्कर। तेरा वह धर्म - चक्र - वर्त्तन।
जिससे तू भेद गया अर्हत्! चिर जन्म - मरण के गठ-बन्धन!!
कृष्णा चौदस की निशा - शेष, आकुल फटने को था प्रभात।
आठों जर्जरें तोड़ मुक्त, निर्वाण हो चले सिद्ध, नाथ!!
पावापुर की वे सर - लहरें गाती हैं अब भी मुक्ति - गान।
ऊषा में प्रकटा ज्योति - पुरुष; वह झांका तीर्थंकर महान॥
अनवरत चल रहा काल - चक्र, फिर आई केवल ज्योति - रात।
हिंसाकुल मानव भीत - त्रस्त, घायल, शोणित से भरे गात॥
दीना आंखों की अंजुलियों में आंसू - दीपक सजे नाथ!
दीपोत्सव कैसे मने आज, निर्वाण - आरती! कंपे हाथ!!!
ओ युग - धाता, ओ जग - त्राता, ओ तीर्थ - देव दो ज्योति दान।
इस जड़ीभूत, संघर्ष - क्षुब्ध, मानव को कर आत्मा प्रदान॥
जागे विवेक, जागे चेतन, जागे जीवन - कल्याण मन्त्र।
सब राज - नीति औ' भेद - नीति से कर मानव को फिर स्वतन्त्र॥
इस मुक्ति - रात्रि में, लो, बन्दी के अश्रु - सजल शत - शत प्रणाम।
ओ मुक्त! लोक के सुख - दुःख में क्या कभी ले सके तुम विराम?
त्रैलोक्य - काल के रमण - देव! है लोक न तुम से परे नाथ!!
तुम वीत राग! तुम पूर्ण - राग!! बन्धन - निर्बन्धन एक साथ!!!
जागो जागो कैवल्य - ज्योति! हे करो त्राण, हम आर्त्त प्राण!
कर भेद अहं - तम मानव का, सत - संज्ञा उसको करो दान॥
बेबस आंसू में जन - जन के प्रभु, ज्योतित करदो आत्म - ज्ञान।
अपना स्वामी, स्रष्टा, बनकर वह करे मांगलिक नव - विधान॥

सम्पादकीय-विचार

पं० जवाहरलाल की ५२ वीं जन्म तिथि

आने वाली १४ नवम्बर को पंडित जवाहरलाल अपने ५२ वर्ष समाप्त कर ५३ वें वर्ष में प्रवेश करेंगे। अपने गत बीस वर्ष के राजनैतिक जीवन में देश के इस महान तपस्वी की जाने कितनी जन्म तिथियां लोहे के सीखचों के भीतर बीती हैं। जवाहरलाल और त्याग हमारी राजनीति में पर्यायवाची शब्द हो गये हैं। अनेक राजनैतिक सिद्धान्तों में पंडित जी से हमारा मत नहीं मिलता; किन्तु पंडित जी नेता से अधिक सिपाही हैं। लोहे की तरह कड़े अनुशासन में उनका विश्वास है। जब देश में सैद्धान्तिक मतभेद के नाम पर बीसियों नेता ऐन मौके पर कांग्रेस से स्तीफा देते हैं जवाहरलाल को कांग्रेस प्राणों से अधिक प्रिय है। वे अपने सिद्धान्त ज़बरदस्ती दूसरे पर नहीं लादना चाहते और दूसरे यदि उनके सिद्धान्तों को न स्वीकार करें तो उन्हें रूठना भी नहीं आता। देश की स्वतन्त्रता का युद्ध उनके जीवन मरण का प्रश्न है। इसीलिये जवाहरलाल सैनिक पहले हैं और आदर्शवादी बाद में। जहां देश अनेकों नेताओं को श्रद्धा से देखता है और उनकी इज़्ज़त करता है, जवाहरलाल को वह प्यार करता है। गत नवम्बर में पंडित जी को चार वर्ष का कठोर कारावास देकर लार्ड लिनलिथगो की सरकार ने यदि सोचा था कि वह देश के पुरुषत्व की कमर तोड़ देगी, तो उसने भयङ्कर भूल की। आज़ादी की भावना इसी तरह के खाद्य पदार्थों पर पनपती है। जितनी ही महान क़ुरबानी होगी उतना ही उसका व्यापक असर होगा। जवाहरलाल हमारी आज़ादी की लड़ाई के झण्डा बरदार हैं। सत्यमूर्ति, अणे और मुन्शी जैसे कितने ही सैनिक मार्ग की कठिनाइयों से क्लान्त और श्रान्त होकर पथभ्रष्ट हो जायगे, किन्तु यह तो हर युद्ध में होता ही है। हमें उस वक्त तक क्या चिन्ता जब तक हमारा झण्डा एक महान तपस्वी के हाथों में सुरक्षित है। लोहे के सीखचे उसके वज्र साहस को कभी नहीं झुका सकते। देश को जवाहरलाल से कितनी ही बड़ी बड़ी आशाएं हैं। परमात्मा करे अभी युग युग तक हम पंडित जवाहरलाल की यह मुबारक जन्म तिथि मनाते रहें।

सम्राट अकबर की चतुर्थ शताब्दी जयन्ती

देश के अनेक राष्ट्रीय नेताओं और विद्वानों ने इस बात की अपील की है कि साम्प्रदायिकता के इस विषैले युग में इस ज़हर को कम करने के लिये वे सम्राट अकबर की पुण्य तिथि मनाएं। इन महानुभावों की इस योजना का हम हृदय से समर्थन करते हैं।

मध्य कालीन भारतवर्ष में अकबर हमारे लहलहाते राष्ट्रीय वृक्ष का सबसे गौरवान्वित पुष्प था। एच० जी० वेल्स लिखते हैं

"हर इस तरह के पक्षपात से शून्य, जो समाज के टुकड़े टुकड़े करके मतभेद पैदा करते हैं, दूसरे धर्मों के लोगों के लिये उदार, हिन्दू या द्रविड़ समस्त जातियों के लोगों की ओर समदर्शी, वह एक इस तरह का मनुष्य था, जो साफ साफ अपने साम्राज्य भर की परस्पर विरोधी जातियों और श्रेणियों को मिलाकर एक प्रबल और समृद्ध राष्ट्र बना देने के लिये पैदा हुआ था।

"एक सच्चे नीतिज्ञ के समान उसमें समन्वय की स्वाभाविक प्रवृत्ति मौजूद थी। उसने निश्चय किया कि मेरा साम्राज्य न मुसलिम होगा न मुग़ल, न राजपूत होगा न आर्य, न द्रविड़ होगा न हिन्दू, न उच्च जातियों का होगा न नीच जातियों का, मेरा साम्राज्य भारतीय साम्राज्य होगा!"

अकबर भारत की उन राष्ट्रीय लहरों का मूर्तिमान फल था जो अकबर से सैकड़ों साल पहले से भारत में चल रही थीं और जो अकबर के बाद तक भी अपना काम करती रहीं। धार्मिक विषय में अकबर ने कबीर के उदार उपदेशों से शिक्षा और प्रोत्साहन लिया। सम्राट हर्ष अकबर से कई सौ साल पहले प्रयाग में शिव, बुद्ध और सूर्य तीनों की पूजा करता था। बंगाल मे सम्राट हुसेनशाह हजारों हिन्दू और मुसलमानों के साथ 'सत्यपीर' की पूजा करता था। फिर भी अकबर का व्यक्तित्व और उसका लक्ष्य दोनों निराले और अत्यन्त महान थे।

धार्मिक क्षेत्र में अपने 'अल्लाह उपनिषद' और 'दीने इलाही' द्वारा उसने एक सरल सार्वजनिक धर्म की नींव रखने की कोशिश की। सामाजिक जीवन में उसने हज़ारों साल की उस प्रथा को, जिसके अनुसार युद्ध के क़ैदी गुलाम बना लिये जाते थे, सन् १५७३ में क़ानून से बन्द कर दिया। बलात् वैधव्य, बाल विवाह, बहु विवाह, और धर्म के नाम पर पशुबलि को उसने यथा शक्ति बन्द करने का प्रयत्न किया। उसके अन्तर्जातीय विवाहों ने जातीय सम्मिश्रण को और भी अधिक पक्की नींव पर क़ायम करने की चेष्टा की। अकबर ने एक संयुक्त भारतीय राष्ट्र को अपनी आंखों के सामने साक्षात करने का प्रयत्न किया। वास्तव में उसने एक नये भारत की रचना करनी चाही। अकबर के स्वप्न पूरे न हो सके, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि जिस भारतीय राष्ट्रीयता को इस समय भारत में जन्म देने का प्रयत्न किया जा रहा है, उसका सबसे पहला प्रवर्त्तक और प्रचारक सम्राट अकबर ही था।

फ्रेडरिक आगस्टस लिखता है—

"बहैसियत एक सेनापति के अकबर महान था, बहैसियत राजनीतिज्ञ के वह एक नये समाज का निर्माण कर्ता था और सच्चे मानव धर्म के एक क्रियात्मक व्याख्याता की हैसियत से आज तक कोई उससे बढ़कर नहीं हुआ।"

आज जब कि विविध दल देश और समाज को अङ्ग भङ्ग करने के नारकीय प्रयत्नों मे लगे हुए हैं, सम्राट अकबर की आत्मा सिकन्दरे के मकबरे को चीरती हुई क्रन्दन कर उठती है और हमसे पूछती है - "क्या यही तुम्हारा इसलाम है?" "क्या यही तुम्हारा हिन्दू धर्म है?" और इन सबके ऊपर "क्या यही तुम्हारी इन्सानियत है?" हमें अपने कलेजे पर हाथ रखकर अपनी आत्मा से यह प्रश्न दोहराने चाहियें। जिस महल को आज हम ग़लतफ़हमी की बुनियादों पर खड़ा करना चाहते हैं वह आंधी का एक झोंका भी न सह सकेगा। केवल विश्वास के सहारे ही देश महान हो सकता है और जातियां पनप सकती हैं।

अखिल भारतीय शिक्षा परिषद्

पिछले महीने श्रीनगर (काशमीर) मे अखिल भारतीय शिक्षा परिषद का १७ वां अधिवेशन पण्डित अमरनाथ झा के सभापतित्व मे सफलता के साथ सम्पन्न हुआ। इस साल की शिक्षा परिषद इसलिये ख़ासतौर पर महत्वपूर्ण थी कि जिन दो विशेष बातों पर उसे विचार करना था वे थीं (१) इस तरह की शिक्षा दी जाय, जिससे साम्प्रदायिक और सांस्कृतिक एकता की भावना पैदा हो और (२) भारत में इस युद्ध के बाद शिक्षा का पुनर्निर्माण। काशमीर के शिक्षा विभाग के डाइरेक्टर श्री गुलाम उस-सैयदेन ने स्वागत समिति के चेयरमैन की हैसियत से बड़ा विचार पूर्ण भाषण दिया। वे कहते हैं—

"कठोर भौतिकवादी के लिये सांस्कृतिक तोल ज़िन्दगी से दूर बुद्धि के विषय हैं। किन्तु सच पूछा जाय तो सांस्कृतिक तोल दुनिया के बड़े से बड़े युद्धों से भी अधिक महत्वपूर्ण हैं। शिक्षकों का यह धार्मिक कर्तव्य है कि वे इन सांस्कृतिक तोलों की श्रद्धा और समझदारी के साथ रक्षा करें। ..मैं बहुत ज़ोरों के साथ इस बात को अनुभव करता हूं कि जब तक हमारे राष्ट्रीय जीवन की सम्पूर्ण शक्ति इस महान देश के विविध सांस्कृतिक और साम्प्रदायिक समूहों की स्थायी एकता क़ायम करने में न लगाई जायगी, ज़िन्दगी में कोई लुत्फ़ बाक़ी न रहेगा और हमारे

शिक्षा के समस्त प्रयत्न अविश्वास, दुर्भावना और ग़लतफ़हमी से टकरा कर चूर हो जायगे। क्योंकि ये ही दुगण इनसान की सच्ची इनसानियत को जकड़ लेते हैं और उसकी आत्मा को पत्थर बना देते हैं। ...क्या हमारी राष्ट्रीय लज्जा के लिये इससे बढ़कर कोई दूसरी बात हो सकती है कि हम जो महान संस्कृति और मानवता के उत्तराधिकारी हैं, हम जिन्होंने हमेशा अपने ज्ञान और दूरदर्शिता को बखान किया है, हम जो शान्ति और सहनशीलता को अपने विविध धर्मों का आधार मानते हैं इतने नीचे उतर आये कि अपने विविध धर्मों को आपसी लड़ाई और दुर्भावना का आधार बनालें, जब कि इन्हीं बातों से हम अपने जीवन और अपनी संस्कृति को समृद्ध शाली बना सकते थे। ..इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमारे समूचे इतिहास की धारा साम्प्रदायिक समन्वय की ओर बहती रही। किन्तु इधर कुछ दशाब्दियों से एक दूसरे के प्रति अविश्वास का जहर इतना फैल गया है कि अब जब तक हम मूर्खतापूर्ण धर्मान्धता के विरुद्ध ज़बर्दस्त धर्म युद्ध न छेड़ दिया जायगा, यह बुराई दूर होती दीखती नहीं। × × लड़ाई के बाद हमारा शिक्षा के पुनर्निर्माण का मौलिक आधार बेसिक एजुकेशन ही होगा। इस असली सचाइयों की दुनिया में कर्म ही जीवन का आधार बन सकता है। महज किताबी शिक्षा किसी तरह भी न्यायसङ्गत नहीं हो सकती।"

शिक्षा परिषद के सभापति पं० अमरनाथ झा का अभिभाषण अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण था। सांस्कृतिक और धार्मिक समन्वय के सम्बन्ध में हम यहां पर उनके कुछ सुन्दर वाक्य उद्धृत करते हैं—

"सभी धर्म, जीवन, विश्व और मानव स्वभाव की समस्याओं को व्यक्त करने और समझाने के प्रयत्न हैं। वे सब के सब कुछ मौलिक सचाइयों पर क़ायम हैं।...यदि ईसाई धर्म, हिन्दू धर्म, इसलाम, बौद्ध धर्म, ज़रथुस्त्री धर्म और अन्य धर्मों के मुख्य सिद्धान्त इकट्ठा कर दिये जाय, तो न केवल बहुत कुछ धार्मिक कट्टरता और ग़लतफ़हमी ही दूर हो जाय, बल्कि हर नवयुवक का दृष्टिकोण उदार, विस्तृत और व्यापक हो जाय, जिससे मानवता का भविष्य भी सुन्दर हो। तब फिर 'काफ़िर' 'म्लेच्छ' या 'हीदन' (विधर्मी) की कोई चर्चा न हो...हर संस्था में धार्मिक विषय का पढ़ना आवश्यक कर दिया जाय। शिक्षक स्वयं खुद उदार हृदय हो ताकि वह शिक्षार्थी के हृदय में सब धर्मों के प्रति श्रद्धा पैदा कर सके। ..जातीय और उपजातीय स्कूल और कालेजों का ज़माना लद चुका। बच्चों के कोमल मस्तिष्कों में वे एकता के बजाय अलहदगी पैदा करते हैं। वे फूट और विभिन्नता की भावना भरते हैं। बचपन से ही वे मुसलमान, ईसाई और हिन्दू को सिखाते हैं कि वह मुसलमान, ईसाई और हिन्दू है। और मानों यही कम बुराई न थी कि कई उपजातीय संस्थाएं भी बन गई—शिया कालेज, क्षत्रिय कालेज, कायस्थ कालेज, जाट कालेज, कान्यकुब्ज कालेज।"

इस सब पर दुःख प्रकट करते हुए पंडित झा कहते हैं—

"हम सब भारतवासियों की एक संस्कृति है। हम चाहे शुरू में आर्कटिक या मध्य एशिया से आये या ईरान, बलख़ या बदख़्शाँ से आये, हम अच्छे हैं तो, बुरे हैं तो भारतवासी हैं। हम या तो एक हिन्दुस्तानी भाषा बोलते हैं या दूसरी। हमारा संगीत भारतीय है, खाना भारतीय है और हमारे अधिकाश तर्ज़ तरीके भारतीय हैं। हिन्दू मुसलमान दोनों उर्दू बोलते और लिखते हैं, दोनों बंगला, तमिल, कन्नड़, गुजराती, हिन्दी और मराठी बोलते और लिखते हैं। पारसी भी उसी तरह गुजराती बोलते और लिखते हैं, जिस तरह हिन्दू और मुसलमान। हम अपने सादृश्य और एकता की बातें क्यों न सोचें। जो फ़र्क़ दुर्भाग्य से हैं उनको हम कम क्यों न करें? शिक्षक को सङ्कुचित साम्प्रदायिकता के असर से अपने को दूर करना चाहिये। उसे भारत और मानवता को ध्यान में रख कर सोचना चाहिये। वह अपने कर्म और अपने शब्दों में धर्म धर्म के बीच और सम्प्रदाय सम्प्रदाय के बीच अपनी पूरी निष्पक्षता

साबित करे। वह राष्ट्रीय और मानव दृष्टिकोण को पैदा करने में प्रोत्साहन दे। शिक्षक को सही रास्ता दिखाना है।"

शिक्षा परिषद की सारी कार्यवाही इस दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण रही। हमें विश्वास है देश के ये धुरन्धर शिक्षा विशारद महज़ शाब्दिक बहसों में पड़कर न रह जायगे। पण्डित अमरनाथ झा में अलौकिक अमली कार्य क्षमता है। इस दृष्टि से हम इलाहाबाद विश्वविद्यालय में उनके सुधारों को उत्सुकता से देखेंगे। क्याही अच्छा हो यदि वे कलकत्ता विश्वविद्यालय की तरह इलाहाबाद में भी 'चेयर आफ इण्डियन कल्चर' स्थापित करें और Study of Comparative Religions (सर्व धर्म समन्वय की शिक्षा) को प्रोत्साहन दें। हमे विश्वास है यदि हमारे शिक्षक इस दिशा में तत्पर हो जाय, तो लाख जिन्हा और सावरकर साम्प्रदायिकता के पौधे को नहीं पनपा सकते।

युद्ध विरोधी अमरीकन प्रोफ़ेसर—

क्रिश्चियन कालेज लखनऊ के दो अमरीकन प्रोफ़ेसर श्री बुएल और श्री बेकर ने इसलिये अपनी प्रोफ़ेसरी से स्तीफा दे दिया कि भारत में रहकर उन्हें अपने विश्वास के अनुसार हजरत ईसा के दिव्य सन्देश अहिंसा के प्रचार की स्वाधीनता न थी। युक्त प्रान्त की सरकार ने उनके उपदेशों और विचारों को निश्चयात्मक रूप से युद्ध विरोधी समझा और उन्हें सलाह दी कि वे अपने इस तरह के विचारों के फैलाने से बाज़ आयें। किन्तु इन अमरीकन प्रोफेसरों ने बजाय सरकार की सलाह मानने के स्तीफा देकर अमरीका जाना ही ज़्यादा उपयुक्त समझा। वे इस समय बम्बई में हैं और 'क्लिप फ़ान्टेन' नामक जहाज़ की प्रतीक्षा में हैं, जो नवम्बर के पहले सप्ताह में छूटेगा।

श्री हैरल्ड ई० बुएल ने गत २७ अक्तूबर को सैकड़ों विद्यार्थियों के सामने कालेज की चेपल में व्याख्यान देते हुए कहा—

"बग़ैर झूठ और बेईमानी के युद्ध का सचालन नहीं हो सकता। क्लारेन्स डारो ने एक बार कहा था 'लड़ाई शुरू करने के पहले झूठों की फ़ौज तय्यार करनी पड़ती है।' पिछले महायुद्ध के समय जोज़फ़ फ़ोर्ट न्यूटन ने कहा था 'यह एक ऐसा युद्ध है जिसमें लोगों को झूठ का भोजन देकर अंधेरे में लड़ा जाता है।' जैसा श्री बेकर ने पिछले व्याख्यान मे कहा था 'यदि लोगों को लड़ाई के सच्चे उद्देश्य बता दिये जाते, तो वे पिछले महायुद्ध में कभी न लड़ते। लोगों को बहकाया जाता है कि ये युद्ध युद्ध ख़त्म करने के लिये लड़े जाते हैं और दुनिया को जनतन्त्र के लिये सुरक्षित रखने को लड़े जाते हैं।' सन् १९३६ में लार्ड लोदियन ने एक बार कहा था—'यदि दूसरा महायुद्ध शुरू हुआ और सौ साल बाद भी किसी निष्पक्ष इतिहासकार ने उसका इतिहास लिखा, तो वह कहेगा कि केवल जर्मनी अकेला ही इस युद्ध के लिये ज़िम्मेवार नहीं; हालाकि चाहे उसने पहला हमला ही क्यों न किया हो। किन्तु उन लोगों के ऊपर अधिक ज़िम्मेवारी है जिन्होंने १९१८ और १९३७ के बीच की दुनिया में बद इन्तज़ामी की।'

श्री बुएल और श्री बेकर अमरीका में भी अपना युद्ध विरोधी प्रचार जारी रखने का उत्साह दिखाते हैं।

देवली डिटेंशन कैम्प

गत २५ अक्तूबर से देवली के लगभग २५० नज़रबन्दों ने भूख हड़ताल का ऐलान कर दिया है। श्री एन० एम० जोशी ने सरकारी अनुमति से देवली के जेल कैम्पों का निरीक्षण किया था और बड़ी जाच पड़ताल के बाद उन्होंने उसमें कुछ सुधार करने की सलाह दी थी। श्री जोशी के प्रस्तावित सुधार इतने तर्कपूर्ण और न्याययुक्त थे कि "लीडर" जैसे लिबरल पत्र ने भी उनका पूरा पूरा समर्थन किया था। उन सुधारों को महज़ इसलिये ठुकरा देना, कि श्री जय प्रकाश नारायण ने जेल से एक छुपाकर पत्र लिखा, जिसमे हिंसात्मक राजनैतिक विचार प्रकट किये गये थे, हरगिज़ न्यायोचित नहीं है। इस समय दुनिया में यदि हिंसा का कोई सबसे बड़ा विरोधी है तो वह

गान्धी जी हैं। किन्तु गान्धी जी भी जय प्रकाश नारायण के पत्र को लेकर लिखते हैं—

यदि श्री जयप्रकाश नारायण पर लगाये गये अभियोगों को ठीक मान लिया जाय तो जिस मार्ग का उन्होंने समर्थन किया वह कांग्रेस की सत्य और अहिंसा की नीति के विरुद्ध है और इसके लिए उनकी कड़ी से कड़ी आलोचना होनी चाहिए। किन्तु यह बिलकुल स्पष्ट है कि सभी राष्ट्र सर्वदा, उनका नाम कुछ भी क्यों न कहा जाय, सरकार से लड़ रहे हैं और युद्ध के सम्मत तरीकों के अनुसार श्री जयप्रकाश ने जिस मार्ग का आश्रय लिया है वह पूर्णतः न्यायसंगत है। वे ७ वर्ष के लम्बे अरसे तक अमेरिका में शिक्षा ग्रहण कर चुके हैं और स्वातन्त्र्य संग्राम में पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा अपनाये गये मार्गों का उन्होंने अध्ययन किया है। धोखा देना, गुप्त मार्गों का आश्रय लेना और हत्या के लिये षड्यन्त्र करना तक भी सम्मानजनक माना गया है और इनके करने वाले राष्ट्र के वीर पुरुष हो गये हैं। क्या क्लाइव और वारेन हेस्टिंग्ज़ ब्रिटेन के वीर पुरुष नहीं हैं? यदि श्री जयप्रकाश नारायण ब्रिटेन के वैदेशिक विभाग के मातहत होते और उन्होंने गुप्त रीति से कोई महत्व की चीज़ प्राप्त की होती तो उनका सम्मान किया जाता।

...कुछ अखबारों ने राय दी है कि नज़रबन्दों पर लगे प्रतिबन्ध और कड़े कर दिए जायं। श्री जयप्रकाश नारायण की कोशिश से इस सलाह का कोई सम्बन्ध ही नहीं है। श्री जयप्रकाश नारायण की कोशिश बेकार हो जाना ही खुफिया पुलिस की योग्यता का काफी प्रमाण है। यदि प्रतिबन्ध ढीले हैं तो इसी कारण से नज़रबन्दों को खराब या असन्तोषप्रद खाना देना अथवा उन्हें अपने घरों से दूर रखना कोई औचित्य नहीं रखता। देवली कैंप के सम्बन्ध में श्री जोशी की सिफ़ारिश को मैंने सावधानी पूर्वक पढ़ा है। मानवता के नाम पर मुझे यही कहना है कि उक्त नज़रबन्द शिविर तोड़ देना चाहिये और नज़रबन्दों को उनके घर के पास भेज देना चाहिए।

हर हिन्दुस्तानी गान्धी जी राय से पूरी तरह सहमत होगा। हमें समूचे देश में एक देश व्यापी आन्दोलन करना चाहिये कि देवली का नज़रबन्द शिविर तोड़ दिया जाय। साथ ही साथ हम देवली के इन नजरबन्दों से भी प्रार्थना करते हैं कि छोटी मोटी मांगों के लिये भूख हड़ताल कुछ बहुत उचित अस्त्र नहीं है। वे तो आज़ादी के आशिक हैं फिर तकलीफों से क्या डर? किसी उर्दू कवि के शब्दों में—

आशिक और इश्क में करे नाले
इससे बेहतर है संखिया खाले

और यदि भूख हड़ताल करनी ही थी तो उन २० हजार बदकिस्मत 'सी' क्लास के राजनैतिक क़ैदियों को सुविधा दिलाने के लिये करते, जिनका कांग्रेस की नेताशाही में कोई भी पुरसा हाल नहीं। हम दावे के साथ कह सकते हैं कि लखनऊ कैम्प जेल के बन्दियों को जितने कष्ट हैं, उतने किसी को क्या होंगे! किन्तु उन ग़रीबों के लिये न तो अखबार के कालम हैं, न सेण्ट्रल असेम्बली का एडजर्नमेण्ट मोशन है और न कोई श्री एन० एम० जोशी हैं। और तो और खुद गान्धी जी तक भी उनकी रसाई नहीं।

यूरोप का पश्चिमी मोर्चा

रायटर की न्यूयार्क से भेजी हुई २८ अक्तूबर की एक खबर है—

"रूसी युद्ध सहायता समिति के जलसे में जब लार्ड हैलिफैक्स बोलने खड़े हुए तो चारों ओर से आवाज़ें लगी "पश्चिम में युद्ध का मोरचा शुरू करो।" कई बार उनके व्याख्यान में ये नारे लगाये गये।"

सोवियत् रूस इस समय जीवन और मृत्यु के संग्राम में लगा हुआ है। जितना त्याग और कुर्बानी उसने की है वह किसी भी देश को सदा सदा के लिये अमर बनाने को काफ़ी है। किन्तु इतनी कुर्बानियों के बावजूद भी जर्मन फौजें बढ़ती जाती हैं। भविष्य में जब कभी युद्ध का तख़मीना लगाया जायगा तो निष्पक्ष इतिहास लेखक अमरीका और इङ्गलैण्ड को उनकी इस दर्शकवृत्ति के लिये कभी माफ न करेंगे।



तब स्वामी रामतीर्थ जीवित थे। मुज़फ्फरनगर में वे अपने एक परम भक्त के यहां ठहरे हुए थे। दिवाली का दिन था। लोगों ने आग्रह किया स्वामी जी अपना कुछ प्रवचन दें। भक्ति विभोर श्रोताओं के बीच में स्वामी राम ने प्रारम्भ किया—

"आज दिवाली है। आज लोग लक्ष्मी पूजा करेंगे। कैसे मूढ़ हैं लोग! यह भी नहीं जानते कि लक्ष्मी भगवान की पतिव्रता स्त्री है। लोग भगवान की प्रतिव्रता नारी को बहकाना चाहते हैं। अरे लक्ष्मी को पाना है तो भगवान की पूजा करो। यदि भगवान प्रसन्न होंगे तो लक्ष्मी तो उनकी पतिव्रता है। वह भी अपने आप प्रसन्न हो जायगी। भाई, लक्ष्मी को पाना है तो भगवान को प्रसन्न करो।"

एक बार इलाहाबाद कायस्थ पाठशाला में स्वामी राम का व्याख्यान हुआ स्वामी जी ने बोर्ड पर चाक से एक लकीर खींच दी और फिर लोगों से कहा—"कोई भाई इसे छोटा करदे।" कालेज के एक प्रोफैसर ने उठकर लाइन का सिरा मिटाना चाहा। स्वामी जी ने फौरन रोकते हुए कहा "ना भाई, बिना मिटाये छोटा करो।" लोग मुशकिल में पड़े कि बिना मिटाये कैसे छोटा करें। थोड़ी देर ठहर कर स्वामी राम ने बोर्ड में उस लाइन के नीचे एक बड़ी लाइन खींच दी और कहा—"देखो भाई, अब तो यह छोटी हो गई? दूसरों को छोटा करने के लिये अपने को बड़ा कर लो। दूसरा अपने आप छोटा हो जायगा। राम! लोगों को बड़ा बनना भी नहीं आता।"

स्वदेशी आन्दोलन का युग था। एक बार मिर्ज़ापुर में स्वामी राम का प्रवचन हुआ—

"इस देश में फूलों की कमी नहीं। तरह तरह के रंग बिरंगी खुशबूदार फूल यहां हैं। गुलाब भी है, बेला भी है, जुही भी है, चमेली भी है। कमी जिस चीज की है वह है कांटों की। यदि हमारे उपवन की रक्षा करने वाले कांटे भी होते तो आज हमारे देश का यह बाग़ न उजड़ता।"

एक बार स्वामी जी अपने एक परम भक्त रायबहादुर···के साथ हिमालय में एक स्थान को जा रहे थे। सकरा पगडंडी का रास्ता था। एक ओर सीधा ऊंचा पहाड और दूसरी ओर कई हज़ार फुट गहरा खड। जाते हुए एक मोड़ के पास जो पहुंचे तो सामने से एक ख़ौफनाक पहाड़ी भालू आता हुआ दिखाई दिया। बचने का कोई रास्ता न था। रायबहादुर को काटो तो खून नहीं। भय के मारे उन्हें पसीना निकल आया। स्वामी जी उसी तरह अद्वैत पर बात करते ऊपर चढ़ते जाते थे। रायबहादुर उनके पीछे थे। जब मौत की शक्ल का वह भालू बिलकुल पास आगया तो स्वामी जी की उस पर निगाह पड़ी। रायबहादुर ने भी आने वाले भय की ओर से उन्हें सचेत किया। स्वामी जी हसकर कहने लगे—

"तो डरते क्यों हो? मृत्यु से क्या भय? ये भी राम है, वह भी राम है। राम! राम! राम!"

रायबहादुर कहते थे स्वामी जी राम राम कहते प्रेम विह्वल हो गये। भालू आया स्वामी जी ने "कहो राम!" कहते कहते उसकी पीठ पर हाथ फेरा। भालू इन्हें छूतासा नीचे की ओर चला गया। स्वामी जी फिर अद्वैत की चर्चा में मग्न हो गये।

छिपूँ ?—किसमें ?

पण्डित माखनलाल जी चतुर्वेदी

वन मे ? ना सखि, वनमाली मे !
काली के मर के नर्तक,
उस काले - काले से ख्याली में ?
वन मे ? ना सखि, वनमाली में !

उड़ने दे, मुझको तू उस तक,
जिसने हैं अंगूर बसेरे,
सिर पर नीलम की थाली में !
वन मे ? ना सखि, वनमाली मे !

जिसको बन्दी कर लेने को—
गूंथ रही, बावली प्रतीक्षा,
मानस, यौवन की जाली में।
वन में ? ना सखि, वनमाली में !

जिसे ख़ुमारी चढ जाने को,
पलकें पागलपन साधे हैं !
युगल पुतलियों की प्याली में !
वन में ? ना सखि, वनमाली में !

जिसकी साध - सुधा पाने को,
पञ्छिनियाँ चाहों की चहकीं,
उर - तरु की डाली - डाली में !
वन में ? ना सखि, वनमाली में !

जिसे मनाने को मैं आली,
गली गली सी बना भाग्य में,
ढूंढ़ रही गाली - गाली में,
वन में ? ना सखि, वनमाली में !

पीड़ा की पगली

श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय

वह जन्म से ही पगली न थी। उसका बाल जीवन बड़े आराम से बीता था। गाव का स्वाभाविक वातावरण, प्रकृति की सहज सुषुमा के बीच उसका पालन हुआ था। उसकी मा उसे केवल प्यार के लिये ही रानी बिटिया नहीं कहती थी, वरन् वह अपने स्वभाव और रूप से भी रानी थी। उसका बाल-काल खेल कूद में अधिक और पढ़ाई-लिखाई मे कम लगा था, फलतः उसकी शिक्षा साधारण थी। किन्तु गुड़ियों के खेल के साथ पाक-शिक्षा में वह निपुण हो गई थी। वह साधारण पढ़ी लिखी सुन्दर और सुशील ग्राम-कन्या थी। मा बाप पुराने भारतीय परम्परा के व्यक्ति थे। घर में एक ही लड़की और अतुल सम्पत्ति। पिता ने सोचा लड़की की शादी कहीं बहुत अच्छे वर से करेंगे! ऐसा ही हुआ भी। एक पढे लिखे ग़रीब लड़के से उन्होंने शादी कर दी और अपने धन से उसकी ग़रीबी दूर कर देने की बात मन में ठान ली। शादी के समय लड़के की अवस्था सोलह साल की थी और उसकी शिक्षा जारी थी। शादी के बाद पढाई का सभी ख़र्चा स्वसुर महोदय ही देने लगे। अब छुट्टियों मे दिनेश अपने घर न जाकर अपनी ससुराल मे ही जमने लगा। परिवार मे सब लोग ऐसे हिलमिल गये, जैसे एक ही घर के हों। दिनेश आधुनिक फ़ैशन के अनुसार विलायत जाने के लिये लालायित हो उठा। विलायत मे आई० सी० एस० की परीक्षा पास करने का उसका विचार था। उसके सास स्वसुर इस बात पर राज़ी नही हो रहे थे, मगर शीला के विशेष आग्रह और अनुनय को वे लोग भी टाल नहीं सके और दिनेश को विलायत पढ़ने के लिये भेज दिया गया।

× × ×

"पढ़ लिख कर शादी करना नहीं तो मेरी ही तरह पागल हो जाओगे, लाओ पगली को पैसा।" नित्य प्रति वह यही कहती हुई विश्वविद्यालय जाते हुये विद्यार्थियों से पैसा मांगती थी। अपनी बात चीत से पगली, किन्तु अपनी चेष्टा और वेश भूषा से वह सभ्य जान पड़ती थी। उसके व्यक्तित्व में तपस्या का एक तेज था। मैली कुचैली फटी किन्तु सुव्यवस्थित साड़ी, उलझे से 'धूलधूसरित बिना तेल के लम्बे काले बाल, हाथ पैर मे मुरझाये कुसुम की कमनीयता, स्वच्छ सुन्दर दन्तपंक्ति, फूलों सी पलकें तथा चेहरे पर चिन्ता की गहरी रेखाये और आखों में खोज की आकुलता थी। सारा शरीर क्षीण किन्तु विधाता की निपुणता का नमूना था। उसे पैसे भी मिल जाया करते थे। कुछ विद्यार्थी उसकी करुण दशा से कातर होकर, कुछ उसके दातों की सफ़ेदी से प्रसन्न होकर तथा कुछ उसकी बड़ी-बड़ी आँखों की सजलता पर तरस खाकर प्रायः पैसा दे दिया करते थे।

इस प्रकार की नियमित भिक्षा वृत्ति से उसे बहुत से छात्र पहिचान गये थे। और वह भी बहुतों को जान गई थी। हसते हुये कहने लगती—"तुमने बहुत दिनों से पैसा नहीं दिया, रोज़ मुफ़्त का मज़ाक कर जाते हो, आज पैसा दो।"

बसत ने जेब से पैसा निकालते हुये कहा—"अच्छा लो अब पैसा देकर ही मज़ाक किया करेंगे।" कुछ साथी बोल उठे—"चलो यार बेचारी पगली से क्या मज़ाक करते हो।" "तुम लोग नहीं जानते इसे छेड़ने से बड़ा मज़ा मिलता है, कभी कभी वह लेक्चर पिलाती है कि बड़े बड़े समाज-सुधारक नेता लोग भौंचक रह जांय, कभी मौक़ा लगा तो

तुम लोग भी सुन ही लोगे। आज तो मुझे भी जल्दी है, कालेज का टाइम भी तो हो गया। हमारे प्रोफेसर साहब जरासी देर में भी कहने लगते हैं—युनीवरसिटी ठीक दस बजे खुलती है न एक मिनट पहिले न एक मिनट बाद। बड़ा ज़ालिम है, कुछ जानता भी तो नहीं, मुफ्त की तनख्वाह उड़ाता है।"

दूसरों ने कहना शुरू किया—"अम्यां जानना वानना क्या चीज़ होती है, यहा प्रतिभा और योग्यता को कौन देखता है, किसी प्रकार जम गये बाक़ी सब ठीक हो जाता है। देखा नहीं उस दिन महोदय बताने लगे—मिल्टन तो बहुत बड़ा अंग्रेज़ कवि है, शेक्सपियर तो बस शेक्सपियर है फिर भला शेली के विषय में क्या कहें, बस यही इन तीनों कवियो की उनकी काव्यालोचना थी।" वीरेन्द्र ने कहा—"पढाई की बात छोड़ो, मगर हमारे प्रोफ़ेसर तुम्हारे प्रोफेसर से भी विचित्र हैं। घन्टा बजने के बाद यदि वे कहीं रास्ते में हुये तो वहां से इतनी तेज़ी मे दौड़ते हैं कि रास्ते में कौन उनके धक्के से गिरता है, इसकी उन्हें ज़रा भी परवाह नहीं रहती। अनेक बार तो क्लास मे आध घन्टे हांफ़ते हुये ही बैठे रहते हैं; मगर पहुंचते ठीक ही समय पर हैं।"

इस प्रकार पगली कालेज आते जाते छात्रों से कुछ पैसे रोज़ पाजाया करती थी, यही उसके जीवन-निर्वाह का साधन था। विद्यालय के पास वाली हीरा की दुकान से कभी गुड़, कभी चना और कभी सत्तू खरीदते हुये उसे प्रायः लोग देखते थे। हीरा ने उसे अपने यहा रहने की जगह भी दे दी थी। यही उस पगली का संसार था। कभी कभी चुपचाप अकेली बैठी वह कुछ गाया गुनगुनाया भी करती थी और उन क्षणों में इतनी तन्मय हो जाती थी कि उसे पैसे मागने तक की याद नहीं रहती थी। दूसरे दिन किसी से कहती—"देखो कल हम गा रहे थे पैसा नहीं मागा खाना नहीं खाया अभी पैसा दो।" यदि किसी ने कह दिया-"कल नहीं मांगा तो आज क्यो मागती हो, आज भी गाना गाओ, खाकर क्या करोगी।" तो पगली रोती-हँसती मुद्रा से कहने लगती "आज स्वर में झंकार कहां है? आखो में आंसू भी सूख गये, कल तो श्याम से भेंट हो गई थी, भला तब तुमसे मागना बोलना कहा हो सकता था।" "श्याम कौन है पगली" इतना किसी के मुह से निकला नहीं कि पगली के जैसे आग छू गई। "तुम श्याम, वह श्याम, सब श्याम, सभी पढ़ने वाले श्याम बस कि और कुछ?" पगली के श्याम के प्रति लोगों की स्वाभाविक उत्सुकता बढ़ने लगी। एक दिन बसत ने उसको गाते हुये सुना—

जीवन का करुण अवसान,
न भूलो तुम प्यारे जीवन,
तुम्हे करना विच्छेद सहन।

बसत हिन्दी साहित्य का शौकीन होने के कारण तुरन्त ही ताड़ गया कि ये पक्तियां आधुनिक काव्य साहित्य की पक्तिया हैं। वह चुपके से पगली के पास गया और पूछने लगा—"यह तुम क्या गा रही हो, किसने तुमको यह सिखाया है? किसकी लिखी ये पक्तिया हैं? क्या तुम पढ़ना लिखना जानती हो?" पगली ज़ोर से हँस पड़ी और मौन हो गई। बसंत ने पैसा दिया और एक विस्मय का भाव लेकर कालेज चला गया।

कभी कभी पगली दो तीन दिन के लिये एक दम मौन हो जाया करती थी। न खाना, न पीना, न उठना—बस मन ही मन गुनगुनाया करती थी। किन्तु ध्यान देने से उसके क्षीण स्वरों में ये शब्द स्पष्टतया मालूम होते थे—

आंसू है, और रुदन है, मूर्छा है घोर जलन है
उफ़ मेरे नन्हे से मन में कितना उत्पीड़न है।

इन अस्फुट पंक्तियों ने पगली के पागलपन में एक रहस्य की भावना भरदी थी। उसका पढ़ा लिखा होना भी निश्चित हो गया था। अब वह साधारण पगली न होकर छात्रों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की वस्तु बन चुकी थी। कुछ लोग तो उसे सी० आई० डी० समझने लगे थे और कुछ लोग किसी कारण से बनी हुई पगली। चाहे जो हो रप

इन धारणाओं ने पगली के प्रति किसी की करुणा को कम नहीं किया वरन् अधिक आत्मीयता को ही और एक आकर्षण दिया। वीरेन्द्र स्वभाव से कुछ चुलबुला लड़का था। वह मन का बहुत सच्चा और अच्छा था, मगर उसकी ज़बान कुछ ढीली थी। एक दिन पगली से कहने लगा—"तुम अपने दांत दिखाओ तो पैसा देंगे।" पगली ने दुग्ध-धवल-दंत-पंक्ति दिखलाते हुए कहा—"लाओ, जल्दी से दो पैसा।" "इसका मतलब तो यह हुआ कि पैसे की लालच में तुम हम लोगों के सामने अपना आंचर भी उठा सकती हो" वीरेन्द्र ने परिहास में कहा। पर अल्हड़ और अनमनी पगली ने उत्तर दिया "मैं तो मां की जाति हूं, तुम ऐसे बच्चों के सामने मेरे लिये ऐसा करना भी क्या कठिन है!" इस उत्तर से पगली ने जैसे सब पर जादू फेर दिया हो। छात्रों की उसके प्रति हार्दिक श्रद्धा और करुणा उमड़ उठी। सारे विद्यालय में पगली के उत्तर की चर्चा रही, बात विद्यार्थियों से अध्यापकों तक पहुंची। पगली ने अपनी बात चीत से, अपने उत्तर से सभी के लिये एक समस्या उत्पन्न कर दी थी, जिसका सुलझना बहुत सहज नहीं था।

विद्यार्थियों ने अपने घरों में भी इस विचित्र पगली की चर्चा की और कई जगह से पगली को खाने तथा रहने के निमंत्रण भी मिलने लगे। पगली विद्यालय के पास से कहीं भी जाना नहीं चाहती थी, वह कहने लगती—"यदि मुझे कहीं जाना ही होगा, तो मैं अपने उमा भवन न चली जाऊंगी, किन्तु मुझे तो अपने श्याम के पास यहीं रहना है।" श्याम के नाम के सिवाय पगली और कुछ बात भी न करती थी। उसकी कम अवस्था के कारण यह भी सोचना सम्भव न था कि इस नाम का इस विद्यालय में पढ़ता हुआ कोई छात्र अब संसार में न रहा हो। इस प्रकार की सभी अन्य सम्भावनाओं की स्थिति का कोई औचित्य समझ में नहीं आता था। लोग तरह तरह की कल्पना करते और भूलते रहते थे।

× × ×

बसंत पगली और विद्यालय से बिदा लेकर, अपनी पढ़ाई समाप्त करके अपने घर चला आया है। दशहरे की छुट्टी में दूर दूर के छात्र सब अपने घर आये। रमेश प्रयाग से आज ही घर आया है। बसंत का वह लड़कपन का साथी है। दोनों की अवस्था प्रायः एक ही है। यह बात दूसरी है कि रमेश ने अपनी मनमौजी पढ़ाई के कारण दो दो वर्ष में एक कक्षा की पढ़ाई समाप्त की है और बसंत ने एक-एक वर्ष में। इसी का फल है कि बसंत एम० ए० हो गया और रमेश अभी बी० ए० में पहुंचा है। शाम के समय दोनों मित्र घूमने जा रहे थे। आज बसंत के छात्र जीवन की कितनी ही स्मृतियां जग पड़ी थीं। विद्यालय के प्रोफेसर की बात यूनियन की मीटिंग की बात आदि सभी अतीत वातावरण जैसे फिर से अपने पुराने रूप में सामने आ गया हो। अपने विद्यार्थी जीवन की अनेक घटनाओं का उल्लेख करते हुये दोनों बहुत प्रसन्नता से चले जा रहे थे। अचानक देखा कि सामने कुछ लोग भीड़ लगाये खड़े हैं और कह रहे हैं 'मारो मत, मारो मत'। दोनों मित्र वहां पहुंचे और देखा कि एक पगली को, जिसने किसी बच्चे की रोटी छीन कर खा ली है, लोग तंग कर रहे हैं। बसंत ने आंसूभरी आंखों से उसको छुड़ाया और रमेश का हाथ पकड़ कर कहने लगा—"जब मैं प्रयाग में पढ़ता था, तब विद्यालय के चारों ओर एक पगली घूमा करती थी, क्या तुमने कभी उसे देखा है?" वह इतनी अच्छी थी कि मैं तुमसे क्या कहूं। इस पगली को देखकर मेरे मन में उसकी स्मृति इतनी तीव्रता से उमड़ उठी है कि मैं तो पागल सा हो रहा हूं। रमेश क्या तुम उसके विषय में कुछ जानते हो?"

बसंत—सास तो लो मैं तुम्हारी पगली का सारा हाल बताता हूं," रमेश ने धैर्य के साथ कहा। "वह पगली नहीं देवी गत अगस्त तक प्रयाग में थी, किन्तु

अब उसके मां बाप उसे घर पकड़ ले गये हैं। जाते समय वह इतनी रो रही थी जैसे उसका सबकुछ उससे छीना जा रहा हो। इस घटना के अवसर पर मैं स्वयं अपने बहुत से साथियों के साथ वहां मौजूद था।"

बसंत ने कुछ खिन्न भाव से कहा -"उस बेचारी के बाप कहां? न जाने तुम किस पगली की बात कर रहे हो।

रमेश ने बिगड़ते हुये कहना शुरू किया—"ठीक से कुछ बात तो सुनते नहीं, बीच में व्यर्थ की बहस करने लगते हो। मैं उसी पगली की बात करता हूं जो श्याम श्याम कहती थी और विद्यालय के चारों ओर घूमा करती थी।" फिर रमेश ने उसका सारा हाल बताना शुरू किया—"वह बिहार के एक ज़मीदार की लड़की थी। उसके और कोई बहिन भाई नहीं थे, इसलिये वह स्वयं पिता की सम्पत्ति की एक मात्र स्वामिनी बनी। मा बाप ने अपने गांव के पास ही उसकी शादी दिनेश नामक व्यक्ति से, उसकी गरीबी की परवाह न करते हुये कर दी थी। एक धनी स्वसुर पाकर दिनेश का मन बढ़ गया और उसने पगली को फुसला कर अपने स्वसुर को उसे विलायत भेजने के लिये बाध्य कर दिया। अब वह वहां से आई० सी० एस० होकर वापस आ गया है और यू० पी० के एक शहर में मजिस्ट्रेट है। तुम्हारी पगली ने किसी अंग्रेज़ी स्कूल में शिक्षा नहीं पाई, किन्तु उसने घर के ही अध्ययन से हिन्दी की अच्छी योग्यता प्राप्त करली थी। वह कविता भी लिखती थी, किन्तु कुछ तो परम्परागत और कुछ स्वभाव से ही उसे अंग्रेज़ी का शौक नहीं रहा, इसलिये वह एक विदुषी होते हुये भी अंग्रेज़ी भाषा बिलकुल नहीं जानती थी। दिनेश ने अपनी सभ्यता और संस्कृति को न जानते हुए अंग्रेज़ी की उच्च शिक्षा प्राप्त कर लेने के कारण अपने को पूरी तरह से साहब बनाने और समझने में कोई कसर नहीं रखी। वह इतना कृतघ्न निकला कि उन सारी भलाइयों को, जो उसके साथ की गई थीं, भूल गया। उसने अपने बूढ़े मा बाप से भी सम्बन्ध तोड़ लिया है और एक अंग्रेज़ महिला से शादी करके उसी के साथ रहता है। आज वह बड़ा आदमी है। सरकारी अफ़सर है, उसे न समाज कुछ कह सकता है और न संसार।

"दिनेश के इस कृतघ्न व्यवहार से, जिस वेदना का उभाड़ हुआ है, उसी से आज बेचारी वह लड़की पगली बन गई है। उसके मा बाप भी क़रीब करीब पागल हो रहे हैं। दिनेश के घर का नाम श्याम था। इसीलिये पगली श्याम-श्याम जपा करती थी। यह समझ कर कि उसका श्याम प्रयाग में पढ़ता है, पगली घर से भग आई थी। पता लगाकर उसके पिता उसे पकड़ ले गये। यही उस पगली की करुण कथा है।"

कौन गाता ?

श्री केशव प्रसाद पाठक, बी० ए०

सहज स्वर-सगम ! हृदय के बोल मानों घुल रहे हैं;
शब्द ! जिनके अर्थ पहिली बार जैसे खुल रहे है;
दूर रह कर पास का यह जोड़ता है कौन नाता ?
कौन गाता ?

दूर ? हा उस पार तम के गा रहा है गीत कोई;
चेतना सोयी जगाना चाहता है मीत कोई;
उतर कर अवरोह मे विद्रोह-सा उर मे मचाता !
कौन गाता ?

है वही चिर सत्य जिसकी छाह सपनों में समाए ;
गीत की परिणति तभी आरोह पर अवरोह आए ;
रम स्वय घट - घट इसी से मैं तुझे युग - युग चलाता ।
कौन गाता ?

जानता हूँ, तू बढा था ज्वार का उद्गार छूने ;
रह गया जीवन कही रीता, निमिष कुछ पड़े सूने ;
भर न क्यों पद-चाप की प्रतिध्वनि उन्हें मुखरित बनाता ?
कौन गाता ?

हे चिरन्तन ! ठहर कुछ क्षण, शिथिल कर यह मर्म बन्धन;
देख तू भर-भर नयन जन, वन, किरन, उडुगन, सुमन, घन;
जानता अभिसार का चिर मिलन-पथ मुझको बुलाता ।
कौन गाता ?

हिन्दी कविता में निराशावाद

—(:०:)—

डा०, केशरीनारायण शुक्ल, एम० ए०, डी० लिट्

वाद के रूप में निराशा के दर्शन हिन्दी की कविता में आजकल पहिले पहल हो रहा है। इसके पहिले के कवि वाद के चक्कर में न पड़कर अपनी अनुभूत भावनाओं को कविता द्वारा व्यक्त करते थे। निराशा का क्षेत्र इतना व्यापक न था और कवि इस मानसिक स्थिति में अभिभूत भी नहीं थे।

प्राचीन कविता में निराशा दार्शनिक चिंतन का फल है। वैराग्यमूलक नैराश्यमयी उक्तियां इसके परिणाम स्वरूप हैं। भक्त कवि अपने उपास्य देव के सामने अपनी हीनता का निवेदन कर संसार से मोक्ष प्राप्ति की कामना करते थे। भवसागर से पार होने की असमर्थता उनके निराशा भरे उद्गारों का कारण बन जाती थी। वे संसार के नश्वर पक्ष को सामने रख, माया में लिप्त जीव को सावधान होने का उपदेश देते थे। इस प्रकार भक्त कवियों की निराशा उन्हें ध्येय-प्राप्ति की ओर अग्रसर करती थी। नैराश्य रञ्जित ऐसी उक्तियां प्राय: सभी भक्त कवियों की रचनाओं में मिलती हैं।

इस प्राचीन वैराग्यमूलक दार्शनिक दृष्टि का नवीनतम रूप पंत की इन पंक्तियों में स्पष्ट है:—

"आज बचपन का कोमल गात, जरा का पीला पात,
चार दिन सुखद चांदनी रात, और फिर अंधकार अज्ञात

\+ \+ \+

हायरी दुर्बल भ्रांति
कहां नश्वर जगती में शांति"

भगवतीचरण वर्मा की अधोलिखित पंक्तियां इसी भाव को पुष्ट करती हैं।

अभी हैं यौवन के दिन चार मधुरिमा के वैभव का काल
गर्व से ऊंचा सुन्दर भाल, और मद से इठलाती चाल
किन्तु है क्षणिक क्षीण आवेश,
प्रबल है प्रबल भयानक काल"

भारतेन्दु जी भी इसी स्वर में कह रहे हैं कि "काल अचानक तुझ पर टूटेगा" रामकुमार वर्मा का यह भाव कि:—

क्या शरीर है—
शुष्क धूल का थोड़ा - सा छवि जाल
इस छवि में ही छिपा हुआ है यह भीषण कंकाल।"

ये उपदेशात्मक पंक्तियां भक्त कवियों की रचनाओं से भिन्न नहीं हैं। भेद केवल इतना ही है कि इनमें आशापूर्ण भविष्य का आभास नहीं मिलता। जीवन की क्षणिकता, नाशवान संसार, मृत्यु का विकराल रूप और मायामोह में फंसा हुआ जीव, ये सभी भक्त कवियों को विरक्तिपूर्ण रचना का अवसर देते रहे। इन वैराग्यमूलक उद्गारों के मूल में धार्मिक चेतना है, जो मनुष्य को इस लोक के आकर्षण से दूर रहने के लिये सचेत करती है।

यदि आधुनिक कविता में निराशा का यही रूप होता, तो एक नया वाद न उठ खड़ा होता। आधुनिक युग संघर्ष और संशय का युग है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, अनिश्चय और विरोध है; यह संक्रांति काल है। पश्चिमी सामाजिक राजनैतिक और आध्यात्मिक नवीन विचार-धारायें हमारी प्राचीन सभ्यता को अपदस्थ करने की चेष्टा कर रही हैं, समाज इस संघर्ष से विचलित हो उठा है। ऐसे उथल पुथल के समय में शान्ति और आशा कहां टिक सकती है? "नवीन" जी ठीक कहते हैं कि—

"हम संक्रांति काल के प्राणी बदा नहीं सुख भोग,
हमें क्या पता क्या होता है, स्निग्ध सुखद संयोग"

पश्चिमी ढंग से शिक्षा दीक्षा पाकर और वैसे ही वातावरण में पलने से हमारे नवयुवकों की मनोवृत्तियां अपने प्राचीन समाज से सामञ्जस्य न खाकर, ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देती हैं, जिसमें विवशता और व्याकुलता भरी रहती है। वे समाज से दूर जा पड़ते हैं। 'बच्चन' जी के शब्द—

"आज मुझसे दूर दुनिया"

इसी का आभास करते हैं। समाज इन नव युवकों को निरादर की दृष्टि से देखता है। और इन्हें भी उसके प्रति कोई सहानुभूति नहीं रह जाती। ऐसी अशांति और कलह के समय में सिवाय निराशा के और क्या हो सकता है? इस वातावरण में नवयुवकों की उच्चाकांक्षायें नष्ट हो जाती हैं। इनकी "इच्छाएं हैं प्रबल; किन्तु हैं असफल सकल उपाय" और "भटकते हैं असहाय।"

सामाजिक क्षेत्र की भांति राजनैतिक क्षेत्र में भी अराजकता है। भारतेन्दु काल से जो राजनैतिक जागृति बराबर बढ़ती जा रही है, उसे कुचलने का प्रयत्न किया जा रहा है। यूरोपीय महासमर के समय जो आश्वासन हमारे नेताओं को दिये गये थे, वे सब भुला दिये गये। उस समय से असन्तोष की लहर बढ़ती ही जा रही है। कांग्रेस के सत्याग्रह आन्दोलन इसी असन्तोष को प्रकट कर रहे हैं, हमारे हाथों में हथकड़ियां और ज़बान पर ताले लगे हैं। 'दिनकर' जी की इन पंक्तियों में इसी की वेदना है।

बंधा तूफान चलना मना है,
बंधी उद्दाम निर्झर धार हूँ मैं।
कहूँ क्या कौन हूँ, क्या आग मेरी
बंधी है लेखनी लाचार हूँ मैं॥

यही विवशता नवयुवकों और कवियों को विकल बनाये है। हमारी जातीय चेतना गुलामी की ज़ंजीर से जकड़ी हुई है। हमारा—

जीवन ही है एक कहानी घृणा और अपमानों की
नीरस मत कहना, समाधि है हृदय भग्न अरमानों की

वैज्ञानिक संस्कृति, जिसे आजकल के नवयुवक मानव जाति के कल्याण का हेतु समझते हैं (और जो पाश्चात्य सभ्यता की नींव है) आज ग़रीबी, नाश और अत्याचार का कारण बनी है। विज्ञान की सहायता से समृद्ध देश अपना प्रभुत्व बढ़ाने के लिये एक दूसरे के नाश पर तैयार हो गये हैं। उनकी राज्य-लिप्सा रक्तपात और युद्ध के लिये तैयार है। मानव जाति के सुख-दुःख का उनको किञ्चित मात्र ध्यान नहीं है। जनता की निराशा का यही कारण है। विज्ञान के दुरुपयोग और जनता की ग़रीबी पर 'दिनकर' जी के ये विचार उपयुक्त हैं:—

जो मङ्गल उपकरण कहाते वे मनुजों के पाप हुये क्यों
विस्मय है विज्ञान बिचारे के वर ही अभिशाप हुये क्यों

× × ×

देख कलेजा फाड़ कृषक दे रहे हृदय शोणित की धारें
और उठी जातीं उन पर ही वैभव की ऊंची दीवारें

ऐसे कलह, ईर्षा, संघर्ष और प्रतिद्वन्दिता के युग में आशा और उत्साह कहां ठहर सकते हैं? इनका प्रभाव नवयुवकों पर और भी निराशाजनक होता है। निराला जी के शब्दों में:—

स्पर्धान्ध जन गात्र जर जर अहो रात्र,
शेष जीवन मात्र कुड्मल गतप्राण,
चेतनाहीन मन मानता स्वार्थ धन,
दष्ट ज्यों हो सुमन छिद्र शत तनुयान,

संसार को देख कर यदि नैपाली जी यह कहते हैं—

"है दीप गगन के जब तक ये, तब तक प्रिय बेड़ा पार न कह।
जीवन को चाहे जो कहले, पर केवल प्यार दुलार न कह॥

आजकल के कवियों में निराशा का प्रभाव और प्रसार इसी से समझा जा सकता है कि नैपाली ऐसे उत्साही कवि भी ऐसा कहने को विवश हुये। समय की कठोरता, उनके साहस और उनकी लाचारी का पता निम्नलिखित पंक्तियों से पूरा पूरा मिलता है:—

युग कठोर है बन्धु इसलिये यह सब जग में करना है।
रोने की न पिता की आज्ञा हंसते हंसते मरना है ॥

कुछ उत्साही कवि इस संघर्ष और प्रतिद्वन्दिता के युग से अलग रह एक नया संसार बनाना चाहते हैं; जिसमें आधुनिक युग की कठिनाइयां और बुराइयां न हों, वे चाहते हैं कि :—

नष्ट भ्रष्ट हो जीव पुरातन; ध्वंश भ्रंश हों जग के बन्धन।
पावक पग धर आवे नूतन हो पल्लवित नवल मानवपन ॥

इस नई सृष्टि की रचना का कारण पंत जी के इस पद में मिल जायगा :—

मैं सृष्टि रच रहा एक नवल भावी मानव के हित भीतर
सौन्दर्य स्नेह उल्लास मुझे मिल सका नहीं जग के बाहर

परन्तु ऐसी सृष्टि का निर्माण यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। इस नवयुग के निर्माण में कठिनाई और विफलता उनके निराशा भरे उद्‌गारों का कारण बन जाता है। कवि की व्यक्तिगत असफलता भी इसका कारण है। बहुत से कवियों की निराशा का कारण 'बच्चन' की इन पंक्तियों में मिल जायगा :—

विश्व पूरा कर सका है कौन सा अरमान मेरा
पूछता जग है निराशा से भरा क्यों गान मेरा ॥

निराशा के इस वातावरण ने कवियों को भाग्य वादी बना दिया। सामञ्जस्य प्रेमी प्रसाद और पंत में भी इसका पुट है। प्रसाद जी भी—

मानव जीवन वेदी पर परिणय हो विरह-मिलन का
सुख-दुख दोनो नाचेंगे है खेल आंख का मन का ॥

लिखकर उस समय के प्रभाव से न बच सके। उन्हें भी कहना पड़ा—

जब शान्त मिलन-संध्या को हम हेम जाल पहनाते
काली चादर के स्तर का खुलना न देखने पाते।
नचती है नियति नटी-सी कन्दुक-क्रीड़ा-सी करती।
इस व्यथित-विश्व आंगन में अपना उत्तप्त मन भरती

पंत जी इसी प्रकार सामञ्जस्य प्रेमी हैं। वे जानते हैं कि—

एक ही लोल लहर के छोर उभय सुख दुख निशि भोर,

इन्हें भी ऐसा कहना पड़ा—

अहे दुर्जेय विश्वजित!
नवाते शत सुर नर नाथ
तुम्हारे इन्द्रासन तल माथ!
घूमते शत शत भाग्य अनाथ सतत रथ के चक्रों के साथ।

ऐसी भाग्यवादी उक्तियां पंत और प्रसाद में कम हैं, परन्तु आजकल के अन्य कवियों में इसका बाहुल्य है।

आधुनिक युग की निराशा और इसके कारण का विवेचन ऊपर हो चुका है; केवल एक बात पर ध्यान दिलाना आवश्यक है। प्रायः यह देखा जाता है कि लोग किसी कवि की रचना में पीड़ा और वेदना शब्द को देख कर ही उसे निराशा वादी कह देते हैं। यह ठीक नहीं है। पीड़ा अनुभूति मात्र है। परन्तु निराशा एक मानसिक स्थिति है, जिससे प्रत्येक वस्तु में निराशा की कहानी प्रतीत होती है। इसलिये कवि के दृष्टिकोण को प्रधानता देनी चाहिये। इसी के आधार पर किसी कवि को आशावादी निराशावादी कहना उचित न होगा।

ये नैराश्यपूर्ण दृष्टिकोण और उक्तियां वहीं तक हमें प्रभावित करती हैं, जहां तक वे सच्ची अनुभूति के फल स्वरूप हैं। केवल दूसरे कवियों की देखा-देखी वेदना का आख्यान करना और पीड़ा से खेल हास्यास्पद है। इसी प्रकार इनकी संसार के नष्ट भ्रष्ट होने की कामना, इनके विकृत मस्तिष्क का प्रतीक है।

आधुनिक कविता की निराशा वास्तविकता के प्रथम दर्शन का फल है। निराशा भरी उक्तियां आशा और कामना के असामयिक नष्ट होने के प्रथम उद्‌गार हैं। इनमें संसार की कटु वास्तविकता से पहिली बार परिचित कवि का अव्यवस्थित रूप है। इनमें कोई तात्विक चिन्तन नहीं है। समय के प्रभाव से ये अभिभूत हैं। आधुनिक समय के विषय में अभी निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

भावी भारत के प्रति

श्री सुधीन्द्र, एम० ए०

तुम अपने मन के गूढ भेद
कहते मनमोहक भाषा मे
सच्चे पाते अपने सपने
जन - जन की मन - अभिलाषा मे
तुम नित नव - नव वैभव लाते
अपनी आत्मा अविनाशी मे
तुम झलकाते झलमल आभा
नव - नव प्राणों की आशा मे

उठते शतशत खलिहानो से
उठते लहराते खेतो से
उठते फैले मैदानो से
मरुथल की बिखरी रेतो से
उठते झीनी झोपडियो से
नभचुम्बी भवन - निकेतो से
उठते तुम चेतन - रूप बने
अपने अतीत के प्रेतो से

तुम चमक रहे नव रगों मे
तुम दमक रहे सब अगो मे
तुम हसते - मुसकाते प्रतिपल
नदियो की चपल तरगों में
तुम विद्रोही बन उठ जागे
पीडित के उन भ्रूभगों मे
तुम बने क्रान्ति के देवदूत
अपने नंगों - भिखमगो में

तुम बोल रहे हो गर्व भरे
गगा के गौरव - गर्जन में
तुम तोल रहे अपनी बाहे
जमुना - तरग के तर्जन मे
अपने तन का लोहू दे - दे
तुम लीन कठिन तप - अर्जन मे
तुम लगे आज मेरे तापस !
नव - नूतन युग के सर्जन मे

तुम थके और थक कर सोये
दुर्भर दुःशासन - भारो मे !
तुम मौन रहे मेरे योगी !
युग - युग के अत्याचारो में !
तुम हिले किन्तु मेरे ध्यानी !
पीडित के हाहाकारो मे !
तुम उठ बाँध परिकर अपना
जनता की क्रान्ति पुकारो मे !

तुम देख रहे अपना वैभव
दीनो - दलितों की आखों से
तुम छूते जग के ओर-छोर
अपने भावो के पाखों मे
तुम कोटि-कोटि को जगा चुके
लाखो की बिखरी राखों से
तुम छा लोगे यह जग - आगन
अपनी सस्कृति की शाखों से

तुम रचते अपने विजय - गीत
आक्रामक की हुँकारों से
गढ़ते हो अपने नवविधान
जनता की जय - जयकारों से
दे रहे नीति को तुम वाणी
युग - पुरुषों के उद्‌गारों से
तुम विद्रोही को बिठा रहे
ममता से, प्यार - दुलारों से

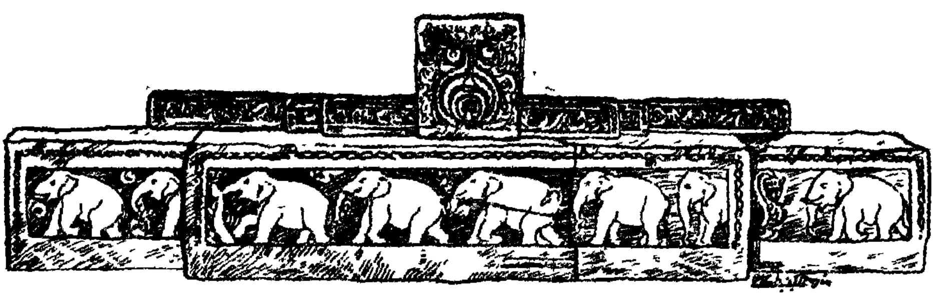
तुम गीत बने गाये जाते
माँ - बहिनों के मधुगानों से
घर की, उपवन की तानों से
गीता - इंजील - कुरानों में
हिन्दू - ईसाई - मुसलमान
तुम हो सबके ईमानों में
तुम गूँज रहे बन चेतनता
जन-जन के तन - मन - प्राणों में

तुम बढ़ते हो अविचल अबाध
ऐसा है लक्ष्य अमर देखा
तुम चित्र बन रहे भावी का
जब खींच रहे हैं सब रेखा

तुम करते नित प्रत्यक्ष हमें
जो रहा अभी तक अनदेखा
तुम प्रेमसुधा ले पिला रहे
लिखता जग लोहू का लेखा

पीड़ित मानवता के मन को
सुख का मंगल संदेश लिये
अस्त्रों-शस्त्रों मय रणों में
हथियाररहित निज वेश लिये
कर लिये कलश उस अमृत का
पी - पी जिसको मृत देश जिये
तुम आगे ही बढ़ते जाते
पीछे सब देश - विदेश किये

तुम कोटि - कोटि कण्ठों से मिल
कहते हो युग - युग की वाणी
पाते तुम से संजीवन का
संदेश दलित मानव प्राणी
तुम अहो विश्व-मानवता की
संस्कृति के हो जीवन-त्राणी
तुम बरसाते विश्वम्भर की
धरणी पर करुणा - कल्याणी !



बँटवारा

[एकांकी नाटक]

श्री लक्ष्मीकान्त झा, आई० सी० एस०

पात्रः—

राजनाथ, श्रीनाथ—दो भाई

चाचा जी—दोनों के चाचा

शीला—राजनाथ की पत्नी

शकुन्तला—श्री नाथ की पत्नी

रघुनाथ—श्रीनाथ का लडका

(समय—दोपहर । परदा उठने पर अच्छी हैसियत के परिवार का एक कमरा नजर आता है । शकुन्तला कुछ बिखरे हुये कमीज़ तहाकर रख रही है । कमरे के बीच में एक तख्त बैठने के लिये लगा है, जिस पर सफ़ेद चादर बिछी हुई है और एक गाव तकिया रक्खा है । तख्त के दाहिनी तरफ़ एक खिड़की है, जिसके बाहर सड़क दिखाई देती है । बायीं तरफ़ एक कपड़ों की आलमारी है, जो खुली है; क्योंकि कमीज़ तहाकर उसमें रखे जाने वाले हैं । सामने की तरफ़ एक मेज़ कुर्सी रखी है और एक आराम कुर्सी सामने दाहिने तरफ़ पड़ी हुई है । शकुन्तला बीच बीच में आंसू पोंछती जाती है—और कमीजों की ओर ऐसे देखती है, जैसे उसकी कोई प्रिय चीज़ सदा के लिये छूट रही हो । रघुनाथ—उसका सात बरस का लड़का आराम कुर्सी के डंडे पर बैठा अपनी मां को ध्यान से देख रहा है और उसे रोने देख कर कुछ सहमा हुआ है । कुछ देर इसी तरह चुपचाप देखता रहता है—फिर बोल उठता है) ।

रघु—यह क्या दादा जी के कमीज़ हैं अम्मा ?

शकुन्तला—हां बेटे । (आंसू पोंछती है ।)

रघु—अम्मा तुम रोती क्यों हो ?

शकुन्तला—(कमीज़ हाथ से रख कर रघु की ओर देखकर) रघु—यहां आ—मेरे पास ।

रघु—(पास जाकर) क्या ?

शकुन्तला—सुन रघु—दादा जी हमारे पास से चले गये हैं ।

रघु—कहा गये हैं ? क्या फिर नहीं आयेंगे ?

शकुन्तला—नहीं । अब कभी नहीं आयेंगे ।

रघु—क्यों ? उनके कपड़े तो यहीं पड़े हैं ?

शकुन्तला—अब इन कपड़ों की उन्हें ज़रूरत न होगी ।

रघु—क्यों ?

शकुन्तला—(विवश होकर) बेटे—दादा जी मर गये हैं ।

रघु—मर गये हैं ?

शकुन्तला—(सिर हिला कर हां कहती है)

रघु—तो क्या अब दादा जी भूत बनेंगे ?

शकुन्तला—चुप । जाने कौन तुझे यह ऊटपटाग बातें सिखाता है ।

रघु—क्यों उस दिन ही तो तुमने एक कहानी सुनाई थी कि...... ।

शकुन्तला—(बात काट कर) अच्छा बस मेरा सिर न खा । चुपचाप बैठा रह । मुझे बहुत काम करना है । (रघु को तख्त पर एक कोने में बैठाती है ।) यहीं बैठा रह । खबरदार बाहर न जाना ।

(इस बीच में *श्रीनाथ* आते हैं और टोपी उतारते हैं; धोती पहने हैं ।)

श्रीनाथ—अर्थी के साथ जाने के लिये लोगों को बुलवा लिया है । बाक़ी सब क्रिया कर्म का प्रबन्ध पुरोहित जी के सुपुर्द कर दिया है ।

शकुन्तला—कैसे अचानक चले गये। मुझे तो अब तक विश्वास नहीं होता (रोती है)

श्रीनाथ—अब रोने से क्या होगा। धीरज रखो। भाग का लिखा हो कर ही रहता है। चाचा जी की उम्र भी तो ६५ साल की हो गई थी।

शकुन्तला—पैंसठ साल की उम्र उनकी कोई कह सकता था। देखने में तुम्हारे बड़े भाई मालूम होते थे।

श्रीनाथ—(कुछ चिढ़ कर) हां, काफी मज़बूत थे।

शकुन्तला—आज सबेरे तक तो भले चंगे थे। बाहर घूमने गये थे।

रघु—अफीम भी ख़रीद कर लाये थे।

श्रीनाथ—चुप रह रघु। अब कभी किसी के सामने ऐसा मत कहना।

रघु—क्यों ?

श्रीनाथ—(डांट कर) एक बार कहने से समझ में नहीं आता ? हर बात पर "क्यों"। (शकुन्तला से) यह क्या चाचा जी के नये कमीज़ हैं।

शकुन्तला—वही दर्ज़ी दे गया था। बेचारों को एक दिन पहनना नसीब नहीं हुआ (आसू पोछती हुई अलमारी में रखती है)

श्रीनाथ—अब राजनाथ आजायें तो काम शुरू हो। सुबह ही चिट्ठी भेजी थी। अब तक तो आजाना चाहिये।

शकुन्तला—राजनाथ आ चुके। चाचा जी के जीते जी तो आये नहीं, तो अब क्या आयेंगे।

श्रीनाथ—जीते जी नहीं आये तो क्या अब जायदाद का हिस्सा लेने भी नहीं आयेंगे ?

शकुन्तला—(चौंक कर) हिस्सा लेने ? वह किस हिसाब से ?

श्रीनाथ—तो क्या अपना हिस्सा वह यों ही छोड़ देंगे ?

शकुन्तला—जब चाचा जी के जीते जी उन्होंने कभी उन्हें नहीं पूछा तो अब हिस्सा किस बात का ?

श्रीनाथ—तुम क़ानून समझती भी हो ?

शकुन्तला—यह और अंधेर देखो। क़ानून इसमें क्या करेगा ? दो साल से चाचा जी हमारे घर रहते थे, खाते पीते थे—उसमें उन्होंने कौन सा हिस्सा बंटाया जो अब राजनाथ और शीला उनकी जायदाद का हिस्सा बटायेंगे ? पहले जैसा तै हुआ था कि चाचा जी छै महीने हमारे घर रहेंगे और छै महीने उनके घर। तब तो कुछ बात भी थी। लेकिन पिछली दफ़ा तो शीला साफ साफ कह गई थी कि चाहे जो हो अब वह लोग चाचा जी को अपने पास नहीं रक्खेंगे। अब हिस्सा मागते उन्हें शर्म नहीं आयेगी ?

श्रीनाथ—तुम ठीक ठीक इस बात को समझ लो। चाचा जी जितने मेरे चाचा थे उतने ही राजनाथ के। दोनों का हिस्सा बराबर है—और वह उसे छोड़ने वाले नहीं हैं।

शकुन्तला—हे भगवान ! एक तो यह दुख—ऊपर से शीला और राजनाथ गिद्ध की तरह आखे लगाये बैठे हैं। उन्हें आते देर नहीं कि हिस्सा लेने आ पहुँचेंगे। हे राम ! इतना दुख कैसे सहा जायगा ? (रोती है)।

श्रीनाथ—अरे ! इस समय तो वह यों भी क्रिया-कर्म के लिये आते। जायदाद का हिस्सा बाद में देखा जायगा।

शकुन्तला—इसी के लिये तो वह आ रहे हैं, नहीं तो कभी न आते। तुम भी कैसी बातें करते हो। यह समय जायदाद की चर्चा करने का है ? (रोती है) भला कौन जानता था कि चाचा जी इतनी जल्दी चले जायेंगे। अभी उनकी उमर ही क्या थी। हाल ही में तो न मालूम उन्हें क्या शौक़ हुआ था कि नये कपड़े बनवाये, नई सोने की घड़ी ख़रीदी। (रोकर) अब एक एक चीज़ को देख कर मेरा तो दिल कटता है।

श्रीनाथ—हां नई चीज़ों का तो इधर उन्हें बहुत शौक़ हो गया था। और तो और ड्रेसिंग टेबुल उन्होंने क्यों ख़रीदी, यह मेरी समझ में नहीं आया। वह तो औरतों के काम की चीज़ है। वह क्या करते ?

शकुन्तला—शायद मुझे देने के लिये लाये हों ? तुम्हें तो कभी परवाह होती नहीं मुझे किसी चीज की ज़रूरत है। उन्हों ने देखा होगा कि मेरे पास नहीं है तो लाये होंगे।

श्रीनाथ—लेकिन उसे तो वह बड़ी हिफाज़त के साथ अपने कमरे में ले गये। तुम्हें देने को लाये होते तो दे न दी होती, (कुढ़ कर) उंह !

रघु—नई मेज़ की दराज़ में दादा जी ने चाभी लगा दी है।

शकुन्तला—तू चुप रह। तुझे क्या मालूम।

रघु—हमें मालूम है। उन्हों ने कहा था कि रघु अगर तू इसे खोलेगा तो बड़ी मार खायेगा।

शकुन्तला—(एकाएक) क्यों जी क्या इन चीजों में भी राजू और शीला का हिस्सा होगा ?

श्रीनाथ—क्यों नहीं ?

शकुन्तला—लेकिन हम जो उन्हें दो बरस से रख रहे थे उसका कुछ भी एवज़ हमें नहीं मिलना चाहिये ? यह कहां का न्याय है तुम्हीं कहो ?

श्रीनाथ—(झुंझला कर) तुम अगर जज होतीं, तो ठीक ठीक फैसला हो जाता। इस वक़्त इस बहस से क्या नतीजा है मेरी समझ में नहीं आता।

शकुन्तला—तुम्हारी समझ में तो पत्थर पड़े हैं। नहीं तो अपनी आंखों के सामने ऐसा अंधेर होने देते।

श्रीनाथ—आख़िर इस में मैं क्या कर सकता हूं। कोई मेरे बस की बात तो है नहीं।

शकुन्तला—क्यों ! बस की बात क्यों नहीं है। ड्रेसिंग टेबुल औरतों के काम की चीज़ है। हम उसे नीचे ले आयें तो उन्हें क्या मालूम होगा कि मेरी है या चाचा जी की ? और मुझे पूरा यक़ीन है कि चाचा जी मेरे ही लिये लाये होंगे।

श्रीनाथ—(हैरत से) लेकिन.....यह ठीक होगा ? यह तो सरासर बेईमानी है।

शकुन्तला—बेईमानी कैसी ? तुम्हारी ऐसी ही अक़्ल से तो हमारा यह हाल है। दो साल तक हमारे सिर खाते पीते रहे वह मुफ़्त का था।

श्रीनाथ—बात तो ठीक कहती हो लेकिन (सिर खुजलाते हैं)

शकुन्तला—लेकिन क्या है ? (मेज़ खिसका कर दूसरी मेज़ की जगह करती है) यहां रख दी जायगी। अब जल्दी करो तुम तो यों ही टाल मटूल करते रहोगे।

रघु—(कौतूहल के साथ) बाबू जी आप चोरी करेंगे ? (श्रीनाथ कुछ लज्जित होते हैं)

शकुन्तला चुप बेवकूफ़।

श्रीनाथ—(जाते जाते) और कहीं वह बीच में आ पड़े तो ?

शकुन्तला—रघु तू यहां खिड़की में झांक कर देखता जा। और जैसे ही मोड़ पर चाचा चाची आते दिखाई दें वैसे ही मुझे बता देना। (जाती है) (रघु अकेला रह जाता है। पहले तो बड़ी उत्सुकता के साथ जिधर श्रीनाथ और शीला गये हैं उस ओर जाकर झांकता है। फिर अपना काम याद आता है तो दौड़ कर तख़्त पर चढ़ कर खिड़की से झांकता है। कोई आता न देख कर फिर उसी तरफ़ जाकर देखता है ?)

शकुन्तला—(अन्दर से) देखना सम्हाल के। दीवार का रंग न खुरचे। (मां की आवाज़ सुन कर रघु फिर खिड़की पर जाता है। अबकी बार आते दिखाई देते हैं।)

रघु—(चिल्ला कर) अम्मा—वह आ रहे हैं। मोड़ तक आ गये हैं।

शकुन्तला—(अन्दर से) दरवाज़ा न खोलना।

रघु—(ताली बजा कर कभी इधर कभी उधर दौड़ता है) वह आ रहे हैं। तांगे पर हैं। चाची भी आई हैं। दरवाज़े तक आने ही वाले हैं। (इसी बीच में दोनों मेज़ लेकर आते हैं।)

शकुन्तला—(घबराहट के साथ) दरवाज़ा न खोलना। (मेज़ लगा देते हैं—खटखटाने की आवाज़ आती है।)

रघु—अब खोल दूं ?

श्रीनाथ—(घबराहट के साथ) ठहर जा। लाओ घड़ी मुझे दो मैं पहन लूं। (घड़ी पहनने लगते हैं—और ज़ोर से खटखटाने की आवाज़ आती है।)

रघु—अब खोल दूं। (शकुन्तला इतनी देर में मेज़ पर चीज़ें सम्हाल कर रखती है)

श्रीनाथ—ठहर जा, ठहर जा। (घड़ी बांध चुकते हैं) हां अब खोलदे। (रघु के जाते फिर खटखटाने की आवाज़ आती है। वह दौड़ कर दरवाज़ा खोलने जाता है। श्रीनाथ और शकुन्तला मिलने के लिये आगे बढ़ते हैं।)

शकुन्तला—श्रीनाथ को घबराया हुआ देख कर) घड़ी को हाथ से छिपाओ मत।

(रघु के साथ शीला और राजनाथ आते हैं। राजनाथ भाई को नमस्कार करते हैं। शीला और शकुन्तला फौरन गले लग कर फूट फूट कर रोने लगती हैं।)

राजनाथ—सबर करो भाभी। किसी के बड़े बड़े सदा नहीं रहते। (श्रीनाथ से) यह अचानक हुआ क्या?

श्रीनाथ—कुछ अक़ल काम नहीं करती। आज सबेरे तक बिलकुल अच्छे थे। ख़ुद जाकर (दबी ज़बान से) अफ़ीम ख़रीद कर लाये थे। आये तब बड़े खुश थे। आते ही अपने कमरे में ऊपर चले गये। थोड़ी देर बाद रघुनाथ की मा खाना लेकर ऊपर गई, तो देखा आखें चढ़ी हुई थीं। ठंडे पड़े थे। वह तो डर के मारे चीख़ पड़ी। मैं दौड़ा हुआ ऊपर गया तो देखा कि बिचारे अपना नश्वर शरीर छोड़ चुके थे।

राजनाथ—भगवान की माया कोई समझ नहीं सकता। बीमारी कभी उनके पास नहीं फटकी और इस तरह अचानक चले गये।

शीला—फिर भी डाक्टर ने कुछ तो कारण बताया होगा। क्या कुछ दिल कमज़ोर था?

शकुन्तला—डाक्टर! (कुछ घबरा कर श्रीनाथ की ओर देखती है।)

श्रीनाथ—डाक्टर को तो नहीं बुलाया जब मर ही गये थे तो डाक्टर को फीस मरने का क्या नतीजा होता।

राजनाथ—यह बुरा किया भैया। डाक्टर को ज़रूर बुलाना था।

शकुन्तला—डाक्टर कोई भगवान तो है नहीं। (आखे पोछ कर) जब भगवान ही ने दया नहीं की तो डाक्टर क्या कर लेते।

श्रीनाथ—फिर भी। तुम ठीक कहते हो बुला लेना मुनासिब था। बाद को लोगों को कहने का मौक़ा तो न मिलता।

शीला—और तुमने अख़बारों में नहीं पढ़ा कि कभी कभी मरे आदमी भी जी जाते हैं?

शकुन्तला—अख़बारों की भली चलाई। जो चाहते हैं छाप देते हैं। उनका कोई भरोसा है?

राजनाथ—भैया, क्यों न चाचा जी की मृत्यु का समाचार हिन्दी अख़बारों में छपवा दिया जाय?

श्रीनाथ—छापेंगे?

राजनाथ—छापेंगे क्यों नहीं। उन्हें तो हमेशा जगह भरने को मसाला चाहिये। लिख देंगे काशी के प्रमुख सहित्य सेवियों में थे। बस काफी होगा।

शीला—अच्छा दीदी। चलो हम भी चाचा जी के अन्तिम दर्शन कर लें। (दोनों रोती हैं)

राजनाथ—(श्रीनाथ से) लोगों को ख़बर की है?

श्रीनाथ—हां पुरोहित जी सब को लेकर आते ही होंगे। मैं ख़ुद उनसे कह आया था।

शीला—(खड़ी होकर) तो फिर चलो। (साथ में राजनाथ और श्रीनाथ खड़े होते हैं—शकुन्तला बैठी रहती है।)

शकुन्तला—ज़रा एक मिनट रुक जाओ बहन। रघु, मैं दादा जी के तकिये के पास अपना चाबी का गुच्छा भूल आई हूं। जरा ले तो आओ बेटा।

रघु—(घबरा कर) दादा जी के कमरे में!

शीला—तालों का गुच्छा कैसा?

शकुन्तला—मैं ही भूल आई थी। म॰ वा रही हूं कि ज़रूरत पड़े तो कोई वहां तुम्हें परेशान न करे। मुझ से किसी के आगे रोया नहीं जाता।

शीला—नहीं मुझे क्या परेशानी होगी।

शकुन्तला—कुछ देर ठहरो बहन तो मैं भी चलूं। चाबी (श्रीनाथ को दिखा कर) इनको देती जाऊं। पुरोहित जी आते होंगे शायद काम पड़े। (रघु से) जल्दी जा के ले आ। अभी तक गया नहीं?

रघु—हम?

शकुन्तला—हा तुम जल्दी जा बड़ा अच्छा लड़का है।

रघु—हमें डर लगता है।

शकुन्तला—तुझ से कह दिया डरने की कोई बात नहीं है। जाता है कि······(मारने को हाथ उठाती है) रघु जाता है। शीला और राजनाथ एक दूसरे को तरफ़ ऐसे देखते हैं जैसे कुछ दाल मे काला मालूम हो! दोनों स्टेज के बाईं तरफ़ अन्दर जाने के दरवाज़े की ओर बढ़ते हैं। ड्रेसिंग टेबुल के पास आकर खड़े होते हैं।)

शीला—(श्रीनाथ से) यह मेज़ तो बड़ी सुन्दर है। कब ख़रीदा इसे?

श्रीनाथ—(सिटपिटा कर) यह···अ····· अभी ······अ······

शकुन्तला—(जल्दी से) अभी हाल ही में तो।

राजनाथ—ख़ूब मज़बूत मालूम होती है। शीशम की लकड़ी है। काफ़ी मंहगी होगी। कितने में ली?

श्रीनाथ—मैं······मेरे ख़याल में······अ·· ··· यही कोई······

शकुन्तला—(उसे बचाती हुई) भला यह वक़्त ऐसी बातें करने का है।

राजनाथ—ठीक कहती हो भाभी। भला इस वक़्त फ़र्नीचर का क्या ज़िक्र। (ठण्डी सांस लेता है)

शीला—हां और क्या। उन बिचारों को फ़र्नीचर का ख़ास शौक़ नहीं था।

राजनाथ—लेकिन उनके पास कुछ अपना फ़र्नीचर तो होगा।

श्रीनाथ—अपना?

शकुन्तला—नहीं तो।

शीला—फ़र्नीचर चाहे न रहा हो, मगर सुनते हैं उनके पास तिजोरी भर कर गहने हैं।

शकुन्तला—होंगे क्यों नहीं। सुनते हैं चाची जी के पास डेढ़ लाख का गहना था।

शीला—और चाची जी की एक चीज़ भी उन्होंने अपने पास से अलग नहीं की।

शकुन्तला—देवता आदमी थे।

शीला—हां। उन्होंने मुझे चाची जी की बड़ी हीरे की अंगूठी देने का वादा किया था। और उसके साथ का नेकलेस और चूड़ियां भी।

शकुन्तला—तुम्हें?

शीला—हां! मुझे तो वह बेहद प्यार करते थे। अपनी लड़की की तरह मानते थे।

शकुन्तला—(लड़ाई के लिये तैयार होकर) कहा तो तुम उन्हें घर में रखने को तय्यार नहीं थीं और कहा वह तुम्हें हीरे का सेट दे गये! (रघु घबराया हुआ दौड़कर आता है।) अरे क्या हुआ? तू तो ऐसा घबराया है जैसे भूत देखा हो?

(रघु बोलने की कोशिश करता है, लेकिन आवाज़ नहीं निकलती। गले पर हाथ रखकर आंखें फाड़कर सबको देखता है।)

शीला—(रघु को प्यार करके) तुमने भी उसे अकेला भेज दिया। बिचारा बहुत डर गया है।

श्रीनाथ—नहीं बेटा दादा जी स्वर्ग गये। उनसे डर की कोई बात नहीं है।

रघु—बाबू जी······दादा जी······

शकुन्तला—(पास जाकर सिर पर हाथ फेरती है) क्या बात है बेटे—डरो नहीं कह दो।

रघु—(कुछ स्वस्थ होकर) दादा जी उठ रहे हैं।

(सब साथ बोल उठते हैं)—शीला—क्या? श्रीनाथ—एं! राजनाथ—क्या कहता है? शकुन्तला—पागल तो नहीं हो गया है!

रघु—मैंने अपने आप देखा था। जब मैं ताली उठाकर चलने लगा तो उन्होंने कहा "रघु क्या ले जा रहा है ?"

राजनाथ—उन्होंने तेरा नाम लेकर पुकारा ? (रघु सिर हिलाकर "हां" कहता है।)

शीला—मैं कहती थी न कि डाक्टर ज़रूर बुलाना था !

शकुन्तला—नहीं, यह बहुत डर गया है। ऐसा भी कहीं हुआ है।

रघु—नहीं अम्मा, दादा जी बहुत गुस्सा हो रहे थे। उन्होंने पूछा कि मेरी घड़ी कहा गई—रघु देख के आ क्या बजा है ?

श्रीनाथ—क्या कहा ? घड़ी कहा गई ? (घबरा कर हाथ की घड़ी छिपाने की कोशिश करते हैं।)

राजनाथ—दादा जी लेटे थे कि उठकर बैठ गये थे ?

रघु—वह पहले धीरे धीरे उठने लगे। फिर सिर पर हाथ रखकर कहा, उफ़ बड़ा दरद है और फिर लेट गये। तभी मैं जल्दी से भाग आया।

शकुन्तला—तुम दोनों को जाकर देखना चाहिये।

श्रीनाथ—एँ ? हा ! (राजनाथ की ओर देखते हैं)

शीला —(राजनाथ से) हां जाकर देखो ना जल्दी जाना चाहिये।

राजनाथ—हां, अच्छा तुम आगे चलो भैया।

श्रीनाथ—मैं ? क्यों ? नहीं—आगे पीछे का क्या सवाल है। साथ साथ चलो।

(इतने में अन्दर से किसी के आने की आवाज़ होती है। सब स्तब्ध होकर स्टेज के दूसरी तरफ़ झुण्ड बना कर खड़े हो जाते हैं और उसी ओर एक टक देखते हैं। चाचा जी धीरे धीरे कमरे में प्रवेश करते है और सब को इस प्रकार खड़ा देखते हैं।)

चाचा जी—बात क्या है ? क्या आज मुझे पहले दफ़े देखा है जो इस तरह घूर रहे हो ? या सामने कोई भूत दिखाई दे रहा है ?

(अपने को सम्हालने की कोशिश में श्रीनाथ आगे बढ़ते हैं। कुछ बोलने की कोशिश करते हैं। अजीब आवाज़ निकलती है।)

श्रीनाथ— (विकृत कंठ से) चाचा जी।

चाचा जी—तुम्हारा गला क्यों बैठ गया है श्रीनाथ ? (राजू को देख कर आगे बढ़ कर कधे पर हाथ रखने की कोशिश करते हैं) अच्छा आज तो बहुत दिन बाद राजू और शीला दिखाई पड़े। कहो अच्छे तो हो ? (राजनाथ डर कर एक क़दम पीछे हो जाते हैं। श्रीनाथ खिसक कर चाचा जी के पीछे आ जाते हैं।)

चाचा जी—(राजनाथ से रुष्ट होकर) यह क्या बात है। मैं क्या तुम्हें काट लेता ?

राजनाथ—(खिसिया कर) नहीं नहीं चाचा जी ! (श्रीनाथ उंगली से चाचा जी की पीठ छू कर बोलते हैं कि होश है या नहीं।)

चाचा जी—(डांट कर) यह क्या कर रहे हो श्रीनाथ, आज मामला क्या है। तुम लोग होश में हो या नहीं ?

शकुन्तला—(सबसे पहले सम्हल जाती है) चाचा जी आपकी तबियत तो अच्छी है ?

चाचा जी—एं ?

शकुन्तला—(अब की ज़ोर से) आपकी तबियत तो अच्छी है ?

श्रीनाथ—(कुछ होश में आकर) जी, यही मैं भी पूछ रहा था। आपकी तबियत तो अच्छी है ?

चाचा जी—ज़रा सिर में दर्द है। (बैठने के लिये आगे बढ़ते हैं। राजनाथ झट आराम कुर्सी स्टेज के बीच में खींच लाते हैं।)

राजनाथ—आप बैठें चाचा जी ?

चाचा जी—(बैठकर हंसते हुये) आज अफ़ीम की मात्रा कुछ ज़्यादा हो गई थी, सिर अब तक भारी है। कान भी सुन्न हो गये हैं।

शीला—(शकुन्तला से दबी ज़बान से) देखा मैं कहती थी न ?

चाचा जी—एँ ? क्या कहा ?

शकुन्तला—(जल्दी से) कहती है कि आपके माथे में अमृतांजन मल दूं। उससे बहुत फायदा होगा।

चाचा जी—नहीं उसकी कोई ज़रूरत नहीं है। (इस बात चीत के बीच में श्रीनाथ और शकुन्तला चाचा जी की कुर्सी के एक तरफ़ अन्दर जाने के दरवाज़े की ओर—और राजनाथ और शीला दूसरी बाहर जाने के रास्ते की ओर खड़े हो जाते हैं। मगर दूर ही दूर रहते हैं। चाचा जी यह अजीब व्यवहार देखकर खीजते हैं) आज तुम सबको हो क्या गया है? ऐसी अजीब बातें कर रहे हो। (डाट कर) राजनाथ, हाथ क्यों मलते जा रहे हो। आये हो तो ढङ्ग से बैठते क्यों नहीं! (राजनाथ खिसिया कर हाथ मलना बन्द करके एक ओर बैठ जाते हैं।) श्रीनाथ, पागलों की तरह छत की तरफ मत देखो। (श्रीनाथ भी बैठ जाते हैं। शीला पहले ही दुबक कर एक कोने में बैठ जाती है)

शकुन्तला—(भागने की कोशिश मे) मैं आपका नाश्ता ले आती हूं।

चाचा जी—हाथ से एक कान उसकी ओर बढ़ाते हुये) क्या ले आती हो?

शकुन्तला—आपका नाश्ता।

चाचा जी—नाश्ता! नहीं रहने दो। इस वक्त मेरी तबियत बहुत भारी है। खाऊंगा नहीं।

राजनाथ—(ज़ोर से) सोने के बाद तबियत बहुत भारी हो जाती है।

चाचा जी—सोने के बाद! मैं सो नहीं रहा था।

शीला—(राजनाथ की बेवकूफी को ढकने के लिये) तबियत ठीक नहीं थी इससे लेटे होंगे।

चाचा जी—कहा तो कि आज अफ़ीम कुछ ज्यादा हो गई थी। कुछ देर के लिये बिलकुल ही हाथ पैर ढीले हो गये थे। सारा शरीर सुन्न पड़ गया था। अभी तक सिर भारी है।

(शीला अब बिलकुल सम्हल गई है और चाची वग़ैरह के विषय में अपने शक दूर करना चाहती है)

शीला—लेकिन आप देख तो सकते होंगे?

शकुन्तला—(मतलब समझकर) जाने भी दो। चाचा जी की तबियत ख़राब है और तुम सवाल पे सवाल किये जाती हो।

शीला—(अनसुनी करके) तो जब आप पड़े थे तो किसी को कमरे मे आते देखा था?

चाची जी—(सोचकर) हां कुछ ख़याल तो है। मुझे कुछ ऐसा मालूम हुआ जैसे कई लोग मिलकर कुछ उठा रहे हों। क्यों श्रीनाथ? तुम आये थे मेरे कमरे में?

श्रीनाथ (घबरा कर) मैं?……मैं तो……

शकुन्तला—(श्रीनाथ को मुश्किल में देखकर) नहीं चाचा जी यह तो बाहर गये हुये थे।

चाचा जी—(शकुन्तला की बात सुनकर उसकी ओर मुड़ते ही उसके पीछे रखी अपनी ड्रेसिंग टेबुल दिख जाती है।) अरे? यह मेरी ड्रेसिंग टेबुल यहा कैसे पहुंच गई? यह आज मामला क्या है? मेरी घड़ी भी कहीं लापता हो गई। और यह यहा कौन ले आया? (श्रीनाथ और शकुन्तला की ओर घूर कर देखते हैं।)

शकुन्तला—(मेज़ पर घड़ी ढूंढने का बहाना करते हुये) घड़ी तो शायद आप यहीं कहीं छोड़ गये थे।

श्रीनाथ—(उसी ओर जाकर घड़ी ढूंढने के बहाने से उतारने की कोशिश करते हुये) मैंने आज सुबह इसी मेज़ पर देखी थी।

चाचा जी—यह क्या श्रीनाथ! मेरी घड़ी तुम्हारे हाथ में कैसे पहुँच गई?

(श्रीनाथ चुपके से घड़ी उतार कर रख देते हैं।)

शकुन्तला—नहीं चाचा जी। आप घड़ी नीचे छोड़ गये थे तो मैंने ही इनसे कहा कि हाथ मे डाल लें। कहीं पड़े पड़े इधर उधर न हो जाय।

शीला—(नीची आवाज़ में) कुछ तो इनसानियत दिखाई होती। इतनी जल्दी चीज़ें हथियानी शुरू कर दीं!

शकुन्तला—(उसी तरह) अब तुम्हीं चाचा जी से पूछो न कि हीरे की अंगूठी किसे देने का वादा किया था।

चाचा जी—(सुन न सकने के कारण बहुत गुस्सा होकर) ऐं? क्या कहा? मैं पूछता हूं आज बात क्या है। श्रीनाथ गुम से क्या खड़े हो। बात का जवाब क्यों नहीं देते?

(रघु चाचा जी के गुस्से को देखकर इसी तरह समझ लेता है कि कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। इसलिये अब ज़रा हिम्मत करके आगे आकर कुर्सी के पास खड़ा होता है।

रघु—दादा जी, क्या आप मर गये थे?

चाचा जी—(और भी बिगड़ कर) कौन मर गया था? क्या बकता है?

श्रीनाथ—(घबरा कर) नहीं नहीं, मर नहीं—कहता है डर गये थे।

चाचा जी—कौन डर गया था? मैं डरूंगा?

शकुन्तला—आप नहीं चाचा जी रघु डर गया था।

चाचा जी—(कुछ शान्त होकर) किस से डर गया था रघु?

रघु—(अपना सीधा सवाल बदला जाते देख सिटपिटा जाता है) ऊपर आपके कमरे में······।

चाचा जी—ऊपर मेरे कमरे में? मेरे कमरे में तुम क्या करने गये थे?

रघु—(अपनी जान बचाते हुये) अम्मा ने भेजा था?

चाचा जी—(भवें चढ़ाकर) क्यों?

रघु—चाबी का गुच्छा लाने के लिये।

चाचा जी—(हैरान होकर) चाबी का गुच्छा लाने के लिये? (शकुन्तला से) मेरी चाबी से तुम्हें क्या काम था?

शीला—(कुछ ज़ोर से) तुम तो कहती थीं कि अपना गुच्छा भूल आई हो? इतनी लूट?

शकुन्तला—(धीरे से) चुप भी रहो। धीरे बोलो। चाचा जी क्या समझेंगे?

शीला—(और ज़ोर से) धीरे बोलूं? मैं तो चाचा जी से बताऊंगी कि यहां क्या अंधेर हो रहा है।

चाचा जी—मैं पूछता हूं कि आज यह अनोखी बातें क्यों हो रही हैं। कोई मेरी बात का जवाब क्यों नहीं देता?

श्रीनाथ—(*बात बनाने की बेकार कोशिश करते हुये*) *बात कुछ नहीं है चाचा जी। आज आपकी* लम्बी नींद ने हम सब को घबरा दिया। मैं तो समझा था कि तबियत बहुत ख़राब है।

चाचा जी—(बातों में न आकर) तो इसी वजह से मेरी ड्रेसिंग टेबुल यहां पहुँच गई? और मेरी ताली से तुम्हें क्या काम पड़ा?

शीला—मैं बतलाती हूं चाचा जी—मैं आपको इस तरह लुटते नहीं देख सकती।

चाचा जी—किसने लूटा मुझे?

शीला—इन्हीं दोनों ने (इशारे से बताती है) और कौन ऐसा काम करेगा। आपके मरते ही सारी चीज़ें हथिया लीं।

चाचा जी—मेरे मरते ही। तो तुम्हारी राय में मैं मर चुका हूं।

शीला—(ग़लती समझ कर) जब आप ऊपर सो रहे थे, तब इन्होंने समझा कि, भगवान न करे, आपको कुछ हो गया है।

चाचा जी—अच्छा!! तो यह बात थी! तुमने समझा कि मैं मर गया! तो मेरे सामान का बटवारा करने की फ़िक्र में थे।

श्रीनाथ—नहीं नहीं ऐसा न कहिये चाचा जी।···

राजनाथ—नहीं चाचा जी, एक ही लाठी से सबको न हांकिये। भगवान जानता है आपको स्वस्थ देख कर मुझे कितनी शान्ति हुई। जोग टल गया। अच्छा हुआ।

चाचा जी—(ताने के साथ) ऐसा?

राजनाथ—(अप्रतिभ होकर) हमारे दिल में तो इसके सिवा दूसरा ख़याल ही नहीं था।

शकुन्तला—(बदला लेने का मौक़ा पाकर—शीला से) क्यों नहीं था ? जब कहने ही चली हो तो पूरी बात क्यों नहीं कहतीं ?

शीला—(अपनी बारी आई देखकर) क्यों बेकार बात बढ़ाती हो ।

शकुन्तला—चाचा जी, आपने शीला के हीरे की अंगूठी देने का वादा किया था ?

चाचा जी—(मुस्करा कर) हीरे की अंगूठी ?

शकुन्तला—और उसके साथ की नेकलेस और चूड़ियां ।

शीला—(शर्मिन्दा होकर) यह मेरा मतलब नहीं था ।

शकुन्तला—यही नहीं चाचा जी, आप पिछले बार जब इनके घर से यहां आये तब इन्होंने साफ कह दिया था कि अब हरगिज़ आपको अपने घर रखने का ख़र्चा नहीं उठायेंगे ।

चाचा जी—(हंसकर) देखता हूं तुम दोनों के मुझसे बड़ा प्रेम है !!

शकुन्तला—(चाचा जी के पैर पकड़ कर) मुझ से जो ग़लती हुई अनजाने में हुई है । भगवान आपका साया हमारे ऊपर सदा बनाये रहे । मैं आपकी सेवा ही करके बहुत सुखी हूं ।

(चाचा जी कुछ कहते ही नहीं । मुस्कराते रहते हैं)

शीला—(माथा टेक कर) आप हमारे ऊपर दया करें चाचा जी । आप जैसे इनके बुज़ुर्ग वैसे ही हमारे भी हैं । इतने दिन इनके घर रह लिये अब हमारे यहां कब चलेंगे ?

राजनाथ—(हाथ जोड़ कर) हां चाचा जी अब तो बहुत दिन हो गये । अब आप हमारे साथ पहाड़ चलिये । आबहवा बदलने से तन्दुरुस्ती अच्छी रहती है ।

श्रीनाथ—(हाथ जोड़कर) ईश्वर की दया से अब आप स्वस्थ हैं—यह सबसे बड़ी बात है । इधर उधर करने में बड़ी तकलीफ़ होती है । आप आराम से यहीं रहें । कहीं और जायंगे तो मुझे बहुत दुख होगा ।

चाचा जी—(सब की सुनने के बाद उसी तरह मुस्कराते हुये ।) सुखी रहो बेटा । दोनों सुखी रहो । तुम्हारा दुख मुझ से अब देखा नहीं जाता, इसलिये यह सब भूल जाओ और एक ख़ुश ख़बरी सुनो । (उनका कौतूहल बढ़ाने को एक क्षण ठहर कर) अगली पूनों के दिन तुम्हारी नई चाची आ रही हैं ।

शीला, शकुन्तला—(एक साथ) नई चाची ?

राजनाथ, श्रीनाथ—(एक साथ) क्या आप ब्याह करेंगे ?

चाचा जी—क्यों नहीं, अभी मेरी उम्र ही ऐसी क्या हुई है ? ईश्वर की दया से तुम दोनों से मज़बूत हूं । आज सुबह ही बात पक्की हुई है । इसीलिये तो यह ड्रेसिंग टेबुल ख़रीदी थी और कपड़े वग़ैरह बनवाये थे । (खड़े होकर जाते हुये) अच्छा किया जो नीचे ले आये । ले जाने में आसानी होगी ।

शकुन्तला—तो क्या आप अब यहां नहीं रहेंगे ?

चाचा जी—(जाते जाते रुक कर) हां—यह कहना तो भूल ही गया । मैंने नया मकान ख़रीदा है । पूनो का लगन है । न्योते में ज़रूर ही आओगे । मैं अभी मरने वाला नहीं—लेकिन जब मरूंगा तब ऐसा इन्तज़ाम कर जाऊंगा कि तुम्हें मेरे सम्हाल की फ़िक्र न करनी पड़े । (हंसते हुये जाते हैं) और लोग उसी तरह स्तब्ध होकर एकटक ताकते रह जाते हैं ।*

पर्दा

* एक अंग्रेज़ी रचना के आधार पर ।

कवि से—

श्री गोपीकृष्ण

रे कवि, तूने गीत सुनाये—
जिनके स्वर-स्वर मे जीवन था,
जिनके स्वर-स्वर में यौवन था,
जिनके स्वर-स्वर मे श्वासों में,
कुछ सिहरन थी, कुछ कम्पन था,
जिनके स्वर-स्वर बादल बनकर,
नयनों के सावन में छाये !
रे कवि, तूने गीत सुनाये !!

जिनके स्वर-स्वर मे इठलाकर,
बल खाकर चलते थे पत्थर,
जिनके स्वर-स्वर मे पत्थर मे—
पत्थर कहता था आखे भर—
मानव क्यो तुझको पूजेगा,
जब जग के मानव पथराये !
रे कवि, तूने गीत सुनाये !!

जिनके स्वर-स्वर से प्रेरित हो—
मैने घर मे दीप जलाया,
जिनके स्वर-स्वर से प्रेरित हो—
मैने घर का दीप बुझाया—
प्राण - विहंगम दूर गगन में—
उड़ कर भू के पास न आये,
रे कवि, तूने गीत सुनाये !!

काव्य परिशीलन

श्री अम्बालाल पुराणी

[लगभग बीस पच्चीस वर्ष पहले श्री अरविन्द ने Future Poetry शीर्षक से एक लेख-माला लिखी थी, यह अनुपम लेखमाला अभी तक पुस्तक रूप में प्रकाशित नहीं हुई है। पुराणी जी ने उसके आधार पर कुछ लेख लिखने शुरू किये हैं और यह लेख उनमें से पहला है। लेखक का कहना है यह श्री अरविन्द की पुस्तक का अनुवाद नहीं है, इस में कही गई बातों के लिये मैं ख़ुद जिम्मेदार हूं। लेकिन फिर भी मेरे ये लेख Future Poetry के ऋणी हैं—सम्पादक]

कविता का रहस्य क्या है, उसका अन्तिम सत्य क्या है और उस का रस क्या है? इन प्रश्नों पर विचार करते हुए डर लगता है कि कहीं हम शारदा की वीणा के तार तोड़ कर उनके अन्दर सत्य ढूंढने का-सा प्रयत्न तो नहीं कर रहे हैं। उस वीणा का अन्तिम हार्द इतना सूक्ष्म है कि उसे ग्रहण करने का कार्य धुएं को मुट्ठी में पकड़ने की नाईं कठिन और दुस्साध्य है। लेकिन फिर भी किसी कामचलाऊ व्याख्या की ज़रूरत तो है ही। सम्भव है कि यह कार्य कुछ उपयोगी और लाभप्रद निकले।

सामान्य मानव तो कविता को बुद्धि-विलास का एक साधन मात्र समझता है और शब्दों या वाक्यों के कर्णप्रिय विलास को ही कविता मान बैठता है। यह मानने वालों की भी कमी नहीं कि कविता खाली समय बिताने के लिये एक उत्तम साधन अथवा एक प्रकार का खेल है। साधारण छन्द या सुरीले राग से प्रकट किये गए अच्छे विचार भी कविता की श्रेणी में गिने जाते हैं। यह ठीक है कि पाठक को कविता में रसास्वाद मिलना चाहिये, क्योंकि प्रत्येक कला में से रसास्वाद प्राप्त होता है, पर यह रसास्वादन-शक्ति क्रमशः उन्नत होती जानी चाहिये। यदि वह इन्द्रियों के विलास में ही फंसी रहे और उसी पर आश्रित रहे, तो वह रसास्वादन-शक्ति अपूर्ण और असंस्कृत रहेगी। हां यह कहना भी ठीक नहीं है कि काव्य कल्पना का सौन्दर्यग्राही उपभोग या सौन्दर्यलक्षी विलास है, क्योंकि कल्पना का उपभोग ही कोई सर्वोत्कृष्ट प्रकार का आनन्द नहीं है। रसास्वादन के सभी प्रकारों को विशुद्ध बनाने की और अधिक उन्नत करने की आवश्यकता रहती ही है।

मनुष्य का कौन सा अङ्ग कविता का रस लेता है? कल्पना, बुद्धि या उसकी कर्णेन्द्रिय? इन में से कोई एक या सब मिल कर भी उसका रस नहीं ले पाते। काव्य रस का उत्पादन भी इनके द्वारा नहीं होता। सच पूछिये तो ये सब कविता की प्रेरणा-प्रवाह के आने के मार्ग हैं। काव्य का वास्तविक सृजन और आस्वादन करने की शक्ति तो केवल अन्तरात्मा में ही है। जैसे जैसे बुद्धि, कल्पना, कर्णेन्द्रिय आदि वेगपूर्ण और अपनी दस्तन्दाजी किये बिना कविता के प्रेरणा स्रोतों के ग्रहण और वाहन का कार्य करते हैं, वैसे ही वैसे कविता ज़्यादा उन्नत प्रकार की होती जाती है। जब तक ये उपकरण विशुद्ध और उन्नतगामी न हों, तब तक कविता का उत्तमोत्तम लक्ष्य नहीं सध पाता।

जब कवि की आत्मा अपनी प्रकृति की सब कठिनाइयों को पार कर के अपने साधनों की सहायता से अविर्भाव पाती है, तो उसे एक अद्भुत आनन्द की प्राप्ति होती है, विराट अव्यवस्था पर विजय प्राप्ति की सृष्टि रचते हुए प्रभु की आत्मा को जो आनन्द

हुआ होगा, यह आनन्द उसी की प्रतिकृति है। इसका हेतु खाली समय का सदुपयोग नहीं है, स्वयं यह आनन्द हमारी पार्थिव सृष्टि के अन्दर किसी नवीन सृष्टि का दर्शन कराता है, उसका मार्ग दर्शाता और मानव को उसकी ओर ले जाता है।

विवेचक दो प्रकार के होते हैं। कुछ का कहना है कि काव्य परिभाषा के अमुक नियमों का पालन, और काव्य कला के ग्रन्थों का यथार्थ अनुसरण ही कविता है। प्रत्येक कला के कुछ नियम होते हैं, उसका व्याकरण होता है और उसकी विशेष परिभाषाएं होती हैं, इसी प्रकार काव्य रचना के भी नियम हैं, और परिभाषाएं भी हैं; पर कविता का अन्तिम रहस्य तो उन में नहीं है। काव्य शास्त्र के बाह्य नियमों के अतिरिक्त कविता में इतनी सूक्ष्म सामग्री होती है कि काव्यशास्त्र के सभी प्रचलित और प्रस्थापित नियमों का उल्लङ्घन कर के भी केवल सूक्ष्म सामग्री को लेकर उत्तम कविता बन सकती है। अन्य कलाओं की अपेक्षा काव्य शास्त्र मे नियमों और परिभाषाओं का स्थान बहुत गौण है। कविता की सामग्री—उसका तत्व—छन्दोबद्ध शब्द हैं, जो कि स्थूल पार्थिव वस्तुओं की तरह निश्चल और ठोस नहीं होता। उसे कुम्हार की मिट्टी से उपमा दी जा सकती है, जो कर्ता की इच्छानुसार आकारों को ग्रहण करती है। यह कवि की इच्छा और शक्ति के अनुसार लय और अर्थ-ध्वनियुक्त होता है। इसमें शब्दों के उच्चारण का, उसके विचार का तथा उसके अर्थ का भी अलग मूल्य होता है। इनके अतिरिक्त शब्द की अपनी आत्मा का भी मूल्य होता है। सभी तत्व चेतना मय हैं और इन्हें किसी निश्चित या नियमित रूप में जकड़ा नहीं जा सकता।

अन्य कलाविधायकों की नाईं कवि को अपनी कला की सामग्री या उसके नियमों पर सदा निगाह रखने की आवश्यकता नहीं होती। य तो परिभाषा के बिना किसी कला का काम नहीं चल सकता; पर जिस समय कवि-मानस में कविता के स्रोत का अवतरण हो रहा होता है, उस समय की आध्यात्मिक ऊष्मा में वह कविता की स्थूल देह, उसके बाह्य स्वरूप और सौन्दर्य की रक्षा करने की परवाह नहीं करता। मनुष्य की तरह काव्य की आत्मा और उसकी देह—बाह्य स्वरूप—दोनों का जन्म साथ ही साथ होता है। जब सर्जक सब नियमों को भूल जाता है, उन्हें गौण मान कर बुद्धिपूर्वक उनका अनुसरण नहीं करता तभी अन्तरात्मा में सच्चे काव्य का जन्म होता है।

२ छन्द और गति

काव्य में मानव-आत्मा के गहरे से गहरे और ऊंचे से ऊंचे सत्य को तभी प्रकट किया जा सकता है, जब उसमें तीन शर्तों को पूरा किया गया हो, जिसमें —पहली है छन्द की गति में तीव्रता (२) शब्द देह और विचार तत्व की उच्चतम गति और (३) सत्य के क्रान्त दर्शन की उद्दामता, यानी तीव्रता। इन तीनों में से किसी में भी कसर रह जाय, तो कविता में न्यूनता रहेगी।

कविता की चरम सफलता के लिये छन्द अत्यावश्यक ही नहीं अपरिहार्य है। किन्तु पिङ्गल या छन्द शास्त्र के नियमों के पालन कर लेने का नाम ही छन्द नहीं है। छन्द का उत्पत्तिस्थान अन्तर की गहराइयों में है, यही कारण है कि कई बार हम कविता में छन्द, मात्रा, अनुप्रास आदि का ठीक ठीक पालन देखते हैं, फिर भी वह कविता हमारी काव्य-तृषा को शान्त करने में असमर्थ रहती है।

यूरोप में हो या एशिया में आजकल सभी जगह के आधुनिक कवि छन्द शास्त्र के नियमों को तोड़ कर कविता को उससे मुक्त करने की ओर प्रवृत्त हैं। अंग्रेजी भाषा में अमरीकन कवि वाल्टव्हिटमेन और अंग्रेज़ कवि एडवर्ड कार्पेण्टर आदि इसके आदि प्रणेता थे। फ्रांस में भी 'वेर लीब्र' Verse libre के नाम से यह हलचल शुरू हुई थी और इटली में भी इसके लिये बहुत से प्रयत्न हुये हैं।

लेकिन सवाल यह है कि क्या कविता को छन्द की आवश्यकता से पूर्णतया स्वतन्त्र किया भी जा सकता है? हमने ऊपर जो तीन शर्तें स्वीकार की

हैं, उनके अनुसार तो इसका उत्तर नकार में ही देना होगा। अभी तक कविता को छन्द से मुक्त करने के जो सफल प्रयत्न हुए हैं, उन्हें देखने से तो यही पता लगता है कि उनमें केवल शास्त्रीय छन्दों का ही अभाव रहता है। उनमें गेयता या सङ्गीत भले ही न हो, पर किसी न किसी नए छन्द का अनुसरण या सृजन अवश्य होता है। कई बार पिङ्गल के अनेक छन्दों के भिन्न भिन्न टुकड़ों को इकट्ठा करके एक नई प्रकार की छन्दोमयता पैदा कर दी जाती है।

अभी तक अमुक स्वर मात्र के पुनरावर्तन को छन्द माना जाता है। प्राचीन काल से कवि लोग इसे स्वीकार करते आए हैं। क्योंकि इसमें अधिक प्राण और अधिक दीर्घजीविता है। प्राचीन काल में आयुर्वेद, ज्योतिष शास्त्र आदि के ग्रन्थ भी छन्दोबद्ध होते थे, क्योंकि इसे कण्ठस्थ करना ज्यादा सरल है। हम ज़रा सोचें तो मालूम होगा कि समस्त विश्व ही छन्द रूप में उत्पन्न हुआ है और छन्द के कारण ही टिका हुआ है। प्रत्येक सर्जित पदार्थ की अमरता और अविनाशिता का आधार एक प्रकार की गति के छन्द की सन्तुलन पर है और गति के छन्द की यह समतुल किसी सूक्ष्म पुनरावर्तन की नींव पर खड़ी है।

अनुभव से हमें यह भी ज्ञात होता है कि छन्द के प्रयोग में भी चढ़ती उतरती श्रेणियाँ हैं। जन साधारण गेय, कर्ण-प्रिय, और सुन्दर भाषा वाले छन्द की कविता पसन्द करते हैं। बहुत से लोग गाए जा सकने वाले राग में रचे हुए विचारों को ही कविता मान लेते हैं। इसी दृष्टि के कारण लार्ड मेकाले और रडयार्ड किपलिंग जैसे लोग भी कवि के सिंहासन पर स्थान पा लेते हैं। लेकिन फिर भी गेयता, कर्ण प्रियता या छन्दोबद्धता कविता के सब से अधिक महत्त्वपूर्ण तत्व नहीं हैं।

इस प्रकार की कविता कविता का सच्चा स्वरूप नहीं, उसकी परछाईं मात्र है। ऐसी कविताओं का तो ढेर लगाया जा सकता है। छन्द, ताल, राग, भाषा, अनुप्रास आदि की दृष्टि से खूब सफल हों, पर फिर भी उनका कोई छन्द हमारे अन्तर में घर नहीं कर पाता। उनकी अभिव्यक्ति न गम्भीर होती है और न तलस्पर्शी। लेकिन इसके होते हुये यूरोप में और हमारे यहां भी इस प्रकार के कवि सच्चे कवि का स्थान ले बैठते हैं और वह भी अच्छे अच्छे विवेचकों की सहायता से। ऊपरी दृष्टि से कोई छन्द कितना भी सम्पूर्ण क्यों न हो, यह आवश्यक नहीं है कि उस के अन्दर अन्तरात्मा का तलस्पर्शी दर्शन या संवेदन हो, अथवा उसका अपना सङ्गीत प्रकट हो। हमें उसके अन्दर अमुक सामर्थ्य और कौशल दिखाई दे और उसकी कोई खूबी हमें आश्चर्य चकित कर दे, यह तो सम्भव है और यह भी सम्भव है कि वह उपयोगी भी सिद्ध हो, पर मानव अन्तरात्मा की गहराइयों के सङ्गीत बिना शायद वह शुष्क ही रहे। इसके उदाहरण स्वरूप १८ वीं से सोलहवीं सदी की हिन्दी कविता का एक बड़ा भाग, ब्रजभाषा को इन सदियों की कविता और हमारे इस आधुनिक काव्ययुग से पहले की दलपतराम की कविता गिनाई जा सकती है।

बाह्य दृष्टि से छन्दोमय देह की पूर्णता प्राप्त किये हुए काव्यों से भिन्न काव्य भी दिखाई देते हैं, जिन का रस केवल कर्णप्रिय छन्द में ही सीमित नहीं होता। उसके अन्दर हमारी सौन्दर्य-पिपासु सूक्ष्म इन्द्रिय को भी सन्तोष प्राप्त होता है और बहुत बार यह अपनी कर्णप्रिय शब्दावली और छन्द की गति के साथ बहा ले जाती है। इस प्रकार की कविता कानों को मोहित कर लेती है और अन्दर घुस कर कल्पना के चित्रों द्वारा आकर्षित करती और बांध लेती है: परन्तु यह भी आत्मा की गहराइयों तक नहीं पहुँच पाती। इसका अर्थ यह हुआ कि सम्भव है कि कविता रस वृत्ति, कल्पना और कर्णेन्द्रिय को सन्तुष्ट कर दे, पर आत्मा फिर भी अतृप्त रहे। इस प्रकार की कविता एक बार पढ़ या सुन लेने पर उसकी नवीनता समाप्त हो जाती है! वह बलपूर्वक आत्मा की गहराइयों तक पहुँचने में असमर्थ रहती है। इसे धीमी स्थिर गति से बहने वाली नदी की उपमा दी जा सकती है। यह कविता केवल कानों को ही मुग्ध नहीं करती, अपितु बुद्धि और कल्पना को भी

अभिमन्त्रित कर देती है। कवि के पास कुछ वक्तव्य होता है और वह कल्पना के चित्र खींच सकता है। वह अपने वक्तव्य को छन्द, अनुप्रास और राग वाली रचना में प्रकट कर के सन्तोष कर लेता है।

लेकिन यह कविता उत्तमोत्तम कोटि की नहीं। साहित्य के विकास में इस प्रकार की कविता के लम्बे लम्बे युग आते रहते हैं। अंग्रेज़ी कविता में विक्टोरियन युग कुछ ऐसा ही था। संस्कृत कविता में पद लालित्य प्रधान गीत गोविन्द इसी प्रकार का है। हमारे यहां गुजराती में नाना लाल के युग की बहुत सी कविताएं और स्वयं नाना लाल की कविताओं का एक बड़ा भाग इसी प्रकार का है।

अपनी बात को ज़रा और स्पष्ट करने के लिये हम एक रूपक का सहारा ले लें। सङ्गीत के विविध वाद्य लेकर उसके पण्डित नई नई गतियां पैदा करते हैं। गाने वाले गले में से आश्चर्य जनक तानें लेते हैं। इस सारी क्रिया में हमें एक हुनर दिखाई देता है; तो कभी असाधारण कौशल, कभी कभी उन्नत सङ्गीत की झांकी भी दिखाई दे जाती है। फिर भी सुनते समय सङ्गीत की आत्मा का अभाव खटकता रहता है। गाने वाले की आत्मा अपनी कृति में न हो तो हमें यह लगता रहता है कि गान में 'कुछ' कमी अवश्य है।

उत्तमोत्तम कविता में छन्द की ख़ूबी होती है और यह कविता प्रासादिक सङ्गीत की वाणी बन जाती है। कवि कीट्स के शब्दों में कहें तो—"जब कवि नाद और पद में कंजूसी करके अपने उपकरण के उपयोग में मितव्ययी बनता है, तब उत्तम कविता का जन्म होता है।" यहां मितव्ययता या कंजूसी का यह मतलब नहीं है कि वह नाद और पद का उपयोग कम करता है, अपितु इसका भाव यह है कि वह उनको सम्पूर्ण शक्यताओं और शक्तियों का पूरा पूरा उपयोग करता है। इस कविता में हमारी ताल और मान सम्बन्धी मांग को भी पूरा किया जाता है, परन्तु उसका असर समग्र काव्य के एकत्र असर से पृथक् नहीं होता। अर्थात् उत्तमोत्तम काव्य के लिये आवश्यक तत्वों में ताल और मान के तत्व भी अपने आप अपने स्थान पर आ जाते हैं।

यहां पर इस बात का भी ख़्याल रखना चाहिये कि उत्तमोत्तम कविता के छन्द का सृजन श्रवणेन्द्रिय, रस ग्रहण वृत्ति अथवा बुद्धि का आभारी नहीं होता। इस छन्द का उत्पत्तिस्थान अन्तर की गहराई में होता है। वहां पर कवि की आत्मा अपनी सूक्ष्म श्रवणेन्द्रिय द्वारा जिस दिव्य सङ्गीत को सुनती है, उसकी प्रतिछाया छन्द में प्रवृत्त होती है। इस प्रकार की कविता का छन्द बुद्धि द्वारा की गई खोज का परिणाम अथवा रसग्रहण वृत्ति की तृषा को लेकर पैदा हुआ नहीं होता। यह छन्द अन्तर की गहराइयों में लहराते अनन्त चैतन्य महासागर के सनातन गान की प्रतिध्वनि होता है। पर इसका मतलब नहीं कि जब यह छन्द प्रकट होता है, उस समय कवि की मानसिक शक्तियां ग़ायब होती हैं, अथवा उसकी बुद्धि को काठ मार जाता है। वास्तव में तो अन्तरात्मा का शासक अन्तर्यामी कवि की पद्धति के परदे के पीछे से निकल कर उसकी प्रकृति का सूत्रधार बनता है और उसके उपकरणों के द्वारा अपनी अगम्य शक्तियों को प्रकट करता है। ऐसी कृति में, उसके स्थूल घटक अङ्गों में भी कोई और ही ख़ूबी, कोई और ही अनिर्दिष्ट तत्व दिखाई देता है। उसका काव्य-कलेवर-छन्द, राग, ताल, मान, अनुप्रास वग़ैरा से बना हुआ—सांगोपांग होता है; पर फिर भी वह कवि की अन्तरात्मा की स्वतन्त्र प्रासादिक कृति के रूप में ही हमारे मानस पर अधिकार जमाती है।

केवल तुम न आये !!

श्रीमती दिनेशनन्दिनी चोरड्या

◐ अम्बुधि के उस पार जुगनू-बालाओं की ज्योति चुराकर मैंने तुम्हारी प्रतिक्षा की;
आंधी आई, तूफान आये, बादल बिखर गये पर केवल तुम न आये;
क्षितिज के अञ्चल में आसुओं का ताज बनाकर मैंने मिलन के स्वप्न सजाये;
पानी आया, पीयूष बरसा और बिजलिया दमक उठीं;
प्रकृति के मौन आमंत्रण से बेबस बसन्त जुही की आंखों में उतर आया;
केवल तुम न आये !

◐ सुधा के वैषम्य में मान का अभिनय किये उलहनों का समार रचती रही;
हेमन्त आये, मधुमास आये और पतझड़ बरस पड़े, पर—
केवल तुम न आये !!

× × ×

◐ मै जीवन की ज्योति आचल की ओट कर कब तक चलूगी ?
शृङ्गार के आवरण में यौवन के ओज को कब तक दबाऊगी ?
और सखी—

◐ आसव के उफान से उड़ती हुई आन्वों को कब तक रोके रहूंगी ?
इस जीवन की ज्योति को अञ्चल की ओट कर कब तक चलूगी ?
स्वप्न बिक्रेता !

× × ×

◐ अम्बर का अञ्चल उठा दे और मुझे तेरे हाट की सारी रचना देख लेने दे,
मैं मुंहमागा मोल देकर वह स्वप्न लगी, जिसकी मैंने अब तक कल्पना की है;
गोधूलि के झुटपुटे प्रकाश मे श्याम आतुर पैरों से मेरी देहली पर आवें;
मैं अलिगन के उछाह को रोक कर उन्हें देख, चुप रहूं, कम्पित पैरों से दूर हट जाऊ;
और वे—

◐ उनकी पास पहुंचने की इच्छा उनकी आखों मे देखकर मृत्यु के अधर चूम लू !

विटेमिन

[एकाकी नाटक]

सेठ गोविन्ददास, एम० एल० ए० (सेण्ट्रल)

पात्र—स्थान

मुख्य पात्र—

१ बच्छराज – एक धनिक युवक

२ कपिला—बच्छराज की पत्नी

३ गोपालनंदन—एक डाक्टर

४ अच्छेलाल—बच्छराज का नौकर

स्थान—एक नगर

उपक्रम

स्थान—बच्छराज का बैठकखाना

समय—सन्ध्या

[बैठकखाना आधुनिक ड्रांइगरूम के सदृश सुन्दरता से सजा हुआ है। दीवालें और छत रँगी हुई हैं। दीवालों के अनेक दरवाजों और खिड़कियो से बाहर का उद्यान और उस पर डूबते हुए सूर्य की पड़ती हुई सुनहरी किरणें दिखायी देती हैं। दरवाजों और खिड़कियो पर महराबदार रेशमी परदे पड़े हुए हैं। दीवालो पर कई आयल पेण्टिंग लगे हैं। छत से बिजली के झाड़ और पंखे झूल रहे हैं। ज़मीन पर कालीन है, जिस पर बेशक़ीमती फर्नीचर है। सोफे तथा कुर्सियाँ रेशमी कुशनदार हैं, और टेबिल रेशमी मेजपोशों से ढकी हुई, जिन पर फूलों से भरे गुलदस्ते और कई तस्वीरें सजी हैं। कुछ बुकशेल्फ भी हैं, जिनमें किताबें रखी हैं। एक इज़ी चेयर पर बच्छराज बैठा हुआ स्वास्थ संबंधी एक पुस्तक पढ़ रहा है। उसकी अवस्था २२-२३ वर्ष की है। वह गेहुएं रंग का ऊँचा पूरा और कुछ मोटा सा मनुष्य है। लंबे बाल और छोटी छोटी मूछें हैं। उसके वस्त्र अंग्रेज़ी ढंग के हैं। गोपालनंदन का प्रवेश। वह सांवले रंग का कुछ ठिंगना और दुबला पतला व्यक्ति है। उसकी उम्र क़रीब ४० वर्ष की है। वह क्लीनशेव्ड है, और उसके कपड़े भी अंग्रेज़ी फैशन के हैं। गोपालनंदन के आने की आहट पाकर बच्छराज उसकी ओर देखता है और "हलो डाक्टर" कहते हुए खड़े हो पुस्तक टेबिल पर रख उसकी तरफ बढ़ उससे हाथ मिलाता है। दोनों सोफा पर बैठते हैं।]

गोपालनंदन—(जो किताब बच्छराज पढ़ रहा था उसे उठाकर इधर उधर से देखते हुये) ओ ! हाईजीन पर सचमुच यह अच्छी पुस्तक है।

बच्छराज—क्या करूं, पुस्तकों से ही स्वास्थ विषयक कुछ नियम निर्धारित कर रहा हूं, क्योंकि आप तो वह नोटबुक लायेंगे नहीं।

गोपालनंदन—(पतलून की जेब से कुछ निकालते हुए) इसीलिये एक हफ्ते से नहीं आया था। मैं जानता था इस बार बिना नोटबुक के आया तो आप क्षमा करने वाले नहीं। (नोटबुक निकालता है।)

बच्छराज—(अच्छी सी नोटबुक लेने को हाथ बढ़ा, प्रसन्नता से) देखूं......देखूं डाक्टर।

गोपालनंदन—(नोटबुक न देकर हाथ पीछे हटाते हुए) भाई, समझाना पड़ेगा, मुझे हर बात समझानी होगी।

बच्छराज—अच्छी बात है, समझा कर दीजिये। गनीमत यही है कि आखिर आप इसे ले आये।

गोपालनंदन—मैंने कहा न, इसीलिये एक हफ्ते से आया नहीं। फिर अब तो आने के दो सबब और थे।

बच्छूराज—कौन से?

गोपालनंदन—पहला आपका मोटे होते जाना और दूसरे (मुस्कराते हुये) अच्छेलाल ने मुझे कहा था कि अगले महीने बहू जी भी आ रही हैं।

बच्छूराज—(मुस्कराकर) ऐसा!

गोपालनंदन—स्वास्थ सम्बन्धी नियमों की जीवन के इसी काल में सबसे ज़्यादा जरूरत होती है।

बच्छूराज—अच्छा, अच्छा, (नोटबुक की तरफ देखकर) समझाओ इसमें क्या लूधर पत्थर लिखा है?

गोपालनंदन—(नोटबुक खोलते हुये) अभी लो। (नोटबुक के पेज उलटने तथा गला साफ करते हुये) देखिये, इसमें मैंने सुबह उठने से लेकर रात को सोने तक की सारी दिनचर्या लिख दी है। अलस्सुबह उठना। शौच से निवृत्त हो व्यायाम करना; दंड बैठक मुगदर नहीं; कुछ लाइट एक्सरसाइज़ेज; अनेक सिस्टम्स में से छांट कर मैंने निकाली हैं; और इन्हें मैं आपको सिखा दूंगा। फिर व्यायाम से निपट चहलक़दमी करना, चहलक़दमी में एक एक क़दम कितने फुट और इंच का होना चाहिये। और उसकी लम्बाई धीरे धीरे क्यूकर बढ़नी चाहिये। फिर एक कड़ी टेबिल पर सीधे, उलटे आड़े टेढ़े लेटकर उलटी मालिश कराना,...एक दिन आकर खुद करवा दूंगा, तब आप समझेंगे, सीधी मालिश नहीं, उल्टी मालिश। और उसका वक्त भी धीरे धीरे बढ़ाना। मालिश के बाद थरमामीटर से पानी का टेम्प्रेचर नाप कर स्नान करना। फिर शरीर पर पफ से पाउडर लगाना। उसके बाद नीरा पीना। फिर दोपहर को भोजन। भोजन से निवृत्त हो वाय कुक्षि। फिर अपराह्न का नाश्ता। उसके बाद शाम की हवाख़ोरी। हवाख़ोरी में मोटर की ठीक स्पीड। फिर शाम का भोजन। और तब सोना तथा बहू जी के आने के बाद उनके...उनके...(बच्छूराज की ओर देखते हुये मुस्करा कर) समझ लिया न?

बच्छूराज—(मुस्कराते हुये) जी हां,...समझ, बिल्कुल समझ लिया।

गोपालनंदन—(जल्दी जल्दी नोटबुक के पेज उलटते हुये) इस तरह इसमें सुबह बिस्तर छोड़कर रात को बिस्तर पर जाने तक और रात को बिस्तर पर जाने के बाद की भी (मुस्कराते हुये) सारी दिन चर्या लिखी हुई है। इसके अनुसार आप चलें तो "जीवेम शरद शत" की हमारी प्राचीन युक्ति के अनुसार आप निरोग सौ वर्ष जियेंगे। पुराने लोगों ने सौ वर्ष तक जीने की कल्पना की थी, लेकिन उसके लिए जीवन की जिस प्रणाली की ज़रूरत है, वह आधुनिक साइन्टिस्ट ही निकाल सकते हैं।

बच्छूराज—इसमें क्या सन्देह है, आखिर दुनिया में तरक्क़ी जो हो रही है।

गोपालनंदन—बेशक और इस जीवन-प्रणाली में जो सबसे मुख्य बात है, उसी को आपको अच्छी तरह समझ लेना चाहिये।

बच्छूराज—कौन सी?

गोपालनंदन—वही बताता हूं। (गला साफ कर) देखिए, मनुष्य को स्वस्थ और दीर्घजीवी बनाने के लिए सबसे ज़रूरी चीज़ है साइन्टिफिक भोजन। भोजन में अस्वाभाविकता और कृत्रिमता ले आने के कारण ही मनुष्य ने अगणित बीमारियां पैदा की हैं, अपनी उम्र घटाली है, और अपना शारीरिक और आत्मिक बल खोया है।

बच्छूराज—(गोपालनंदन के आने के पहिले जो पुस्तक वह पढ़ रहा था उसे उठाते हुए) आप बिल्कुल ठीक कहते हैं। डाक्टर, इस पुस्तक में भी यही बात लिखी है।

गोपालनंदन—वह तो लिखी ही होगी। स्वास्थ सम्बन्धी आप किसी किताब को भी उठा लीजिये, सब में आपको यही बात मिलेगी।

बच्छूराज—ऐसा!

गोपाल नंदन—बेशक। जो प्राणी स्वाभाविक तथा अकृत्रिम भोजन करते हैं उनका और मनुष्य का मिलान कीजिये आपको फौरन इसका सच्चा रहस्य मालूम हो जायगा। (फिर गला साफ कर) मांसाहारी पशु पक्षी शाकाहारी पशु पक्षी, मनुष्य से बहुत मिलता जुलता बन्दर सब कच्ची चीज़े खाते हैं। हर तरह की चीजों को मिलामिलू कर आग पर उन्हें भिन्न भिन्न प्रकार से उबालना, सेकना और तलना भोजन के मूल की खराबी है।

बच्छराज—तो पशु पक्षी इसीलिए स्वस्थ रहते हैं कि वे कच्ची चीजें खाते हैं और मनुष्य इसीलिए बीमार रहता है कि उसने अग्निदेव का सहारा लिया है।

गोपाल नंदन—निःसन्देह। अग्निदेव नहीं, दैत्य है, विकराल से विकराल दैत्य। उसका उपयोग करना चाहिए बीमारियों के कीटाणुओं के सहार के लिये। अस्पतालों में औजारों, बैन्डेज़ इत्यादि को डिस इन्फैक्ट करने के लिए, घरों में बर्तनों, कपड़ों इत्यादि को साफ रखने के लिए। चौके में इस दैत्य का काम नहीं।

बच्छराज—ठीक।

गोपाल नंदन—बात यह है कि वैज्ञानिकों ने बहुत शोध के बाद 'विटेमिन' थियोरी निकाली है।

बच्छराज—हां आजकल तो यह बहुत प्रसिद्ध हो गई है। इसी के आचार्य हैं न मैकफेरिसन?

गोपाल नंदन—जी हां, अभी ऐ से लेकर आई० जे० तक विटेमिन पहुंचे हैं। धीरे धीरे ज़ैड तक पहुंच जायंगे, इतना नहीं, इनके लिये एलफाबेट मे शायद नये अक्षरों का आविष्कार करना पड़ेगा।

बच्छराज—ऐसा, तो अभी यह थियोरी भी अधूरी है?

गोपाल नंदन—साइन्स में अधूरी तो हर एक चीज़ ही रहती है, क्योंकि रिसर्च का काम जारी जो रहता है, पर अब तक इस विषय मे जितनी शोध हुई है उसी के अनुसार चला जाय तो मनुष्य निरोग रहकर सौ वर्ष तक जी सकता है।

बच्छराज—और आगे रिसर्च होने पर धीरे धीरे उम्र और भी बढ़ सकती है।

गोपाल नंदन—क्यों नहीं, बर्नर्डशा ने अपने नाटक 'बैक टु मैथ्यूसुला' मे हज़ारों वर्षों तक मनुष्य के जीने की कल्पना की है। सम्भव है कोई ऐसा विटेमिन निकल आए जिससे मनुष्य अमर हो जाय।

बच्छराज—तब तो डाक्टर, अब तक जो इतने आदमी मर गये, इनके लिये और अधिक अफ़सोस करना पड़ेगा।

गोपाल नन्दन—हां, पर क्या किया जा सकता है; मनुष्य की आंखें तो चेहरे के आगे के रुख में ही हैं, पीछे नहीं। आदमी तो आगे की ओर ही देखता है, पीछे की तरफ नहीं। (कुछ रुक कर) अच्छा सुनिये, नयी शोधों के अनुसार आदर्श भोजन कैसा होना चाहिये, इसे थोड़ा डिटेल मे सुन लीजिये। (नोटबुक के एक पेज़ पर दृष्टि गड़ाकर फिर गला साफ कर) देखिये, सबसे पहली बात है—चौके से आग का बहिष्कार।

बच्छराज—(उंगली पर अंगूठे से गिनते हुए) पहली बात है चौके से आग का बहिष्कार।

गोपाल नन्दन—(नोटबुक के उसी पेज़ को देखते हुये) दूसरी बात है—अल्पाहार।

बच्छराज—(उंगली पर अंगूठे से गिनते हुए) दूसरी बात है अल्पाहार।

गोपाल नन्दन—(बच्छराज की ओर देखते हुए) मनुष्य जरूरत से कहीं ज़्यादा खाता है।

बच्छराज—ऐसा?

गोपाल नन्दन—ओह! बहुत··········बहुत ज़्यादा। (फिर नोटबुक को देखते हुये) तीसरी बात है भोजन का ठीक मेल-अर्थात् कम्पेटेबिलिटी।·····

बच्छराज—याने?

गोपाल नन्दन—(बच्छराज की ओर देखते हुए) याने यह कि कुछ चीज़ एक दूसरे के साथ खाई जा सकती हैं और कुछ नहीं। मसलन हमारे यहां दाल-रोटी, दाल भात बड़े प्रसिद्ध संयुक्त शब्द हैं। इन

दोनों से युक्त शब्दों का ऐसा विच्छेद करना ज़रूरी है कि ये कभी भी एक दूसरे के नज़दीक न आने पावें।

बच्छराज—तो रोटी और चावल दाल के साथ नहीं खाये जा सकते ?

गोपाल नन्दन—कभी नहीं, (नोटबुक के पीछे के कुछ पेज़ दिखाते हुये) मैंने नोटबुक में कुछ ऐपेन्डिक्स जोड़ दिये हैं, जिनमें से एक में मेल और बेमेल के पदार्थों की सूची दे दी है।

बच्छराज—तब तो, डाक्टर आपने इस नोटबुक के तैयार करने में सचमुच बड़ी मेहनत की है।

गोपाल नन्दन—बेशक, तभी तो इसके तैयार करने में इतनी देर लग गयी। इसके लिये मुझे सैकड़ों पुस्तकों को कन्सल्ट करना पड़ा है। (कुछ रुककर फिर नोटबुक देखते हुए) कम्पैटेबिलिटी के बाद चौथी बात है प्रपोरशन की म्टैबिलिटी।

बच्छराज—(उंगली पर अंगूठे से गिनते हुये) कम्पैटेबिलिटी के बाद चौथी बात है प्रपोरशन की स्टैबिलिटी।.... याने ?

गोपाल नन्दन—(बच्छराज की तरफ देखकर) याने यह कि कौन चीज़ कितनी मिकदार में खानी चाहिये। (पीछे के कुछ पृष्ठ दिखाते हुए) इसके लिए भी एक एपैन्डिक्स है।

बच्छराज—अच्छा।

गोपाल नन्दन—पांचवीं बात है पीने शब्द का लोप।

बच्छराज इसका मतलब समझ में नहीं आया।

गोपाल नन्दन—इसका मतलब यह है कि बंगाली लोग जिस तरह 'दूध खाबो', 'जल खाबो' कहते हैं उसका व्यवहार में प्रयोग करना चाहिए, अर्थात् कोई चीज़ बिना चाबे, चाहे वह पीने लायक ही क्यों न हो, चाबकर तब गले के नीचे उतारना चाहिए, पानी तक। बल्कि पीने और खाने दोनों शब्दों का बहिष्कार कर चाबने शब्द के अनुसार क्रिया करनी चाहिए। हर ग्रास या घूट को एक सौ आठ बार चाबना चाहिए। दूध चाबना, दही चाबना, पानी चाबना, सबको चाबना चाहिए, सबको।

बच्छराज—ज़रूर।

गोपाल नन्दन—मैंने आपसे कहा ही, आग पर उबली सिकी और तली चीज़ें न खाकर कच्ची चीज़ें खानी चाहिए, पर मनुष्य आग का इतना आदी हो गया है कि वह एक दम से इस दैत्य से अपना पीछा न छुड़ा सकेगा। कच्ची चीज़ों के साथ ही अभी वह आग पर बनाई हुई चीज़ें भी खायेगा। पर इनमें कुछ ऐसी हैं जो उसे कभी न खाना चाहिए। (नोटबुक देख) पहली चीज़ है चावल।

बच्छराज—चावल नहीं खाना चाहिए ?

गोपाल नन्दन—नहीं, उसमें विटेमिन का अंश नही के बराबर है। फिर उसमें 'बेरी बेरी' हो जाती है।

बच्छराज—'बेरी बेरी' क्या ?

गोपाल नन्दन—यह बंगाल की एक बीमारी है और इसीलिए वहां शुरू हुई है कि वहां के लोग मुख्यतः चावल खाते हैं।

बच्छराज—इस बीमारी में क्या होता है डाक्टर ?

गोपाल नन्दन—विचित्र बीमारी है। पैरों से लेकर सारे शरीर में झुनझुनी होती है। और इलाज भी इसका अजीब है। हजारों घड़े ठंडा पानी सिर से उडेलना पड़ता है। या तो मरीज़ ठंडा हो जाता है या बीमारी।

बच्छराज—अच्छा।

गोपाल नन्दन—(नोटबुक देख) शक्कर नहीं खानी चाहिए।

बच्छराज—शक्कर भी नहीं ?

गोपाल नन्दन—नहीं ! शक्कर को आप सफेद ज़हर समझिये। (नोटबुक देख) मिठाई और नमकीन दोनों नहीं खाने चाहिए।

बच्छराज—मिठाई और निमकीन भी नहीं ?

गोपाल नन्दन—ना, ये सब 'डेड फूड्स' मुर्दा खाने हैं।

बच्छराज—तब फिर खाना क्या चाहिए ?

गोपाल नन्दन—खाना क्या चाहिए ? (फिर ए.छे के पृष्ठों को दिखाकर) नहीं खाने लायक और खाने योग्य चीज़ों के एक एक ऐपेन्डिक्स भी इस नोटबुक में जुड़े हैं। पर आदर्श भोजन और उसकी मिकदार का एक स्पैशल चार्ट मैंने अलग लिख दिया है वह आपको पढ़कर सुना देता हूं।

बच्छराज—हां, यह ठीक होगा।

गोपाल नन्दन—(नोटबुक के एक पेज़ को पढ़ते हुए)—

१—कच्चा गेहूं दो तोले।

२—अंकुरित चना 'स्प्राउटेड ग्रेम' जो ३६ घन्टे पानी में रखकर तैयार किया जाता है, एक तोला छै माशे।

३—सोयाबीन एक तोला।

४—चोकर नौ माशे।

५—गुड़ और राब हो तो और भी अच्छा, ६ माशे।

६—मक्खन चार माशे तीन रत्ती। मक्खन इस देश में अच्छा नहीं बनता। पालसन का फारन बटर लेना चाहिए।

७—शहद तीन माशे छै रत्ती। शहद यहां का प्रायः नक़ली आता है, इसलिए फ्रेंच या अमेरिकन हनी अच्छा होगा।

८—यह सब मिलकर जितना हो उससे चौगुनी शाक, भाजी और फल। शाक भाजी में पत्ती अधिक और फल मय छिलके के।

९—और यह सब मिलकर जितना हो उतनी ही ओयल केक याने खली।

बच्छराज—(आश्चर्य से) खली।

गोपालनंदन (बच्छराज की ओर देख) हां, खली। वह तो विटेमिन का घर, निवासस्थान है। (कुछ रुक कर) यह भोजन का आदर्श चार्ट है।

बच्छराज—और पीना क्या चाहिए ?

गोपालनंदन—उसी पर मैं आ रहा था। खाद्य के बाद पेय का ही मुख्य स्थान है। शराब की बाबत तो आप से कुछ कहना ही निरर्थक है। चाय, काफ़ी, कोको आदि को भी हाथ नहीं लगाना चाहिये।

बच्छराज—ऐसा ?

गोपालनंदन—हां, एक साल तक चाय का एक कप पीने का क्या मतलब है आप जानते हैं ?

बच्छराज—क्या ?

गोपालनंदन—एक जोड़ी जूता पेट में खा लेना।

बच्छराज—याने ?

गोपालनंदन—याने यह कि उसमें चमड़े के इन्ग्रीडियेन्टस रहते हैं। (कुछ रुक कर) प्रातःकाल आपको नीरा पीना चाहिये। दोपहर को थोड़ा सा दूध और वह डायल्यूट करके याने एक आउंस दूध और तीन आउंस पानी, फिर बिना शक्कर।

बच्छराज—तो दूध मुझे मुफ़ीद न होगा ?

गोपालनंदन—बात यह है कि आपकी टैन्डेन्सी मुटाई की तरफ है। आपके पिता जी भी मोटे थे। दादा जी भी। इसीलिए आपको फैटी चीज़ों से दूर रहना चाहिये। तभी तो मैंने मक्खन भी चार माशे तीन रत्ती ही प्रिसक्राइब किया है। यह भी एक एक आधी आधी चौथाई चौथाई, रत्ती आप घटा सकें तो अच्छा ही होगा। और दूध भी आप को बहुत कम पीना चाहिये।

[दोनों कुछ देर चुप रहते हैं। गोपालनदन नोट बुक के पेज इधर उधर से उलट कर नोट बुक बन्द कर बच्छराज को देता है।]

बच्छराज—(नोट बुक लेते हुये) मेनी मेनी थैंक्स, डाक्टर।

गोपालनंदन—मैंने आपको सिर्फ मोटी मोटी बातें बतायी हैं। डिटेल में तो सब चीज़ें आपको नोट बुक में मिलेंगी। (कुछ रुककर) बहू जी के आने के पहले ठीक वक्त आपने मुझसे इस विषय में सलाह ली है। इस नोट बुक के अनुसार आप चलें तो मैं गैरन्टी दे सकता हूं कि आप निरोग सौ वर्ष तक जियेंगे। आपका शरीर फल सा हलका और सुन्दर रहेगा। चिड़िया के सदृश आप में फुर्ती रहेगी।

दिल और दिमाग ऐसे रहेंगे जैसे ऋषियों महर्षियों के रहते थे और बल रहेगा अर्जुन के सदृश, भीम के समान नहीं।

बच्छराज—(नोट बुक के पेज उलटते हुये) डाक्टर, मैं आपके कथन का अक्षरशः पालन करूंगा।

गोपालनदन—मुझे यक़ीन है ; आप ज्ञानवी हैं, दृढ़ प्रतिज्ञ हैं। शरीर के सब अवयवों में हलकी कुछ तोले माशे और रत्तियों की यह जीभ सबसे प्रधान चीज़ है। इसके चंगुल से छुटकारा पाना सहज नहीं। अरे मैं तक इस आदर्श स्थान पर टिका नहीं रह सकता ; कई बार फिसल पड़ता हूं। पर आप......आप......मुझे विश्वास है अपनी टेक पर क़ायम रहेंगे।

बच्छराज—नोट बुक देखते हुए) डाक्टर, इस नोट बुक रूपी गागर मे सचमुच आपने सागर.. .... हां, सागर भर दिया है।

यवनिका

पहला दृश्य

स्थान—बच्छराज का भोजनालय

समय—मध्याह्न

[भोजनालय आधुनिक डाइनिंग रूम के सदृश सुन्दरता से सजा हुआ है। दीवालें और छत रंगी हुई हैं। दीवालों मे अनेक दरवाज़े और खिड़किया हैं जिनसे बाहर के बग़ीचे का कुछ हिस्सा दिख पड़ता है, जिसे मध्याह्न के सूर्य की श्वेत किरणें आलोकित किये हुये हैं। दरवाज़ों और खिड़कियों पर महराबदार मखमली परदे पड़े हैं। दीवालों पर कई वाटर पेन्टिंग हैं। फर्श पर संगमरमर लगा है और उस पर सफेद टेबुल क्लाथ से ढकी हुई एक लम्बी डाइनिंग टेबिल रखी है चारों टेबिल के चारों ओर ऊंची चमड़े की कुशनदार डाइनिंग चेअर्स हैं। टेबिल पर अनेक एल्यूमूनियम के डिब्बे और चौड़े मुह की काच की शीशिया रखी हुई हैं। बोतल के ढक्कन खुले हैं। डिब्बों मे तरह तरह की मिठाइया और नमकीन भरे हैं और शीशियों में मुरब्बे और अचार। डिब्बों और शीशियों के पास चांदी की कई छोटी छोटी रकाबियां, कटोरियां और चमचे रखे हुये हैं। कपिला इन डिब्बों और शीशियों में से चमचे के द्वारा मिठाइयाँ, नमकीन, मुरब्बे, अचार इत्यादि निकाल निकाल कर इन तशतरियों मे और कटोरियों में बड़े उत्साह से सजा रही है। कपिला १८, १९, वर्ष की गौर वर्ण की ऊंची पूरी भरे हुए मुख तथा शरीर की सुन्दर स्त्री है। रेशमी साड़ी और ब्लाउज़ पहने है तथा रत्नजटित आभूषणों से सुसज्जित है। अच्छेलाल का एक बड़े भारी चांदी का ट्रे (एक तरह की बड़ी थाली) लिए हुये प्रवेश। इस ट्रे में कच्चे गेहूं, अकुरित चने, चोकर, सोयाबीन, राब, मक्खन, शहद, भाजिया आम, केले, सतरे, मोसंबी, सेब के छिलके और खली रखे हैं। एक कांटा और तोले माशे के बाट, रत्तिया और खस खस के दाने भी रखे हैं। अच्छेलाल करीब ३० वर्ष का गेहुये रग का ऊचा पूरा गठे हुए शरीर का मनुष्य है। वह सफ़ेद वर्दी लगाये हुये है। आते ही वह ट्रे को टेबिल पर रख देता है और मुस्कुराता हुआ इन मिठाइयों, नमकीन, मुरब्बों अचारों इत्यादि की तरफ देखता है। कपिला आश्चर्य से इस ट्रे और इसके समाज की ओर देखती है।]

कपिला—(सामान रकाबियों और कटोरियों मे सजाना बन्द कर) यह सब क्या है, अच्छेलाल ?

अच्छेलाल—मालिक का खाना, मालकिन।

कपिला—(और भी आश्चर्य से) मालिक का खाना !

अच्छेलाल जी हा।

कपिला—तेरे मालिक इसे खायंगे ?

अच्छेलाल—आज कल वे मान्टफक खाना खाते हैं, मालकिन।

कपिला—मान्टफक खाना क्या !

अच्छेलाल—(ट्रे के सामान की ओर संकेत कर) यही कच्चा गेहूं, इस टंड गरम, जो छत्तीस घन्टे पानी में रखकर तैयार किया जाता है, चोकर, साबून राब, पालायन बटई, फरासीसी हनी, भाजी, फलों के बकले और खली।

कपिला—(और अधिक आश्चर्य से) याने ?

अच्छेलाल—याने......याने......मैं समझा नहीं मालकिन।

कपिला—तू समझा नहीं......मैं भी नहीं समझी, अच्छेलाल।

[अच्छेलाल कुछदेर चुप रह कर जब कपिला और कुछ नही कहती, तब कांटे से एक एक चीज़ को तोलना शुरू कर अलग अलग तश्तरी और कटोरी मे रखना आरम्भ करता है।]

कपिला—(आश्चर्य से चिल्ला कर) और यह तू क्या करता है ?

अच्छेलाल—(तोलते तोलते) इस सब सामान को तोलता हूं, मालकिन।

कपिला—तोलता......तोलता है ..... तोलता क्यों है ?

अच्छेलाल—वे हर चीज़ को तोल तोल कर खाते हैं, मालकिन !

कपिला—अच्छेलाल, तू पागल तो नहीं हो गया है ?

अच्छेलाल—(तोलते तोलते ही) मै, मै मालकिन ! मैं तो समझता हूं मै पागल नहीं हूं।

[कपिला कुछ न कह चुपचाप उस तोल को देखती है। अब अच्छेलाल मक्खन को माशे और रत्तियों से तोल रहा है। चौथाई रत्ती के लिए कुछ खस के दानों को कांटे के एक पलड़े में डालता है। जब जिस पलड़े में मक्खन है वह कुछ भारी रहता है तब एक पतली सी चांदी की सींक से उसके मक्खन को निकालता है।]

कपिला—मक्खन की तोल रत्तियों और खस खस के दानों से होती है ?

अच्छेलाल—हां, मालकिन, हर हफ्ते चौथाई रत्ती बटई कम किया जाता है और चौथाई रत्ती के लिए खस खस के दानों के सिवा और कोई बाट मिलते ही नहीं।

कपिला—मुझे अब इसमें थोड़ा भी सन्देह नहीं कि या तो तू पागल हो गया है, या तेरे मालिक।

अच्छेलाल—(अपना काम जारी रखते हुए) मैं.....मैं तो मालकिन बिलकुल क़तई पागल नहीं हूं।

कपिला—तब तेरे मालिक हैं।

[अच्छेलाल कोई उत्तर नहीं देता। कपिला चुपचाप उस तोल को देखती रहती है। अब अच्छेलाल फलों के छिलके की तोल पर पहुंचता है।]

कपिला—और फल न खाकर फलों के छिलके खाते हैं ?

अच्छेलाल—जी हा, सान्टरूक बकले ही हैं।

[फिर कपिला कुछ नहा कहती। कुछ देर फिर निस्तब्धता। अब खली की तोल शुरू होती है।]

कपिला—और खली सबसे ज़्यादा।

अच्छेलाल—जी हां, जितना सब खाना उतनी अकेली खली। इसमे सबसे ज़्यादा विटामन हैं।

कपिला—विटामन। विटामन क्या ?

अच्छेलाल—सो तो मैं नहीं जानता कोई खास तरह की मणिया होगी।

कपिला—मणिया ?

अच्छेलाल—जी हा, जैसे मोती, पन्ना, मानक की भस्म आंखों से राख सी दिखती हैं, पर वैद्यों हकीमों की राय में ताक़त पहुंचाती हैं, उसी तरह ये भी आंखों से न दिखकर ताक़त पहुंचाती होंगी। (कुछ रुक कर) मालकिन यह सब डाक्टर गोपालनंदन को मालूम है।

कपिला—(कुछ विचारते हुए) समझी, तो डाक्टर गोपालनंदन ने कच्चे गेहूं, भींगे चने, चोकर, फलों के छिलके, और खली मिलाकर उनके मनुष्य शरीर के योग्य नहीं, पर उनके नाम के लायक़ खाना बना दिया है। मेरे लिए भी शायद इसी प्रकार के खाने का नुस्खा तैयार होगा, क्योंकि मेरा नाम भी तो कपिला है न ?

अच्छेलाल—(कपिला की ओर देखते हुए) मैं समझा नहीं, मालकिन।

कपिला—यह तेरे समझने की नहीं, उनके समझने की बात है, अच्छेलाल।

[अच्छेलाल कोई उत्तर न देकर सब रकाबियों और कटोरियों को व्यवस्थित रूप से सजाता है। कुछ देर फिर निस्तब्धता।]

कपिला—तो तेरे मालिक ससुराल से आयी हुई यह मिठाई, नमकीन, मुरब्बे, अचार कुछ न खायंगे?

अच्छेलाल—सो तो मैं कैसे कह सकता हूं, मालकिन, पर......पर......(चुप हो जाता है।)

कपिला—पर क्या?

अच्छेलाल—मै यह कह रहा था कि इन सब चीज़ों को वे डड फूडस कहते हैं।

कपिला—डड फडस क्या?

अच्छेलाल—मुर्दा खाने?

कपिला—मुर्दा खाने! याने......याने?

अच्छेलाल—याने......याने......

[बच्छराज का प्रवेश।]

बच्छराज—(टेबिल के पास आकर अपने भोजन और डिब्बों शीसियों को देखकर कपिला से) ओ! सचमुच मैं ससुर जी और सास जी का बड़ा अनुगृहीत हूं, कि उन्होंने यह सारा बेशकीमती सामान मेरे लिए भेजा; किन्तु......किन्तु, डियर, यह सब डेड फूड्स की संज्ञा में हैं। विटेमिन ए से लेकर ज़ेड तक जितने अब तक निकले जाने वाले हैं, सबसे रहित। किसी......किसी को भी तुम्हें तक, सास ससुर जी को भी इन सब चीज़ों को नहीं खाना चाहिए, अरे छूना तक नहीं चाहिए। (अपने खाने की ओर संकेत कर) यह है साइंटिफिक फूड। सौ वर्ष तक जीने, निरोग रहने, शरीर को फूल सा हल्का और सुन्दर रखने, चिड़िया के सदृश फुर्तीलापन लाने, दिल और दिमाग़ को ऋषि महर्षियों के सदृश बनाने और अर्जुन के सदृश बल पाने के लिए, ठीक खाना सबसे ज़रूरी है। ठीक खाने के लिए आवश्यक बातें हैं—अग्नि का बहिष्कार, अल्पाहार, कम्पैटिबिलिटी, प्रपोर्शन की स्टैबिलिटी और पीने शब्द के स्थान पर चबाने शब्द की नियुक्ति। (कुर्सी पर बैठते हुए मुसकुरा कर) अभी तुम इस सब मामले को अच्छी तरह समझ न सकोगी। इसके लिए मुझे तुम्हें कई लैक्चर देने होंगे; हां, दूसरों से तुम जल्दी समझोगी क्योंकि तुम पढ़ी लिखी हो। फिर मेरे शरीर को देखकर भी तुम समझ सकती हो। हर हफ्ते मैं दो तीन पाउण्ड घट रहा हूं। शरीर फूल सा हल्का हो रहा है, पर साथ ही मुझमें चिड़िया सा फुर्तीलापन आ रहा है। दिल और दिमाग़ ताज़े हो रहे हैं। शरीर में सच्ची ताक़त आ रही है। (कच्चे गेहूं चबाते हुए) बैठो मैं सब......सब तुम्हें समझाऊंगा।

[कपिला दूसरी कुर्सी पर बैठती है।]

लघु यवनिका

दूसरा दृश्य

स्थान—बच्छराज का भोजनालय

समय—सन्ध्या

[दृश्य वैसा ही है जैसा पहले दृश्य में था। पर इस समय टेबिल के चारों ओर की कुर्सियां भरी हुई हैं। हर कुर्सी के सामने दो दो बड़े थाल रखे हैं। दोनों के बीच में मेनू के चार्ट की जगह गोपालनन्दन के मोटोज़ छोटे छोटे स्टैन्डस पर टंगे हैं। एक थाल वैज्ञानिक भोजन है और दूसरे में कपिला के मैके से आया हुआ। बच्छराज की कुर्सी के सामने सिर्फ एक वैज्ञानिक भोजन का थाल है। मेहमानों में डाक्टर नन्दन भी हैं। वैज्ञानिक भोजन बच्छराज के सिवा और कोई नहीं छूता। सब लोग मिठाई नमकीन आदि पर टूटे हुए हैं। हां, डाक्टर गोपालनन्दन जब कभी बच्छराज उनकी ओर देखता है तब मिठाई नमकीन के थाल में से हाथ हटा वैज्ञानिक भोजन के थाल में से जल्दी से कुछ खाने लगता है, पर ज्योंही बच्छराज की दृष्टि वहाँ से हटती है त्योंही फिर मिठाई, नमकीन पर टूट पड़ता है।]

एक मेहमान—बहू जी के प्रवेश का यह दिन मुझे तो हमेशा याद रहेगा।

दूसरा—हां, हां, क्यों नहीं, क्यों नहीं, दो दो तरह का इतना सुंदर भोजन।

तीसरा—एक पूरा वैज्ञानिक और दूसरा इतना स्वादिष्ट।

बच्छूराज—पर वैज्ञानिक भोजन के थाल में तो आप लोगों ने हाथ भी नहीं लगाया।

गोपालनंदन—इसके लिये टेस्ट कल्टीवेट करना पड़ता है, बच्छूराज जी। बात यह है कि हम लोगों ने अस्वाभाविक और कृत्रिम भोजन की ऐसी बुरी आदत डाल ली है कि स्वाभाविक और अकृत्रिम भोजन अच्छा ही नहीं लगता।

चौथा—बेशक, बेशक।

पांचवा—पर डाक्टर साहब, रोटी, दलिया इत्यादि आग पर बनी हुई चीज़ें, उबली हुई तरकारियां और सब तरह के फल तो नये से नये वैज्ञानिक अनुसंधानों के अनुसार भी खाये जा सकते हैं न? यहां के वैज्ञानिक थाल में तो सिर्फ कच्ची चीज़ें, तरकारियों में केवल भाजियां और फलों के छिलके भर हैं।

बच्छूराज—(बीच ही में) आप ठहरिये डाक्टर; मैं इसका रहस्य समझाता हूं। देखिए, साइंटिफिक रिसर्चेज़ अभी हो रहे हैं, पूरे नहीं हुए। वैज्ञानिकों का कथन है आग पर बनी हुई चीज़ों से कच्ची चीजें श्रेष्ठ हैं, तरकारियों में भाजियां उत्तम और फलों में उनके छिलके सर्वोत्तम। आप देखेंगे अगली रिसर्चों में आग के कंप्लीट बायकाट के लिए कहा जायगा। तरकारियों में शेष तरकारियां छोड़कर भाजियां और फलों में उनके गूदे और रस को छोड़ सिर्फ छिलकों को खाने की हिदायत होगी। आइ हैव स्टोलन ए मार्च आन फ्यूचर रिसर्चेज़।

छठवां—ओह! कांग्रेच्यूलेशन्स! हार्टी कांग्रेच्यूलेशन्स।

बच्छूराज—और देखिये, डाक्टर गोपालनंदन, आपने मुझे आदर्श भोजन के सम्बन्ध में पांच बातें बतायी थीं—अग्नि का बहिष्कार, अल्पाहार, काम्पैटिबिलिटी, प्रपोर्शन की स्टैबिलिटी और पीने शब्द के स्थान पर चबाने शब्द की नियुक्ति।

गोपालनंदन—जी हां।

बच्छूराज—पर आपने इन बातों के सबब नहीं बताये थे। मैंने इनके सच्चे कारणों को सोचा है।

गोपालनंदन—अच्छा।

बच्छूराज—देखिये, आग के बहिष्कार का कारण है हर प्राणी में स्वाभाविक जठराग्नि का रहना। दो बार कोई चीज़ गरम करने से वैज्ञानिक दृष्टि से उसमें दोष आ जाते हैं, अतः भीतरी अग्नि के रहते बाहरी अग्नि का उपयोग भोजन में कैसे किया जा सकता है?

गोपालनंदन—वाह! वाह! वाह! वाह! कैसा सुन्दर अनुसंधान है।

पहला—बेशक, बेशक।

बच्छूराज—अल्पाहार का सबब यह है कि आहार से शरीर की वृद्धि होती है और निराहार रहने से दिमाग़ की। पशु इसीलिए अधिक खाता है कि उसके शरीर की ही वृद्धि हो सकती है, दिमाग़ की नहीं। मनुष्य ही रेशनल प्राणी है। अल्पाहार करते करते मनुष्य को तो निराहार हो जाना चाहिए। तभी दिमाग़ पूरी तरह चमकता है। ऋषि महर्षियों ने बड़े बड़े अनुसंधान निराहार तपस्या के बाद ही किये हैं।

गोपालनंदन—क्या बात है, क्या बात है, अद्भुत खोज है, आपकी अद्भुत खोज।

दूसरा—निःसन्देह, निःसन्देह।

बच्छूराज—कम्पैटिबिलिटी तो हमारे भारत में जितनी थी उतनी कहीं नहीं। विश्वामित्र जब राजर्षि से ब्रह्मर्षि हुए तब उन्होंने एक हज़ार वर्ष तक की तपस्या में केवल, लोह भस्म, एक ही चीज़ का भक्षण किया था। धीरे धीरे मनुष्य को एक ही चीज़ खाने का अभ्यास करना चाहिए, दो चीज़ें तक साथ में नहीं खानी चाहिए।

गोपालनंदन—आपने ठीक, बिल्कुल ठीक सोचा।

तीसरा—बिलकुल, बिलकुल।

बच्छूराज—पीने के स्थान पर चबाना शब्द कितना ज़रूरी है, इसका पता हमें जानवरों की

जुगाली से लगता है। वे खाने और पीने के सारे सामान को पेट में डाल फिर उसे मुंह मे ला जुगाली करने की नैसर्गिक शक्ति रखते हैं। इसलिये उसे हर ग्रास या घूंट को एक सौ आठ बार चाबना ही चाहिये। और पीने शब्द का स्थान आपने जिस तरह चाबने को दिया है उसमे भी अच्छा यदि चाबने शब्द का स्थान जुगाली को दिया जाय, क्योंकि जुगाली खाये और पिये दोनों प्रकार के मिलने के बाद की जाती है।

गोपालनदन—आप में रिसर्च की नैसर्गिक... नैसर्गिक शक्ति है।

चौथा—सर्वथा, सर्वथा।

बच्छराज—प्रपोर्शन की स्टैबिलिटी के सम्बन्ध में मैं अभी सोच रहा हूं।

पाचवा—प्रपोर्शन की स्टैबिलिटी क्या है सो तो मैं अभी नहीं समझा, पर (आम और केले के छिलके उठाकर) इन छिलकों मे विटेमिन की जितनी स्टैबिलिटी होगी भी उसे देखते हुए मेरे ख़्याल से कटहल, अनार, नारियल आदि के छिलकों में विटेमिन कहीं अधिक स्टेबिल रहते होंगे। मैं सजैस्ट करता हूं वैज्ञानिक भोजन में इन्हें भी स्थान दिया जाय।

छठवां—और मैं एक चीज़ सजैस्ट करता हू।

बच्छराज—ज़रूर, ज़रूर।

छठवा—मेरा ख़याल है कि आगे की रिसर्चेज़ के द्वारा वैज्ञानिक भोजन मे एक बहुत बड़ा खाद्य पदार्थ और जोड़ा जायगा।

बच्छराज—कौन सा ?

छठवा—दूर्वादल।

[बच्छराज को छोड़कर सब लोग हँस पड़ते हैं। गोपालनन्दन केवल मुस्कराता है।]

छठवां—(मुस्कराते हुए) नहीं, नहीं, हसने की बात नहीं। मुझे विश्वास है कि शोध के बाद पता लगेगा कि दूर्वादल में ए से ज़ेड तक सारे विटेमिन हैं; और इसका कारण है।

बच्छराज—क्या ?

छठवा—प्राचीन भारतीय सभ्यता का हर पहलू विज्ञान की नींव पर खड़ा है। मामूली मामूली बातों तक में वैज्ञानिक रहस्य भरे हैं। मसलन हम गोबर से ज़मीन लीपते हैं। गोबर से ज़्यादा एन्टीसैप्टिक शायद कोई चीज़ ही नहीं। हमारे चौक में तुलसी धरा रहता है। तुलसी से अधिक हवा को साफ़ करने वाला कोई पौधा नहीं। हमारे यहा गणेश जी का पूजन सबसे पहले क्यों होता है, आप लोग जानते हैं ?

पहला—आप ही बताइए।

छठवा—विद्या और बुद्धि में वे सब देवताओं से श्रेष्ठ हैं। सृष्टि में सबसे बुद्धिशाली दो प्राणी हैं मनुष्य और हाथी। दोनो का गणेश जी के शरीर में मेल है। आप जानते हैं उनका मुख्य भोजन क्या है ?

दूसरा—दूर्वादल।

छठवा—बिल्कुल ठीक। अरे भाई, भारतीयों ने जिस चीज का पता हज़ारों वर्ष पहले लगाया, विज्ञान ने आज। यह विटेमिन थियोरी यथार्थ में हमारी थियोरी है। तपोवनो मे, जहा हर ज्ञान का अनुसधान हुआ, वहा के ऋषि, मुनि, ब्रह्मचारी कच्चे कन्दमूल ही तो खाते थे। निरोग रहते थे। हजारों वर्ष जीते थे। हमारे विद्या और बुद्धि के देवता के प्रधान भोजन दूर्वादल में ए से लेकर ज़ेड तक सारे विटेमिन होने ही चाहिए।

बच्छराज—(अत्यन्त गभीरता से) आप बिलकुल ठीक कहते हैं। मैं तो विज्ञान को लीड करता हूँ। कल......कल से ही लीजिए मैं दूर्वादल को अपने भोजन में अवश्य जोड़ूगा और थोड़ा बहुत नहीं, सब चीज़ो के बराबर खली रहती है, खली से दूना दूर्वादल होगा।

[सब लोग खिलखिलाकर हंस पड़ते हैं, डाक्टर गोपालनन्दन अपना गला साफ़ करता है।]

लघु यवनिका

तीसरा दृश्य

स्थान बच्छराज के मकान में अच्छेलाल की कोठरी

समय—रात्रि

[नौकरों के रहने के योग्य कोठरी है, पर काफ़ी बड़ी। अच्छेलाल, उसकी स्त्री, और उसका एक बच्चा तथा बच्ची छिलके निकले हुए फलों—आम, केले, संतरे, मौसंबी, सेव इत्यादि को, जो आज की दावत के कारण प्रचुर परिमाण में सबके बीच में रखे हैं, खूब खा रहे हैं। बच्चे तालियां बजा बजा कर हंस और किलक रहे हैं।]

औरत—अब तो पेट में जगह नहीं रही।

अच्छेलाल—(बच्चों से) और खावोगे ?

बच्चा—ना, बाबा, उलटी हो जायगी।

बच्ची—हाँ, हाँ, अब नहीं, अब नहीं।

अच्छेलाल—(उठते हुए) अच्छी बात है, मुहल्ले में बांटे आता हूं। (हंसते हुए) पर इतना सबसे कह दूंगा मणि निकल गयी है, सूत रह गया है, मणि निकल गयी है, सूत रह गया है······

यवनिका

उपसंहार

स्थान—बच्छराज का शयनागार

समय—प्रातःकाल

[शयनागार आधुनिक बेडरूम के सदृश सुन्दरता से सजा है। दीवालें और छत रंगी हुई हैं। दीवालों के दरवाज़े और खिड़कियों से आकाश और वृक्षों के ऊपरी भाग दिखाई देते हैं, जिससे जान पड़ता है कि कमरा दूसरी या तीसरी मंज़िल पर है। आकाश में प्रातःकाल के सूर्य की रक्त-रश्मियां दीखती हैं। एक दर्वाज़े से नीचे उतरने के जीने का कुछ हिस्सा दिखता है। दर्वाज़े और खिड़कियों पर धूपछांह के रेशमी परदे पड़े हुए हैं। दीवालों पर कृष्णलीला के अनेक रंगीन चित्र टंगे हैं। छत से दो बिजली की बत्तियां और सीलिंग फैन झूल रहे हैं। बत्तियों पर रेशमी कवर हैं, जिनके किनारों पर पोत के काम की झालर हैं। ज़मीन पर कालीन है। एक ओर चांदी के पायों का एक पलंग बिछा है और दूसरी तरफ़ एक कुशनदार सोफ़ासेट है तथा उसके बीच में रेशमी मेज़पोश से ढकी एक टेबिल। सुबह हो जाने पर भी बच्छराज पलंग पर लेटा हुआ है। उसका शरीर एक रेशमी दुलाई से ढका है। चेहरा भर खुला है। उसका चेहरा एकदम उतरा हुआ है। आंखों के चारों ओर कालिमा तथा मस्तक पर शिकन दिखायी पड़ते हैं। कपिला जीने से चढ़ते हुए जल्दी जल्दी आती है।]

कपिला—(बच्छराज के पलंग के निकट जा उसके सिर पर हाथ रखते हुए) क्यों, कैसी तबियत है, आज उठोगे नहीं ?

बच्छराज—(लम्बी सास लेकर) क्या कहूं, उठा ही नहीं जाता।

कपिला—(पलंग के एक कोने पर बैठते हुए) उठा जाये कैसे ? पेट में कुछ पहुंचता हो तब ! (कुछ रुक कर) प्राणनाथ ! आप अपने हाथ से अपनी तबियत बिगाड़ रहे हैं।

[बच्छराज कुछ न कहकर करवट ले कपिला की ओर पीठ कर लेता है। कुछ देर निस्तब्धता।]

कपिला—(उठकर पलंग के दूसरे बाजू आकर) मैं कहती हूं, प्यारे, मान जाइये। देखिये तो आंखों के चारों तरफ़ कैसी स्याही आ गयी है। सिर पर कैसे शिकन पड़ गये हैं। (पलंग के एक कोने पर बैठकर) अभी······अभी भी कुछ नहीं बिगड़ा है। अगर आप इस विटेमिन पिशाच से अपना पिंड छुड़ा लें, रोज़मर्रा का साधारण भोजन करने लगें, तो एक हफ़्ते में तबियत ठीक हो जायगी।

बच्छराज—लेकिन······लेकिन, डियर, साइन्स इतना झूठा हो सकता है ? उसकी थियेरीज़ इतनी

ग़लत सिद्ध हो सकती हैं ? मेरा ख़याल है भोजन मेरी अस्वस्थता का कारण नहीं, इसका सबब कुछ दूसरा ही होना चाहिए।

कपिला—तो दूसरा सबब आख़िर है क्या ? बुख़ार आपको आता नहीं, बिना किसी कारण के दिन पर दिन कमज़ोरी बढ़ती जाती है। जिन फलों आदि के छिलके खा खा कर आप अपनी यह हालत कर रहे हैं, उन फलों इत्यादि को खा खाकर अच्छेलाल कैसे अच्छे हो रहे हैं, सो देखिए। मैं कहती हूं साइन्स की ऐसी फैड ही आपकी इस हालत का कारण है। प्राणनाथ, हमारे यहा कहा है 'अति सर्वत्र वर्जयेत'। आपने इस विटेमिन के मामले में अति कर डाली है।

बच्छराज—पर प्यारी, डाक्टर गोपालनन्दन को शक हो रहा है कि मुझे एपैन्डीसाइटिस हो रही है।

कपिला—(क्रोध से) गोपालनन्दन ! गोपाल नन्दन ! एपैन्डीसाइटिस हो रही है। अगर एपैन्डी साइटिस भी हो रही होगी तो इसी भोजन की बदौलत। मैंने सुना है कि गान्धी जी को भी एपैन्डीसाइटिस कच्चे गेहूं खाने के कारण हुई थी। उनके आश्रम के और भी कुछ लोगों को इसी तरह के प्रयोगों के कारण इसी प्रकार की कुछ बीमारिया······

बच्छराज—(बीच ही में) लेकिन, डार्लिंग, डाक्टर, साइन्स और उसकी थियोरीज़······

कपिला—(और भी क्रोध से) अरे जहन्नुम मे भेजिये इन डाक्टरों, उनके साइन्स और थियोरीज को। आप जानते हैं मेरे मैके में यदि कभी बीमारी के कारण डाक्टर वैद्य या हकीम को बुलाना पड़ता है तो, उसकी बिदाई के वक्त क्या किया जाता है ?

बच्छराज—क्या ?

कपिला—जब वह दरवाज़े के बाहर हो जाता है, उसी रास्ते पर एक जलता हुआ लूघड़ दरवाज़े तक ले आकर उस लूघड़ को दरवाज़े पर पत्थरों से मार मार कर ठण्डा किया जाता है याने उसके आने के अपशकुन को इस प्रकार जला दिया जाता है।

बच्छराज—(कुछ विचारते हुए) अरे तुम तो मुझे एक बड़ी विचित्र बात की याद दिला रही हो।

कपिला—किस बात की ?

बच्छराज—जिस दिन डाक्टर गोपालनन्दन मेरी दिनचर्या तथा भोजन आदि के सम्बन्ध में नोटबुक तैयार करके लाया उस दिन मैंने उससे एकाएक पूंछा—'समझाओ इसमें क्या लूघड़ पत्थर लिखा है।'

कपिला—(कुछ प्रसन्नता से) आपके मुंह से भगवान ने ठीक बात निकलवा दी। उसमें अवश्य लूघड़ पत्थर ही लिखा है। जला दीजिये उस नोटबुक को और बिदा कीजिये उस डाक्टर गोपालनन्दन को भी एक लूघड़ और कुछ पत्थरों के साथ।

बच्छराज—(सोचते हुए) परन्तु, प्रिये, यदि साइन्स पर विश्वास न रखा जाय, तो संसार में आख़िर विश्वास का आधार क्या रह जाता है ?

कपिला—साइन्स पर अविश्वास करने को मै नहीं कहती।

बच्छराज—तब ?

कपिला—मैं कहती हूं। साइन्स का फैड छोड़ने के लिए। साइन्स के अनुसार भी स्वाभाविक जीवन इसे नहीं कहते जो आप चला रहे हैं, अकृत्रिम भोजन वह नहीं है जो आप खा रहे हैं। इस प्रकार का जीवन चला, ऐसा भोजन कर, हमारे पूर्वज सौ सौ वर्ष नहीं जिये। नीरोग नहीं रहे। उनका शरीर फूल सा हल्का और सुन्दर नहीं रहा। उनके दिल और दिमाग़ ताज़े नहीं रहे। उनमें अर्जुन सा बल नहीं रहा। फैडिस्ट न होइए। अस्वाभाविक जीवन बिताना बुरा है, मानती हूं; पर किसी बात की अति करना भी उतना ही बुरा है, और एक······एक बात और करनी होगी।

बच्छराज—क्या ?

कपिला—हमें अपने नाम भी बदलने होंगे। मैं अपना नाम कपिला की जगह कमला रखूंगी और आप अपना नाम (एक काग़ज़ का चिट ब्लाउज़ के जेब से निकाल बच्छराज को दे) यह रखिए, क्योंकि

मैं अपने मुंह से आपका वर्तमान और भविष्य नाम क्योंकर लूं।

बच्छराज—(कागज लेकर उसे पढ़) पद्मराज ?

कपिला—जी हाँ।

बच्छराज—पर यह क्यों, डियर ?

कपिला—यह इसलिये जिससे आगे चलकर गोपालनन्दन के सदृश कोई गोनन्दन हमें कभी गेहूं, अंकुरित चने, चोकर, खली और दूर्वादल की सानी न······न खिला सके।

[बच्छराज ज़ोर से हंस पड़ता है। कपिला भी हंसने में उसका साथ देती है।]

यवनिका

[समाप्त]

मानव

श्री कृष्णदास एम० ए०

१

आज मानव पतित बन कर
मधुकरी पर पल रहा है
राज-मग पर लिये कासा
श्रेष्ठ मानव चल रहा है।

२

अमिट संस्कृतियां पुरानी
सुखद संस्मृतियां पुरानी
धूल में सब मिल रही हैं
मनुज की कृतियां पुरानी।

३

पहन चिथड़ों की लंगोटी
चल रहा वह टेक सोंटी
भीख दर दर मांगता है
पर न पाता एक रोटी।

४

वर्ग-श्रेणी से विभाजित
वर्ग-स्वार्थों से पराजित
आज मानव स्वयं अपनी
आग में ही जल रहा है।

५

भाग्य को वह कोसता है
और हृदय मसोसता है
पर न इस अवनत दशा का
कुछ उसे लगता पता है।

६

हो चुका मृयमाण मानव
हो चुका निष्प्राण मानव
क्या कभी इस दुर्दशा से
पा सकेगा त्राण मानव।

७

हो गया तू दीन इतना
हो गया तू हीन इतना
भूल अपने को गया तू
हुआ आज मलीन इतना।

८

भाग्य पर विश्वास तुझ को
भीख का अभ्यास तुझ को
तब बता यह पतित जीवन
क्यों हुआ उपहास तुझ को।

९

फेंक कासा फेंक मानव
अब न लठी टेक मानव
कमर सीधी कर खड़ा हो
त्याग तू न विवेक मानव।

१०

नेत्र को मत मूंद अपने
पाँव अपने दे न कंपने
सत्य होने जा रहे हैं
मनुज! तेरे स्वर्ण सपने।



पुस्तक परिचय

'आत्म-तन्त्र-दर्शन', लेखक—नारायण विष्णु जोशी एम० ए०, डी० लिट०, शुजालपुर मंडी, जी० आई० पी० प्रकाशक—वे स्वयम् पृ० ३४४, मूल्य ३॥) रु०

हिन्दी में दर्शन-शास्त्र-सम्बन्धी शास्त्रीय-साहित्य, प्राचीन षट् दर्शन परिचय या विश्लेषण को छोड़कर, जो अधिकांश संस्कृत से अनुवाद रूप है, बहुत कम है। आधुनिक दार्शनिक प्रगति पर, तो, डॉ० भगवान दास या लाला गुलाबराय या ऐसे ही दो-चार नाम हम गिना सकते हैं, जिन्होंने इस विषय पर लिखा है। डॉ० भगवानदास जी का विषय मुख्यत: धर्मों का तौलिनिक अध्ययन रहा है, जो कि पं० सुन्दर-लाल जी भी योग्यता पूर्वक कर रहे हैं। 'कल्याण'-कार्यालय से छपी अधिकारी पुस्तके धार्मिक, और कुछ तो संकीर्ण-सनातनी अथवा जातीय-मात्र हैं। उपासना या कर्मकांड वाले धर्म से वैचारिक स्पष्टता देने वाला दर्शनशास्त्र बिल्कुल भिन्न वस्तु है। धर्म जहां संस्कारों के दायरे में सीमित रह जाता है; दर्शन संस्कारों को तौलता है और उन पर निर्णय देता है। धर्म का भावना से सम्बन्ध अधिक है; जहां कि दर्शन का 'ज्ञान' या 'अनुभव' से। यही कारण है कि मज़हब का जहा कोई फ़लसफ़ा हो सकता है; वहा फ़लसफ़ा किसी मज़हबीयत के घेरे में नहीं आता। फलसफ़े की नयी-नयी शाखों, मसलन मनोविज्ञान, समाजविज्ञान या भौतिकवाद (यथा मार्क्सवाद आदि) पर तो पुस्तकें लिखी जाती और जा रही हैं; परन्तु फ़लसफ़े का जो मूलाधार या कहिये गहनतम अंतर्भाग है—अध्यात्म (Metaphysics) उसे बहुत कम लोगों ने छुआ है। हिन्दी में, अधिकारी लेखकों ने उपनिषद् और अधिक से अधिक सांख्य, ब्रह्मसूत्र और गीता-भाष्यों से परे उस विषय पर अपना स्वतंत्र या मौलिक विचार दिया हो या नवीन संशोधन उपस्थित किये हों, ऐसा कम देखने में आया है। वैसे ही हिन्दी में वैज्ञानिक साहित्य की कमी है; और तिस पर दर्शन शास्त्र तो विज्ञानों का सार-विज्ञान है।

हिन्दी में दर्शन शास्त्र विषयक पुस्तकों की कमी के दो कारण हो सकते हैं, एक तो, हिन्दी का साधारण पाठक अभी भावुकता की सतह से ऊपर उठा नहीं है, या कि विश्लेषण का जो हथियार दर्शन काम में लाता है, उस पाठक को वह प्रिय नहीं है—इसी कारण, निबन्ध, कहानी या कविता में दार्शनिक पुट हो, यहां तक तो वह सहन कर सकता है; परन्तु दर्शन सम्बन्धी खोजपूर्ण पुस्तकें जो केवल सास्कृतिक अतीत धरोहर की संरक्षा तक ही अधि-कांश सीमित हैं वे भी सहनीय हैं; परन्तु अन्य चीज़ें उसे अच्छी नहीं लगतीं, या उपयोगी नहीं जान पड़तीं। दूसरा कारण हिन्दी पाठक में न होकर दर्शन शास्त्र और दार्शनिकों में भी कुछ अंश तक है। एक तो दर्शन शास्त्र इतनी अरूप-चिंता में लिप्त हो गया है और सूक्ष्म विचारणा की बारीकियों में वह वह और खो गया है, कि नित-प्रतिदिन के स्थूल जीवन से उसका लगाव नहीं के बराबर जान पड़ता है। और जो जीवन से सम्बन्ध नहीं रखता, उससे जीवन क्यों

सम्बन्ध रखने जाय ? स्वयम् मैं दर्शन का विद्यार्थी होने के नाते, अन्य-साधारण अज्ञानियों की तरह केवल ख़याली पुलाव पकाने वाले या निष्क्रिय या काहिल या ऐसे ही 'अंधेरे कमरे में वह काली बिल्ली खोजने वाले, जो कि वहां अनुपस्थित है' कहकर मैं दार्शनिकों के दोष नहीं देना चाहता। में उन्हें केवल एक ही दोष देना चाहता हूं—और वह है उनकी भाषा पर। कांट पढ़ने का बहुत बार निश्चय करने पर भी मैं उसे समग्र पढ़ने में असमर्थ रहा, केवल उसकी उस रूखी और नये-पाठकों के उलझाने वाली भाषा के चक्र व्यूह के मारे। इस दोष के उत्तर में दार्शनिकों की दलील यह है कि वे लाचार हैं, उनके वस्तु की वस्तु सत्ता (it-ness) की जब चर्चा करनी होती है, तब सिवा ऐसी भाषा के, वे और लिख ही नहीं पाते। और यदि लिखेंगे भी तो उनका अभिप्राय स्पष्ट नहीं होगा। तर्क के साधन मानने पर अध्यात्म उसी तरह कटी छंटी भाषा में बात करेगा, जो सुनने वाले के अटपटी या चकरीली जान पड़े। पर उसके लिये कोई चारा या इलाज नहीं। जहां दार्शनिकों के तर्क कम-असर या अधिक दूरी तक ले जाने में असमर्थ जान पड़ा है, उन्होंने रूपकों और उपमान पद्धति का सहारा लिया है, जैसे शंकराचार्य 'पटवत्' आदि सूत्रों में या बेर्गसों अपने 'मांप से भरे पात्र' के उदाहरण में, या आलोच्य पुस्तक में पृ० २३८ पर अरूप का रूप-प्रणयन बताते समय चित्रकार का उदाहरण लेना।

हिन्दी में यह नई-नई प्रकाशित पुस्तक 'आत्म-तंत्र-दर्शन' जो आलोचनार्थ हमारे सामने है, इस दृष्टि से एक मौलिक और शास्त्रीय देन है। इस पुस्तक के ग्वालियर-राज्यांतर्गत शुजालपुर में एक प्राइवेट कृषक-शाला के साधनाशील संचालक डॉ० जोशी जी —जिनका जीवन स्वयम् दार्शनिक निष्क्रिय होते हैं' इस आक्षेप का एक ख़ासा जवाब है—ने लिखा है। असल में, जहां तक हमें ज्ञात हुआ है, वह आपके मूल अंग्रेज़ी रिसर्च-थीसिस' (जो कि काशी, विश्व-विद्यालय से 'डॉक्टरेट' उपाधि-भूषित) का ही परिशोधित और परिवर्द्धित संस्करण है। आपकी मूल अंग्रेज़ी थीसिस पुस्तकाकार प्रकाशित नहीं हुई है, परन्तु उसके पूर्व हिन्दी में उसका पहिले प्रकाश में लाना, लेखक जो कि स्वयम् प्रकाशक है —का राष्ट्र भाषा-प्रेम व्यक्त करता है। मूल थीसिस के परिनिर्माण के पूर्व लेखक ने एक अरसे तक दर्शन शास्त्र का संस्कृत-अंग्रेज़ी, फ्रेंच और जर्मन भाषाओं द्वारा काशी और अमलनेरमें अध्ययन किया है। अध्ययन के पचाया है, और उसका सुपुष्ठ प्रमाण उनकी यह अभिनव और प्रथम रचना है।

पुस्तक में एक छोटा सा तीन पृष्ठ का प्राक्कथन है, जो कि पुस्तक प्रणयन के हेतु को स्पष्ट करता है। पुस्तक दो खंडों में विभाजित है—प्रथम, आलोचनात्मक खंड (जो १६५ पृष्ठों का है) और दूसरा, रचनात्मक खंड (जो १७९ पृष्ठों का है)। प्रथम खंड में पश्चिम की दार्शनिक चिन्ता का अद्यावत ऐतिहासिक समीक्षण करते हुए यह बतलाया है कि दार्शनिक जगत् में वैचारिक अराजकता मची हुई है, जिसका मूल कारण है दर्शन को निरी ज्ञानमीमांसा या कि कर्ममीमासा मान लेना। दर्शन का बुद्धि-तंत्र या कर्म-तंत्र के प्रधान मान लेना, प्रस्तुत पुस्तक के लेखक के मत से, दर्शनशास्त्रगत अराजक का मूल कारण है। इस रोग का निदान उन्होंने रचनात्मक खंड में दिया है। कर्म और ज्ञान के सत्ता (Reality) की रूप-प्रणयन-क्रिया से उद्भूत मानकर, उन्होंने समस्या का हल प्रस्तुत किया है। यहां शंकराचार्य और हैगल और बेर्गसा के अध्यात्म में सत्ता और परमतत्व का सागोपांग विवेचन है; और उनकी अपूर्तियों के भरने का प्रयत्न भी है।

आलोचनात्मक खंड की विशेषताओं में हम तीन विशेषताएं गिना सकते हैं। एक तो लेखक का गंभीर और विस्तृत अध्ययन—कई लेखकों के मूल जर्मन और अन्य भाषाओं में पढ़ा गया है, और जर्मन अंग्रेज़ी के विपुल उद्धरणों से पुस्तक भरी है। उद्धरण ऐसे लेखों से

भी हैं जिनके अंग्रेज़ी अनुवाद तक अप्राप्य हैं। उद्धरण सर्वत्र विषय को लेकर ही लिये गये हैं और वे मूल लेखकों की विचार धाराओं को स्पष्ट करते हैं, सर्वत्र उद्धरणों के अभिप्राय हिन्दी में स्पष्ट किये गये हैं। दूसरी बात है, विषय-निरूपण में ऐतिहासिक दृष्टिकोण के साथ-साथ उन ऐतिहासिक तथ्यों के स्पष्टीकरण (interpretation) में मत-नैश्चित्य और स्पष्टता: कांटीय और कांटोत्तर अध्यात्मवाद, अभिनव स्वातंत्र्यवाद (Neo-Realism) और मूल्य-दर्शन ये अध्याय इसके बहुत उत्तम प्रमाण हैं। तीसरी विशेषता है कई स्थलों पर समझाने की सुन्दर रीति (happy style) जैसे पुस्तक के आरम्भ में ही हम पाते हैं। बारीकियों में जाकर भी लेखक और विषय पर जो उसका सुदृढ़ अधिकार है, वह कहीं नहीं कम होता। संक्षेप में, इस तीसरी विशेषता को कहेंगे विचारक के लिये परमावश्यक अभिव्यंजना का संयम। कौन सी बात, कहां, कितनी, और किस प्रकार कह देने मात्र से वह अपना प्रभाव स्पष्ट रूप से अंकित कर सकेगी, इसका लेखक को खूब अन्दाज़ है। और इस कारण, पुस्तक शुष्क दर्शन की लंबी-चौड़ी मीमांसा मात्र न रहकर, साहित्यिक गुणों से भी पूर्ण हो गई है। यद्यपि यह भाग दूसरे भागों से अधिक 'टेकनिकल' हो गया है, जैसा कि उसका होना स्वाभाविक ही था।

रचनात्मक खंड का प्रत्येक प्रकरण अपने आप में संपूर्ण और महत्त्व पूर्ण है। इस खंड की विशेषता है उसकी मौलिकता। उसमें एक स्वतन्त्र विचारक के लिये आवश्यक आत्म-विश्वास के साथ खंडन-मंडन है। और निजी प्रतिपादन, और सुझाव आदि हैं। उदाहरण के लिये हम 'अरूप का रूप प्रणयन'। इस अध्याय में वर्णित शंकराचार्य की आलोचना से वे कहते हैं—'वेदान्तियों ने ब्रह्म को अरूप मानकर सत्ता-विषयक समस्या को स्पिनोज़ा की अपेक्षा तो अधिक अच्छे प्रकार से अकलन करने की चेष्टा की है। किन्तु उन्होंने बात को अचल मानकर उस समस्या का अधूरा ही हल दिया है।' ज्ञान, कर्म और उपासना के मार्गों के मेल (Synthesis) का यहां प्रयत्न है जो कि अन्तिम प्रकरण 'सत्ता और ईश्वर' में अपने चरमोच्च बिन्दु पर पहुँच गया है। वह अरूप जिसका कि सृजनशीलता एक स्वभाव है, वह सरूप बनता है, तब आत्मा के उस श्रेयोन्मुख धर्म की अवतारणा होती है। अंतिम प्रकरण इस दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है—प्रज्ञा (Intuition) के सम्बन्ध में खोजपूर्ण निर्णय हैं। मर्मियों के 'आन्तरिक आह्वानों' अथवा स्वानुभूति की मीमांसा में लेखक ने बेर्गसां की अन्तिम पुस्तक ('Two aspects of Morality and Religion') की उस कल्पना को विषद किया है जिसमें बुद्धिगम्य अचल धर्म और स्वानुभूति-आश्रित प्रगमनशील धर्म का अन्तर स्पष्ट किया गया है। यह खंड विवेचन, विषय-निरूपण और व्यक्तीकरण तीनों की दृष्टि से हिन्दी के दार्शनिक साहित्य में एक अमूल्य देन है। प्रत्येक 'बुद्धि-वादी' और ख़ास तौर से प्रगतिवादी को यह पुस्तक इसलिये पढ़ना चाहिये कि इस पुस्तक से उसे बुद्धि के अचलत्व की सीमा का ज्ञान हो जायगा, और प्रगति के ध्येय का ठीक ठीक अर्थानुभव प्राप्त होगा।

अन्त में छः पृष्ठों के उपसंहार में पूरी पुस्तक का संक्षेप में सिंहावलोकन है।

इस पुस्तक में दो सामान्य दोष खलते हैं। एक तो उद्धरणों का आधिक्य। बेर्गसां, कांट, हेगेल, केअर्ड और विंडल बैंड के अत्यधिक उद्धरण हैं। इसी कारण से पुस्तक जन-साधारण के लिये न रहकर, जिन्हें दर्शन की शब्दावली का, अंग्रेज़ी में परिचय है, उन्हीं के लिये पुस्तक अधिक अर्थपूर्ण है। अन्यथा उसकी भाषा कई स्थलों पर दुरूह ही नहीं दुराराध्य बन गई है।

पर यह लेखक की नहीं, शायद हिन्दी की ही लाचारी है। हमारे यहां, अंग्रेजी की तरह एक सुनिश्चित पारिभाषिक शब्दावली किसी भी शास्त्र की नहीं बनी है। दर्शन भी इससे अपवाद नहीं। गत हिन्दी साहित्य सम्मेलन के दर्शन-परिषद के सभापति

लाला गुलाबराय जी इस दृष्टि से एक पारिभाषिक शब्दकोष बना रहे हैं, ऐसा हमने सुना है। यह पुस्तक उस कोष-निर्माण में काफी उपयोगी सिद्ध होगी। इसमें कई नये और अच्छे प्रयोग किये गये हैं; यथा १—हेतुमत्ता (Zweckmassigkeit), २ अवयवी (Cosmos), ३ सर्वशंका (domnilus dulitandum),४ द्विभंगीकरणवाद (bifurcation), theorywhitehead), ५ अतींद्रिय अध्यास (Transcendental dialectic), ६ स्वयं-वस्तु (thing-in-itself); ७ परिकल्पना (concept), ८ स्वात्म (subjective), ९ सहास्तित्व (coexistence) १० मूल्याधार (worth-fundamental), ११ जीवनोत्प्लव (elane vital), १२ प्रणालीकरण (canalisation), १३ अनुभावक चरित्र (appercipient-character), १४ रूपात्मक अविरुद्धता (Formal consistancy) १५ आसितव्य (sollen) इत्यादि, इत्यादि, ऐसे ही सौ-डेढ़ सौ शब्द डॉ० जोशी को इस पुस्तक में गढ़ने पड़े हैं। कहीं-कहीं, शब्द-परम्परा के अभाव में, सरस शब्द के स्थान पर कठिन शब्द आ गया है।

सब बातें विचार में रखते हुए, ऐसी पुस्तक हिन्दी में अनमोल है, और दर्शन शास्त्र के प्रत्येक अभ्यासी के लिये न केवल दिशा-दर्शक वरन् विचारोत्तेजक रचना है। हिन्दी के दार्शनिक साहित्य के इतिहास में यह पुस्तक ऐसा 'माइलस्टोन' है, जो टाला नहीं जा सकता।

प्रभाकर माचवे एम० ए०

भाभी के पत्र—लेखक श्री व्यथित हृदय, पृष्ठ संख्या १४४, मूल्य १।), प्रकाशक—भार्गव पुस्तकालय, गायघाट, बनारस।

नारी का जीवन एक जटिल समस्या के रूप में न सिर्फ़ भारतीय समाज को बल्कि सारी दुनिया के चिन्तकों को परेशान किये हुए है। विनीत नारी जो *अब तक कर्तव्य के सीमा बन्धनों में अपने समूचे* जीवन को उत्सर्ग करते चली आ रही थी आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक क्रान्तियों के बीच में करवटें बदल कर सजग और सचेत सी हो गई है। पुरुष से सतत निरादर पाकर आज वह अपने अधिकारों की मांग कर रही है। मार्क्स और फ्रायड, हैवलाक एलिस और एडवर्ड कार्पेण्टर, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और महात्मा गान्धी सभी ने गम्भीरता पूर्वक स्त्री और पुरुष के इस संघर्ष पर विचार किया है। स्त्री पुरुष के सम्बन्ध की कोई पुस्तक जब तक इस गहराई में पैठ कर इस संघर्ष की वैज्ञानिक विवेचना नहीं करती तब तक वह विचारशील पाठक के लिये अधिक उपयोगी साबित नहीं हो सकती। वह जड़ को छोड़कर पत्तों का इलाज करने के समान होगा।

इस दृष्टिकोण से जब हमने पुस्तक को पढ़ा तो हमने पाया कि लेखक ने भरसक निष्पक्षता और गम्भीरता के साथ केवल १४४ पृष्ठों के कलेवर में विषय का मनोवैज्ञानिक प्रतिपादन करने की कोशिश की है। क्या ही अच्छा हो यदि लेखक पुस्तक के दूसरे संस्करण में घर के अतिरिक्त नारी की समाज और राष्ट्र में क्या स्थिति है इस पर इसी मनोयोग के साथ प्रकाश डालें। पुस्तक के संयत भावों और भाषा के लिये लेखक महोदय धन्यवाद के पात्र हैं।

पुस्तक १३ पत्रों के रूप में है जो एक विदुषी भाभी अपनी ननद को लिखती है। पुस्तक सरल और रोचक भाषा में लिखी हुई है।

अभागे दम्पति—लेखक और प्रकाशक उपर्युक्त, पृष्ठ संख्या १६४, मूल्य १।)

जैसा कि पुस्तक के नाम से ही प्रकट है इसमें असफल विवाहित जीवन की कष्टकर झाकी दिखाई गई है। स्त्री को जो कुछ शिकायतें हैं और पुरुष के जो कुछ अभियोग हैं वे पत्रों के रूप में इस पुस्तक में अंकित किये गये हैं। पुस्तक पढ़ने योग्य है और विवाहित जीवन के मार्ग-कण्टकों से हमें सचेत करती है।

अनोखी दुनिया—लेखक और प्रकाशक, उपर्युक्त, पृष्ठ संख्या ११६, मूल्य ॥=)

बच्चों के मनोरंजन और उनकी ज्ञान वृद्धि के लिये भी व्यथित हृदय ने इस छोटी सी पुस्तक में दुनिया की आश्चर्य जनक बातों का संग्रह किया है। पुस्तक रुचिकर और अत्यन्त सरल है।

दीन बन्धु को श्रद्धाञ्जलियां—संग्रहकर्ता श्री प्रभुदयाल विद्यार्थी, प्रकाशक पुस्तक भण्डार लहरियासराय और पटना। पृष्ठ संख्या १८७, मूल्य १।)

सहयोगी 'विशाल भारत' के सम्पादक पण्डित श्रीराम शर्मा इस संग्रह की भूमिका में लिखते हैं—"श्री प्रभुदयाल विद्यार्थी ने स्व० दीनबन्धु एण्ड्रूज़ के प्रति अर्पित की हुई श्रद्धाञ्जलियों को एकत्र करके एक साहित्यिक मणिमाला तय्यार कर दी। इस सुरसरि के भिन्न भिन्न लेख सुरसरि के भिन्न भिन्न घाटों के समान हैं जहां पर ज्ञान और भक्ति का प्यासा अपनी प्यास बुझा सकता है।"

पुस्तक में अधिकारी व्यक्तियों की ओर से दीन-बन्धु को श्रद्धाञ्जलियां समर्पित की गई हैं। सचित्र होने के कारण पुस्तक की उपयोगिता बेहद बढ़ गई है। चूंकि पुस्तक की पूरी आमदनी दीनबन्धु स्मारक कोष में जायगी इसलिये हम इस पुस्तक की अधिक से अधिक बिक्री के इच्छुक हैं।

नई दुनिया—(राष्ट्र भाषा अंक)—मिलने का पता—सत्याश्रम वर्धा, मूल्य ≡)

कुछ विशेषांक पृष्ठों की दृष्टि से विशेष होते हैं, कुछ मूल्य की। यह दोनों दृष्टि से विशेष नहीं है। यह है यथार्थ अर्थों में विशेषांक।

जाति, धर्म और संस्कृति के फेर में फंस कर हमारी राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि की समस्या जो इतनी अधिक उलझी प्रतीत होती है "नई दुनिया" के इस अंक में श्री० सत्यभक्त जी ने अपनी पैनी बुद्धि से उसे सुलझाने का प्रयत्न किया है। इस अंक में आपके (१) राष्ट्रभाषा (२) लिपि-समस्या (३) हिन्दुस्तानी-लिपि (४) हिन्दुस्तानी और तार (५) हिन्दुस्तानी लिपि कैसे बनी आदि लेखों का संग्रह है। इन लेखों में आप जिन परिणामों पर पहुंचे हैं, उनसे यदि कोई असहमत भी हो तो भी जिन सिद्धान्तों वा विचारधारा से प्रेरित होकर यह लेख लिखे गए हैं उनसे कोई असहमत नहीं हो सकता। और एकबार विचार धारा को सामान्यतया सही स्वीकार कर लेने पर उनके लगभग सभी परिणामों को स्वीकार करने को जी चाहता है।

भाषा के बारे में आपका कहना है कि जिस प्रान्त वा प्रदेश की जो भाषा हो, उस प्रान्तके प्रत्येक निवासी को उसी भाषा को अपनाना चाहिए। साम्प्रदायिक अहंकार के कारण लोग इस विषय में अपना और देश का बहुत नुक़सान करते हैं। एक हिन्दू सीमा प्रान्त में रहता है वहां की भाषा- उर्दू है। पर वहा के मुट्ठीभर हिन्दू हिन्दू होने के नाते हिन्दी सीखते हैं, इसका फल यह होता है कि उनका कार्यक्षेत्र मुट्ठी भर हिन्दुओं में सीमित रह जाता है, वे वहा की जनता के काम के नहीं रहते। इसी प्रकार मध्यप्रान्त या मध्यभारत के रहनेवाले मुसलमान उर्दू सीखते हैं तो वे भी मुट्ठीभर मुसलमानों के काम के रह जाते हैं, वहा की पब्लिक के लिए उनकी पढ़ाई बेकाम हो जाती है। इस प्रकार जातीय मोह में आकर वे अपना भी काफ़ी नुक़सान करते हैं और सरकारी ख़र्च भी बढ़ाते हैं। (पृ० २५५) शायद इसी सिद्धान्त के अनुसार आपने "पंजाब में उर्दू स्कूलों में ही हिन्दी और मध्यप्रान्त में हिन्दी या मराठी स्कूलों में ही उर्दू" रखने की सिफ़ारिश की है। पंजाब में उर्दू के स्थान पर हिन्दी हो यह हमारा मत नहीं, किन्तु बङ्गाल में बङ्गला की तरह पंजाब में पञ्जाबी ही क्यों न हो? किसी भी दूसरे प्रान्त में वहां की प्रान्तीय भाषा की वैसी दुर्दशा नहीं है जैसी पंजाब में पंजाबी की। यही हिन्दी उर्दू की समस्या का सब से बड़ा कारण है। हम पंजाब में न उर्दू के पक्षपाती हैं, न हिन्दी के किन्तु पंजाबी के।

लिपि समस्या शीर्षक लेख मे बड़े ही अच्छे ढंग से (१) नागरी लिपि (२) उर्दू-लिपि तथा रोमनलिपि के गुण दोष बताए हैं, इन सब दोषों से

युक्त हिन्दुस्तानी लिपि बनाने का केवल विचार ही नहीं सुझाया है, बल्कि उसका एक निश्चित रूप भी दिया है।

तार भेजने में जो आज दिन हमें रोमन-लिपि और अंग्रेज़ी भाषा का ही प्रयोग करना पड़ता है वह भारत जैसे महान् राष्ट्र पर कितना बड़ा अत्याचार है यह आपके हिन्दुस्तानी और तार लेख के पढ़ने से पता लगता है। ऐसे लोगों को जो बिना सोचे विचारे "रोमन के कुल २६ अक्षरों" का पक्ष लेते हैं आपने अत्यन्त युक्ति पूर्ण उत्तर दिया है।

हम चाहते हैं कि यह अङ्क सभी ऐसे लोगों के हाथों तक अवश्य पहुंचे जिन्हें भाषा तथा लिपि के प्रश्न में कुछ भी दिलचस्पी है।

आनन्द कौसल्यायन

प्रदीप—जनता के जीवन अधिकार का पहरेदार, बीसवीं सदी राजनीति का हिन्दुस्तानी मासिक। सम्पादक श्री जगदीश एम० ए०, प्रकाशक प्रदीपकार्यालय, मुरादाबाद, वार्षिक मूल्य ५) रु०, एक प्रति का ।|)

हमारे सामने सहयोगी का अक्तूबर १९४१ का दूसरे वर्ष का पहला अङ्क है। भाई जगदीश ने जब अपने जीवन की सम्पूर्ण साधनाएं लेकर पहले पहल 'प्रदीप' संजोया था तब उसकी आभा ने एक बार तो हिन्दी साहित्य को जगमग कर दिया था। सर से पैर तक सुरुचि और कला से भरा पूरा, हिन्दी मासिक साहित्य में 'प्रदीप' का जन्म एक घटना थी। फिर हमें यह सुनकर बेहद दुख हुआ कि 'प्रदीप' का प्रकाशन परिस्थितियों से विवश होकर स्थगित कर देना पड़ा। 'प्रदीप' के उत्साही सम्पादक तो इस तरह हथियार डालने वाले नहीं। गत सितम्बर से 'प्रदीप' का प्रकाशन फिर शुरू हुआ है। हम प्रदीप के चिरजीवन की कामना करते हैं।

प्रस्तुत अङ्क में अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति पर अधिकार पूर्ण लेखों के अतिरिक्त सुन्दर कविताएं, कहानी, और उद्धरण आदि हैं। 'प्रदीप' का अधिक से अधिक प्रचार देखकर हमें खुशी होगी।

कहानी—(नववर्षाङ्क), अक्तूबर १९४१, सरस्वती प्रेस, बनारस, वार्षिक मूल्य ३), एक अङ्क का।),

चौथे वर्ष का यह पहला अङ्क है। आज जब कि हिन्दी में कहानी मासिक साहित्य की इतनी धूम है कला, रुचि और स्टैण्डर्ड के लिहाज़ से भाई श्रीपत-राय के सम्पादन में निकलने वाली यह 'कहानी' मासिक पत्रिका अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है। स्व० प्रेमचन्द जी की कीर्ति और तपस्या की छाया 'कहानी' के हर पृष्ठ पर दिखाई देती है।

प्रस्तुत अङ्क में सबसे पहले जो चीज़ पाठकों का ध्यान आकर्षित करती है, वह है आदरणीया शिव-रानी देवी का 'प्रेमचन्द संस्मरण', सरस और मानवी भावों से ओत प्रोत। भाई श्रीपत से हमारा अनुरोध है कि वे मा के ये संस्मरण शीघ्र ही पुस्तकाकार प्रकाशित करने का प्रयत्न करें। प्रेमचन्द जी की इतनी सुन्दर मानवीय झांकी और कोई नहीं दे सकता। रचनाओं में श्री राजनाथ पाण्डेय की कहानी 'मै चा', श्री शिवदान सिंह चौहान की 'एक पूंजीपति की डायरी के कुछ पृष्ठ', श्री कृष्णचन्द्र की 'हुस्न और हैवान' बहुत अच्छी हैं। बहिन सत्यवती मल्लिक का स्केच नूरी भी बहुत सुन्दर है। "कहानी का 'क्यों' और 'कैसे'" शीर्षक स्तम्भ ने इस अङ्क की उप-योगिता काफी बढ़ा दी है। 'कहानी' का यह विशेषाङ्क हर दृष्टि से सफल रहा है।

दीपक—(मासिक), वार्षिक मूल्य २।|), एक प्रति का।), सम्पादक श्री तेगराम। मिलने का पता साहित्य-सदन अबोहर, पंजाब।

अबोहर का साहित्य-सदन गत छै वर्षों से, पञ्जाब की मरुभूमि में, हिन्दी का यह पौधा कितने उद्योग के साथ सींच कर पनपा रहा है, यह हर एक की कल्पना में अभी नहीं आ सकता। पत्र का छोटा सा कलेवर बेहद उपयोगी और विचार पूर्ण लेखों से भरा रहता है। हम चाहते हैं पञ्जाब के हिन्दी प्रेमी अपनी इस थाती को अधिक से अधिक आग्रह के साथ अपनायें।

हिन्दी-प्रचार-समाचार—[दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार-सभा, त्यागरायनगर मद्रास, की मासिक मुख पत्रिका] सम्पादक श्री० एम० सत्यनारायण, वार्षिक मूल्य २) रु०, एक अङ्क का ≶)

दूर दक्षिण में हमारी राष्ट्र भाषा कितना अधिक जड़ पकड़ती जाती है, उसका जीता जागता प्रतिबिम्ब यह 'हिन्दी प्रचार समाचार' है। यह केवल मासिक पत्र नहीं है, यह हमारी राष्ट्र-भाषा का बैरोमीटर है। दक्षिण भारतवासियों की सुन्दर हिन्दी रचनाएं इसमें प्रकाशित होती रहती हैं। क्या ही अच्छा हो यदि 'हिन्दी-प्रचार-समाचार' दक्षिण की भाषाओं की सुन्दरतम रचनाओं का परिचय उत्तर भारत के हिन्दी पाठकों को कराये। इस स्थिति में वह दोनों के लिये आवश्यक और दोनों का सांस्कृतिक बिचौलिया हो जायगा। हमारा विश्वास है भाई श्री सत्यनारायण जी हमारी इस नम्र प्रार्थना पर ग़ौर करेंगे।

उत्तर भारत के हर हिन्दी प्रेमी को 'हिन्दी-प्रचार समाचार' अवश्य पढ़ना चाहिये। प्रस्तुत अङ्क में 'प्रचार विभाग' और 'प्रान्तीय सभाओं के समाचार' विशेष पठनीय हैं।

मधुकर—(पाक्षिक पत्र), सम्पादक पंडित बनारसी दास चतुर्वेदी, प्रकाशक श्री वीरेन्द्र-केशव साहित्य-परिषद, टीकमगढ (सी० आई०), वार्षिक मूल्य २), एक प्रति का छै पैसा।

"विशाल भारत" से अवकाश लेते हुए पूज्य चतुर्वेदी जी ने उस समय लिखा था कि वे साहित्य सेवा से बाग़बानी को अधिक उपयोगी समझने लगे हैं। तब हमने समझा था कि शायद चतुर्वेदी जी की बगिया में डाक्टर श्रीधर नेहरू की पद्धति से उगाये हुए दस दस पाउण्ड के टमाटर खाने को मिलेंगे। सो हम ऐसे बदक़िस्मत रहे कि तब से टीकमगढ़ जाने का सौभाग्य ही नहीं मिला। टमाटर में कितना विटेमिन होता है सो डाक्टर सतीशचन्द्र दास जानें मगर 'मधुकर' के विटेमिन की बात हम जानते हैं। केवल छै पैसे में ३०-३२ पृष्ठ की इतनी उपयोगी, ज्ञानवर्धक, सुरुचिपूर्ण सामग्री देना सचमुच एक आश्चर्य की बात है। जनता जर्नादन की सच्ची सेवा 'मधुकर' का लक्ष्य है। चतुर्वेदी जी में असीम उत्साह है। मिट्टी भी उनका स्पर्श पाकर सोना बनने लगती है। 'मधुकर' के प्रभाव से बुन्देलखण्ड के साहित्य सेवियों में जीवन के अपूर्व लक्षण दिखाई देने लगे हैं। हमें विश्वास है चतुर्वेदी जी की साधना से यह छोटा सा पौधा एक दिन हरे भरे बटवृक्ष का आकार ग्रहण करेगा।

'मधुकर' के सम्बन्ध में लोगों को एतराज़ है कि वह प्रान्तीयता का प्रचारक है। हम इस राय से सहमत नहीं हैं। हम उसको intensive साहित्य सेवा समझते हैं। जिन भाइयों को extensive सेवा की रुचि है 'मधुकर' उनके रास्ते में बाधक नहीं। हम बुन्देलखण्ड के गाव गाव में 'मधुकर' का प्रचार चाहते हैं।

प्रजासेवक—(साप्ताहिक), सम्पादक श्री अचलेश्वर प्रसाद शर्मा, वार्षिक मूल्य ४), मिलने का पता प्रजासेवक कार्यालय, जोधपुर।

प्रजासेवक का प्रस्तुत अङ्क 'गान्धी जयन्ती विशेषाङ्क' है। हिन्दी साहित्यकों में आमतौर से यह भ्रम सा फैला हुआ है कि देशी राज्यों से निकलनेवाले पत्र केवल देशी राज्यों की समस्याओं तक ही सीमित होते हैं। मगर जितना भी हमने 'प्रजासेवक' को देखा है उसमें समूचे देश की समस्याओं पर प्रकाश रहता है। किसी भी प्रान्त के पाठक को इसमें रुचिकर और सामयिक सामग्री मिलेगी। प्रस्तुत अङ्क मे लेखों का इतना सुन्दर चयन है कि इससे गान्धी साहित्य की स्थायी वृद्धि ही हुई है। श्री रामनाथ 'सुमन' श्री जैनेन्द्र कुमार, श्री किशोरलाल मश्रुवाला, श्री काशीनाथ त्रिवेदी, श्री हरिभाऊ उपाध्याय, श्री जयनारायण व्यास, डाक्टर पट्टाभी सीतारामैया, पंडित सुन्दरलाल, पंडित सत्यदेव विद्यालङ्कार की रचनाएं किसी भी पत्र के विशेषाङ्क के लिये ईर्षा और स्पर्धा की वस्तु हैं। भाई अचलेश्वरजी की सेवाओं ने 'प्रजासेवक' को

हिन्दी साप्ताहिक पत्रों की प्रथम श्रेणी में लाकर रख दिया है। इस विशेषाङ्क के लिये शर्मा जी बधाई के पात्र हैं।

योगी—(साप्ताहिक) योगी प्रेस, पटना।

प्रस्तुत अङ्क योगी का 'उद्योग अङ्क' है। ९४ पृष्ठ के इस वृहत और उपयोगी विशेषाङ्क का मूल्य है केवल दो आना। भारतीय उद्योग के हर क्षेत्र पर अधिकारी व्यक्तियों द्वारा लिखे हुए लेख इस अङ्क की विशेषता हैं। प्रारम्भ में ही 'भारतीय जहाज़रानी का पुरदर्द इतिहास' ऐतिहासिक खोजों से भरा हुआ है। 'कर व्यवस्था में सरकारी अनीति', 'भारत में रेशम के उद्योग धन्धे का प्रारम्भ,' 'भारत मे खनिज उद्योग', 'भारत में चीनीका उद्योग और उसका विकास', 'भारत में ऊन के व्यवसाय का विकास', 'भारत में पाट का उत्पादन और व्यापार', 'कच्चे माल का उत्पादन और भारत', 'खादी का आर्थिक महत्व और बेकारी', 'भारत मे चमड़े का व्यवसाय,' 'भारत का वस्त्र व्यवसाय,' 'भारत मे काग़ज़ बनाने का उद्योग', 'भारतीय कापी की कहानी,' 'भारत मे शीशे का उद्योग,' आदि जैसे अनेकों उपयोगी लेखो मे 'योगी' का यह विशेषाङ्क सचमुच 'इण्डियन इण्डस्ट्रियल इनसाइक्लोपीडिया' ही बन गया है। अपने देश की आर्थिक स्थिति को यह अङ्क शीशे की तरह स्पष्ट कर देता है। श्री व्रजशङ्कर जो ने यह अङ्क निकाल कर हिन्दी ससार की सचमुच ठोस सेवा की है।

देशदूत - (दीपावली अङ्क), मूल्य चार आना।

श्री ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल' के सम्पादकत्व में 'देशदूत' का यह कलापूर्ण नयनाभिराम विशेषाङ्क देखते ही बनता है। अनेक सुन्दर कहानियों, युद्ध सम्बन्धी लेखों, मनोहर कविताओं के बीच में निर्मल जी का व्यक्तित्व स्पष्ट दिखाई देता है। फिर इण्डियन प्रेस की छपाई सफ़ाई तो मशहूर ही है। यह कलापूर्ण सुन्दर विशेषाङ्क निकालने के लिये निर्मल जी बधाई के पात्र हैं।

प्राप्त पुस्तकें

१—**जगाचा इतिहास,** (मराठी) लेखक श्री रामचन्द्र नारायण नातू

२—**प्रसाद का नाट्य चिन्तन,** लेखक श्री शिखर चन्द्र जैन,

३—**वनफूल,** लेखक श्री कन्हैयालाल सेठिया

४—**तुलसी दर्शन,** सम्पादक श्री कमलधारी सिंह और श्री शुभकरण सुराणा

५—**हिन्दी नाट्य चिन्तन,** लेखक श्री शिखर चन्द्र जैन

६—**नारी हृदय की अभिव्यक्ति,** लेखक उपर्युक्त

७—**तत्वार्थ सूत्र,** लेखक उपाध्याय जैन मुनि आत्मारामजी

८—**नवरस,** लेखक श्री सेठ गोविन्ददास जी

९—**हमारा प्रधान उपनिवेश,** लेखक उपर्युक्त

१०—**भैरवी,** लेखक श्री सोहनलाल द्विवेदी,

११—**भारतीय दर्शन शास्त्र का इतिहास,** लेखक श्री देवराज

१२—**बौद्ध धर्म,** लेखक श्री गुलाबराय एम०ए०

१३—**आज़ादी के रोड़े,** लेखक श्री राममनोहर सिंह

१४—**अतीत के चलचित्र,** लेखिका श्रीमती महादेवी वर्मा

१५-३१—साधना मन्दिर, चन्द्र बाग़, सी० पी० टैंक, बम्बई द्वारा प्रकाशित १७ पुस्तिकाएं।

३२—**यूरोप के झकोरे में,** लेखक डाक्टर सत्यनारायण

विश्ववाणी की ग़ैर ज़िम्मेदारी ?

नीचे लिखा पत्र हमारे पास प्रकाशनार्थ आया है:—

अक्टूबर १९४१ की "विश्ववाणी" में "हिन्दुस्तान के लिये राष्ट्रभाषा की समस्या" शीर्षक लेख महात्मा गांधी जी के नाम से छपा है। यहां पता लगाने पर मालूम हुआ कि गांधी जी ने हिन्दुस्तान के लिये राष्ट्रभाषा की समस्या' पर कोई लेख नहीं लिखा है। "नेशनल लैंगवेज" फार इंडिया... नामक किताब मे गांधी जी का जो लेख है, वह उनके १९३६,३७,३८ सन् के कुछ लेखों को काट छांट कर अर्थ का अनर्थ करके बनाया गया है।

"विश्ववाणी" में "हिन्दुस्तानी" उपशीर्षक से जो लेख का अंश है, वह "हरिजन-सेवक" के १६ मई १९३६ में किसी व्यक्ति ने गांधी जी के नाम पत्र लिखा है, उस पत्र को गांधी जी के मुंह में डाल दिया गया है। जो बातें गांधी जी द्वारा लिखी गई कही गई हैं, वह उनकी लिखी नहीं हैं। गांधी जी ने यह कभी नहीं लिखा कि 'हमारी आम ज़बान को हिन्दुस्तानी कहा जावेगा, हिन्दी नहीं।

गांधी जी ने १६ मई १९३६ के "हरिजन सेवक" में "हिन्दी या हिन्दुस्तानी" शीर्षक जो अग्रलेख लिखा है, उससे "विश्ववाणी" में प्रकाशित कसी बात का समर्थन नहीं होता। "विश्ववाणी" कितनी ग़ैर ज़िम्मेदार रही है।

"विश्ववाणी" में छपा वह लेख गांधी जी के नाम पर बिलकुल भ्रमपूर्ण है।

विनीत,
प्रभुदयाल विद्यार्थी
१०-१०-४१

उसके बाद हमें 'राष्ट्रभाषा समाचार' (वर्धा) का अक्तूबर का अङ्क मिला, जिसमें श्री० प्रभुदयाल विद्यार्थी और गान्धी जी के बीच का यह पत्र-व्यवहार छपा है।

वर्धा,
१२-१०-४१

पूज्य बापू जी,

प्रयाग से निकलने वाली मासिक 'विश्ववाणी' में 'हिन्दुस्तान के लिये राष्ट्रभाषा की समस्या' शीर्षक से आपके नाम म एक लेख निकला है; वही लेख नैशनल लैंग्वेज फॉर इण्डिया' नामक अंग्रेज़ी पुस्तक में भी छपा है।

सुनने में आया है कि 'विश्ववाणी' के सम्पादक और किताबिस्तान वाले कहते हैं कि गांधी जी ने यह लेख हाल ही में राष्ट्रभाषा की समस्या पर लिखा है।

आपकी सेवा में 'विश्ववाणी' का वह लेख और "नैशनल लैंग्वेज फ़ॉर इण्डिया" नामक पुस्तक (सकलनकर्ता जेड० ए० अहमद द्वारा सम्पादित) देखने के लिये भेज रहा हूं। कृपया आप दोनों को देखकर क्या यह लिख सकते हैं कि यह आपके लिखे लेख हैं ?

आपका आज्ञाकारी सेवक—
प्रभुदयाल विद्यार्थी

बापू का उत्तर

सेवाग्राम,
१२-१०-४१

चि० प्रभुदयाल,

तुमने जिन लेखों के बारे में लिखा है, वह मैं पढ़ गया हूं। मैंने आजकल तो किसी अख़बार के लिये इस विषय में नहीं लिखा है और न वह लेख मेरे हैं। कहां से लिया गया है, उसका इशारा भी इसमें नहीं है।

बापु के
आशीर्वाद

ऊपर की गश्ती चिट्ठी और पत्र-व्यवहार दोनों से 'विश्ववाणी' के बारे में जो भ्रम पैदा होता है, उसे

साफ़ कर देना हमारा फ़र्ज़ है। अक्तूबर की 'विश्ववाणी' में "हिन्दुस्तान के लिए राष्ट्रभाषा की समस्या" शीर्षक जो लेख महात्मा गान्धी के नाम से छपा है, उस लेख के ऊपर यह शब्द साफ़ साफ़ छपे हैं—

"इस लेख मे इस सम्बन्ध में हम गान्धी जी के विचार पेश कर रहे हैं, जो अभी हाल में किताबिस्तान द्वारा प्रकाशित 'नैशनल लैंगवेज फ़ार इण्डिया' नामक निबन्ध संग्रह में छपे हैं। संग्रहकर्त्ता के सौजन्य से इसे हम यहा छाप रहे हैं।"

इससे यह स्पष्ट है कि 'विश्ववाणी' में छपा हुआ लेख केवल 'नैशनल लैंगवेज़ फ़ार इण्डिया' नामक अंग्रेजी पुस्तक में गान्धी जी के नाम से छपे हुए लेख का अनुवाद है। 'विश्ववाणी' ने यह कहीं नहीं कहा कि यह लेख महात्मा जी ने हाल में या कभी भी 'विश्ववाणी' के लिए या किसी अख़बार के लिए लिखा है। जहां तक अनुवाद का प्रश्न है वहा तक भी हम यह कह सकते हैं कि अक्टूबर की 'विश्ववाणी' में छपा हुआ लेख 'नैशनल लैंगवेज़ फ़ार इन्डिया' में छपे लेख का पूरा पूरा और ठीक ठीक भाषान्तर है। उसमें कहीं किसी तरह का भी 'ऊटपटांग अर्थ' या काट छांट या किसी तरह का भी अदल-बदल नहीं किया गया।

जहा तक अंग्रेज़ी पुस्तक का सवाल है, यह पुस्तक अप्रैल सन १९४१ के अन्त या मई के पहले सप्ताह में इलाहबाद के मशहूर प्रकाशक 'किताबिस्तान' द्वारा प्रकाशित हुई है। संग्रहकर्त्ता की भूमिका ३ नवम्बर १९४० की लिखी हुई है, जिसे पढ़ने से पता चलता है कि यह सब लेख उस से पहले संग्रह हो चुके थे। किताबिस्तान इस देश के मशहूर और प्रतिष्ठित राष्ट्रीय पुस्तक प्रकाशकों में से है। पंडित जवाहर लाल नहरू की लगभग सभी मुख्य पुस्तकें किताबिस्तान से प्रकाशित हुई हैं। डाक्टर पट्टाभी सीतारामय्या की प्रसिद्ध पुस्तक 'गान्धी एण्ड गान्धीइज़्म' दो जिल्दों में किताबिस्तान ही ने प्रकाशित की है। 'नैशनल लैंगवेज़ फ़ार इण्डिया' नामी पुस्तक जिस लेख माला की पुस्तक है, उसके सम्पादक मन्डल (एडिटोरियल बोर्ड) में यह छै नाम हैं :—

१—सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन
२—सर सिव स्वामी अय्यर
३—श्री सी० आर० रेड्डी (वाइस चान्सलर आंध्र यूनिवर्सिटी)
४—डाक्टर मेघनाद साहा, एफ़० आर० एस०
५—श्री पी० एम० लाड, एम० ए०, आइ० सी० एस०
६—डाक्टर बी० पी० अदारकर, एम० ए० (जनरल एडीटर)

इस पुस्तक के निबन्धों के संग्रहकर्त्ता डा० ज़ेड० ए० अहमद बी० एस० सी०, पी-एच०डी० (लदन) हैं, जो कांग्रेस के एक प्रसिद्ध कार्य्यकर्त्ता हैं, आल इन्डिया कांग्रेस कमेटी के सदस्य रहे हैं, और इस समय जेल मे हैं। संग्रह के अन्दर महात्मा गान्धी के लेख के अतिरिक्त पण्डित जवाहर लाल नहरू, डा० राजेन्द्र प्रसाद, श्री० राजगोपालाचार्य्य, डा० पट्टभिसीतारामय्या, बा० पुरुषोत्तमदास टण्डन, काका कालेलकर और डा० भगवान दास आदि बाइस और मशहूर नेताओं और विद्वानों के लेख हैं। 'विश्ववाणी' के सम्पादक के हाथ में यह पुस्तक पहले पहल जून, १९४१ में आई।

हम यह बातें केवल इसलिए लिख रहे हैं कि जिस समय हमने उस निबन्ध का हिन्दी अनुवाद 'विश्ववाणी' में रखने का इरादा किया, उस समय हमें इस बात का गुमान भी न हो सकता था कि इस पुस्तक में किसी के साथ किसी तरह का अन्याय किया गया है या किसी के विचारों को ग़लत रूप में रखा गया है।

श्री० प्रभुदयाल विद्यार्थी की गश्ती चिट्ठी पाने के बाद हमने 'किताबिस्तान' के मालिक कलीमुर्रहमान साहब से दरियाफ़्त किया तो उन्होंने हमसे कहा कि पुस्तक की प्रतियां ५ मई को या उसके

आस पास महात्मा गान्धी के पास और दूसरे ख़ास ख़ास लेखकों के पास भेंट के तौरपर और लगभग १५ समाचार पत्रों के पास समालोचना के लिए भेजी गई थीं। कुछ पत्रों में समालोचनाएं निकलीं भी। डा० अहमद इस समय जेल में हैं। कलीमुर्रहमान साहब ने बाक़ी बातें दरियाफ़्त करने के लिए २०।१०।४१ को डा० अहमद को जेल में एक ख़त भी लिखा है।

'राष्ट्रभाषा समाचार' का यह अङ्क देखकर हमें और विशेषकर पण्डित सुन्दरलाल जी को बड़ा दुःख हुआ। सारी बात का ठीक ठीक पता लगाने के लिए और इस विषय में गान्धी जी से बात चीत करने के लिये सुन्दरलाल जी तुरन्त वर्धा गए। वहां हरिजन सेवक की १९३६, ३७, ३८ और ३९ की पिछली फाइल देखने से पता लगा कि 'नैशनल लैंगवेज़ फ़ार इण्डिया' नामक पुस्तक में महात्मा जी के नाम से प्रकाशित अंग्रेज़ी लेख के अलग अलग हिस्से महात्मा जी के अलग अलग लेखों से लिए गये हैं। इस तरह लेख का अधिकांश हिस्सा गान्धी जी के ही लेख हैं। किन्तु अंग्रेजी लेख का वह भाग जो "हिन्दुस्तानी" शीर्षक से छपा है वास्तव में गान्धी जी का नहीं है। यह सारा टुकड़ा महात्मा जी के नाम एक दूसरे सज्जन के पत्र से लिया गया है और न जाने कैसे महात्मा जी का समझ लिया गया है। इस पत्र पर टीका करते हुए महात्मा जी ने जो लेख "हरिजन सेवक" में लिखा है—या यू कहना चाहिये कि जो हरिजन में लिखा है और जिसका अनुवाद हरिजन-सेवक में छपा है—उसमें से दो वाक्य हम नीचे देते हैं:—

(क) यह पत्र और लेख मुख़्तलिफ़ प्रान्तों के लिये एक समान भाषा के बारे में मेरे जो विचार हैं प्रायः उनको ही ज़ाहिर करते हैं।

(ख) ख़त भेजने वाले सज्जन पूछ सकते हैं कि हिन्दी या हिन्दुस्तानी का हठ छोड़कर सीधा सादा 'हिन्दुस्तानी' शब्द क्यों नहीं काम में लाया जाता। मेरे पास इसके लिये सीधी सादी एक ही दलील है। वह यह है कि मेरे सरीखे नए व्यक्ति के लिए २५ वर्ष की पुरानी संस्था को अपना नाम बदलने के लिये कहना गुस्ताख़ी होगी, फिर तब जब कि उसका नाम बदलने की ऐसी कोई ज़रूरत भी साबित नहीं की गई है। नई परिषद पुरानी ही संस्था की उपज है। और वह उत्तर भारत में रहने वाले और एक मादरी ज़बान बोलने वाले हिन्दू मुसलमान दोनों की ज़रूरियात पूरी करना चाहती है। उसके लिए भाषा के नाम का इतना महत्व नहीं है, भले ही उसको हिन्दी कहा जाए या हिन्दुस्तानी। मुझे दोनों ही शब्दों से एकसा संतोष है। हिन्दी शब्द प्रयोग करने वालों से मुझे कुछ झगड़ा नहीं है, बशर्ते कि उनकी भाषा भी वही हो जो कि मेरी है।

सम्भव है कि इनमें पहले वाक्य से डा० अहमद ने यह समझ लिया हो कि गान्धी जी पत्र भेजने वाले के सब विचारों से सहमत हैं। किन्तु दूसरे वाक्य से यह स्पष्ट है कि गान्धी जी के मुंह में यह वाक्य रखना कि हमारी आम ज़बान को हिन्दुस्तानी कहा जाएगा, हिन्दी नहीं'--जैसा कि अंग्रेज़ी लेख में किया गया है—ग़लत है।

डा० अहमद के बारे में ऐसी हालत में जब कि वह जेल में हैं हम कुछ नहीं कह सकते। किन्तु यह ज़ाहिर है कि "विश्ववाणी" के उस लेख द्वारा गान्धी जी के विचारों के साथ कम से कम एक ख़ासे अंश में, अनजाने में ही, अन्याय, हो गया है। हमें इसका हार्दिक दुःख है।

सम्पादक, 'विश्ववाणी'

यह नोट गांधी जी को दिखा दिया गया, जिस पर उन्होंने नीचे लिखा वक्तव्य दिया।

गान्धी जी का वक्तव्य

"ऊपर का खुलासा 'विश्ववाणी' का इरादा शुद्ध है, इतना सिद्ध करने के लिए काफ़ी है। 'राष्ट्रभाषा समाचार' में मेरा जो पत्र चि० प्रभुदयाल के नाम छपा है, उसमें मेरा इशारा सिर्फ़ अंग्रेज़ी किताब के ही लिए है।"

पंडित सुन्दरलाल का वक्तव्य

"इस मामले में मेरा अपनी ज़िम्मेवारी का इज़हार करना भी उचित है। अंग्रेज़ी लेख का हिन्दी अनुवाद सम्पादक 'विश्ववाणी' ने मेरे सुपुर्द किया था वह मेरा ही किया हुआ है। मैं गान्धी जी के सम्पर्क में काफ़ी रहा हूं। और इस बारे में उनके विचार जानता हूं। यह एक वाक्य जिसको उद्धृत किया गया है—यानी "हमारी आम ज़बान को हिन्दुस्तानी कहा जाएगा, हिन्दी नहीं? मुझे सावधान करने के लिए काफ़ी होना चाहिए था। मेरी इस असावधानी के लिए 'विश्ववाणी' के पाठक मुझे क्षमा करेंगे। सच्ची क्षमा तो यही होगी कि आइन्दा मैं इतना सावधान रह सकूं कि मेरी लेखनी से फिर इस तरह का दोष न हो।"

हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अबोहर अधिवेशन

[स्वागत समिति की विज्ञप्ति]

स्वागत समिति के सभी सदस्यों के—चाहे वे अबोहर के हों अथवा अन्य किसी भी मण्डी व शहर के, उनका अधिकार व ज़िम्मेवारी समान है। यदि स्वागत आदि के किसी भी काम में त्रुटि—कमी रहती है तो वह सभी की समझी जावेगी। अतः इस बात को ध्यान में रखकर ऊपर सभी स्थानों के सज्जनों को सम्मेलन की तैयारी के लिए पूरा-पूरा प्रयत्न व प्रबन्ध करना चाहिये जिससे किसी भी प्रकार से प्रबन्ध में कमी होने की सम्भावना न रहे।

कम से कम सात हजार रुपया चाहिये

सम्मेलन को सफल बनाने के लिये विविध ख़र्चों के लिये कम से कम ७ हज़ार रुपये की आवश्यकता है, जिसका ब्योरा अन्यत्र दिया जा चुका है। इस महंगाई के युग में इस महान् कार्य के लिये इससे कम में काम नहीं चल सकता है। इस रुपये की पूर्ति के लिये अबोहर के सज्जनों के डेपूटेशन (मण्डलिया) लोगों के पास पहुँचेंगे। इनका साथ उन नगरों व मण्डियों वालों को भी देना होगा, जिनके यहां ये पहुँचेंगे। प्रत्येक स्थान के योग्य जो भी बोझ डाला गया है, उसे उससे अधिक ही सहायता देनी चाहिए। धन-संग्रह तथा प्रचार आदि के सभी कार्य ३० नवम्बर तक समाप्त हो जाने चाहिएं। बाद में तो सभी कार्यकर्त्ताओं को यहां पर ही साधन-सामग्री तथा प्रबन्ध सम्बन्धी कामों में लगना उचित है। अतः समय को देखते हुए प्रत्येक स्थान व मण्डली को अपना-अपना काम शीघ्र ही निपटा देना उचित है।

स्वागत समिति के सदस्य बनिए

समय के अभाव से यहां के कार्यकर्त्ता अब स्वागत समिति के सदस्यों की संख्या बढ़ाने के लिये अधिक दूर नहीं जा सकते। ऐसी अवस्था में पञ्जाब व राजस्थान की सभी हिन्दी हितैषी संस्थाओं एवं सम्मान्य हिन्दी विद्वानों से निवेदन है कि वे स्वागत समिति के सदस्य बनने का शुल्क अपना तथा दूसरों का भी, यथा शीघ्र भेजें। स्वागत समिति का शुल्क उनके अधिकार और सम्मान्य के अनुसार ५), १०), २५), ५०), १००) है। विद्यार्थी, बहनें और हिन्दी जानकार कृषिकार का शुल्क २) है। प्रतिष्ठित दर्शक का शुल्क ऊपर लिखा है, और साधारण दर्शक का शुल्क १) है। प्रतिनिधि शुल्क सम्मेलन में जमा होगा तथा वहीं कार्यालय से प्रतिनिधि टिकट मिलेगा। अधिवेशन के अवसर पर सम्मेलन कार्यालय यहां ही होगा। पण्डाल में बिना टिकट के प्रवेश किसी का नहीं हो सकेगा।

सम्मेलन के अतिथियों से निवेदन

सम्मेलन का ३० वां अधिवेशन बड़े दिनों की छुट्टियों में हो रहा है। इसके सम्बन्ध में समाचार पत्रों द्वारा तथा डाक द्वारा भारत के कोने कोने में सभी लोगों को सूचनायें पहुँचा दी हैं। किन्तु स्वागत समिति अभी तक यह जानने में असमर्थ है कि किन किन

स्थानों से कितने कितने हिन्दी प्रेमी प्रतिनिधि एवं दर्शक के रूप में उपस्थित होंगे। अतः देश भर की हिन्दी जनता, समीप के प्रान्त एवं पञ्जाब की सभी संस्थाओं एवं सज्जनों से साग्रह निवेदन है कि वे अपने अपने आने की सूचनाएं एवं विशेष आवश्यकताओं के लिये लिखें ताकि उसी के अनुसार प्रबन्ध हो सके। नहीं तो फिर उनके कष्टों के वे ही ज़िम्मेवार होंगे।

साहित्य प्रदर्शिनी

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अवसर पर एक विशाल हिन्दी साहित्य प्रदर्शिनी भी करने का आयोजन किया गया है। इसके दो विभाग होंगे :—

प्राचीन साहित्य

इसमें हिन्दी के प्राचीन तथा हस्तलिखित ग्रन्थ, सिक्के, शिलालेख, ताम्रपत्र, दस्तावेज़, चित्रकला के नमूने, देवनागरी से सम्बन्ध रखने वाली प्राचीन भारतीय लिपियां आदि पुरातत्व तथा खोज सम्बन्धी साहित्यिक सामग्री; हिन्दी के प्राचीन लेखकों, कवियों, साहित्यकारों के स्मृति चिन्ह आदि सामग्री का प्रदर्शन होगा। जिन सज्जनों के पास उपरोक्त किसी भी प्रकार की सामग्री हो वह कृपया प्रदर्शिनी के लिये भेजकर उसे हिन्दी जगत के प्रकाश में लावें। उनकी वह सामग्री सुरक्षित रूप में प्रदर्शिनी के बाद वापिस लौटा दी जावेगी।

आधुनिक साहित्य

इसमें हिन्दी के आधुनिक साहित्य का प्रदर्शन होगा, जिसमें हिन्दी के विविध विषयों के प्रामाणिक ग्रन्थ, हिन्दी में प्रकाशित होने वाले सभी प्रकार के पत्र तथा पत्रिकाएं, हिन्दी में शीघ्र-लिपि, टाइप राइटर आदि के नमूने, देवनागरी लिपि के पूर्व प्रचलित तथा नये संशोधित टाइपों के नमूने, आधुनिक चित्रकला के नमूने—आदि। जिन सज्जनों ने उपरोक्त विषयों में कार्य किया हो, वे कृपया उसे प्रदर्शनार्थ भेजें। सभी पुस्तक-प्रकाशकों तथा पत्रकारों से भी निवेदन है कि वे अपनी उत्तमोत्तम पुस्तकें तथा विशेषांक आदि प्रदर्शिनी के लिये भेजने की कृपा करें।

इस अवसर पर कवि-समेलन तथा सम्पादक सम्मेलन भी होंगे।

जिसकी बरसों से चरचा थी वह पुस्तक छप रही है

हज़रत मुहम्मद और इसलाम

लेखक पण्डित सुन्दरलाल

संसार की विविध भाषाओं में इसलाम के प्रवर्त्तक हज़रत मोहम्मद पर सैकड़ों पुस्तकें अब तक प्रकाशित हो चुकी हैं। यह पुस्तक उन समस्त पुस्तकों का अध्ययन करके लिखी गई है। १५ वर्ष की लगातार खोज, निरन्तर छानबीन और मेहनत से यह पुस्तक तय्यार हुई है। पुस्तक के महत्व का इसी से पता चलता है कि दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास, हज़ारों की संख्या में इसका संक्षिप्त संस्करण बेच चुकी है। अकेले दक्षिण भारत में पुस्तक की इतनी अधिक माग हुई कि थोड़े ही अरसे में हज़रत मोहम्मद के संक्षिप्त सस्करण की पांच आवृत्तिया प्रकाशित करनी पड़ीं। सैकड़ों मित्रों के आग्रह से हम हिन्दी और उर्दू में यह वृहत संस्करण प्रकाशित कर रहे हैं। पुस्तक की भाषा इतनी सरल करदी गई है कि छोटे बालक भी आसानी से उसे समझ सकेंगे। पुस्तक में अरब के भूगोल और इतिहास, प्राचीन अरबों के सामाजिक जीवन, उनके धार्मिक विश्वास, उनकी पूजा के तरीके, मोहम्मद साहब की पैदाइश, इसलाम के जन्म और प्रचार, रोम और ईरान के साथ उसकी टक्कर, यहूदी ईसाई और ज़रथुस्त्री धर्म की उस समय की विशेषताओं आदि का अत्यन्त सरल और चित्ताकर्षक वर्णन है। पुस्तक पढ़कर डेढ़ हज़ार वर्ष पहले की निकट एशिया की सम्पूर्ण और स्पष्ट तसवीर आखों के सामने फिर जाती है। पुस्तक की एक एक घटना प्रामाणिक उल्लेखों के साथ दी गई है। चित्रों और नक़शों से पुस्तक की उपयोगिता बेहद बढ़ गई है। सिर्फ इस एक पुस्तक को पढ़ लेने से इसलाम के सम्बन्ध में फिर आपको कोई दूसरी पुस्तक पढ़ने की ज़रूरत न पड़ेगी। पुस्तक इतने आकर्षक ढङ्ग से लिखी गई है कि प्राचीन घटनाएं मानों क़ब्र से निकल कर बोलने लगती हैं। लगभग २५० पृष्ठों की एण्टीक कागज़ में सुन्दर छपी हुई इस ऐतिहासिक और महत्व पूर्ण सजिल्द और सचित्र पुस्तक का मूल्य होगा केवल डेढ़ रुपया। विश्ववाणी के स्थायी ग्राहकों को यह पुस्तक सिर्फ पौने मूल्य में मिलेगी। पहली नवम्बर, सन् १९४१ को पुस्तक प्रकाशित हो जायगी। पाठकों से निवेदन है वे अभी से अपनी अपनी प्रति रिज़र्व करा लें वरना पीछे दूसरे संस्करण की परीक्षा करनी पड़ेगी।

मैनेजर, विश्ववाणी बुक-डिपो

साउथ मलाका, इलाहाबाद

VISHWA-VANI Registered No A.—704.

विश्ववाणी की महान योजना

आगामी जनवरी अङ्क विश्व और भारतीय संस्कृति का विशेषाङ्क

हमारा दावा है किसी भारतीय पत्रिका ने इतना सुन्दर विशेषाङ्क अब तक नहीं निकाला

यह विशेषाङ्क छै महीने के परिश्रम का परिणाम होगा

विशेषाङ्क के कुछ लेखक

एच० जी० वेल्स
जार्ज बर्नर्ड शा
रोमां रोलां
प्रो० आइन्सटाइन
मेडम चियाङ्ग काइ शेक
कु० जोरा नील हर्स्टन
जान अर्सकिन
डाक्टर लिपमैन
अलबर्ट वाइटन
डाक्टर पाल ब्रण्टन
सर एडवर्ड बेन्थल
एलबर्ट म्यूराई

श्रीमती सरोजिनी नायडू
सर एस० राधाकृष्णन
सर सी० वी० रमन
सर शिव स्वामी अय्यर
सर जदुनाथ सरकार
सर शफ़ात अहमद खा
सर सीताराम पाटकर
सर टी० विजयराघवाचार्य
सर तेजबहादुर सप्रू
सर अब्दुल क़ादिर
सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास
सर मिरज़ा इस्माइल

आचार्य क्षितिमोहन सेन
श्री राजगोपालाचारी
पण्डित सुन्दरलाल
भदन्त आनन्द कौशल्यायन
आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी
श्री जैनेन्द्र कुमार
श्री सुमित्रानन्दन पन्त
डाक्टर भूपेन्द्रनाथ दत्त
डाक्टर ताराचन्द
श्री धर्मानन्द कौशाम्बी
डाक्टर डी० आर० भण्डारकर
महापण्डित राहुल सांकृत्यायन

लेखों के अतिरिक्त दजनों कविताए, कहानिया, एकांकी नाटक आदि होंगे।

- इस महान और वृहत विशेषाङ्क की क़ीमत होगी केवल दो रुपया।
- किन्तु स्थायी ग्राहकों को यह अङ्क मुफ़्त मे मिलेगा।
- ३० नवम्बर तक विशेषाङ्क की प्रति रिज़र्व करा लीजिये।

जिन ग्राहकों का चन्दा दिसम्बर में समाप्त होता है वे भी १५ दिसम्बर तक छै रुपया मनीआर्डर से भेज दें।

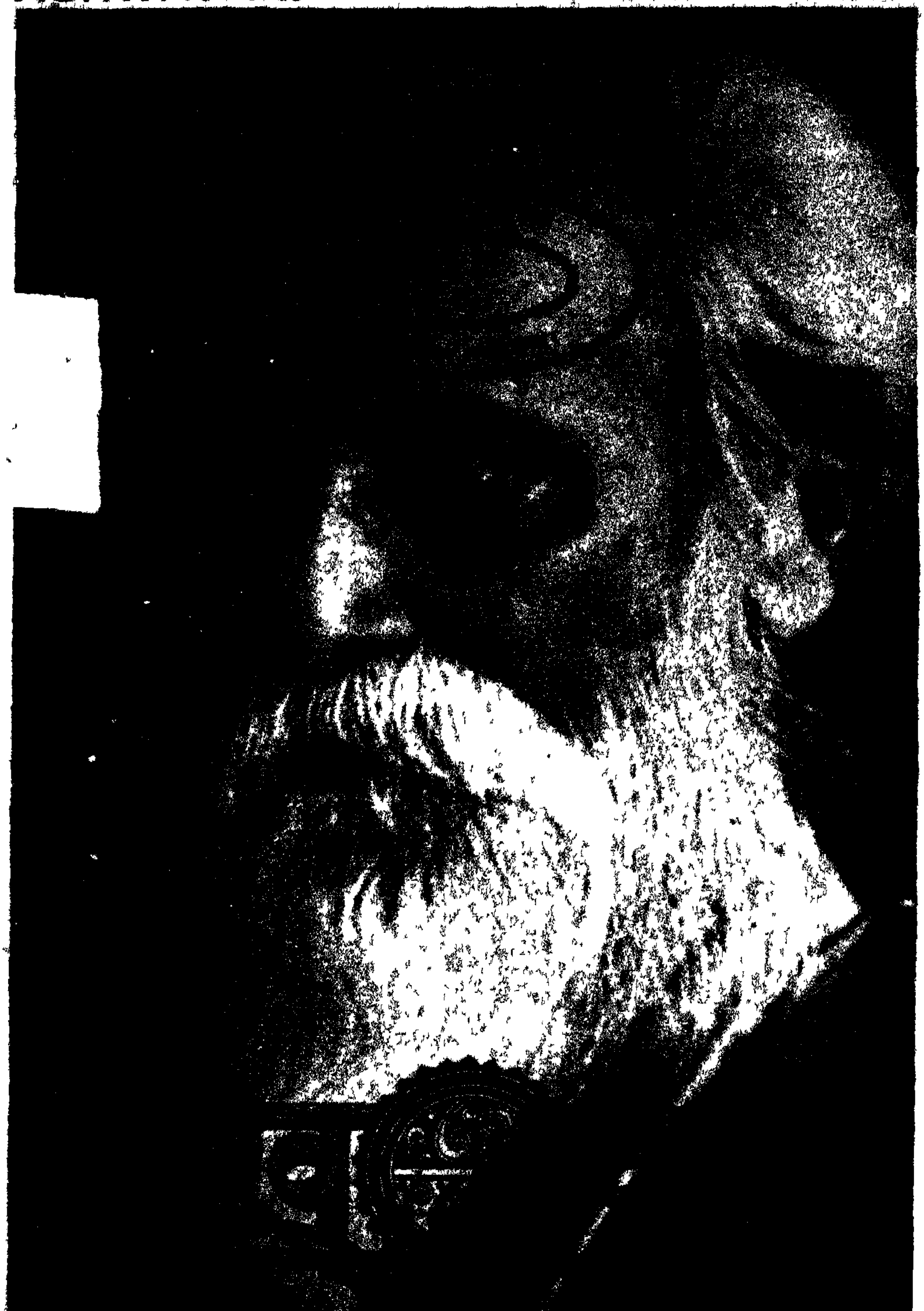
विशेषाङ्क की कापी रिजर्व न कराने पर निराश होना पड़ेगा

वार्षिक मूल्य ६)
विशेषाङ्क का २)

मैनेजर, विश्ववाणी,
इलाहाबाद

सम्पादक, मुद्रक और प्रकाशक—विश्वम्भरनाथ, विश्ववाणी प्रेस, साउथ मलाका, इलाहाबाद।

VISHWAVANI TAGORE NUMBER



संरक्षक, पंडित सुन्दरलाल   मूल्य, दस आना   सम्पादक, विश्वम्भरनाथ

विषय-सूची

दिसम्बर १९४१



चित्रकार - रवीन्द्रनाथ ठाकुर

गुरुदेव की पुण्य-स्मृति में

विश्ववाणी

[illegible]

संरक्षक
पण्डित सुन्दरलाल

सम्पादक
विश्वम्भरनाथ

[illegible] सितम्बर, १९४१ अङ्क ३, पूर्ण अङ्क १२

आपका चंदा इस सितम्बर महीने में समाप्त हो गया

"मृत्यु, प्यारी मृत्यु, मन की मीत, आजा पास मेरे।
बोल कानों में कि प्राणों में छिपालूं बोल तेरे॥"[1]

* * *

आज लहरों में अमर नाविक ! नया आह्वान पाया ?
कौन-सा उस पार से सन्देश नूतन गान लाया ?
आज के झंझा-झकोरों ने नया क्या कह सुनाया ?
कौन अनुकम्पा जगाते नीरदों ने जल बहाया ?

'खोलदो नाविक तरी', तूफान ने आ गुनगुनाया।
चल पड़े तुम छोड़ यह थल, तोड़ ममता-मोह-माया॥
खेलती हिल्लोल से, झड़ झेलती जब चल थकेगी।
कौन वह गङ्गा कि जिसके तीर यह तरणी रुकेगी ?

* * *

"मृत्यु, प्यारी मृत्यु, मन की मीत, आजा पास मेरे !
बोल कानों में कि प्राणों में छिपालूं बोल तेरे !"
अमर गायक ! अथक साधक ! बोल सच्चे थे तुम्हारे।
किन्तु यह भी तो कहो, अब हम जिएँ किसके सहारे ?

---

१ Death, my death, come and whisper to me ! [Gitanjali]

यहां परिचय में दरस के चिन्ह दृग पर सदा पड़ते।
क्या न तेरे प्राण पर कवि! परस के थे अङ्क गड़ते?
इसलिए जीवन सदा से श्रेष्ठता में था अकेला।
किन्तु काव्य-अधित्यका थी, सृष्टि का सम्पूर्ण मेला॥

हां, मनुज अब भी बहुत है, है किसे अपना न भाना?
किन्तु बिरला ही मनुज देवत्व का वरदान पाना॥
सत्य यह, देवत्व हमसे नित्य बुनता एक दूरी।
श्रेष्ठ मानव की कहानी आजतक सुनता अधूरी॥

विजन का दशन सहन कर, चेतना-मन्दिर दहन कर।
वासना मन की हननकर, मृत्यु की जड़ता वहन कर॥
बांध कर वैराग्य निर्जन में किसी ने योग साधा।
मुक्ति-पथ में बनगए आ बन्धु-बान्धव स्वयं बाधा॥

जर्जरित हो धर्मनिष्ठा, खोजने कर्मराय सृष्टा।
कर तिरस्कृत कर्मनिष्ठा, थी चली सकीर्ण दृष्टा॥
ले धरा की धूलि, मन्दिर, मूर्ति कर निर्माण भव-कवि!
दिव्य काव्योच्छ्वास से जड़ में अजर भर प्राण भव-कवि!

दृश्य-गन्ध-स्पर्श-प्रिय, तुम! दूर भव से दृष्टि के थे।*
थे गगन पर किन्तु अवनी पर झुके घन वृष्टि के थे॥
रामकृष्ण महान हैं है मान ईसा, बुद्ध का क्यों?
क्यों पलायन हेय है, है श्रेय फिर भी युद्ध का क्यों?

क्योंकि सेनानी वही जो मुक्ति को अपनी न देखे।
जय-पराजय-लेख को चतुरंगणी के साथ लेखे॥
किन्तु यह जीवन लिए चेतन जिसे कर रहा यात्रा।
गीत-सा है बद्ध छन्दों में, लिखी हैं गिनी मात्रा॥

सोचता, जब देखता था कभी तरु के पात पीले।
प्रति दिवस, प्रति निमिष होते जा रहे भव-बन्ध ढीले॥
फिर अचानक वज्र टूटा, विश्व-कवि जग में नहीं है।
तिमिर में मानव पुकारा भटक, रवि नग में नहीं है॥

झूट! कवि है आज भी हर बोल से उल्लास झरता।
झूठ! रवि है आज भी कर से अमर आलोक भरता॥
खेलती मुख पर सजल मुसकान की चिर स्निग्ध छाया।
हो रही उसमें तिरोहित मृत्यु की भी तिमिर-काया॥

---

* "वैराग्य साधने मुक्ति से आमारनय"
"Deliverance is not for me in renunciation" [Gitanjali]

गा रहा वह गीत गुनगुन छन्द नव निर्माण करता।
प्रकृति की कृति में नया रस, मधु नया मकरन्द भरता॥
मृत्यु? कवि भी मर सका है? है अमर व्यक्तित्व उसका।
काव्य हो जीवित, निहित उसमे सदा अस्तित्व उसका॥

एक पंक्ति पढ़ो, नया जीवन, नया सन्देश ले लो।
अमृतपुत्र! उठो, यहां आलोक है, मिल साथ खेलो॥
हो गया बस दूर हमसे दिव्यधाम बुला रहा था।
सो गया, उस पार का सङ्गीत उसे झुला रहा था॥

कल्पना के पङ्ख है, लेलो, उड़ो, आकाश पहुंचो।
स्वर्ग, कवि, सुरगण, यहां खिलता सदा मधुमास पहुंचो॥
रुक गए क्यो? बढ चलो, अपना यहां कवि है, न भय है।
गीत कवि का नूपुरो में हो रहा सङ्गीतमय है।

बह रही है नूपुरो मे अमृत वह झङ्कार सुन्दर।
गा रही है उर्वशी, कवि दे रहा है गीत रचकर॥
चमक 'विद्युत - चञ्चला!' कुछ तमक 'आकुल अञ्चला' वह।[1]
बिसुध प्राण दिगन्त मे जब खोल देती मेखला वह॥

लहरती कच-जाल से स्वर चूम गन्ध सुकेशिनी की।
गमक उर मे गुंजती झङ्कार झूम सुवेशिनी की॥
चित्त खोकर, मुग्ध होकर, लुब्ध जब स्वप्नस्थ सुरगण।
हृदय पर की माल देते डाल उस पर भूल जिस क्षण॥
लचकती तब लक, भ्रू कर बंक रवि को देख लेती।
और हस कर हार कवि के वक्ष पर वह फेंक देती॥

* * *

किन्तु यह सब काव्य है, कवि-कल्पना, विश्वास केवल।
क्रूर कटुता यह कि तुमको काल हमसे ले गया छल॥
काव्य, दर्शन, वेद या विज्ञान हम सब छानते है।
बुद्धि-गोचर ज्ञान की सङ्कीर्णता भी जानते है॥

---

१ "नूपुर गुंजरि याओ आकुल-अंचला विद्युत-चंचला"
"दिगन्ते मेखला तव टुटे आचम्बिते......" [उर्वशी]

हाय री, अपनी विवशता ! सत्य वह हम मानते हैं ।
कान से सुनते जिसे या आँख से पहिचानते हैं ॥
उतर आती जब नयन पर तरल मन की विरल प्रतिमा ।
प्राण पर वह झूल जाती, भल जाती ज्ञान - गरिमा ॥

चाहते. साकार सम्मुख हो रहे आराध्य अपना ।
आदि आकर्षण हमारा आज भी है मूर्त सपना ।
विश्व से हम मन चुके, तुम अभी भव से चल चुके हो ॥
और हिन्दू हो चिता पर भस्म होकर जल चुके हो ॥

क्या कहा ? हिन्दू ? बदल करवट जगी लो पुनः आशा ।
पुनर्जन्म चला दिलाने दुखी दिल को फिर दिलासा ॥
वाह रे पर पुण्य ! तू तो पाप बनकर आ गया फिर ।
हिन्दुओ की मुक्ति मे अभिशाप बनकर आ गया फिर ॥

मौन ! चुप ! हाँ, शान्त हूँ मैं, शान्त पहिले भी रहा था ।
कालिदास गए, न थे भवभूति, हमने क्या कहा था ?
वाल्मीकि उठे, मिटे होमर, हमारा क्या रहा था ?
सूर, तुलसी आदि का भी दुःख हमने ही सहा था ?

आज भी हम शान्त है पर हो रहे हैं गान गीले ।
सृष्टि लौटेगी, नहीं अब लौटने के तुम हठीले !
विश्ववन्द्य रवीन्द्र ! स्वर में विश्व के आराधना है ॥
सृष्टि के समवेत कण्ठो मे तुम्हारी साधना है ॥
एक बार उगो पुनः पथ पर हमारे साथ आओ ।
ज्योति पुञ्जीभूत कर फिर ज्ञान के दीपक जलाओ ॥

* * *

प्रकृति अपनी नियत गति से चल रही है आज भी कवि !
रात में शशि मुसकराता, प्रात आजाता लिए रवि ॥
वही अम्बर अगम, तारक-निगम, सूने दिग्दिगन्तर ।
मुखर सागर, गिरि-शिखर, निर्झर अजस्र, अनन्त झर्झर ॥

अनिल मन्थर वही, कलि-मधुकर, लता-तरु-पत्र-मर्मर ।
घहरते जलधर, तिमिर के स्तर, प्रखर आलोक के कर ॥
आज भी संसृति-सरित में एक ज्वार-उभार है कवि !
आज भी जीवन-लहर में एक नई पुकार है कवि !

आज भी उस पार बशी-ध्वनि, तिमिर, मझधार है कवि !
हो रही जब वृष्टि कोई जा रहा उस पार है कवि !
पारखी जब इन प्रतीकों का नही है पास अपने !
फिर हमे क्या सत्य सुन्दर या कि मनहर छाह-सपने ?

हे प्रकृति के लाडले, सधानकर्ता सृष्टि के कवि !
आदि आर्यावर्त की सञ्चित तपस्या के प्रखर रवि !
प्राण मे वह गीत तेरा गूंजता— 'जब रात मे चल'
बूझ दो ना ? बूझ दो, था पूछता रो एक 'पागल' ॥[1]

"पुत्र हूँ आलोक का, उल्लास मे ही था बसेरा।
आह, मुझसे सह छिपाकर कर दिया क्यो यह अँधेरा ॥"
मर रहा यह खेद लेकर, बूझ दो, कुछ बोल दो ना।
अर्थ नभ मे अस्त रवि-लिपि-लेख का कुछ खोल दो ना !
विदित तेरी प्राण-वंशी की मुझे थी विविध ताने।
आज लेकर मरण-वीणा साध लूंगा सुर अजाने ॥"

* * *

कह रहा मन, तीर्थ-यात्री हूँ, न क्यो मैं निकल जाऊं ?
पहुँच वृन्दाधाम अपने, निमिष भर विश्राम पाऊं ॥
शान्ति के पर उस निकेतन में भला क्या शान्ति होगी ?
विधुर ! अब की बार तेरी दूसरी यह भ्रान्ति होगी ?

१ आँधार राते एकला पागल याय केंदे ।
बले शुधु, बुझिये दे, बुझिये दे ॥
आमि ये तोर आलोक छेले,
आमार सामने दिलि आँधार मेले;
मुख लुकालि, मरि आमि सेई खेदे,
बुझिये दे, बुझिये दे, बुझिये दे ॥
अन्धकारे अस्त-रविर लिपि लेखा,
आमारे ता'र अर्थ शेखा ।
तोर प्राणेर बाँशीर तान से नाना,
सेई आमारई छिल जाना,
आज मरण वीणार आजाना सुर नेबो सेधे;
बुझिये दे, बुझिये दे, बुझिये दे ॥

'पागल'

कवि कहीं होगा टहलता, इधर आता, उधर जाता।
कभी चिन्तनशील अथवा छन्द रचता, गुनगुनाता॥
दीन मन! पर दूसरे क्षण सुखद स्वप्न विलीन होगा।
श्री-निकेतन भी पहुँच श्री-हीन तू कवि-हीन होगा॥

*

वेदना की यन्त्रणा-वीणा रही कब सदा झंकृत?
मरण-चित्रण मर्म में क्या अमिट होकर रहा अंकित?
काल-कृति भी समय के चलपख नित्य उड़ा रहे हैं।
यदि छुड़ाते आयु हमसे, प्राण सदा जुड़ा रहे हैं॥

धन्य तू विस्मृति! न मानव का तुझे क्यों मीत जानूँ?
स्मृति पराजय जब बना अपनी न तुझको जीत मानूँ?
काल बीतेगा, व्यथा का कलश रीतेगा कभी तो।
विसुधि सुधि से, शोक से उल्लास जीतेगा कभी तो॥

और जब उद्वेग, शोकोच्छ्वास, हाहाकार की रज।
अश्रु में घुल-घुल खिलेगी बन कभी उल्लास-पङ्कज॥
ज्योति-गन्ध-स्पर्श कर जीवन नया उन्मेष होगा।
विश्वविद् कवि का अमरता का नया सन्देश होगा॥

"देव! लीला यह तुम्हारी काचघट यह रिक्त कर-कर।
चिरन्तनता मुझे देते नया जीवन सदा भर-भर॥
बांस की ले बांसुरी यह, पार पर्वत-तलहटी कर।
छोड़ दी हैं चिर नवीना रागिनी कितनी निरन्तर॥"[१]

'ताज महल'[२] समान कवि के गान कहते हैं विहँस कर।
वेध विस्मृति की तिमिर-प्राचीर हम बढ़ते निरन्तर॥
युगयुगान्तर-मीत, जड़ता जात कर हिम-शीत लय की।
अमर हम सौन्दर्य-दूत लिए पताका कवि-विजय की॥

* * *

---

१ Thou hast made me endless such is thy pleasure This frail vessel thou emptiest again and again and fillest it ever with fresh life.

This little flute of a reed thou hast carried over hills and dales and hast breathed through it melodies eternally new.—[Gitanjali]

२ 'ताज महल'—कवि की रचना

सजल सपनों का चितेरा मेघ से उतरा धरा पर।
कण्टकित धरणी हृदय में श्याम पाहुन को समाकर ॥
गा रहा यह कौन, किसने वज्रसुर मल्लार साधा ?
छलकती आत्मीयता से किसे मंगल - सूत्र बाँधा ?

श्रावणी गुरु पूर्णिमा को तोड़ता जब स्वयं नाता।
कवि ! युगों का गीत तेरा मुझे रह-रह याद आता ॥
"अरी सन्ध्ये ! अभी तक जो कुछ रहा था साथ मेरे।[1]
रह नहीं अञ्चल तले में ढक चला है आज तेरे ॥

और अपने हाथ की राखी इसी श्रावण पहर में।
हे तिमिर - सङ्गी ! चुका मैं बाँध तेरे करुण कर में ॥
रह गई फिर भी न कितने प्रात की आशा अधूरी।
गीत कितनी यामिनी की आज भी हो सकी पूरी ?
रह गई इस बिदा - बेला में न सुधि कितने सुखों की ?
आज भी अवशिष्ट ही है प्रीति कितने ही दुखों की ?"

* * *

महायात्रा पर महाकवि सभी से दो अश्रु लेते।
राष्ट्र - सेनानी सदा से पर उन्हें पाथेय देते ॥
स्वार्थ - लिप्सा में फँसा कङ्काल जब कङ्काल केवल।
हँस रहा है यहाँ आत्मा पर बना ऐश्वर्य का पल ॥
बोल दो गुरुदेव ! तुमने आज क्या पायी बिदाई ?
किन्तु किसके काव्य में सोयी हुई सुधि फिर जगाई ?
"कर सका जो कुछ अभी तक, रह गया जो कुछ अधूरा।
वर्णों का पट पड़ेगा, होगा अधूरा सभी पूरा ॥"

सत्य पर इतना कि जो कुछ जब गया, कब आ सका है ?
भाग्य की सोयी हुई श्री काल भी क्या ला सका है ?
विश्व कहकर गुरु जिसे तूने सदा से पूज्य माना।
वह नहीं जीवित रहा जब, बन सकेगा यों अजाना ?

---

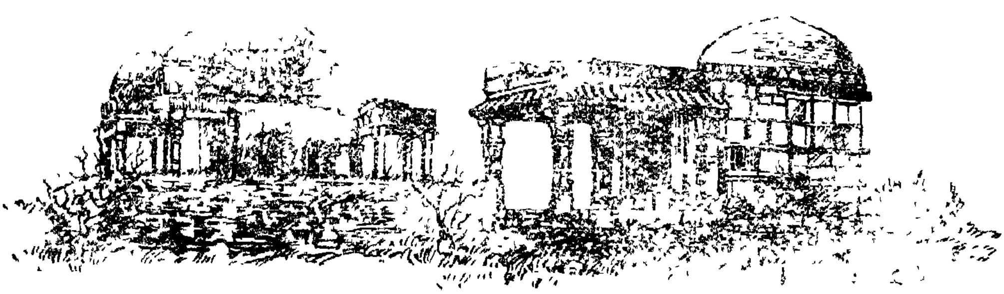
१ हे मोर संध्या, याहा किछु छिल साथे
राखिनु तोमार अञ्चल तले ढाकि'।
आँधारे साथी, तोमार करुण हाते
बाँधिया दिलाम आमार हातेर राखि।
कत प्रभातेर आशा ओ रातेर गीति,
कत ये सुखेर स्मृति ओ दुखेर प्रीति,
विदाय बेलाय आजिओ रहिल बाकि।

सफलता उद्देश्य को या कार्य की ही पूर्ति उसकी।
राष्ट्र-देशों में सँवारेगी मिटी जो मूर्ति उसकी॥
वर्ष-रथ पर महाप्राणों की न होती जन्म-यात्रा।
लक्ष्य-पथ स्वच्छन्द, जीवन-छन्द की हो बँधी मात्रा॥

अथक स्रष्टा का सृजन-क्षण माप दण्ड सदा रहा है।
ले अमिट आलोक जीवन का सतत निर्झर बहा है॥
जो सकेगा कवि युगों तक राष्ट्र उसे जिला सकेंगे।
यदि परस्पर प्रेम का पीयूष मनुज पिला सकेंगे॥

थी यही इच्छा कि नूतन में पुरातन को दिखादूं।
थी यही इच्छा कि जीना और मैं मरना सिखादूं॥
प्रेम के आलोक में हम सृष्टि का प्रति पृष्ठ पढ़ले।
मनुजता-सुरचाप के जन-मन-गगन पर रङ्ग चढ़ले॥

देव-गृह हो दिव्य चेतन का निकेतन मानवी तन।
बुने श्रद्धा, सात्विकता सृष्टि का जीवन चिरन्तन॥
स्वेद-चर्चित, श्रम-थकित कर्मण्य क्षण हो भजन-पूजन।
साधना स्वातन्त्र्य की हो मनुजता हो किन्तु साधन॥



मैं रोया और मैं हँसा

आचार्य गुरुदयाल मल्लिक



आचार्य गुरुदयाल मलिक

७ अगस्त १९४१ को मेरे गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टाकुर जब इस जगत् से चले गए तो सारी दुनिया रोई और मैं भी रोया। रोना भी तो एक पूजा की पद्धति है क्योंकि जिस तरह से भी मनुष्य अपने भावों को प्रकाशित करता है, उसको मेरी राय मे पूजा का नाम देना कुछ ज़्यादती न होगी। अगर मैं अपनी कुटिया में बैठकर इसलिए रोया कि ये मेरी आखें उनकी सुन्दर मूर्ति को फिर नहीं देख सकेंगी, और न ही मेरे हाथ उनके कमल जैसे चरणों को छू सकेंगे, तो इसमे मैंने अपने प्रेम का अर्घ्य उनके सामने रख दिया।

लेकिन कई और कारण थे, जिनके लिए मैं रोया। जब उनका श्वास बन्द हो गया तो उनकी मृत देह को अर्थी पर फूलो और चंदन से सजाया जा रहा था। उस वक्त उनके मकान के बाहर जो लोग, जिनकी सख्या हजारों की होगी, खड़े हुए थे, उनमें से एक दल उस कमरे में, जहां यह अर्थी रखी हुई थी, ज़ोर करके घुस गया, और गुरुदेव के निकट रिश्तेदारों और मित्रों के हाथ से वह अर्थी लेकर बाहर आ गया। जिस तरह से उन्होंने इस मृत शरीर को, जो कुछ ही मिनट पहले तक सजीव था, एक के हाथ से दूसरे के हाथ मे फेंका तो हम में से कइयों का दिल बड़ा दुखी हुआ। "शरीर से और ख़ास कर वृद्ध शरीर से क्या मोह लगाना जी!"—ऐसे शब्द हमारे कानों मे पड़े! लेकिन मनुष्य जब किसी को प्रेम करता है, तो वह प्रेम सर्वाङ्ग होता है। इसलिए शरीर का भी प्रेमी जन आदर करते हैं। दूसरी बात, जब अर्थी को रास्ते पर ले जाया जा रहा था, तो एक दो दफा सैकड़ों लोगों ने ज़ोर से तालियां दीं। इससे भी हमे दुख हुआ, क्योंकि तालियां देना तो कोई शोक प्रकाश करने की पद्धति नहीं है। जब कहा गया कि ऐसा नहीं होना चाहिये, तो किसी ने कहा यह तालियां तो हम इसलिए पीट रहे हैं कि हम बताना चाहते हैं कि कवि रवीन्द्रनाथ जैसे महान् व्यक्ति को मौत कभी जय नहीं कर सकती। लेकिन मेरी तसल्ली तो इस दार्शनिक दलील से न हुई, मेरा दुख तो और भी अधिक हो गया।

मैंने देखा कि अर्थी को लेकर खींचतान करने वाले और तालियां पीटने वाले जो थे, उनमें एक बड़ी तादाद कॉलेजों के विद्यार्थियों की मालूम होती थी। अगर वे सचमुच अपने दिलों मे ऐसा विश्वास रख सकते कि शरीर से प्रेम करना तो मोह या माया है, और कवि रवीन्द्रनाथ जैसे अध्यात्मिक जीवन का एक ऊंचे दर्जे का पुजारी मृत्यु को वश में कर सकता

है, तो मेरे ख़याल मे इन दोनों सत्यों का प्रमाण उनको अपने शान्तिमय वातावरण से देना चाहिए था। शान्तिनिकेतन की आत्मा तो शान्ति को पसन्द करती थी या संगीत को। इसलिए अगर शान्तिमय वातावरण मे नहीं, तो गुरुदेव के गीतो मे ही अर्थी का आदर करते।

एक मिनट के लिए अगर हम ख़याल करें कि यदि गुरुदेव की मृत्यु विदेश में—इङ्गलैण्ड या अमरीका में होती, तो वहा के लोग किस गम्भीर शान्ति से अर्थी को स्मशान तक पहुंचा देते। ऐसा मालूम होता है कि हमारे चरित्र में संयम या छन्द की कमी है। क्या इस कमी को पूरा करना हमारे स्कूल और कॉलेजों के शिक्षकों का धर्म नहीं है!

अगर कोई कहे कि ७ अगस्त को कलकत्ते के लोग शोकमय प्रेम से पागल हो गए, तो भी समाज या सामाजिक सस्थाओं को उचित था कि लोगों को संयमित रूप मे संगठित करके स्मशान की तरफ ले जाते। लेकिन उनकी भी कौन सुनता, जब हमारे लोगों में अपने नेताओं या समाज-सेवकों के इशारों या आदेशों को समझने या उन पर अमल करने की आदत पहले से ही न पड़ी हो।

स्मशान में पहुँचने के बाद जब गुरुदेव की मृत देह चिता पर रख दी गई, तो किस असावधानी से लोगों ने बार बार चिता तोड डाली, यह दृश्य देखकर भी कइयों को दुख हुआ। लेकिन दुख का आसू कमल के रूप में बदल गया, जब मैंने देखा कि चिता के आस पास जो लोग खड़े हुए थे, उनकी दौड़ धूप के कारण उनके पावों से जो कीचड़ उछली (क्योंकि उस वक्त बहुत बारिश हुई थी) उसका थोड़ा अंश गुरुदेव के माथे पर पड़ा। वह दूर से एक तिलक की तरह मालूम होता था। फिर मुझे यकायक याद आया कि एक दफ़ा गुरुदेव ने दो-एक मित्रों से कहा था कि श्वास बंद होने के बाद जब उनकी मृत देह को अग्निमाता की गोद में दिया जाय, तो पहले उनके माथे पर मिट्टी का तिलक ज़रूर किया जाय। उनकी वह इच्छा पृथ्वी माता ने पूरी की और अपने हाथ से उनको तिलक दिया।

गुरुदेव इस धरती को बहुत प्यार करते थे, इसीलिए तो उनकी कविताओं और गीतो मे उसके वैचित्र्यपूर्ण सौंदर्य का बारंबार वर्णन पाया जाता है। उनके माथे पर अगर पृथ्वी माता ने तिलक दिया, तो यह बिल्कुल उपयुक्त ही था। वह तिलक था गुरुदेव के प्रकृति को प्रेम से जय करने का, और इसमें भारतवर्ष की संस्कृति का मूल तत्त्व पाया जाता है। उनके शरीर को जब धरती माता ने वापस अपनी गोद में ले लिया, तो अपने ऐसे प्रेमी पुत्र को तिलक देते समय उसने शायद ऐसा भी कहा हो, "पुत्र! दिग्विजय करके वापस आ गये? तुम बहुत थक गए होगे, इसलिए चलो बेटा, कुछ देर के लिए विश्राम कर लो।"

ऐसा विचार जब मुझे आया तो मैं हंसा। क्यों कि मैंने समझ लिया कि मृत्यु तो स्नेहमयी माता के समान है और स्नेहमयी माता से भी क्या कभी कोई डरता है? इस तरह मैं रोया और मैं हंसा। यही तो जीवन की लीला है। मुझे याद पड़ता है, इस वक्त प्रभु के प्रेम मे मस्त बंगाल के एक फकीर का वह गीत, जो मैने तक़रीबन २० वर्ष पहले शान्तिनिकेतन के नजदीक एक रास्ते पर सुना था। मूल गीत तो बंगला में था, जो मुझे पूरी तरह से याद नहीं, लेकिन उसका भाव यह है :—

"मेरे प्रियतम! आज मैं तुम से एक प्रश्न पूछूं? उसका उत्तर दोगे न? मैं सारा जीवन तेरी तलाश में रोता रहा। मैंने हज़ारों मोतियों जैसे बड़े और चमकते आंसू बहाये हैं। वे सब मोती कहां गए? तूने ही चोरी किए होंगे—तूने मेरा दिल भी चुराया और मेरे दिल का धन भी। मैं अब तुझ से न दिल मांगता हूं, न अपने दिल का धन। मैं सिर्फ़ जानना चाहता हूं कि तू मुझे बतादे वे मेरे आसू कहां गए?"

प्रियतम ने जवाब दिया—'आ, तुझको बताऊं तेरे आंसुओं को लेकर मैंने क्या किया। लेकिन तुझे

मेरे बग़ीचे में आना होगा। मेरे बग़ीचे में जो इतने सुन्दर खिले हुए कमल तू देखता है, उन सबका बीज तेरे ही आंसू तो हैं।"

धन्य है यह जीवन का रोना और धन्य है जीवन का हंसना!

(२)

आधुनिक युग का एक पैग़म्बर

अपने चकाचौंध कर देने वाले वैभव और प्राचुर्य को लेकर भी वर्तमान समाज आज सुखी नहीं है—यह बात सभी स्वीकार करते हैं। नए सिरे से इसकी सत्यता प्रमाणित करने की ज़रूरत नहीं। हो सकता है, हमारे आर्थिक अथवा जातिगत सम्बन्धों का आधार अन्याय मूलक होने से ही हम आज दुःखी हैं। किन्तु इसका सच्चा निदान आज से वर्षों पहले हमारे युग के सबसे महान् सन्देशवाहक—रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इन शब्दों में हमारे सामने प्रस्तुत किया था :—

"आधुनिक समाज में अविच्छिन्न समग्रता का आदर्श आज निर्बल हो गया है इसीलिए उसके विभिन्न अंग आज खण्ड-खण्ड होकर अपने मूल रूप को अपनी शक्तिमूलक प्रकृति को—ही प्रकाशित कर रहे हैं। श्रम एक शक्ति है, पूंजी भी शक्ति है, राजा-प्रजा, पुरुष-नारी सभी ऐसी ही शक्तियां हैं।"

समाज अंकगणित के जोड़ बाक़ी वाले नियम पर तो खड़ा नहीं है, उस नियम के अनुसार उसका आकार छोटा बड़ा नहीं होता। वह केवल नाना व्यक्तियों का अर्थहीन, प्राणहीन समूह मात्र नहीं है, वह तो प्राणों के आभ्यन्तरिक विकास का परिचय है। जीवन और प्राण प्रकाशित होकर समाज का संगठन करते हैं। इसी कारण समाज की आत्मा पर एक 'सीमाहीन व्यक्तित्व' (Infinite Person) की छाप होनी ही चाहिए। तभी उसकी प्रकृति में एक संघर्षहीन, विरोधशून्य भाव आ सकेगा। इस छाप के द्वारा समाज अपनी नुकीली तीक्ष्णताओं और विरूपताओं का परिहार करके अपने रूप को गोल और सुंदर कर पाता है। उसकी आकांक्षाएं और प्रचेष्टाएं इसी तरह एक हो पाती हैं। आज मानव और मानवी को प्रेम और मैत्री द्वारा जीवन प्राणी न समझ कर जो राजनैतिक शतरंज के तख़्ते पर निर्जीव मोहरे के रूप में देखा जा रहा है, उसका कारण विज्ञान की एक प्रमुख मान्यता है। विज्ञान ने घोषित किया है कि मानव समाज का ध्येय और उसका भाग्य एक निर्मम नैर्व्यक्तिक शक्ति के हाथों बन रहा है जिसके अकरुण अधपाश से किसी को निष्कृति नहीं मिल सकती।

ऐसी दशा में समाज को अस्त व्यस्त और विभ्रम विमूढ़ देखकर आश्चर्य नहीं करना चाहिए। जब तक हम अपने भाइयों के भीतर की मानवीयता को आदर देना नहीं सीखते, तब तक मानो आदिकाल के पुराने और अन्धकारमय जङ्गल में ठीक बर्बरों के ही समान रह रहे हैं। 'सर्वसक्षम को ही जीवित रहने का अधिकार है'—यह रक्त पिपासु फिलासफी हमें प्रेरित करती रहेगी। इसी कारण यद्यपि विज्ञान ने आकाश पाताल को एक कर दिया है, असीम को भी माप लिया है, सुदूर स्थित देश विदेशों को हमारे बाज़ू में रहने वाला पड़ोसी साबित कर दिया है, फिर भी "मनुष्य के इस मिलन को भगवान का आशीर्वाद नहीं मिला।"

आज के यूरोप की ओर ही देखिए—मुर्गों की लड़ाई के मैदान जैसा दीख रहा है यूरोप! एक ओर शक्ति-सत्ता के मद में मस्त राजनीतिकों की दल बन्दियां हैं, दूसरी ओर शान्तिकामी मनुष्यों की टुकड़ियां हैं। सबसे दयनीय बात यह है कि इन दोनों में से किसी के भी पास "वह तीसरी आंख नहीं है जिसके द्वारा वे उन महाशक्तिशाली, अदृश्य हाथों को देख पाते जो चुपचाप आकर अनाथों और हत

भागों के करुण हाथों को थाम लेते हैं और उपयुक्त समय की धैर्य पूर्वक प्रतीक्षा करते हैं।"

क्या आज वक्त नहीं आ गया है कि हमारे राजनैतिक नेतागण और समाज-परिचालक अन्त मे इस सत्य का अनुभव करें कि रचनात्मक शान्ति सृजनात्मक सुव्यवस्था का आधार ज्ञानपूर्वक मनुष्य के अन्तर में जाग्रत रहने वाली आध्यात्मिक सत्ता और अखण्ड एकता पर ही खड़ा हो सकता है? 'अहकार' तथा 'अपहरण'—इन यमज भाइयों के हृदय में जो ज्वालामुखी सुलग रही है—उसकी ओर क्या अब भी उनकी दृष्टि नहीं जायगी? यदि वे इस बात को नही समझते, तो उन्हें और भी बड़ी खूनी लड़ाइयों के लिए—यहा तक कि आधुनिक सभ्यता के ध्वस के लिए- तैयार हो जाना चाहिए। कवि के शब्दों मे :—

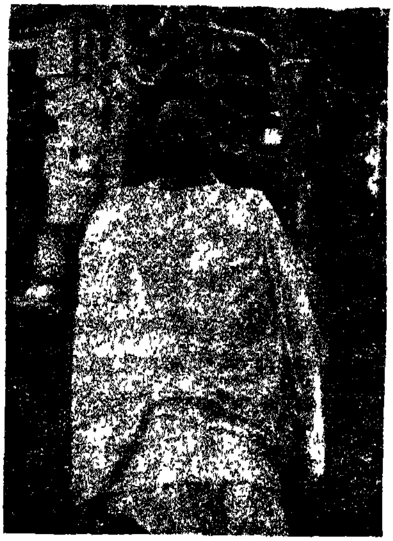
"सशक्त के लिए निर्बल और अशक्त उसी प्रकार खतरनाक है जिस प्रकार हाथी के लिए निरीह बालू। वे प्रगति में सहायक नहीं होते क्योंकि वे विरोध नहीं करते। वे केवल पतन को नीचे उतार लाते है।"

अतएव बिभीषिका से सावधान!

शान्ति निकेतन
१८-९-४१

रवीन्द्रनाथ की काव्य-धारा का मूल स्रोत

आचार्य श्री क्षितिमोहन सेन



आचार्य श्री क्षितिमोहन सेन

भारतवर्ष का सब से पुरातन साहित्य वेद हैं। उनका अधिकांश भाग कर्मकाण्ड, रूढ़ियों और धार्मिक क्रियाओं के सम्बन्ध के गीतों और मन्त्रों से भरा हुआ है। किन्तु इस सब के बीच से कविता की जो धारा बहती है, साहित्य-विशारदों की दृष्टि में वही वेदों की आत्मा है। वह रेणु के लम्बे चौड़े दुकूलों में बहने वाली नदी की पतली धारा के समान है। प्यासे को रेणु की उस राशि से कोई मतलब नहीं, उसकी प्यास तो पानी की धारा से ही बुझती है।

वेद के मन्त्रों और गीतों में, तथा रवीन्द्रनाथ के गीतों और कविताओं में आश्चर्यजनक समता दिखाई देती है। दोनों के बीच में जीवन की एक ही धारा बहती हुई नज़र आती है। अपने जीवन के बहुत प्रारम्भ में रवीन्द्रनाथ ने उपनिषदों का बड़ा खोजपूर्ण अध्ययन किया था; इसलिये कोई आश्चर्य नहीं उपनिषदों के अनेक विचार रवीन्द्रनाथ के बहु[त] से उपदेशों और उनके गीतों में अनजाने आ गए हैं। सब से अधिक आश्चर्य की बात तो यह है [कि] रवीन्द्रनाथ के उच्चतम काव्य विचारों की झल[क] संहिता के अनेक स्थलों में मिलती है, जिन्हें रवीन्द्र[-] नाथ ने कभी पढ़ा ही नहीं। इस तरह हम देख[ते] हैं कि चाहे कोई कितना ही बड़ा धीमान क्यों न हो, यदि उसकी रचनाओं में जीवनतत्व है, तो उस[की] रचनाएं आकस्मिक नहीं हो सकतीं। वे अपने मौलि[क] रूप में सदा से बहने वाली अक्षय और अनन्त धा[रा] से सम्बन्धित और उसी का परिणाम होती हैं।

उपनिषदों के तथ्यों की सब से पहली झलक ह[में] रवीन्द्रनाथ के "नैवेद्य" की ५७, ५८ और ६० [वीं] कविता में मिलती है। ५७ वीं कविता शुरू होती है

हे सकल ईश्वरेर परम ईश्वर

श्वेताश्वतर उपनिषद का ६–७ वां मन्त्र है—

तमीश्वराणां परमं महेश्वरम

रवीन्द्रनाथ की इसी कविता में आगे लिखा है—

तपोवने तरुच्छाये मेघ मन्द्र स्वर
घोषणा करिया छिलो सबार उपरे
अग्नि ते जले ते एई विश्वचराचरे
वनस्पति औषधि ते एक देवतार
अखण्ड अक्षय ऐक्य। से वाक्ये
उदार एई भारतेरि।

इसमें हमें श्वेताश्वतर उपनिषद के नीचे लि[खे] मन्त्र की झलक मिलती है—

यो देवोऽग्नौ योऽप्सु
यो विश्वं भुवनमाविवेश।
य ओषधीषु यो वनस्पतिषु
तस्मै देवाय नमो नमः॥ (२,१७)

"नैवेद्य" की ५८ वीं कविता में रवीन्द्रनाथ लिखते हैं—

तांहारा देखियाछेन—विश्वचराचर
झरिछे आनन्द हते आनन्द-निर्झर;
अग्निते प्रत्येक शिखा भये तव कांपे
वायुर प्रत्येक श्वास तोमारि प्रतापे,
तोमार आदेश वहि मृत्यु दिवारात
चराचर मर्मरिया करे यातायात;
गिरि उठियाछे ऊर्ध्वे तोमार इंगिते
नदी धाय दिके दिके तोमारि संगीते
शून्ये शून्ये चन्द्र सूर्य ग्रह तारा जत
अनन्त प्राणेर माझे कांपिछे नियत।

उपरोक्त उद्धरण में हमें उपनिषद के तीन स्पष्ट सन्देश दिखाई देते हैं। इनमें पहला तैत्तरीय उपनिषद से है—

आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते,
आनन्देन जातानि जीवन्ति,
आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति ॥ (३,६)

दूसरा कठोपनिषद में है—

भयादस्याग्निस्तपति, भयात् तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पंचमः ॥ (६,३)

तीसरा भी कठोपनिषद के एक मन्त्र में है—

यदिदं किंच जगत् सर्वं
प्राण एजति निःसृतम् ॥ (६,२)

"नैवेद्य" की ६० वीं कविता में कवि घोषणा करते हैं—

शोन विश्वजन
शोन अमृतेर पुत्र जत देवगण
दिव्यधाम वासी,...

यह वही सन्देश है जो श्वेताश्वतर उपनिषद में है—

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा
आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥ (२.५)

यह मन्त्र ऋग्वेद (१०,१३,१) में भी है। किन्तु बहुत सम्भव है कि कवि ने इसे उपनिषदों में ही पढ़ा हो। बचपन से ही उनका उपनिषदों से परिचय रहा है।

"नैवेद्य" की उसी कविता में नीचे लिखी पंक्तियाँ हैं—

......आमि जेनेछि तांहारे,
महान्त पुरुष यिनि आंधारेर पारे
ज्योतिर्मय तांरे जेने, तांर पाने चाहि
मृत्युरे लंघिते पार, अन्य पथ नाहि ॥

यही विचार अपने मौलिक रूप में श्वेताश्वतर उपनिषद के नीचे लिखे सन्देश में मिलेगे-

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्
आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ (३.८)

ईशोपनिषद के प्रत्येक मन्त्र रवीन्द्रनाथ के दिल में गहराई से बैठे हुए थे। ईशावास्यमिदं सर्वम् (ईश; १) "जीवन की समस्त वस्तुए परमेश्वर से व्याप्त हैं" ; कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः (ईश, २) "जीवन के कर्तव्य को पूरा करने के लिये सौ वर्ष के कार्यशील जीवन की कामना करनी चाहिये," यही आदर्श थे जो रवीन्द्रनाथ के जीवन के आधार थे। "जो वस्तु चलती है, वह अचल है जो वस्तु दूर है, वह उतनी ही निकट है· जो वस्तु भीतर है, वही बाहर है;" (ईश, ५)। "अपने को बाह्य रचना में अनुभव करो और स्वयं अपने भीतर की रचना में अनुभव करो" (ईश; ६)। "दुनिया के दूसरे ज्ञान से अलग होकर ब्रह्मज्ञान अधूरा है। और ब्रह्मज्ञान को अलग करके दुनिया का दूसरा ज्ञान निष्फल है:" (ईश; ९)। "जो व्यक्ति इस दोनों तरह के ज्ञान को उनकी सच्ची एकता के साथ अनुभव करता है, वह मृत्यु को जीत कर अमरता को प्राप्त करता है;" (ईश, ११)। "ऐसे मूल्यवान और बहुरंग आवरण को, जिसने सत्य को ढक

रखा है, हटाकर अमर सत्य को रूबरू देखना चाहिये"; (ईश, १५)। "एक सम्पूर्ण रूप दूसरे सम्पूर्ण रूप से निकलता है; किन्तु इस से सनातन सम्पूर्ण रूप में कोई क्षय नहीं होता:" (ईश; अन्तिम मन्त्र)।

इसी तरह की सचाइयों से रवीन्द्रनाथ का सारा साहित्य भरा पड़ा है। शान्तिनिकेतन सीरीज़ मे संग्रहीत और प्रकाशित उनके प्रवचन और धार्मिक व्याख्यानो में उपनिषद के यही भाव और विचार मुक्त रूप में दिखाई देंगे। कवि ने नये आवरण पहना कर उनके अनन्त सौन्दर्य को चमका दिया है। उपनिषद की कुछ कथाओं ने भी उनको बेहद प्रभावित किया। मिसाल के तौर पर छान्दोग्य उपनिषद के चौथे अध्याय के चौथे भाग मे जवाला के पुत्र सत्यकाम की कथा से वे बहुत प्रभावित हुये। कवि ने अनजान पिता के इस आदर्शवादी और ब्रह्मचारी सन्तान की कहानी सुन्दरता के साथ 'चित्रा' में अपनी 'ब्राह्मण' नामक कविता मे नये रूप में लिखी है।

उपनिषदों के काल में जहा ब्रह्मचर्य की साधना की जाती थी, ऐसे तपोवन के विचार ने कवि को बहुत प्रभावित किया। शहरों के आस पास पनपने वाली वर्तमान् सभ्यता को सचालित करने वाली मिथ्या भावना कवि को बहुत दुःख पहुंचाती थी। इसीलिये वे सब से पहले निर्वासन लेकर शैलदह में रहने लगे। बाद मे अपने देश की जनता के लिए शान्तिपूर्ण रचनात्मक कार्य का एक केन्द्र बनाने के उद्देश्य से शान्तिनिकेतन में, अपने पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ टाकुर द्वारा स्थापित तपोवन में, ब्रह्मचर्याश्रम की स्थापना की।

"चैतालि" में कवि ने अपनी एक कविता रामायण की एक कथा को किस चतुराई से व्यक्त किया है।' राम जबतक वन में रहे, उनकी सहचरी जीवित सीता थीं; किन्तु जैसे ही वे नगर में आये, जीवित सीता को खोकर सीता की सोने की मूर्ति ही उन्हें सान्त्वना देने को रह गई। इसी तरह की शोक जनक घटना तपोवन के शुद्ध जीवन को छोड़ कर शकुन्तला और दुश्यन्त के साथ भी घटी। कवि ने इसे अपनी कविता "बने ओ राज्ये" में व्यक्त किया है। अपनी कविता "सभ्यतार प्रति" में कवि ने पुराने तपोवनों का सुन्दर खाका खींचा है।

ऊपर के उद्धरणों से हमने यह देखा है कि उपनिषदों का रवीन्द्रनाथ के साहित्य से कितना ज़्यादा सम्बन्ध है और उन्हें उपनिषदों का कितना सीधा तथा पूर्ण ज्ञान था। वैदिक संहिताओं को पढ़ने का उनको कभी अवसर नहीं मिला। वैदिक संहिताओं मे बलिदान, कर्मकाण्ड और रूढ़ियो के सम्बन्ध की बातें हैं। और देवताओं को ख़ुश करने के मन्त्र और प्रार्थनाएं हैं। किन्तु वेदों के रचयिता पुराने ऋषियों ने केवल देवताओं और स्वर्ग के ही सम्बन्ध में नहीं लिखा, बल्कि वेदों मे ब्रह्माण्ड, प्रकृति, ऋतु, उषा और मनुष्यों का भी वर्णन आता है। इन वर्णनो मे बहुधा ऐसी गम्भीर बातें मिलेंगी कि आज कल के विद्वान भी उन्हें पढ़कर अचरज में पड़ जायगे। वेद के ऐसे उद्धरणों के भावों से मानो रवीन्द्रनाथ का कोई आन्तरिक सम्बन्ध था। बग़ैर पढ़े हुए वेद के इन विचारों और मूल्यवान भावों के साथ रवीन्द्रनाथ की रचनाओं में इतनी समता होना, प्रकट करता है कि उनकी धीशक्ति चाहे जितनी व्यापक रही हो, भारतवर्ष के पुरातन आचार-विचार के साथ उनका पैतृक सम्बन्ध था और यह स्वाभाविक भी था।

"खेया" मे रवीन्द्रनाथ 'उषा' का नीचे लिखे शब्दों में वर्णन करते हैं—

> आज बूकेर बसन छिंड़े फेले
> दाँड़ियेछे एई प्रभातखानि।
> आकाशेते सोनार आलोय
> छड़िये गेल ताँहार वाणी। (विकाश)

"उषाने अपने वक्षस्थल का वस्त्र चीर डाला है और अब वह अपने समस्त ऐश्वर्य के साथ हमारे सामने खड़ी है। आकाश में उसके सन्देश के सुनहले रङ्ग की बाढ़ सी आगई है।"

कवि को किसी तरह का यह गुमान तक न हो सकता था कि हज़ारों वर्ष पूर्व विश्वामित्र ने करीब करीब इन्हीं शब्दों में उषा की प्रार्थना की थी।

अव स्यूमेव चिन्वती मघोन्युषा याति स्वसरस्य पत्नी।

"अपने वक्षस्थल का वस्त्र फेंककर ऐश्वर्यमयी उषा, स्वर्ग की रानी, जा रही है।" [ऋग्वेद, ३,६१,४]

पांचवें मण्डल के ८० वें सूक्त की एक प्रार्थना में उषा का आश्चर्यजनक वर्णन मिलता है। वह पूरी की पूरी ओजपूर्ण कविता है।

एषा शुभ्रा न तन्वो विदानोर्ध्वेव स्नाती दृशये नो अस्थात। (ऋक ५,८०,५)

"बेदाग, दुग्ध धवल उषा एक सद्यःस्नाता सुन्दरी की तरह अपने सम्पूर्ण रूप और ऐश्वर्य को हमारे सामने खोल रही है।"

अप स्वसुरुषसो नग् जिहीते
रिणक्ति कृष्णी ररुपाय पंथाम्।
(ऋक; ७, ७१, १)

"उज्वल और सुन्दर उषा आई है। रजनी उसकी श्यामवर्णा बहिन है। वह उसके पथ से हटकर अश्रुपूर्ण नेत्रों से ऐश्वर्यमयी उषा को बिदा दे रही।"

जब भी हम इस प्रार्थना गीत को पढ़ते हैं, हमें 'मानसी' में रवीन्द्रनाथ की कविता 'शेष उपहार' की याद आजाती है:—

आमि रात्रि, तूमि फूल...
यखन फुटिले तूमि...
तखनि प्रभात एल, फुराल आमार काल
...तखन पड़िल झो'
आमार नयन हते तोमार नयन पो
एकटि शिशिरकणा। चले गेनू परपार।

"मैं रात हूं तुम फूल हो, जब तुम प्रस्फुटित हुए तभी उषा आई और मेरा काल पूरा हो गया।

"तब मेरी आंखों से तुम्हारी आंखों में कुछ शिशिर कण [आंसू की बूंदें] झरी और मैं उस पार चला गया।"

वेदों में वर्षा का बहुत शानदार वर्णन है। ऋग्वेद में ५ वें मण्डल का ८३ वां सूक्त अपने आप में वर्षा का अनोखा चित्र है।

रथीव कशयाश्वां अभिक्षिपन्नाविर्दूतान्
कृणुते वर्ष्यां अह।
दूरात सिंहस्य स्तनथा उदीरते
यत पर्जन्यः कृणुते वर्ष्यं नभः॥
(ऋक ५, ८३, ३)

"वर्षा के देवता एक तेजस्वी योद्धा की तरह बादलों को बिजली के सुनहले कोड़े से धुनते हुए आ गये हैं। दूर शेर की दहाड़ की तरह उनकी गरजना सुनी जा सकती है। आकाश मेघाच्छन्न है और धार की धार वर्षा हो रही है।"

जो लोग रवीन्द्रनाथ के सुन्दर वर्षा-गीतों से परिचित हैं, वह आसानी से यह समझ सकते हैं कि उनकी काव्य-भावना में और बहुत प्राचीन काल के वैदिक ऋषियों की काव्य-भावना मे कितनी आत्मिक एकता है।

यजुर्वेद मे शरद ऋतु का जितना ब्योरेवार वर्णन है, वह प्राचीन ऋषियों की सहानुभूतिपूर्ण परिकल्पना को प्रकट करता है। रवीन्द्रनाथ को वेदों में बिखरी हुई उन कविताओं का ज्ञान होगा, यह कोई सोच भी नहीं सकता। हालांकि उन्होने अपनी कविता 'शरदोत्सव' मे यजुर्वेद के नीचे लिखे हुये चित्र को व्यक्त किया है—

अक्षिदुःखोत्थितस्यैव विप्रसन्ने कनीनिके।
आंक्ते चादूगणं नास्ति ऋभूणां तन्निबोधत।
कनकाभानि वासांसि अहतानि निबोधत।
अन्नमश्नत मृज्मीत अहं वो जीवनप्रदः।
एता वाचः प्रयुज्यन्ते शरद् यत्रोपदृश्यते॥
[तैत्तिरीय आरण्यक, १, ४, १]

"आंखे अब अपने दुःख से मुक्ति पा गई, वर्षा के बन्द होने से उनके अन्दर नई ज्योति और सुखद भावना भर गई: जादू की छड़ी की तरह समस्त अन्धकार लोप हो गया यह सब ईश्वर की अपनी

महिमा है। जीवनदात्री शरद ऋतु आ गई है; उसके वस्त्र निर्मल बेदाग़ और सुनहले रंग के हैं। अब सब के लिये बेहद खाने को है; स्नान करके सुगन्धित तेल लगाओ।"

'गीताञ्जलि' में इस सम्बन्ध में इस विषय पर नीचे लिखा गीत मिलता है—

कथा छिल एक तरीते केवल तुमि आमि
याव अकारणे भेसे केवल भेसे;
त्रिभुवन जानवे ना केऊ आमरा तीर्थगामी
कोथाय येतेछि कोन् देशे से कोन् देशे।
कूलहारा सेई समुद्र माझखाने
शोनार गान एकला तोमार काने
ढउयेर मतन भाषा बांधनहारा
आमार सेई रागिणी शुनवे नीरव हेसे।
(गीताञ्जलि)

'गीताञ्जलि' का यह गीत हमें ऋग्वेद के ७ वे मण्डल के 'वशिष्ठ' के एक गीत की याद दिलाता है। हालांकि दोनों गीतों मे शब्दशः तुलना नहीं हो सकती। फिर भी कोई इस बात से इन्कार नहीं कर सकता कि दोनो मे भाव एक हैं। जहां तक हमे मालूम है रवीन्द्रनाथ ने 'वशिष्ठ' के इस गीत को कभी नहीं पढ़ा; किन्तु इतने दूर और भिन्न भिन्न काल के दो कवियों में विचारों का साम्य उनकी आत्मिक एकता को प्रकट करता है।

आ यद् रुहाव वरुणश्च नावं
प्रयन् समुद्रमीर याव मध्यं ।
अधि यदपां स्नुभिश्चराव
प्र प्रेंख ईंखयाव है शुभे कं ।।
(ऋक् ३, ८८, ७)

"जब मेरे प्रभु (मेरे प्रियतम) और मै एक ही नाव में बैठकर दूर समुद्र की तरंगों में गये; तब समुद्र की तरंगित लहरों में—असीमानन्द में—हम इधर उधर हिले डोले।"

वसिष्ठं ह वरुणो नाव्याधादृषिं
चकार स्वपामहोभिः।
स्तोतारं विप्रः सुदिनत्वे
अह्नां यान्नु द्यावस्ततनन्यादुषासः ।।
(ऋक् ; ७, ८८, ४)

"मेरे प्रभु ने मुझे अपनी नाव में बैठने की जगह दी और मुझे उनकी प्रार्थना करने का, गाने का अपूर्व सम्मान दिया। वह एक दुर्लभ अवसर था, जब मेरे स्वर्गीय प्रभु ने मुझे अपने प्रभात और अपने दिवस को उनके प्रार्थना-गीतों से भर लेने की अनुमति दी।"

क्व त्यानि नौ सख्या बभूवुः
सचावहे यदवृकं पुराचित् ।।
(ऋक् ; ७, ८८, ५)

"अब हमारा वह गम्भीर प्रेम कहां ग़ायब हो गया? मेरा हृदय उन दिनों के उस अविच्छिन्न प्रेम और शान्ति को व्यर्थ ढूंढता फिरता है।"

हमारे आजकल के ज़माने में किसी भी साहित्य की विशेषता इस बात में ढूंढ़ी जाती है कि जीवन की वास्तविकता के साथ उसका कितना सम्पर्क है। हमें निश्चित रूप से नहीं मालूम कि प्राचीन भारत में भी साहित्य की कोई इसी तरह की कसौटी थी। पर इस बात के लिये शंका की कोई गुञ्जाइश नहीं कि ईशोपनिषद के ऋषियों ने रोज़मर्रा की दुनिया के कर्तव्यों और उसके उसूलों को विरक्ति के भाव से नहीं देखा। उनके अनुसार अध्यात्मिक संस्कृति और भौतिक ज्ञान के मिलन-सम्बन्ध से ही जीवन अपनी सम्पूर्णता को प्राप्त होता है। पुरातनकाल में उच्च से उच्च अध्यात्मिक विचारों की अखण्डता को इस कसौटी पर कस कर देखा जाता था कि भौतिक संसार की वास्तविकता के साथ उनका कितना मेल बैठता है।

इसीलिये भगवान बुद्ध ने, सर्वोच्च अध्यात्मिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुये 'भूमिस्पर्श मुद्रा' की, यानी धरती को छुआ। वे शायद अपने अनुयायियों को यह बताना चाहते थे—"मेरे कथन की सच्चाई इस दुनिया में तुम्हारे जीवन की कसौटी पर जाची जायगी, जिसे मैं अपने हाथ से छू रहा हूँ।"

हमें नहीं पता इससे अधिक निश्चित कसौटी आज कल का कोई भी दिमाग़ और क्या तजवीज़ कर सकता है ?

ऋक्, यजु और साम ने अधिकतर स्वर्ग और देवताओं के सम्बन्ध में ही ध्यान दिया। मालूम होता है अथर्व वेद इनका परिशिष्ट था, जिसमें विश्व और मानवता के सम्बन्ध के विचारों को ज़ोरदार शब्दों में रखा गया है। ऋग्वेद में भी बहुधा मानवता की सेवा का ज़िक्र मिलता है। (ऋक् १, ३१, १४)

द्यावापृथिवी (१, १५९ सूक्त; १८५ सूक्त; २, ३६ सूक्त; ६, १७० सूक्त; ५, ८४ सूक्त) पूरा का पूरा पृथिवी सम्बन्धी प्रार्थना का मंत्र है। किन्तु अथर्व वेद में पृथिवी की प्रशंसा उत्कृष्टता को पहुंची है। अथर्व वेद के १२ वें काण्ड के पहले सूक्त मे ६३ श्लोक हैं; और यह पूरा का पूरा सूक्त विराट पृथिवी की प्रशंसा मे गाया हुआ एक गीत है। यदि हम इस वैदिक प्रार्थना के साथ रवीन्द्रनाथ की 'वसुन्धरा' 'स्वर्ग हइते विदाय' और 'विश्वनृत्य' आदि गीतों की तुलना करें, तो दोनों में हमे एक से भाव मिलते हैं। दुनिया के विविध देशों की विविध जातियों और विविध जनता के साथ रवीन्द्रनाथ की आत्मा प्रेम का जो एक बन्धन देखती है, उसकी सबसे सुन्दर अभिव्यक्ति उनकी कविता 'वसुन्धरा' मे हमें मिलती है। उनका हृदय मरुभूमि के निवासियों, तिब्बत-वासियों, ईरानियों, तातारियों, चीनियों और यहा तक कि असभ्य जातियों की मित्रता के लिये व्याकुल दिखाई देता है। 'मानसी'' में 'दुरान्त आशा' नामक कविता मे कवि को अरब के उच्छृङ्खल बद्दुओं की प्रेम पुकार सुनाई देती है। अथर्व वेद के 'व्रात्यकाण्ड' में भी अखिल विश्व के साथ एकता की यही भावना मिलती है। व्रात्य सीधे सादे क़िस्म के लोग थे; वे उस ज़माने में प्रचलित किसी तरह के यज्ञ और होम न करते थे। वे प्रकृति के सहज पथ पर सत्य की तलाश करते थे।

अथर्व वेद के १० वें काण्ड का दूसरा सूक्त मानवता की महानता की प्रशंसा मे है। उसका नाम ही 'नृसूक्त' है। ११ वे काण्ड का ८ वां सूक्त भी मानव के सम्बन्ध में है। १० वें काण्ड का सातवां सूक्त जो 'स्कम्भ' कहलाता है, दूसरे शब्दों में विश्व के मौलिक ढाचे का वर्णन है। उसमें भी जिस विषय की विस्तार से चर्चा की गई है, वह मानवता की महानता है। नीचे लिखे शब्दों के साथ विषय को समाप्त किया गया है—

ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम् ॥
(अथर्व १०, ७, १७)
तस्माद् वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते ॥
(अथर्व, ११, ८, ३२)

मानवता विभिन्नता से भरे हुए व्यापक विश्व का संग्रह रूप है। उसे ठीक ठीक जानने का अर्थ है—ब्रह्म के सर्वोत्कृष्ट स्वरूप को जानना। क्योंकि अपने समस्त ससारव्यापी पहलुओं मे मानवता परमात्मा के साथ व्याप्त है। मानवता की सार्वभौमिक महानता हमारे युग में रवीन्द्रनाथ के साहित्य में विजयी काव्य-धारा के रूप में प्रस्फुटित हुई है।

जब हम रवीन्द्रनाथ को असभ्य जंगली जातियों के गौरव के गीत गाते हुये सुनते हैं, तो हमें अथर्व वेद के उस व्रात्यकाण्ड की याद आ जाती है, जिसकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। कवि का गीत है—

अरुग्न बलिष्ठ हिंस्र नग्न बर्बरता—
नाहि कोनो धर्माधर्म, नाहि कोनो प्रथा,
नाहि कोनो बाधाबन्ध, नाहि चिन्ता ज्वर,
नाहि किछु द्विधाद्वन्द्व, नाहि घर पर
उन्मुक्त जीवन स्रोत बहे दिन रात
सम्मुखे आघात करि सहिया आघात
अकातरे।··· ··· ··· ···

(वसुन्धरा, सोनारतरी)

इसी तरह से अथर्व वेद के ऋषियों ने व्रात्यकाण्ड मे उन व्रात्यों के गौरव गीत गाये हैं, जो सीधे सादे और तथाकथित 'पतित समूह' के कहलाते थे, तथा जिन्हें किसी धार्मिक सम्प्रदाय में दीक्षित नहीं किया गया था। अथर्व वेद का पूरा १५ वां काण्ड इन्हीं

सीधे सादे व्रात्यों के विचारों और उनकी आध्यात्मिक साधनाओं की चर्चा से भरा हुआ है। व्रात्यों ने धार्मिक परम्परा के किसी स्थायी क़ानून को मानने से सदा इन्कार किया।

जबकि जनता यज्ञों और बलिदान की पेचीदगियों तथा यज्ञ के धार्मिक जजाल में खो गई थी, इन अशिक्षित और अर्धसभ्य व्रात्यों ने मानव जीवन की शक्ति और सादगी को अपने अन्दर सुरक्षित रखा। वास्तव में पृथिवी ही जीवन और शक्ति देने वाली आदि स्रोत है। सभ्य जीवन की बनावट और वाक-पटुता के मुक़ाबले में व्रात्यों ने और उनके साथ साथ अथर्ववेद के ऋषियों ने भूमि के साथ बहुत नज़दीकी सम्बन्ध क़ायम रखा। यही एक कारण है कि वे अपने जीवन में इतने विपुल थे—ऐसा जीवन जो मानव के व्यापक हित को अनुभव करता हो।

इस बात के पता लगाने मे ख़ासी दिलचस्पी मालूम होती है कि वेद के कुछ महान रचयिताओं ने भी भूमि के साथ यह सम्पर्क बनाए रखा। 'ऐतरेय ब्राह्मण' का रचयिता—और ऐतरेय ब्राह्मण ही ब्राह्मण ग्रन्थों मे सब से श्रेष्ठ है—इतरा (शूद्र) का पुत्र था, और निश्चय ही भूमि-पुत्र था। एक समकालीन किम्वदन्ति है कि उसकी शिक्षा—और उसकी शिक्षा मे कोई त्रुटि नहीं थी—भूमि के हाथों ही हुई थी। इसीलिए उसका नाम भी महीदास—भूमिका दास, पड़ा।

ऐतरेय की ख़ास बात है, अविच्छिन्न और अनन्त यात्रा की इच्छा। रवीन्द्रनाथ की कविताओं के मर्म में भी उनके निरन्तर चलते रहने की व्याकुल भावना मिलेगी। बहुत बचपन मे 'निर्झरेर स्वप्न भंग,' और 'प्रभात संगीत' नामक कवितओं में उन्होंने अपनी यह व्याकुलता व्यक्त की थी। उनकी दूसरी कविता 'स्रोत' में उनकी पुकार है—'जगत-स्रोते भेसे चल, ये येथा आछे भाई।'

उनके 'कादी ओ कमल, (कीच और कमल) के 'आह्वान गीत' में यही विस्फोटक भावना दिखाई देती है। "मानसी" की 'दुरान्त आशा' नामक कविता में उनकी आत्मा चीत्कार कर उठती है —'कोथाउ यदि छुटिते पाइ बाँचिया याइ तवे ......'दुई पाखी' और "सोनार तरी" नामक कविताओं में उनकी आत्मा वही बेचैनी अनुभव करती है, जो पिंजरबद्ध पक्षी को पिंजरे से बाहर उड़ने के लिए होती है। 'विश्वनृत्य' में कवि की आत्मा पशु, पक्षी और छोटे से छोटे कीड़े मकोड़ों के अन्दर प्रवाहित होने वाले जीवन के पदचाप के साथ ताल-स्वर भरना चाहती है। अपनी "कल्पना" पुस्तक के प्रसिद्ध गीत 'विदाय' मे कवि गाते हैं—

एवार चलिनू तवे
समय हयेछे निकट, एखन बांधन छिड़िते हवे।

अपनी पुस्तक "क्षणिका" की 'विलम्बिता' में वह अनन्त जीवन धारा का कोई अन्त ही नहीं देखते। 'विदाय अभिशाप' मे देवयानी कच की अनन्त यात्रा को रोकने का दुःख पूर्ण किन्तु व्यर्थ प्रयास करती है। "डाक घर" में बालक अमल ने मार्ग की पुकार सुनली है। "अचलायतन" नाटक में दिखाया गया है कि जीवन की विस्फोटक भावना को दबा सकने के प्रयत्न कितने व्यर्थ जाते हैं। 'फाल्गुनी' में भी इसी भावना को प्रधानता दी गई है। "नैवेद्य" के २१ वें गीत में कवि गाते हैं—

घरेर ठिकाना ह'ल न गो
मन करे तवू याइ याइ।

३६ वीं कविता में कवि ने लिखा है, कि मनुष्य एक यात्री की तरह जन्म जन्मान्तर की अनन्त यात्रा से गुजरता रहता है। इसीलिये ८४ वीं कविता में कवि अनन्यभाव से प्रार्थना करते हैं—दुनियावी जीवन के असख्य असली कर्तव्यों के बन्धन मानव आत्मा की निरन्तर यात्रा को न रोक सकेंगे। "खेया" में भी यही यात्री की भावना बनी रहती है। और 'पथेर शेष' नामक कविता मे मार्ग फिर उन्हें अपनी ओर बुलाता है। किन्तु उस कविता में चलते चलते भी वे अपने प्रभु, अपने प्रियतम के पूर्ण मिलन का स्वप्न देखते हैं। "उत्सर्ग" में कवि कहते है—

केवल तव मुखेर पाने चाहिया,
वाहिर हइनू तिमिर राते' तरणीखानि वाहिया

वे आगे कहते हैं—

आमि चंचल हे, आमि सुदूरेर पियासी
मैं चंचल हूं, मैं सुदूर वस्तुओं की प्यास लेकर आया हूं।

यह ऊपर वर्णन किया जा चुका है कि अक्सर कवि एक ही नाव में प्रभु के साथ यात्रा करते हैं [गीताञ्जलि ८४]। वह प्रियतम को पाने के लिये प्रेमी की अनन्त यात्रा; और इस यात्रा की सब में दुखान्त घटना को वर्णन करते हैं कि यहा भी व्यक्ति का तुच्छ और ससीम 'स्व' एक क्षण के लिये भी उसे नहीं छोड़ता [गीताञ्जलि १०४]। "गीताञ्जलि" में कवि गाते हैं—

अनेक कालेर यात्रा आमार अनेक दूरेर पथे

वे आशा करते हैं कि जब वे प्रेम की इस यात्रा के लिये रवाना होंगे तो उनके सखा उनको प्रोत्साहन देंगे [नं० २१]। कवि कहते हैं—

तुमि जानो ओगो अन्तर्यामी
पथे पथेई मन फिरालेम आमि।

जब वायु उनके संगीत के पाल को अनुकूल हवा में उड़ाती है, तो उनका मन निर्बन्ध पथ पर मुक्त होकर चलता है। "गीतालि" में उनकी आत्मा इसी स्वतन्त्रता के लिये रोती है—

दाउ छेड़े दाउ उगो, आमि
तूफान पेले बांचि।

यदि वे कभी थकान अनुभव करेंगे और अपनी यात्रा में पथ पर बीच ही में कहीं रुक जायगे, तो वे अपने प्रभु से क्षमा प्रार्थना करेंगे [५९]। इसके बाद ही वे कहते हैं

आमार आर हबे ना देरी—
आमि शुनेछि ऐ बाजे तोमार भेरी।

उन्होंने अपने गीतों की तरणी पर बैठकर उपकूल को छोड़ दिया है और अब वह अनन्त सागर में यात्रा कर रहे हैं [७५]। दुनिया मे उनका अपना परिचय केवल एक अनन्त यात्री का है -

आमि पथिक, पथ आमारि साथी।

जैसे ही वह एक मार्ग के अन्त में पहुँचते हैं, त्यों ही और एक मार्ग उन्हें संकेत करता है [९४]। वे गाते हैं—

पान्थ तुमि पान्थजनेर सखा हे,
पथे चलाई सेई त तोमार पाउया।

ऐसी स्थिति में निर्भय होकर चलने मे ही यात्रा के प्रभु की अभ्यर्थना करना है—

जीवन-रथेर हे सारथि,
आमि नित्य पथेर पथी,
पथे चलार लइ नमस्कार

"बलाका" मे कवि ने साहस पूर्वक बन्धनों की प्रधानता को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया है—

शिकलदेवीर ऐ ये पूजार वेदी
चिरकाल कि रइबे खड़ा?

तीसरी कविता आगे चलने का गीत है। आठवीं कविता मे कवि ने कल्पना की है कि दुनिया में कुछ भी स्थिर नहीं है। और प्रभु का यह सृजन विराट नदी की अविच्छिन्न अविरल धारा की तरह है—

हे विराट नदी
अदृश्य निःशब्द तव जल
अविच्छिन्न अविरल
चले निरवधि

१८ वे गीत मे वे कहते हैं—इस चलने के क्रम में जैसे ही व्यतिक्रम हुआ, निर्जीव तत्वों का एक ढेर इकट्ठा हो जाता है। इसलिये वह गाते हैं—

उगो आमि यात्री ताई
चिरदिन सम्मुखेर पाने चाई।

.. ..

यात्रार आनन्दगाने पूर्ण आजि अनन्त गगन।

उनका पूरा जीवन ही अज्ञात की ओर यात्रा है; वही उनका सर्वोपरि सुख है (३०)। हंसों के उड़ने की आवाज़ "हस बलाका" उनके अपने अन्दर भी गति में तेजी भरने की भावना भरती है; जो कुछ स्थिर है उसमें गति पैदा करती है। विश्व के अन्तर-

तम में करुण चीत्कार उठता है :—हेथा नय, हेथा नय आर कोनो खाने। जब जीवन के बन्दरगाह में दिनों का अन्त हो जायगा और जब नाव का लंगर उठा लिया जायगा, तो नाविक पुकार कर कहेंगे:—

तूफानेर माझखाने
नूतन समूद्रतीर पाने
दिते हबे पाड़ि ।

इस तरह रवीन्द्रनाथ की कविता में एक सिरे से दूसरे सिरे तक महान अज्ञात की ओर अनन्त यात्रा के प्रयास की गम्भीर भावना भरी हुई है। विश्व के विराट साहित्य में यह भावना अनोखी है; इसकी तुलना नहीं। इस सम्बन्ध में हम यहां ऐतरेय ब्राह्मण का चरैवेति चरैवेति—आगे चले चलो, आगे चले चलो नामक उद्धरण देना चाहेंगे :—

नाना श्रान्ताय श्रीरस्ति इति रोहित शुश्रुम ।
पापो नृषद्वरो जन इन्द्र इच्चरतः सखा ॥
चरैवेति चरैवेति—

"लम्बी यात्रा से थके हुए व्यक्ति में अवर्णनीय भव्यता आ जाती है। चाहे कोई कितना ही महान और महत्वपूर्ण व्यक्ति क्यों न हो यदि वह इस दुनिया में बेकार बैठता है तो वह तुच्छ हो जाता है। जो निरन्तर चलता रहता है परमात्मा उसका सखा और सहयात्री होता है। इसलिये हे यात्री! चलता चल।"

पुष्पिण्यौ चरतो जङ्घे भूष्णुरात्मा फलग्रहिः ।
शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताः ॥
चरैवेति—

"यात्री का शरीर सुन्दरता और भव्यता से भर जाता है। उसकी आत्मा दिन प्रति दिन महान बनती है। क्या वह जीवन का सर्वोच्च उत्कर्ष नहीं है? जैसे जैसे वह मार्ग में आगे बढ़ता जाता है उसके पाप अपने आप नष्ट होकर मृत्यु को प्राप्त होते जाते हैं। इसलिये हे यात्री! चलता चल।"

आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः ।
शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगः ॥
चरैवेति—

"बेकार मनुष्य का भाग्य भी बेकार बैठा रहता है। जब कोई उठकर सीधा खड़ा हो जाता है उसका भाग्य भी उठकर खड़ा हो जाता है। जैसे वह लेट जाता है उसका भाग्य भी उसके साथ लेट जाता है। जो आगे चलता जाता है उसका भाग्य भी उसके साथ चलता है। इसलिये हे यात्री! चलता चल।"

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः ।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन् ॥
चरैवेति—

"जब कोई सोता है तो वह कलियुग है, जब वह जाग जाता है तो वह द्वापर है, जब वह खड़ा हो जाता है तो वह त्रेता है, किन्तु जिस क्षण वह आगे कदम उठाता है तभी सतयुग है। इसलिये हे यात्री! चलता चल।"

चरन् वै मधुविन्दति चरन् स्वादु मुदुम्बरं ।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन् ॥
चरैवेति—

"चलते चलना ही अमरत्व प्राप्त करना है; चलना अपने आप में ही यात्रा का सब में स्वादिष्ट फल है। सूर्य की ओर देखो—कैसा सदा समुज्वल और अनन्त यात्री, है जो एक बार अपनी यात्रा प्रारम्भ करके कभी नहीं थका। इसलिये हे यात्री! चलता चल।"

इस सृष्टि में, हर मानव आत्मा अपने हीतल की गहराई में अनन्त की व्याकुल पुकार सुनती है। अथर्ववेद में ऋषियों ने यह पूछा है—

कथं वातो नेलयति कथं न रमते मनः ।
किमापः सत्यं प्रेप्सन्ती र्नेलयन्ति कदाचन ॥
(१०,७,३७)

वायु क्यों नहीं स्थिर रहती? इनसान का दिमाग किसी तरह का आराम क्यों नहीं लेता? क्यों और किसकी तलाश में जल दौड़ पड़ता है और अपनी धारा को एक क्षण के लिये भी नहीं रोकता?

सृष्टि के हृदय में अनन्त की सर्वव्यापी पुकार है। जो एक बार भी इस महान पुकार की ओर ध्यान देता है वह सुगमता से अपने सारे बन्धन और जंजीरें तोड़ देता है।

जीवन की महान सच्चाइयों की पुकार के सामने समाज के आचार विचार और घरेलू बन्धनों की

क्या हस्ती ? जो उस पुकार को सुनते हैं वे बहुधा विद्रोही हो उठते हैं। पुरातन काल में इस तरह के अनेक विद्रोहियों ने समाज को सदा के लिये छोड़ कर जङ्गलों की शरण ली। उन्होंने उस समय के सामाजिक नियमों के साथ अपने मतभेद का फ़ैसला सन्यासी बनकर किया यानी उन्होंने दुनिया के ही साथ सम्बन्ध त्याग दिया। किन्तु कवि समाज में रहकर अपने व्यक्तित्व की पूर्ति की चेष्टा करते हैं—

वैराग्य साधने मुक्ति, से आमार नय
(नैवेद्य)

वैराग्य में मेरे लिये मुक्ति नहीं है। मैं हजार बन्धनों में स्वाधीनता का आलिङ्गन अनुभव करता हूँ [गीताञ्जलि ७३]

कवि यहां अपनी कल्पना में अपूर्व हैं। वे संसार के बीच में रहे हैं और उन्होंने साहसपूर्वक संसारी जीवन के समस्त कष्टों और दुखों को सहा है। इस अनुभव ने तब तब उनकी वाणी में ज्वाला भरी है, जब जब उन्होंने समस्त बनावटी और अपमानजनक सामाजिक फर्कों के विरुद्ध आवाज़ उठाई है—

मुक्त कर मुक्त कर, निन्दा प्रशंसार
दुश्छेद्य शृङ्खल हते। से कठिन भार
यदि खसे याय तबे मानुषेर माझे
सहज फिरिब आमि संसारेर काजे
तोमारि आदेश शुधु जयी हबे, नाथ ॥ [नैवेद्य]

यह विद्रोह निम्न स्थिति वाले राजा के अधिकार के प्रति खुल्लमखुल्ला बग़ावत प्रकट करता है और राजाओं के राजा राजाधिराज के प्रति अपना नम्र समर्पण ज़ाहिर करता है। यह स्थिति उस सच्ची सती स्त्री की स्थिति से मिलती है जो अपने सम्मान की रक्षा के लिये अपने पति के नौकर के प्रति पत्नी जैसी भक्ति रखने से इनकार करती है—

तोमार न्यायेर दण्ड प्रत्येकेर करे
अर्पण कोरेछ निजे, प्रत्येकेर परे
दियेछ शासन भार, हे राजाधिराज
से गुरु सम्मान तव से दूरुह काज
नमिया तोमारे येन शिरोधार्य करि
सविनये, तव कार्ये येन नाहि डरि
कभू कारे। [नैवेद्य]

ईश्वर के प्रति मनुष्य की इसी तरह की भक्ति का ऐलान रवीन्द्रनाथ ने अधिक ज़ोरदार शब्दों में "नैवेद्य" की, ५४, ५५, ५६, और ५७ वीं कविताओं में किया है। ५६ वीं कविता में वे कहते हैं—

अपमाने नतशिरे भये भीतजन
मिथ्यारे छाड़िया देय तव सिंहासन ॥

उन्होंने अपने देशवासियों को इस मृत्यु जैसी नींद से अनन्त सत्य के लोक में जगाने का निरन्तर प्रयत्न किया है, आदर्शों का ऐसा स्वर्ग जिसे उनकी कल्पना ने चित्रण किया—

......तुच्छ आचारेर मरुवालूराशि
विचारेर स्रोत:पथ फेले नाई ग्रासि
पौरुषेरे करेनि शतधा। [नैवेद्य]

जहां विचारों के स्रोत का निर्मल पथ तुच्छ आचारों की मरुभूमि में नहीं खो गया है [गीताञ्जलि ३५]

पुरातन काल में समाज के तुच्छ आचार विचारों और रिवाजों के विरुद्ध विद्रोह करने वालों की संख्या थोड़ी नहीं थी। महावीर और बुद्ध के विचारों के अलावा इस तरह के दृढ़ विचार 'जाबालोपनिषद, 'सन्यासोपनिषद और 'मैत्रेयीउपनिषद' में भी मिलते हैं।

अपने विचारों और भावों में रवीन्द्रनाथ भी इन्हीं आध्यात्मिक विद्रोहियों की श्रेणी में हैं। वर्ण और जाति के भेदों और इसी तरह के अन्य ज़हरीले विचारों के प्रति जो मानवता के टुकड़े टुकड़े कर रहे हैं, रवीन्द्रनाथ ने कहा है—

येथाय थाके सबार अधम दीनेर हते दीन
सेईखाने जे चरण तोमार राजे
सबार पिछे, सबार नीचे,
सबहारादेर माझे ॥ (गीताञ्जलि)

यह तेरा पादपीठ है और वहां तेरे चरण हैं त सब के पीछे सब के नीचे सर्वहारा लोगों के बीच में है।

इसके उपरान्त ही रवीन्द्रनाथ कहते हैं—

हे मोर दुर्भागा देश, यादेर करेछ अपमान,
अपमान हते हबे ताहादेर सबार समान ॥
(गीताञ्जलि)

मैत्रेयी उपनिषद भी क़रीब क़रीब इन्हीं शब्दों में कहता है—

वर्णाश्रमाचारयुता विमूढा
कर्मानुसारेण फलं लभन्ते।
वर्णादिधर्मं हि परित्यजन्त:
स्वानन्दतृप्ता: पुरुषा भवन्ति॥
(१,१३, पृ० २०२)

वे ग़रीब प्राणी जो जाति पांति के रिवाज के सामने सिर झुकाते हैं उन्हें अपने कार्य के परिणाम को अवश्य भोगना पड़ेगा। वही सच्चा व्यक्ति है जो जाति पांति के वर्णाश्रम धर्म के समस्त तुच्छ भेदों को त्याग कर अपने आत्मानन्द में तृप्त जीवन बिताता है।

परमात्मा अखिल मानवता के बीच में अपना आसन बिछाता है। वह उनके उत्थान और उनके पतन, उनके सुख और उनके दुःख में साथ रहता है। यदि कोई ईश्वर की सेवा और भक्ति करना चाहता है, तो वह उचित जगह में, जहां उसका निवास-स्थान है, वहा करे। किन्तु हम इस सचाई के प्रति हमेशा अन्धे होकर मनुष्यों के बनाये हुए मन्दिरों और सिद्धान्तों में उसे व्यर्थ खोजते हैं। इस लिये रवीन्द्रनाथ के शब्द हमें याद दिलाते हैं—

तिनि गेछेन येथाय माटि भेंगे
करछे चाषा चाष
पाथर भेंगे काटछे येथाय पथ,
खाटछे बारो मास। (गीताञ्जलि)

वह वहां है जहां हलवाहा कठोर भूमि में हल चला रहा है और जहां सड़क बनाने वाला पत्थर तोड़ रहा है। वह उनके साथ धूप में है और वर्षा में है और उसका आवरण धूल से भरा हुआ है...[गीताञ्जलि ११]।

इसलिये बजाय ईश्वर की सेवा करने के जब हम मन्दिरों में पत्थर के प्राणहीन देवताओं के सामने ज़ोर से आंख बन्द करके बैठते हैं तो वह हमारे कानों में चुपके से कहता है—

भजन पूजन साधन आराधना
समस्त थाक् पड़े।
रुद्धद्वारे देवालयेर कोने
केन आछिस ओरे?
अन्धकारे लुकिये आपन मने
काहारे तुइ पूजिस संगोपने,
नयन मेले देख देखि तुइ चेये
देवता नाई घरे। (गीताञ्जलि)

अरे! मंत्र पढ़ना भजन गाना और माला फेरना छोड़। तमाम दरवाज़े बन्दकर मन्दिर के इस अंधेरे एकान्त कोने में तू किसकी आराधना करता है? अपनी आंखें खोलकर देख तेरा देवता तेरे सामने नहीं है।

दुःख पूर्ण शब्दों में वे इसी तरह की बातें "नैवेद्य" में भी कहते हैं—

मनुष्यत्व तुच्छ करि यारा सारावेला
तोमारे लइया शुधु करे पूजा-खेला
मुग्धभाव भोगे,—सेई वृद्ध शिशुदल
समस्त विश्वेर आजि खेलार पुतुल। (नैवेद्य)

यहां मैत्रेयी उपनिषद के शब्दों की याद आती है।

पाषाणलोहमणिमृण्मयविग्रहेषु
पूजा पुनर्जननभोगकरी मुमुक्षो:।
तस्माद् यति: स्वहृदयार्चनमेव कुर्याद्
बाह्यार्चनं परिहरेदपुनर्भवाय॥ (२, १६)

यदि तुम सचमुच मुक्ति के इच्छुक हो तब पत्थर धातु जवाहरात और मिट्टी की बनी हुई मूर्तियों की पूजा क्यों करते हो? सच्चा साधक समस्त बाहरी आडम्बरों को छोड़कर अपने हृदय के निगूढ़ स्थान में प्रभु की आराधना करता है।

इस तरह रवीन्द्रनाथ का प्राचीन भारत के द्रष्टाओं के साथ, जिन्होंने अपने जीवन में अनुभव की हुई महान सचाइयों को व्यक्त किया है, घनिष्ट सम्बन्ध दिखाई देता है। ऐसे प्राचीन शास्त्रों के

बिचारों को रवीन्द्रनाथ के साहित्य में ढ़ढना बिलकुल निष्फल होगा जो प्राचीन काल के दकियानूसी विचारों और आचारों को प्रकट करते हैं। उन शास्त्रों में जीवन के व्यापक दृष्टिकोण का अभाव है और उनके शब्द व्यर्थ बातों, न समझ मे आने वाली बहसों और बारीक छानबीन मे खो जाते हैं। रवीन्द्रनाथ ने क्या ही अच्छा कहा है—

उदेर कथाय धाँदा लागे
तोमार कथा आमि बूझि,
तोमार आकाश तोमार बातास
एई तो सबि सोजासुजि ॥ (गीतिमाल्य)

जीवन की वास्तविक सच्चाइयों के लिये रवीन्द्रनाथ ने उन वेदों और शास्त्रों के ऊपर निर्भर किया है, जिन्हें उन्होने अपनी आत्मा के अन्दर प्रत्यक्ष अनुभव किया है और इसमें उनकी शुमार दुनिया के उन महान पैग़म्बरों की श्रेणी में होनी चाहिये, जो हर युग में पैदा होते रहे हैं।

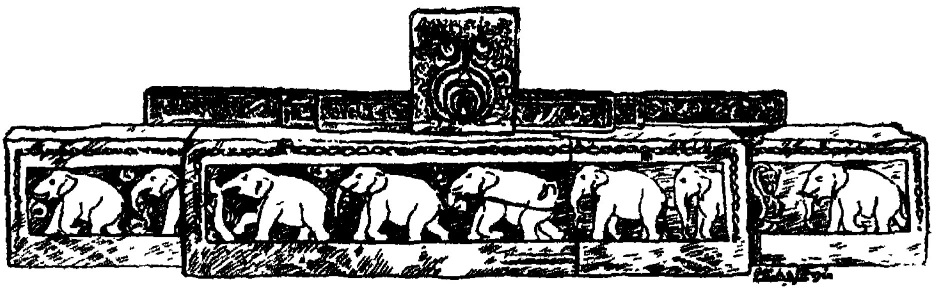
'इतिहासोपनिषद' मे कहा गया है—

ऋचो ह यो वेद स वेद देवान
यजूंषि यो वेद स वेद यज्ञम।
सामानि यो वेद स वेद सर्वं
यो मानसं वेद स वेद ब्रह्म ॥

यदि तुमने ऋग्वेद का अध्ययन किया है तो तुमने अधिक से अधिक देवताओं के बारे में जाना होगा; यदि तुमने यजुर्वेद का अध्ययन किया होगा तब तुम बलिदान की रूढ़ियों को विस्तार मे जान गये होगे, यदि तुमने सामवेद का अध्ययन किया होगा तो तुम्हें और सब बाहरी बातें मालूम हो गई होंगी, किन्तु यदि तुमने अपने 'मानसवेद' का अध्ययन किया होगा सिर्फ तभी तुम ब्रह्म को पा सके होगे।

रवीन्द्रनाथ इसी 'मानसवेद' के अनुगामी हैं और इसीलिये अध्यात्मिक दृष्टि से वे सत्य के खोजियों के उस परिवार के हैं, जिन्होंने प्राचीन भारत में इसी 'मानसवेद' का अनुगमन करके उसका अपनी आत्मा के अन्दर वास्तविक साक्षात्कार किया था। इसीलिये हमे रवीन्द्रनाथ के साहित्य मे बहुधा प्राचीन विचार और सत्य की झाकी दिखाई देती है। उन्हीं पुरातन सच्चाइयों ने हमारे इस युग में रवीन्द्रनाथ के साहित्य मे एक नया जन्म लिया है। *

* मूल बङ्गला से



वे दिन—और आज ?



श्री अवनीन्द्रनाथ ठाकुर

उस ज़माने की आबहवा अब बिलकुल बदल गई है; आज कल का मनुष्य मानो कुछ दूसरी तरह का होकर पैदा हो रहा है। न वह पुरानी मजलिस रही है और न पुराने मजलिसी लोग। लेकिन उस ज़माने में हमारे पास क्या न था ? इसी मकान में मैंने देखा है, जब जहा जिस चीज़ की ज़रूरत होती थी मिल जाती थी, मानों सब कुछ पहले से ही तैयार था। वैज्ञानिक लेखे की सकीर्णता, प्राण वस्तु की काटछाट शुरू नहीं हुई थी। नाना आवश्यकताओं और बाहुल्यों को जुटाकर मजलिस को ज़िन्दा रखना जिनका काम था, वे नौकर चाकर भी वैसे ही थे। मजलिस का रस उन्हें स्पर्श कर लेता था। आजकल नाम तो मजलिस का दिया जाता है, लेकिन उसमें मजलिसपन तनिक भी नहीं है। फ़र्क़ समझ में नहीं आता है—आनन्द सभा और शोक सभा में; वही सभापति, वही उद्‌बोधन गीत, वही भाषण, वही समाप्ति गीत हैं। सब कुछ है, पर सिर्फ़ मजलिस में जान नहीं है।

उस ज़माने की बैठक की भी यही दुर्गति हुई है। उस समय यह मजलिस और बैठक वास्तविक और जिन्दा चीज़ थीं; हमने भी उनके अन्तिम चित्र को ही देखा है। उस मकान में बाबू (ताया) की बैठक सबेरे होती थी; पिता, बड़े बाबू (बड़े ताया) सब दक्षिण के बरामदे मे बैठते थे। बड़े बाबू ने 'स्वप्न प्रयाण' लिखा था उसी को लेकर अविराम साहित्य आलोचना चलती थी; दार्शनिकगण आते थे, पण्डितगण आते थे, अपनी अपनी सटक लेकर सभी जमकर बैठते थे; साहित्य की हवा बहती थी अबाधगति से। लड़कपन में लुक-छिप कर मैंने भी इस बैठक के रूप को देखा है।

शाम को ज्योति काका (ज्योतीन्द्रनाथ ठाकुर) वग़ैरह की बैठक होती थी। इस बैठक का स्वरूप दूसरी तरह का था। वहां आते थे तारक पालित (सर तारकनाथ पालित), छोटे अक्षय बाबू, कवि बिहारीलाल। रवि काका उम्र मे छोटे होने पर भी इसी बैठक में शामिल होते थे। यहां महिलाओं को भी प्रवेशाधिकार था। नई काकी अर्थात् ज्योतिकाका की स्त्री इस बैठक की सर्वेसर्वा थीं। यहा गाना, बजाना और कविता के ऊपर कविता का पाठ होता था।

इस मकान में पिताजी की बैठक अलग थी। यहा पर टोले पड़ोस के लोग आकर बैठते थे। तम्बाकू पीना, गाना बजाना, ख़ुश तबियत की गप्पे चलती थीं, अक्षय मजुमदार टप्पा गान गाते थे; अम्बूरी तम्बाकू की सुगन्ध बैठक में छा जाती थी। वहा भी हमारा प्रवेशाधिकार नहीं था।

उस युग के तीन तरह की मजलिसों का चित्र मैंने दिया। इसी आबहवा में रवि काका सयाने हुए। तब चारों ओर सामञ्जस्य था। कला, साहित्य, संगीत के अशेष विकास के बीच में वह फूले फले। उस युग में ऐसा विद्वदजन समागम और कहीं नहीं होता था। बंकिम बाबू भी (बंकिमचन्द्र चटरजी) आते थे। मुझे याद है, एक बार रवि काका का 'काल-मृगया' नाटक आद्यन्त गाकर उन्हें सुनाया गया था। धुंधली सी याद है कि हम लोगों पर फूलदान सजाने का भार था। अच्छे कपड़े पहनकर हाज़िर होने का हमें

हुक्म दिया गया था। आजकल के से अस्त व्यस्त लड़के वहा घुस नहीं सकते थे। उस जीवनयापन में जो पले हैं, वह सब प्रकार के सामाजिक अनुष्ठान के प्रति निष्ठा दिखलावेंगे, यह बात विचित्र नहीं है? हमारे इस मकान का रहन सहन बहुत दिनों तक पुराने ढङ्ग से चला था। हमारे जमाने में भी इसका कुछ अवशेष था। उसके बाद धीरे धीरे आजकल के क्लब दिखाई पड़े, पुरानी चाल बिदा हुई।

अन्दर महल का हाल भी बाहर सा ही था। स्त्रियां गुरुजनों के सम्यक के श्रद्धा से देखती थीं, खानपान, साज-पोशाक में वे भी रंचमात्र इधर उधर नहीं होती थीं। सब क़ायदे बंधे हुए थे।

एक घटना मुझे याद है। अरुन भैया एक बार चाय बगीचे से लौटे, बिल्कुल साहब होकर। कोट पैण्ट, हैट-टाई, लगाकर और कुलिओं के साथ रहने से मिजाज भी साहबी हो गया था। अंग्रेज़ी फ़ैशन के अनुसार सजधजकर वह एक दिन ड्योढ़ी से बाहर आए। ऊपर के बरामदे से बड़े बाबू की नज़र उन पर पड़ गई। अब क्या था, फटकार शुरू हुई। नौकर दौड़ा, दरबान दौड़ा, अरुण भैया का पता ही नहीं चला। बड़े बाबू ने ऊपर से ही कहा, "अरू, इस अभव्य वेष में तुम निकल रहे हो सड़क पर?" साज-पोशाक का नियम उस समय मानकर चलना ही पड़ता था—दौड़ कर बाहर निकलना मना था। अनियमित पोषाक में अगर छोटे लड़कों में भी कोई सदर में दिखाई पड़ जाता तो, तुरन्त नौकरों को तलब किया जाता था, और इसके लिए उन्हें सज़ा भी मिलती थी। आज मै और कुछ नहीं कहना चाहता। मैं लुङ्गी पहन कर बैठा हूं, हमारे बच्चे हैट कोट पहन रहे हैं।

हा मै कह रहा था। अब देखता हूं सभी बातों में फर्क़ हो गया है। छोटी मोटी स्मृति-सभा, टाउन-हाल की सभा, गाने-बजाने की बैठक सभी एक ही प्रकार की हैं। विवाह और मृत्यु के बाद की तैयारियां मानो एक सी हैं। यह सब बहुत खटकता है। रवि काका से एक बार कहा था, "रविकाका, इसका आप कोई प्रबन्ध कीजिए, यह तो अब मुझ से नहीं देखा जाता, सब अनुष्ठान मिलजुल कर एक से होते जा रहे हैं।" उन्होंने उत्तर नहीं दिया, आख बंद करके बैठे रहे। रविकाका हर ऋतु मे उत्सव करते थे। उनके मन में ऋतु के अनुसार भिन्न भिन्न अनुष्ठान के स्वरूप आजाते थे। शान्तिनिकेतन मे होने वाले सभी अनुष्ठानों का आयोजन उनकी व्यवस्था के अनुसार होता था। किस के बाद क्या होगा, कहां क्या रहेगा, कौन कहा बैठेगा, पहले से सब कुछ ठीक कर देते थे। एकबार कलकत्ते में जन्म-जयन्ती के मौक़े पर ओरियण्टल आर्ट सोसायटी के कलाकारों ने उनकी सम्वर्द्धना की थी। उत्सव की अच्छी व्यवस्था के लिए मैंने उन्हीं को पकड़ा। पूरे अनुष्ठान को उन्होंने एक ऐसा रूप प्रदान किया कि मुझे तो अवाक होना पड़ा। मुझे ही उन्होंने पीताम्बर पहनाकर क्षितिमोहन बाबू के चुने हुए वैदिक मत्रों को पढ़ाकर तब छोड़ा। मैं खुद कलाकार होकर भी उनकी कला और सुषमा बोध का परिचय पाकर आवाक हुए बिना न रहा। इन अनुष्ठानों को ठीक ठीक करने के लिए आयोजनकर्त्ता में जिस शक्ति की ज़रूरत है वह उनमें थी। उनकी बिदा के साथ ही साथ वह शक्ति भी बिदा हो गई। मेरा अनुमान है अब अनुष्ठान नाम की वस्तु भी बिदा हो जायगी।

रविकाका किसी वस्तु के अव्यवस्थित रूप मे होने के समर्थक नही थे। यह शिक्षा उन्हें ज़माने की आबहवा से मिली थी। किसी भी अनुष्ठान में रच-मात्र भी इधर का उधर नही हो सकता था। सब कुछ सोलहो आने ठीक ठीक होता था।

रविकाका के साथ साथ ये अनुष्ठान, पुराने युग की स्मृतियां अब बिदा हो गईं। रविकाका कहते थे, देखो, हम लोगों ने एक ढग से चलना सीखा था, इसीलिए इस युग के लोगों के साथ ताल मिलाकर नहीं चल पाते। अपने मुंह से ऐसी बात कहने पर भी नई आबहवा पैदा करने की क्षमता उनमें थी और अपने जीवन में ताल मिलाकर उन्हें चलने में अस-मर्थ नहीं होना पड़ा। पुरानी अनुष्ठानिक आब-हवा को उन्होंने ज्यों का त्यों अपने सभी अनुष्ठानों में रखा था। उन्होंने अपनी ताक़त से प्राचीन को नवीन के साथ मिला दिया था।

रवीन्द्रनाथ का चित्राङ्कन

आचार्य नन्दलाल बोस

रवीन्द्रनाथ की चित्र-कला को लेकर पक्ष और विपक्ष में अनेक आलोचनाएं निकली हैं। हम उन्हें महज़ नुक्ताचीनी भी कह सकते हैं, क्योंकि आलोचकों ने चाहे जिस कारण से हो रवीन्द्रनाथ के चित्रों के कलात्मक गुणों पर निश्चित रूप से इधर या उधर अपनी कोई राय प्रकट नहीं की है। किन्तु मैं रवीन्द्रनाथ की चित्रकला पर अपनी निश्चित राय प्रकट करने का ख़तरा लेना चाहता हूं; हालांकि मेरे ये विचार ख़ासतौर पर मेरे व्यक्तिगत विचार हैं। मैं स्वय इन विचारों को अपना ऐलान नहीं समझता, बल्कि इन्हें स्वीकार करना समझता हूं। चूंकि मैं उनकी कलात्मक शक्तियों की बारीक छानबीन नहीं करना चाहता; इसलिये जिस सहजज्ञान से प्रेरित होकर मैं यह निरूपण कर रहा हूं इसे अस्वीकार करने की ज़िम्मेवारी मेरी न होगी। जैसा सदा से होता आया है, उन्हें स्वीकार या अस्वीकार करने का विशेषाधिकार जनता का है।



आचार्य नन्दलाल बोस

जितना अधिक मैं रवीन्द्रनाथ के चित्रों को देखता हूं उतना ही मेरा यह विश्वास बढ़ता जाता है कि रवीन्द्रनाथ के अन्दर हम एक ऐसा महान कलाकार पाते हैं, जिसके कार्यों को शुद्ध प्रतिभा सञ्चालित करती है। उनकी चित्र-कला में हम "व्यञ्जना" की नई प्रणाली पाते हैं। शान्तिनिकेतन के कला भवन की ओर से सारे भारत में हमने अनेक प्रदर्शन किये। उन प्रदर्शनों के दौरान में कलाकार और पढ़े लिखे साधारण लोग मुझ से अक्सर यह सवाल पूछते थे कि रवीन्द्रनाथ के चित्रों को मैं वास्तविक कला समझता हूं अथवा वह उनके प्रतिभाशाली व्यक्तित्व की केवल एक तरङ्ग है? उन सबको मेरा एक ही जवाब होता था कि रवीन्द्रनाथ के जो चित्र उन्होंने देखे हैं वे एक वास्तविक कलाकार के कलापूर्ण चित्र हैं। और फिर से मैं यह दोहराता हूं कि यह बङ्गाल का ही नहीं अपितु सारे भारत का सौभाग्य है कि रवीन्द्रनाथ जो थे वही थे।

पिछले दिनों भारतीय कला में जो पुनर्जीवन हुआ, उससे और उसके कर्ता अवनीन्द्र नाथ ठाकुर से हर एक परिचित है। किन्तु जिस बात को आमतौर पर नहीं माना जाता, वह यह दुःखद सत्य है कि बहुत थोड़े समय में ही हमारे युवक कलाकारों की नई पौध में गिरावट के लक्षण दिखाई देने लगे हैं। अवनीन्द्र-

नाथ ने हमारी कला को जो नया जीवन दिया था उसके क्षीण होकर मरने का ख़तरा दिखाई दे रहा है। फिर भी इस ख़तरे के कारण हमे निराश नहीं होना चाहिये। इस नई वृत्ति में कुछ तत्व है फिर भी यह परिस्थिति अनिवार्य नहीं, क्यों कि नई कला के महान अधिष्ठाता अवनीन्द्रनाथ की कला मे कोई बात ऐसी नहीं है जिसका स्वाभाविक परिणाम यह गिरावट हो। इस गिरावट के कारणों को हम आसानी से जान सकते हैं और यदि चाहें तो उन्हे दूर भी कर सकते हैं। हमारे युवक कलाकारों में यह मर्ज़ है कि वे, इस बात के बेहद इच्छुक होते हैं कि वे अपनी कला शिक्षा मे टेकनिकल अध्ययन और निरुपण के पूरे हुए बिना ही, अपने को कलाकार घोषित कर दें। इससे अधिक दुर्भाग्य की बात यह है कि उनकी अप्रौढ़ रचनाओं को, ऐसी जनता, जो कला और कला की तोलों की ओर से अनभिज्ञ और उदासीन है, स्वीकार करती है और प्रोत्साहन देती है। जनता कला के एक विशेष रूप से परिचित है और वह रूप जब वह इन कलाकारों की कृतियों मे देखती है तो वह सहज ही इन्हें प्रशसा से भर देती है। कलाकर फूलकर कुप्पा हो जाता है। जनता भी सम्मोहक होती है और यह दुष्चक्र चलता रहता है। इस लिये हमें एक ऐसे कलाकार के आगमन को कृतज्ञता से देखना चाहिये जिसकी प्रतिभा से एक ज़बर्दस्त बाढ़ सी आगई जो अनिश्चित गुणों के थोथे दावेदारों को बहा लेजाने के लिये आवश्यक थी। हम प्रतिभा की इस बाढ़ का विरोध कर सकते हैं। किन्तु आख़िर कब तक?

इसके अतिरिक्त लोगों ने मुझसे पूछा है कि क्या हम रवीन्द्रनाथ की चित्रकला को 'बङ्गाल स्कूल आफ़ आर्ट' का अङ्ग समझते हैं? मेरा जवाब है; जिसमें हमारे पुनर्जीवन की सम्भावना हो उसे हम कैसे परित्याग कर सकते हैं? रवीन्द्रनाथ की कला में हम उन सब आवश्यकताओं को देख सकते हैं जो महान कला के लिये ज़रूरी हैं। ख़ासतौर पर उसमें हमें शक्ति और ताज़गी का वह महान गुण मिलता है जो पुरातन को नूतन बनाता है और जिसकी हमारे युवक कलाकारों को विशेष ज़रूरत है। रवीन्द्रनाथ ने जितना हमसे लिया है उससे अधिक हमें दिया है। बहुत कम के वे साझीदार रहे हैं किन्तु बहुत अधिक उनसे हमें प्रोत्साहन मिला है—क्यों कि यही हर प्रतिभाशाली व्यक्ति की प्रतिभा का चिह्न है और यही प्रतिभा हमे उसे अपना कहने से नहीं रोक सकती। रवीन्द्रनाथ अपनी महान प्रतिभा के बावजूद भी हमारे हैं।

किन्तु यह निरूपण मेरा अपना व्यक्तिगत है। दूसरे भी मेरे विचारों से सहमत हों, न तो मैं इसका दावा करूंगा और न इस पर ज़ोर ही दूंगा। मेरे विचारों की जो कुछ भी क़ीमत हो उमे इस तरह व्यक्त किया जा सकता है:—रवीन्द्रनाथ के चित्र इन अर्थों में बेहद व्यक्तिगत हैं कि उन पर उनके व्यक्तित्व की ज़बर्दस्त छाप है। किन्तु फिर भी एक कलाकार के दिमाग़ में वे जिस तरह की प्रतिक्रिया पैदा करते हैं वह अव्यक्तिगत और सार्वभौमिक होती है। उनकी कला की आत्मिक भावना ही निश्चित तौर पर यह प्रतिक्रिया पैदा करती है और जिसे अपनाने के लिये मैं अपने युवक कलाकारों पर ज़ोर दूंगा। मै किसी तरह भी यह दावा नहीं कर रहा कि कला को जिस प्रणाली को रवीन्द्रनाथ ने अपने लिये अपनाया है वह कला के एक नये स्कूल को जन्म देगी। इसके विपरीत मै इस बात की ओर इशारा करना चाहूंगा कि बङ्गाल स्कूल के बहुत से कलाकारों को रवीन्द्रनाथ की कला की नक़ल करने मे बिलकुल सफलता नहीं मिली। यदि हम इस बात को ध्यान में रखें कि कलाकार के लिये जो कुछ व्यक्तिगत है उसे सफलता पूर्वक अपनाया नहीं जा सकता तो हमें इस असफलता में आश्चर्य न होगा। यदि हम किसी भी प्रतिभाशाली व्यक्ति से कुछ सीखना चाहते हैं तो हमें उसकी रचनात्मक कार्य क्षमता की ओर देखना चाहिये।

मैं यह कह चुका हूं कि रवीन्द्रनाथ की कला में हम कुछ इस तरह की बातें पा सकते हैं जो हमारे

स्कूल आफ़ आर्ट के लिये बिलकुल नई हैं। इससे मेरी मुराद यह नहीं है कि उन्होंने नई तरह की रचना प्रणाली का प्रादुर्भाव किया है। सच पूछा जाय तो इस बयान में भी एक सच्चाई है कि कला के रचनात्मक क्षेत्र में कोई नई बात नहीं जोड़ी जा सकती। मेरे कहने का मतलब सिर्फ़ यह है कि उन्होंने उसे प्राप्त करने के नये ढङ्ग और नये तरीक़े हमारे सामने रखे हैं। उनकी कला में उनकी ख़ासतौर पर निजी और व्यक्तिगत वस्तु के अलावा कला के ध्येय तक पहुँचने का नया मार्ग मिलता है। उन्होंने ऐसी वस्तु को व्यक्त किया है जो उनसे पहले बहुत थोड़े व्यक्तियों ने किया था, यानी—आकारों की आश्चर्यजनक विभिन्नता।

यहा मुझे पाठक कला के टेकनिकल पहलू पर कुछ शब्द कहने के लिये क्षमा करेंगे। हर चित्र की इस तरह से कल्पना की जा सकती है कि वह बहुत से मूल तत्वों को मिलाकर कलात्मक सम्पूर्णता पैदा करता है। इनमें से पाच मुख्य मूल तत्व ये हैं—

(१) विचार या विषय अथवा दूसरे शब्दों में चित्र का वास्तविक उद्देश्य;

(२) शिल्प कुशलता या टेकनीक

(३) विविध अङ्गों का सामञ्जस्य; विविधता में सन्तुलन पैदा करने का प्रयत्न

(४) तल पृष्ठ का सुन्दर निरूपण और

(५) वह गूढ़, अलक्षित और अवर्णनीय गुण जो चित्र के विविध अङ्गों मे पैठकर उसमें जीवन पैदा कर देता है।

जैसा हम ऊपर लिख चुके हैं ये सब एक अखण्ड आकार के विविध गुण हैं और इन्हें दिमाग़ी व्याख्या करने के अतिरिक्त एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता।

ऐसा दिखाई देता है कि इस देश में और विदेशों में अधिकांश कलाकार विषय या विचार को लेकर ही चित्र रचना शुरू कर देते हैं और फिर बाद में अन्य बातें पूरी करते हैं। किन्तु रवीन्द्रनाथ दिमाग़ में विषय या उद्देश्य का स्पष्ट आकार हुए बिना ही चित्र रचना शुरू कर देते थे और आसानी से दूसरे पर यह असर डाल सकते थे कि उनका उद्देश्य महज़ शिल्प कुशलता या स्थापत्य डिज़ाइन या रंगों का प्रभाव पैदा करना ही है। किन्तु चित्र सम्पूर्ण होने के बाद हम देखते थे कि चित्र के लिये जिन आवश्यक तत्वों की ज़रूरत होती है उनके चित्रों मे उन सब तत्वों का परस्पर समावेश होता था और उस सब में व्याप्त रहता था—जीवन का व्यापक संगीत; जिसे एक प्रतिभाशाली कलाकार की तूलिका ही पैदा कर सकती थी। और इसीलिये उनके चित्र हमेशा 'वास्तविक' होते थे, हालाकि उनमें वास्तविकता यदा कदा ही होती थी। इसलिये जब कि उनकी कला में सभी आवश्यक तत्व मौजूद हैं हमें उसे एक प्रतिभाशाली व्यक्ति की तरंग मात्र या झक नहीं कहना चाहिये। यह दूसरी बात है कि उन्होंने चित्र रचना की परम्परा को उलट दिया या बदल दिया है। यदि जनता उनके चित्रों को द्विविधा मे देखती है तो उसका यही कारण है कि लोगों का यह आम ख़याल है कि चित्र के अन्दर मुख्य बात विषय का प्रतिपादन होता है। और दूसरे आम विश्वासों की तरह यह विश्वास भी निर्भ्रान्त नहीं है। कलाकार इस बात से भली भाति परिचित है कि यदि कोई निश्चित विचार लेकर भी चित्र रचना शुरू करे, तो रचना के क्रम विस्तार में उसमे इतने गूढ़ परिवर्तन हो जाते हैं और कलाकार उसमे इतने परिवर्तन करने के लिये बाध्य हो जाता है कि अन्त में विचार केवल गौण वस्तु होकर रह जाता है। रवीन्द्रनाथ की कला में विचार की हमेशा जान बूझ कर ही नहीं किन्तु निश्चित रूप से अवहेलना की जाती है और उसे अन्त मे अपनी रक्षा आप करने के लिये छोड़ दिया जाता है और इसी से उनके चित्रों में एक विशेष गुण आ जाता है।

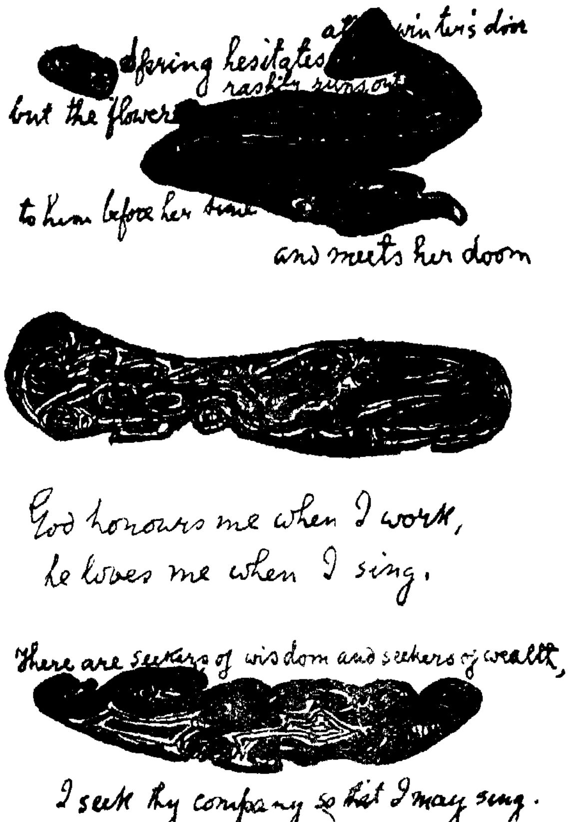
इसी गुण को मैं बङ्गाल स्कूल आफ़ आर्ट के नवीन युवक कलाकारों के ध्यान में विशेष रूप से लाना चाहता हूं। पिछले समय से हमारे कलाकार कला को बहुत सकरी सीमाओं में बन्द करने की अभिरुचि दिखा रहे हैं। वे विषय तत्व को बेहद

महत्त्व देते हैं, तर्ज़ तरीक़ों पर बहुत ज़ोर देते हैं और कला की सम्पूर्णता के मुख्य तत्वों की ओर उदासीनता दिखाते हैं। इस तरह की अभिरुचि से वे जनता से सस्ता आदर पा जाते हैं; ऐसी जनता, जो अपने हृदय के निकट भावों का मूर्तरूप देखकर खुशी से फूल उठती है। इसलिये आवश्यकता है कि हमारे युवक कलाकारों को कला के मौलिक तत्वों के ऊपर फिर से शिक्षा दी जाय और इस काम को उससे अधिक अच्छी तरह और कौन कर सका, जिसने हमारी आखों के सामने ऐसे रूप और आकार बनाये जिनकी मौलिकता ने हमारे श्रेणी विभाजन को बेकार कर दिया और जिसकी अदम्य शक्ति बरबस कलाकार की सराहना को अपनी ओर खींचती है। हालांकि मुमकिन है इसी बात से आलोचक के शिष्ट भावों को धक्का पहुंचा हो। इस मामले मे यदि रवीन्द्रनाथ रूखे और ध्वंसक दिखाई देते हैं, तो वह इसीलिये क्योंकि वे हमारे लिये नये सिरे से सख़्त ज़मीन तोड़ रहे हैं, ताकि भविष्य मे हमारे कला-उद्यान के फूलों मे अबाध रूप से जीवन रस पहुँचता रहे।

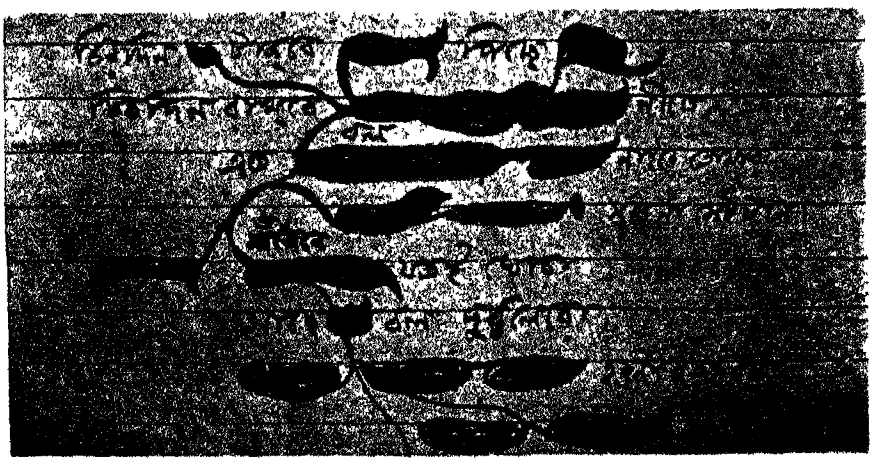
परम्परा के विरुद्ध उनका विद्रोह वास्तविक नहीं है। वह केवल दिखावे को वस्तु है। आज जो लोग अपनी दक़ियानूसी शास्त्रीयता पर अपने को बधाई दे रहे हैं, रवीन्द्रनाथ कला की रचनात्मक भावना की ओर इन लोगों से कहीं अधिक सच्चे रहे हैं। आम जनता का दिमाग़ लकीर की फ़क़ीरी से चिपटा रहता है। ज़रा आप उससे अलग हुए नहीं और उसने आपको शङ्का से देखा। चूंकि रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा अलग और अपने आप में अकेली है और अवनीन्द्रनाथ के सुन्दर शब्दों मे—उसमें ज्वालामुखी की सी विस्फोटक शक्ति है, इसीलिये, उसे तब तक के लिये अवज्ञा सहनी पड़ रही है जब तक कि समय लोगों को उसके उपहारों को समझने की बुद्धि दे दे। इस सम्बन्ध में हमें याद आता है कि शुरू शुरू में हमारे स्कूल आफ आर्ट के संस्थापक अवनीन्द्रनाथ ठाकुर को भी इसी तरह की अनमना और क़रीब क़रीब ठण्ढा स्वागत दिया गया था।

मुझ पर इस बात का इलज़ाम लगाया जा सकता है कि मैने कहा तो बहुत कुछ किन्तु समझाया कुछ नहीं। जब मैंने यह कहा कि रवीन्द्रनाथ की कला 'वास्तविक' है किन्तु उसमे वास्तविकता नहीं तो मैं यह समझता था कि मुझे इस बात के लिये ललकारा जायगा कि मै बताऊं कि "वास्तविक" से मेरा मतलब क्या है? यदि मै इस ललकार को स्वीकार करने में अनिच्छा ज़ाहिर करता हूं तो इसका यह अर्थ नहीं कि मेरे अन्दर विश्वास की कमी है बल्कि इसलिये कि मै बहुत अच्छी तरह जानता हूं कि साहित्यिक व्याख्या की बड़ी से बड़ी शक्ति रखने वाले भी इस शब्द की ठीक ठीक व्याख्या करने में सफल नहीं हो सके। मै एक तुच्छ कलाकार हूं, शब्द जिसकी व्याख्या के माध्यम कभी नहीं रहे। किन्तु यहां मैं एक उद्धरण देना चाहूंगा जो रवीन्द्रनाथ ने एक बार अपनी निजी बातचीत में मुझ से कहा था "वास्तविकता की चाहे जो परिभाषा हो, उसकी एक विशेषता यह है कि वह हमेशा ध्यान आकर्षित करती है और जितना ही कोई उसकी ओर देखता है उतना ही उसे स्वीकार करने के लिये उसे बाध्य होना पड़ता है।" यह सही है कि ऐसी वस्तु भी, जो सिर्फ अजीब-ओ-ग़रीब है, ध्यान आकर्षित करती है, किन्तु जब कि भावनोत्पादक और कल्पित आकर्षण धीरे धीरे मिट जाता है, "वास्तविक" वस्तु का आकर्षण बढ़ता ही जाता है। और हालांकि मैं यह स्वीकार करने को तय्यार हूं कि रवीन्द्रनाथ के चित्रों मे कुछ विलक्षणता और कुछ अपरूपपन है, फिर भी उनमें "वास्तविक" का इतना पुट है कि आकर्षण बजाय घटने के अधिकाधिक बढ़ता ही जाता है; और वे अधिक से अधिक समझ में भी आते जाते हैं। रवीन्द्रनाथ के चित्र अपने आप अपनी कहानी कहने लगते हैं। इसीलिये मैं इस बात के लिये उत्सुक हूं कि हमारे युवक कलाकार दिल से उनकी चित्रकला का अध्ययन करें। मुझे इसकी परवाह नहीं कि आलोचक, जिन्हें महज़ तर्क के सिद्धान्त से मतलब है, इन चित्रों के सम्बन्ध में क्या कहेंगे।

गुरुदेव की कटी छंटी हस्तलिपि से बनी चित्रमय आकृतियां



गुरुदेव की बङ्गला हस्तलिपि



बंग-भङ्ग आन्दोलन के समय लिखे हुए राष्ट्र-गीत का एक अंश

(विश्व-भारती के सौजन्य से)

रवीन्द्रनाथ की चित्रकला

श्री पृथ्वीश नियोगी

गुरुदेव की चित्रकला शुरू कैसे हुई ?

वह अपनी हस्तलिपियों में काट छांट किया करते थे। उन्होंने चाहा कि इस तरह की काट छांट को वे "बाज़ाब्ता दफ़ना दिया करें," यानी उनके ऊपर लकीरें खींचकर उन्हें ढक दिया करें। इन लकीरों में भी एक कला थी, एक समतोल था। इसी से धीरे धीरे उनकी चित्रकला का प्रारम्भ हुआ। किन्तु, हरफ़ों के मिटाने के लिए इन लकीरों के खींचने में उनका उद्देश्य न कोई तसवीर खींचना था और न किसी सचाई को चित्रित करना। इन लकीरों से जो अजीब अजीब शकलें ख़ुद ब ख़ुद बनने लगीं उनकी तरफ़ गुरुदेव का ध्यान गया। वह और संभलकर इस तरह की लकीरें खींचने लगे। अब वह अपनी हस्तलिपियों की ग़लतियों को मिटाने में सिर्फ़ लकीरों के समतोल ही का ख़्याल नहीं करते थे। फिर भी उन्होंने अपने तरीक़े में बहुत ज्यादा तबदीली नहीं की। उनके हाथ के शुरू के चित्र इसी तरह खिंचे हुये हैं। वह उनकी हस्तलिपियों से ही पैदा हुए हैं, किसी चित्र के खींचने के इरादे से नहीं। उनकी खींची हुई बहुत सी बाद की तसवीरों से भी इस चीज़ का साफ़ पता चलता है। उनका तरीक़ा अधिकांश दूसरे चित्रकारों के तरीक़े से बिल्कुल भिन्न था। लेकिन उनके तरीक़े में किसी तरह का कोई गूढ़ रहस्य नहीं था। उनकी लेखनी शुरू में एक समतोल के साथ लेकिन बिना किसी ख़ास लक्ष्य के चलती रहती थी। उससे ख़ुद ब ख़ुद अजीब अजीब शकलें सी बन जाती थीं। गुरुदेव उन शकलों को केवल एक ठीक ठीक रूप देने लगे।

गुरुदेव की हस्तलिपियों के इन सुधारों में कभी कभी क़लम फिराते फिराते अजीब अजीब परिवर्तन होते रहते थे। "कभी कभी अकस्मात् कुछ लकीरों की शकल सालम मिश्री की सी या घोंघा की सी हो जाती थी। फिर अचानक लकीर खिंचते खिंचते प्राणी विज्ञान (बायालोजी) या विकासवाद के नियमों की परवाह न करते हुए अन्त में वही शकलें किसी न किसी तरह आदमी की सी शकलें बन जाती थीं।" गुरुदेव का पहले से कोई ख़ास इरादा कोई निश्चित शकल बनाने का न होता था। वह केवल अपने हाथ को चलने देते थे और अकस्मात जो शकलें उससे बन जाती थीं, बन जाने देते थे। कभी इत्तफ़ाक़ से एक चिड़िया की शकल बन जाती थी जो मोती के से हलके गुलाबी रंग की ज़मीन पर नाज़ुक लकीरों से बनी हुई एक छायाचित्र होती थी। कभी कभी एक हब्शी (मास्क) की सी शकल बन जाती था। जिसमें सारा चेहरा मोहरा मालूम होता था कि, जान-बूझकर व्यंग के साथ बिगाड़ दिया गया है। कभी कभी एक टेढ़ा मेढ़ा, सांप की तरह रींगने वाला, जानवर बन जाता था "जिसमें एक सौम्यता भी होती थी और अतिशयोक्ति भी और जो एक ऐसा अजीब प्राणी होता था, जिसका अस्तित्व असम्भव नहीं हो सकता, लेकिन किसी कारणवश न जाने क्यों उस तरह का जानवर दुनिया में नहीं है।" गुरुदेव के इन चित्रों में कुछ उनकी याददाश्त की चीज़ें, कुछ उनकी देखी हुई चीज़ें और कुछ साहित्यिक अंश सब इस तरह एक दूसरे में ओत प्रोत हैं कि अलग अलग नहीं किये जा सकते।

जिस तरह और लोग कभी कभी दिन में जागते हुए भी अजीब अजीब स्वप्न देखने लगते हैं उसी तरह गुरुदेव भी देखते थे। इन जाग्रत स्वप्नों का प्रभाव गुरुदेव की कल्पनाशक्ति पर पड़ता था। उनका हाथ अलौकिक और विलक्षण शकलें बनाने लगता था। उनके इन चित्रों को देखने से हमें ऐसा मालूम होता है कि जो झीना पर्दा लौकिकता को अलौकिकता

से या वास्तविकता को स्वच्छन्द कल्पना से अलग करता है वह पारदर्शी है। डरावने स्वप्नों की सी चीज़ें बारबार सामने आ जाती हैं। अंधेरे शून्य मे आरपार दिखाई देने वाली शकलें नाचने लगती हैं और अजीब अजीब भूतों प्रेतों की सी नई नई शकलें बनने और बदलने लगती हैं। ऐसी ऐसी शकलें पैदा होने लगती हैं, जो वास्तविकता और कल्पना की सीमाओं के बीच में उस जगह रहती हैं जहां इन दोनों में से किसी का भी राज्य नहीं।

गुरुदेव में सामंजस्य और समतोल की अनुभूति स्वाभाविक थी। इसके अलावा वह मुख्तलिफ देशों की तरह तरह की कलाओं और उनकी अलग अलग अवस्थाओं से भी परिचित थे। इससे उनकी रचना शक्ति को भिन्न भिन्न तरह की चीज़ें सूझती रहती थीं। शायद इसीलिये उनके चित्रों में कई ख़ास अलग अलग प्रणालियां और तरीक़े कहीं कहीं साफ़ चमकते हुए दिखाई देते हैं। लेकिन यह सम्भव प्रतीत नहीं होता कि इन प्रणालियों का उन पर कोई प्रत्यक्ष असर पड़ा हो या उन्होंने जानबूझकर उनका अनुसरण किया हो।

ज़ाहिरा गुरुदेव की चित्रकला का तर्ज़ उन चित्र कारों के चित्रों से मिलता है जो 'सर-रियलिस्ट' कहलाते हैं, लेकिन फिर भी इन चित्रकारों के चित्रों के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि उनके चित्र "ठोस असंगतता और आमतौर पर कल्पना की दुनिया के हाथ के बनाए हुए रंगीन फ़ोटो"* हैं, या उनमें केवल "अव्यवस्था को एक व्यवस्थित रूप दे दिया गया है।"†

इन वैयक्तिक और अपूर्व विचित्रताओं के कारण शायद हमें जर्मनी के उन चित्रकारों की याद आ जाती है जो 'एक्सप्रेशनिस्ट' कहलाते हैं। हरबर्ट रीड ने, नीचे लिखे शब्दों मे, पाल क्ली की बाबत जो कुछ कहा है वह गुरुदेव के चित्रों के बारे में भी उतना ही ठीक है—

"........उन्होंने अपनी ही दुनिया बना ली है, एक ऐसी दुनिया जिसमें अपने ही अनोखे पशु पक्षी और अपनी ही अनोखी बनस्पति हैं। उस दुनिया के दृष्टिशास्त्र और तर्कशास्त्र के अपने ही अलग क़ानून हैं।......फिर भी क्ली के चित्रों में कोई बात जानबूझकर मज़ाक़ की या व्यंग की नहीं है। उसकी कला, स्वतः प्रेरित अद्भुत, सहज और वास्तविक है। कभी कभी उसमें लड़कपन झलकने लगता है। कभी कभी वह शुरू के असभ्य मनुष्यों की सी मालूम होती है। कभी कभी उसमें पागलपन दिखाई देता है। किन्तु वास्तव में उसमें इस तरह की कोई चीज़ नहीं है और क्ली की कला को हम सबसे अच्छी तभी समझने की कोई कोशिश कर सकते हैं जब हम उसे इन स्वीकृत प्रणालियों से अलग करके देखने की कोशिश करें।"

किन्तु इस समानता को और ज़्यादा बढ़ाकर ले जाना लाभदायक नहीं है; क्योंकि अगरचे गुरु देव के बहुत से चित्रों का वायुमडल संगीतमय है, फिर भी जर्मनी के 'एक्सप्रेशनिस्ट' के चित्रों मे उनमें एक फ़रक़ यह है कि गुरुदेव के चित्रों मे जो संगीत है वह हमेशा या तो बाद में पैदा हो गया है और या अकस्मात। आमतौर पर गुरुदेव का पहला ख़्याल केवल एक ख़ास समतोल के साथ लकीरें खींचना, उसके बाद एक ख़ास शकल का छाया चित्र बनाना और फिर उसमें दूरी का ख़याल रखते हुए रंगों की चमक और सफ़ाई लाना होता था।

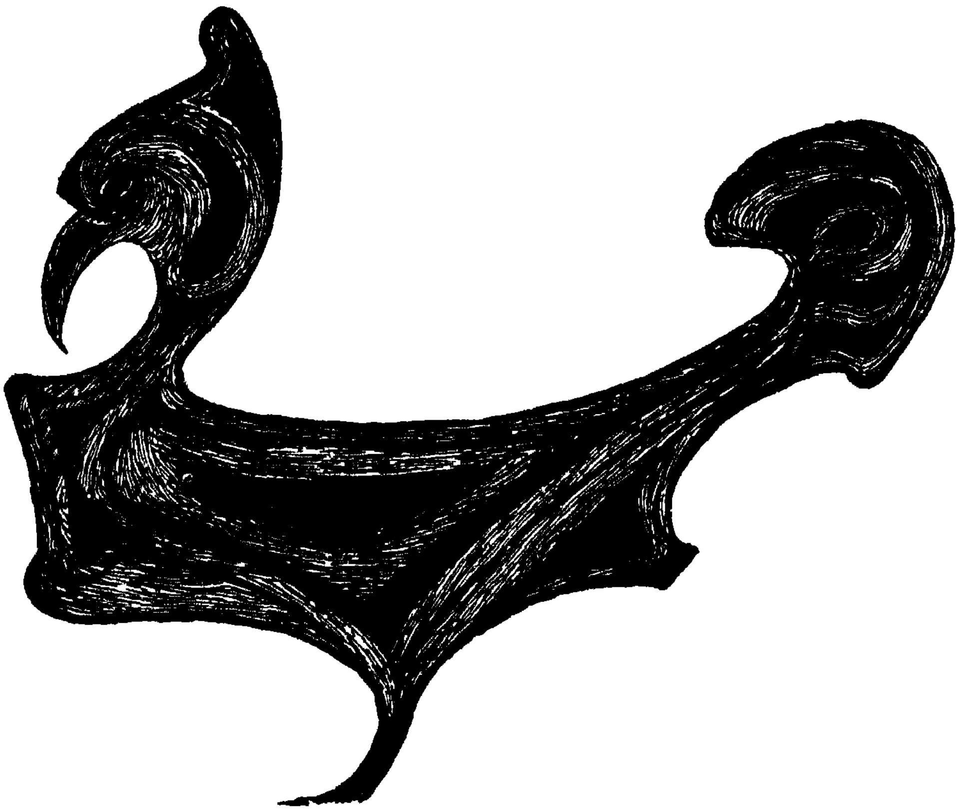
कवि ठाकुर के नीचे लिखे वाक्यों से यह मौलिक अन्तर और उनकी कला का असली रूप साफ़ समझ में आ जायगा—

"मेरे चित्र लकीरों में मेरी काव्य रचना हैं। यदि अकस्मात वे इस योग्य हैं कि लोग उन्हें कला स्वीकार करें तो इसका मुख्य कारण यही होगा कि उनके बाहरी रूप मे कोई ऐसा समतोल है जो हमारा लक्ष्य है। यह कारण नहीं हो सकता कि इन चित्रों में किसी विचार या आदर्श को दर्शाया गया है या उनमें कोई वास्तविक तत्थ्य चित्रित किया गया है।

* Definition of Painting put forward by Salvador Dali

† Ibid

विश्ववाणी



चित्रकार—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा

आचार्य श्री विधुशेखर भट्टाचार्य

रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा को, जीवन के सम्बन्ध मे उनके दृष्टिकोण को, उनकी काव्य-वाणी को, उनकी सर्वतोमुखी कार्य क्षमता को और उनके साहित्य में मानवता के करुण और प्रशान्त सगीत को सक्षेप में बयान कर सकना कठिन है। "प्रकाशोज्वल सृजन का प्रदीप्त प्रवाह" सूर्य जिस तरह 'मणि ज्योति और ज्वाल-शिखाओं का परिधान" पहनकर पूर्व मे उदय होता है और जीवित और जाग्रत दुनिया को जीवन और प्रकाश देते हुए त्रिभुवन की यात्रा करता है इसी तरह रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा भावों, विचारों और कल्पनाओं की दुनिया को स्वर्गीय प्रकाश देती रही है। ईश्वर की आज्ञा से जिस तरह सूर्य ने शून्य और अरूप से बनी हुई नीले और गहरे जल की दुनिया को प्रकाश मे भर दिया उसी तरह रवीन्द्रनाथ की कविता ने दुनिया को रूप और आकार देकर उसमे अपनी सुमधुर वीणा की ध्वनि पर नृत्य कराया।

एक महान अध्यात्मवेत्ता ने कहा है कि हमारे जीवन का लक्ष्य ज्ञान नहीं कर्म है। एक दूसरे अध्यात्मवेत्ता ने कहा है कि किसी भी शुभ कर्म के करने मे पहले शुद्ध ज्ञान आवश्यक है। रवीन्द्रनाथ की कविताओं मे हम कर्म और ज्ञान का सुन्दर समन्वय पाते हैं। "कवि युद्ध की जयघोषणा है। वह दुनिया का ऐसा व्यवस्थापक है जिसकी पद्धति पर दुनिया ने स्वीकृति की मोहर नहीं लगाई" रवीन्द्रनाथ की कविता सन्देशवाहक है। वह सड़े गले विचारों को इस तरह गिरा देती है जिस तरह वायु पेड़ के सड़े हुए पत्तों को गिराती है। शान्तिनिकेतन के महाकवि ने अन्याय और अत्याचार के बीच मे उभरती हुई नई दुनिया की सुन्दर तसवीर हमारी आखो के सामने रखी है। उन्होंने एक महान द्रष्टा की तरह ससार की धारा को ठीक ठीक दिशा में बहाने का प्रयत्न किया है। उनकी कविता में सुख है और उनके साहित्य में जीवन है। वे आशा और फिर से बल प्राप्त करने के सिद्धान्त का सन्देश देते हैं। उनके अनुसार आचार विचारों के मुर्दा बन्धन, बञ्जर रूढ़िया, काहिली, अन्याय और अत्याचार अवश्य टूटने चाहिये। उन्होंने ज्ञान और कर्म, ध्येय और साधन के समन्वयात्मक मेल का प्रचार किया। वे केवल दुनिया के आश्चर्य और विकास के ही पैग़म्बर न थे किन्तु आशा, प्रेम और कर्म के भी मसीहा थे। शान्तिनिकेतन उनके आदर्शों का साकार रूप है और श्रीनिकेतन उनकी व्यावहारिक वास्तविकता का प्रमाण है। रवीन्द्रनाथ आदर्श और व्यवहार दोनों के सुन्दर नमूना थे।

कवि के कर्तव्यों के सम्बन्ध मे यह ठीक ही कहा जाता है कि साधारण वस्तुओं पर वह अनन्त की मोहर लगा देता है। उसकी वाणी के प्रभाव में साधारण वस्तु अमरता की धात्री बन जाती है। कवि वस्तुओं को इस तरह का प्रकाश देता है जो न जल से मिला है न पृथ्वी से और जो न सूर्य से ही लिया गया है, ऐसा प्रकाश जिसे कवि ने अपने स्वप्नों की दुनिया में संजोया है।

कवि कहते हैं "रूप रहता है किन्तु क्रिया कभी समाप्त नहीं होती। विश्वभारती का उद्देश्य और उसका निर्माण सीमित हो सकता है, रवीन्द्रनाथ की कविता में भी सीमा और बन्धन हो सकते हैं, किन्तु जिस भावना ने उनकी कविता और विश्वभारती को प्रोत्साहन दिया वह समस्त बन्धनों को पार कर युग युग जियेगी। इससे अधिक भ्रम की बात दूसरी नहीं हो सकती कि कोई विचार सीमाओं से बंधा रहता है या कविता केवल अपने शब्दों में सीमित रहती है। आकार तो केवल एक निमित्त है किसी विचार को एक क्षणिक मूर्त्तरूप देने का। किन्तु विचार स्वयं युग युग पर्यन्त अनन्तकाल तक जीवित रहता है।

"सौंदर्य की वस्तु सदा सदा सुख देती है।" कलात्मक सौंदर्य की दृष्टि से यह बहुत अधिक महत्व की बात नहीं है कि रामचन्द्र कोई ऐतिहासिक पुरुष थे या सीता केवल कवि की कल्पना थीं अथवा हज़रत मसीह वास्तव में हुए थे या केवल एक अत्याचार पीड़ित जाति की गहरी भक्ति के एक काल्पनिक प्रतिबिम्ब थे। जब तक मानव समाज सत्य और सौन्दर्य, भावनाओं और विचारों के लिये जीवित रहेगा, तब तक दुखी संसार की धार्मिक और नैतिक भावनाओं की तृप्ति के लिये रामचन्द्र और हज़रत मसीह जैसे पात्र अत्यन्त आवश्यक होंगे।

रवीन्द्रनाथ ने ऐसे ऐसे पात्रों का निर्माण किया है जो युगों तक अमर रहेंगे। उनके पात्र सीमाओं के बन्धन में बंधे हुए नहीं हैं। उन्होंने अध्यात्मिक तत्वों से अपने भावों का निर्माण किया है। उनके भाव ईश-प्रदत्त हैं। वे हमारी दृष्टि-पथ के आदि प्रकाश हैं, वे हमारे कर्मों के आदि-श्रोत हैं। रवीन्द्रनाथ हमें भाग्य को सचालित करने वाली अपूर्व कल्पना देते हैं; ऐसी कल्पना जो किसी भी राष्ट्र के भाग्य को पालने से लेकर चिता तक पथ प्रदर्शन करती है।*

* मूल बङ्गला में।



रवीन्द्रनाथ की एक देन

डाक्टर सर यदुनाथ सरकार

रवीन्द्रनाथ के स्वर्गारोहण के बाद विलायत के सुविख्यात पत्र "टाइम्स" में उनके जीवन चरित्र की आलोचना करते हुए लिखा गया कि, उन्होने अभिजातवंश में जन्म ग्रहण किया था, ख़ुद भी अभिजात स्वभाव के थे और जीवन भर जनता से दूर निःसंग अकेले खड़े रहे।

इसका अर्थ यह नहीं है कि, रवीन्द्रनाथ अपने को नवाबज़ादा समझकर समग्र देशवासियों से घृणा करते थे और उन्हें अछूत समझकर उनके सुख दुःख और उनकी घर गृहस्थी की बात कभी नहीं सोचते थे। सभी जानते हैं कि, उनके जीवन और उनके रचित साहित्य में धन का घमंड, विलासिता या कुलीनता का अभिमान कुछ भी नहीं था; बल्कि उनका जीवन, व्यवहार और लोगों के साथ मेल जोल में हमारे शिक्षित मध्यवित्त बंगाली परिवार की तरह सीधा सादा था; सिर्फ़ उनका घर द्वार कला विद्या के श्रेष्ठ मनन से (नक़ली brumagen नहीं) एक नवीन सुन्दर प्रकाश में उद्भासित था, जैसे हमारे आप लोगों के घर नहीं होते। यही उनकी विशिष्टता थी। इस बात को मैं भूल नहीं गया हूं कि उन्होंने एक बार आत्रेयी नामक गांव के "पाट के हाट में मथुर कुण्डू शिबू शा" के साथ सटकर पाट की दूकान खोली थी, यद्यपि अंत में बहुत नुक़सान उठाकर उन्होंने भागकर उससे अपना पिण्ड छुड़ाया। यह अन्नजीवी राज्यशासनकारी सामन्त (aristocrat) वर्ग का काम नहीं है। और उनकी रचनाओं की एक भी ऐसी पंक्ति नहीं है जिसमें यह दिखाई पड़े कि, वह किसी भी आदमी को अछूत या अवज्ञा का पात्र समझते थे। बल्कि उन्होंने सदा समाज के दलित, राजशक्ति द्वारा लांछित, मूक असहाय जनता को अपना कहकर छाती से लगाया। रवीन्द्रनाथ में कभी भी धन की गर्मी नहीं रही, क्योंकि ज़मींदार के पुत्र की हैसियत से उनके हिस्से के रुपये कम ही होते थे, और कवि की हैसियत से उन्हें राजा के गले से हीरे का हार कभी नहीं मिला। वे सदा मूल्यहीन फूलों की माला को ही घर लाये थे।

तो, क्या "टाइम्स" का कथन झूठा है? बात ऐसी नहीं है। दुनिया के सभी देशों में मनीषीगण अकेले होते हैं। उनका एक भी मित्र ऐसा नहीं होता जिसके साथ वे बराबरी से विचार और भावों का आदान-प्रदान कर सकें। उन्हें अच्छी तरह समझने के योग्य लोग भी उनके जीवन काल में नहीं मिलते; उनकी मृत्यु के बहुत दिनों के बाद तब उनके काव्यों की यथार्थ व्याख्या होती है, जब उनकी वाणी फल प्रदान करने लगती है। वे इस तरह के एक निःसंग मनीषी थे। दाते, और उसके बहुत दिनों बाद आये मिल्टन—उनके मस्तिष्क विचारशीलता से भरे रहते थे, दुःख के अंधेरे में वे घिरे रहते थे, मुख पर नीरवता छाई रहती थी, दोनों ओठ दबे होते थे। शेक्सपियर को भी छुट्टी नहीं मिलती थी। यह बात सच है कि वह परिवार सन्तान के साथ रहते थे, नाट्यशाला में उनके अनेकों मित्र और शत्रु थे, मोटी रक़म इकट्ठा करके अपने शहर में उन्होंने "पक्का मकान" ख़रीदा। लेकिन ये बाहर की बातें हैं; उनके होठों पर सदा मुस्कान विराजित रहने पर भी उनका हृदय था निःसंग, अकेला। एक आधुनिक अंगरेज़ कवि ने इस सचाई का पता पा लिया है और शेक्सपियर को सम्बोधित करके कहा है—'तुम चिर दिन अपरिचित रहोगे·····।"

Others abide our question Thou art free,····Thou didst walk on Earth unquessd at, रवीन्द्रनाथ इसी कोटि के मनीषी थे।

और एक श्रेणी के कवि हैं जो प्रतिभाशाली हैं, दुनिया के लिए उनकी देन भी मूल्यवान है। लेकिन वे उपर्युक्त चिर धवल निस्पन्द एवरेस्ट या कांचन-जंघा से मानस-जगत की सर्वोच्च चोटी पर नहीं हैं। वे अधिकाश में तात्कालिक-फलदायक हैं। वे अति शीघ्र ही जनता का हृदय जीत सकते हैं, क्योंकि वे हमारे आप जैसे लोगों के मन के भावों और आकाक्षाओं को सुन्दर भाषा में व्यक्त करते हैं, लाखों लोगों के साथ मिलकर एक साथ अग्रसर होते हैं,— विजयनाद करके, शोक गीत गाकर, अथवा मानव-प्रगति के शत्रुओं के विरुद्ध युद्ध अभिमान लेकर। इस श्रेणी के अच्छे दृष्टान्त हैं रूसो, विक्टर ह्यूगो, और लार्ड बायरन।

"दल की अनुभूति" से इनका काव्य अनुप्राणित होता है। ये सभी लोगों को इकट्ठा करते हैं। हमारा स्वार्थ, विपत्ति, रास्ता एक है—यह विश्वास लाखों लोगों में पैदा कर देते हैं; ये कवि हमारे "जन-गण-कर्म अधिनायक," हैं। हमारी लड़ाई में वे बिगुल बजाने वाले और झंडा ले जाने वाले हैं, इस बात को हम भली भांति समझते हैं। एक बार "बंग आमार, जननी आमार, धात्री आमार, आमार देश" इस गीत को स्थिर होकर सुनिए; और एक दिन "अयि भुवन मनमोहनी" का गान सुनिये। इसके बाद अकेले चुपचाप शान्त होकर दोनों गीतों को सुनने के बाद अपने मनोभावों का सूक्ष्म विश्लेषण कीजिये। तब आप समझ सकेंगे कि इन दो गीतों ने आपके मन में दो बहुत ही भिन्न भिन्न भावों को जगा दिया है। एक पार्थक्य श्रेणी से सम्बन्ध रखने वाला है, और दूसरे में कमोवेश सर्वव्यापी भावना है।

रवीन्द्रनाथ ने कभी भी जनता के बीच में कूद कर नेतृत्व के लोभ से हुँकार नहीं भरा। अपनी वीणा को कभी सप्तम स्वर में नहीं बजाया। इस तरह के रेलमपेल काम के लिए उनमें आन्तरिक असमर्थता थी। जिस तराजू पर मनों कोयला तौला जाता है, उसका काम गवेषणागार का रसायनिक कांटा (केमिकल बैलेंस) नहीं कर सकता। एक बार स्वदेश प्रेम में पागल होकर उन्होंने कुछ दिनों तक अखबार निकालने की इच्छा की, उसका नतीजा और स्थायित्व बिल्कुल उस आत्रेयी नामक गाव के पाट वाले कारोबार सा ही रहा। फिर इस देश और इस युग में सफलतापूर्वक अखबार चलाना हो तो किसी कालीप्रसन्न 'काव्य विशारद' अथवा किसी पांचकौड़ी बाबू जैसे सम्पादक को भिड़ा दो, क्योंकि उनका पेशा आकाश में जाल फेंककर तारों को पकड़ना नहीं है। उनके तजुर्बे कुछ दूसरी तरह के हैं।

(२)

बंगला साहित्य और बंगालियों के आधुनिक विचार-जगत में रवीन्द्रनाथ की अद्वितीय देन क्या है? जिस मनोभाव से इस देन का उद्गम होता है, वह उनकी एक छोटी कहानी में थोड़े से शब्दों में भलीभांति चित्रित हुआ है :—

"मछली की पूछ के सचालन से जल में जो गूढ़ आन्दोलन चलते रहते हैं, सरोवर में कमल जिस तरह उसके हर एक थपेड़े का अनुभव कर सकता है, शेखर उसी प्रकार अपने चारों ओर वाले सभा के लोगों "के मनके भावों को हृदयंगम करता था······

"शेखर किनारे पर उठ खड़े हुए और उन्होंने सिर्फ इन्हीं कई शब्दों को कहा—'वीणापाणि' श्वेतभुजा! तुम अगर अपने कमलवन को शून्य करके आज अखाड़े में आ खड़ी हुई, तब तुम्हारे चरणासक्त जो अमृत के प्यासे भक्त हैं उनकी दशा क्या होगी?—,"

[जय पराजय]

क्या मैं इस पार्थक्य को उपमा देकर समझाऊँ? मानों एक ओर विशारद (काली प्रसन्न) की कानों के पर्दे को फाड़देने वाली नक्कारों की आवाज़ या पाचकौड़ी बाबू का दैनिक "हेवाख" और दूसरी ओर रवीन्द्रनाथ का नियन्त्रित बारीक स्वर अथवा एक ओर हथकटी शर्ट, खाकी शार्ट (हाफ़ पैण्ट) और फुटबाल बूट से सजा हुआ युवक, और दूसरी ओर शान्तिपुर की महीन धोती, धुले हुए मलमल का चूड़ीदार कुर्त्ता और कामदार ग्रीशियन स्लिपर पहने हुए एक

तरुण, रवीन्द्रनाथ की भाषा में, "आहिरग्राम पत्रिका और ज़ाहिर ग्राम पत्रिका।"

रवीन्द्रनाथ ने जो गुण बंगला साहित्य में पहले पहल ला दिया था, और जिसके मनन में कोई भी आजतक उनका मुक़ाबला करने लायक़ नहीं हुआ, उसका अंग्रेज़ी नाम है—Refined Delicasy और उसका विपरीत नाम Vulgarity of taste "कोमलता" या "मार्जित रुचि" कहने से ठीक ठीक बोध नहीं होगा, क्योंकि 'कोमल' से हमें अक्सर रीढ़हीन दुर्बलता या अस्थिहीन मांसपिण्ड का वही चित्र मिलता है जो वैष्णवसाहित्य में "प्रेमरसगलित" कहने से बोध होता है। और "मार्जित रुचि" साधरणतः अश्लीलता के विपरीत अर्थ की बोधक मात्र है। मै एक ऐसा शब्द चाहता हूँ जिससे कवि शेखर और दिग्विजयी पण्डित पुण्डरीक के बीच में मानसिक पार्थक्य का बोध हो सके। बंगला साहित्य के हर एक क्षेत्र में रवीन्द्रनाथ वर्त्तमान युग के कवि शेखर हैं।

उसी तरह 'इतर' से Vulgar शब्द का अनुवाद नहीं किया जा सकता, क्योंकि अभिजात-कुल का लड़का और रातोंरात बना हुआ लखपति भी रुचि के हिसाब से Vulgar हो सकता है। अमरीका मे इसके अनेकों दृष्टान्त देखने मे आते हैं।

स्वर्गीय लालमोहन घोष और स्वर्गीय एन० एन० घोष महाशयों का भाषण सुनने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था। क्या ऐसे कोई जीवित व्यक्ति हैं जिन्हों ने इनका भाषण सुना हो? अगर हैं तो उन्हें इन दोनों महात्माओं के भाषणों की शैली और भाषा से आज के राजनैतिक मंच से दिए गए किसी विख्यात नेता की हुंकार और उछल कूद से तुलना करने दीजिए अथवा, पचीस-तीस वर्ष पहले वाले बंगाल के पेशेवर थियेटर में जो 'पेटेण्ट गले की आवाज़' रवीन्द्रनाथ के शब्दों में सुनने में आती थी, उससे युनिवर्सिटी इन्स्टिट्यूट में उच्चशिक्षित शौकिया अभिनेता के गले और भाव-भंगी—अथवा 'विचित्रा' में "डाकघर" आदि की अभिनय-प्रणाली-से तुलना कीजिए। एकबार मैंने प्यारी चरण सरकार स्ट्रीट में एक साधारण आदमी को देखा। उसके तन पर एक गंजी और ऊपर से वेस्केट मात्र था, लेकिन उस वेस्ट कोट का सामने वाला हिस्सा लाल साटिन और पीछेवाला हरे रंग का था। वह फुटबाल का खिलाड़ी नहीं था! बहुतेरे ऊँची श्रेणी के लोगों के गले की 'टाई' (स्त्रियों के लिए रिबन) का रंग और सुन्दर काम भी उसी तरह का यथार्थ आभिजात्य और इतर भाव भंगी का पार्थक्य दिखा देता है।

क्षीरोद बाबू का एक नाटक और रवीन्द्रनाथ की 'तपती' या 'नटी की पूजा' को आमने सामने रखिए। दोनों नाट्यकार प्रशंसा के पात्र हैं। मैं क्षीरोद बाबू को नगण्य नहीं कह रहा हूं, अथवा दोनों की प्रतिभा को तौल नहीं रहा हूं। लेकिन उनकी प्रणाली और स्वर से मालूम होता है कि वे भिन्न भिन्न स्वभाव के थे। क्षीरोद बाबू को 'इतर' कहना ग़लत होगा, लेकिन वह 'कोधारण' प्रणाली का अनुसरण करने वाले थे।

चारों ओर देखकर बहुतेरे आदमियों से मिलजुल कर (लेकिन उनमें घुलमिल कर नहीं) मर्म पीड़ित रवीन्द्रनाथ ने साहित्यक्षेत्र में उसी मार्जित रुचि, उसी आत्म-संयत बारीक गले कोप्रचलित करने की चेष्टा की है। आकाश का रवि सहस्र किरणों वाला है, हमारे रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा भी शतधारा जाह्नवी की तरह शतमुखी थी। कई जगह कई शिष्यों ने उनकी किसी विशेष प्रणाली का अनुसरण किया है, और कमोवेश सफल भी हुए हैं। जैसे, स्वर्गीय राय बहादुर रमणी मोहन घोष मेरे साथ एक ही छात्रावास में रहते थे और दो तीन साल नीचे पढ़ते थे। वह स्वयं कवि और रवि-भक्त थे; और मैं था 'कवि मासाशी' जानवर अर्थात् समालोचक। रमणी मोहन जब स्वरचित कविता मुझे सुनाते तो मैं चिल्ला उठता 'Stop Thief! Stop Thief! और उनमें रवीन्द्रनाथ की जिन बातों या भाव-भंगी का अनुसरण रहता उन्हें दिखा देता था। वह जबाब देते यह चोरी नहीं है, यह unconscious cerebration of an admirer है। ऐसे और भी व्यक्ति हैं।

लेकिन आज अपने विश्वकवि के जिस गुण की बात मैंने कही. उसका प्रसार हमारे साहित्य में, और हमारी विचार प्रणाली और भाव प्रकाश में कुछ भी विस्तृत नहीं हुआ है। यही हमारा सबसे बड़ा दुर्भाग्य है।

विज्ञानी रवीन्द्रनाथ

डाक्टर प्रभु गुह ठाकुरता, डी० एस-सी०

रवीन्द्र-प्रतिभा की पृष्ठभूमि अपरिमित न होने पर भी उसका थाह पाने की चेष्टा अभी असाध्य सी मालूम होती है। कम से कम जब तक उस सम्पूर्ण प्रतिभा के निजी परिचय में ही उसकी अनन्त विचित्रता का स्पष्ट संकेत नहीं मिलता, तब तक उसके सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा जाय वह अधूरा ही होगा; अर्थात् रवीन्द्र-साहित्य की भूमिका की सीमा को कोई पार नहीं करता।

इस असमर्थता का कोई कारण है या नहीं। इसे तो वही बता सकते हैं, जिनकी रवीन्द्र साहित्य से कुछ घनिष्ठता और गंभीर आत्मीयता है। लेकिन यह बात ठीक है कि कुछ परिचय के बाद रवीन्द्र प्रतिभा जिस प्रकार से प्रकाशमान होने लगती है और उसका निजी स्वरूप भी दिखाई पड़ने लगता है, थोड़ा सा मनोयोग करने से यह बात समझ में आ जाती है!

मैं रवीन्द्र की उसी अभिव्यंजना के केवल एक ही अंश के सम्बन्ध में कुछ लिखूंगा। रवीन्द्र-प्रशस्ति के आधिक्य के कारण हमारी भावुकता से भरी भाषा अपने स्वाभाविक संयम को नहीं मानना चाहती है, यह आक्षेप की बात होने पर भी आश्चर्य की बात नहीं है। लेकिन रवीन्द्रनाथ की समग्र सृष्टि पर वह श्रद्धा सार्थक नहीं समझी जाती है, जो सिर्फ विशेषणों की ग्रन्थियों से उसे बाधना चाहती है। मैं रवीन्द्र के जिस प्रसंग की अवतारणा करना चाहता हूं, उसे बहुतेरे लोग रवीन्द्र-साहित्य का गौण विषय समझ सकते हैं; परन्तु मैं समझता हूं कि रवीन्द्रनाथ के जीवन-दर्शन में उसका कुछ तात्पर्य है। उस जीवन-दर्शन से रवीन्द्रनाथ के "जीवन-देवता" का अनुसंधान करने वाले साहित्य या केवल "सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्" इस त्रिगुण-विहारी अध्यात्मवाद का ही बोध नहीं होता है। रवीद्रनाथ के जीवन-दर्शन से उनके सार्थक ज्ञान के प्रति ममता और दुनिया के प्रति प्रेम का बोध होता है। इस ज्ञान, और प्रेम का परिचय पहले पहल हमें "निर्झरेर स्वप्नभंग" के दुर्दमनीय कलोच्छ्वास में मिलता है, उसके बाद यह ममता, यह प्रेम हर साल लहराता हुआ रवीन्द्रनाथ की सृष्टि की धारा का अनुसरण करता रहा—चलते चलते उसे अन्त में समुद्र-सी अतल गहराई मिली। इसीलिये हम देखते हैं कि जीवन के अंतिम पर्व में रवीन्द्रनाथ अपनी कवि-प्रतिभा को पूर्ण सचेतन रखकर भी वैज्ञानिक के दृष्टिकोण से कार्य-रत हैं। जीवन के अंतिम दशाब्द की रचनाओं में वह जिस सूक्ष्म विश्लेषण शक्ति का निदर्शन छोड़ गये हैं, वह विशुद्ध वैज्ञानिक और सत्य-द्रष्टा ही का काम था।

अपने जीवन के ७६ वें साल में रवीन्द्रनाथ ने लिखा था—मनुष्य ने सहज शक्ति की सीमा को छोड़ने की साधना में दूर को निकट और अदृश्य को प्रत्यक्ष किया है, और दुर्बोध को उसने भाषा प्रदान की है। प्रकाशालोक के भीतर आकाश लोक है, मनुष्य उस गहराई में प्रवेश करके विश्व की घटनाओं के मूल रहस्य के द्वार को निरन्तर खोल रहा है। जिस साधना से यह सम्भव हुआ है उसकी प्राप्ति की सुविधा और शक्ति दुनिया के अधिकांश लोगों में नहीं है। लेकिन जो लोग इस साधना की शक्ति और देन से बिल्कुल वंचित रहे वे आधुनिक युग के प्रारम्भ में जातिच्युत हो गए।"

इस सार्थक ज्ञान के राज्य में रवीन्द्रनाथ को जातिच्युत होकर रहना मंजूर नहीं था, इस बात का पता हमें तब चलता है, जब उनकी उम्र केवल बारह साल थी। उस समय उन्होंने अपने अधकचरे ज्ञान को लेकर ही इस पृथ्वी और उसके विशाल पारिपार्श्विक ब्रह्माण्ड के वैज्ञानिक तथ्य को लेकर ही अपनी

प्रथम धारावाहिक गद्य-रचनायें की थीं। इसकी प्रेरणा किसने दी थी? स्वयं पितृदेव महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने। रवीन्द्रनाथ उनके साथ डलहौज़ी पहाड़ पर गए थे। उस दिन की सध्या का स्मरण करके रवीन्द्रनाथ ने ६२ वर्ष बाद लिखा है "देखते देखते, पहाड़ों की चोटियों से घिरा हुआ घने नीले आकाश के स्वच्छ अंधकार में तारे मानों उतर कर निकट आते। वह मुझे नक्षत्र और ग्रह की पहचान करवा देते थे। केवल परिचय मात्र ही नहीं कराते थे, सूर्य से उनके धुरी-चक्र की दूरी, उनके प्रदक्षिणा का समय आदि दूसरे विवरण भी मुझे सुना दिया करते थे।"

दुनिया की घटनाओं के मूल रहस्य के प्रति अपने विशाल आकर्षण का परिचय कवि ने तब दिया, जब वह "विश्व परिचय" लिखने बैठे। उनके हृदय-राज्य में दुनिया के सत्य के अंशों की वर्षा होती रही है; और वहीं जीवन-दर्शन की प्रचुर उर्वरता का आनन्द दिखाई पड़ता है। "गीताञ्जलि", "गीतालि" "गीतिमाल्य" में जिस प्रकार किसी समय रवीन्द्रनाथ के जीवन-दर्शन का वेदान्तिक रूप प्रतिफलित हुआ था, वही किसी समय "पूरवी", "महुआ", "प्रान्तिक" आदि काव्यों में रूपान्तरित हुआ। "मानसी" "सोनार तरी" "चित्रा", "क्षणिका" और "खेया" में रवीन्द्रनाथ के अभिज्ञात जीवन-विज्ञान का जो रूप हम देखते हैं, उसी का पूर्ण विकाश "बलाका", "परिशेष", "पुनश्च" में दिखाई पड़ता है। इस तरह रवीन्द्रनाथ की पारलौकिक प्रतिभा जीवन के अंतिम पर्व में विश्लेषणात्मक हो गयी थी।

"विश्वपरिचय" के साथ एक ही सूत्र में बंधे हुए "बांगला भाषा परिचय" और "शब्द तत्व" को ही लीजिये। बंगला साधुभाषा और चलितभाषा का प्रधान भेद क्रिया पद के रूप को लेकर सबसे अधिक प्रत्यक्ष होता है, इस बात को वह जिस तरह समझा देते थे, वह अनेकों भाषातात्त्विकों के सामर्थ्य के बाहर की बात है। "खेला" (खेल) और "लेखा" (लेख) के उच्चारण में फ़र्क़ क्यों हुआ, इसे समझाने के लिये उन्हें बङ्गला भाषा की सभी बातों को जानना पड़ा; बङ्गला भाषा में प्रत्यय और अव्यय के प्रयोग का रहस्य उद्घाटित करने के लिये उन्हें ऐसे ज्ञान-राज्य में प्रवेश करना पड़ा, जहां की यात्रा इसके पहले किसी भी भाषातात्त्विक के लिये दुस्साध्य थी। रवीन्द्रनाथ का मन बराबर तथ्य के आधारभूत तर्क की दृढ़ता की ओर बढ़ता था, इसका प्रमाण उनके अंतिम काल की गद्य रचनाओं से ही चल जाता है।

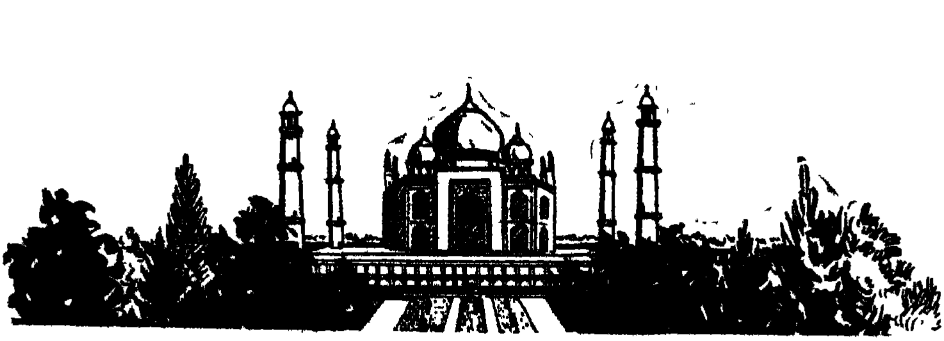
विश्वविद्यालय के अध्यापक अथवा वय्याकरण की नज़रों में भाषातत्व अवश्य ही जटिल विषय है—विशेष्य-विशेषण, वचन-लिंग-संधि-प्रत्यय में भाषा पद पद पर शंका उत्पन्न कर देती है। पर जब रवीन्द्रनाथ की विश्लेषणात्मक प्रतिभा के प्रकाश ने भाषातत्व के रहस्यलोक में पहुँचकर उसकी गूढ़ बातों को हमारे सामने रख दिया, तभी ध्वनि संकेत और छन्द को हम भाषा की बनावट से बड़ा समझने लगे। भाषा का रहस्य हो या दुनिया की घटनाओं का रहस्य हो, उनका बाहरी स्वरूप ही वास्तविक नहीं है, इस बात को हम रवीन्द्रनाथ के क्रमविकाशशील वैज्ञानिक दृष्टिकोण से ही जान सकते हैं।

इसीलिये उन्होंने उस भाषा की सृष्टि की जिसमें विज्ञान के तथ्यों पर विचार करने के लिए सम्पूर्ण पारिभाषिकों को सुविधा मिली—जहां ऊल जलूल बकने के लिए कोई स्थान नहीं रह गया। इसकी सृष्टि उनके लिये अत्यावश्यक थी; क्योंकि उनके वैज्ञानिक विचार का वाहन बनने के योग्य भाषा उस समय नहीं थी। उस भाषा का अनुपम स्वरूप हमें "विश्वपरिचय" और "बांगला भाषा परिचय" में दिखाई पड़ता है। इन दोनों "परिचय" ग्रंथों की रचना में कुछ महीनों का ही अन्तर है, परन्तु वे रवीन्द्रनाथ के जीवन-विज्ञान से एक ही सूत्र में बंधी हुई हैं। "बांगला भाषा परिचय" के अंतिम परिच्छेद की अंतिम बातें ये हैं—

" हमारी जीवन शक्ति जिस तरह निरन्तर वर्ण, सुगन्ध, रूप, रस, बोध का जाल फैलाती आ रही है, हमारी भाषा ने उसी तरह कितने ही चित्र और कितने ही रसों की सृष्टि की है—उसके छन्द और

शब्द अनेक प्रकार के जादू हैं। मनुष्य जब समय के पर्दे के पीछे अन्तर्धान हो जाता है, तब भी उसकी वाणी की लीला इतिहास की रंगभूमि मे सजीव बनी रहती है। प्रकाश की रंगशाला में ग्रह तारों का नाटक अनादिकाल से चल रहा है। इस पर वैज्ञानिकों को अपार अचरज हुआ है। देश काल में मनुष्य के भाषा, रंग की सीमा उससे बहुत ही संकीर्ण है, परन्तु वाणी-लोक के रहस्य की विस्मय उत्पन्न करने की शक्ति इस नक्षत्र-लोक से बहुत गहरी और अचिन्तनीय है। नक्षत्र-लोक का प्रकाश कई लाख तारा-पथों को पार कर आज हमें दिखाई पड़ा, लेकिन उससे भी अधिक आश्चर्य की बात है कि हमारी भाषा निहारिका चक्र मे घूमते हुये नक्षत्रलोक को भी स्पर्श कर सकी है।"

अब हम वहा लौट जाते हैं, जिनके बिना हमारा काम नहीं चल सकता; उस विराट नक्षत्र-लोक के सूर्य-रुपी ग्रह की खबर देने के लिये, जहाँ रवीन्द्रनाथ ने अपने "विश्व परिचय" में प्रकाश के सातों रंगों की महिमा का विश्लेषण किया है। उस वर्ण तरंग के एक ओर है "लाल-उजानी" (इनफ्रा-रेड) प्रकाश और दूसरी ओर है "बेगनी-पार" (अलट्रा वायोलेट) प्रकाश। रवीन्द्रनाथ ने लिखा है "प्रकाश, चढ़े हुए रंग का सप्तक बैंगनी की ओर है।" इस तरह का एक गद्य-तथ्य उपर्युक्त एक वाक्य में प्रकाश, रंग और संगीत के ऐसे विस्मयोत्पादक, पर नपे तुले और समन्वयात्मक ज्ञापन (expression) वैज्ञानिकों की तो बात अलग रही, किसी कवि की भाषा मे भी व्यक्त नहीं हुए हैं। क्या इसके बाद भी कहा जा सकता है कि विश्लेषण वैज्ञानिक का कर्त्तव्य है और संश्लेषण कवि का कर्त्तव्य है। कौन कहा पर जाकर रवीन्द्र - प्रतिभा मे मिल गया है इसे कौन जानता है।



रवीन्द्रनाथ में वैष्णववाद

डाक्टर सुकुमार रञ्जन दास, एम० ए०, पी-एच० डी०

बङ्गला कविता प्रधानतः गीतिमयी है। उस गीति कविता का प्राण है प्रेम; चाहे वह प्रेम कायिक, मानसिक या आध्यात्मिक क्यों न हो। बङ्गाल के जल और मिट्टी में एक चिरन्तन सत्य निहित है। वह सत्य युग युग में नये नये स्वरूप, नये नये प्रकार से आत्म प्रकाश करता आ रहा है। बङ्गाल के लहलहाते लहरदार हरे भरे खेतों, मधु-सुगंध फैलाने वाले मजरित आम के बगीचों, बङ्गाल के नद, नदी नहर, झरने; बङ्गाल के मैदान, घाट, की हवा, बङ्गालियों का जीवन, तथा वहा के समग्र इतिहास की धारा एक अखण्ड प्राण की पवित्र मूर्त्ति है। जीवन-धारा में शतदल कमल की भांति बङ्गाल की गीति कविता प्रस्फुटित हुई थी। बङ्गाल मानो किसी के रूप के ध्यान में मग्न था। ध्यान भग होने पर उसने देखा कि उसके आस पास कितने रूप, कितने सुर, कितने गीतों से उसका हृदय विचित्र रस से भर गया है। हृदय में किसका आह्वान सुनकर बङ्गाली कवि गा उठा—

कानेर भितर दिया मरमे पशिल गो
आकुल करिल मोर प्राण।

कान के भीतर से मर्म स्थल में पैठ कर उसने मेरे हृदय को आकुल कर दिया।

प्राचीन युग से बङ्गाल के हृदय में अनेकों आशायें और अनेकों भाव स्वयं संचित होते जा रहे थे। वह मानो सचेत और अचेत दोनों दशाओं में अपने हृदय मे किसी को ढूढ़ रहा था, किसी के मिलन-स्पर्श के लिये व्याकुल होकर प्रतीक्षा कर रहा था। अपने अन्तरतम प्रदेश में डूबकर जब उसने उस रूप को देखा, तो उसका हृदय आनन्द से भर गया। वह रूप कैसा था? मानो,—

चरण कमले भ्रमरा दोलये
चौदिके बेडिया झाक

चरण कमल के चारो ओर झुण्ड के झुण्ड भौंरे नाच रहे हैं।

इस रूप को देखकर कवि चेतना रहित हो गये। जब उनकी चेतना लौट आई, तो उन्होंने देखा उनकी वह मानस प्रतिमा—

चम्पक-वरणी, हरिन-नयनी—
चले नील साड़ी निङ्गाड़ी निङ्गाड़ी
पराण सहित मोर।"

यही बङ्गला गीति कविता का प्राण है। बङ्गाल के जीवन के साथ, मर्म के साथ, धर्म के साथ, बाहरी और भीतरी जीवन मे यह हृदयस्पर्शी मिलन है। इस महामिलन के क्षेत्र में प्रेम प्रधान दूत है, और उस प्रेम के देवता सहज और सरल सभी को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। वह रसिकों के वल्लभ हैं और प्रत्येक रसिक उनकी भोग्यवस्तु है। गीति कविता इस प्रेम के राज्य के अपरूप रस माधुर्य को व्यक्त करती है। इस प्रेम की धारा चण्डीदास से कृष्णकमल तक के समस्त कवियों के गान में अक्षुण्ण गति से प्रवाहित होती आयी है। यही बङ्गाल के हृदय के सूक्ष्मतम अणुओं में इस तरह घुलमिल गयी है कि बङ्गाल का हृदय दूसरे तरह की कविता से तृप्त नहीं होता है। इसीलिये १९ वीं शताब्दी में जब पश्चिमी शिक्षा के प्रारम्भ मे, वहां के अनुकरण पर, बङ्गला का काव्य दूसरी ओर प्रवाहित होने के लिये व्याकुल होने लगा, तो भी शीघ्र ही अपने चिन्तन-पथ पर लौट आया। यहां तक कि जिस महाकवि ने बङ्गला कविता को नवीन रूप देना चाहा था, उन्हींने ब्रजाङ्गना काव्य रचकर बङ्गाल के कवि-स्वभाव का परिचय प्रदान किया। धीरे धीरे बिहारीलाल चक्रवर्त्ती की अनुप्रेरणा से बङ्गला गीति-कविता की प्राचीन धारा फिर दिखाई पड़ने लगी और अंतिम कवि

रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा में उसी गीति कविता ने नये नये रूपों में बङ्गला साहित्य में प्रधानता पाई है।

रवीन्द्रनाथ की गीति कविता प्रधानतः प्रेम की कविता है। रचना के महात्म्य से उसने दुनिया के साहित्य में एक विशेष स्थान प्राप्त किया है। वैष्णव कवियों की श्रेष्ठ सम्पदा है उनकी प्रेम सम्बन्धी कविताएं। रवीन्द्रनाथ अपने काव्य की इस धारा के लिये वैष्णव पदावली के ऋणी हैं। वैष्णव कविता की भाषा-छन्द-रस-सागर में एक ऐसा हृदयावेग ओतप्रोत भाव से प्रवाहित है कि बङ्गाल के कवि-हृदय को वह क्षण भर में विह्वल कर ही देता है। किशोरावस्था में ही रवीन्द्रनाथ का पदावली साहित्य की ओर आकर्षण हो गया था, उसका प्रमाण है उनकी "वैष्णव कविता" और "भानुसिंह ठाकुर की पदावली" आदि। उनकी दूसरी गीति कविताओं मे भी वैष्णव साहित्य का प्रभाव देखने में आता है। रवीन्द्रनाथ ने अपने—Riligion of Ma1 (रिलिजन आफ मैन—मानव धर्म) में लिखा है—"सौभाग्य की बात है कि मेरी किशोरावस्था में ही वैष्णव कवि रचित कुछ प्राचीन गीति-कविता के संग्रह मुझे मिले थे। इन प्रेम गीतों के आपत- -प्रतीयमान (Apparent) अर्थ के पीछे एक अन्तर्निहित भाव का पता मुझे चला। अपने माधुर्य से भीतर की गुप्त भाषा की सुन्दर बात का आविष्कार होने पर आविष्कर्त्ता के मन में जो आनन्द होता है, मुझे भी उसी तरह का आनन्द हुआ। मैंने निश्चयात्मक रूप से समझ लिया कि ये कविगण एक परम प्रेमिक की बात कह रहे हैं। जिस प्रेममय का स्पर्श हम अनुभव करते हैं अपने सभी प्रेम-सम्बन्धों के भीतर से—प्राकृतिक सौंदर्य के प्रेम में, जीव के प्रेम में और शिशु-सङ्गी-प्रेमास्पद के प्रेम में—वह प्रेम हमारी सत्य की चेतना को भास्वर कर देता है। उन्होंने उसी प्रेम का गान गाया है, जो प्रेम शाश्वत काल से असंख्य बाधाओं के भीतर से प्रवाहित हो चला है मानव और परम-पुरुष में। वह एक चिरन्तन सम्बन्ध है, जिसमें दोनों पूर्णता प्राप्ति के लिये परस्पर व्यग्र हैं, और उस पूर्णता प्राप्ति के प्रयोजन में है व्यक्तिसत्ता और विश्वसत्ता में एक सम्पूर्ण मिलन।" राधाकृष्ण का प्रेम जीव और विश्वदेवता में अनादि प्रेम सम्बन्ध का प्रतीक मात्र है। इस प्रेम सम्बन्ध के भीतर है दोनों की पूर्णत्व प्राप्ति की चिरन्तन प्रतीक्षा। जीव में एक तटस्थ भाव है—वह सीमित-असीमित के बीच में. उनके मिलन-सेतु के रूप में अशेष प्रेमास्पद के लिये अनादि अनन्त प्रेम है, उसी के लिये ही अनन्त अभिसार यात्रा की जा रही है। इसीलिये रवीन्द्रनाथ ने गाया है—

"आजि झड़ेर राते तोमार अभिसार,
पराण-सखा बन्धु हे आमार।
आकाश कांदे हताश सम,
नाइ जे घुम नयने मम,
दुयार खुलि हे प्रियतम,
चाइ ये बार बार
पराण-सखा बन्धु हे आमार।" (गीताञ्जलि)

वैष्णव कवियों ने प्रेम के अति क्षुद्र अंग को भी नहीं छोड़ा है। रवीन्द्रनाथ ने भी उसे नहीं त्यागा है। उन्होंने वैष्णव कवियों के पूर्वराग, मिलन और विरह को समग्र माधुर्य को अंजलि भरकर ग्रहण किया है और उन्हें गीतों में रूप प्रदान किया है। उन्होंने स्वीकार किया है कि प्रेम अनित्य और मायाच्छन्न है, लेकिन उसके भीतर भी उसका अनन्त रूप है। कवि ने गाया है—

"हावाय छायाय आलोय गाने
आमरा दोंहे
आपन मने रचबो भूवन
भावेर मोहे।
रूपेर रेखाय मिलबे रसेर रेखा
मायार चित्र लेखा,—
वस्तु चेये सेइ माया तो
सत्यतर,
तुमि आमाय आपनि र'चे
आपन करो।"—(महुया)

रवीन्द्रनाथ की क़रीब क़रीब हर कविता में व्यक्तिगत प्रेम के साथ विश्व के घनिष्ट सम्पर्क का सामञ्जस्य किया गया है। यह सामञ्जस्य वैष्णव कविता की एक प्रधान विशिष्टता है। विद्यापति के काव्य में इसका सुन्दर निदर्शन है—

"कुलिश कत शत पात मोदित
मउर नाचत मातिया,
मत्त दादुरी डाके ताहुति
फाटि याउत छातिया।
तिमिर दिग् भरि घोर यामिनी
अथिर बिजुरिक पाँतिया,
विद्यापति कहे कैसे गोङायबि
हरि बिन दिन रातिया॥"

वैष्णव कवियों का यह दृष्टिकोण रवीन्द्रनाथ की अनेकों कविताओं में व्यक्त हुआ है। अपने 'वर्षा-मंगल' में कवि ने लिखा है—

"यूथी-परिमल आसिछे सजल समीरे,
डाकिछे दादुरी तमाल कुञ्ज तिमिरे,
जागो सहचरी आजिकार निशि भुलोना,
नीपशाखे बाँधो झुलना।
कुसुम - पराग झरिबे झलके झलके
अधरे - अधर मिलन अलके - अलके,
कोथा पुलकेर तुलना।
नीपशाखे सखी फुल डोरे बाँध झुलना॥"

गीताञ्जलि की अनेक कविताओं में यह भाव स्पष्ट हो गया है। जैसे,—

"आजि श्रावन - घन - गहन - मोहे
गोपन तव चरण फेले,
निशार मत नीरव वोहे
सबार दिठि एड़ाये एले।"

अब हम देखते हैं कि वैष्णव मतवाद ने रवीन्द्रनाथ के जीवन के अन्तिम काल में अभिनव निजस्व रूप धारण कर लिया था।

वैष्णव काव्य का प्रधान आधार है राधाकृष्ण का पूर्वराग, मान, विरह और मिलन। कृष्ण के बिना राधा प्राणहीन जड़ है, राधा के विरह में कृष्ण का प्राण भी राधा की नीली साड़ी के साथ ही निष्पेषित हुआ है। मिलन में राधा और कृष्ण सम्पूर्ण रूप से अभिन्न देह और अभिन्न हृदय हो जाते हैं। यह तन्मयता वैष्णव प्रेम काव्य का प्रधान गुण है, प्रेम की इस अखण्ड एकाग्रता ने वैष्णव काव्य को एक अपूर्व माधुर्य से भर दिया है। इस अपूर्व मिलन का चित्र देते हुए वैष्णव कवि ने गाया है—

"एमन पिरीति कभू देखि नाहि शुनि।
निमिखे मानये युग, कोरे दूर मानि॥
समुखे राखिया करे वसनेर बाउ।
मुख फिराइले तार भये काँपे गाउ,॥
एक तनु हैया मोरा रजनी गोङनह।
सुखेर सागरे डुबि अवधि ना पाइ॥"

यथार्थ में इस गहराई की थाह नहीं लगती है। वैष्णवीय प्रेम की यह तन्मयता रवीन्द्रनाथ के काव्य में हम देखते हैं। मिलन के बाद वाला एकत्व 'बलाका' की एक कविता में बड़े अनुपम ढंग से प्रदर्शित हुआ है :—

"आमि एलेम, भागल तोमार घुम,
शून्ये शून्ये फुटल आलोर आनन्द-कुसुम।
आमाय तुमि फुले फले
फुटिए तुले
दुलिये दिले नाना रूपेर दोले।

× × ×

आमि एलेम, काँपल तोमार बुक,
आमि एलेम, एल तोमार दुख,
आमि एलेम, ताइतो तुमि एले,
आमार मुख चेये
आमार परश पेये
आपन परश पेले॥"

हो सकता है कि रवीन्द्रनाथ की इस प्रकार की कविता में वैष्णव काव्य की उतनी अपूर्व तन्मयता प्रकट नहीं हुई है, लेकिन रवीन्द्र काव्य में वैष्णवीय प्रेम ने गहराई के अलावा एक भाव रूप ग्रहण किया

है, उसमें एक समग्रता या व्यापकता है। वैष्णव काव्य का प्रसाद गुण रवीन्द्र-काव्य की एक श्रेष्ठतम विशिष्टता है। उस रूप की लीला प्रकट हुई है इस प्रकार के गीतों में—

तोमाय आमाय मिलन' हले
सकलि याय खुले,—
विश्व - सागर ढेउ खेलाये
उठे तखन दूले।
तोमार आलोय नाई तो छाया,
आमार माझे पाय से काया
हय-से आमार अश्रु जले,
सुन्दर विधुर
आमार मध्ये तोमार शोभा
एमन सुमधुर।"—(गीताञ्जलि)

वैष्णव काव्य का विरह - चित्र भी अपूर्व तन्मयता का निदर्शन है। रवीन्द्रनाथ के काव्य में इस एकाग्रता का स्वरूप और भी व्यापक हो गया है। जीवन के क्षण-क्षण मे दूर से आयी हुई एक मनोहर वंशी का सुर गृहत्यागी बनाने वाले प्रेमाभिसार का गीत गाकर समग्र जीवन को मानों विरह - विधुर कर देता है, उस वेदना में केवल यही प्रकट होता है कि मेरे लिए मेरा प्रियतम अनादि काल से जगा हुआ है। रवीन्द्रनाथ की कविता में यह सुर बड़ी बारीकी से व्यक्त हुआ है—

"वेदना-दूती गाहिछे, ओरे प्राण,
तोमार लागि जागेन भगवान।
निशिथे - घन - अंधकारे
डाकेन तोरे प्रेमाभिसारे,
दुःख दिए राखेन तोर मान,
तोमार लागि जागेन भगवान। (गीताञ्जलि)

इस व्याकुल प्रेमाभिसार मे वैष्णव कवि की वंशी बड़े सुन्दर ढङ्ग से बज उठी है। इसीलिये वैष्णव कवि के माधुर्य से मुग्ध रवीन्द्रनाथ ने कहा है—"वैष्णव कवि उसी प्रेम के गीत गाते हैं, जिसके हाथ में भिन्न सुरों की वशी है, उस वंशी मे बजता है प्रकृति और मानव के भीतर का समग्र सौंदर्य और प्रेम का विचित्र सुर।" (Religion of Man) इस विचित्र सुर की आह्वान-वाणी वैष्णव दृष्टिकोण लेकर रवीन्द्रनाथ के काव्य मे अपूर्व रूप और अपूर्व उच्छ्वास के साथ बज उठी है।*

* मूल बङ्गला में



रवीन्द्रनाथ की भाषा

श्री प्रमथ चौधरी

रवीन्द्रनाथ चले गए—हम अर्थात् उनके आजीवन भक्त—पड़े रहे। इस घटना से हमें जो दुःख हुआ है, वह भाषा में व्यक्त करने की वस्तु नहीं है।

रवीन्द्रनाथ ८० वर्ष तक हमारे बीच में रहे, लेकिन इस लम्बे अर्से तक उन्होंने सिर्फ़ जीवन धारण नहीं किया, बल्कि वह "ज़िन्दा" रहे। ज़िन्दा थे—इसका प्रमाण उनकी रचनावली है। उस रचना में अन्त समय तक नित्य नवीन स्फूर्ति मौजूद थी।

हमसे लेखको का और एक दुर्भाग्य यह है कि बहुत से लोग आशा करते हैं कि हम इस विषय पर कुछ लिखेंगे।

लेकिन इस हालत मे कुछ लिखना हमारे लिए सम्भव नहीं है। ५५ वर्ष तक मेरा उनसे घनिष्ट परिचय रहा, अतएव मेरे लिए आज मौन धारण करना ही अच्छा है। क्यो, बताता हूं—

भारत के इस महान पुरुष के उठ जाने पर जनता ने जो शोक प्रकाश किया है, वह राष्ट्रीय शोक हम भी कर रहे हैं। लेकिन जनता के शोक को बाहर प्रकट करने की इस रीति, और हम से लेखकों की भाषा में शोक प्रकाश की रीति, बिल्कुल अलग होगी। हम लेखकों को अपने मन के भावों को संयत रखना पड़ता है। हम मन की सभी तरङ्गों को भाषा में व्यक्त नही कर सकते। भाषा की पकड़ मे जो आता है उसी को व्यक्त कर सकते हैं। जो मनोभाव योग का आधार है, वह पातंजलि के मतानुसार सार्वभौम होने पर भी, उसे प्राप्त करने के लिये व्यक्ति विशेष को साधना की ज़रूरत होती है। उस साधना का प्रथम पद है चित्तवृत्तिनिरोध। लिखना भी एक प्रकार की योग साधना है। लिखने के समय अगणित चंचल चित्तवृत्तियों का निरोध करना पड़ता है। मन जब बिल्कुल अवसन्न रहता है, तब इन फिरी हुई चित्तवृत्तियों को वशीभूत करना असाध्य सा ही है। इस दशा मे शब्द को सजाकर एक व्यक्त रूप प्रदान करना असाध्य साधन करना है।

मैं जब अपनी किशोरावस्था में रवीन्द्रनाथ से परिचित हुआ तभी से उन्हे एक लोकोत्तर पुरुष समझ सका। इस बात को मैंने पहले भी छपे हुए अक्षरों में प्रकट किया है। "लोकोत्तर पुरुष" को मैंने बौद्ध साहित्य से लिया है। अंगरेज़ी "सुपरमैन" शब्द मुझे अच्छा नहीं लगता।

यह बड़े आनन्द की बात है कि समग्र देशवासी यह पहचान सके कि रवीन्द्रनाथ लोकोत्तर पुरुष थे। उनका शोक, इस युग मे भारत के अद्वितीय लोकोत्तर पुरुष के उठ जाने पर जनता का शोक है। महापुरुष शिक्षित अशिक्षित सभी को कैसे स्पर्श करता है, यह विचित्र बात है। लेकिन स्पर्श करता है यह बात सोलहो आने सच है।

लोकोत्तर पुरुष स्वयं ही अपना प्रकाश है। कुछ भी हो, शोक प्रकाश और आनन्द प्रकाश की रीति बिल्कुल भिन्न है। अगर कहीं ये दोनो भूल से भी मिलजुल जाती हैं, तो अर्थ का अनर्थ हो जाता है।

इस बात को जाने दो, हम लोग जो अब भी यहा हैं, क्या रवीन्द्रनाथ के सम्बन्ध में वाक्-विस्तार करने के लिए ही हैं? मैं समझता हूं, बात ऐसी नहीं है।

हमारे जीवन में किसी प्रकार की विशेष सार्थकता न होने की हालत में लिखना असम्भव है। क्योंकि लेखक होने पर हम मनुष्य ही हैं—और क्षुद्र हृदय की कमज़ोरियों के वश मे हैं; और हम लोग जो वीर पुरुष नही हैं, उनके मतानुसार, इसी हृदय की दुर्बलता पर मनुष्यत्व प्रतिष्ठित है।

जो कुछ भी हो, मै खुले दिल से स्वीकार करने के लिए मजबूर हूं कि उन्होंने हमारे मुख में भाषा प्रदान की थी। अपूर्व सौन्दर्य से मण्डित करके उन्होंने बङ्गला भाषा की सृष्टि की, जिस सौंदर्य से हम लोगों की भाषा वंचित है। इसके अलावा उन्होंने हमारी मातृ भाषा को अपूर्व ऐश्वर्य प्रदान किया—उस ऐश्वर्य के प्रसाद से हमारी भाषा भी समृद्धिशाली हुई है।

बङ्गला भाषा की उम्र बहुत ज्यादा नहीं है, विशेषकर बङ्गला गद्य की। हमने चण्डीदास को अपना प्रथम कवि मान लिया है, उनके पहले के किसी कवि से मैं परिचित नही हूं। जिन दो पुस्तकों को किसी किसी ने प्राचीन पुस्तक माना है, उन दोनों के विषय में मुझे संदेह है। 'शून्यपुराण' के कुछ अंश की भाषा प्राचीन ज़रूर है, परन्तु उसका दूसरा हिस्सा बहुत दिनों के बाद लिखा गया है। 'कृष्ण-कीर्त्तन' का रचयिता कोई भी हो 'पदावली' के चण्डीदास उसके लेखक नहीं हैं। अतएव हम चण्डी-दास को ही आदिकवि मान सकते हैं।

चण्डीदास की कविता के भाव और उसकी भाषा दोनों सुन्दर है, लेकिन उनकी भाषा बहुत संकीर्ण है। रवीन्द्रनाथ से तुलना करने पर उनकी भाषा की दरिद्रता स्पष्ट हो जाती है। उनके परवर्त्ती कवियों की भाषा, जैसे कवि कंकण की भाषा भी गीत-गुण (Lyrical quality) से वंचित है। एक मात्र भारतचन्द्र की भाषा सुन्दर है, पर उस भाषा की परिधि कम है। रवीन्द्रनाथ की भाषा की तरह उसमे ऐश्वर्य नहीं है।

अंगरेज़ी युग के प्रथम और प्रधान कवि माइकेल मधुसूदन दत्त हैं। उनकी भाषा नई नहीं है, बल्कि नक़ली है। इतनी नक़ली है कि उनके बाद के किसी भी कवि ने उसका अनुकरण या अनुसरण नहीं किया। माइकेल का काव्य बङ्गला भाषा में एक प्रक्षिप्त काव्य है। उनकी भाषा से बहुतेरे लोगों को धक्का लगा है, लेकिन उसने किसी कवि को अनुप्राणित नहीं किया। हेमचन्द्र-नवीनचन्द्र की कविता के सम्बन्ध में चुप रहना ही अच्छा होगा।

इसके बाद अचानक रवीन्द्रनाथ का आविर्भाव हुआ। शुरू से ही यह बात अनेकों की नज़रों में आई थी कि उनकी भाषा कवि की भाषा है। इसके अलावा उनके दीर्घ जीवन में बंगला भाषा के ऐश्वर्य की वृद्धि हुई है। आज का दिन उस भाषा का विश्लेषण करके उसकी अपूर्वता दिखलाने का नहीं है। हम लोगों ने जानबूझकर या अनजाने में उन्हीं की भाषा से ही अपनी अपनी साहित्यिक भाषा बनाली है। हम सभी लेखक उनके ऋणी हैं। भर्तृहरि ने कहा है कि हम एक ही पात्र में जल भर कर उठा सकते हैं, चाहे उसे कुएं से लें या समुद्र से। रवीन्द्रनाथ द्वारा संग्रहीत और बनाई हुई शब्दा-म्बुधि से हमने अपनी अपनी बुद्धि के पात्र मे जितना आ सकता था उतना आहरण किया है।

रवीन्द्रनाथ चले गए—परन्तु अपनी भाषा रख गए। यह भाषा अमर है। वृक्ष की तरह भाषा अपने आप नहीं बढ़ती है। युग युग में महाकविगण उसका ऐश्वर्य तथा श्रीवृद्धि किया करते हैं। रवीन्द्र-नाथ की यह देन अमूल्य है—और इस दान का महत्व भविष्य मे भी ज्यों का त्यों बना रहेगा।

भाषा के ऐश्वर्य मे हमें वक्ता के मन के ऐश्वर्य का परिचय मिलता है। रवीन्द्रनाथ का मन विश्व-व्यापी था; इसका स्पष्ट प्रमाण उनकी भाषा है। आजकल रवीन्द्रनाथ की विभिन्न देनों के विषय मे आलोचना हो रही है—आशा है समालोचक-गण उनकी भाषा की उपेक्षा नहीं करेंगे।

सभी लोगों पर प्रत्यक्ष है। रवीन्द्रनाथ की भाषा स्वच्छ और उज्ज्वल है—इसके अलावा उनकी भाषा में जादू है जो दूसरों की भाषा में नहीं है।

और एक बात—मानव रवीन्द्रनाथ के विषय में जानने का कौतूहल अनेकों में है। यह कौतूहल इस युग का है। यूरोप में होमर के विषय में कुछ भी मालूम नहीं है। इस देश में वाल्मीकि और कालिदास के लौकिक जीवन के सम्बन्ध में भी कुछ ज्ञान नहीं

है। उनके काव्य ने ही उन्हें चिरस्मरणीय कर रक्खा है। रवीन्द्रनाथ का काव्य ही उन्हें इस देश में और विदेश में अमर बनाए रखेगा। मैंने पहले ही लिखा है कि, मेरा उनसे परिचय बहुत दिनों का है, इसलिये बहुत से लोग समझते हैं कि मैं उनके दैनिक जीवन के सम्बन्ध में बहुत सी बातें लिख सकूंगा। इस आशा में बहुतों को निराश होना पड़ेगा। पहली बात है, इस तरह की वाचालता ख़तरे से खाली नहीं। किसी के लिये तो मानव जीवन कुछ छोटी चीज़ों की बड़ी समष्टि है और किसी के लिये वह कुछ बड़ी चीज़ों की छोटी समष्टि है। यहां हम छोटी चीज़ों को बड़ी समझकर बैठ सकते हैं या बड़ी को छोटी। अति मानव भी मानव ही है, अतएव जीवन नाना प्रकार की छोटी मोटी चीज़ों की समष्टि है—लेकिन रवीन्द्रनाथ अति मानव गिने जाते हैं, कुछ असाधारण गुणों के लिए, जो उनकी कविता और कार्य में प्रकट हुये हैं।

रवीन्द्रनाथ की चिट्ठी पत्री में उनके लौकिक जीवन के अनेकों परिचय मिलते हैं। जब उनकी लिखी हुई पत्रावली संगृहीत और प्रकाशित होगी, तब उनके विषय में बहुत सी बातें मालूम होंगी। इसके लिए पाठक समाज को कुछ दिनों तक ठहरना पड़ेगा।

रवीन्द्रनाथ की नैर्व्यक्तिकता

श्रीमती नीलिमा देवी

रवीन्द्र-साहित्य में रवीन्द्रनाथ के व्यक्तित्व का प्रभाव बहुत स्पष्ट है; लेकिन शुरू से आखीर तक उन्होंने अपने व्यक्तिगत जीवन को यथासम्भव दूर ही रखा है। किसी को यह नहीं समझ लेना चाहिए कि मैं उनके व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध में अकारण कौतूहल के वश यह कह रही हूँ। रवीन्द्र-प्रतिभा के उन्मेष के शुरू से और विकास के भीतर से परिणति की प्रान्तिक रेखा तक, जो इतिहास की धारा प्रवाहित है, उस की काव्य-निर्झरिणी के प्राचुर्य के किसी क्षण में भी रवीन्द्रनाथ व्यक्तिगत रूप से सामने नहीं आए। "जीवन-स्मृति" से लेकर "छेलेबेला" तक रवीन्द्रनाथ नैर्व्यक्तिक ही बने रहे। उनकी सभी चिट्ठी इसी बात के प्रमाण हैं।

किसी बाहरी वस्तु ने उनके मन को कितना आलोड़ित किया है, यही सूचना देकर रवीन्द्रनाथ चुप रह गए—उनकी जादू से भरी लेखनी उसी यत्-किंचित के चारों ओर माया-विस्तार करती है। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है कि मा-बाप, भाई-भौजाई, बहन, पुत्र-पुत्रवधू, कन्या-दामाद जिन्हें केन्द्र बनाकर मनुष्य का दैनिक व्यक्तिगत जीवन चक्कर काटता है, उन-लोगों ने रवीन्द्रनाथ के जीवन में भी साधारण मनुष्य के जीवन की तरह अपना अपना आवर्त्त बना लिया था। लेकिन असाधारण रवीन्द्रनाथ ने अपने साहित्य में व्यक्ति का किसी प्रकार का स्पर्श नहीं होने दिया है।

रवीन्द्रनाथ निश्चय ही इस बात को जानते थे कि यह अपनी बातों को लेकर उछलकूद करने वाला युग है। इस आत्मकथा की परम्परा सिर्फ पचीस वर्ष की है—इसके अंसख्य उदाहरण साम्प्रतिक अमरीकन और अंगरेज़ी साहित्य में भरे पड़े हैं। ऐसा मालूम होता है कि रवीन्द्रनाथ को कभी आत्म स्वीकृति (Confession) की बीमारी नहीं हुई। दुनिया के किसी दूसरे मनीषी ने इतनी चिट्ठियां लिखी हैं या निजी अनुभव की इतनी प्रचुर अभिव्यंजना, अस्सी वर्ष के प्रतिदिन के संचित क्षण क्षण के अनुभूत इतने विचित्र भावों के घात प्रतिघातों का विश्लेषण और किसी साहित्यिक ने किसी युग में किया है यह बात सुनने मे नहीं आई। परन्तु रवीन्द्रनाथ ने हमेशा ही अपने व्यक्तिगत जीवन को पार कर एक नैर्व्यक्तिक रूप लिया है, जो सिर्फ़ विस्मय उत्पन्न करने वाला ही नहीं है,—मानव साहित्य में बिल्कुल अभूतपूर्व है।

अस्सी वर्ष के आसपास पहुँच कर उन्होंने अपने बचपन की जीवन-स्मृति की माला बनानी चाही, उन्होंने सोचा "जीवन स्मृति" कहानी थी, अब लिखना चाहिये 'कलरव' उन्होंने विचार किया कि जीवन के आदि पर्व में उन्हें अपनी प्रतिभा का जो सार्थक सधान मिला था, उसका यथार्थ मूल्य था उनके बचपन की सम्भावना में। उन्नासी सालों को पारकर उन्होंने समझा शायद उसमें (जीवन-स्मृति) उनके किशोरावस्था की स्मृति ने उनके वास्तविक पारिपार्श्विक को मन का भोजन अधिक परोस कर उसे पीछे कर दिया है। इसीलिये रवीन्द्र-नाथ ने समझा कि देखूँ बालक रवीन्द्रनाथ के नादान बचपन का विवरण यथासम्भव उसी नादानी के कल्पना के-जाल में पकड़ा जा सकता है या नहीं। पर कहीं ऐसा भी होता है ? पहले ही लिख चुकी हूं रवीन्द्रनाथ ने अपने को आजीवन 'कनफेसन' की बीमारी से बचाये रखा; इसीलिये प्रौढ़ प्रतिभा-प्राप्त रवीन्द्रनाथ अपने मन के राज्य में बचपन के विवरण की तत्कालीन सीमा को पारकर, व्यक्तिगत निर्लिप्तता का सबसे महान परिचय छोड़ गए हैं।

रवीन्द्रनाथ ने लिखा है:—

"पुराने इतिहास का कंकाल मात्र रह गया था, उसकी खोपड़ी तो है, लेकिन मुकुट का पता नहीं। उसी को बनावटी चेहरा पहनाकर एक सम्पूर्ण मूर्त्ति

मन के अजायबघर में खड़ी की थी, यह मेरे तरंग का खिलौना ही है। लेकिन इस बात को याद रखना चाहिये—बहुत सी बातों को भूल जाता हूं, इसीलिये इस तरह का पेवन्द लगाना सहज होता है। अस्सी वर्षों के बाद अपना ही जो रूप आज सामने आया है, असल से उसका सोलहो आने मेल नहीं है, वह बहुत कुछ कल्पित है।"

क्या वास्तव में उसका बहुत सा हिस्सा कल्पित है ? क्या यह सम्भव है ? उस अस्सी वर्ष के पल-पल में संपूर्ण जीवन की कहानी सम्भव-असम्भव की सीमारेखा पार कर गई थी, उन्हीं की महोपम जीवनी शक्ति के केन्द्र में उसका प्रमाण है—रवीन्द्रनाथ की ही उस नैर्व्यक्तिक बचपन की बकझक में। जो लोग उसमें उनके जीवन की छोटी-मोटी घटना का तथ्य आविष्कार करना चाहते हैं, उनके तथ्य मनगढ़न्त होंगे—क्योंकि उससे रवीन्द्रनाथ दूर रह जायगे। सिलाइदह में रवीन्द्रनाथ के प्रतिभाशाली होने के इस छोटे से चित्र को लीजिए :—

"अकेले रहने की लालसा है। छोटा सा कोने का घर है, छत जितनी बड़ी है मेरी छुट्टी भी उतनी लम्बी है; अपरिचित अनजान जगह की छुट्टी। पुराने पोखर के काले जल की तरह उसकी थाह नहीं मिलती पपीहरा पीकहा ! की रट लगाये रहता है, उड़ती बातों पर विचार करता हूं तो करता ही रह जाता हूं। इसी के साथ साथ मेरी कापी कविता से भरने लगी है। वे मानों गिरने के पहले माघ महीने की पहली फ़सल वाली आम की बौर हैं, वे झर भी गई हैं।"

यहां कौन मिलता है ? व्यक्ति रवीन्द्रनाथ या कवि रवीन्द्रनाथ ? इसमें उस बचपन में भी नैर्व्यक्तिक रवीन्द्रनाथ ही है।

विलायत जाने के पहले रवीन्द्रनाथ के आई० सी० एस० मझले भाई ने समझा कि शायद विदेश को जो देश का रूप दे सकती हैं, ऐसी महिलाओं से घनिष्ट परिचय करा देने से वह घर से दूर रहने का कष्ट भूल सकेंगे। इसीलिये कुछ दिन के लिए सत्येन्द्रनाथ ने बम्बई के एक गृहस्थ परिवार में कवि के लिए रहने का इन्तज़ाम कर दिया। उस परिवार की एक युवती विलायत से अपनी शिक्षा चमका कर वापस आई थी; उसके विषय में रवीन्द्रनाथ ने लिखा है :—

"मेरी विद्या मामूली है, मेरी अवेहलना दोष की वस्तु नहीं कही जा सकती है। ऐसा किया भी नहीं गया है। किताबी विद्या ज़ाहिर करने की सामर्थ्य मुझमें नहीं थी, इसीलिये मौक़ा मिलने पर मैं बता-दिया करता था कि मुझमें कविता लिखने की शक्ति है। आदर पाने के लिए वही मेरी सबसे बड़ी बिसात थी। जिससे मैंने अपने कवि होने की बात कही थी, उन्होंने इसे बे नाप तौल ही के मान लिया। कवि से उन्होंने अपने लिए एक पुकार का नाम मांगा, मैंने दिया भी और यह उन्हें अच्छा भी लगा। उस नाम को अपनी कविता के छन्द में आबद्ध कर देने की इच्छा हुई थी। उसे काव्य के बंधन में बांध दिया, उसे उन्होंने उषा के भैरवी सुर में सुन कर कहा-'कवि, तुम्हारा गीत सुनकर मैं मृत्यु के दिन भी जीवन पाकर उठ खड़ी हो जाऊँगी।"

यह वही चिरदिन के रवीन्द्रनाथ हैं—निर्लिप्त, आत्मस्थ, अपनी कवि प्रतिभा पर आस्थावान, वही नैर्व्यक्तिक रवीन्द्रनाथ।

साहित्य में ऐतिहासिकता और साहित्य का उत्पत्ति स्थल

श्री बुद्धदेव बसु के नाम गुरुदेव का एक पत्र

कल्याणीयेषु,

बुद्धदेव, कल जब तुम्हारे साथ साहित्य मे ऐतिहासिकता पर बातचीत कर रहा था, तब मैं मन ही मन समझ रहा था कि अत्युक्ति कर रहा हूं। इस तरह जान बूझ कर अत्युक्ति करने का कारण यह था कि दिल में किसी जगह परेशानी इकट्ठा हो गई थी। हम निरे इतिहास द्वारा ही संचालित होते हैं, इस बात को बारम्बार सुना है और बारम्बार भीतर ही भीतर खूब ज़ोरों से सिर हिलाया है। इस बहस का फ़ैसला मेरे अपने अन्तर मे ही है, वहा मैं और कुछ नहीं हूं—केवल मात्र कवि हूं। वहा पर मैं सृष्टिकर्त्ता हूं, अकेला हूं, और मुक्त हूं। बाहर के अनेकों घटनापुञ्जों के जाल मे फंसा हुआ नहीं हूं। ऐतिहासिक पण्डित जब मुझे मेरे उस काव्य-स्रष्टा के केन्द्र से खींच लाता है, तब मुझे असह्य हो जाता है। आओ एक बार कवि-जीवन की प्रारम्भिक सूचना में चलें।

जाड़े की रात थी—सबेरे का समय, पाण्डुवर्ण प्रकाश अंधकार को भेद कर दिखाई पड़ने लगा था। हमारा जीवन ग़रीबों सा था। शीतवस्त्र का बाहुल्य न था। सिर्फ़ एक कुर्त्ता पहन कर गरम रज़ाई से बाहर आ जाता था। लेकिन इतनी जल्दी निकलने की कोई ज़रूरत न थी। और लोगों की तरह मैं भी आराम से कम से कम छै बजे तक रज़ाई मे चिपका पड़ा रह सकता था। लेकिन मैं विवश था। हमारे *मकान के भीतर का बगीचा भी हमारी तरह ही ग़रीब* था। उसकी प्रधान सम्पदा थी पूरब वाली चहार-दीवारी से सटे हुए नारियलों की कतार। उन *नारियल के* कम्पमान पत्तों पर पड़ने वाले प्रकाश, और ओस बिन्दुओं की चमक को *देख सकूं, इसीलिये मैं* इतनी जल्दी उठ जाता था। मैं सोचता था कि सुबह के इस आनन्द का स्वागत सभी बालकों के मन में आग्रह उत्पन्न करता होगा। अगर यही सच होता, तो सार्वजनीन बालक-स्वभाव से इस कारण का निपटारा सहज ही में हो जाता। मैं दूसरों से कम से कम इस उत्सुकता के आधिक्य के कारण ही अलग नहीं हूं, मैं भी साधारण हूं, इसे जान लेने पर किसी दूसरी व्याख्या की ज़रूरत नहीं होती। लेकिन कुछ बड़े होने पर मैंने देखा कि और किसी लड़के के मन में केवल पेड़ पौधों पर पड़ने वाले प्रकाश के कम्पन को देखने के लिए इस तरह की व्यग्रता रंचमात्र भी नहीं है। मैंने इसे भी देखा कि मेरे साथ ही जो सयाने हुए हैं, वे इस पागलपन के पर्याय मे कहीं भी नहीं आते थे। सिर्फ़ वे ही क्यों, चारों ओर ऐसा कोई भी नहीं था, जो ऐसे समय गर्म कपड़ों को छोड़कर प्रकाश का खेल देखने में एक दिन के लिए भी चूक जाने पर अपने को वञ्चित समझता था। इसके पीछे किसी इतिहास का कोई सांचा नहीं है। अगर होता तो उस उजड़े हुए बगीचे मे सबेरे ख़ासी भीड़ लग जाती। इस बात के लिए प्रतियोगिता होती कि कौन सबसे पहले आकर उस दृश्य को हृदय मे ग्रहण करता है। कवि की पहचान यहीं होती है। स्कूल से साढे चार बजे आया हूं। आकर ही देखा है कि हमारे मकान के तिमंज़िले पर घने नीले बादल घिर आए हैं, उनकी शोभा देखते ही बनती थी। इस एक दिन की बात मुझे आज भी याद है, परन्तु *उस दिन के इतिहास में मेरे अलावा किसी दूसरे* व्यक्ति ने न उस बादल को उस नज़र से देखा और न पुलकित हुआ। यहां पर अकेला रवीन्द्रनाथ ही दिखाई पड़ा था। एक दिन स्कूल से आकर अपने *पश्चिम वाले बरामदे में खड़े होकर एक अत्यन्त* अचरज की बात मैंने देखी। *धोबी का गधा आकर*

घास चर रहा है। ये गधे ब्रिटिश साम्राज्य-नीति के बनाए गधे नहीं हैं—ये हमारे समाज के चिर परिचित गधे हैं, इनके चाल-चलन में आदि काल से कोई परिवर्त्तन नहीं हुआ। और एक गाय स्नेह से उसका बदन चाट रही है! जीवन के प्रति जीवन के इस आकर्षण का चित्र, जो मेरी नज़रों में आया था वह आज भी नहीं भूलता। लेकिन इस बात को मैं निश्चय पूर्वक जानता हूं कि उस दिन के समग्र इतिहास में सिर्फ रवीन्द्रनाथ ने ही मुग्ध नयनों से उसे देखा था। उस दिन के इतिहास ने और किसी व्यक्ति को इस दृश्य का गंभीर तात्पर्य इस तरह से नहीं बताया। अपने सृष्टि-क्षेत्र में रवीन्द्रनाथ अकेला है। किसी इतिहास ने उसे साधारण लोगों के साथ एक सूत्र मे नहीं बांधा। इतिहास जहां आम है, वहां पर ब्रिटिश प्रजा थी लेकिन रवीन्द्रनाथ नहीं था। वहां राष्ट्रीय परिवर्त्तन की विचित्र लीला हो रही थी, पर नारियल के पत्तों पर जो किरणें चमक रही थीं, वह ब्रिटिश सरकार की लाई हुई चीज़ नहीं है। मेरी अन्तरात्मा के किसी रहस्यमय इतिहास मे वह विकसित हुआ था और अपने आनन्दमय रूप में वह नाना प्रकार से सब कुछ प्रतिदिन प्रकाशमय करता था। हमारे उपनिषद में है—

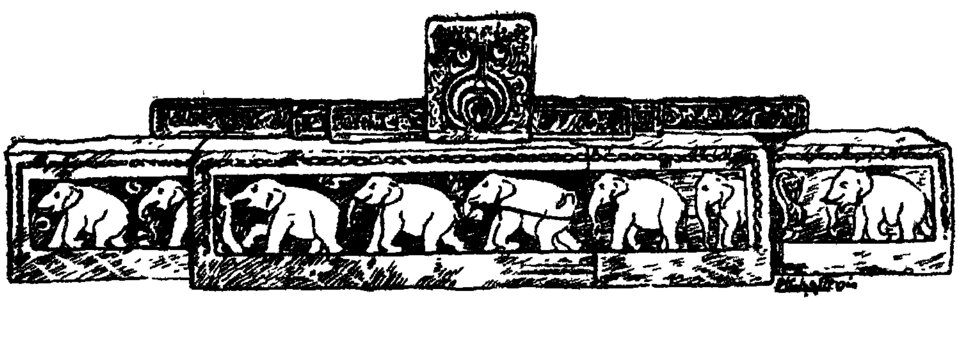
"न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया, भवंत्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति।"

आत्मा पुत्रस्नेह मे सृष्टिकर्त्ता के रूप में अपने को प्रकट करना चाहती है, इसलिये पुत्रस्नेह उसके लिए मूल्यवान है। सृष्टिकर्त्ता को सृष्टि की सामग्री कुछ तो इतिहास से और कुछ सामाजिक वातावरण से मिलती है। लेकिन यह सामग्री उसे सृष्टिकर्त्ता को तैयार नहीं करती। इन सामग्रियो का काम मे लाकर वह अपने को स्रष्टा के रूप में प्रकट करता है। बहुत सी घटनायें हमारी जानकारी की इन्तज़ारी में हैं, उनको जानना आकस्मिक है। एक समय जब मैंने बौद्ध कहानियां और ऐतिहासिक कहानियां जानलीं, तब उन्होंने स्पष्ट रूप लेकर मुझ में सृष्टि की प्रेरणा प्रदान की थी। अकस्मात "कथा ओ काहिनी" की कहानियों की धारा उद्गम की तरह नाना शाखाओं मे विस्तृत हो उठी। उस समय की शिक्षा मे इन इतिवृत्तों को जानने का मौक़ा था, अतएव ऐसा कहा जा सकता है कि "कथा ओ काहिनी" तत्कालीन विशेष रचना है। लेकिन इस "कथा ओ काहिनी" के रूप और रस ने एक मात्र रवीन्द्रनाथ के मन में आनन्द का आन्दोलन खड़ा कर दिया था; इतिहास इसका कारण नहीं है। रवीन्द्रनाथ की अन्तरात्मा ही उसका कारण है—इसीलिये तो कहा गया है कि आत्मा ही कर्त्ता है। उसे पर्दे की ओट में रखकर ऐतिहासिक सामग्री का आडम्बर करना किसी किसी के मन के लिए गर्व की बात है, और वहीं पर वह सृष्टिकर्त्ता के आनन्द को आंशिक रूप में अपनी ओर अपहरण करके लाता है। परन्तु सृष्टिकर्त्ता जानता है कि ये बातें गौण हैं। सन्यासी उपगुप्त—बौद्ध इतिहास के सभी आयोजनों मे केवल रवीन्द्रनाथ के सामने—महान महिमा और करुणा के साथ प्रकट हुआ। अगर यह ऐतिहासिक होता तो देश की भूमि के कोने कोने मे "कथा ओ काहिनी" सभी के हाथों में दिखाई पड़ती। किसी दूसरे व्यक्ति ने इसके पहले और बाद मे इन चित्रों को बिल्कुल इसी तरह से नहीं देखा, इसीलिये उन्हें इसमे आनन्द मिला है। कवि के इस सृष्टि कर्त्तृत्व की विशेषता से एक बार जब मैं बङ्गाल की नदियों मे भ्रमण करके, उनकी जीवन लीला का अनुभव प्राप्त कर रहा था, तब मेरी अन्तरात्मा ने अपने आनन्द से जिस सुख-दुख के विचित्र आभास को अन्तःकरण मे ग्रहण करके, महानों बङ्गाल का जो देहाती चित्र अंकित किया था, इसके पहले और किसी ने ऐसा नहीं किया। इसका कारण यह है कि सृष्टिकर्त्ता अपनी रचना-शाला मे अकेला काम करता है। वह विश्वकर्मा की भांति रचना करता है। उस दिन कवि ने देहातों का जो चित्र देखा, उसमें राष्ट्रीय इतिहास का घात-प्रतिघात अवश्य था। लेकिन उसकी सृष्टि मे मानव जीवन के वे ही सुख-दुख के इतिहास थे, जो सभी इतिहासों का अतिक्रमण करके

हमेशा से किसानों के खेतों, उनके त्योहारों और उनके सुख-दुख को लेकर चला आ रहा है। कभी मोग़ल और कभी अंग्रेज़ी राज्य में उसके मनुष्यत्व की अत्यन्त सरल अभिव्यञ्जना प्रतिदिन हो रही है। उसी की छाया है गल्पगुच्छ में; किसी सामन्त-तंत्र और किसी राष्ट्रतंत्र की नहीं। आजकल के समालोचक लोग जिस विस्तृत इतिहास में बेखटके दौड़ लगाते हैं, उनमें से कम से कम बारह आने को मैं जानता ही नहीं। शायद मुझे इसीलिये विशेष क्रोध होता है। मेरा मन कहता है हटाओ अपने इतिहास को। मेरी सृष्टि की नैया की पतवार उस आत्मा के हाथ में है, जिसकी अभिव्यञ्जना के लिए पुत्रस्नेह की ज़रूरत है; नाना दुःख-सुखों को जो हज़म करके विचित्र रचना में आनन्द पाता और उसका वितरण करता है। जीवन के इतिहास की सभी बातें नहीं कह सका, लेकिन वह इतिहास गौण है। केवल सृष्टिकर्त्ता मनुष्य के आत्म-प्रकाश की भावना से इस लम्बे युग युगान्तर में प्रवृत्त हुए हैं। उस इतिहास को बड़ा समझो, जिसे सृष्टिकर्त्ता मनुष्य सारथी बनकर विराट की ओर, इतिहास के भूतकाल में, मानव-आत्मा के केन्द्रस्थल की ओर ले जा रहा है। हमारे उपनिषद में यह बात है और उसी से मैंने इस वाणी को लिया है—इसे मैंने ही किया है, इस पर मेरा ही अधिकार है। अतएव अगर तुम लोग अपने इतिहास की शिक्षा को लेकर आगे बढ़ते हो, तो मैं भी कमर कसकर आगे बढ़ने लगूंगा।

सृष्टिकर्त्ता की नाना देन मानव-जीवन के पात्र को पूर्ण करती जा रही है। इन सभी को उसने राह चलते पड़ा हुआ पाया है। मनुष्य इससे खुश नहीं होता है। साथ ही मनुष्य ऐसी किसी वस्तु को पाना चाहता है, जो उसकी अपनी है, किसी से उधार ली हुई नहीं। सृष्टि में मनुष्य को अपना धन मिला है। लेकिन एक अधिक चीज़ मिली है, वह उसका मन है। वह अपने मन की चीज़ों की कामना करता है। लेकिन जो चीज़ें मिली हैं, उनका उसके मन की चीज़ों से मेल नहीं खाता। इस मन ने केवल कामना ही नहीं की है; उसने उन्हें बनाया भी है। क्योंकि वह जो कुछ चाहता है, जिसके पाने से उसका भंडार पूरा होगा, वह बाहर नहीं है। लेकिन सौभाग्य की बात है कि उसमें शक्ति है, उसे भीतर से वह बढ़ाता है। मनुष्य का सारा इतिहास इन्हीं दो धाराओं में प्रवाहित है। एक है, जिस वस्तु की उसे आवश्यकता है, वह उसे प्रकृति से मिलती है, उसका भोजन गुहा का आश्रय उसके जीवनधारण की नाना सामग्रियां। जीवन की आवश्यकता की चीज़ें उसके भंडार में बहुत हैं, जिसके पास बहुत काफ़ी है, वह धनी है, जिसे यथेष्ट नहीं मिला है, वह ग़रीब है। परन्तु जिस पर भी आवश्यक वस्तुओं की खोज में ही तो मनुष्य ने दिन रात नहीं बिताये हैं। वह अपनी ज़रूरी चीज़ों को पार कर गया है। इन संचयों में वे चीज़ें बिलकुल नहीं हैं, जिसे उसका मन पाना चाहता है; जिसकी उसके प्राण के लिए ज़रूरत है। इस मन की चीज़ के लिए उसमें ख़ूब द्वन्द्व चलता है। जीवन में जो चीज़ें नहीं मिली हैं, उसका कुछ रूप तो उसकी अपनी सृष्टि में प्रतिफलित हुआ है, और कुछ असमाप्त रह गया है। अपने इस राह चलते पाये हुए जीवन के साथ ही मनुष्य अपने मन की चीज़ें सजा कर रख रहा है। मनुष्य ने अपने जीवन-धारण के लिए जिन चीज़ों को इकट्ठा किया है, उसमें उसका परिचय नहीं है—वह तो बाहर की चीज़ है। मनुष्य का सच्चा परिचय तो वहां मिलता है, जहां उसने अपनी अनावश्यक वस्तुओं को लेकर लीला-भूमि बना रक्खी है और जिसे व्यर्थ कहकर उड़ा दिया जा सकता है। सभी समय के सभी देशों के इतिहास में मनुष्य अपने संचय-भण्डार के साथ ही अपने परिचय-विस्तार की प्रतिष्ठा करता गया है। अपने मन की वस्तुओं का निर्माण करके उसमें उसने अपने स्वरूप को देखा है। उसका वह परिचय कहीं शोभायुक्त हुआ है और कहीं पर बर्बर। लेकिन यही उसकी कला है, यही

उसके जीवन की स्वरचित दूसरी धारा है। इसी अनावश्यक प्रकाश को देखकर हम मनुष्य को वाहवाही देते हैं। हम कहते हैं, जिस मन की चीज़ की तलाश में हूं, उसे नाना जातियों की कीर्तियों में नाना आकारों में देख रहा हूं। जिसे देखकर ख़ुश होते हैं, उसे देख रहे हैं उसके साहित्य मे, कला की निपुणता में—नाना अनुष्ठानों मे; जहा मनुष्य का परिचय अविनश्वर है। जिसे देखकर हम धिक्कारते हैं, उसकी खोज इस शिल्पशाला में नहीं करते हैं। मनुष्य के लम्बे इतिहास में सर्वत्र इस सम्पदा की सृष्टि हुई है, जिससे हम जान सके हैं उसके मन की चीज़े कौन कौन सी हैं। उसे कह सकते हो कि वे तो बनावटी हैं, उसमे नादानी है; लेकिन मनुष्य मे चिरकाल का बचपन विजयी हुआ है उसके काव्य मे, गीत में, उसकी रचित मूर्त्ति में और उसकी चित्रकला मे। मनुष्य धनी के धन का अनादर कर सका है, लेकिन गुणी की कीर्त्ति का नहीं। इस आवश्यकता और अनावश्यकता के युगल मिलन मे मनुष्य की सम्पूर्णता है। इस सम्पूर्णता का रूप अचरज में डालने वाला है। जिस सृष्टि को तुम आधुनिक या सनातन कहते हो, उसकी प्रधान प्रेरणा यही है। उसी से उसका आत्मसम्मान है। अगर वह ऐसा कुछ है, जो चिरकाल के मनुष्य स्वभाव के बिल्कुल विपरीत है, जिसे कुरूप के रूप को देखने में ही रस मिलता है, वाहवाही देता है, तब समझूगा मनुष्य की कला मे मनुष्य की यथार्थ महिमा का कुत्सित विच्छेद है। मनुष्य जीवन को सम्पूर्ण बनाने में उसका नतीजा क्या है वह धीरे धीरे देखा जायगा। लेकिन वह दुर्दिन जितनी दूर रहे उतना ही अच्छा है।



साहित्य-सौन्दर्य

गुरुदेव का एक प्रवचन

हमारी सत्ता की बाह्य और आन्तरिक धाराओं का संयोग या मिलन दो प्रकार से होता है। एक तो आवश्यकता के द्वारा और दूसरा मनोविकारों के द्वारा। आवश्यकता की पूर्ति से जो संयोग होता है, वह केवल ऊपरी होता है और उसका प्रभाव हमारे जीवन के केवल ऊपरी तल पर पड़ता है। परन्तु मनोभावों या मनोविकारों की जागृति के कारण जो संयोग या मेल होता है, वह अधिक विस्तृत और गम्भीर होता है और इसीलिये हमारी चेतना-शक्ति अधिक सम्पन्न होती है और हमारा व्यक्तित्व बढ़कर और भी बड़ा हो जाता है। साहित्य और कला का यही उद्देश्य है कि हमें इस प्रकार के अधिक गम्भीर संयोग अर्थात् इस प्रकार के आत्म-विस्तार के द्वारा अधिकतर आनन्द की प्राप्ति करावे।

कुछ लोग यह कहते हैं कि साहित्य अपने सौन्दर्य के द्वारा हमें आनन्दित करता है। यह बात भी विचारणीय है। परन्तु विश्लेषण और व्याख्या आदि के द्वारा हमें सौन्दर्य के स्पष्टीकरण का असम्भव प्रयत्न नहीं करना चाहिये।

जो सौन्दर्य हमें बाहर या ऊपर दिखाई देता है वह कुछ विशिष्ट बातों या तत्वों में ही निहित जान पड़ता है और वे बातें या तत्व ऐसे हैं जो स्वतः न तो सुन्दर ही होते हैं और न कुरूप ही होते हैं। गुलाब में दल होते हैं दण्डी होती है और चारों ओर की हरी पत्तियां होती हैं। परन्तु इन सब बातों के अतिरिक्त और इन सब से परे उसमें एकता या पूर्णता का कुछ तत्व होता है और वही तत्व उसका सौन्दर्य है। उसकी यही एकता हमारी उस एकता को, जो हमारे अन्तः-करण में निहित है, अर्थात् जो हमारा व्यक्तिगत आत्म है, प्रभावित करती है और उसे बहुत भली जान पड़ती है। और भी बहुत से ऐसे पिण्ड होते हैं, जिनकी एकता की छाप हम पर पड़ती है, जिन्हे देखकर हम समझते हैं कि यह एक और सम्पूर्ण है, परन्तु उन पिण्डों में दिखाई पड़ने वाली वह एकता आकस्मिक होती है और उनके किसी नितान्त आवश्यक अङ्ग या मौलिक तत्व के रूप में नहीं होती। इस प्रकार के पिण्ड या पदार्थ हमें देखने में सुन्दर नहीं जान पड़ते। गुलाब के भिन्न भिन्न अङ्गों में जो एकरूपता या सामञ्जस्य होता है, उसी के कारण हमें उसमें सच्ची एकता दिखाई देती है, जो उसके सामान्य अस्तित्व से कुछ अधिक और अलग होती है, और वही 'कुछ अधिक और अलग' उसका सौन्दर्य है।

परन्तु यह कोई ऐसी विशेषता नहीं है, जो केवल सौन्दर्य में ही पाई जाती हो। जिस किसी एक वस्तु में कोई ऐसी अलग और लोकोत्तर बात होती है, जो उसके संयोजक अङ्गों के अतिरिक्त होती है, वह भी इसी प्रकार के सत्य के बल से हमारे अन्दर रहने वाली उस अनुपम आत्मा पर अपना प्रभाव डालती है, जो हमारे अस्तित्व के अलग-अलग तत्वों से अतिरिक्त है। उदाहरणार्थ —उच्चतर गणित में जो संकलन आदि होते हैं, वे जिन संकेत सूत्रों के आधार पर स्थिर होते हैं, उन संकेत-सूत्रों में एक प्रकार की गूढ़ एकरूपता और सामञ्जस्य होता है, जिसके कारण उनमें एक प्रकार की लोकोत्तर एकता दिखाई देती है और वह एकता-तन्त्री ऐसी होती है, जो निस्सन्देह-रूप से गणितज्ञों को बहुत अधिक प्रभावित करती है। इस एकरूपता या सामञ्जस्य से केवल बौद्धिक सन्तोष ही नहीं होता, बल्कि हार्दिक सन्तोष भी होता है। इससे मनुष्य को एक ऐसे विशुद्ध आनन्द की प्राप्ति होती है, जो किसी सम्भावित भौतिक लाभ की आशा पर आश्रित नहीं होता, बल्कि ऐसे ज्ञान की प्राप्ति

के कारण होता है, जो मनुष्य की सब आवश्यकताओं से बढ़कर होता है।

ऐसी अवस्था में स्वभावतः यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि तो फिर गणित शास्त्र का काव्य या खास साहित्य में क्यों स्थान नहीं होता? इसका सीधा-सादा कारण यही है कि गणित शास्त्र का यथेष्ट ज्ञान बहुत ही थोड़े से विशिष्ट विद्वानों को ही हुआ करता है और उसकी अधिकांश बातें जनसाधारण की समझ के बाहर होती हैं। उसके सिद्धान्त आदि जिस भाषा में व्यक्त किये जाते हैं, उसमें बहुत अधिक पारिभाषिक शब्द होते हैं और जनसाधारण के जीवन में उस भाषा का प्रवेश नहीं होता; और और जिस भाषा की हृदय तक प्रत्यक्ष रूप से पहुंच नहीं होती, वह साहित्यिक रूपों की सृष्टि करने के योग्य नहीं होती। इसके विपरीत मशीनों और कल कारखानों को दिन पर दिन साहित्य में अधिकाधिक स्थान प्राप्त होता जा रहा है, क्योंकि हम लोग यह समझते हैं कि वे अपने विशिष्ट उपयोगों के क्षेत्र में बहुत आगे बढ़ते जा रहे हैं और इसीलिये उनके सामञ्जस्यपूर्ण या एकरूपतापूर्वक बने हुए समस्त रूप हमें वास्तविक से जान पड़ते हैं और हमें ऐसा जान पड़ता है कि उनके संयोजक अङ्गों में जो शक्ति होती है, उनकी अपेक्षा उनका समस्त रूप कुछ अधिक की अभिव्यक्ति करता है। किसी जहाज़ के कप्तान का अपने जहाज़ के साथ जिस प्रकार का प्रेम होता है, बहुत कुछ उसी प्रकार का प्रेम मशीनों और कल कारखानों के साथ मनुष्यों का स्थापित हो सकता है और उनके साथ लोग भावुकतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित कर सकते और कर लेते हैं।

हमारे यहां के अलंकार शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों में कहा गया है कि रसपूर्ण शब्दों से ही साहित्य की सृष्टि होती है। सौन्दर्य से हमारे मन में एक विशेष प्रकार के रस या भाव का संचार होता है; परन्तु जैसा कि हम पहले बतला चुके हैं रस या भाव उत्पन्न करने वाले सभी साधनों को हम सौन्दर्य से युक्त या सुन्दर नहीं कह सकते। लेकिन फिर भी मन में रसों या भावों का उद्रेक चाहे जिस प्रकार हो, सभी प्रकार के रसों या मनोभावों में यह एक सर्व-सामान्य गुण होता है कि वे तुरन्त ही हमारी सत्ता के अन्तरंग में प्रवेश करके उसे आन्दोलित कर देते हैं।

मनुष्य को जल की आवश्यकता होती है और इसलिये उसे उस बरतन का भार भी वहन करने की आवश्यकता होती है, जिस बरतन में पानी भरकर लाया जाता है। परन्तु यदि इस बात का यहीं अन्त हो जाता, तो पानी का घड़ा सदा मनुष्य के केवल 'अनात्म' का ही एक अङ्ग रहता। परन्तु मनुष्य उसे सौन्दर्य की वस्तु बना लेता है। यदि केवल जल भरने का प्रश्न हो तो सिर्फ इतने से काम के लिये घट के सुन्दर होने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु मनुष्य अपने कला-प्रेम के कारण घट को सुन्दर बना लेता है, जिससे उस घट का भारीपन बहुत कुछ निकल जाता है। इस प्रकार सुन्दर होने पर जो घट पहले केवल एक भौतिक पदार्थ था, वह अब भौतिकता की सीमा को पार करके उससे बहुत आगे निकल जाता है। जो घट पहले मनुष्य के लिये केवल एक आवश्यक पदार्थ के रूप में था, अब उसे एक ऐसा महत्व प्राप्त हो जाता है, जो समस्त आवश्यकताओं से बढ़कर और परे का होता है, और तब वही घट मनुष्य के 'आत्मा' का एक अङ्ग बन जाता है। मनुष्य ने जब से मनुष्य के रूप में आचरण और व्यवहार करना आरम्भ किया, तभी से यह क्रिया भी बराबर चलती आई है। इसके विपरीत वाली अवस्था भी प्रायः दिखाई देती है। कहार लोग मिट्टी के तेल के आकारहीन कनस्तरों में जल भरकर और एक बांस के दोनों सिरों पर इस तरह के दो कनस्तर लटका कर और बांस कन्धे पर रखकर पानी भर लाते हैं। ऐसी अवस्था में हमें मनुष्य का ऐसा चित्र दिखाई देता है, जिसमें वह आवश्यकता के अत्याचार के सामने सिर झुकाकर अपने मनुष्यत्व का परित्याग कर देता है, जिसमें वह कोई ऐसा स्थान

नहीं छोड़ता, जिसमें उसके व्यक्तित्व की कोई मान्यता दिखाई देती हो।

कला और साहित्य वास्तव में स्वतन्त्रता के उस क्रान्तिपूर्ण प्रदेश की वस्तुएं हैं, जिसमें आवश्यकता का कोई महत्व ही नहीं रहने पाता और जिसमें भौतिक पदार्थ सार-हीन दिखलाये जाते हैं और केवल आदर्श की ही सत्य के रूप में अभिव्यक्ति होती है। उस क्षेत्र में पहुंचने पर सब प्रकार के भार हलके हो जाते हैं और सब पदार्थ मनुष्य के निजी बन जाते हैं।

हमारी यह ठोस पृथ्वी बहुत से पत्थरों, मिट्टी के रूप में रहने वाली धातुओं, मिट्टी और धूल का खूब गठ कर बना हुआ एक बहुत बड़ा पिंड है। उस पृथ्वी के चारों ओर बहुत विस्तृत वातावरण है, जिसमें पृथ्वी जीवन का श्वास खींचती है, और यह वही जीवन है, जो अवर्णनीय है। इसी वातावरण, अर्थात् इसी जीवन से, कलाकार को बारी-बारी से वह प्रकाश प्राप्त होता है, जिसके योग से वह पृथ्वी को चलते फिरते चित्रों से चित्रित करता है। इस प्रकार पृथ्वी पर शब्द और रूप के आकार में अर्थात् अभिव्यक्तियों के रूप में सृष्टि के खेल दिखाई देते हैं। इसके अतिरिक्त मनुष्य स्वयं अपने लिए ऐसा अलग वातावरण भी चाहता है, जिसमें वह अवकाश के समय विश्राम, मनोविनोद और क्रीड़ा कौतुक आदि भी कर सके, और जहां आवश्यकता उसके इन सब कामों में बाधक न हो सके। वह चाहता है कि मैं अपने विचारों और भावों की अभिव्यक्ति अपनी ऐसी सृष्टियों या रचनाओं के रूप में करूं जो जानने या ग्रहण करने पर निर्भर न रहे; बल्कि जिनमें केवल सत्ता या भाव का अंश हो—जिनमें केवल बनने या होने की ही बात हो। जैसा कि अभी हम बतला चुके हैं, जब कोई बाहरी सत्ता में प्रवेश करता है, और उस विस्तार का परिणाम यह होता है कि हमारा रचना-कौशल कला और साहित्य के क्षेत्र में अपना काम करने लगता है।

× × ×

यदि हम यह कहें कि सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करना ही साहित्य का एक मात्र उद्देश्य है, तो इससे साहित्य का ठीक ठीक और पूरा उद्देश्य प्रकट नहीं होता। सौन्दर्य की कल्पना के भी भिन्न-भिन्न तल होते हैं। जिसे हमने मनुष्य के जीवन का सबसे नीचे वाला तल कहा है, उस तल में सौन्दर्य बहुत सहज में पहचाना जा सकता है। यह बात बहुत ही स्पष्ट है कि फूल सुन्दर होता है, तितली सुन्दर होती है और मोर सुन्दर होता है। परन्तु इससे अधिक ऊंचे तल पर, जहां मन न्याय करने बैठता है और जहां चरित्र या आचार का भी ध्यान रखना पड़ता है, यह निर्णय करना उतना सहज नहीं होता कि अमुक वस्तु या बात सुन्दर है या नहीं; क्योंकि उस समय केवल इन्द्रियों के निर्णय पर ही न्याय निर्भर नहीं किया जा सकता। उस समय इस बात का भी ध्यान रखना पड़ता है कि कुछ बातें केवल आकर्षक होती हैं और कुछ वस्तुएं अर्थपूर्ण या महत्वपूर्ण होती हैं। और अर्थपूर्ण या महत्वपूर्ण वस्तु अपेक्षाकृत अधिक आनन्द देने वाली होती है। नाच की गत अपनी सुन्दरता के कारण उसी समय हमारा मन अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है, जब वह हमें सुनाई पड़ती है। परन्तु राग रागिनियां सब लोगों को उतनी जल्दी अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सकतीं, और इसका कारण यही है कि राग रागिनियों का प्रभाव ऊपरी तल पर नहीं होता, बल्कि अधिक गम्भीर तल पर होता है। राग-रागिनियों का प्रभाव उन्हीं लोगों पर होता है जिनका मन अधिक संस्कृत होता है और जिनमें उनका सौन्दर्य समझने की शक्ति होती है; क्योंकि राग-रागिनियां अधिक गम्भीर शक्तियों की अभिव्यक्ति के लिये होती हैं, और इसीलिये उनका प्रभाव भी अधिक गम्भीर तल पर होता है।

रवीन्द्रनाथ से

श्री राजेश्वर गुरु

[illegible]
[illegible] से कहें तुमको धरा की वस्तु,
[illegible] हीन सारे बन्धनों से मुक्त
[illegible] विस्तीर्ण लघुता भरी समता पर महान उभार हो तुम,
[illegible] मानव,
[illegible] ही कैसे कहें
देवत्व की साकार तुम अविकार प्रतिमा
किन्तु जो उर किये प्लावित, प्यार-हो तुम—
नहीं तुम श्रद्धाजनित उस इला की भावना से युक्त
जिसमें भक्ति का साहस
झुलस देवत्व की महिमाग्नि में
ऊपर न उठ पाए चरण की धूलि से,
हम विनत दुर्बल सशंकित मानव हृदय
पाकर तुम्हें, खोने न देंगे,
पास हो तुम
कहो कैसे मान लें हम देव तुमको
मानवोपरि प्राण ! बनकर देव
मानव ही रहो तुम
देव-सा होने न देंगे।

दिव्य ! छोटे दो नयन में
दूर के किस देश की आभा भरे
तुम कौन !
जो आदिम युगों से
धरे नाना रूप, नाना वेश
जग के किसी घन-तम-लोम-व्यापी अंध कोने में
चिरंतन प्रज्वलित किस दीप की
सिमटी किरन के प्राणदा आलोक से ही
जागते हो !
वरद कर की शरद ज्योत्स्ना विकीरित करते हुए,
हतभाग मानव किन्तु हम
जो जानकर भी नहीं तुमको जान पाते,
कृष्ण हे, हे बुद्ध, तुम !

इन प्रलय-जैसे क्षणों में
जब
धूम्र-घन-तम व्याप्तसा
विष-वायु की दुर्गन्ध से आक्रान्त
सारा आज पश्चिम प्रांत,
मानव मनुजता पथ का पथिक—
—भूला हुआ दिग्भ्रान्त

तब
तुम पूर्व में मंगल उदित रविरूप से
अपनी किरन पर रखे जीवित अखिल जग
हे ज्योतिपुञ्ज अनूप !
हे गंभीर शान्त प्रशान्त !
इस अति पाप-संकुल विश्व को
जो याचना के नयन फैलाये
तुम्हारी विकीरित हर किरन का प्यासा
उसे संजीविनी दो ज्योति की,
वह जी उठे !

नृत्यकला में युग प्रवर्त्तक रवीन्द्रनाथ

श्री शान्तिदेव घोष

आधुनिक भारतीय नृत्यकला के विषय में कुछ कहने में रवीन्द्रनाथ का नाम स्वभावत: सबसे पहले लेना ही पड़ता है। यह कहने में अत्युक्ति नहीं है कि अगर वह आज से बीस साल पूर्व, इस कला को स्वयं उत्साह प्रदान न करते, तो हम आज नृत्य कला के विशाल प्रतिष्ठान, संघ, नर्तक और नर्त्तकियों का परिचय पाते या नहीं। और जो सम्मान आज हम नर्त्तक-नर्त्तकियों का कर रहे हैं, वह उन्हें इतना सहज प्राप्त होता, इसे कौन कह सकता है।

रवीन्द्रनाथ स्वयं नर्त्तक नहीं थे परन्तु नृत्यकला में उन्होंने नवयुग का सूत्रपात किया है। जनता के मन की नृत्यकला विरोधी अनेक भावनाओं को उन्होंने दूर किया है। यह रवीन्द्रनाथ के प्रचार-कार्य का ही नतीजा है कि हमें ऐसे नर्त्तक मिले जो समाज का शासन और आदेश मानने के लिए तैयार न थे। उन्होंने देश-विदेश में सम्मान प्राप्त करके भारत का गौरव बढ़ाया है।

उन्होंने, शान्तिनिकेतन की सहायता से, देशमें नृत्य कला के अनुकूल मनोभाव उत्पन्न किया। यहां प्रश्न उठ सकता है कि शान्तिनिकेतन तो उनके आदर्शों पर संचालित शिक्षा प्रतिष्ठान है, वहां पर उन्होंने नृत्यकला का आयोजन क्यों किया? क्या इसकी कोई आवश्यकता थी? हां, आवश्यकता थी। यथार्थ में शिक्षा का उद्देश्य है संस्कृति के द्वारा मनुष्य को महान बना देना। इस प्रकार से शिक्षित मनुष्य, जाति, देश या दुनिया में श्रेष्ठ समझा जायगा। संस्कृति के वाहनों में नृत्यकला किसी दिन हमारे देश में प्रधान समझी जाती थी। लेकिन नाना कारणों से हमने शताब्दियों पूर्व इसे अपने सामाजिक जीवन से बिदा कर दिया था—खास करके शिक्षाभिमानी ऊंची श्रेणी के समाज से। शिक्षा का प्रधान काम है चित्त को नाना प्रकार की कला और ज्ञान के द्वारा संस्कृति के पथ पर ले जाना। इसी बात पर विचार करके रवीन्द्रनाथ ने शान्तिनिकेतन में नृत्य कला को स्थान दिया था। यहां के नृत्य तथा उसके आदर्शों को भली भांति हृदयंगम कर लेने पर हमें मालूम हो जायगा कि शान्ति-निकेतन में नृत्य कला की शिक्षा का उद्देश्य नर्त्तक-नर्त्तकियाँ तैयार करना नहीं था। यथार्थ शिक्षा से जिस प्रकार ज्ञान और विज्ञान समाज के जीवन को शान्तिमय बनाते हैं, नृत्य कला का भी वही उद्देश्य था।

अधकचरा और अनभ्यस्त मन लेकर काम करना सहज है। इसीलिये यह सर्वत्र देखने में आता है कि शिशु के अपरिणत मस्तिष्क में नवीन विचार-धारा को घुमाना आसान है। इसका फल रवीन्द्रनाथ अपने जीवन-काल में ही देख गए हैं। शान्ति निकेतन के छात्र-छात्राओं ने नृत्यकला की शिक्षा पाकर पहले आश्रम में इस कला का वातावरण तैयार किया, इसके बाद बङ्गाल के तथा समग्र भारतवर्ष के विरोधी वायुमंडल को साफ़ कर दिया।

यह ऊपर लिखा जा चुका है कि नर्त्तक-नर्त्तकी तैयार करना उनका उद्देश्य नहीं था। वह नृत्य का एक 'मान' (Standard) स्थापित करना चाहते थे, जो आजकल के शिक्षित मार्जित रुचि-सम्पन्न जनों को मानसिक भोजन प्रदान करे।

आज हम प्राचीन देव देवियों की घटना, वर्णन और पोषाक इत्यादि से हू-ब-हू या असमर्थ अनुकरण करके नृत्यकला का अनुष्ठान देखकर विशेष रूप से आकर्षित होते हैं। लेकिन याद रखना चाहिये, अगर आज कोई महान साहित्यकार ज़ोर देकर कहे कि संस्कृत हमारी देवभाषा है, यह अत्यन्त प्राचीन भाषा है, इसकी साहित्य सम्पदा विशाल है, अतएव हमें इसी भाषा में आधुनिक साहित्य निर्माण करना

चाहिए,—तो लोग उस व्यक्ति को पागल छोड़कर और किस विशेषण से विभूषित करेंगे।

रवीन्द्रनाथ प्रवर्त्तित नृत्यकला की मौलिक विशेषता यह है कि वह सम्पूर्ण रूप से भारतीय आदर्श पर बनी हुई है। भारतीय नृत्याभिनय की जो निजस्व धारा अनेकों युगों से चली आ रही है, और जिस नृत्याभिनय पद्धति ने किसी समय समग्र पूर्वी देशों को इसी आदर्श से प्रेरणा प्रदान की थी, उस आदर्श से वह लेशमात्र भी विचलित नहीं हुये। यद्यपि अपनी गंभीर अन्तर्दृष्टि के बल पर उनकी रचना प्राचीन आदर्श पर अवलम्बित होने पर भी आधुनिक शिक्षा प्राप्त लोगों के मनोनुकूल भी है। दूसरे कलाकारों ने अधिकांश में रवीन्द्र नृत्यकला-पद्धति को स्वीकार नहीं किया है। वे इस कला का खण्डित रूप प्राचीन नृत्य, लोक नृत्य के नाम से दर्शकों के सामने उपस्थित कर रहे हैं। उपर्युक्त नृत्यकला में पोषाक आदि के अलावा भारतीय नृत्याभिनय का आदर्श और उसकी रीति व्यवहृत हुई है। रवीन्द्रनाथ ने गान को नृत्याभिनय में विशेष स्थान दिया है। संगीत भारतीय प्राचीन-नृत्य का एक विशेष अंग था। आज नृत्यकला में बाजों के छन्दों से भरी हुई ध्वनि का अवलम्बन किया जाता है। मानों नृत्य का वहां कोई स्थान ही नहीं है। अति प्रचलित एक प्रकार के यूरोपीय नृत्य के साथ सम्बन्धित यंत्र-संगीत के प्रभाव से हम गान को निकाल कर यंत्र संगीत का निर्माण कर रहे हैं; लेकिन इस कार्य में हम शैशव अवस्था भी पार कर सके हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। जावा, बाली, बर्मा, चीन, जापान आदि पूर्वी देशों में नृत्याभिनय के साथ यंत्र-संगीत का अधिक प्रचलन है, यद्यपि वह संगीत नृत्य का विशेष अंग है, लेकिन इस पर भी उन्होंने गान को निकाल नहीं दिया है। सभी प्राचीन नृत्याभिनयों का आधार गान पर भी है। उनका अभिनय गान, यंत्र और संगीत के साथ होता है। केवल यंत्र-संगीत की सहायता से नृत्याभिनय की प्रथा को हम लोगों ने पाश्चात्य नृत्यकला के प्रभाव से इस शताब्दी में लिया है। उपर्युक्त दोनों कारणों से ही मैंने लिखा है कि रवीन्द्रनाथ नृत्यकला में सम्पूर्णरूप से भारतीय थे। दूसरे लोग बाहर से तो भारतीय हैं; लेकिन उनके मत को आवृत्त कर रखा है यूरोप के नृत्यादर्श ने।

पाश्चात्य नृत्य में नर्त्तक के शरीर को छोड़कर दर्शकों के लिये मानो कुछ भी नहीं है। दर्शक देखता है नर्त्तक नर्त्तकी ने कैसा नृत्य किया, उनका शरीर कैसा सुगठित है। दैहिक सौन्दर्य और लालित्य आदि को वहां अत्यन्त ऊंचा स्थान, नर्त्तक-नर्त्तकियों पर ध्यान रखकर, दिया जाता है। नाना प्रकार के छोटे बड़े नृत्य समारोहों में हम उसी व्यक्तिमात्र को कार्य सूची के केन्द्र में देखते हैं। हमारे देश में यही वातावरण आजकल प्रबल है। लेकिन रवीन्द्रनाथ का नृत्याभिनय भाव और रस प्रधान है। वहां नृत्यकार का व्यक्तित्व उसकी कला को पार नहीं कर सकता है। उनकी रचना किसी विशेष नृत्य-कलाकार को केन्द्र करके नहीं हुई है। प्राचीन भारतीय नृत्याभिनय का आदर्श भी यही है।

यहीं रवीन्द्रनाथ की दूर दृष्टि का परिचय मिलता है। एक ओर तो वह प्राचीन आदर्श पर भारतीय नृत्य के युग प्रवर्त्तक हैं और दूसरी ओर इस दिशा में वे ही सब से अति आधुनिक हैं। उनके अंतिम काल के नृत्याभिनय आने वाले काल में नृत्याभिनयों को प्रेरणा प्रदान करेंगे, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। उनके नृत्याभिनय में हमें आधुनिक भौतिकवादी समाज का चित्र नहीं मिलता है और न तो उनमें किसी सामाजिक समस्या को सुलझाने की चेष्टा ही दिखाई पड़ती है। उन्होंने सब युगों के मानवलोक की चिरन्तन समस्या को सुन्दर रूप में दर्शकों के सम्मुख स्पष्ट करके उनके चित्र को उन्नततर रस-लोक में पहुंचाया है। उनकी रचना किसी दल या श्रेणी की समस्या का समाधान करने के लिए नहीं हुई है।

टेकनीक की दृष्टि से विचार करके हम यही कह सकते हैं कि आधुनिक बङ्गला साहित्य, चित्र कला और संगीत ने जिस तरह आधुनिक मन को अपनी

ओर आकर्षित किया है, उसी प्रकार रवीन्द्रनाथ की नृत्य-धारा ने भी किया है। उन्होंने अति प्राचीन नृत्यपद्धति का अविकल अनुकरण नहीं किया है। और आधुनिक एवं एक प्रकार के पाश्चात्य नृत्य के आदर्श पर वास्तविकता को भी अपने नृत्य में स्थान नहीं दिया है। लेकिन भारतीय विचारधारा को जहां पाश्चात्य पद्धति वैचित्र्य प्रदान करने मे सहायता करती है, उसमें मेल खाती है, उसे उन्होंने अनायास ही स्थान दिया है। रवीन्द्रनाथ के शान्तिनिकेतन के बीच में यह चेष्टा कहां तक सफल हुई है इसका प्रमाण तो कुछ दिन पहले तक उन्हीं के द्वारा सचालित नृत्य और अभिनय ने दिया है। शान्तिनिकेतन का यह मिश्रण जितना सुन्दर हुआ है, उतना अन्यत्र सम्भव नहीं हुआ है। नाना प्रकार की भारतीय तथा कुछ विदेशी नृत्य पद्धतियों ने एक होकर अनुपम नवीनता प्रदान की है।

आज प्रश्न यह उठ सकता है कि भविष्य में हमारी नृत्य पद्धति किस पथ पर चलेगी? इसका उत्तर है रवीन्द्रनाथ शान्तिनिकेतन के छात्र छात्राओं में जिस आदर्श का प्रवर्त्तन कर गए हैं। कुछ लोग इसे अतिशयोक्ति समझ सकते हैं। लेकिन जैसे जैसे भविष्य में देश का मन नृत्यकला को अपनाता जायगा, उतना ही यह विच्छिन्न रूप से विभिन्न प्राचीन नृत्य पद्धतियों के अनुकरण के प्रति आग्रह नहीं दिखलावेगा।

रवीन्द्रनाथ के उठ जाने से भारतीय नृत्यकला की अग्रगति को जो क्षति हुई है, उसे कौन पूरा कर सकता है? लेकिन उन्होंने हमें रास्ता बता दिया है, यही हमारे लिये सन्तोष की बात है। इस पथ पर चलने की शक्ति हममे है कि नहीं इसका पता धीरे धीरे चलेगा।



ग्यारह वर्षों की छाया

श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी



श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी

कहा से शुरू करूं और कहां समाप्त करूं, कुछ समझ में नहीं आता। ग्यारह वर्ष रवीन्द्रनाथ के उदार स्नेह की छाया में कटे हैं। ग्यारह वर्ष कुछ ऐसे हो गये हैं कि मालूम होता है उनका कोई आदि अन्त है ही नही। कब वे शुरू हुए और कब समाप्त हो गये कुछ समझ में ही नहीं आता। हिसाब लगाने का समय नहीं है और हिसाब ठीक ठीक हुआ है कि नहीं यह मिला सकने की बुद्धि को काठ मार गया है। पर नितान्त अविश्वासी को भी यह बता देने में मुझे कोई संकोच नहीं कि इन ग्यारह वर्षों ने मेरे भीतर आश्चर्यजनक परिवर्तन कर दिये हैं। आज मेरी समस्त चिन्ता और समस्त कर्मों के आगे आगे रवीन्द्रनाथ ही मार्ग-दर्शक के रूप में दीख पड़ते हैं। मैं लिखता हूं यह बात कुछ लोग जान गये हैं, पर मैं क्या लिखता हूं, इस विषय में उन 'कुछ लोगों' को ठीक पता नहीं। मैं थोड़ा-थोड़ा जानता हूं। मेरा लिखना रवीन्द्रनाथ के वाक्यों की अपनी मति के अनुसार टीका है। मेरी विद्या बुद्धि-और संस्कार इसमें कार्य करते ही न हों ऐसा तो नहीं है, पर उन संस्कारों को रावीन्द्रिक विचारों ने एक विशेष दिशा की ओर मोड़ दिया है। रवीन्द्रनाथ जैसा गुरू मिलना एकदम असम्भव है। मनुष्य पर इतना ज़बर्दस्त विश्वास करने वाला व्यक्ति मैंने आज तक नहीं देखा। कौन जाने देखूंगा भी कि नहीं। उनकी प्रतिभा पास जाने वाले को दस बनाती थी, साहसी कर देती थी और अपने ऊपर अखण्ड विश्वास ला देती थी। मैंने कई बार अदना से विचार उनके सामने रखे हैं, पर कभी भी उन्होंने हँस कर उसे उड़ा नहीं दिया। प्रत्येक बार उन्होंने मेरे अदना विचारों को अपनी मार्जित भाषा में इस प्रकार रखा है कि मैं स्वयं अवाक् हो गया हूं। आज भी उनकी मुस्कराती हुई वह भंगी याद आती है—"तुम्हारे कहने का मतलब यह है..." और फिर उस 'मतलब' के स्पर्श मणि से छुआ जा कर वह टूटा फूटा विच्छिन्न विचार ऐसा उत्तम रूप ग्रहण करता था कि उसका आदि-कर्त्ता आश्चर्यभरी मुद्रा में ताकता ही रह जाता था।

कितनी बार उन्हों ने मुझ से कितने विषयों के प्रामाणिक ग्रन्थ लिखने को कहा है, इस का हिसाब मेरे पास नहीं है। एक बार प्रस्ताव आया आधुनिक ज्यौतिषिक गणना से एक पत्रा बनाओ, दूसरी बार आज्ञा मिली हिन्दी का एक वैज्ञानिक व्याकरण लिखो, तीसरी बार आदेश हुआ हिन्दी भाषी प्रान्तों के विवाहादि संबंधी रीति नीतियों का अध्ययन करो और एक बार यह भी प्रस्ताव आया कि कुछ बच्चों का पाँच

वर्ष तक का ज्यौतिषिक फलगणना करके इस बात की जाँच करो कि फलित ज्योतिष का कितना अंश ठीक ठीक मिलता है ! प्रत्येक बार उन्हों ने विश्वास कर लिया कि मैं इस विषय को योग्यतापूर्वक निभा ले लाऊँगा। उनकी कुछ ही आज्ञाओं का पालन मैं कर सका था। अपनी विद्याबुद्धि के हिसाब से ही वे औरों के ऊपर भी विश्वास करते थे। उनकी एक आज्ञा का पालन करना ही हमारे ऐसों के लिए पहाड़ हो जाता था ! परन्तु उनको कभी भी यह मानों भान ही नहीं हो पाता था कि यह आदमी इतना बड़ा कार्य नहीं कर सकता। केवल मेरे साथ ही नहीं; सबके साथ उनका यही व्यवहार था। उनके पास जाते ही नये नये विषयों की जानकारी प्राप्त करने की प्रेरणा मिलती थी। जब मैं आजकल सुना करता हूं कि हिन्दी में लाठी मारनेवाले आलोचकों के अभाव में ही साहित्य सूना पड़ा हुआ है, तब मैं सोचता हूं कि क्या रवीन्द्रनाथ ही ग़लती पर थे, जो लाठी मारना तो दूर रहा नित्य छोटे-मोटे विचारों को भी इतना उत्साहित और उन्नीत बना दिया करते थे कि महा आलसी भी कुछ-न-कुछ कर गुज़रता था ? मेरी अन्तरात्मा कहती है कि रवीन्द्रनाथ ही सही थे। उनकी नीति ने आज कितने विद्वान मनस्वी और चिन्तानायक पैदा किये हैं और हमारी लाठी मार नीति ने कितने ! कम से कम दो दर्जन नाम मुझे बिना विचारे ही याद आते हैं, जो रवीन्द्रनाथ के संस्पर्श में आने से अन्तर्राष्ट्रीय कीर्ति के अधिकारी हो गये और इस सस्पर्श में न आये होते, तो दुनिया उन्हें जानती तो नहीं ही, उनकी ओर ताकती भी कि नहीं, कौन जाने।

रवीन्द्रनाथ सच्चे गुरू थे। वे प्रतीक्षा करना जानते थे, वे प्रेरणा देना भी जानते थे; वे आदमी पहचानते थे, आदमी पर अविचलित विश्वास भी रख सकते थे। वे रोम रोम से उस महा राज-राजेन्द्र की महिमा पर विश्वास करते थे, जो अनन्त काल का अधिपति है, जो एक कली को खिलाने के लिये युग युगान्त तक प्रतीक्षा करता है। आज जो गुलाब का फूल खिला है उसके लिये कितने वर्षों से तैयारी हो रही है। कितने बार बीज हुए हैं, वृक्ष हुए हैं, फिर बीज और फिर वृक्ष ! यह अटूट परम्परा अनादि काल से चली आ रही है, फिर भी उस राज-राजेन्द्र को जल्दी नहीं है। रवीन्द्रनाथ उसकी महिमा से ख़ूब परिचित थे। अपनी एक कविता में उन्होंने कहा है—

हे राजेन्द्र, तुम्हारे हाथ में अनन्त काल है अनगिनत रात और दिन आते हैं और जाते हैं, युग युगान्तर फलते हैं और झड़ते हैं। तुम्हें देर भी नहीं लगती, जल्दी भी नहीं होती, तुम प्रतीक्षा करना जानते हो। एक छोटी-सी कली को प्रस्फुटित करने के लिये सौ सौ वर्षों तक तुम्हारा धीर आयोजन चला करता है। काल नहीं है हमारे हाथों में, इसीलिये हम आपस में ही छीना झपटी करते रहते हैं। किसी को कोई देर बर्दाश्त नहीं होती। इसीलिये हे प्रभु, सब की सेवा समाप्त करते करते ही हमारा समय निकल जाता है और तुम्हारी पूजा की थाली सूनी पड़ी रह जाती है। असमय में हम दौड़ आते हैं, मन में डरते रहते हैं। आकर देखते हैं तो तुम्हारा समय बीता नहीं है।

× × ×

अपनी 'जीवन-स्मृति' में उन्होंने लिखा है कि "स्मृति के पट पर जीवन का चित्र कौन आंक जाता है, मुझे नहीं मालूम ! किन्तु वह जो कोई भी हो, चित्र ही बनाता है। अर्थात् जो कुछ घट रहा है उसकी अविकल नकल रखने के लिये वह हाथ में तूलिका सम्हाले हुए नहीं बैठा है। वह अपनी अभिरुचि के अनुसार जाने कितना छोड़ जाता है, कितने बड़ों को छोटा कर देता है, कितने छोटों को बड़ा कर देता है। वह आगे की चीज़ को पीछे और पीछे की चीज़ को आगे कर

देने में कुछ भी दुविधा नहीं करता। वस्तुतः उसका काम ही चित्र बनाना है, इतिहास लिखना नहीं।" इस प्रबंध का भी वही हाल है। इसमें भी मैं आगे और पीछे का ख़याल नहीं रखने जा रहा हूं। मेरी स्मृति के पट पर जो चित्र हैं, उन्हें जहां कहीं से भी खींचकर इस प्रबंध में सजा रहा हूं। ब्योरेवार इतिहास से इसका ताल्लुक नहीं है।

फिर भी मैं उस दिन को नहीं भूल सकता, जब कि उस महामान्य को मैंने पहली बार देखा था। जीवन की एक बहुत बड़ी साध जिस दिन पूजी थी, उसे कैसे भुलाया जा सकता है। पर वह दिन मेरे लिये इतना ही भर नहीं था। उस दिन मैंने वास्तविक द्विजत्व पाया, मेरा दूसरा जन्म हुआ। उपनयन को शास्त्रों में दूसरा जन्म कहा गया है। उपनयन अर्थात् गुरू के पास लिवा जाया जाना। सो वह दिन मेरे वास्तविक उपनयन का दिन था। शान्तिनिकेतन आश्रम में शिक्षक के नाते मेरा जो निमंत्रण हुआ था, उसे मैंने अपना परम भाग्य समझा था। वहां क्या होता है या मुझे क्या लाभ होगा, इसकी तो मुझे बिलकुल ख़बर नहीं थी, पर वहां रवीन्द्रनाथ रहते हैं यही मेरा सबसे बड़ा आकर्षण था। कार्तिक की पूर्णिमा को मैं घर से रवाना हुआ था, गंगा के किनारे अपार जनता उमड़ी हुई थी। उन्हीं में पिसता पिसता मैं आगे बढ़ सका था। किसे पता था कि मैं जीवित गंगा की गोदी में खेलने जा रहा था। स्वयं मुझे ही पता नहीं था तो औरों की तो बात ही क्या है!

मैं शान्तिनिकेतन आया, पर रवीन्द्रनाथ के दर्शन नहीं हुए। वे यूरोप से अभी लौटे नहीं थे। क़रीब एक मास बाद उनके लौट आने का समाचार मिला। उनकी गाड़ी जब आश्रम में पहुंची, तो आश्रमवासियों की भीड़ उमड़ पड़ी। सब लोग चले गये। आश्रम खाली हो गया, पर हाय रे दुर्भाग्य! मैं आसन और रजिस्टर सम्हाले अपने बरगद के पेड़वाले क्लास की प्रतीक्षा में डटा रहा। कोई नोटिस मुझे ऐसी नहीं मिली थी जो बताती कि मैं क्लास छोड़कर वहां जा सकता था। नया आदमी था, भाषा-भूषा, आचार-व्यवहार सबसे अपरिचित, कौन जाने यहां से जाने पर कौन क्या कहता। मैं डटा रहा। जब सब लोग लौट आये तो मैंने आशा दी से पूछा कि क्या गुरुदेव आ गये! आशा दी अवाक् अचरज के साथ बोलीं अरे आप नहीं गये? यहां यह कह रखना ज़रूरी है कि आशा दीदी ही के ज़रिये मैं यहां आया था और उनके भगिनी-स्नेह के बल पर ही टिका हुआ था। सो जब उन्होंने मुझ से इस प्रकार प्रश्न किया तो मैंने समझा कुछ ग़लती हो गई है। देस-देस का अलग रिवाज है। कौन जाने यहां जिस बात को हम ग़लत समझते हैं उसी को सही माना जाता हो! मैंने क्षमा-प्रार्थी की तरह कहा कि मुझे मालूम नहीं था। प्रश्न हुआ, आप ने घंटा नहीं सुना? अब मालूम हुआ कि शान्तिनिकेतन का घंटा ही वास्तविक डिक्टेटर है। मैं पछता कर रह गया। आशादी ने आश्वासन दिया कि वे मुझे फिर अकेले ही दर्शन कराने लिवा चलेंगी। अंधे को क्या चाहिये, दो आंखें?

अत्यन्त दुबका हुआ, अपने आपको अपने वस्त्रों में यथासंभव विलीन करता हुआ मैं पहली बार रवीन्द्रनाथ के सामने गया। हां, रवीन्द्रनाथ ही तो थे। शुभ्र श्मश्रु समाच्छादित मुख मण्डल से एक तेज सा झड़ रहा था। मुझे और आशा देवी को देखते ही वे मुसकराये। 'एसो' अर्थात् आओ! यही उनका प्रथम वाक्य था। मुझ से थोड़ी देर तक बङ्गला में कुछ बोलने के बाद वे जान सके कि मैं बङ्गला भाषी नहीं हूं, और नया हिन्दी अध्यापक होकर आया हूं। इस बार उनका चेहरा और भी प्रफुल्ल हो गया। बोले—"मैं हिन्दी बोल सकता हूं, पर तुम लोग मेरी हिन्दी सुन कर मारने दौड़ोगे! यह अच्छी बात है कि तुम बङ्गला समझ लेते हो।" उस दिन इतनी ही बात हुई। हम दोनों प्रणाम करके चले आये। मैं बहुत प्रसन्न था कि जाते ही गुरुदेव ने अपना लिया। बिलकुल ही नहीं मालूम होने दिया कि मैं कोई बाहर से आया हूं। मानों जिस माता की गोद में मैं विधाता की ओर से डाल दिया गया हूं उसने समस्त कठिनाइयों और बाधाओं को एक ही

झटके में तोड़ दिया है, मैं उसके अनेक पुत्र कन्याओं के बीच अनायास ही समान आसन का दावेदार बन गया हूं। जैसे कहीं भी कोई बाधा न हो, कहीं भी विरोध न हो। उसी दिन से मैं शान्ति-निकेतन का 'अपना' हो गया और शायद थोड़े ही दिनों के बाद बङ्गाल का भी 'अपना' हो गया। कुछ दिनों बाद जब आश्रम के अ-बङ्गाली अध्यापकों की गणना होने लगी तो मेरा नाम आते ही गुरुदेव ने कहा—"पंडित जी! उसे कौन ग़ैर बङ्गाली कहता है। काटो उसका नाम!" चूंकि पहली बार आशा दी ने गुरुदेव से मेरा परिचय 'पंडित जी' कह कर दिया था और उसी दिन गुरुदेव ने भी पंडित जी कह कर संबोधन किया था, इसलिये आश्रम में यह शब्द मेरा वाचक हो गया। यह 'पंडित जी' उपाधि काफी ग़लतफहमी पैदा करने वाली थी। मैं न तो 'पंडित' था और न 'पंडित' रूप में प्रख्यात होना चाहता था, पर संस्कृत पढ़ने वालों को यह उपाधि न जाने किस युग से मिलती आई है। जैसे अंधों का नाम 'सूरदास' बिल्कुल निश्चित है, उसी प्रकार संस्कृत पढ़े लोगों का 'पंडित' होना निहायत लाज़मी है। अगर ऐसा आदमी ब्राह्मण जाति का हो तब तो किसी प्रकार की अपील कहीं भी नहीं हो सकती!

शुरू से मैं अकेला गुरुदेव के पास जाने से हिचकता था। प्रायः आचार्य क्षितिमोहन सेन के साथ ही वहां जाया करता था। इन दो विचारकों की बात ही सुनकर अपने को धन्य मानता था। आचार्य सेन प्रश्न करते थे, गुरुदेव उत्तर देते थे और मैं चुप चाप सुना करता था। बीच बीच में गुरुदेव मुझसे भी कुछ पूछ बैठते थे और प्रायः 'हां' 'ना' कहकर मैं संक्षेप में उसे टाल दिया करता था। पर कुछ दिन बाद मेरा संकोच जाता रहा। मैं भी प्रश्न करने का 'साहस' करने लगा। एकाध बार 'साहस' प्रकट करने के बाद मालूम हुआ कि इसमें साहस की कोई बात नहीं थी। निःशंक हो कर इस 'गंगा' में अवगाहन किया जा सकता था। परन्तु गुरुदेव शुरू से आखीर तक कलाकार थे। वे सभी चीजों में समता (Balance) रखना पसन्द करते थे। इस समता के प्रति ध्यान रखना उनसे बात करने वाले का प्रधान गुण होना चाहिये था। कही हुई बात ख़ूब ज़ोर से भी नहीं, बिलकुल धीरे भी नहीं; बहुत उत्तेजित हो कर भी नहीं, मुरझाया हो कर भी नहीं; तर्क शुष्क भाषा में भी नहीं, ढुलमुल ढब में भी नहीं; तीखी भी नहीं, भोथी भी नहीं हो, तो उनका चित्त ज्यादा अनुकूल कर लिया जा सकता था। उनकी तीक्ष्ण दृष्टि वेष भूषा की भी उपेक्षा नहीं करती थी। रूखा-सूखा, लस्टम-पस्टम' वेश उन्हें पसन्द न था। नाना रंगों के कपड़ों का गोद-गाद उन्हें भद्दा लगता था। व्योमकेश वेश उन्हें कतई पसन्द न था। अपना वेश भगवान ने कुछ ऐसा ही बनाया है, कुछ अपनी ओर से मैंने भी उस परमपिता को सहायता पहुंचाई है। यद्यपि मैं उनके सामने जाते समय अपने व्योम-गामी मूर्धजों को थोड़ा विनीत बना लेता था, लस्टम-पस्टम वेश में कुछ परिपाटी विधान का छौंक दे लेता था, पर वह अन्त तक छिपाया नहीं जा सका था। फिर भी वे मुझे स्नेह करते थे। इस स्नेह के बल पर ही मेरा वेश सुधरने से रह गया। पर मेरा मन ज़रूर सुधरा था।

बिल्कुल ही नहीं सोचा था कि कभी ऐसा भी अवसर आयेगा जब उनके संस्मरण लिखने होंगे। डायरी रखने का अभ्यास आज से बीस वर्ष पहले छोड़ चुका हूं। उसकी उपयोगिता भी कुछ हो सकती है यह आज ही समझ रहा हूं। पर अब काफी देर हो चुकी है। ऐसे अनेक अवसर आये हैं जब उनके तेजोद्दृप्त मुखमण्डल को हम लोग आश्चर्य-कुतूहल के साथ देख सके हैं, जब उनकी अदमनीय आशा-वाणी मूर्तिमान हो उठी है, जब भावी विश्व के विषय में की गई भविष्यद्वाणी हमने उत्कर्ण होकर सुनी है, परन्तु उनकी जो लकीर हृदय पर खिंच गई है, उससे अधिक मेरे पास कुछ भी नहीं है। कोई डायरी नहीं है, कोई पत्र नहीं है, कोई भी निदर्शन पास में नहीं है। परन्तु हृदय-देश पर खिंची हुई लकीर ज्यों की त्यों है। उसमें इतिहास की पूर्वापरता

नहीं है, परन्तु जीवन का स्पर्श है। ऐसे अनेक अवसर आये हैं जब उनके श्वेत-श्मश्रु मंडित मुख से अबाध स्वर में गम्भीर भाव से गान निकल पड़े हैं और मैं तथा मेरे अन्य मित्र मुग्ध होकर सुनते रहे हैं। कल्पना कीजिये उस दृश्य का जब शान्ति-निकेतन के अन्तेवासी उत्सुक नयनों से उनके मुख की ओर देख रहे हैं, घोर निस्तब्धता है, अचानक कवि ने एक बार गला साफ़ करने के लिये खांस दिया। निस्तब्धता मानो कवि की भावी गर्जना का अनुमान करके झनझना उठी हो। बिना भूमिका के वे सीधे वक्तव्य वस्तु पर आते थे; वक्तव्य वस्तु कोई कविता भी हो सकती थी, कोई प्रवचन भी हो सकता था, या कोई गान भी हो जाया करता था।

जब वे कोई नई कविता या निबंध लिखते थे तो कुछ थोड़े से लोगों को पहले पढ़कर सुनाया करते थे। आचार्य क्षितिमोहन सेन उस मंडली में जरूर हुआ करते थे। शुरू शुरू में वही मुझे खींच कर ले जाते थे, पर बाद में मेरा अधिकार भी स्वीकार कर लिया गया था। वह बहुत ही बहुमूल्य अवसर हुआ करता था। उस समय गुरुदेव के भीतर वैसा ही उत्साह खेलता रहता था जैसा अत्यन्त किशोर कवि के अपनी कविता सुनाने में होता है। मुझे पहली बार अत्यन्त आश्चर्य हुआ था कि गुरुदेव क्यों इतने आनंदित दीख रहे हैं। वस्तुत: वे मन से कभी बूढ़े नहीं हुए। हमारे जैसे युवकों की अपेक्षा वे कहीं अधिक युवा थे। एक मज़ेदार बात यहां याद आ रही है। जिस दिन उनका अस्सीवां वर्ष आरंभ हुआ उस दिन आचार्य सेन और मैं प्रणाम करने गये। सायंकाल था। उनके पास स्व० सुरेन्द्रनाथ ठाकुर और उनकी पुत्रवधू श्री प्रतिमा देवी बैठी थीं। बहस यह थी कि उनका ७९ वां वर्ष समाप्त हुआ या अस्सीवां वर्ष। गुरुदेव का कहना था कि वे अस्सी वर्ष समाप्त कर चुके हैं, और लोग कहते थे कि उनका ७९ वां वर्ष ही समाप्त हुआ है, अस्सीवें में तो वे प्रवेश कर रहे हैं। मुझसे और आचार्य सेन से उन्होंने जानना चाहा कि हमारा क्या मत है। ज्योतिषी समझ कर सब का इशारा मेरी ओर हुआ। मैंने कहा, स्मृतियों के मत से गर्भकाल से आयुगणना होती है और अस्सी वर्ष पूरा होने में आप के तीन ही महीने बाक़ी हैं। यह मैंने इसलिये कहा था कि उनके मत का थोड़ा समर्थन हो जाय। परन्तु वे एक विचित्र युक्ति से अस्सी वर्ष का पूरा होना कह रहे थे। मेरी समझ में वह युक्ति अन्त तक न आई। वे समझाते ही रहे। मुझे आश्चर्य हुआ कि गुरुदेव अपनी उमर बढ़ा कर क्यों मानना चाहते हैं! क्या यह भी उनका बाल-स्वभाव था!

आज से १५ १६ महीने पहले की बात कह रहा हूं। गुरुदेव पहाड़ से लौटे थे। सब लोग दर्शन कर आये थे, मैं उस दिन भी नहीं जा सका था। आदरणीय क्षितिमोहन बाबू से मालूम हुआ कि उन्होंने पूछा था कि 'पंडित जी' (अर्थात् मैं) क्यों नहीं आया? मैं बराबर ज़रा देर से पहुंचा करता था और इसलिये मुझे एकाध बार झिड़की भी सहनी पड़ती थी। गुरुदेव की झिड़की जिसे मिलती थी वह अपने को सौभाग्यशाली मानता था क्योंकि इससे उनके स्नेह और आत्मीयता का प्रमाण मिलता था। मुझे कई बार यह सौभाग्य प्राप्त हो जाया करता था और औरों की भांति इस झिड़की का विज्ञापन करने में मुझे भी मजा आता था। आज भी इसका विज्ञापन ही कर रहा हूं। सो दूसरे दिन मैं इसी उम्मीद से गया कि या तो कुछ मेरे सम्बन्ध में गुरुदेव की ओर से चुटकी ली जायगी या झिड़की मिलेगी। शायद ही कोई अवसर ऐसा आया हो जब मैं उनके पास गया होऊं और उन्होंने कोई रसिकता पूर्ण मज़ाक न किया हो। सब के साथ उन का यही व्यवहार था। आनेवाले को प्रथम वाक्य में ही वे प्रफुल्ल कर देते थे। मज़ाक ज़्यादातर अपने ऊपर करते थे और यदि श्रोता अत्यधिक नज़दीकी हुआ तो फिर उस पर भी कर देते थे। एक भी ऐसा अवसर नहीं आया जब उन्होंने किसी एक ही मज़ाक को दुहराया हो या ऊंचे स्तर से क्षणभर के लिये भी नीचे उतरे हों। एक बार मैं अपने एक मित्र के साथ उनसे मिलने

गया था। साथ में मेरी एक तीन वर्ष की कन्या थी। हम लोगों ने चरण छुए और कन्या ने भी उसी प्रकार पादस्पर्श करना चाहा। ज्योंही उसके हाथ पैरों के पास पहुंचे त्योंही गुरुदेव ने ज़ोर से पैर खींच लिये और अचानक बोल उठे—"अहा अहा—तुम ब्राह्मण-कन्या हो, पैर पर हाथ न देना !" और उसके हाथ पकड़ कर उसमें दो तीन चाकलेट के टुकड़े डाल दिये। हम लोग हस पड़े। लड़की कुछ समझ तो नहीं सकी पर ज़ोर से हसने लगी। बच्चे गुरुदेव से इतने हिले रहते थे कि उन्हें स्वप्न में भी यह भय नहीं हो सकता था कि उनसे कुछ ग़लती हुई है। लड़की का हसना देख कर गुरुदेव का चेहरा खिल उठा। तो, जिस दिन की बात कह रहा हूं, उस दिन भी कुछ इसी उम्मीद को लेकर गया था कि कुछ हसने हंसाने को मिल जायगा। पर उस दिन गुरुदेव बहुत गभीर थे। उन्होने बैठने को इशारा किया और फिर कुछ गंभीर होगये। मैं मन ही मन यह समझ कर पछताने लगा कि आज कुछ असमय में आगया, इस समय ये किसी बड़ी चिन्ता में मग्न हैं। मौका खोज रहा था कि कोई बहाना बनाकर निकल जाऊं, तब तक वे कुछ उत्तेजित से होकर बोल उठे—

"तुम क्या समझते हो कि फ्रांस का पतन एक आकस्मिक घटना है! बेल्जियम का हार-जाना कोई बड़ा भारी आश्चर्यजनक व्यापार है? तुमने कभी सोचा है कि इन साम्राज्यवादी क्षुद्र देशों ने कितने पाप किये हैं; दीन अशिक्षित और शस्त्रहीन कितनी जातियों को हतवीर्य और पंगु बनाया है कितनों के रक्त को चूसकर अपने आपको स्फीतकाय बनाया है? सफ़ेद आदमियो के चमड़े पर ज़रासी खरोंच पड़ती है तो तुम लोग चिल्ला उठते हो कि अत्याचार हो रहा है, अनर्थ हो रहा है, 'बर्बरता का ताण्डव' हो रहा है, पर बेलजियम ने कांगो में जो कुछ किया था वह तुम्हें मालूम है? हालैण्ड ने जावा को किस बुरी तरह से रौंदा है, उसका तुम्हें कुछ पता है? मैं जानता हूँ?"

मुझे बिल्कुल उम्मीद नहीं थी कि अचानक कोई ऐसा प्रसग छिड़ जायगा। मैं बड़ी देर तक तो समझ ही नहीं सका कि आखिर मुझ से यह जवाब तलब क्यों किया जा रहा है। चित्रगुप्त के पक्के खाते में भी मेरे नाम पर राजनीतिक चर्चा के पाप का कोई हिसाब नहीं मिलेगा। चाय पीते-पीते हमने मित्रों के साथ युद्ध और संधि विग्रह की बहुत बातें की हैं; लेकिन गुरुदेव से इस विषय पर बात कर सकूंगा ऐसी कल्पना भी मैंने कभी अपने आप में अंकुरित नहीं होने दी थी। मैं मन ही मन इस तर्क-युद्ध के मोर्चे का भविष्य पूरी तरह से सोच रहा था। कुछ ठीक समझ में नहीं आया कि कैसा उत्तर देने से गुरुदेव के मन की बात ठीक ठीक निकाल ली जा सकती है। अपने समवयस्क मित्रों की अपेक्षा मैं कुछ ढीठ ज़रूर था। संस्कृत की पोथियों के बारे में चर्चा छिड़ती थी, तो मैं अपना मत ज़रूर प्रकट करता था, ज्योतिष के मामले में मैं बराबर विरोधी पक्ष में रहता था। गुरुदेव ज्योतिष पर विश्वास करते थे और मैं विश्वास नहीं करता था और तो भी यह विरोधाभास ही कहा जाना चाहिये कि कई बार उनकी जन्मपत्री का फल भी भाखा करता था! गुरुदेव इन विषयों में बहस करने की मुझे छूट दे देते थे। पर राजनीति, सो भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति! ना मैं उधर से जाने वाला वीर नहीं था। पुराने असहयोग आन्दोलन के ज़माने में एक बार उत्साहपूर्वक वीरों के एक जुलूस में शामिल हो गया था और पुलिस वालों ने मानों ठीक व्यक्ति को पहचान कर जम के चार डंडे लगा दिये थे। पीठ आज भी उस वीरत्व की स्मृति से कुड़मड़ा उठती है। राजनीति की करालवदना देवी को मैंने उसी दिन से जो नमस्कार किया सो आज तक नमस्कार ही है। हाय, साधारण पुलिस कान्स्टेबल ने जिस 'वीर' को पहचान लिया था, उसे गुरुदेव नहीं पहचान सके! लेकिन नहीं, गुरुदेव ने पहचानने में ग़लती नहीं की थी। मैंने विषय को समझने में ही ग़लती की थी।

विषय और चाहे जो रहा हो, राजनीति नहीं था। मुझे ठीक तो याद नहीं है कि गुरुदेव के शब्द क्या थे, परन्तु भाव ज्यों के त्यों याद हैं। उन्होंने कुछ दिन बाद अपने जन्मोत्सव के अवसर पर उन्हीं बातों को कुछ इस रूप में प्रकाशित किया था—

"समस्त यूरोप में बर्बरता आज अपना नख-दन्त निकाले विभीषिका फैलाने को उद्यत है। पाश्चात्य सभ्यता की मज्जा से निकल कर मानव-पीड़न की इस महामारी ने आज मानवात्मा का अपमान करके दिग-दिगन्त के वायुमण्डल को कलुषित कर दिया है। किन्तु अपने दुर्भाग्य, निस्सहाय, नीरन्ध्र अकिञ्चनता के बीच भी क्या हमें उसका आभास नहीं मिला है? आज शक्ति के साथ शक्ति का द्वन्द युद्ध चल रहा है। यह पशु के साथ पशु का युद्ध है, मनुष्य के साथ मनुष्य का नहीं।······मनुष्य के प्रति विश्वास खोदेना पाप है, अतः उस विश्वास को मैं अन्तिम समय तक रक्षा करूंगा। मैं आशा करता हूँ कि जब इस महाप्रलय के बाद आकाश वैराग्य के मेघों से मुक्त होगा, इसी सूर्योदय की पूर्व दिशा से इतिहास का एक निर्मल आत्म-प्रकाश प्रकट होगा, और एक दिन अपराजित मनुष्य अपनी महान मर्यादा को पुनः प्राप्त करने के पथ पर अपनी विजय-यात्रा के अभियान के लिये समस्त विघ्न बाधाओं का अतिक्रम करके अग्रसर होगा। मनुष्यत्व के अन्तहीन और प्रतिकारहीन पराभव को ही उसकी चरम सीमा कहना, मैं अपराध समझता हूँ।

"यह बात मैं आज कहे जाता हूँ कि प्रबल प्रतापशाली की क्षमता, मदमत्तता और आत्म-निर्भरता निरापद नहीं है। इसी के प्रमाणित होने का दिन आज सम्मुख आ उपस्थित हुआ है। निश्चय ही यह सत्य प्रमाणित हो करके ही रहेगा—

अधर्मेणैधते तावत्
　　ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नान् जयति
　　समूलस्तु विनश्यति॥"

अर्थात् आदमी अधर्म से कुछ दिन उन्नति करता है, फिर सुख भी पाता है, आगे चल कर वह अपने प्रतिद्वंदियों को पछाड़ भी देता है। पर एक दिन अचानक समूल नाश को प्राप्त होता है।

जब वे इस श्लोक का पाठ कर रहे थे, तब उन का मुखमंडल बहुत गंभीर था, आंखे नीचे की ओर मुंदी हुई थी और भवें कुंचित हो गईं थीं। मुझे उनका वह रूप प्रत्यक्ष-सा दिख रहा है। वाक्य समाप्त करने के बाद उन्होंने मेरी ओर देखा। मैं इतना बड़ा तेज बर्दाश्त नहीं कर सकता था। मैं एक बार फिर सोचने लगा कि क्या इस महान भविष्यवाणी के साक्षी होने की योग्यता मुझ में है! परन्तु गुरुदेव ने ज्यादा देर तक मुझे अभिभूत नहीं रहने दिया। ज़रा सा मंद-स्मित से उनका चेहरा खिल गया। और वे फिर और विषय पर बात करने लगे। कुशल-प्रश्न ही आगे की बातचीत का प्रधान विषय था।

मृत्यु के पहले एक बार वे और भी सख्त बीमार हुए थे। लगभग ४८ घंटे तक बेहोश रहे। उसके बाद उन्होंने 'प्रान्तिक' नाम का काव्य लिखा था। उस समय ही वे भविष्य में होने वाले इस भीषण युद्ध का आभास पा चुके थे। उनकी आशावादिता को ज़रा धक्का लगा था परन्तु वे निराश होने वाले नहीं थे। बड़ी मर्म व्यथा के साथ उन्हों ने एक कविता लिखी थी, जिसमें निविड़ अन्धकार में भी आशा के प्रदीप पर उनका भरोसा प्रकट होता है—

नागिनियां चारों ओर विषाक्त निःश्वास
　　फेंक रही हैं,
ऐसे समय में शान्ति की ललित वाणी व्यर्थ के
　　परिहास—जैसी सुनाई देगी,
विदा होते समय इसीलिये, उन लोगों को एक
　　बार पुकार जाता हूँ
जो घर-घर दानव के साथ जूझने के लिये
　　तैयार हो रहे हैं।

(शेष फिर)

गुरुदेव और उनका दान

श्री भगवती प्रसाद चन्दोला

आज जब कि गुरुदेव नहीं हैं, वह बात जिसका सर्वाधिक अनुभव हो रहा है, वह है कि हम उनसे लगातार क्या पाते आ रहे थे। इस अविरल प्राप्ति का सोता जब रुक गया है, तब एक साथ ही हमें उनके दान की महत्ता और अपनी असहाय क्षति का अनुभव हो रहा है। देश इस बात का अनुभव कर रहा है, क्योंकि उन्हीं के कारण, आज के जैसे गये बीते दिनों में भी, उसकी आत्मा के चिरतन सौन्दर्य को अभिव्यक्ति मिली है। उन्हीं के द्वारा देश ने अपने असली स्वरूप को पहचाना था। संसार इस बात का अनुभव कर रहा है क्योंकि उन्होंने देशों और जातियों के बीच की भेद-बुद्धि को दूर करने के हेतु विश्व-बन्धुत्व का घन नाद उद्‌घोषित किया था। उनकी वाणी मे विश्व ने अपने पूर्ण अखण्ड स्वरूप की अनुभूति पाई थी। सभी इस क्षति को समझ रहे हैं।

गुरुदेव के उठ जाने से उनके आश्रम ने जो क्षति उठाई है उसे बतलाना सहज नहीं, क्योंकि वह बहुत कुछ भिन्न प्रकार की है। उसे एक बाहरी देखने के ढङ्ग से नहीं देखा और समझा जा सकता। अपने को तटस्थ रख कर आत्म निरपेक्ष रूप से हमारे लिए उसे प्रकट करना सम्भव नहीं। इसलिए पाठकवर्ग के सामने लेखक की प्रगल्भता और मुखरता मार्जनीय है, यह कहने की आवश्यकता नहीं।

आज जब गुरुदेव नहीं हैं, मुझे अपने उस हठीलेपन का स्मरण आ रहा है, जब मैं सात वर्ष पहले अपने-पराये सभी की इच्छा के विरुद्ध शान्ति-निकेतन आश्रम में चला आया था। सभी ने कहा, दूर जाने से क्या लाभ? विद्यालय में गुरुजनों ने कहा कि कॉलेज की शिक्षा के लिए शान्तिनिकेतन में कौन सी ख़ास बात है। राजनीति, अर्थशास्त्र मनोविज्ञान आदि किसी भी आधुनिक विषय के अध्ययन की व्यवस्था जैसी यहा है, वैसी वहां क्या होगी? वे साथ ही यह व्यंग करना भी न भूले कि यदि गायक, नर्तक या कलाकार बनना हो तो जाओ। वैसे रवीन्द्र-नाथ बनना तो हरेक के बस का काम नहीं। (शान्ति निकेतन के सम्बन्ध मे लोगों की जो धारणा बनी हुई है, उसकी दृष्टि से उनका यह कहना ठीक भी था।) पर मेरी तो ऐसी कोई भी स्पर्द्धा न थी। साथ ही एक भड़कीली-सी डिगरी लेने का भी प्रलोभन मुझे न था. ऐसी बात होती तो मुझे पहले का विद्यालय छोड़ने की कोई आवश्यकता न थी। फिर भी मैं अपनी इच्छा से शान्ति निकेतन चला आया। कहना न होगा कि मैं और मेरे जैसे जो भी विद्यार्थी देश-विदेश से कवि के इस आश्रम में आते रहे, वे उन्हीं के कारण, उन्हीं के महान् व्यक्तित्व के आकर्षण से आते थे। एक बात और थी। उस ज़माने में देश के ऊपर से एक बड़ा भारी प्रबल तूफ़ान गुज़र चुका था, जिसकी स्वच्छन्द गति के नीचे अपने उत्साही तरुण पंख फड़फड़ाने का उन्मादकारी सुख हममें से बहुतों को मिल चुका था। महात्मा जी के देश व्यापी असहयोग आन्दोलन के आदर्शों की गहरी छाप लेकर उस समय कई विद्यार्थी कवि के आश्रम में आये थे। स्पष्ट ही हम लोग अपने मनों में एक उत्कट जिज्ञासा, असीम श्रद्धा तथा कंठ में स्वतंत्रता की प्यास लेकर आए थे। गुरुदेव के निकट आकर, हमने जितनी कल्पना की थी, उससे अधिक—बहुत अधिक पाया। महात्मा जी और गुरुदेव मे हमें जीवनादर्श का पूर्ण आभास दिखाई दिया।

आश्रम में आने पर जब हम औरों से सुनते कि विद्यालय के आरम्भिक दिनों में गुरुदेव स्वयं नियमित रूप से विद्यार्थियों को पढ़ाते तथा अन्य प्रकार से आश्रम-

जीवन में अपने आपको सर्वदा मिलाए रखते, तो उस पीढ़ी के विद्यार्थियों के प्रति हमें ईर्ष्या हुए बिना न रहती। फिर भी जब हम लोग आए थे, तब भी गुरुदेव के प्रेरणादायी सम्पर्क से हम सर्वथा वंचित न रहे। एक तो वृद्धवय की लाचारी और दूसरे अपने साहित्यिक कार्य में सलग्न रहने के कारण उनके लिए पहले की भांति नियमित अध्यापनादि कार्य करना सम्भव न होता था, तो भी सप्ताह में एकाधिक बार हमें उनकी दिव्यवाणी सुनने का सुयोग मिलता ही रहता था। प्रत्येक बुधवार को आश्रम के उपासना मन्दिर में एकत्र होकर हम उनका प्रवचन सुनते। कभी-कभी संध्या समय वे अपनी कोई नई रचना पढकर सुनाते, कभी ब्राउनिंग, टेनीसन आदि अंगरेज़ी के कवियों की कविता की चर्चा होती। आश्रम के उत्सवों में तो वे अन्त तक भाग लेते रहे।

नये आए हुए विद्यार्थियों को बुलाकर गुरुदेव सबसे पहले आश्रम के उद्देश्यों के बारे में कहते थे। अपने बाल्यकाल का स्मरण कर उन्होंने हमें बताया था कि शिक्षा का वह यांत्रिक क्रम, जो पीढ़ियों से विद्यार्थी वर्ग को पीसता आ रहा था, उन्हें कैसा अरुचिकर था। स्कूली शिक्षा के उसी अरुचिकर और अनिष्टकर प्रभाव से मुक्ति देने के लिये उन्होंने शान्तिनिकेतन विद्यालय के रूप में एक नया प्रयोग किया था। रूढ़िग्रस्त शिक्षा-पद्धति के विरुद्ध कवि का यही एक सक्रिय विद्रोह था। निस्सन्देह अपने स्कूल और कॉलेज के दिनों में पाठ्य-पुस्तकों और परिक्षाओं के बोझे को ढोते-ढोते खिन्न हो, क्लान्त मन लेकर जब हम लोग कवि के इस आश्रय-नीड़ में आये थे, तो हमें प्रथम बार एक बड़ी भारी मुक्ति के आनन्द का आस्वाद मिला था। यह शान्तिनिकेतन की उस जमी हुई सांस्कृतिक-परम्परा के कारण था जो सभी के लिए एक सुन्दर सुरुचिपूर्ण वातावरण की सृष्टि करती रहती थी। यह बात नहीं कि उसमें कमियाँ न हों, पर उसकी मनोज्ञता के सामने त्रुटियों पर हमारी दृष्टि नहीं अटकती थी। जिस सबल किन्तु अस्पष्ट आशा को लेकर विद्यार्थीगण गुरुदेव के आश्रम में आते थे, उससे कहीं अधिक उनकी उपलब्धि होती थी। वस्तुतः विद्यार्थी जीवन की वह एक बहुत भारी उपलब्धि होती थी, जो गुरुदेव के व्यक्तित्व और आदर्शों की स्पष्ट छाप लिए होती थी। दुनियादारी की दृष्टि से तो डिगरियों की झलमलाहट ही देशवासियों की दृष्टि में चमक पैदा करती है, पर शान्तिनिकेतन के रूप में गुरुदेव के दान का महत्व वही भलीभांति. हृदयङ्गम कर सकेंगे, जिन्होंने उनके सम्पर्क से मुक्ति के आनन्द का उपर्युक्त वरदान पाया है।

गुरुदेव के शिक्षा-सम्बन्धी आदर्शों को यदि थोड़े में कहा जाय तो यह होगा कि वे शिक्षार्थी के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास ही शिक्षा का चरम उद्देश्य मानते थे। जो शिक्षा पद्धति सच्ची शिक्षा के इस आधारभूत तथ्य की उपेक्षा करती है, वह विद्यार्थियों को कल के एक पुर्जे जैसा चलता-पुर्जा और 'काम का आदमी' भले ही बनादे, पर एक सांस्कृतिक वातावरण की मुक्ति के आनन्द में व्यक्तित्व का जो सम्यक् विस्फूर्जन पाया जाता है, वह उस यांत्रिक शिक्षा-पद्धति में कहाँ? लोग कहते हैं कि शान्ति निकेतन भावी रवीन्द्रनाथों के ही काम का है; साधारण स्थिति के लोगों के काम का नहीं। पर ऐसा वही कहते हैं जो ग़लती से शिक्षा का उद्देश्य केवल चांदी बटोरना ही समझे बैठे हैं, दो के चार करने के लिए तो शिक्षा के बाहर भी असंख्य साधन हैं, जो सभी अधिक लाभदायक हैं। उसके लिए ही शिक्षालय का दरवाज़ा खटखटाना वांछनीय नहीं। किन्तु लगभग सौ वर्षों से इस देश में यही होता रहा है, जिसकी व्यर्थता आज अच्छी तरह से प्रमाणित हो गई है। आजकल की शिक्षा की बुराई को देखकर ही गुरुदेव ने सन् १९०१ ई० में प्रथम प्रथम तीन-चार बालकों को लेकर अपना नया प्रयोग आरम्भ किया था, जिसका विकसित रूप आज विश्व-भारती विद्यालय के रूप में संसार के सामने आया है।

ऊपर के कथन से कदाचित् यह भ्रम हो सकता है कि गुरुदेव ने कल्पना में जिस विद्यालय का निर्माण

किया था, शान्तिनिकेतन के रूप मे वह ठीक जैसा का तैसा उतरा है। किन्तु यह बात नहीं। शान्तिनिकेतन को बहुत कुछ समझौता भी करना पड़ा है। पर इतना होने पर भी उसमें ऐसा अपना बहुत कुछ है, जिसके कारण वह अपना विशेषत्व बनाए रखेगा। उसके इस विशेषत्व पर गुरुदेव के महान् आदर्शों की छाप है। उनकी साहित्यिक देन के बाहर यही गुरुदेव की भारत-वर्ष और ससार के लिये सबसे बड़ी विरासत है। इन पंक्तियों के लेखक ने शान्तिनिकेतन के अपने विद्यार्थी जीवन में और उसके अनन्तर आज तक आश्रम विद्यालय की सेवा करते हुए गुरुदेव से जो कुछ पाया है, उसे कहकर भी नहीं कहा जा सकता।

आज जब गुरुदेव हमारे बीच में नहीं हैं, उनकी याद में शोक के आसू गिराना ठीक न होगा; क्योंकि वे हमारे देश के जीवन में बसन्त की भाति अपना अपार वैभव लेकर आए थे और उसे मुक्तहस्त दान कर अज्ञात-लोक के पथिक हुए हैं। ऐसे दिव्य जीवन और ऐसी दिव्य मृत्यु के लिए कैसा शोक! उनके प्रति चिर-बिदाई की श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए, उन्हीं के एक गीत के शब्दों में, हमे तो यही कहना चाहिए—

"जाबार आगे जाओगो आमाय
जागिये दिये,
रक्ते तोमार चरण-दोला
लागिये दिये।"

—"जाने के आगे अरे, मुझे जगा जाओ, (मेरे) रक्त मे अपने चरण का दोला लगा जाओ।"

हिन्दी भवन,
शान्तिनिकेतन



रवीन्द्रनाथ का समाज-दर्शन

डाक्टर राधाकमल मुकर्जी, एम० ए०, पी-एच० डी०

संसार में ऐसे बहुत कम कवि हुये हैं, जिनकी अमर कृति युग युग तक मानव समाज को प्रेरणा देती रहे। विश्व-कवियों में से बहुत थोड़े ऐसे हैं, जिनका विवेक और कार्य संसार को चिरकाल तक सन्देश देने वाला हो।

हिन्दुस्तान और मानवता की मुश्किल से ही ऐसी कोई समस्या हो, जिसके लिये रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने (उचित) और दूरदर्शी समाधान न रखा हो। जब दुनिया बर्बरता, लिप्सा और घृणा से ऊबकर तर्क को जीवन का आधार बनायेगी, तब वह रवीन्द्र-नाथ के समाज-दर्शन में और शान्तिनिकेतन की संस्थाओं के सांस्कृतिक और शिक्षा सम्बन्धी प्रयोगों में उसे आशा और ख़ुशी मिलेगी।

वर्तमान राजनैतिक भारत को, जो सम्प्रदायिक, जातीय और धार्मिक मतभेदों में फंसा हुआ है, रवीन्द्रनाथ की शिक्षा है कि भारत की सभ्यता एक है, जिसमें मानवता निश्चित समन्वय खोजने का प्रयत्न कर रही है। भारतीय संस्कृति सम्पूर्ण रूप में एक है। इसके निर्माण में आर्य, अनार्य, यूनानी, पारसी, पश्चिम और मध्य-एशिया के मुसलमानों तथा ग्रेट ब्रिटेन के अंग्रेज़ आदि सबने हिस्सा लिया है। उन्होंने हमें चेतावनी दी है कि भावी भारत का भाग्य निर्माण करने से किसी को हमें रोकने का न तो अधिकार है और न शक्ति। औद्योगिक भारत के लिये, जो गांवों और ग्रामीणों की अवहेलना कर रहा है, सन्देश देते हुये वे कहते हैं कि गांवों को स्वावलम्बी बनाओ, ग्रामीणों को संगठित करो, कृषि, शिक्षा और यातायात के साधनों में सुधार करो, ग्रामीणों के लिये पानी का प्रबन्ध करो और उनकी सांस्कृतिक सद्-भावना के लिये ऐसे साधन जुटादो ताकि उनका पुनरुत्थान हो सके। इस प्रकार आत्म-चेतना और स्वतंत्र ग्राम-संघों के मेल से किसानों में प्रजातंत्र के भावों का विकास भारत जैसे कृषि प्रधान देश के लिये एक स्थायी नसीहत है, क्योंकि हमारे कृषि प्रधान जैसे देश में पार्लिमेण्टरी तरीक़े द्वारा एक वर्ग विशेष का शासन होने का ख़तरा है, जिसका अर्थ होगा मध्यम वर्ग के नये धनिकों का प्रभुत्व।

जिसने श्रीनिकेतन में ग्राम शिक्षा और रचनात्मक कार्यक्रम को देखा है, वे रवीन्द्रनाथ के राजनैतिक दृष्टिकोण की महानता की सराहना ही करेंगे। श्री निकेतन में किसान सहकारिता, शिक्षा, लोक-कला, त्योहार आदि मनाने के लिये खुदमुख़्तार हैं, जो न तो किसी नौकरशाही की निगरानी के मातहत हैं और न समाजवादी व्यवस्था के अधीन।

रवीन्द्रनाथ राष्ट्रीय-शिक्षा आन्दोलन के संस्थापकों में से एक थे, जिनका मक़सद केवल मातृभाषा को प्रोत्सा-हन देना और परीक्षा के लिये पढ़ाई को तिलांजलि देना ही न था। उनके 'तोता रटन्त' व्यंग को कौन भूल सकता है? वे शिक्षा के प्रयोगों द्वारा भारतीय संस्कृति की परम्परा से तरुण वर्ग की चेतना का पुनः जाग्रत करना चाहते थे। इसके अतिरिक्त वे विश्व भारती के प्राण थे। दुनिया की और महान संस्कृतियों को समझने के लिये उन्होंने विश्व भारती को विद्या का केन्द्र बनाया।

रवीन्द्रनाथ चाहते थे शान्तिनिकेतन हिन्दुस्तान के आर्थिक जीवन के शिक्षण का केन्द्र बने। कृषि के लिये विज्ञान के प्रयोग हों, ताकि वहां की संस्था और शिक्षार्थी स्वतंत्र रूप से रह सकें और शान्तिनिकेतन के आस-पास के गांवों को संगठित करके अपने आर्थिक प्रयोग और अनुसंधान से सम्बद्ध करें। केवल इस प्रकार का विश्वविद्यालय ही, जो सांस्कृतिक तत्वों (Products) तथा मानव-अनुभूतियों की शिक्षा क

साथ उनका मेल भी कराता हो, और फिर भी जो अपने विद्यार्थियों के श्रम से जीवित रहे, भावी भारत की आर्थिक नव-व्यवस्था बनाने के लिये देश के विद्यार्थियों को शिक्षा दे सकती है।

रवीन्द्रनाथ की ग्रेट ब्रिटेन मे रूस, टर्की, कनाडा, अमरीका, पेरू, जापान, चीन और पूर्वी इन्डहिन्द की वृहत् यात्रा ने सुदूर पूर्व के देशों में और हिन्दुस्तान में सांस्कृतिक और प्राचीन विचार-धाराओं का मेल कराने के लिये नये मार्ग बनाने में कम महत्वपूर्ण हिस्सा नहीं लिया।

दक्षिण अफ्रीका मे युद्ध के ठीक पहले और जब रवीन्द्रनाथ १९२६ में पुन: यूरोप गये थे, तो उन्होंने भविष्यवाणी करते हुये लिखा था— "पश्चिम के ये रक्तवर्ण मेघ और घृणा के तूफान लोगों मे लोहा बजा कर ही रहेंगे।"

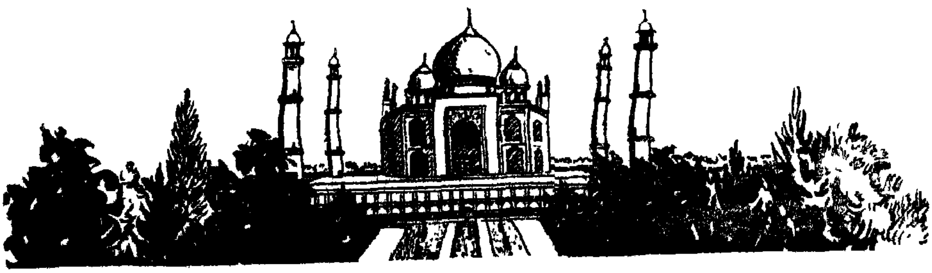
संसार के इस महापुरुष का कहना था कि मानवता के सामने पूर्व और पश्चिम में संघर्ष की समस्या नहीं है, जैसा कि एशिया का विद्वान समाज सोचता है, बल्कि यह मनुष्य और मशीन के संघर्ष की समस्या है, व्यक्तित्व और संस्था के संघर्ष की समस्या है। ये दानवी और भूखी शक्तियां, चाहे वे पूर्व मे हों या पश्चिम में, अपने दायरे से बाहर बढ़ रही हैं। ये व्यक्ति पर अपना सिक्का जमा रही हैं और मानवता की जड़ को काट रही हैं। प्राचीन ऋषियों की तरह रवीन्द्र नाथ भी महामानव में विश्वास करते थे। वे कहते थे—"मैं जीवन में तभी तक विश्वास करता हूं जब तक इसमें गति है और यह गतिशील है, और जब तक इसमें विश्व बन्धुत्व की भावना है। मैं दानवी शक्ति से मनुष्य की मुक्ति का प्रचार करता हूं। मैं ज्ञान का शत्रु नहीं बन सकता क्योंकि मै ऐतिहासिक मानव का समर्थक हूं, जो पशुता को ललकारता है और अन्त में विजयी होता है।"

रवीन्द्रनाथ मानव की महत्ता मे विश्वास करते थे। उनका यह विश्वास दार्शनिक नहीं है, बल्कि रहस्यवादी अनुभूति का फल है। रवीन्द्रनाथ की यह मानवी और अध्यात्मिक भावना उनकी कविताओं और गीतों में धारा प्रवाह बही है।

बीसवीं सदी असत्य के देवताओं का युग है। भिन्न भिन्न राष्ट्रों के भिन्न भिन्न इष्टदेव हैं। अलग अलग राष्ट्रों के बर्बर देवता व्यवस्था के नाम पर अधिकाधिक शक्ति संग्रह करने के लिये मानव के शरीर और आत्मा दोनों पर शासन कर रहे हैं। फलत: आज विनाशकारी युद्ध हो रहा है। मानवता को ईप्सित स्वतन्त्रता को नष्ट कर के, फिर से बर्बरता को क़ायम करने का प्रयत्न किया जा रहा है। केवल रहस्य वाद ही, 'जो मनुष्य ही ईश्वर और ईश्वर ही मनुष्य' की भावना मे विश्वास करता है, संसार को इस विनाशकारी शक्ति से उत्पन्न होने वाले मनुष्य मनुष्य, श्रेणी श्रेणी और राष्ट्र राष्ट्र के अवश्यम्भावी संघर्ष को रोक सकता है। न तो नये राष्ट्रसंघ की अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था, न फ्रेंच-क्रान्ति की पुनरावृत्ति, न ब्रिटिश लिबरलवाद और न सब राष्ट्रों के सर्वहारा वर्ग को संगठित करने की समाजवादी कल्पना और न आधुनिक परिकल्पित मानवता मे अनुनय-विनय ही विश्व शान्ति के लिये ज़रूरी प्रभाव का प्रचार कर सकती है। जब तक इस शताब्दी में या अगली शताब्दी में संसार मे शान्ति क़ायम न हो जायगी, तब तक रवीन्द्रनाथ की विश्वव्यापी मनुष्य मनुष्य के बीच मे अध्यात्मिक एकता की भावना अधिकाधिक महत्व रखेगी। विश्व-गुरु ने कहा है "जब तक मनुष्य धार्मिक जोश के साथ उस भावना को जाग्रत कर रहा था, जो जातीय विभिन्नता पैदा करती है, तब तक कविगण उनके युद्धों का गुणगान करते रहे। सूदख़ोरों को दूसरों से रुपया ऐंठने में न तो दया आती थी और न लज्जा ही। मज़लूमों से अपने फायदे के लिये कूटनीतिज्ञ झूठ का प्रचार करते थे! सहसा वह दीवार, जो जातियों को एक दूसरे से अलग किये हुये थी टूट गयी। अब सब लोग एक दूसरे के मुंह दर मुंह खड़े हैं। इस प्रकार सब के लिये मानवता के देवता जाति के टूटे हुये खण्डहर के द्वार पर आ गये; लेकिन अभी तक उन्हें अपनी वेदी नहीं मिली। मेरा

सभी धर्मावलम्बियों से, चाहे वे दुनिया के किसी कोने में हों, निवेदन है कि वे इस मानवता के देवता को आहुति अर्पण करें। मैं उनसे कहता हूं कि वे मानवता का दावा करें और अपने अन्दर भ्रातृ-भाव पैदा करें। मैं पुनः पूर्व और पश्चिम के स्वप्न-द्रष्टाओं से निवेदन करता हूं कि वे उस जीवन में अटूट विश्वास जो सृजन करता है, मशीन में नहीं जो केवल निर्माण करती है।"

केवल भारतीय ज्ञान ही इस प्रकार अपने सामाजिक दार्शनिक द्वारा नहीं प्रकट हुआ है, बल्कि पूर्व और पच्छिम दोनों जगह मानवता ने यही अनुभव किया है। उन्नीसवीं सदी की आर्थिक क्रान्ति, जो संगठित व्यापार, विशाल नगर और रोग-ग्रस्त झोंपड़ियों को लेकर यूरोप में फैली थी, अब सारे संसार में फैल गयी है। फलतः आज श्रेणी श्रेणी में, राष्ट्र राष्ट्र में संघर्ष हो रहा है। यहां तक कि व्यक्ति भी इससे अछूता नहीं है। जनता के हितैषियों तथा जीवन के मौलिक आधार पर भी इसका असर पड़ रहा है। संसार की संस्थाओं ने भी व्यवस्था और शक्ति की उपासना करके मानवता को अन्धकार में डाल दिया है और उसको मिटा देना चाहती है। यदि मानवता को इस विनष्टकारी बर्बरता से बचाना है, तो उसके लिये रवीन्द्रनाथ के सामाज-दर्शन की आवश्यकता है, जो धर्म की बुनियाद पर निर्मित है, जो कोटि कोटि मानव के हृदय को बदल सकता है। अर्थ शास्त्रियों, राजनीतिज्ञों और अर्थ-नीतिज्ञों द्वारा बनाई गयी विश्वव्यापी आर्थिक व्यवस्था तब तक सफल नहीं हो सकती, जब तक कि मानवता आधुनिक व्यवस्था और इसके मूल्याकन को न बदल दे। और यह पूर्वीय सभ्यता मानव-धर्म द्वारा ही पुनः स्थापित की जा सकती है। केवल मानव-धर्म ही, जैसा भारत और रवीन्द्रनाथ का है, उचित समाज-दर्शन स्थापित कर सकता है और भविष्य के लिये व्यवस्था निर्धारित कर सकता है।



गुरुदेव की पांच कविताएँ

अनुवादक—श्री सुधीन्द्र, एम० ए०

[१]

जागो हे मेरे चित्त आज इस पुण्यतीर्थ में धीरज धर—
मेरे इस भारत के महान् मानव के सागर के तट पर

मैं यहां खड़ा युग बाहु बढ़ा
करता बन्दित नर - नारायण
करता हूँ परमानन्द सहित
बहु उन्नत छन्दों में बन्दन

है ध्यान - गँभीर बने भूधर
जप - माला नदी लिये प्रान्तर
रे, यहां नित्य पावन - पवित्र
धरणी पर प्रिय दर्शन लो कर
मेरे इस भारत के महान मानव के सागर के तट पर

आह्वान न जाने किसका था, रे कहां कहां से मनुज - धार
दुर्वार स्रोत में बह आयी, लय हुई सिन्धु में वह अपार

है यहां आर्य, एव अनार्य
है यहां द्रविड, है यहां चीन
शक, हूण, पठान, मुगल के दल
सब एक देह मे हुए लीन

है आज खुले पश्चिमी द्वार
सब लाये हैं प्रेमोपहार
मिल - जुल सब देंगे - लेंगे अब
वे चले न जायेंगे फिर कर
मेरे इस भारत के महान् मानव के सागर के तट पर

रनधारा गाती विजय गान बहती उन्मद कर-कर कल-कल
कर पार कई मरुपथ-पर्वत आये हैं जो जन यहां सकल

वे सब विराजते हैं मुझ में
कोई रे कोई नहीं दूर
मेरे शोणित मे स्वर उसका
अपनी विचित्र ध्वनि रहा पूर

हे रुद्र - विपञ्ची, बजो, बजो
हैं अब भी दूर घृणा कर जो
होंगे अब सब बन्धन विनष्ट
वे निकट खड़े होंगे घिर कर
मेरे इस भारत के महान् मानव के सागर के तट पर

रे, यहाँ एक दिन उठता था
अविराम महा ओंकार नाद
जो हृदय - तन्त्र में ऐक्य मन्त्र में करता था गुञ्जन-निनाद
तपबल से, उस ऐक्यानल में
बहु की कर आहुतियाँ प्रदान
सब भेद भुला था किया एक
जाग्रत विराट अन्तर महान्
अब उसी साधनाराधन के
यज्ञालय के हैं द्वार खुले
रे यहाँ सभी को अब मिलना
होगा अपने शिर अवनत कर
मेरे इस भारत के महान् मानव के सागर के तट पर

उस होमानल में ही देखो जलती दुःखों की रक्त - शिखा
कर उसे सहन निज मर्म दहन करना ही उसके भाल लिखा
यह दुःख वहन कर मेरे मन
सुन अरे एकता की पुकार
भय और लाज, कर विजित आज
हो दूर सभी अपमान भार
हो सब दुःसह दुःखावसान
पायेगा जन्म विशाल प्राण
है बीत रही रजनी, जननी
जागी है वृहद् नीड़ - भीतर
मेरे इस भारत के महान् मानव के सागर के तट पर

आओ आर्य्यो, आओ अनार्य, आओ हे हिन्दू-मुसलमान !
आओ, आओ अंग्रेज़ आज, आओ आओ रे ख्रीस्टान !
आओ ब्राह्मण, करके शुचिमन
पकड़ो सब सबके आज हाथ

पतितो, आओ अपमान रहित
हो जाय तुम्हारा आज माथ

करने माँ का अभिषेक त्वरित
है अभी न मंगल कलश भरित
सब के स्पर्शों से जो पावन
वह तीर्थ नीर उसमें दो भर
मेरे इस भारत के महान् मानव के सागर के तट पर

[२]

हे मेरे हतभाग्य देश तुम करते हो जिनका अपमान
अपमानित होकर तुमको भी होना होगा उन्हीं समान

मानव का अधिकार छीन कर
दिया जिन्हें है दीन-हीन कर

खड़ा उन्हे सम्मुख रखकर भी देते नहीं गोद में स्थान
अपमानित होकर तुम को भी होना होगा उन्हीं समान

तुमने मानव-स्पर्श आज जो दूर किया कर-कर अपमान
किया घृणा से अपमानित है मानव - प्राणों का भगवान

पर विधना के रुद्र - रोष पर
रे, अकाल के द्वार बैठ कर

सबके साथ बाँटकर करना तुम्हें पड़ेगा भोजन - पान
अपमानित होकर तुमको भी होना होगा उन्हीं समान

तुमने निज आसन से उनको गिरा दिया है जहाँ धकेल
वहाँ शक्ति अपनी ही तुमने निर्वासित कर दी है ठेल

है पावों से आज दलित वह
रहा धूल में हो लुण्ठित वह

आओ नीचे उतर नहीं तो तुमको मिल न सकेगा त्राण
अपमानित होकर तुमको भी होना होगा उन्हीं समान

नीचे बाँध रखेगा जिसको गिरा दिया नीचे कह 'नीच'
पीछे फेंक दिया जिसको, वह तुम्हे रखेगा पीछे खींच

तुमने अज्ञानान्धकार कर
दिया आवरण-सा ढंक उसपर

वही तुम्हारे मंगल को ढंक, गढ़ता आज घोर व्यवधान
अपमानित होकर तुमको भी होना होगा उन्हीं-समान

युग-युग तक तुम लिये भार-सा, शिर पर असम्मान अविराम
तो भी उस नर-नारायण को करते हो तुम नहीं प्रणाम

पल भर अपने झुका विलोचन
क्या तुम पाते अभी विलोक न

नीचे उतर धूल में आया है वह पतितों का भगवान
अपमानित होकर तुमको भी होना होगा उन्हीं समान

नहीं सूझता है क्या तुमको मृत्युदूत आया है द्वार
आँक तुम्हारे अहकार पर उसने दिया शाप दुर्वार

सबको यदि न बुलाओ अब भी
हटे रहो यदि दूर-दूर ही

निज को बाँध रखोगे अब भी चारों ओर बिछा अभिमान
तो फिर मरकर चिता-भस्म मे होना होगा उन्हीं समान

[३]

अन्तर मेरा विकसित कर दो
हे मेरे अन्तरतर हे !
निर्मल कर दो, उज्ज्वल कर दो
कर दो उसको सुन्दर हे !

जाग्रत कर दो उद्यत कर दो
दो उसको निर्भय कर हे !
मङ्गल कर दो, निरलस कर दो
कर दो निःसंशय कर हे !
अन्तर मेरा विकसित कर दो हे मेरे अन्तरतर हे !

युक्त करो हे संग सभी के
मुक्त करो हे बन्ध,
करो सञ्चरित सब कर्मों में,
शान्त तुम्हारा छन्द,

अपने चरण कमल में मेरा
चित दो निष्पंदित कर हे !
नन्दित कर दो, नन्दित कर दो
दो उसको नन्दित कर हे !
अन्तर मेरा विकसित कर दो हे मेरे अन्तरतर हे !

[४]

जीवन जिस क्षण सूख जाय सब
करुणा की धारा बन आओ
सकल माधुरी जब छिप जाये
गीत सुधारस तब सरसाओ,

प्रबलाकार कर्म्म रे जिस क्षण
चारो ओर कर उठे गर्जन
हृदयप्रान्त मे हे नीरव प्रभु
परम शान्त निज चरण बढाओ,

कृपण बना-सा कोने में मन
बैठा हो जब दीनहीन बन
द्वार खोल तब हे उदार प्रभु,
राज समारोहो को लाओ

जबकि वासना विपुल धूल में
कर दे, अन्ध अबोध भूल से
हे पवित्र, हे हे अनिद्र तब
निज आलोक रुद्र चमकाओ

[५]

रे, वह मेरी मुक्ति नहीं, जो मिलती हो विराग-साधन में
मुझे मिलेगा महानन्दमय मुक्तिस्वाद अगणित बन्धन में

इस वसुधा का मृण्मय घट ही बार बार भर-भर कर अविरत।
देगा ढाल तुम्हारा नव-नव नाना-वर्ण-गन्धमय अमृत।

तेरी इस लौ मे प्रदीप-सा लक्ष-लक्ष वर्तिका जलाकर।
मेरा यह समस्त जग देगा उन्हें तुम्हारे मन्दिर में धर।

अपने इन्द्रियद्वार रोक कर बैठूं मै क्यो योगासन में ?
रहे सकल आनन्द तुम्हारा मुदमय दृश्य, गन्ध, गायन में।

मेरा मोह समस्त स्वयम् ही मुक्तिरूप में ज्वलित हो उठे।
मेरा प्रेम समस्त आप ही भक्तिरूप में फलित हो उठे।

गुरुदेव के अन्तिम दस मास

श्री अनिल कुमार चन्दा

गत वर्ष जब कालिम्पोङ्ग में गुरुदेव यकायक बीमार हुये, तो उन्हें इलाज के लिये २९ सितम्बर १९४० को कलकत्ते लाया गया। असल में उनकी यह मूत्राषय की व्याधि जब वे सन् १९२४ में चीन यात्रा की तय्यारी कर रहे थे, तब शुरू हुई। किन्तु तब यह बहुत मामूली रूप मे थी। अपनी अमरीका यात्रा में गुरुदेव ने अमरीकन डाक्टरों मे सलाह ली। उन्होंने आपरेशन तजवीज़ किया, मगर किसी वजह से बग़ैर आपरेशन कराये गुरुदेव वापस चले आये।

पिछले वर्ष जब वे कलकत्ते लाए गये, तो उनकी हालत कई दिनों तक चिन्ताजनक रही। किन्तु डाक्टरों के प्रयत्न से वे धीरे धीरे अच्छे हो गये और अक्तूबर में उन्हें ख़तरे से मुक्त क़रार दिया गया। हालांकि वे उस समय तो अच्छे हो गये, किन्तु उनकी असली बीमारी जड़ से दूर नहीं हुई। वे कमज़ोर इतने हो गये थे कि बग़ैर सहारे के कुर्सी नहीं छोड़ सकते थे। फिर भी डाक्टरों का मत था कि वे धीरे धीरे पूरी तरह स्वस्थ हो जायगे। फिर यह सोचा गया कि शान्तिनिकेतन की ठण्डी ख़ुश्क आबहवा उन्हें ज़्यादा फ़ायदा पहुंचायेगी, इसीलिये १८ नवम्बर १९४० को उन्हें कलकत्ते मे शान्तिनिकेतन लाया गया।

दिसम्बर से मार्च तक सचमुच उनकी तन्दुरुस्ती में ख़ासा सुधार हुआ। इस ज़माने में फरवरी में उनकी नई कविताओं का संग्रह 'आरोग्य' नाम मे प्रकाशित हुआ। ८० वर्ष की इस अवस्था में भी इतनी शारीरिक दुर्बलता के बावजूद भी उनका दिमाग़ बिलकुल ताज़ा था और वे अपना साहित्यिक काम पूर्ववत् ज़ोर शोर से चला रहे थे। यह एक आश्चर्य की बात है कि इसी अरसे में उनकी चार पुस्तकें प्रकाशित हुईं और उनके साहित्यिक जीवन की सब में मार्मिक कविताएं इसी बुढ़ापे और बीमारी में लिखी गईं। केवल यही नहीं इन कविताओं की हर पंक्ति उनकी अपनी लिखी हुई थी। उनकी इस समय की लिखावट उनके बौद्धिक स्वास्थ्य की गवाही थी। इसे भी नहीं भूलना चाहिये कि पौष-उत्सव और नये वर्षदिन के चिर समय तक याद रखे जाने वाले उनके भाषण इसी बीमारी में लिखे गये थे।

किन्तु इस सारे समय में वे अपने कमरे में ही क़ैद रहे और बाहरी दुनिया के साथ उनका सम्बन्ध बहुत कुछ कम कर दिया गया। केवल तीन या चार मौक़ों पर उन्हें पहियेदार कुर्सी पर मकान से बाहर निकाला गया और उनके 'उत्तरायण' के लम्बे चौड़े उद्यान में उन्हें घुमाया गया। एक बार वे अपनी छोटी सी कुटी 'उदीची' के पीछे गये जहा, उनका प्रिय पलाश वृक्ष पूरी तरह फूला हुआ था। जिस समय उन्हें उस पलाश वृक्ष के पास से वापस उनके कमरे की ओर ले जाया जाने लगा, तो वे कितनी हसरत के साथ अपने उस प्रिय पलाश वृक्ष को देख रहे थे! उनकी उस दयनीय दृष्टि को क्या मैं कभी भूल सकता हूं? क्या उन्हें यह पता था कि उसके बाद फिर वे कभी उस पलाश वृक्ष को न देख पावेंगे?

क़िस्मत की यह मर्ज़ी थी कि वे इस सारे समय में शान्तिनिकेतन के किसी उत्सव में हिस्सा न ले पाते। यह उनके लिये कितना क्रूर था कि वे शान्तिनिकेतन में मौजूद होते हुए भी पौष-उत्सव में शामिल न हो सके। केवल नव-वर्ष-दिन और अपने ८० वें जन्म दिन के उत्सव में वे थोड़ी देर शामिल हो सके, जिसका आयोजन उनकी सुविधा के लिये 'उदयन' में उनके अपने कमरे के बाहर चौड़े बरामदे में किया गया था। उसी बरामदे में ही १३ मई को उन्होंने महाराजा टिपरा की 'ख़िलअत' और 'भारत भास्कर' की उपाधि स्वीकार की। जब चीनी प्रेज़िडेण्ट ताइ-

चिन्ताओ शान्तिनिकेतन गये, तब गुरुदेव उनके किसी उत्सव में शामिल न हो सके; हालांकि उनके सम्मान में दिया हुआ वक्तव्य गुरुदेव का ही लिखा हुआ था। लेकिन गुरुदेव ने अपने कमरे में उनसे काफी बातें कीं।

हम लोग समझे थे कि गुरुदेव के स्वास्थ्य में इसी तरह उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहेगी; किन्तु अप्रेल १९४१ से उनकी तबियत फिर गिरने लगी। दवाओं ने फ़ायदा करना बन्द कर दिया, और वे साफ कमज़ोर पड़ने लगे। आधे जून से तो उन्हें बराबर दिन में एक बार ज्वर रहने लगा। ख़ूराक भी उनकी बहुत कम हो गई। धीरे धीरे उन्हें डाक्टरों और दवा तक से ग्लानि होने लगी। उनके स्वभाव के विपरीत उनके हृदय में निराशा छाने लगी। हम सब को भी इससे बेहद चिन्ता हो गई। इसी समय कुछ मित्रों की सलाह से उन्होने आयुर्वैदिक इलाज की इच्छा प्रकट। की कलकत्ते से कविराज विमलानन्द तर्कतीर्थ ने आकर गुरुदेव का इलाज शुरू किया। शुरू शुरू में इससे उन्हें काफी फ़ायदा हुआ। उनके भोजन की मात्रा भी बढ़ गई और उन्हें नींद भी काफ़ी आने लगी। किन्तु इस सुधार के बावजूद भी उनकी कमज़ोरी दिन प्रति दिन बढ़ती गई। वे अपने आप अब कुरसी पर भी न बैठ सकते थे। यह बात साफ़ हो गई कि आयुर्वैदिक इलाज से उन्हें क्षणिक आराम पहुँच सकता है किन्तु उनकी बीमारी पूरी तरह नहीं अच्छी हो सकती। कलकत्ते से डा० ललित मोहन बनर्जी, डा० विधानचन्द्र राय आदि आये और सब का यही तजवीज़ हुई कि आपरेशन निहायत ज़रूरी है। परिवार के लोगों और आश्रम के बुज़ुर्गों ने आपस में सलाह की और आख़िरी फ़ैसले के लिये गुरुदेव के सामने समस्या रखी, गुरुदेव ने आपरेशन के लिये ज़रा भी उत्साह नहीं दिखाया। उनका कहना था कि वह अपनी पूरी ज़िन्दगी रह चुके, और अन्त यदि आ ही रहा है, तो उसका स्वागत किया जाय। किन्तु ज़ोर देने पर उन्होंने डाक्टरों की सलाह मान ली। अन्तिम रूप से यह बात तै हुई कि शुक्रवार २५ जुलाई को उन्हें आपरेशन के लिये कलकत्ता ले जाया जाय।

गुरुदेव की आश्रम से बिदाई बड़ी दुःखपूर्ण थी, हालाकि किसी को यह ख़्याल भी न था कि आश्रम से गुरुदेव की यही अन्तिम बिदा है। बहुत तड़के से ही शान्तिनिकेतन और श्रीनिकेतन के आश्रम वासी 'उत्तरायण' में इकट्ठा हो गये, वे शान्ति के साथ स्ट्रेचर से आश्रम की बस तक गुरुदेव के ले जाये जाने की प्रतीक्षा करते रहे; गुरुदेव इतने थके हुए थे कि वे अपने प्यारे आश्रमवासियों से दो शब्द भी न कह सके, और न आश्रमवासी ही उनके पैरों की धूलि ले सके। निस्तब्ध और मूक प्रणाम द्वारा उन्होंने गुरुदेव को बिदाई दी। किन्तु जैसे ही 'बस' चलने को हुई, वह अपने को न रोक सके, सहस्त्रों कंठों से सहसा आश्रम-गीत फूट पड़ा "अमादेर शान्तिनिकेतन"। गुरुदेव के कानों में जैसे ही यह गीतध्वनि पहुँची उनकी आखें आंसुओं से गीली हो गईं।

उसी दिन कलकत्ते पहुँच कर स्टेशन से स्ट्रेचर पर लिटाकर जोड़ासाको के उनके मकान पर ले जाया गया। वे इतने थक गए थे कि स्ट्रेचर से उन्हें बिस्तर पर हटाने की हिम्मत नहीं पड़ी। कई घंटे उन्हें स्ट्रेचर पर ही बिताने पड़े। डाक्टरों ने आकर उनकी परीक्षा की। रात को उन्हें अच्छी नींद आई। फलस्वरूप उनकी तबीअत सुबह को अच्छी थी।

२६ *जुलाई*—रेलयात्रा की थकान बिल्कुल न रह गई थी। सुबह काफी पीने के बाद उन्होंने श्री अवनीन्द्रनाथ ठाकुर, श्री समरेन्द्रनाथ ठाकुर, श्री चारुचन्द्र भट्टाचार्य आदि को बुला भेजा। थोड़ी देर तक मज़ेदार गपशप होती रही। उन्होंने अपने बचपन की और ख़ासकर स्वदेशी आन्दोलन के समय *की बहुत चर्चा की। उन्होंने अवनीन्द्रनाथ पर ज़ोर दिया कि विश्वभारती, जो उनके (अवनीन्द्रनाथ* ठाकुर के) ७१ वें जन्म दिन के उत्सव का आयोजन कर रही है, उसमें वे अवश्य शामिल हों। ४ बजे शाम को उन्हें यकायक जाड़ा देकर बहुत ज़ोर का बुख़ार आ गया। बहुत रात तक उनको ज्वर रहा।

२७ जुलाई—दिन अच्छा बीता। ज्वर ९९.४ से अधिक नहीं गया। बीमारी के कारण उन्हें अधिक तकिये लगाने में सुविधा होती थी। डाक्टरों ने उन्हें सलाह दी कि आपरेशन के बाद चूंकि आपको सीधा लेटना पड़ेगा, इसलिये आप तकियों की तादाद कम कर दीजिये और सर को भी नीचा रखने की आदत डालिये। गुरुदेव ने मुसकराकर पास खड़े हुये लोगों से कहा, "जिस सर को मैंने पूरे ८० वर्ष तक अभिमान से ऊंचा रखा, उसे ये डाक्टर नीचा करने पर तुले हुए हैं। कितना पतन है!"

जब तक वे कलकत्ते में रहे, उन्हें रोज़ गुलूकोज़ का इंजेकशन लेना पड़ता था।

२८ जुलाई—आज का दिन अच्छा बीता, गुरुदेव ने भोजन भी काफ़ी मात्रा में लिया और पानी भी।

२९ जुलाई—गुरुदेव ने आज शाम को एक कविता लिखाई। उनकी मृत्यु के बाद कलकत्ते के पत्रों ने उसे उनकी अन्तिम कविता कहकर प्रकाशित किया। किन्तु बात असल में यह नहीं थी। दूसरे दिन सुबह जो उन्होंने कविता लिखाई वह उनकी अन्तिम कविता है। वे बोलते गये और रानी चन्दा लिखती गईं। बाद में उन्होंने इस कविता में कुछ सुधार करना चाहा, किन्तु अफ़सोस! वह न कर सके।

३० जुलाई—गुरुदेव की पुत्रवधू प्रतिमा देवी शान्तिनिकेतन में बहुत सख़्त बीमार थीं। गुरुदेव ने उन्हें पत्र लिखवाया, ख़ुद उस पर दस्तख़त किये यह अन्तिम अवसर था जब गुरुदेव ने अपने हाथ से क़लम पकड़ा।

आज गुरुदेव के आपरेशन का दिन था। सुबह ११-२० पर आपरेशन शुरु हुआ और ११-४५ पर समाप्त हुआ। आपरेशन में उनको ख़ासी तकलीफ़ रही, क्योंकि जब डा० बनर्जी ने शाम को उनसे पूछा कि आपरेशन से आपको कष्ट तो नहीं हुआ, तो उन्होंने हल्की मुसकराहट से जवाब दिया कि "क्यों मुझे झूठ बोलने पर मजबूर करते हो!"

३१ जुलाई—आपरेशन का दूसरा दिन। ज्वर १०१ ८ हो गया। सारे दिन बेचैनी रही।

१ अगस्त—आपरेशन का तीसरा दिन।

आज तबायत कुछ अच्छी थी। सच पूछा जाये तो आपरेशन के बाद यही दिन सबसे अच्छा गुजरा था।

२ अगस्त—सारे शरीर में बेहद पीड़ा होती रही। डाक्टर भी आज कुछ चिन्तित हुये।

३री अगस्त—आज तबीअत और ज्यादा ख़राब थी। खांसी के कारण बिलकुल नींद न आ सकी। कई दवाइयां आजमाई गईं। प्रतिमा देवी को कलकत्ते आने की सलाह दी गई।

४ अगस्त—गुरुदेव सारे दिन नीम-बेहोशी में पड़े रहे। सुबह और शाम को उन्होंने थोड़ी सी बात की। प्रतिमा देवी जब आई तो उन्होंने उनको पहचान लिया। किन्तु दो चार बातों के अलावा वे अधिक कुछ न कह सके।

५ अगस्त—हिचकी और खांसी दोनों का ज़ोर रहा। डाक्टरों ने एक के बाद दूसरी दवा दी, मगर सब बेकार। शाम को सर नील रतन सरकार दूसरे डाक्टरों के साथ उन्हें देखने आये, किन्तु गुरुदेव अपने इस पुराने मित्र को न पहचान सके और न वे दूसरे डाक्टरों के प्रश्नों का उत्तर ही दे सके। डाक्टरों के जाने पर हम समझ गये कि अब हमारी सारी आशायें व्यर्थ हैं।

६ अगस्त—सुबह उनकी कुछ हालत देखकर हमें बड़ा धीरज बधा। किन्तु यह मृग मरीचिका थी। शाम को गुरुदेव की हालत बहुत ख़राब हो गई। यह मालूम हो गया कि अन्त किसी समय भी आ सकता है।

७ अगस्त—डाक्टरों ने आज दवा देना बन्द कर दिया था। उनके मित्रों और कुटुम्बियों ने उनके कमरे में इकट्ठा होकर अन्तिम प्रार्थना की। १० बजे सुबह डाक्टरों ने उन्हें आक्सीजन देना शुरू किया, किन्तु कोई फायदा न देखकर उसे ११ बजे बन्द कर दिया। थोड़ी ही देर बाद यानी दोपहर को १२-१० मिनट पर गुरुदेव ने महाप्रयाण किया।

नारी

[गुरुदेव का एक प्रवचन]

नारी की सृष्टि पुरुष से पुरानी है। समाज में नारी-शक्ति को 'आद्याशक्ति' कहा जाता है। यह वह शक्ति है, जो जीव-लोक में प्राणों का पोषण करती है, प्राणों को धारण करती है।

अनेक युग बीत गये, जब शिल्पी ने ठोक पीटकर इस पृथ्वी को जीवों के वास-योग्य बनाया। यह काम आधा खतम होते न होते ही प्रकृति ने जीव की सृष्टि शुरू कर दी; पृथ्वी पर उतरी वेदना। प्रकृति ने प्राण-साधना की। उस आदिम वेदना को नारी के रक्त में, हृदय में, मिला दिया, जीव पालन के समस्त प्रवृत्ति-जाल नारी के शरीर और मन के साथ जड़ दिये। चित्तवृत्ति के बजाय हृदयवृत्ति ने स्वभावतः प्रशस्ति और गाम्भीर्य पाया है। यह प्रवृत्ति वही है, जो नारी मे बन्धन-जाल बुनती है। जो अपने को और दूसरों को पकड़कर रखना चाहती है; जो प्रेम, स्नेह और सकरुण धैर्य का सञ्चार करती है। मानव-संसार को उठाने के लिये, बांध रखने के लिये यह आदिम जाल है। यह वह संसार है, जो सब समाज की और हरएक सभ्यता की नींव है। यदि संसार का यह बन्धन न होता, तो मनुष्य आकार-विहीन वाष्प की तरह बिखर जाता, एक होकर कहीं मिलन-केन्द्र स्थापित न कर पाता। समाज-बन्धन का प्रथम कार्य है नारी। प्रकृति की समस्त क्रिया गुप्त है, उसकी स्वतःस्थापना द्विधाविहीन है। नारी-स्वभाव के बीच उसी आदि-प्राण की सहज स्थापना है। इसीलिये मनुष्य ने नारी-स्वभाव को रहस्यमय कहा है। तभी तो अनेक बार नारी के जीवन में अकस्मात् जिस संवेग का उच्छ्वास देखा जाता है, वह तर्क के परे है—वह आवश्यकतानुसार विधि-पूर्वक खोदे हुये जलाशय की तरह नहीं है, वह झरने की तरह है, जिसका कारण अपने अहेतुक रहस्य में छिपा हुआ है।

प्रेम का रहस्य, स्नेह का रहस्य अति प्राचीन और दुर्गम है। उसे अपनी सार्थकता के लिये तर्क की आवश्यकता नहीं है। जहां उसकी समस्या है, वहां अतिशीघ्र वह समाधान चाहता है। इसीलिये जिस समय नारी गृह में प्रवेश करती है, उसी समय गृहिणी के रूप में अवतीर्ण होती है; जैसे ही गोद में बालक आया, माँ प्रस्तुत है। जीव-राज्य में परिणत बुद्धि बहुत देर बाद आई और खोजकर, युद्ध कर अपना स्थान बना पाई है। द्विधा मिटाने में ही उसका समय चला जाता है। इस द्विधा-तरंग के उतार-चढ़ाव में शताब्दियां बीत जाती हैं, फिर नए ढंग से वह कीर्ति की भूमिका तैयार करती है। बार-बार की परीक्षाओं में पुरुष के कर्म केवल शरीर बदलते हैं। अभिज्ञता की इस दैनिक परिक्रमा में यदि उसे कोई आगे बढ़ाये, तब वह बच जाता है। यदि भूल-सुधार का अवसर न मिले, तो एक दिन ऐसा भी आयेगा, जब वह उन भूलों में अपने को खो देगा। पुरुष-द्वारा सृजित सभ्यता के आदिम-काल से यही होता आया है। और दूसरी ओर नारियों में प्रेयसी-प्रकृति स्थिर भाव से प्रतिष्ठित होकर अपना कार्य किये जा रही है।

पुरुष अपने ही संसार में बारम्बार नूतन आगन्तुक है। आजतक न मालूम कितनी बार उसने अपने विधि-विधान बनाये हैं। विधाता ने उसको जीवन का निश्चित मार्ग नहीं बतलाया है। कितने देशों में कितनी बार उसे अपना पथ बनाना पड़ा है। एक समय का पथ दूसरे समय में विपथ हो गया, उसका इतिहास उलट गया। वह पथ अन्तर्धान हो गया। पर नई नई सभ्यताओं के उलट-फेर के बीच भी नारी के जीवन की मूल धारा एक प्रशस्त पथ पर चली है। प्रकृति ने उसे जो हृदय-सम्पत्ति दी है, उसकी

परीक्षा नित्य कौतूहलप्रवण बुद्धि द्वारा नए-नए अध्यवसायों में नहीं करने दी गई। नारी पुरातन है।

जो सम्बल अनायास ही मिल जाता है, उसमें विपद है। विपद का एक कारण है कि वह दूसरों के लिये लालच है। ऐश्वर्यशाली देशों को बलवान सिर्फ़ अपने प्रयोजन के लिए अपने अधीन रखना चाहता है। अपने ऊपर विश्वास रखनेवाले देशों के लिए स्वाधीन रहना सहज है। जिस पक्षी के डैने सुन्दर हैं और कण्ठस्वर मीठा है, उसको पिंजड़े में बन्द रखने में मनुष्य गर्व करता है। पर सौन्दर्य-लोलुप यह भूल जाते हैं कि उसका सौन्दर्य समस्त अरण्य की भूमिका है। नारी के हृदय-माधुर्य और सेवा-नैपुण्य को पुरुष ने दीर्घ काल से अपने व्यक्तिगत अधिकार के बीच कड़े पहरे में रखा है। नारी के स्वभाव में बन्धन मानने की प्रबलता है; इसीलिये यह इतना हो सका।

अनेक युगों से निर्दिष्ट सीमाबद्धता द्वारा नारी की बुद्धि, उसके संस्कार, उसके आचरण प्रभावान्वित हैं। उसकी शिक्षा को, उसके विश्वास को बाहर की बृहत् अभिज्ञता के बीच सत्य-लाभ करने का सम्पूर्ण सुयोग नहीं मिला है। इसीलिये बिना विचारे ही वह सब देवताओं का भय करती है, और अयोग्य भक्ति का अर्घ्य चढ़ाती आ रही है। मूढ़-मति पुरुषों की संख्या कम हो, यह बात नहीं है। वे बचपन से ही नारी द्वारा बने हैं। पर वे ही सबसे अधिक नारी के प्रति अत्याचारी हैं। देखते ही देखते जो देश में बहुत से संकीर्ण मन के केन्द्र बन गये हैं, उनका अस्तित्व नारी के अन्ध-विश्वास और बुद्धि पर निर्भर है।

इधर पृथ्वी के प्रायः समस्त देशों में नारी अपने व्यक्तिगत संसार की सीमा से बाहर निकल रही है। आधुनिक एशिया में इसके लक्षण दिखाई दे रहे हैं। इसका प्रधान कारण यह है कि सर्वत्र ही सीमा को तोड़ने का युग आ गया है। जो सब देश अपनी-अपनी भौगोलिक और राष्ट्रीय चहारदीवारी में बन्द थे, उनकी वह दीवार आज उनको उसी तरह बन्द नहीं रख सकती—वे एक-दूसरे के साथ प्रकाशित होना चाहते हैं। अभिज्ञता का क्षेत्र स्वतः ही प्रकाशित हो गया है; दृष्टि सीमा चिर-अभ्यस्त दिगन्त से पार हो चुकी है। बाहर के साथ फलस्वरूप अवस्था में परिवर्तन हो रहे हैं; नई नई आवश्यकताओं के साथ आचारों में भी परिवर्तन का होना अनिवार्य है। आज पालकी युग बहुत दूर छूट गया। लड़कियों की शादी की उम्र भी बढ़ गई।

यह जो बाहरी व्यवहार का परिवर्तन है, वह सिर्फ़ बाहर ही नहीं रहता। अन्तर प्रकृति में वह काम करता है! लड़कियों के जो मनोभाव बद्ध संसार के लिये उपयोगी हैं, मुक्त संसार में अचल होकर वे नहीं रह सकते। अपने आप ही जीवन के प्रशान्त पथ में खड़ा होकर, उनका मन चिन्ता और विचार करना शुरू करता है। उनके पुराने संस्कार की परीक्षा का कार्य अपने आप ही शुरू हो जाता है। इस परिस्थिति में वह अनेकों भूल कर सकती है; लेकिन ग़लतियों को वह एक दिन अवश्य सुधारेगी। पहले की सङ्कीर्ण सीमा में मन जिस प्रकार विचार करने का अभ्यस्त था उसी अभ्यास को बनाये रखने से चारों ओर पद-पद पर असामञ्जस्य होगा। इस अभ्यास-परिवर्तन में दुःख और विपद दोनों ही हैं; लेकिन इनसे डरकर आधुनिक काल को पीछे की ओर नहीं लौटाया जा सकता।

जब गृहस्थी की छोटी परिधि में लड़कियों का जीवन बन्द था, तब अपने मन की स्वाभाविक प्रवृत्तियों द्वारा उनका काम सहज ही चल जाता था। पर आज ऐसी बात नहीं है। समय के प्रभाव से लड़कियों के जीवन का क्षेत्र स्वतः ही प्रसारित हो रहा है, इस मुक्त संसार में लड़कियां अपने आप ही आ गई हैं। इससे उनमें आत्मरक्षा और आत्मसम्मान के लिए बुद्धि की चर्चा और विद्या की चर्चा एकान्त भाव से आवश्यक हो उठी है। इसलिये देखते देखते अनेक बाधाएं भी दूर हो रही हैं। आज एक भद्र लड़की के लिए बड़ी लज्जा की बात है अशिक्षित रहना। अर्थात गृहस्थी के बाज़ार-दर से ही लड़कियों की क़ीमत आज शादी के बाज़ार में सोलह आने नहीं हैं।

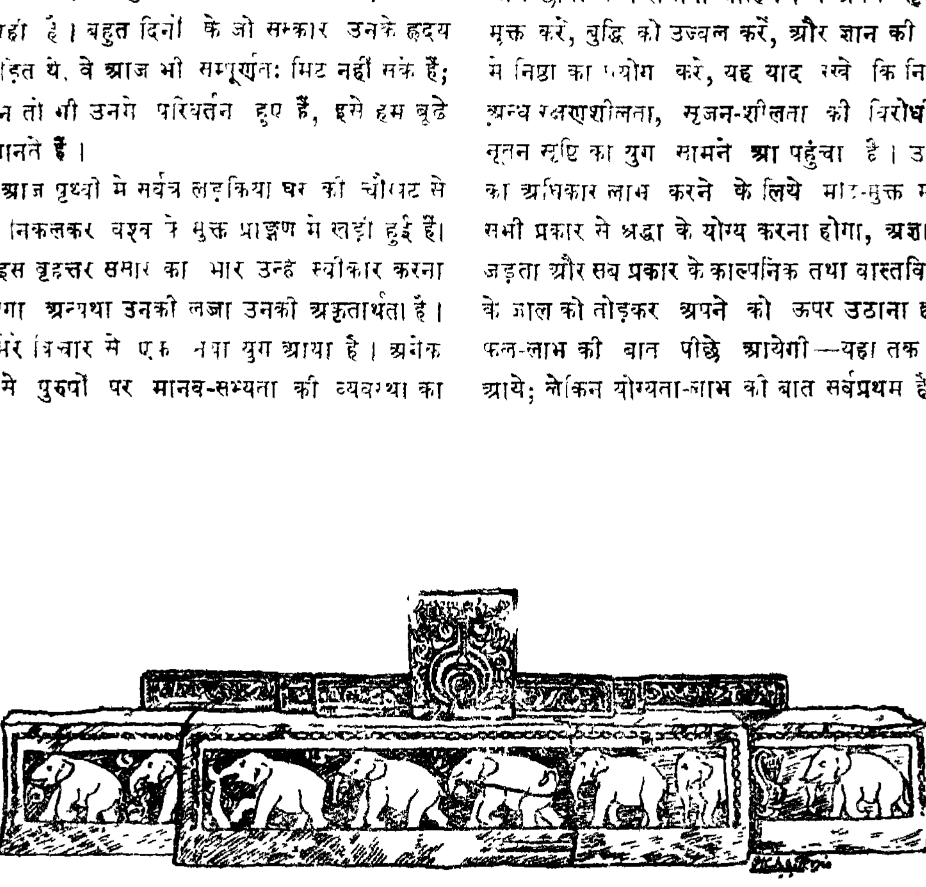
जिस विद्या का मूल्य सार्वकालिक है, जो आंशिक अधिकार के प्रयोजन के बाहर है, आज पात्री के महाअर्घ्य को जांचने के लिए अनेक परिमाण में उस विद्या की खोज की जाती है। इस प्रणाली से ही हमारे देश की आधुनिक लड़कियों का मन घर के समाज को छोड़ कर विश्वसमाज में प्रवेश कर रहा है।

प्रथम युग में एक दिन पृथ्वी अपने तप्त निःश्वास के कुहासे में अवगुण्ठित थी, तब विराट आकाश की ग्रह मण्डलियों के बीच अपने स्थान की वह उपलब्धि नहीं कर सकी। अन्त में एक दिन उसके बीच सूर्य-किरणों ने प्रवेश का पथ पाया। तभी उस मुक्ति में पृथ्वी का गौरवमय युग आरम्भ हुआ। उसी तरह एक दिन हमारी लड़कियों के हृदय की आर्द्र हृदय-दयालुता को घनी वाष्पराशि ने ढक किया था। आज उस वाष्प राशि को भेदकर मुक्ताकाश की आलोक-रश्मि प्रवेश कर रही है। बहुत दिनों के जो संस्कार उनके हृदय में जड़ित थे, वे आज भी सम्पूर्णतः मिट नहीं सके हैं; लेकिन तो भी उनमें परिवर्तन हुए हैं, इसे हम बूढ़े ही जानते हैं।

आज पृथ्वी में सर्वत्र लड़कियां घर की चौखट से बाहर निकलकर विश्व के मुक्त प्राङ्गण में खड़ी हुई हैं। अब इस बृहत्तर संसार का भार उन्हें स्वीकार करना ही होगा, अन्यथा उनकी लज्जा उनकी अकृतार्थता है।

मेरे विचार में एक नया युग आया है। अनेक युगों में पुरुषों पर मानव-सभ्यता की व्यवस्था का भार था। इस सभ्यता के राष्ट्रतन्त्र, अर्थनीति और समाजतन्त्र पुरुषों ने बनाये थे इसके पीछे प्रकाशहीन अन्तराल में रहकर लड़कियों ने सिर्फ घर का काम किया था। यह सभ्यता एकतरफा थी। इस सभ्यता में मानव-हृदय की अनेक सम्पत्ति का अभाव था, वह सम्पत्ति नारी के हृदय में कृपण के धन की तरह पड़ी थी। आज उस भण्डार का द्वार खुला है।

सभ्यता-युग की नूतन आशा की जय! यदि आशा रूप धारण करे तब इस बार की सभ्यता सृष्टि में लड़कियों का काम पूर्ण परिमाण में नियुक्त होगा, इसमें सन्देह नहीं। नवयुग का आवाहन यदि हमारी लड़कियों के कान में पहुँचा हो तो उनको अपने रक्षणशील मन का परिचय देकर अनेक युगों के अस्वस्थकर कूड़े (रूढ़ियों) को एकान्त आसक्ति के साथ छाती से न लगाना चाहिये। वे अपने हृदय को मुक्त करें, बुद्धि को उज्ज्वल करें, और ज्ञान की तपस्या में निष्ठा का प्रयोग करें, यह याद रखें कि निर्विचार अन्ध रक्षणशीलता, सृजन-शीलता की विरोधी है। नूतन सृष्टि का युग सामने आ पहुंचा है। उस युग का अधिकार लाभ करने के लिये भार-मुक्त मन को सभी प्रकार से श्रद्धा के योग्य करना होगा, अज्ञान की जड़ता और सब प्रकार के काल्पनिक तथा वास्तविक भय के जाल को तोड़कर अपने को ऊपर उठाना होगा। फल-लाभ की बात पीछे आयेगी—यहां तक कि न आये; लेकिन योग्यता-लाभ की बात सर्वप्रथम है।



विश्ववाणी



चित्रकार—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

सम्पादकीय-विचार

रवीन्द्रनाथ का अवतरण

युगों के दौर में हज़ार हज़ार वर्षों की साधना के बाद किसी देश या जाति को 'अपनी आत्मा का सर्वोच्च साकार रूप देखने को मिलता है। भारतीय आकाश में जब पतन, अपमान और असहनीय दुःखों की अन्धकार-मय-रजनी छाई हुई थी, उस समय शत शत सौभाग्य से हमारे भाग्याकाश में मङ्गलमय रवि का उदय हुआ। अपनी असाधारण प्रतिभा और भावावेग से उसने देश और जाति के संकीर्ण सीमा-बन्धनों को छिन्न-भिन्न कर विश्व के महामानव की वन्दना की। मानव की तड़पती हुई आकांक्षाओं को उसने भाषा प्रदान की। पद दलित मानव की बुझती हुई आशा को उसने छन्दों में ढाला और उसके शास्वत आनन्द को हृदय की अन्धरी कन्दरा से निकालकर संगीत की सहस्र धाराओं में बहाया। "मानव महत्व के इस चिर जाग्रत पुरोहित ने देश देशान्तर में भ्रमण कर मानवता को दानवी शक्ति से छुटकारा पाने की अमर वाणी सुनाई।" एक बार हमारे निश्चिल हृत्पिण्ड में प्राणों ने करवट ली और भारतीय आत्मा ने अपने इस रवि के प्रकाश में अपने को पुनः पहचाना।

रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा

रवीन्द्र-प्रतिभा का प्रकाश इतना तेज़ है कि इस समय का भारतीय मानस उसे ठीक ठीक हृदयङ्गम नहीं कर पाया। फिर भी उस प्रतिभा ने उसके अन्तर को छुआ है और उसने उसमें अपना ही रूप देखा है। "व्यक्ति के मन में जो समवेदना पैदा होती है, उसकी अनुभूति को चेतना के राज्य में लाना व्यक्ति के लिये भी कठिन है, प्रतिभा की काव्य-साधना में जब व्यक्ति उसी समवेदना की चेतन-मूर्ति को देखता है, तब आश्चर्यचकित होकर उसे ग्रहण कर लेता है और बोल उठता है कि 'यही तो मेरे मन की बात थी, लेकिन मैं स्वयं इसे न कह सका।' प्रतिभा का अर्थ भी शायद यही है। जो आवेग और समवेदना जाति के अवचेतन मन में सञ्चित होती है, उसके व्यक्त न होने से समाज दुखी होता है। इसी-लिये जिस क्षण प्रतिभा के स्पर्श से स्वप्न मूर्त हो उठते हैं, समाज प्रतिभा के सामने सिर झुकाकर कहता है—'तुम्हारी प्रतीक्षा में मैं इतने दिनों तक था, तुमने मेरे कण्ठ में वाणी भर दी है, मेरी अवरुद्ध आशा को आज रूप मिल गया है, मेरे अन्तर का क्षोभ आज सौन्दर्य-सृष्टि में सार्थक हुआ।' रवीन्द्र-नाथ की साधना में भारतीय मानस का वह अस्पष्ट आवेग और आकांक्षा साकार हो उठी। इतने दिनों तक जिस आवेग का सर्व प्रधान मन्त्र निषेधात्मक था, अचानक नवीन चचलता के कारण नवीन स्वाधीनता के स्वप्न से वह ग्रहणशील हो उठा। समाज और व्यक्ति की सत्ता में छिपे हुए रहस्य का आविष्कार करना और उसे प्रकाश में लाना ही प्रतिभा का गुण है। इसी-लिये रवीन्द्रनाथ के काव्य में उस युग की समाज सत्ता के अप्रकाशित गुणों ने पहले पहल आत्म-प्रकाश पाया।

रवीन्द्रनाथ की जीवन-धारा

रवीन्द्रनाथ को जिस जीवन-धारा का स्वाद मिला था, वह भारत की प्राचीन तथा शास्वत जीवन-धारा है। दुनिया के विविध देशों की विविध जातियों और विविध जनता के साथ रवीन्द्रनाथ की आत्मा प्रेम का ही एक बन्धन देखती थी। उनकी कविता 'वसुन्धरा' में उनका हृदय मरुभूमि के निवा-सियों, तिब्बत वालों, ईरानियों, तूरानियों, चीनियों यहा तक कि असभ्य जातियों की मित्रता के लिये भी व्याकुल दिखाई देता है। 'दुरान्त आशा' नामक कविता में उन्हें अरब के उच्छृङ्खल बद्दुओं की प्रेम पुकार सुनाई देती है। मानवता की सार्वभौमिक महानता हमारे युग में रवीन्द्रनाथ के साहित्य में

विजयी काव्य-धारा के रूप में प्रकट हुई है। अपनी 'विश्व नृत्य' कविता में कवि की आत्मा पशु, पक्षी और छोटे से छोटे कीड़े मकोड़े के अन्दर प्रवाहित होने वाले जीवन के पदचाप के साथ ताल स्वर भरना चाहती है। इन्हीं कोटि कोटि प्राणियों के बीच में रह कर वे अपने व्यक्तित्व की पूर्ति की चेष्टा करते हैं। वैराग्य के साधन से जो मुक्ति मिले उसमें उनका विश्वास नहीं। वे कहते हैं—"(मैं) हज़ार बन्धनों में मुक्ति का आलिङ्गन करता हूं।"

बन्धनमुक्त रवीन्द्रनाथ

किन्तु जाति पांति के बन्धनों के सामने उन्होंने कभी अपना सर नहीं झुकाया। परमात्मा अखिल मानवता के बीच में अपना आसन बिछाता है। वह उनके उत्थान, उनके पतन, उनके सुख और उनके दुख में साथ रहता है। रवीन्द्रनाथ के देवता वहां रहते हैं—"जहां हलवाहा कठोर भूमि में हल चला रहा है और जहा सड़क बनाने वाला पत्थर तोड़ रहा है। वह उनके साथ धूप में है और वर्षा में है और उसका आवरण धूल से भरा हुआ है।"

मन्दिरों में पत्थर के प्राणहीन देवताओं के पुजारी से वे कहते हैं—"अरे मंत्र पढ़ना, भजन गाना और माला फेरना छोड़। मन्दिर के समस्त दरवाज़े बन्द कर इस अंधेरे एकान्त कोने में तू किसकी आराधना करता है? अपनी आखें खोल कर देख तेरा देवता तेरे सामने नहीं है!"

स्वधर्म-साधक रवीन्द्रनाथ

आत्मप्रतिष्ठा की साधना में व्याकुल तरुण भारत के जीवन की चंचलता से रवीन्द्रनाथ की काव्य रीति स्पन्दित है। इस स्वधर्म प्रतिष्ठा की साधना में रवीन्द्रनाथ केवल कवि ही नहीं हैं, बल्कि पथ-प्रदर्शक भी हैं। अपने बचपन और युवावस्था में ग्रामीण जनता के सम्पर्क में आने से उन्होंने अंग्रेज़ी शासन की विकृति को पूरी तरह समझ लिया था। अपने देश की कोटि कोटि जनता की अधोगति को देखकर उनका हृदय चीत्कार कर उठा था। एक जगह उन्होंने कहा है—

"मध्य एशिया की मरु भूमि में जिन यात्रियों ने प्राचीन युग के चिन्हों की खोज की है, उन्होंने देखा है कि वहा कितनी ही आलीशान सभ्यतायें रेत में दब कर ख़त्म हो गईं। कभी उन जगहों में पानी था। नदियों के पुराने निशान अब तक वहां मिलते हैं। फिर पता नहीं कब रस सूखने लगा, और रेगिस्तान एक एक क़दम आगे बढ़कर अपनी सूखी जीभ से हमें चाटने लगा। अनगिनती गावों को लेकर जो हमारा देश है, उस देश की मनोभूमि में भी रस का बहाव आज रुक गया है। प्राणनाशा मरुभूमि आगे बढ बढ़ कर तृष्णारूपी अजगर की तरह गाँवों से गुथे हुए हमारे इस देश को ग्रास करती रहेगी। मरू-भूमि का यह हमला हमारी निगाह में नहीं आता, क्योंकि एक ख़ास शिक्षा की वजह से देश को देखने वाली आँखें हमने खो दी हैं।

"किसी समय बहुत दिनों तक बङ्गाल के गावों से मेरा ताल्लुक़ रहा है। गर्मियों के दिन में रोज़ यह तकलीफ़देह नज़ारा मैं देखता था। नदी का पानी क़रीब क़रीब सूख गया था। ताल तलइयों की तलहटी की गंदी मिट्टी तक दिखाई देने लगी थी। चारों तरफ तड़कती हुई गर्म बालू धाय धांय करती थी। स्त्रिया नंगे पैर मीलों चलकर नदी का गंदा पानी लाती थीं। उस पानी को यदि हम अश्रु जल-मिश्रित न कहें, तो और क्या कहें? गावों में आग लगे तो बुझाने का कोई उपाय नहीं, हैज़ा दिखाई दे तो रोकने का कोई साधन नहीं!

"एक और दूसरी तकलीफ़ से मेरे दिल को बेहद चोट पहुंची। शाम को सारे दिन खेत खलिहान का काम करके किसान घर लौटते थे। एक ओर विस्तृत मैदान निस्तब्ध अंधकार से छाया होता, और दूसरी ओर बांसों की झाड़ी में एक एक गांव अंधेरे टापू की तरह रात की बाढ़ के ठीक बीचों बीच पड़ा होता। उस तरफ़ से ढोलक बजने की आवाज़ सुनाई देती और बहुत से लोग एक स्वर में भजन गाने,

समझते । सुनकर ऐसा लगता कि लोगों के दिल के तालाबों का पानी भी तलहटी तक पहुंच गया। दिल की आग बढ़ गई है और उसे ठण्डा करने का साधन कितना थोड़ा है ! एक के बाद एक वर्षों बीत गए इसी दीन अवस्था में दिन काटते ! इससे कैसे प्राण बच सकते हैं ? हड्डीतोड़ मेहनत-मज़दूरी के बाद भी मन कहता है कि बाहर नहीं तो मनुष्य के अपने भीतर भी एक जगह ऐसी है, जहां अपमान का उपशम होता है और दुर्भाग्य की दासता से बचकर जहां वह ज़रा देर दम ले सकता है। किसी ज़माने में इनसान की इस तरह की तसल्ली के लिये समाज ने बहुत बड़ा आयोजन किया था। वह जानता था कि जनता के नीचे उतर जाने पर सारे देश को भी नीचे उतरना पड़ेगा, मगर आज जनता का कोई पुरसाहाल नहीं। अभी वे ज़माने की तलछट से कुछ थोड़ी तसल्ली पा लेते हैं, कुछ दिन बाद यह भी ख़त्म हो जायगी। दिन भर के दुखद धन्धों के सूने तटों पर निरानन्द घरों में न दीया जलेगा और न गीत ही सुनाई देंगे। तब बांस की झाड़ियों में झींगुर झंकारेंगे, कुंजों में सियार बोलेंगे, और ठीक उसी समय शहरों के पढ़े लिखे लोग बिजली की रोशनी में सिनेमाघरों के सामने भीड़ लगायेंगे !!"

शिक्षित वर्ग और रवीन्द्रनाथ

अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद का मुंह ताकने वाला शिक्षित मध्यवर्ग अपने देश के भीषण भविष्य को नहीं समझ सका। इस वर्ग को विदेशियों से ही सुख और सुविधा मिली है। लेकिन उस सुविधा के आकर्षण में ही मृत्यु का बीज छुपा हुआ है। इन पढ़े लिखे लोगों का देश की व्यापक जीवन-धारा से सम्बन्ध टूट गया। वे क्षणस्थायी स्वधर्मच्युत और आश्रयहीन होकर रह गये। रवीन्द्रनाथ इस दयनीय स्थिति को देखकर कहते हैं—

"अंगरेज़ी भाषा के घूंघट में छिपी हुई विद्या स्वभावतः ही हमारे मन के साथ नहीं चल सकती। हम में से ज़्यादातर लोगों को जितनी शिक्षा मिलती है, उतनी विद्या नहीं मिलती। हमारे घर और स्कूल कॉलिजों के बीच ट्राम, साइकिल और मोटर चलती है, मन नहीं चलता। स्कूल के बाहर पड़ा हुआ है हमारा देश और हमारे मन पर हुकूमत करती हैं स्कूली नोटबुकें। सिर्फ़ नज़ीर को सामने रखकर बहुत सावधानी से क़दम रखना हम जानते हैं। शिक्षा के साथ देश के मन का मेल कराने की कोशिश आज तक नहीं हुई। यह वैसा ही है जैसे दुलहिन रह गई इस पार मायके में और उसका दूल्हा रहता है नदी के उस पार रेत से भी आगे। आख़िर पार होने की नाव कहां रह गई !"

आधुनिक साहित्य और रवीन्द्रनाथ

रवीन्द्रनाथ जीवन के कलाकार थे। जीवन आदर्श ने रवीन्द्र-साहित्य को एक प्रकार से क्रान्तिकारी बना दिया है। वे जीवन से सम्बन्धविहीन साहित्यिकों और कलाकारों को स्वप्नलोक के जीव समझते थे। देश की राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक सभी संगठनों की चेष्टा में रवीन्द्रनाथ का अन्तरङ्ग सम्बन्ध था और उन सभी चेष्टाओं में रवीन्द्रनाथ की निजी देन भी उपेक्षणीय नहीं। जनता की जीवन शक्ति को अपने साहित्य में संचरित करना ही उनका लक्ष्य था। 'कला कला के लिये' की पुकार मचाने वाले साहित्यकों को देखकर उन्हें हार्दिक पीड़ा होती थी। एक जगह उन्होंने लिखा है—

"यह बात माननी ही पड़ेगी कि हमारा आधुनिक साहित्य वर्तमान युग के अन्न-वस्त्र से पला है। इस साहित्य ने नई रोशनी की छूत हमारे मन में लगा दी है। जो विद्या वर्तमान युग की चिन्ता-शक्ति या विचार धारा को अद्भुत रूप में प्रगट कर रही है और विश्व-रहस्य के नये नये द्वार खोल रही है, हमारे साहित्यिक मुहल्ले में उसका आना नहीं के बराबर है। हमारे साहित्य का झुकाव उसी तरफ़ हो रहा है, जिधर मदिरा परोसी जा रही है, जहां उग्र गंध से हवा मतवाली हो गई है।

"कहानी, कविता और नाटक इन्हीं से हमारे साहित्य की पन्द्रह आने तय्यारिया हो रही हैं, अर्थात् दावत का आयोजन हो रहा है, शक्ति का आयोजन बिल्कुल नहीं। यह सब कुछ हो रहा है पाश्चात्य देशों की चित्ताकर्षक विचित्र चित्त-शक्ति के प्रबल सहयोग से। लेकिन वहां देह-मन-प्राण सभी दिशाओं में मनुष्यत्व व्याप्त है, इसीलिये अगर वहा त्रुटियां भी हैं, तो साथ साथ उनकी पूर्ति भी है।

"हमारे साहित्य में रस की ही प्रधानता है। इसीलिये जब कभी कोई असयम या चित्त-विकार अंतःकरण में होकर हमारे साहित्य में प्रवेश करता है, तो वही प्रधान हो उठता है, और हमारी कल्पना को वह स्वप्न विलासिता की ओर बहाकर वीभत्स कर देता है। प्रबल प्राण-शक्ति जब जाग्रत नहीं रहती, तो देश के छोटे छोटे विकार भी बात की बात में विषाक्त फोड़ा बनकर लाल सुर्ख हो उठते हैं। इसके लिये कम से कम अपने साहित्यिकों को दोष नहीं दिया जा सकता। हमारा साहित्य सारगर्भ नहीं है, यह कहकर उसकी निन्दा करना सहज है, किन्तु क्या करके उसे सारवान बनाया जा सकता है, इसका फ़ैसला आसान नहीं। रुचि के सम्बन्ध में तो लोग बिल्कुल लापरवाह हैं, क्योंकि उधर कोई शासन नहीं है। किसी की रुचि पर तर्क करने से मामला फ़ौजदारी तक पहुँच सकता है। कविता, कहानी, नाटक के बाज़ार की तरफ़ जिन्हें समझदारी का राज पथ नहीं मिला वे कम से कम अनाड़ी मुहल्ले के मैदान से भी चल सकते हैं। किसी तरह का महसूल तो कहीं देना नहीं पड़ता; लेकिन जो विद्या मनन करने की है, वहा के सिंहद्वार पर तो कड़ा पहरा है। जिन देशों पर लक्ष्मी प्रसन्न हैं और सरस्वती भी, वे उस विद्या की तरफ़ जाने के नये नये मार्गों को आये दिन पक्के बनाते जा रहे हैं।"

रवीन्द्रनाथ और देश की साम्प्रदायिकता

देश के ऊपर इस पथ-भ्रष्ट साहित्य और मार्ग-भ्रष्ट शिक्षा का जो अवश्यम्भावी परिणाम होना था वह होकर रहा। राष्ट्र का व्यक्तित्व अपने अन्दर ही छोटा होता गया। फल स्वरूप राष्ट्र के देह-प्राण में तरह तरह के विकारों ने अड्डा जमाया हमने अपने इस राजरोग का इलाज डाल छोड़कर पत्तों से शुरू किया। किन्तु रवीन्द्रनाथ को इस सम्बन्ध मे कोई भ्रम न था। उन्होने रोग की जड़ पहचान कर उसी के इलाज की हमसे अपील की—

"मनुष्य का मन जब छोटा हो जाता है, तो छोटे से छोटे नख-चंचु का आघात भी उसके समस्त उद्योग को सङ्कुचित और बौना बना देता है। हमारे देश मे अपने को तोड़ने फोड़ने वाली ईर्षा, पर-निन्दा, दल बन्दियां और परस्पर टिली लिली करने की उत्तेजना तो शुरू से ही है। प्रान्तीयता और साम्प्रदायिकता उसी का विषफल है। आज जो हिन्दू मुसलमानों का लज्जाजनक विद्वेष देश को आत्मघात की ओर प्रवृत्त कर रहा है, शिक्षा और साहित्य के जिस उदार क्षेत्र मे सब तरह के मतभेद होते हुए भी जो राष्ट्रीय मिलन केन्द्र है, वहां भी हमारे कांटे बोने का उत्साह कम नहीं हुआ। राष्ट्रीय बाज़ार में राष्ट्र के अधिकार को लेकर मोल तोल का शोर कितना ही क्यों न होता रहे, वहा गोल टेबुल के भंवर में हमे समस्या समाधान की कुंजी नहीं मिल सकती। नाव के पेंदे मे जहा छेद हो गया है, वहीं हमें जल्दी से हाथ लगाना पड़ेगा।"

आशा के संदेश-वाहक रवीन्द्रनाथ

पश्चिमीय सभ्यता ने आज मनुष्य की आत्मा को यन्त्र दानव के कारागार में बन्द कर रखा है। रवीन्द्रनाथ नीचे लिखे शब्दो में इसी शृङ्खलाबद्ध मानव के उद्धार की मार्मिक चेतावनी देते हुए कहते हैं—

"इस युग को, जो अब भी चल रहा है, मानव सभ्यता का सबसे निकृष्ट एवं अन्धकारमय युग कहा जाना चाहिये। तथापि मैं हताश नहीं हूं। अरुण प्रभा के अन्धकार मे आवृत्त रहने पर भी जिस प्रकार प्रातःकालीन पक्षी गाकर सूर्योदय की घोषणा करता

है, वैसे ही मेरा अन्तःकरण भी वर्त्तमान युग के निविड़ अंधकार में गा गाकर घोषित कर रहा है कि हमारा महान एवं उज्ज्वल भविष्य अब निकट है। इस नवीन युग का अभिनन्दन करने के लिये हमें तय्यार हो जाना चाहिये। कुछ लोग अभिमानी, चतुर तथा क्रियात्मक हैं। उनका कहना है कि मनुष्य के स्वभाव में दानशीलता है ही नहीं। मनुष्य सदैव आपस में लड़ते ही रहेंगे, सबल निर्बल पर विजय पावेगा और सभ्यता के लिये कोई सच्चा नैतिक आधार हो ही नहीं सकता।

"मैं उन्हें उस पुरातन युग की याद दिलाता हूं, जब प्रकृति भीमकाय राक्षसों को पैदा करती थी। उस समय किसका ऐसा साहस था कि यह विश्वास रख सकता कि इन दानवों का विनाश सम्भव है। लेकिन इसके बाद एक आश्चर्यजनक घटना हुई। एकाएक शारीरिक विशालता के इस निशोत्सव में मनुष्य—निःशस्त्र, असहाय, नग्न और कोमल शरीर वाला मनुष्य—प्रकट हुआ। उसने अपनी शक्तियों को पहचाना, और बुद्धिबल से अस्त्रों को तय्यार कर शारीरिक (जड़) सत्ता का सामना किया। दुर्बल देह मनुष्य ने भीमाकृति राक्षसों पर विजय पाई।

"परन्तु तब भी मनुष्य अपनी यथार्थ विजयश्री को प्राप्त नहीं कर सका, क्योंकि आज उसकी सन्तान, जिसमें आधी मनुष्यता और आधी पशुता है, विकराल रूप धारण कर सारे भूमण्डल में फैल रही है। यह पूर्व ऐतिहासिक युग के दानवों की अपेक्षा कहीं अधिक विध्वंसकारी है। उन दानवों में केवल पशुबल था। किन्तु इस मनुष्य सन्तान में तो पशुबल और बुद्धिबल का सम्मिलन है। इसने ऐसी बीभत्सता को उपजाया है, जिसकी वासना हृदयहीन और अस्त्रशस्त्र कपट पूर्ण हैं। इसने अन्धी वासना को कार्यकुशल और सामर्थ्यवान बना दिया।

"एक समय हम एशिया वासियों ने मनुष्य में विद्यमान इस पशु का मुंह बन्द करने और उसकी क्रूरता को रोकने का भरसक यत्न किया था। किन्तु आज बुद्धि की दानवी सत्ता ने हमारी नैतिक और आध्यात्मिक शक्तियों की श्रद्धा को अभिभूत कर दिया है। पशुओं की क्षमता जड़ नहीं थी, कम से कम जीवन से तो उसका संयोग था, वह प्राणियों की सत्ता ही थी; परन्तु बम के गोले, विषैली गैसें, घातक हवाई जहाज़ आदि विज्ञानजनित भयंकर अस्त्रों में यह बात नहीं है, वे सर्वथा जड़ हैं।

"हमें यह बात जान लेना चाहिये कि सत्य सबके लिये है। धन सम्पत्ति पर व्यक्ति विशेष का अधिकार होता है, पर सत्य में यह बात नहीं। अपने वैयक्तिक स्वार्थ की सिद्धि के लिये हमें कदापि सत्य का दुरुपयोग नहीं करना चाहिये। यह तो अपने लाभ के लिये ईश्वर के अनुग्रह को बेचना होगा। विज्ञान भी एक सत्य है। उसका भी एक विशिष्ट स्थान और उपयोग है, जैसे बीमारों को चंगा करना, अधिक अन्न उपजाना, जीवधारियों को अधिक आराम और सुविधा देना, इत्यादि। किन्तु जब वह सबल को निर्बल के कुचलने में सहायता देता है, तब अधर्म के लिये सत्य का दुरुपयोग होता है। पवित्र वस्तु का ऐसा दूषित प्रयोग करने वालों को दुःख और दण्ड भोगना पड़ेगा। क्योंकि उन्हीं के हथियार स्वयं उन्हीं के विरुद्ध चलाए जावेंगे।"

रवीन्द्रनाथ और मुक्ति का नवीन साधन

और इस परिस्थिति से छुटकारा पाने का रवीन्द्रनाथ एक ही उपाय देखते हैं। वे कहते हैं—

"अब एक अन्य शक्ति की खोज का वास्तविक समय आ पहुंचा है। वह दूसरों को कष्ट देने की शक्ति नहीं है बल्कि स्वयं कष्ट सहन और त्याग की शक्ति है। पिछले युगों में जिस तरह बुद्धि ने निरे पाशविक बल को परास्त किया था, उसी प्रकार यह त्याग का बल हमें लोभ और अहंकार को परास्त करने में मदद देगा। आओ सहायता करो और मानव आत्मा को यन्त्र रूपी दानव के कारागार से मुक्त करो। मानव आत्मा का जयघोष करो, और यह सिद्ध कर दो कि उसका आधार चतुराई अथवा तोपें नहीं है, वरन श्रद्धा और त्याग है।"

रवीन्द्रनाथ और नारी

अपनी रचना 'दुइबोन' में कवि ने कहा है—

"स्त्रियों की दो जातियां हैं—एक तो प्रधानतः 'माँ' की और दूसरी है 'प्रिया' की। ऋतु के साथ यदि उनकी तुलना की जाय तो 'माँ' है वर्षा ऋतु। जलदान देती है, फलदान देती है, ताप से बचाती है तथा ऊर्ध्वलोक से अपने को विगलित कर देती है और प्रभाव भर देती है।

"और 'प्रिया' है बसन्त ऋतु। गम्भीर है उसका रहस्य, मधुर है उसका माया-मन्त्र; उसकी चंचलता रक्त में एक तरङ्ग पैदा कर देती है, जो पहुंच जाती है चित्त के उस प्रकोष्ट में, जहां स्वर्ण-वीणा का एक निभृत तार नीरव पड़ा हुआ है झंकार की अपेक्षा में, जिस झंकार से सारे शरीर और मन में अनिर्वचनीय वाणी बज उठा करती है।"

उनके काव्य साहित्य में भी इसी तरह के दो नारी रूपों को हम देखते हैं—एक है उर्वशी का और दूसरा है लक्ष्मी का।

"न जाने किस क्षण में सृष्टि के समुद्र मन्थन से, अतल के शय्यातल को छोड़कर दो नारियां निकल आई थीं। एक थी सुन्दरी उर्वशी, विश्व के कामना-राज्य की रानी, स्वर्ग की अप्सरा। दूसरी थी कल्याण मयी लक्ष्मी, विश्व की जननी, स्वर्ग की ईश्वरी।"

'गोरा' में भारतीय नारी को चित्रित करते हुए कवि ने कहा है—

"भारत के घर को पूर्ण सौन्दर्य तथा प्रेम से मधुर और पवित्र करने के लिये ही इनका आविर्भाव हुआ है। जो लक्ष्मी भारत के शिशुओं को मनुष्य बनाती है, सताये हुए को सान्त्वना देती है, तुच्छ को भी प्रेम के गौरव से प्रतिष्ठा देती है, जो दुःख, दुर्गति में भी हम दीनों का त्याग नहीं करती, अवज्ञा नहीं करती, जो हमारी पूजनीय होकर भी हमारे जैसे अयोग्यतम की एक मन से पूजा करती है, जिसके दोनों निपुण सुन्दर हाथ हमारे कार्य के लिये उत्सर्ग हैं तथा जिसका चिर सहिष्णु क्षमापूर्ण प्रेम हमने ईश्वर के यहां से अक्षय दान स्वरूप पाया है। उसी ने तो मनुष्य के हृदय की सृष्टि, हृदय के प्रकाश, मनुष्य के कर्मक्षेत्र की कठिनाइयों और दरिद्रता को अपने सौन्दर्य तथा मंगल के कंकण पहने हुए दोनों हाथों से घेर रखा है।"

पुरुषों और स्त्रियों की कर्मशीलता की तुलना करते हुए कवि कहते हैं—

"कर्म कुशलता स्त्रियों में स्वाभाविक होती है। पुरुष स्वभाव से ही आलसी हैं, बाध्य होकर, किसी काम की जवाबदेही आ पड़ने पर वे काम करते हैं।"

किन्तु इसी कर्मपटुता में ही स्त्री का महत्व है। वह सबकी सेविका न बने तो स्वामिनी भी नहीं हो सकती। उदाहरण के लिये, हम 'दुइबोन' की गृहिणी शर्मीला को ले सकते हैं—

"शशांक निश्चय जानता है कि दैनिक क्रम में कहीं त्रुटि होने से स्त्री के हाथ से उसका संस्कार तो हो ही जायगा, इसलिये त्रुटि करना ही उसका स्वभाव हो उठा है। स्त्री स्नेह के साथ तिरस्कार करके कहती है—'अब मुझसे न चल सकेगा, तुम क्या किसी तरह न सीखोगे?' यदि शिक्षा ही हो जाती तब तो शर्मीला के दिन परती ज़मीन की तरह हो जाते।"

अपनी 'शेषेर' कविता में रवीन्द्रनाथ आधुनिक स्त्री को चित्रित करते हुये लिखते हैं—

"ऊंची एड़ीवाला जूता, लेसवाला खुली छाती का जाकेट, मूंगा और अम्बर में गुंथी हुई माला, तिरछी भंगी से लपेटी हुई साड़ी, खुट खुट करके द्रुतलय में चलती हैं, ऊंचे स्वर में बोलती हैं और पैनी हंसी हंसती हैं। मुंह टेढ़ा करके मृदु मुसकान से, ऊंचे कटाक्ष से ताकती हैं। जानती हैं कि भावमयी चितवन किसे कहते हैं। गुलाबी रेशमी पंखा गाल के पास फुर फुर करके चलाती रहती हैं और पुरुष मित्र की कुर्सी के हत्थे पर बैठकर उसी पंखे के आघात से उनकी कृत्रिम स्पर्धा के प्रति *कृत्रिम तर्जन प्रकट करती हैं।"*

किन्तु रवीन्द्रनाथ की आदर्श नारी का चित्रण हमें गोरा में आनन्दमयी के रूप में मिलता है—

"घर-द्वार मांज-घिसकर, धो-पोंछकर, बांध-छान कर, सिलाई करके, गिनती करके, हिसाब करके, भाड़कर, धूप में सुखा कर, सगे सम्बन्धी और पास पड़ोसियों की खबर लेकर भी मानों उनका समय समाप्त होना नहीं चाहता।"

रवीन्द्रनाथ और स्त्री-शिक्षा

रवीन्द्रनाथ युग कर्तव्य को देखते हुये स्त्रियों की शिक्षा के सम्बन्ध में कहते हैं--

"आज समाज के नाना विषयों में परिवर्तन हो गया है। देश की आर्थिक अवस्था में इतना परिवर्तन हो गया है कि जीवन-यात्रा की प्रणाली ने स्वतः ही भिन्न आकार धारण कर लिया है और उसी के फल स्वरूप सम्मिलित परिवार में भी शिथिलता-सी आ रही है। अतः इसके साथ ही हमारी स्त्रियों की अवस्था में भी परिवर्तन होना आवश्यक और अवश्यम्भावी हो गया है। केवल घर में पड़ी रहने वाली हृदय राशि ढोने से ही काम नहीं चलेगा, अब तो अपने पैरों पर खड़ा होना होगा और उत्साह के साथ सब कामों में अपने स्वामी का हाथ बंटाना होगा।"

किन्तु रवीन्द्रनाथ की नारी यहीं नहीं रुकती। वह अमित शक्तिशालिनी बनकर सम्पूर्णता का दावा पेश करती है। कवि की 'सबला' नामक कविता मे नारी की पुकार है—

"हे विधाता, नारी को अपना भाग्य जय करने का अधिकार क्यों नहीं दोगे? क्यों, दैवात् उपस्थित दिन में रास्ते के किनारे क्लान्त-धैर्य होकर प्रत्याशा की पूर्ति के लिये जगी रहूंगी? क्यों केवल आसमान की ओर ही ताकती रहूंगी? सार्थकता का मार्ग खुद क्यों न खोज लूंगी? दुर्धर्ष अश्वों को दृढ़ पाश में बांधकर सन्धान का रथ तेज़ी से क्यों न दौड़ाऊंगी? दुर्जय आश्वास से प्राणों की बाज़ी लगाकर दुर्गम दुर्ग से साधना का धन क्यों न आहरण कर लाऊंगी?"

आर्थिक समस्या और रवीन्द्रनाथ

संसार की आर्थिक समस्या को किस तरह सुलझाया जाय इस पर अपनी राय प्रकट करते हुये गुरुदेव ने एक बार कहा था—

"आज मनुष्य ही मनुष्य का प्रबलतम शत्रु है और उसका एक मात्र हेतु धन का लोभ है। धन लोभ के समान निष्ठुर और अन्यायपरायण प्रवृत्ति और नहीं। अथच धन बिना हमारा काम भी नहीं चलता। ससार यात्रा के लिये वह अपरिहार्य है। ठीक अग्नि के समान होता है यह धन। चूल्हा और दीपक दोनों जगह आग का नित्य प्रयोजन होता है। किन्तु छप्पर के ऊपर चढ़ते ही वही आग सर्वनाशी हो पड़ती है। आग को मनुष्य ने चूल्हा, दीपक अथवा कुण्ड के भीतर संयत करके जीवन के लिये उसे निरापद कर दिया है, लेकिन धन के लोभ को तो हम इस प्रकार आज भी संयत नहीं कर पाये हैं।

"पाश्चात्य देशों में आज जो धनी हैं और जिनके द्वारा धनोपार्जन होता है, उनका विरोध मिटता ही नहीं। लोभ दोनों में किसी से कम नहीं है, इसलिये उनकी यह पारस्परिक धक्का-मुक्की कहां जाकर रुकेगी समझ में नहीं आता।

"आज यूरोप की व्यवस्था में देखा जाता है कि असख्य दासों को लगान के द्वारा बांधकर, चाबुक की ताड़ना से चलाया जा रहा है। सभी हतभागों को एक ही आगन में एकत्र करके उनके रक्तशोषण का श्मशान कार्य चला है। इसी आंगन का ही नाम है फ़ैक्ट्री। धर्म की दुहाई जब शक्ति-मत्तों ने सुनी नहीं, तब मरणोन्मुख अत्याचारियों के दल ने कहा—'ना, इस सब दुहाई से कुछ होगा नहीं; आओ हम सब एक जगह एकत्रित हों। हमारा शोषण करके ही तो ये लोग धनी हैं, हम अब अपने को और अधिक शोषित नहीं होने देंगे। आओ हम सम्मिलित भाव से धन की सृष्टि करें और सम्मिलित भाव से ही उसका उपयोग करें। किसी भी प्रकार

के लोभ अथवा संचय प्रवृत्ति को हम प्रश्रय नहीं देंगे।' इसी का नाम समवाय नीति है।...

"हमारे कृषि प्रधान देश में समवाय नीति कुछ कुछ परिमाण में प्रचलित थी। किन्तु आज केवल मात्र कृषि पर ही निर्भर करने से तो चलेगा नहीं। उपार्जन के अन्य समग्र क्षेत्र को युक्त करना होगा और सब जगह इसी सहकारिता का प्रचार करना होगा। इसी से एकान्त मन से कामना करता हूं कि धन की मुक्ति हमारे देश में सम्पूर्ण हो और अन्नपूर्णा के साथ शिव का योग साधन सार्थक हो।"

रवीन्द्रनाथ और देश का दलित समाज

असली धर्म है सेवा और प्रेम को माध्यम बनाकर दीन दुखियों से मिलना। आज हमने अपने जिस झूठे जातीय अभिमान में कोटि कोटि हरिजनों का जो एक दलित वर्ग खड़ा कर रखा है उसी के कारण हमारा अपमान हमारी दुर्दशा और दुर्गति हो रही है। जो दीन मानव का अपमान करता है, उस पाप से भला उसका उद्धार कौन कर सकता है? हमने जिसे दलित बना कर रखा है उसी के फल स्वरूप आज हमें भी पतित और अपमानित बनकर रहना पड़ रहा है। रवीन्द्रनाथ ने कहा है—

"अरे ओ मेरे अभागे देश! तुमने जिसका अपमान किया; उसी अपमान से तुमको आज सबके समान होना होगा। जिनको तुमने मनुष्य के अधिकार से वंचित किया और जिन्हें तुमने पास बैठने की जगह नहीं दी, अपने उसी अपमान से आज तुम्हें सबके समान होना होगा।

"तुमने जिसको नीचे फेंका, वह आज तुम्हें पीछे खींच रहा है। तुमने अज्ञान अन्धकार के गह्वर में जिसे छिपाया, वह तुम्हारे मंगल, कल्याण को ढंककर घोर बाधाएं पैदा कर रहा है। अपमान के द्वारा तुम्हें सबके बराबर होना पड़ेगा।

"मृत्यु दूत दरवाज़े पर खड़ा है, उसने तुम्हारे जातीय अहंकार पर अभिशाप की छाप लगा दी है। अब यदि सब को नहीं बुलाओगे, इस समय भी बैठे रहोगे और अपने को चारों तरफ से जातीय अहंकार में बांध रखोगे, तो समझ रखो मृत्यु के बाद चिता की राख में तुमको सब के बराबर होना पड़ेगा।"

दूसरी ओर हरिजनों को ललकारते हुए कवि ने कहा है—

"तुम सब बड़े हो। तुम अपना दावा पेश करो। इस झूठी दीनता हीनता को दूर करो। तुम अपने सारे बन्धनों को तोड़कर हमे मुक्ति दो दीनता तुम्हारी नहीं है। सचमुच दीनता और हीनता तो हमारी है। तुम कब स्वयं मुक्त होकर हमारा उद्धार करोगे?"

कला और रवीन्द्रनाथ

प्रोफैसर कबीर लिखते हैं—

"रवीन्द्रनाथ चित्रकला के क्षेत्र में नये और बे बुलाये अतिथि थे। इसीलिये भारतवर्ष में आजकल की प्रचलित चित्रपद्धति का प्रभाव उनके चित्राङ्कन में नहीं के समान है। चित्र-जगत में उन्होंने स्वाभाविक कलाकर की प्रतिभा और पटुता का परिचय दिया। चित्र-जगत में जिस रास्ते को उन्होंने ढूढ़ निकाला है, वह इसके पहले किसी चित्रकार की नज़रों में नहीं आया था। चेतना के कारण चित्र-जगत में भी रवीन्द्रनाथ सिर्फ़ संस्कृतिवान चित्रपद्धति को स्वीकार करके ही सन्तुष्ट नहीं हुए। जो सहज चित्रकला देश की अशिक्षित जनता में व्याप्त है, उसी में उन्हें कला-साधना की प्रेरणा मिली।"

स्वयं रवीन्द्रनाथ ने अपने चित्रों के सम्बन्ध में लिखा है—

"मेरे चित्र लकीरों में मेरी काव्य रचना हैं। यदि अकस्मात् वे इस योग्य हैं कि लोग उन्हें कला स्वीकार करें, तो इसका मुख्य कारण यही होगा कि उनके बाहरी रूप मे कोई ऐसा समतोल है, जो हमारा लक्ष्य है।"

वास्तव में रवीन्द्रनाथ के चित्रों ने भारतीय परम्परा की अवहेलना नहीं की, बल्कि उसमें नवीन ऐश्वर्य का भण्डार भरा है। भारत के राष्ट्रीय जीवन

में उनके चित्रों की जड़ दूर तक जमी होने के कारण वे इतने शक्तिशाली और दृढ़ हैं।

रवीन्द्रनाथ का महाप्रयाण

आज सहसा इस बात पर विश्वास नहीं होता कि रवीन्द्रनाथ हमारे बीच में नहीं हैं। किन्तु रवीन्द्रनाथ ने कभी भी मृत्यु को विभीषिका के रूप में नही देखा। वे उसे सदा जीवन की परिपूर्णता ही समझते रहे। अनादि काल से ही चलते हुये उनके अन्तर ने कभी क्लान्ति का अनुभव नहीं किया। मृत्यु जीवन को पूर्ण करने का साधन है। "प्रान्तिक", की एक कविता में वे कहते हैं—

"आज बिदाई के अवसर पर मैं स्वीकार करूगा; मेरे लिये वह विपुल विस्मय का विषय था। आज मैं गाऊंगा; हे मेरे जीवन, हे मेरे अस्तित्व के सारथी, तुमने बहुत से रणक्षेत्र पार किये हैं, आज मृत्यु की अन्तिम लड़ाई मे नवीनतर विजय यात्रा के लिये मुझे ले चलो।"

एक दूसरी कविता में कवि कहते हैं—

"हे प्रलयकर अचानक तुम्हारी सभा से तुम्हारा मृत्यु दूत आ पहुंचा। मुझे वह तुम्हारे विराट प्राङ्गण में ले गया। आँख खोलकर देखता हूं तो केवल अन्धकार है! अन्धकार के प्रत्येक स्तर के पीछे जो अदृश्य आलोक था, उसे नहीं देख सका—आलोक जो निखिल ज्योति की ज्योति है। मेरी दृष्टि मेरी ही छाया से आच्छादित थी। उसी आलोक का सामगान मेरी सत्ता की गम्भीर गुहा से सृष्टि के सीमान्त ज्योतिर्लोक तक मद्रित हो उठेगा—इसीलिये मेरा आमंत्रण था। मैं 'चरम' की कवित्व-मर्यादा जीवन की रंगभूमि में प्राप्त करूँगा—केवल इसीके लिये आज तक मैंने तान साधी थी। (किन्तु) रुद्र वीणा निःशब्द भैरव राग से बज नहीं उठी, मर्मस्थल में 'भीषण की प्रसन्न मूर्ति' जाग नहीं पड़ी। इसलिये तुम्हें लौटा दिया। ऐसा एक दिन आयेगा, जब कवि की वाणी, पके हुये फल की भाँति, आनन्द की परिपूर्णता के भार से स्वयं ही 'अनन्त' की अर्घ्य डाली में चू पड़ेगी। उस दिन अन्त में, जीवन का अन्तिम मूल्य, अन्तिम आशा, अन्तिम निमंत्रण सब चरितार्थ हो जायेगा।"

अपने को इस अन्तिम महायात्रा के लिये तैयार करते हुये रवीन्द्रनाथ ने एक दूसरी कविता में लिखा है—

"कलरव-मुखरित ख्याति के प्राङ्गण में न जाने कब जो आसन बिछा दिया गया था, हे कवि, तुम वहां से उठ आओ। चाटुकारी की लुब्ध जनता, देवी को वचन का अर्थ विरचित कर करके जो पूजा तुमने शुरू की थी, उसे समाप्त कर दो। दिन के हज़ारों कण्ठ अब क्षीण हो गये, ध्वनि की ख़रीद-बिक्री का सामान ढोने वाले पहरों ने संध्या के निर्जन तट पर लंगर डाल दिया है। आकाश के उस आंगन में जहा पक्षियों की काकली शान्त हो गई है, वहां देव-सभा की नृत्य-परायण अप्सरा-बाला का वाष्प से बुना हुआ दोलाञ्चल लहरा कर स्वर्णोज्ज्वल वर्ण-रश्मि की छटायें छिटका रहा है। अस्तलग्न का चरम ऐश्वर्य लेकर चित्रभानु ने शून्य को पूर्ण किया, मुझे कर-स्पर्श दिया, अन्तर की देहली में दीप्त शिल्प-कला को प्रसारित किया, गंभीर अदृश्य लोक से तूली की रेखा पर इशारा प्रकट हुआ। आजन्म की विच्छिन्न भावनायें जो स्रोत के शैवाल की भाति निरर्थक पड़ी हुई थीं, अनिश्चित हवा के झँकोरों से उड़ती फिरती थीं, वे सभी रूप ग्रहण करके, भाटे की नदी के किनारे अनाहत मंजरी के गर्व को लेकर कोई ईर्षा नहीं करेगा, ये आनामिक स्मृति-चिन्ह, ख्याति से रहित अगोचर देश में मानो अस्पष्ट विस्मृति की तरह पड़े रहेंगे।"

मृत्यु नश्वर क्षणस्थायी जीवन का अन्तिम परिणाम है। लेकिन जिस तरह सूर्य प्रतिदिन नित नवीन आश्चर्य के साथ पूरब में उदय होता है, उसी प्रकार रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा भी रोज़ नई विचार-धारा, नया काव्य, नवीन संगति की अनगिनित धाराओं से हमारे हृदय को सींचती रहेगी। एक महान जीवन के प्राकृतिक परिणाम की पूर्णता के सामने साधारण विलाप संकुचित हो जाता है। "जो मृत्यु श्लाघापूर्ण है, जो

मृत्यु गौरवमय है, उसी महान मृत्यु की महिमा को अनुभव कर हमें क्षति से ऊपर उठना होगा।"

इस अङ्क के लिये आभार प्रदर्शन

प्रस्तुत अङ्क की सामग्री इकट्ठा करने और प्रोत्साहन देने के लिये भाई हजारीप्रसाद जी द्विवेदी, भाई भगवतीप्रसाद जी चन्दोला और भाई महादेवप्रसाद जी साहा के हम बेहद ऋणी हैं। प्रस्तुत अङ्क इन्हीं भाइयों की कृपा का परिणाम है। अन्यथा मेरे जैसा अस्वस्थ और निर्बल व्यक्ति यह ज़िम्मेवारी न उठा पाता। इस अङ्क में जो कुछ कमियां हैं, उनका उत्तरदाता मैं हूं। 'विश्ववाणी' अपने धर्म-पिता रवीन्द्रनाथ की स्मृति में यह तुच्छ श्रद्धाञ्जलि समर्पित करके ही सन्तुष्ट न होगी। गुरुदेव की महान शिक्षाएं 'विश्ववाणी' की जीवनयात्रा की प्रकाश-स्तम्भ हैं। उन्हें अधिक से अधिक जीवन में चरितार्थ करने में 'विश्ववाणी' अपना सौभाग्य समझेगी। अन्त में इस अङ्क के लेखकों के सहयोग के लिये हम दिल से उनके आभारी हैं।

गुरुदेव का आशीर्वाद प्राप्त करके जब हमने 'विश्ववाणी' का पहला अङ्क निकाला, तब हममें अपूर्व उत्साह था। गुरुदेव की छत्रछाया पाकर हमने अपने जीवन को धन्य और सार्थक समझा था। हमें क्या पता था कि क्रूर काल हमारे उस उत्साह पर व्यंग के साथ मुस्करा रहा है। हमने स्वप्न में भी यह न सोचा था कि 'विश्ववाणी' का पहले वर्ष का ही यह अन्तिम अङ्क अपने धर्म-पिता की पुण्य स्मृति में तुच्छ श्रद्धाञ्जलि के रूप में निकलेगा!

अपने पाठकों और एजेण्टों को आवश्यक सूचना

'विश्ववाणी' का जनवरी १९४२ का 'संस्कृति' विशेषाङ्क बजाय पहली तारीख के सात तारीख को प्रकाशित होगा। 'विश्ववाणी' का यह दिसम्बर का "रवीन्द्र अङ्क" भी कई विवशताओं के कारण दो दिन देर से निकल रहा है।

क्षमा प्रार्थी
विश्वम्भरनाथ

रवीन्द्रनाथ और सोवियत् देश

श्री महादेव प्रसाद साहा

"आखिर रूस में आ ही पहुंचा। जो देखता हूं, आश्चर्य होता है। अन्य किसी देश से इसकी तुलना हो ही नहीं सकती। बिल्कुल जड़ से फ़र्क़ है। आदि से अन्त तक सभी आदमियों को इन लोगों ने समान-रूप से जगा दिया है।

"हमेशा देखा गया है कि मनुष्य की सभ्यता मे अप्रसिद्ध लोगों का एक ऐसा दल होता है, जिनकी सख्या तो अधिक होती है, फिर भी वे ही वाहन होते हैं; उन्हें मनुष्य बनने की फ़ुर्सत नहीं देश की सम्पत्ति के उच्छिष्ट (जूठन) से वे प्रतिपालित होते हैं। वे सबसे कम खाकर, सबसे कम पहनकर, सबसे कम सीखकर अन्य सबों की परिचर्या या गुलामी करते हैं, वे ही सबसे अधिक जागर चलाते (मेहनत करते) हैं, और सबसे अधिक उन्हीं का असम्मान होता है। बात-बात में वे भूखों मरते हैं, ऊपर वालों की ठोकरें खाते हैं—जीवन-यात्रा के लिए जितनी भी सुविधाएं और मौक़े हैं, उन सबसे वे वंचित रहते हैं। वे सभ्यता की दीवट हैं, सिर पर दिया लिये खड़े रहते हैं;—ऊपर वालों को रोशनी मिलती है और उन बेचारों के ऊपर से तेल टपकता रहता है।"

(रूस की चिट्ठी)

टामस मोर से लेकर, मार्क्स-एङ्गिलस की ऐतिहासिक योजना ने जिस देश में लेनिन, स्तालिन तथा अन्यान्य की आजन्म साधना से वास्तविक रूप ग्रहण किया, जिस देश के साथ पुश्किन, लारमेन्तव, तल्सतय, तुर्गेनिव, गोगल, डस्तयेवस्की की स्मृति सम्बन्धित है, दुनिया के मज़दूर-किसानो की स्वतन्त्रता के उसी केन्द्रस्थल सोवियत् रूस ने रवीन्द्रनाथ को अपनी ओर सर्वदा आकर्षित किया था, लेकिन उनके वहां जाने में बाधाएं भी बहुत थीं। पहली बाधा थी शारीरिक, परन्तु उनके चिरयुवा मानस ने जराग्रस्त शरीर पर सहज ही में विजय प्राप्त की। इसका जिक्र करते हुये रवीन्द्रनाथ ने लिखा है—"यह तो मानना ही पड़ेगा कि मेरी उम्र में मुझ जैसे शरीर वाले का रूस मे भ्रमण करना दुस्साहस था, परन्तु ससार मे जहा सबमे बड़े ऐतिहासिक यज्ञ का अनुष्ठान हो रहा हो, वहां निमन्त्रण पाकर भी न जाना मेरे लिये अक्षम्य होता।" इसके अलावा रवीन्द्रनाथ जिस समय रूस गये थे, उस समय यह देश दुनिया में एक हौआ समझा जाता था। विलायत के साम्राज्यवादी अख़बार उस समय रोज़ इस आशय का व्यंग-चित्र छापा करते थे कि 'क्रेमलिन' में बैठकर लेनिन मनुष्य के कलेजे मे जलपान कर रहे हैं, नरमुण्ड लेकर लेनिन-स्तालिन 'बिलियर्ड' खेल रहे हैं। बोलशेविक ख़ूंख़ार प्राणी होते हैं; वहा धर्म नहीं है, नारी सर्व साधारण जनता की सम्पत्ति समझी जाती है। कलाकारों मे कहा जाता था कि बोलशेविकों ने कला, साहित्य आदि को ध्वंस कर दिया है, वे तलवार दिखलाकर साहित्यकारों से प्रचार-साहित्य तैयार कराते हैं। हमारे देश का शिक्षित (?) समुदाय इस बात पर विश्वास करता था। हमें याद है कि एक बार लाला लाजपत राय ने सरकार को डर दिखाकर कहा था कि वह हिन्दुस्तान को आज़ाद करदे, नहीं तो हिन्दुकुश के उस पार से रूसी रीछ हिन्द को भी लाल कर देगा। हमारे देश के तथाकथित राष्ट्रीयतावादी तथा अन्य समाचार पत्र भी उन दिनों 'टाइम्स' का राग ही अलापा करते थे। रवीन्द्रनाथ रूस जाने वाले हैं, इस बात को सुनकर देश विदेश से उन्हें वहा न जाने के लिये अनुरोध किया जाने लगा। लेकिन उन्होंने इसके जवाब में लिखा है—"मास्को से जब निमन्त्रण मिला, उस समय तक बोलशेविकों के सम्बन्ध में मेरे हृदय में कोई स्पष्ट धारणा नहीं थी।

उनके विषय में बराबर उल्टी बातें सुनता आया था। मेरे मन में उनके विरुद्ध एक खटका-सा था,…क्योंकि प्रारम्भ में उनकी जो साधना थी, वह बलप्रयोग की थी।" आगे चलकर रवीन्द्रनाथ ने लिखा है—"धनबल से दुर्जेय पाश्चात्य सभ्यता के प्रागणद्वार पर देखो, रूस ने आज निर्धन की शक्ति-साधना का आसन बिछाया है—समग्र पश्चिमी महादेश की बाधाओं की उपेक्षा करके। इसे मैं नहीं देखने जाऊंगा तो कौन जायगा? अगर कोई कहता है कि दुर्बलों की शक्ति का उद्घाटन करने के लिये ही उन लोगों ने प्रण किया है, तो हम किस मुख से कह सकते हैं कि तुम्हारी परछाई तक से हमें परहेज़ है!" सन् १९२६ में जब मास्को से निमन्त्रण आया, तो अत्यन्त आग्रह होने पर भी अस्वस्थता के कारण वह उसे पूरा नहीं कर सके। परन्तु १९३० के सितम्बर में जब सोवियत् देश के शिक्षा-मन्त्री लुनाचार्स्की ने स्वय बर्लिन आकर रवीन्द्रनाथ को सर्वहाराओं की तीर्थ-भूमि में ले जाना चाहा, तब प्रगतिशील मानवता के कवि तुरन्त वहां जाने के लिये राज़ी हो गये। ११ सितम्बर को इस युग के महापुरुष को लेकर ट्रेन विशाल जनता के हर्षोल्लास के बीच मास्को के रेलवे टरमिनस में दाखिल हुई।

सोवियत् देश में पहुँचने के पहले कवि ने क्या देखने की आशा की थी और क्या देखा, इसका वर्णन उन्होंने इस प्रकार किया है—

"जब रूस के लिये रवाना हुआ, तब बहुत ज़्यादा की आशा नहीं की थी। क्योंकि कितना साध्य है और कितना असाध्य, इसका आदर्श मुझे ब्रिटिश भारत में मिला है। भारत की उन्नति की दुरूहता (कठिनाई) कितनी अधिक है, इस बात को स्वय ईसाई पादरी टामसन ने बहुत ही करुण शब्दों में दुनियां के सामने रखा है। मुझे भी मानना पड़ता है कि कठिनाई अवश्य है, नहीं तो हमारी ऐसी दशा क्यों होती? यह बात मुझे मालूम थी कि रूस में प्रजा की उन्नति भारत से ज़्यादा मुश्किल थी, कम नहीं।……इसीलिये, मेरे लिये ऐसी आशा करना कि रूस जाकर बहुत कुछ देखने को मिलेगा, अनुचित होता। हमने अभी देखा ही क्या है, और जानते ही कितना हैं, जिससे हमारी आशा का ज़ोर ज़्यादा होता। अपने दुःखी देश में पली हुई निर्बल आशा लेकर रूस गया था। वहां जब रूस में पहुँचा उस समय पहली पंच-वर्षीय योजना के भीतर से कृषि प्रधान इस 'अंधकार महादेश' को उद्योग-धंधे, वैज्ञानिक तथा सामूहिक पचायती खेती प्रधान बनाया जा रहा था। शिक्षा, कृषि तथा उद्योग धंधों ने कवि को अत्यधिक प्रभावित किया।

रूस जाने के पहले ही उन्होंने सुना था कि बोल-शेविक शासन प्रतिष्ठित होने के बाद से वहां ज़ोरों से शिक्षा का प्रचार हो रहा है, लेकिन इस सम्बन्ध में उन्हें कोई स्पष्ट धारणा नहीं थी। उन्होंने समझा था कि हमारे देश की तरह शायद वहां भी मज़दूर-किसानों (कमकरों) को अक्षर-ज्ञान देने का प्रयत्न किया जा रहा होगा। लेकिन वहां की शिक्षा व्यवस्था की व्यापकता, सम्पूर्णता और प्रबलता को देखकर वह विस्मित और मुग्ध हो गये। उन्होंने देखा कि शिक्षा समाज में सभी जगह पहुंच गई है, और इससे प्रत्येक मनुष्य के मन में जागरण और आत्ममर्यादा का आनन्द दिखाई दे रहा है। बोलशेविकों ने एक ओर तो भविष्य के नागरिकों के जीवन को विचारशील और शरीर को बलवान बनाने का सफल प्रयास किया है, और दूसरी ओर वे असख्य बयस्क जनता को जो अब तक सभ्यता के प्राथमिक प्रकाश से भी वंचित थी, बड़ी तेज़ी से पूर्ण मानव में रूपान्तरित करने का ज़बरदस्त प्रयत्न कर रहे हैं। इस सम्बन्ध में रूस और भारत में एक तुलनात्मक दृष्टि डालते हुए उन्होंने लिखा है:—

"मेरा मत यह है कि भारतवर्ष की छाती पर जितना दुःख आज अभ्रभेदी होकर खड़ा है, उसकी एकमात्र जड़ है अशिक्षा। जाति भेद, धर्म विरोध, आर्थिक दुर्बलता—इन सबको जकड़े हुए है शिक्षा की कमी। साइमन कमीशन ने भारत के समस्त अपराधों की सूची समाप्त करने के बाद ब्रिटिश शासन का सिर्फ एक ही अपराध कबूल किया है। वह है

यथेष्ट शिक्षा-प्रचार की कमी। मगर और कुछ स्वीकार करने की ज़रूरत भी नहीं थी। मान लो, यदि कहा जाय कि गृहस्थों ने सावधान होना नहीं सीखा, एक घर से दूसरे घर में जाते हुए वे ठोकर खाकर मुंह के बल गिर पड़ते हैं, हमेशा उनकी चीज़-वस्तु खोती ही रहती है, ढूंढ़ने से नहीं मिलती है; छाया देखकर वे उसे हौआ समझकर डरने लगे हैं, अपने भाई को देख कर 'चोर आया चोर आया' कहकर लाठी लेकर मारने दौड़ते हैं; और आलसी ऐसे हैं कि सिर्फ़ बिछौने मे चिपटकर पड़े रहते हैं, उठकर घूमने फिरने का साहस नहीं करते, भूख लगती है पर भोजन ढूंढ़ने से लाचार हैं, भाग्य पर अंधविश्वास करने के सिवा और सब रास्ते उनके लिए बन्द हैं—अतएव अपनी घर गृहस्थी की देखरेख का भार उन पर नहीं छोड़ा जा सकता है—इसके अलावा अन्त में बहुत धीरे से अगर कह दिया जाय कि हमने उनके घर का दीपक बुझा रखा है, तो कैसा मालूम होता है?"

ज़ार के रूस में अशिक्षा ने कैसा अंधकार का राज्य स्थापित किया था, उसका उल्लेख करके कवि ने लिखा है:—'वे (रूसी) एक दिन निरापराध स्त्री को जलाते थे, पापी कहकर वैज्ञानिक को मारते थे, धर्म-मत की स्वाधीनता को अत्यन्त निर्दयता से कुचलते थे, अपने ही धर्म के भिन्न भिन्न सम्प्रदायों के राष्ट्राधिकार को नष्ट-भ्रष्ट करते थे; इसके अलावा उनमें कितनी अंधता थी और कितनी मूढ़ता थी, कितने कदाचार उनमें भरे हुए थे,—मध्ययुग के इतिहास की यदि उनकी सूची तैयार की जाय; तो उनमें ये सब दुर्गुण मिलेंगे—ये सब दूर हुए किस तरह? बाहर के किसी कोर्ट-आफ़वार्डस् के हाथ उनकी कमज़ोरी के हटाने का भार नहीं सौंपा गया, एकमात्र शक्ति ने ही उन्हें आगे बढ़ाया है, वह शक्ति है उनकी शिक्षा।"

बोलशेविकों ने आधुनिक काल में चलाने वाली प्रागैतिहासिक बर्बरता का अन्त कर दिया। दुनिया के छठवें हिस्से तथा उसकी आबादी के बारहवें अंश के जीवन मे उन्होंने एक नये ऐतिहासिक युग का प्रारम्भ किया। प्राचीन युग के बर्बर अंश को उन्होंने निर्ममता से त्याग किया। इसका अर्थ यह नहीं है कि उसमें जो अच्छे अंश थे, उन्हें उन्होंने नहीं अपनाया। मेकाले प्रवर्त्तित जो शिक्षाप्रणाली भारत में चल रही है; वह हमारे लिये कलंक की बात है। सच्ची शिक्षा का विकास तो तभी होगा, जब समाज में विभिन्न परस्पर विरोधी स्वार्थ के आदमी नहीं होंगे। इसी पर रवीन्द्रनाथ ने लिखा था—"जो कुछ देख रहा हूं, सभी आश्चर्यजनक मालूम होता है। शुरू से आख़ीर तक सभी आदमियों को इन्होंने एक ही प्रकार से जगा दिया है।"

बालक-बालिकाओं की शिक्षा का प्रबन्ध कैसा है, इसे देखने के लिये कवि मास्को के एक कम्यून स्कूल को देखने गए। कवि को *विद्यार्थियों ने अपना* ही समझा। पायोनियर छात्रों ने ही उन्हें शिक्षा-विधान का वर्णन सुनाया। रटाई की पढाई पर बोलशेविकों का विश्वास नहीं है, क्योंकि वहां तो परीक्षा में सफल होना, नौकरी पा जाना शिक्षा का आदर्श नहीं समझा जाता। वहां तो मज़दूर किसान सरकार ने उन्हें काम देने की जिम्मेवारी अपने ऊपर रखी है। प्रत्येक नागरिक को शिक्षा पाने का, सार्वजनिक अनिवार्य प्रारंभिक शिक्षा पाने का, पूर्ण अधिकार है। प्रारंभिक से उच्च शिक्षा तक सभी निःशुल्क होती हैं। उच्च शिक्षण संस्थाओं में प्रायः सभी विद्यार्थियों को सरकार की ओर से छात्र-वृत्ति का प्रबन्ध है। स्कूलों में मातृभाषा ही शिक्षण की माध्यम है। फैक्टरियों, सोवरखोज़ों, मेशीन, ट्रैक्टर स्टेशनों में जांगर चलाने वालों को औद्योगिक टेक-निकल और कृषि-सम्बन्धी निःशुल्क शिक्षा पाने का अधिकार है।

सोवियत् सरकार ने जो कुछ भी किया वह समग्र पूंजीवादी दुनिया की बाधा, गृह-विवाद तथा दुर्भिक्ष आदि का सामना करके। प्रौढ़ों की शिक्षा के सम्बन्ध में कवि ने लिखा है—"पहली पोथी से इन्हें केवल अक्षर ज्ञान कराया गया होगा, मेरा यह ख़्याल तुरन्त दूर होगया। ये लोग इन्हीं कई सालों

में मनुष्य बन गये हैं।" पायोनियर छात्रों ने अपने निरक्षर देश वासियों के बीच से अशिक्षा का अंधकार सदा के लिये हटा दिया है। तीन-तीन पंच वर्षीय योजनाओं ने सोवियत् देशवासियों में सांस्कृतिक क्रान्ति उत्पन्न कर दी है। वैज्ञानिक, राजनीतिक साहित्यिक ऐतिहासिक आलोचनाओं के भीतर से पायोनियर छात्र प्रौढ़ों में उग्र ज्ञान पिपासा जाग्रत कर देते हैं। रेडियो, सिनेमा, नाटक, अजायबघर, पुस्तकालय, स्वाध्याय मंडल, क्लब, कृषि भवन, क्षेत्र-वार अध्ययन, घुमक्कड़ दल आदि के दर्मियान से प्रत्येक सोवियत् नागरिक तथा ग्रामनिवासी पूर्णता की ओर अग्रसर हो रहा है। बोलशेविकों ने बुर्जोआ वर्ग को ध्वंस किया है, लेकिन सभ्यता और सस्कृति के क्षेत्र में उनके अवदानों को अपनाया है। पहले मुट्ठी भर सम्पन्न शिक्षित लोग कला आदि के मर्मज्ञ थे। लेकिन आज बोलशेविकों के महान प्रयत्न से अभी उस दिन तक जो लोग निरक्षर और असभ्य समझे जाते थे, वे भी ज्ञान-विज्ञान की साधनाओं की क़द्र कर रहे हैं। रवीन्द्रनाथ मास्को मे एक दिन तल्मतय का 'पुनर्जन्म' (Resurrection) नाटक देखने गये। मज़दूर किसान दर्शकों से नाट्य गृह बिल्कुल भरा हुआ था। पुनर्जन्म' जैसे उच्च विचारो के गम्भीर नाटक को उन्होंने अखण्ड ध्यान से देखा, यह देख कर कविगुरु को अपार अचरज हुआ। हमारे देश के मज़दूर-किसानो की बात जाने दीजिये, यूरोप के किसी भी देश के कर्मकरों के लिए यह असाधारण बात है। मास्को की विख्यात त्रेतियाकव कला प्रदर्शनी (Tretyakov gallery) मे १९२८ से २९ में तीन लाख आदमी चित्र देखने गये थे। इस तरह की प्रदर्शनिया सारे देश में फैली हुई हैं। अभिज्ञ कलाकार जनता को विख्यात कलाकारों की कृतियों का रसास्वादन करना सिखाते हैं। मास्को में रवीन्द्रनाथ अंकित चित्रों की एक प्रदर्शनी खोला गई थी। उन्हें देखने के लिए अपार भीड़ आई। रवीन्द्रनाथ ने इस सम्बन्ध में लिखा है—"दूसरे लोग कुछ भी क्यों न कहे, मैं तो इनकी रुचि की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकता।" उपर्युक्त उदाहरणों से बुद्धिमान पाठक-पाठिकाएं समझ सकती हैं कि जनगण की मानसिक तथा शारीरिक उन्नति किस सामाजिक-परिस्थिति मे समाज के किस वर्ग के द्वारा सम्भव हो सकती है। चिर वंचित निरक्षर जनता को साम्यवाद ने दिया है—स्वतंत्रता और नवीन जीवन का स्वाद। कवि नज़रुल इसलाम की भाषा में कहा जा सकता है:—"आकाश बातास बाहिरेर आलो, एबार नयने लागियाछे भालो।"

क्रान्ति से पूर्व का रूस हिन्दुस्तान की तरह कृषि प्रधान था। खेती भी प्राचीन तरीक़ों से होती थी। लेकिन मशीन तथा विज्ञान के प्रयोग से इसमें भी मौलिक क्रान्ति हुई है। व्यक्तिगत् खेती तथा खेतों से कितना नुक़सान होता, यह बताने की ज़रूरत नहीं। आज सारे रूस में पंचायती खेती होती है। (खेती के पुराने तरीक़ों—पुरानी व्यक्तिगत खेती तथा पुराना हल देखने के लिए अब बच्चो को अजायबघर में जाना पड़ता है।) जिगान्त नामक एक स्थान में एक खेत ४५ मील लम्बा और २५ मील चौड़ा है। उपज भी ४ से ६ गुनी बढ गई है। किसानों को अब अपनी ज़िन्दगी सिर्फ़ गावों में ही नहीं बितानी पड़ती (वहा के गावों को भी अब शहर का 'गुटका' समझना चाहिए।) वे सरकारी ख़र्च से साल में तीन हफ़्ते शहरों में बिता सकते हैं। वहां रह कर वह तरह तरह की चीज़ों को देखते हैं; आनन्द पाने के साथ उनकी बुद्धि भी बढ़ती है। पहले ही कहा गया है कि शिक्षा, खेती और मशीन इन तीनों का काम एक ही साथ चल रहा है। रवीन्द्रनाथ ने इस सम्बन्ध में कहा है :—"इनके खेतों की खेती मन की खेती के साथ आगे बढ़ रही है।"

यह इसी कृषि नीति का फल है कि आज मध्य-एशिया की ऊसर, बंजर ज़मीन, आर्किटिक तथा साइबेरिया के शीत-प्रधान स्थानों में दूसरा यूक्रेन बन गई है।

बोलशेविकों ने कृषि की उन्नति के साथ ही साथ देश भर में कल कारखानों को स्थापित कर दिया है। डन, नीपर, वोल्गा के तट तथा उस पार, मध्य एशिया तथा यूराल के उस पार खनिज पदार्थों के मिलने वाले स्थानों के पास ही विशाल कारखाने बने हैं। इसी दूरदर्शी नीति के कारण दो एक स्थानों को छोड़कर पश्चिमी यूक्रेन में समग्र उद्योग का सिर्फ १९ वा भाग ही स्थापित किया गया था।

अनेक लोगों का ख्याल है कि रवीन्द्रनाथ ने मशीनों की उपयोगिता को स्वीकार नहीं किया है। पर यह बात निराधार है। उनके प्रगतिशील हृदय ने वर्त्तमान औद्योगिक सभ्यता की त्रुटि को ठीक ठीक पकड़ लिया है। उन्होंने लिखा है:—"इन नाना जातियों ने जो कल कारखानों का रहस्य समझने के लिये इतना मुक्त उत्साह और सुविधा पाई है, उसका एक मात्र कारण है कि मशीनों को अब व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि के उद्देश्य से काम में नहीं लाया जाता है। हम अपने लोभ के लिये मशीन को दोष देते हैं, नशाखोरी के लिये सजा देते हैं ताड़ के पेड़ को। यह वैसा ही है जैसे मास्टर साहब अपनी कमज़ोरी की सज़ा लड़कों को बेंच पर खड़ा करके देते हैं।"

रूस में प्रधानतः मज़दूरों ने ही क्रान्ति की थी, किसानों का भी सहयोग उन्हें मिला था। अतएव उद्योग धन्धों की उन्नति के साथ ही साथ मज़दूरों का रहन सहन ऊंचा होगा, यह स्वाभाविक ही है। किसानों की तरह मज़दूरों के लिये भी क्लब, अजायबघर, सांस्कृतिक केन्द्र, पुस्तकालय, रेडियो, विश्रामालय आदि का प्रबन्ध किया गया है। अभिज्ञ वैज्ञानिकों के नेतृत्व में उन्होंने मशीनों को मनुष्य का दास बनाया है। हर मज़दूर से प्रतिदिन ७ घण्टे काम लिया जाता है और उनका हफ़्ता भी पाच ही दिन का होता है। वृद्धावस्था में सरकार ने समुचित पेन्शन की व्यवस्था की है। इन सब इन्तज़ामों को कवि ने अपनी आंखों से देखा। मेरे गुरू राहुलजी ने रूस से लौटकर मुझे एक बात बताई थी, जिससे वहा के मज़दूरों के रहन सहन का पता चल जाता है। एक दिन वह मास्को में टहलते टहलते नदी के किनारे मज़दूरों के खेल के मैदान में जा पहुँचे। वहा बहुत से हृष्ट पुष्ट सभ्य, सुसस्कृत मजदूर खेल रहे थे। उन्होंने पूछा—"क्यों भाई, आप लोग किस विश्वविद्यालय के विद्यार्थी हैं?" इस पर उन लोगों ने हंसकर जवाब दिया—"महाशय, हम मज़दूर हैं और अपनी छुट्टी का समय मनोरजन में बिता रहे हैं।"

उपर्युक्त कार्य सिर्फ यूरोपीय रूस की जातियों के लिये ही नहीं, सोवियत् देश की सभी जातियों के लिये किया जा रहा है। बल्कि पिछड़ी हुई जातियो के लिये तो विशेष व्यवस्था की गई है। उनके लिये अधिक खर्च किया जाता है। इन 'पिछड़ी हुई जातियों' के बारे मे रूस मे रहने के समय उन्होंने काफी अध्ययन किया था। तुर्कमेनिस्तान, उज़बेकिस्तान आदि की पिछड़ी हुई जातियों की शिक्षा के लिये करोडो रूबल व्यय किया जाता है। बासकिरिया एक छोटी सी रिपब्लिक है। वहा पहले शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं थी। आठ साल मे (१९३० तक) सरकारी चेष्टा मे वहा आठ नार्मल स्कूल, पांच कृषि विद्यालय, एक मेडिकल विद्यालय, कारखाने के १७ स्कूल, प्राथमिक शिक्षा के लिए २४९५ और मध्य-प्राथमिक शिक्षा के लिये ८७ स्कूल चलाये जा रहे हैं। बासकिरिया में थियेटर, अजायबघर, पुस्तकालय, सिनेमा, कृषि-भवन तथा मनोरंजन गृह अनगिनत संख्या में खोले गये हैं। तुर्कमेनिस्तान की आबादी सिर्फ साढ़े दस लाख है। वहां १९२९ में १३० हास्पिटल स्थापित करके भी इसे यथेष्ट नहीं समझकर सरकार शर्मिन्दा हुई थी। तुर्कमनों में शिक्षक तैयार करने के लिये मास्को में 'तुर्कमन जाति का शिक्षा भवन' (Turkomen Peoples Home of Education) है। ज़ार के शासन काल में उपनिवेशों में उद्योग धन्धों को किसी प्रकार का प्रोत्साहन नहीं दिया जाता था। बल्कि जानबूझकर ऐसा प्रयत्न किया जाता था कि वे सदा के लिये कृषि प्रधान बने रहें। लेकिन सोवियत् सरकार ने उन्हें भी उद्योग प्रधान बना लिया

है। इन्हीं बातों को देखकर रवीन्द्रनाथ ने लिखा था—"आज दुनियां में कम से कम इसी देश के लोग अपने निजी स्वार्थ से ऊपर उठकर समग्र मानव के स्वार्थ की बात पर विचार कर रहे हैं।" ज़ार के शासन काल में विभिन्न उपनिवेशों के लोगों को आपस में लड़ाकर साम्राज्यवादी शासन की जड़ मजबूत बनाई जाती थी। इस सम्बन्ध में सोवियत् सरकार के एक बुलेटिन से निम्नलिखित उद्धरण उन्होंने दिया है—

"ज़ार की सरकार के एजेण्ट बुरी तरह से 'फूट फैलाओ और शासन करो' के सिद्धान्त का पालन कर रहे थे। विविध जातियों के बीच वे अपने वशभर घृणा और फूट के बीज बो रहे थे। सरकार जातिगत राष्ट्रीय वैर को बढ़ावा दे रही थी। मुसलमानों और आर्मेनों को विधिवत् एक दूसरे के ख़िलाफ़ उकसाया जाता था। इन दोनो जातियो के बीच सदा होने वाले संघर्ष बहुधा क़त्लेआम का रूप ले लेते थे।"*

लेकिन सोवियत् शासन के बाद, जब सभी जातियां स्वतन्त्र हो गई, तो अब जातीय-विद्वेष और स्वार्थ-विरोध नहीं रह गया। अब साम्प्रदायिक दंगों या यहूदियों के विरुद्ध ईसाइयों के 'पोगरम' (Pogrom) अतीत की बातें हो गई हैं। इस सम्बन्ध में एक बुलेटिन में लिखा गया है—

"यह एक निश्चित सत्य है और इससे सोवियत् के भयङ्कर दुशमन भी इन्कार नहीं कर सकते कि पिछले ८ वर्षों से अज़रबाइजान की जातियों की शान्ति कभी भङ्ग नहीं हुई।" †

रवीन्द्रनाथ आजन्म नारी के सामानाधिकार की माग के प्रबल समर्थक रहे हैं। रूस जाने के बहुत दिन पहले ही उन्होंने लिखा था—

"देवी नहिं, नहिं आमि सामान्य रमणी।
पूजा करि राखिबे माथाय, से ओ आमि
नइ, अबहेला करिया पुषिया राखिबे
पिछे सेओ आमि नइ, यदि पार्श्वे राख
मोरे संकटेर पथे, दुरुह चिन्तार
अंश दाओ, यदि अनुमति कर
कठिन व्रते तब सहाय हइते,
यदि सुखे दुःखे मोरे कर सहचरी
आमार पाइबे तबे परिचय।"

रूस जाकर रवीन्द्रनाथ ने देखा कि उनका स्वप्न उस देश मे सोलहो आने सफल हुआ है। सामन्तशाही के युग में नारी दासी—मनोरंजन की सामग्री—समझी जाती थी। उदार दार्शनिकों ने पुस्तकों में उसे देवी का आसन भले दे दिया था, लेकिन अर्थनीतिक और सामाजिक दृष्टि से वह हमेशा दासी रही है; और फ़ैसिस्ट समाज मे तो नारी पुरुषों के भोग की सामग्री तथा बच्चा पैदा करनेवाली मशीन बना दी गई है। रूस में नारी को सभी क्षेत्रों में पुरुषों के बराबर अधिकार मिले हैं। दुनियाँ के इतिहास में ऐसी बात किसी भी समय नहीं देखी गई है। रवीन्द्रनाथ जब कृषि-भवन देखने गये, तब उन्होंने देखा कि पञ्चायती खेती की सफलता के मूल में है *नारी कृषि कर्मिणियों की साधना। नारी वहां*

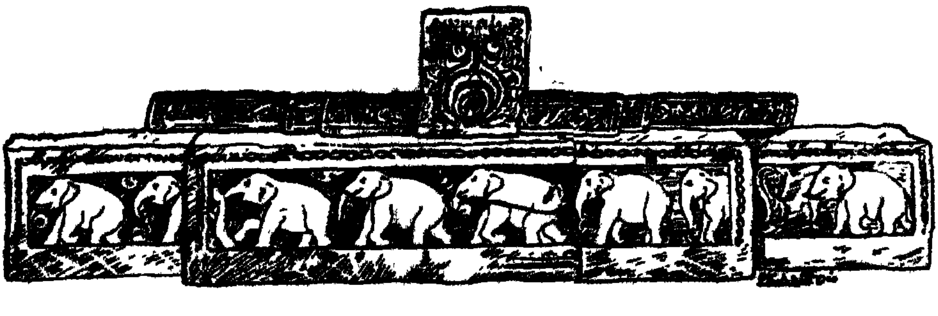
*The agents of Czars' Govt were ruthlessly carrying out principle of divide and rule and did all in their power to sow hatred and discord between the various races National aminosities were fostered by the Govt and Mohammedans and Armenians were systematically incited against each other The ever-recurring conflicts between these two nations at times assumed the form of massacres "

† It is an undoubted fact, which even the worst enemies of the Soviets cannot deny. For the last eight years the peace between the races of Azerbaizan has never been disturbed

पुरुष की 'कर्म-सहचरी' (तवारिश-Tovarish) है। पुरुष के साथ हाथ मिलाकर नारी ने आज एक नवीन और अभूतपूर्व सभ्यता स्थापित की है।

रवीन्द्रनाथ ने दुनियां के अनेक देशों को देखा था। लेकिन रूस को देखकर वे अत्यधिक प्रभावित हुए थे। इस बात को उन्होंने मुक्तकंठ से स्वीकार किया है। सोवियत् देश ने उन्हें क्यों आकर्षित किया था, इस प्रश्न के उत्तर में उन्होंने लिखा है:—"वहा की जो छबि मेरे मन मे मूर्तिमान हो गई है, उसके पीछे झूल रही है भारतवर्ष की दुर्गति की काले रंग की पट-भूमिका।" सोवियत् के नवीन मानव की विजय-यात्रा देखकर कवि को अपार आनन्द हुआ था, लेकिन मातृभूमि की दुर्दशा देखकर उनके दुःख का अन्त नहीं होता था। रवीन्द्रनाथ ने अत्यन्त दुःख के साथ लिखा है 'बर्लिन पहुँचते ही तुम्हारी दोनों चिट्ठिया एक साथ मिलीं। घनी वर्षा की यह चिट्ठी है, *शान्तिनिकेतन के आकाश में शाल वन के ऊपर मेघों की छाया होगी और जल की धारा से सावन निकट आता जा रहा होगा*, वह छबि उदित होने पर मन उत्सुक हो उठता है, यह तुम्हें बताने की ज़रूरत नहीं। सोच रहा हूं सिर्फ अपने देश के किसानों के दुःख की बात।" रूस की उन्नति को कवि ने तुलनात्मक दृष्टि से देखा था। उससे अपने देश की अवस्था की उन्होंने तुलना की है। क्रान्ति के पहले अर्थात् आज से २४ साल पहले दोनों देशों में कोई अन्तर नहीं था। कुछ बातों में तो रूस और भी पिछड़ा हुआ था। इसे देखकर रवीन्द्रनाथ ने धिक्कारा है पूंजीवादी समाज व्यवस्था तथा साम्राज्यवादी शासन को। दूसरी ओर दुनिया के भविष्य के लिये उन्हें अनुप्रेरणा मिली है सोवियत् देश से।

रवीन्द्रनाथ मार्क्सवादी या समाजवादी नहीं थे। तिस पर भी उन्होंने स्वीकार किया है—"**यह बात असम्भव नहीं है कि वर्तमान अस्वस्थ युग में बोलशेविक नीति ही दवा है।**" पूंजीवादी दुनियां के विरोधी प्रचारों से जिसका प्रभाव हमारे देशवासियों पर भी पड़ा था, रवीन्द्रनाथ ने रूस को मुक्त किया था। उनकी इस यात्रा से भारतवर्ष को एक नवीन प्रेरणा मिली है। रवीन्द्रनाथ ने निःसंकोच होकर कहा है—"अपनी आखों से देखे बिना मैं इस बात पर हर्गिज विश्वास नहीं करता कि अशिक्षा तथा अपमान के *निम्नतम स्तर से आज सिर्फ दस वर्षों में ही लाखों करोड़ों आदमियों को इन्होंने केवल क, ख, ग ही नहीं पढाया है, उन्हें मनुष्यत्व से सम्मानित किया है।* सिर्फ अपनी ही जाति को नहीं अन्य जातियों के लिए भी इन्होंने उसी प्रकार से चेष्टा की है। लेकिन साम्प्रदायिक धर्म के मनुष्य अधार्मिक कहकर इनकी निन्दा करते हैं। धर्म क्या पोथी के पन्नों में ही है, देवता क्या मंदिर के प्राङ्गण में ही है मनुष्य को जो हमेशा धोखा देते हैं उनमें देवता कहा!"



जो रेखायें न कह सकेंगी

श्री महादेवी वर्मा



श्री महादेवी वर्मा

मुख की सौम्यता को घेरे हुए वह रजत आलोक-मण्डल जैसा केशकलाप—मानों समय ने ज्ञान को अनुभव के उजले झीने तन्तु में कातकर उससे जीवन का मुकुट बना दिया हो। और उस बिखरी उज्ज्वलता के दीप्त दर्पण जैसे माथे पर समानान्तर रह कर भी साथ चलने वाली रेखायें जैसे लक्ष्यपथ पर हृदय के विश्राम हों।

कुछ उजली भृकुटियों की छाया में चमकती हुई आंखे देखकर हिमरेखा से घिरे अथाह नील जलकुण्डों का स्मरण हो आना ही सम्भव था। दृष्टिपथ की बाह्य सीमा छूते ही वे जीवन के रहस्य-कोर सी आंखें एक स्पर्श मधुर सरलता राशि-राशि बरसा देती थीं अवश्य, पर उस परिधि के भीतर पैर धरते ही वह सहज आमन्त्रण दुर्लंघ्य सीमा बनकर हमारे अन्तरतम का परिचय पूछने लगता। उस श्यामता से आती हुई रश्मिरेखा जैसी दृष्टि से हमारे हृदय का निगूढ़तम परिचय भी न छिप सकता और न बहुरूपिया बन पाता।

अतिथि का हृदय यदि अपने मुक्त स्वागत का मूल्य नहीं आंक सकता, उसकी गहराई की थाह नहीं ले सकता तो उसे, उस असाधारण जीवन के परिचय भरे द्वार से अपरिचित ही लौट आना पड़ता। प्रत्येक बार पलकों का गिरना उठना मानो हमीं को तोलने का क्रम था इसी से हर निमेष के साथ कोई अपने आपको उस सहृदय कलाकार के एक पग और निकट पाता और कोई एक पग दूर।

उस व्यक्तित्व की, अनेक शाखाओं उपशाखाओं मे फैली हुई विशालता, सामर्थ्य मे और अधिक सघन होकर किसी को उद्धत होने का अवकाश नहीं देती, उसकी सहज स्वीकृति किसी को उदासीन रहने का अधिकार नहीं सौंपती, और उसकी रहस्यमयी स्पष्टता किसी को कृत्रिम बन्धनों से नहीं घेरती। जिज्ञासु जब कभी साधारण कुतूहल में फिसलने लगता तब वह स्नेह सरलता, हिम का दृढ़ स्तर बन जाने वाले जल के समान कठिन होकर उसे ठहरा लेना नहीं भूलती। इसीसे उस असाधारण साधारणता के सम्मुख हमें यह समझते देर नहीं लगती कि मनुष्य मनुष्य को, कुतूहल की संज्ञा देकर स्वयं भी अशोभन बन जाता है।

प्रशान्त चेतना के बन्धन के समान मुख पर बिखरी रेखाओं के बीच में उठी हुई सुडौल नाक को गर्व के प्रमाण पत्र के अतिरिक्त कौन सा नाम दिया जावे! पर वह गर्व मानो मनुष्य होने का गर्व था



इतर अहंकार नहीं; इसीसे उसके सामने मनुष्य, मनुष्य के नाते प्रसन्नता का अनुभव करता था स्पर्धा या ईर्ष्या का नहीं।

दृढ़ता का निरन्तर परिचय देने वाले अधरों से जब हँसी का अजस्र प्रवाह बह चलता तब अभ्यागत की स्थिति वैसी ही हो जाती जैसी अडिग और रन्ध्र-हीन शिलाओं के बीच से फूट निकलने वाले निर्झर के सामने सहज है। वह मुक्त हास स्वयं बहता और हमें बहाता चलता और हमारे अपने बीच के विषम और रूखे अन्तर को अपनी आर्द्रता से भरकर सम कर देता। उसका थमना हमारे लिये एक संगीत लहरी का टूट जाना था जो अपनी स्पर्शहीनता से ही हमारे भावों को छू छू कर जगाती हुई बह जाती है। वाणी और हास के बीच की निस्तब्धता में हमें उस महान जीवन के संघर्ष और श्रान्ति का एक अनिर्वचनीय बोध होने लगता परन्तु, वह बोध हार जीत की न जाने किस रहस्यमय सन्धि में खड़े होकर दोहराने तिहराने लगता—'तुम इसे हार न कहना, क्लान्ति न मानना—

अपनी कोमल उंगलियों से, असंख्य कलाओं को अटूट बन्धन में बांधे हुए अपने प्रत्येक पद निक्षेप को, जीवन की अमर लय का ताल बनाये हुए वह कलाकार जब आंखों से ओझल हो जाता तब हम सोचने लगते—हमने व्यक्ति देखा है या किसी चिरन्तन राग को रूपमय!

विश्ववाणी का उद्देश्य और आधार

बारह महीने पूर्व गुरुदेव रवीन्द्रनाथ के आशीर्वाद से हमने जन्म लिया था और गुरुदेव के प्रति नम्र श्रद्धाञ्जलि के साथ हमारा यह पहला वर्ष समाप्त हो रहा है। इस एक वर्ष में हम हिन्दी साहित्य की कितनी सेवा कर सके इसका फैसला तो हमारे प्रेमी पाठक ही करेंगे। हिन्दी मासिक साहित्य में अपने आगमन को हमने एक दुस्साहस ही समझा था, किन्तु हमारे बुज़ुर्गों की कृपा और हमारे पाठकों के प्रेम ने हममें अनुपम आशा का संचार किया और हमारे भीरु हृदय को बल दिया।

जिन दो महान सिद्धान्तों को लेकर विश्ववाणी ने जन्म लिया है वे हैं—

(१) अहिंसा का प्रतिपादन और

(२) भारतीय जीवन की एकता

अहिंसा

अहिंसा का सिद्धान्त एक महान सिद्धान्त है। अहिंसात्मक असहयोग इसका साधन है। थोड़े ही दिनों के अन्दर इसने हिन्दुस्तान में नई रूह फूंक दी, हिन्दुस्तान को आत्मत्याग का पाठ पढ़ाया और हममें कष्टसहन की वह ताक़त पैदा कर दी, जो किसी भी अन्याय के सामने झुकना नहीं जानती। आज विकराल युद्ध की पाशविकता ने दुनिया की अनुभवशक्ति को कुण्ठित कर रखा है। भौतिक विजयों की चकाचौंध ने दुनिया की आंखों पर परदा डाल रखा है किन्तु ज्योंही यह अप्राकृतिक स्थिति समाप्त होगी दुनिया इस आन्दोलन की वास्तविक महत्ता को देख और समझ सकेगी।

भारतीय जीवन की एकता

हिन्दुस्तान का शुरू से अब तक का सारा इतिहास एक सुन्दर और सिलसिलेवार कहानी है। उसकी सारी अलग-अलग कड़ियां शरीर के अलग-अलग अंगों की तरह एक दूसरे से जुड़ी हुई हैं। शुरू से अब तक इस देश ने जिन आदर्शों को अपने सामने रखा है, उन सबमें एक अखण्ड एकता व्याप्त है। देश का सारा मनुष्य-समाज एक कुटुम्ब, बल्कि एक शरीर की तरह है। इस देश की यह अखण्ड एकता ही भारत की असली और अमर आत्मा है। हमारे अलग-अलग धर्मों, अलग-अलग सम्प्रदायों, तरह-तरह के रीत रिवाजों, संस्थाओं, उद्योग-धन्धों, कला, चित्रकारियों, विद्याओं फ़लसफ़ों और दर्शन शास्त्रों, सबके अन्दर व्याप्त होकर यही एकता उन सबको एक सुन्दर सार्वाङ्गिक भारतीय जीवन के अङ्ग प्रत्यंग बनाए हुए है। हमारे इतिहास की जयों और पराजयों, हमारे संग्रामों, हमारी उम्मीदों और हमारी मायूसियों सबके अन्दर वही एकता रमी हुई है। इन सब परिवर्तनों में भी हमारे जीवन की वही एकता क़ायम रही है और क़ायम है। भारत की इसी आत्मा ने द्रविड़ जाति के पहले के भारतवासियों, द्रविड़ों और उनके बाद के आर्यों, इन सबको मिलाकर पुराने समय के संयुक्त भारतीय समाज की रचना की थी। यही हमारे इतिहासका सबसे पहला अध्याय है। आगे चलकर भारत की इसी आत्मा ने सांस्कृतिक समन्वय का और भी बढ़िया चमत्कार कर दिखाया। एक ओर पुराने हिन्दू धर्म में सम्प्रदायों, सिद्धान्तों, नामों और रूपों का रङ्गारङ्गी बाहुल्य और उसके साथ साथ इन सब में रमी हुई, सबसे ऊपर और सब को जीवन देने वाली एकता का साक्षात अनुभव, और दूसरी ओर इसलाम का कठोर एकेश्वरवाद, उसके शून्य देवालय, रूखी बेलौस पूजा विधि, और परलोक की कंपा देने वाली कल्पनाएं, इन दोनों को मिलाकर एक कर देने का कार्य क़रीब क़रीब असम्भव मालूम होता था। किन्तु भारत की समन्वयात्मक आत्मा ने उसी असम्भव को सम्भव कर दिखाया। जो उच्च आध्यात्मिक समन्वय उसने इन दोनों के मेल से पैदा किया, उसके द्वारा अद्वितीय इमारतों और चित्रकारियों, कविताओं और संगीत और इनसे भी बढ़कर 'प्रेम धर्म' की वे अमर स्मृतियां खड़ी हो गई, जो हमें मध्यकालीन भारत से विरसे में मिली

हैं और जिन पर हिन्दू और मुसलमान दोनों को गर्व हो सकता है।

'विश्ववाणी' भारतीय आत्मा की जाग्रति और भारतीय एकता की इस प्रगति को आगे बढ़ाने की भरसक कोशिश करेगी। ताकि भारत के रहनेवाले सब धर्मों, सम्प्रदायों और जातियों के लोग इस बात को साक्षात् कर सकें कि यद्यपि समुद्र के ऊपर असंख्य लहरें उठती और दबती रहती हैं और हवा के झोंके समुद्र की सतह पर तरह तरह के रङ्ग बिरंगे दृश्य पैदा करते हैं, कभी तूफान उठता दिखाई देता है और कभी समुद्र की सतह निश्चल प्रतीत होती है, तथापि इन सब दृश्यों और विभिन्नताओं के अन्तर्गत वही एक विशाल, प्रतिष्ठ, अखंड और अचल समुद्र है, जो इन सब परिवर्तनों के बाद भी ज्यों का त्यों रहता है।

अपने इस उद्देश्य को पूरा करने मे कठिनाइयों, भ्रान्तियों और बाधाओं का एक पहाड़ हमारे सामने है। किन्तु हमें इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि इस पहाड़ के उस पार विजय हमारी बाट जोह रही है।

संक्षेप में विश्ववाणी—

१—देश के अन्दर और बाहर मनुष्य मात्र की एकता और समता का प्रतिपादन करेगी।

२—राजनीति का सदाचार के साथ नाता जोड़ेगी,

३—समस्त मनुष्य समाज के विचारों और प्रयत्नों मे सामञ्जस्य लाने और दर्शाने की चेष्टा करेगी,

४—धर्मों, जातियों और सम्प्रदायों के विरोध को मिटाने का प्रयत्न करेगी,

५—आर्थिक क्षेत्र में न्याय और समता क़ायम करने की कोशिश करेगी,

६—मनुष्य मात्र के लिये स्वतन्त्रता, स्वराज्य और स्वावलम्बन का समर्थन करेगी, और

७—अधिक पूर्ण, अधिक समृद्ध, अधिक सुखमय, अधिक प्रेममय और अधिक संयुक्त राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन तक पहुँचने में पाठकों का अपनी शक्तिभर हाथ बटावेगी।

हम आशा करते हैं हमारे पाठक अपनी सहानुभूति, अपने प्रेम, अपनी रचनात्मक आलोचना और अपनी सलाहों से हमारी सहायता करते रहेंगे।

विश्वभारती पत्रिका के प्रकाशन का आयोजन

साहित्य और संस्कृति सबंधी हिन्दी त्रैमासिक

सम्पादक श्री हज़ारीप्रसाद द्विवेदी

शान्तिनिकेतन में हिन्दी-भवन की स्थापना के अवसर पर स्वर्गीय कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने यह इच्छा प्रकट की थी कि विश्वभारती से एक ऐसी हिन्दी पत्रिका प्रकाशित हो, जिसके द्वारा भारतवर्ष की साहित्यिक और सांस्कृतिक साधना का जो कुछ सर्वोत्तम है, उसका नियमितरूप से प्रचार और उन्नयन होता रहे। भारतवर्ष की वर्तमान अवस्था का विश्लेषण करके उन्होंने दिखाया था कि देश आज जिस प्रकार नाना भांति की संकीर्णताओं का शिकार बनता जा रहा है उससे रक्षा पाने का सर्वोत्तम साधन साहित्य ही है। एक बार उन्होंने कहा था कि, "आज जो हिन्दू मुसलमानों का लज्जाजनक विद्वेष देश को आत्मघात की ओर प्रवृत्त कर रहा है, उसकी जड़ में है सारे देश में फैली हुई अबुद्धि।··· अपने आदमियों को ही वह शत्रु बनाये दे रही है, विधाता को हमारे विरुद्ध किये दे रही है। अन्त में अपना सर्वनाश करने की हमारी ज़िद यहां तक बढ़ गई कि आज हम अपनी ही भाषा को तोड़-फोड़ डालने की कोशिश से भी बाज़ नहीं आ रहे। सब तरह के मतभेद होते हुये भी शिक्षा और साहित्य का जो उदार-क्षेत्र एक-राष्ट्रीय मनुष्यों के मिलने का स्थान है, वहां भी हमारे कांटे बोने का उत्साह कम नहीं हुआ। हम दुःख पा रहे हैं; दुःख पाने मे ऐसी कोई शर्म की बात नहीं है, किन्तु देश भर

[illegible] आकांक्षा [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] वह [illegible] यह [illegible] शिक्षा [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है या नहीं।

[illegible] निश्चय [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] इसलिये [illegible] अनुसरण [illegible] जाग्रत नहीं रहती, [illegible] बात में [illegible] बात का आशङ्का है।

[illegible] हमारी वर्तमान अवस्था में साहित्य [illegible] सबसे मजबूत वाहन है [illegible] देश [illegible] बड़े विश्वविद्यालय विदेशी [illegible] करने के कारण नहीं कर [illegible] करने का भार [illegible] हुये हैं, और [illegible] पूर्ण होते रहने के कारण उसके [illegible] दिशा में जाने का भय है। [illegible] साहित्य के प्रचार और [illegible] की बात कहता है जो शरीर, मन, बुद्धि और [illegible] को [illegible] में [illegible] बना सकता हो [illegible] और इस में से किसी एक को भी [illegible] न करता हो। [illegible] यह साहित्य [illegible] [illegible] [illegible] महायक [illegible] [illegible] नाना [illegible] नाना धर्म और नाना जातियां हैं। इसी कारण [illegible] वाणी ही [illegible] का [illegible] [illegible] आचार का [illegible] स्वीकार करता।"

[illegible] के अवसर पर [illegible] के प्रकाशन [illegible] इच्छा प्रकट की थी, वह [illegible] [illegible] बहुत दिनों तक [illegible] के कारण [illegible] इच्छा कार्यरूप में परिणत न [illegible]। अब आप [illegible] जानकर हर्ष होगा कि [illegible] [illegible] उदार सहायता [illegible] [illegible] इसे अत्यन्त दुःख [illegible] कहना पड़ता है कि इस पत्रिका के प्रकाशन [illegible] कुछ आयोजन [illegible] जीवितावस्था [illegible] चुका था, परन्तु उनकी बीमारी और स्वर्गवास के कारण उसमें विलम्ब होता [illegible]। अब आयोजन सम्पूर्ण हो गया है और पत्रिका का प्रथम अङ्क आगामी [illegible] प्रकाशित करने का निश्चय किया गया है।

हिन्दी भवन, शान्तिनिकेतन, विनीत
कार्तिकी पूर्णिमा हजारी प्रसाद द्विवेदी
सं० १९९८ (सम्पादक)

THE SOVIET RUSSIA NUMBER

NOVEMBER '41

"From a small beginning the Journal has changed out of all recognition, so rapid has been the progress," is the unanimous opinion of one and all.

about

THE STUDENT

And now it comes to give you another treat—a volume of information to be out in November '41

THE SOVIET RUSSIA NUMBER

It will contain articles on topics including the following :—

1. Youth Movement
   by M Farooqi
2. Soviet Foreign Policy
   by Santi Dhawan Bar-at-Law
3. How S R solved the Minority Problem
   by Prof Hiren Mukherjee
4. Women in S R
   by Indira Nehru
5. Racial Equality in S R
   by Dean of Canturbury
6. Trends and Personalities in Soviet Literature
   by V Narvane
7. From Proletariate to free and happy working class
   by Rahul Sankrityayan
8. The Might of the Red Army
   by Rahul Sankrityayan
9. Economic Development in U S S R
   by S K Acharjee
10. Art and Literature in Soviet Union
    by Prof Humayun Kabir, M L C
11. Examination System In S R
    by D Sanghi
12. Science in U S S R
    by Prof D Kosambi
13. Soviet Patriotism
    by B N Mukerji M. A, LL B
14. Fighting Crime in S R
13. Posters and Cartoons in S R
    by Sarala Gupta

It will be a unique hand-book of information

Book your order immediately Avoid Disappointment

Pages 100......Price 0-8-0 (per copy)

FREE TO ANNUAL SUBSCRIBERS.

ENROLL YOURSELF AS SUBSCRIBER IMMEDIATELY

Annual subscription Rs 3 only For students enrolling before 31st. Dec '41 Rs 2-8-0 only.

All prices and subscriptions must be sent in advance No V P P sent

GOLDEN OPPORTUNITY FOR ADVERTISERS.

For details write to :—

Manager 'THE STUDENT'
Andherdeo, Jubbulpore, C. P.

विश्ववाणी

साउथ मलाका, इलाहाबाद
तारीख ३ दिसम्बर, १९४१

अपने पाठकों से

मान्य बन्धु,

'विश्ववाणी' को निकलते एक साल पूरा हो गया। इस बीच देश और विदेश के महान लेखकों ने और हमारे सहृदय पाठकों ने जिस प्रेम के साथ हमारा हाथ बटाया है यह उसी का परिणाम है कि 'विश्ववाणी' आज हिन्दी मासिक पत्रिकाओं में सर्वश्रेष्ठ समझी जाती है। जो कुछ हम कर सके हैं वह हमारे पाठकों के ही स्नेह, सहयोग और सहानुभूति का परिणाम है।

जनवरी १९४२ से 'विश्ववाणी' अपने दूसरे वर्ष में प्रवेश कर रही है। यह जनवरी का अङ्क हमारा 'विशेषाङ्क' होगा। इस अङ्क के लिये हम पूरे छै महीने से प्रयत्न कर रहे हैं। हमारा दावा है इससे अधिक महत्वपूर्ण अङ्क किसी भी भारतीय मासिक पत्रिका ने आज तक प्रकाशित नहीं किया। हमारा प्रयत्न है कि अगले साल हम देश और विदेश के प्रसिद्ध लेखकों की लिखी हुई और भी बहुमूल्य सामग्री पाठकों की सेवा में भेंट कर सकें। किन्तु हमारे यह प्रयत्न तभी सफल हो सकते हैं जब हमें अपने उदार पाठकों का सहयोग बराबर मिलता रहे और 'विश्ववाणी' का अधिक से अधिक प्रचार करने में हमारे पाठक हमारी सहायता करें।

पिछले साल भर से आप हमारे सहृदय पाठक रहे हैं। किन्तु अब आपका चन्दा इस दिसम्बर १९४१ के अङ्क के साथ समाप्त हो रहा है। बड़ी कृपा हो यदि आप २५ दिसम्बर तक मनीआर्डर द्वारा अपना वार्षिक मूल्य हमें भेज दें या फिर हमें जनवरी के दूसरे सप्ताह में वी० पी० भेजने की आज्ञा दें।

हमें विश्वास है 'विश्ववाणी' पर आपका उदार प्रेम बराबर बना रहेगा।

भवदीय

शिवकुमार मिश्र

मैनेजर